113235

सचित्र

आयुर्वेद

वर्ष १२] कलकत्ता, मार्च, १९६० [अंक ९

RI-0572

आयुर्वेद अपरिमेय है

साम्प्रतिक युग के लिए यदि कोई सन्देश हमें नवजीवन प्रदान कर सकता है एवं हमें आत्मबोधन के लिए प्रेरित कर सकता है और जिसे हम एक क्षण के लिए भी नहीं भुला सकते, वह भगवान् आत्रेय का निम्नलिखित वचन है—

> "न चैव ह्यस्ति सुतरामायुर्वेदस्य पारं, तस्मादप्रमत्तः शश्वदभियोगमस्मिन् गच्छेत्। कृत्स्नो हि लोको बुद्धिमतामाचार्यः शत्रुश्चाबुद्धिमताम्, अतश्चाभिसमीक्ष्य बुद्धिमतामित्रस्यापि धन्यंयशस्यमायुष्यं पौष्टिकं लौकिकमभ्युपदिशतो वचः श्रोतव्यमनुविधातव्यं चेति।"—च० वि० ८

अर्थात्—आयु [illegible] विज्ञान अपरिमेय है, अतएव, प्रमादरहित हो, इसमें निरन्तर प्रगति करनी चाहिए। [illegible] संसार बुद्धिमान् पुरुषों का आचार्य और मूर्खों का शत्रु है। अतएव, बुद्धिमान् को चाहिए कि वह अच्छी प्रकार से विवेचन करके शत्रु से भी धन्य (पुण्यकारक), यशोवर्धक, आयुष्कर, पौष्टिक तथा लोगों से अनुमत वचन को सुने और तदनुसार कार्य करे।

GURUKUL KANGRI LIBRARY

रक्त-संचालन-प्रणाली

प्रकाशक

वैद्यनाथ

आयुर्वेद-शास्त्र में ऐसी अनेक विधियाँ और औषधियाँ हैं, जिनसे रोग दूर होते हैं और शरीर के स्नायुमंडल को परिपुष्टि एवं शक्ति मिलती है। आयुर्वेद की ऐसी चमत्कारपूर्ण औषधियों से वैद्य, जनता और यहां तक कि डाक्टर भी परिचित हैं। स्नायुमंडल को तत्काल ताकत पहुँचानेवाली ऐसी ही औषधियों में अति प्रमुख औषधि है—

बैद्यनाथ

म क र ध्व ज

जो केवल अनुपान के अदल-बदल से कठिन से कठिन रोगों को निर्मूल करता है और कमजोर से कमजोर शरीर को सबल-सुदृढ़ बनाता है। आज भी इस देश के अनेक बुद्धिमान स्त्री-पुरुष इस रसायन का सेवन कर अपनी जरा-जीर्णता को दूर करने में सफल होते हैं। आप भी इसका सेवन करें और अपने क्षीण-हीन शरीर को परिपुष्ट बनायें।

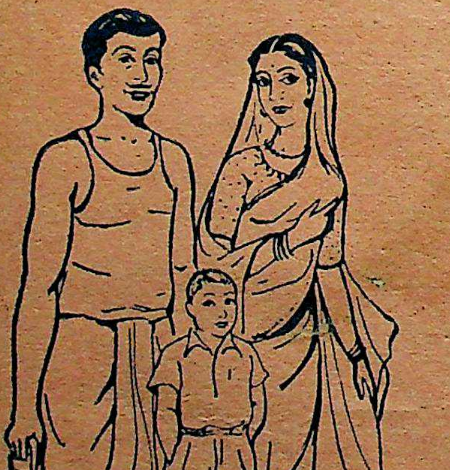

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ बृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

मरा आदमी जिन्दा नहीं हो सकता किन्तु -

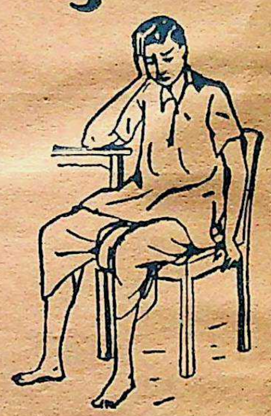

दुर्बल-अस्वस्थ शरीर सबल-स्वस्थ हो सकता है

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

गुरुकुल पत्रिका
विनिमय में
प्राप्त

रजिस्ट्रेशन आफ न्यूजपेपर्स (सेण्ट्रल) रूल्स, १९५६ के ८ वें नियम के अन्तर्गत 'सचित्र आयुर्वेद' नामक मासिक पत्रिका के स्वामित्व एवं अन्य विषयों के सम्बन्ध में विवरण।

फार्म ४

१. प्रकाशन का स्थान	कलकत्ता
२. प्रकाशन का अवधिक्रम	प्रति मास
३. मुद्रक का नाम	नाथ आयुर्वेद भवन
राष्ट्रीयता	
पता	
४. प्रकाशक का	नाथ आयुर्वेद भवन
राष्ट्रीयता	
पता	
५. सम्पादक का	
राष्ट्रीयता	
पता	१, गुप्ता लेन, कलकत्ता–६
६. उन शेयर होल्डरों के नाम और पते, जिनके पास कुल पूँजी के १ प्रतिशत से अधिक के शेयर हैं–	पं० रामदयाल जोशी, ग्राम कांसली, पो० कोटपुतली, जयपुर। पं० रामनारायण शर्मा वैद्य, १, गुप्ता लेन, कलकत्ता–६। श्रीमती भुरी देवी, ग्राम-श्यामपुरा, पो० बानसुर, अलवर। श्री बनवारी लाल शर्मा, १५६-सी, हरीसन रोड, कलकत्ता–७। पं० शिवनारायण ऐंग्लो-संस्कृत विद्यालय, ग्राम कांसली, जयपुर। श्रीमती विमला देवी, ४, कृष्णाश्रम, मुरादाबाद। श्रीमती सुशीला देवी, पुरानीमण्डी, नारनौल। श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना–१ श्री रामावतार शर्मा, ३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७ श्री रमाकान्त शर्मा, कदमकुआँ, पटना। श्रीमती कमला देवी, ३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता। हजारीलाल शर्मा, चन्द्रगुप्त पथ, पटना। श्री विश्वनाथ शर्मा, बस्ती, उत्तरप्रदेश। श्री बृजेन्द्र कुमार शर्मा, गुसाईंपुरा, झाँसी। श्री शिवनाथ शर्मा, महाल, नागपुर। श्री रामकृष्ण शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना–१ श्री सुरेश कुमार शर्मा, गुसाईंपुरा, झाँसी। श्री रमेश कुमार शर्मा, गुसाईंपुरा, झाँसी। श्रीमती स्नेहलता देवी, गुसाईंपुरा, झाँसी। श्री राजेश्वर प्रसाद शर्मा, चन्द्रगुप्त पथ, पटना।

SACHITRA AYURVED H.L.
Vol. 12
1960
G.K.V.
Lib
HARDWAR.

मैं, सभाकान्त झा शास्त्री, यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गये सभी विवरण, जहाँ तक मैं जानता हूँ तथा मेरा विश्वास है, सत्य हैं।

१ मार्च, १९६०

प्रकाशक का हस्ताक्षर—सभाकान्त झा शास्त्री

Digitized by Arya Samaj Found... Chen... and eGangotri

गुरुकुल पत्रिका
विनिमय में
प्राप्त

रजिस्ट्रेश ... वि त्पमक

१. प्रकाशन का	
२. प्रकाशन का	
३. मुद्रक का नाम	ाथ आयुर्वेद भवन
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७
४. प्रकाशक का नाम	पं० सभाकान्त झा शास्त्री निमित्त स्वत्वाधिकारी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७
५. सम्पादक का नाम	श्री कामेश्वर शर्मा 'कमल'
राष्ट्रीयता	भारतीय
पता	१, गुप्ता लेन, कलकत्ता–६
६. उन शेयर होल्डरों के नाम और पते, जिनके पास कुल पूंजी के १ प्रतिशत से अधिक के शेयर हैं–	पं० रामदयाल जोशी, ग्राम कांसली, पो० कोटपुतली, जयपुर । पं० रामनारायण शर्मा वैद्य, १, गुप्ता लेन, कलकत्ता–६ । श्रीमती भुरी देवी, ग्राम-श्यामपुरा, पो० बानसुर, अलवर । श्री बनवारी लाल शर्मा, १५६-सी, हरीसन रोड, कलकत्ता–७ । पं० शिवनारायण ऐंग्लो-संस्कृत विद्यालय, ग्राम कांसली, जयपुर । श्रीमती विमला देवी, ४, कृष्णाश्रम, मुरादाबाद । श्रीमती सुशीला देवी, पुरानीमण्डी, नारनौल । श्री दुर्गाप्रसाद शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना–१ श्री रामावतार शर्मा, ३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता–७ श्री रमाकान्त शर्मा, कदमकुआँ, पटना । श्रीमती कमला देवी, ३६, बाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता । हजारीलाल शर्मा, चन्द्रगुप्त पथ, पटना । श्री विश्वनाथ शर्मा, बस्ती, उत्तरप्रदेश । श्री बृजेन्द्र कुमार शर्मा, गुसाईंपुरा, झाँसी । श्री शिवनाथ शर्मा, महाल, नागपुर । श्री रामकृष्ण शर्मा, बैद्यनाथ भवन रोड, पटना–१ श्री सुरेश कुमार शर्मा, गुसाईंपुरा, झाँसी । श्री रमेश कुमार शर्मा, गुसाईंपुरा, झाँसी । श्रीमती स्नेहलता देवी, गुसाईंपुरा, झाँसी । श्री राजेश्वर प्रसाद शर्मा, चन्द्रगुप्त पथ, पटना ।

मैं, सभाकान्त झा शास्त्री, यह घोषित करता हूँ कि ऊपर दिए गये सभी विवरण, जहाँ तक मैं जानता हूँ तथा मेरा विश्वास है, सत्य हैं ।

१ मार्च, १९६०

प्रकाशक का हस्ताक्षर—सभाकान्त झा शास्त्री

आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान

(पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)

किसी रोग का चिकित्सा के पूर्व रोग का निदान परमावश्यक है। राग के सम्यक् निर्णय के बिना कदापि रोगी की सफल चिकित्सा नहीं हो सकती। इसलिए व्याधि-विज्ञान (राग निदान) आयुर्वेद का एक प्रधान विषय है। इस 'आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान' की रचना आयुर्वेद-मातण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचाय ने की है और व्याधि विज्ञान के साधनों और व्याधियों के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातों का बड़े सुन्दर और सरल ढंग से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध तां कई वर्ष पहले ही छप चुका था और सर्वत्र उसका यथेष्ट समादर हुआ था, किन्तु इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के लिये वैद्य-समाज की ओर से जबर्दस्त माँग की जा रही थी।

अब 'आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान' का उत्तरार्द्ध खण्ड भी प्रकाशित हो गया है और इस प्रकार वैद्य-समाज की एक जबदस्त माँग की पूर्ति हो गयी है। इसके प्रत्येक अध्याय में विविध रोगों, यथा—ज्वर, महास्रोत राग, उरोगत रोग, रक्तपित, पाण्डु, शोथ, ब्रण, विसर्प, वृद्धि, भग्न-निदान, गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि के लक्षण, निदान, चिकित्सा आदि पर सरल भाषा में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। आयुर्वेदीय अध्यापकों और विद्यार्थियों के साथ-साथ वैद्यों के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त आवश्यक है।

मूल्य :—पूर्वार्द्ध का २॥) और उत्तरार्द्ध का ६), डाक-खर्च पृथक

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करा लें

प्रकाशक

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

१, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६

113235

113235

स्वास्थ्य और सुख की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन

आरोग्य-प्रकाश

—प्रत्येक परिवार में रहना अत्यन्त आवश्यक है !

◆

भारत-प्रसिद्ध श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा ने अनेक वर्षों के परिश्रम से इस महान ग्रन्थ—**आरोग्य-प्रकाश**—को स्वयं लिखा है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। इसके पूर्वार्द्ध के व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, दिन-रात्रि-ऋतुचर्या, सदाचार, उत्तम विचार आदि विषयों को पढ़कर और तदनुकूल आचरण कर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के ही नीरोग और तन्दुरुस्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों के कारण, निदान, रोग-लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि पर बड़ी ही सरल भाषा में सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है, जिनको पढ़कर विद्वान से लेकर साधारण पढ़े-लिखे व्यक्ति तक समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत वर्षों के परीक्षित, कभी विफल नहीं होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके ११ संस्करणों में १,०८,००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और बारहवें संस्करण में २० हजार प्रतियाँ फिर छापी गयी हैं। इसी से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठों की विशाल पुस्तक का मूल्य मात्र रु० २·२५, डाक खर्च १) रु०।

नोट :—हमारे ५ निर्माण-केन्द्रों, ३०० बिक्री-केन्द्रों तथा २५ हजार एजेन्सियों में से कहीं भी यह पुस्तक खरीदी जा सकती है। इससे डाक-खर्च की बचत होगी।

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

१ गुप्ता लेन, कलकत्ता -६

योगेन योगो विज्ञेयः

योगदर्शन के भाष्यकार कहते हैं—योग की सहायता से ही योग को समझना चाहिये। योग की बात हम नहीं जानते, आयुर्वेद को समझने के लिए तो आयुर्वेद का ही उपयोग आवश्यक है। कारण ?—

आयुर्वेद की स्वतः प्रमाणता

आयुर्वेद स्वतः प्रमाणशास्त्र है। उसे समझने के लिए—उसकी व्याख्या करने के लिए वेद से आरम्भ कर समग्र प्राचीन साहित्य में विकीर्ण आयुर्वेद का अवगाहन करना चाहिए। जितना समझ में आए उसे क्रिया में लाकर आगे का मार्ग प्रशस्त करते जाना चाहिए।

जाने-अनजाने आयुर्वेद को परतःप्रमाण समझ कर ही उसकी व्याख्या का प्रयास अब तक प्रायः किया गया है। उसे ऐलोपेथी के मापदण्ड से मापने में ही इतिकर्तव्यता समझी जाती रही है।

अद्यावधि क्षुण्ण इस मार्ग का परित्याग कर नये सिरे से—**नयी शैली से आयुर्वेद को प्रकाशित करने का एक अभिनव और सफल प्रयास**—

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया। वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा की जा रही थी ऐसे इस ग्रन्थरत्न के लेखक हैं—आयुर्वेद जगत् के सुविदित—

वैद्य रणजितराय देसाई

उपाचार्य : आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत ;

सदस्य : मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति।

नयनाभिराम कागज, छपाई तथा गेटअप। मूल्य आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर केवल रु० ५·५० न. पै. रखा गया है। मार्गव्यय-पृथक्। धड़ाधड़ बिक रहा है। आप भी आज ही आर्डर भेजिए।

प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

समन्वय का आदर्श !!!

आयुर्वेद, एलोपथी, यूनानी, होमियोपैथी आदि चिकित्सा-पद्धतियों के समन्वय का आज बोलवाला है। परन्तु इस दिशा में जितना प्रयत्न चाहिए उतना हुआ नहीं है। वस्तुतः,

भावी पीढ़ी के मार्गदर्शनार्थ

समन्वयात्मक पद्धति से ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन सर्वोपरि आवश्यक है।

बैद्यनाथ-प्रकाशन

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

समन्वयप्रधान दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में मूर्धन्य कहा जा सकता है

ग्रन्थ के लेखक हैं : सचित्र-आयुर्वेद परिवार के सुविदित सदस्य, सूरतके आयुर्वेद महाविद्यालय के उपाचार्य तथा मुंबई राज्य सरकार के आयुर्वेदिक रिसर्च बोर्ड के सभ्य **वैद्य रणजितराय देसाई** आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य

संपूर्ण प्राचीन वाङ्मय से दोषों, धातुओं, उपधातुओं तथा मलों की क्रिया के रूप में **शरीर-क्रिया-विज्ञान के सिद्धान्तों का दोहन और संदोहन कर** व्याख्या के व्याज से **नव्य मत भी प्रायः संपूर्ण** इस ग्रन्थ में संकलित किया गया है। विषय का निरूपण **इस दृष्टि से** किया गया है कि विद्यार्थी **रोगों के निदान और चिकित्सा में क्रियाशारीर की उपयोगिता तथा उपादेयता** को भी समझते जाएँ।

रायल अठपेजी साइज के ११०० पृष्ठों के अनेक चित्रों से युक्त ग्रन्थ का मूल्य केवल ११) **रखा** गया है। आज **ही** अपनी प्रति मँगाइए। **अन्यथा चतुर्थ संस्करण की प्रतीक्षा** करनी होगी।

आयुर्वेदीय एवं पेटेण्ट
औषधियों के सबसे
बड़े निर्माता

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि॰

कलकत्ता
पटना · झाँसी
नागपुर

सम्पादक—कामेश्वर शर्मा 'कमल'

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
आयुर्वेद का भविष्य	डा० धर्मानन्द केसरवानी	७३५
सम्पादकीय		७३६
हिन्दू-विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज	पं० दुर्गादत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य	७४३
काश्यप-संहिता : एक अनुशीलनीय ग्रंथ	वैद्य रणजितराय	७४५
कूपीपक्व विज्ञाने अग्नि मात्रा विनिर्णयः	आचार्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी	७५३
प्रमाण-परिचयः	कविराज उपेन्द्रनाथ दास	७५८
आयुर्वेदीय साहित्य में विवादास्पद वनस्पतियाँ	ठाकुर बलवंत सिंह, एम० एस० सी०	७६२
शीतपित्त	वैद्य शंकरलाल शर्मा, भिषगाचार्य	७६७
वातरक्त और उसकी चिकित्सा	वैद्य अम्बालाल जोशी	७७०
वासा-पर्पटी	कविराज प्राणनाथ शर्मा, आयुर्वेद-रत्न	७७७
ग्रहणी रोग-विमर्श	वैद्य यशवन्त राव पण्डित	७८०
आयुर्वेदीय मूत्र-परीक्षा	वैद्य ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, आयुर्वेद-रत्न	७८४
भाँग	वैद्य उदयलाल महात्मा	७८६
अष्टाङ्ग हृदये—शारीरस्थानम्	आयुर्वेदाचार्य डा० शंकरलाल भेड़ा	७९१
स्वामी दयानिधि जी महाराज	आचार्य श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ	७९७
आयुर्वेद-जगत्		७९९

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित सभी रचनाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। हमारी पूर्व अनुमति के बिना इसमें प्रकाशित किसी रचना का कोई अंश किसी पत्र-पत्रिका में उद्धृत नहीं किया जाना चाहिए। —सम्पादक।

वार्षिक मूल्य ५)

एक प्रति ५० नये पैसे

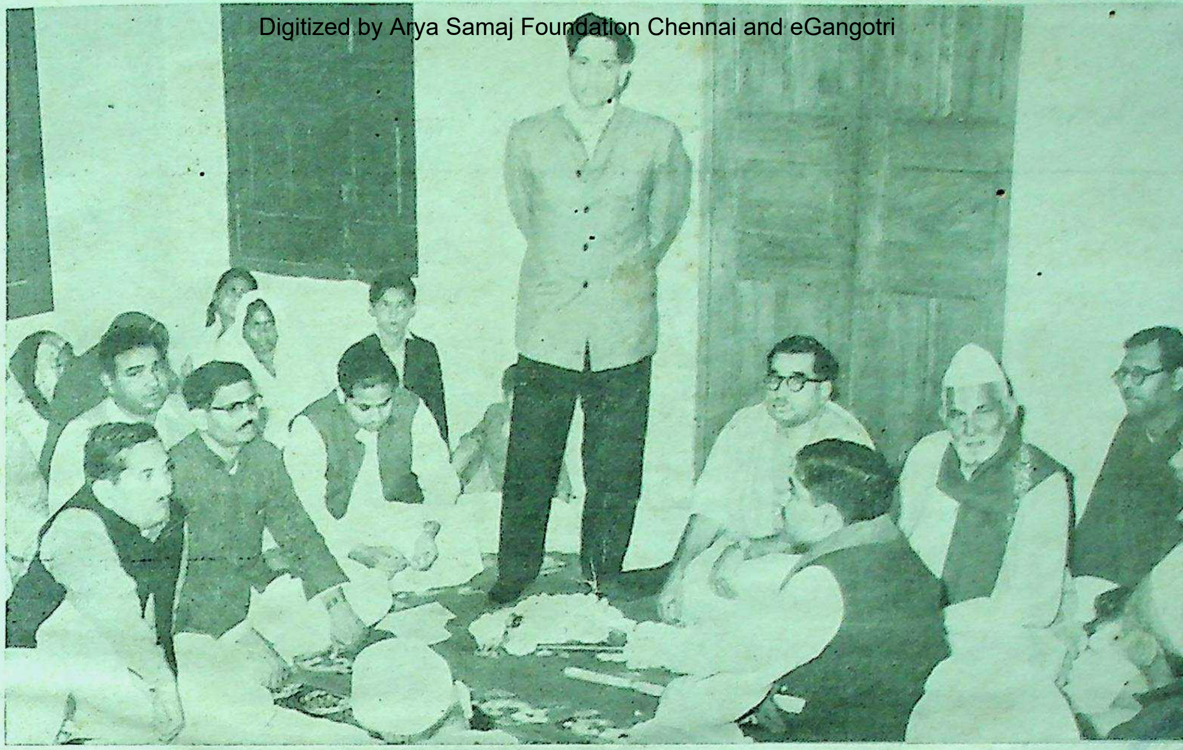

इलाहाबाद के वैद्य-समाज की ओर से आयोजित स्वागत-समारोह में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के डायरेक्टर श्री रामावतार शर्मा स्वागत का उत्तर देते दिखायी दे रहे हैं। चित्र में आयुर्वेद-पंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल, आचार्य गणेशदत्त सारस्वत, श्री बनवारीलाल शर्मा आदि दिखाई दे रहे हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के मैनेजिंग डायरेक्टर श्री रामदयाल जोशी के सुपुत्र एवं भवन के डायरेक्टर श्री रामावतार शर्मा का स्वागत इलाहाबाद के वैद्य-समाज में ब्रिटेन से उच्च वैज्ञानिक शिक्षा प्राप्त कर उनके स्वदेश लौटने [illegible]

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के डायरेक्टर श्री रामावतार शर्मा बी० एस-सी० का इंगलैण्ड से वैज्ञानिक उच्च प्रशिक्षण प्राप्त कर लौटते समय मार्ग म नागपुर रेलवे स्टेशन पर बैद्यनाथ की नागपुर शाखा के कर्मियों तथा नागपुर के प्रमुख वैद्यों द्वारा स्वागत का एक भव्य दृश्य।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के सिवान स्थित [illegible] द्वारा आचार्य श्री बाबूलाल पाठक के सम्मान में आयोजित समारोह में समवेत वैद्य-कविराज एवं प्रमुख अधिकारियों का समूह चित्र।

आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेदविज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

श्री धन्वन्तरये नमः

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष १२ | कलकत्ता, मार्च, १९६० | अंक ९

आयुर्वेद का भविष्य उज्ज्वल

आयुर्वेद एक अमर विज्ञान है। हमने "विज्ञानं ब्रह्म" कह कर विज्ञान और ब्रह्म में एकरूपता का प्रतिपादन किया है। आयुर्वेद का उपयोग जब तक "अपने लिए नहीं भूतदया के प्रति" होता रहेगा तब तक यह नष्ट नहीं हो सकता। आयुर्वेदीय साहित्य में बहुत से शाश्वत सत्य और बहुत से समयवाही तथ्यों का स्वास्थ्य तथा जीवन-व्यापार के लिए वर्णन है। जहाँ कहीं समय और परिस्थितिवश कुछ त्रुटियाँ आ गई हैं, उन्हें समुन्नत आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान से पूर्ण करना होगा। आज भारतीय नेताओं के आगे अनेक चिकित्सा सम्बन्धी समस्याएँ सुलझाने को हैं। एक स्वतन्त्र राष्ट्र को इन्हें सुलझाना होता है राष्ट्रीय स्वास्थ्य और जन-कल्याण के लिए। वह समय दूर नहीं दीखता जब यहाँ एक ही चिकित्सा-प्रणाली के प्रचार का यत्न होगा। विभिन्न प्रदेशों में आयुर्वेद के सम्बन्ध में विभिन्न नीतियाँ बरती जाने लगी हैं, यद्यपि केन्द्र में भारतीय चिकित्साओं के लिए एक सलाहकार की इस वर्ष नियुक्ति हो चुकी है। परन्तु उनका कार्य केवल सलाह-मात्र देना है। भारतीय संविधान में स्वास्थ्य और चिकित्सा की जिम्मेवारी प्रादेशिक सरकारों पर है। हम यह आवश्यक समझतेहैं कि आयुर्वेद के सम्बन्ध में भारत में एक नीति से कार्य हो आज आयुर्वेद को अपने ही रस में उबलने के लिए छोड़ देना वस्तुतः इस अमूल्यनिधि का सर्वनाश करना है। भारतीय प्रतिभा ने आयुर्वेद के द्वारा विश्व कल्याण का प्रथम आयोजन किया। आयुर्वेद अमृतवाहिनी गंगा के समान है जो पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण से आनेवाली सभी नदियों को आत्मसात् कर उसी तरह पुण्य सलिला बनी हुई सतत प्रवाहमान है, स्थिर नहीं गतिशील हैं। हमें पूर्ण विश्वास है कि एक दिन आयुर्वेद को सब लोग समझेंगे और इसकी फिर से कद्र होगी और भारत ही नहीं, समग्र विश्व एक साथ कह उठेगा "सब कलाएं और विद्याएँ गंगा के देश से निकली हैं।

—डॉ० धर्मानन्द केसरवानी, प्रिन्सिपल-आयुर्वेद महाविद्यालय, जामनगर

वैद्य-समाज विचार करे !

यदा-कदा सरकार भिन्न-भिन्न कमेटियाँ बना कर विभिन्न विषयों की जाँच-पड़ताल कराया करती है। इसी प्रकार भारतीय चिकित्सा शोध-परिषद् की एक उप-समिति को यह काम सौंपा गया था कि वह इस बात की खोज-बीन करे कि आज कल भारत में क्षय रोग के प्रसार की क्या स्थिति है ? इस उप-समिति की जाँच का कार्य क्षेत्र साधारणत कुछ शहर थे और मुख्यत: देश का ग्रामीण क्षेत्र था। उप-समिति ने घूम-घूम कर अपना कार्य करके जो लेखा-जोखा प्रस्तुत किया है, वह जन-स्वास्थ्य विषय के प्रत्येक विचारक को चिन्ता में डाल देनेवाला है। समिति ने अनुमान दिया है कि देश में पचास लाख जन क्षय रोग से पीड़ित होते हैं, इनमें कम-से-कम पन्द्रह लाख ऐसे हैं, जिनसे संक्रामकता फैलना अनिवार्य है। समिति ने एक तथ्य यह प्रकट किया है कि स्त्रियों की अपेक्षा पुरुष अधिक क्षय रोग से पीड़ित हैं। यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि पहले की भाँति केवल शहर ही क्षय रोग का प्रसार क्षेत्र नहीं है, ग्रामीण-जन भी तेजी से क्षय-ग्रस्त होते जा रहे हैं।

इसी प्रकार बम्बई सरकार की एक समिति ने जाँच करके यह बताया है कि देश में लगभग चार करोड़ व्यक्ति फाइलेरिया से पीड़ित हैं। यह तो रही सरकारी समितियों की जाँच-पड़ताल। हम आप रोजमर्रा ही समाज में रोगों की जो स्थिति देखते हैं, वह कम भयावह नहीं है। हृदय रोग, रक्तचाप, मस्तिष्क की व्याधियाँ और कैंसर जैसे कठिन रोग तथा पेट की खराबियाँ, गैस, वायु रोग, दाँत और आँखों की खराबी जैसे सामान्य रोग, निश्चित रूप से दिन दूने बढ़ रहे हैं। कहना न होगा कि हमारे देश की आर्थिक और राजनैतिक विकास की जो गति है, उससे कई गुना तेज़ गति देश में रोग-प्रसार की है। फिर भी सरकारी आँकड़े जनता को बड़ी बुलन्दी से यह भुलावा देते रहते हैं कि जन-स्वास्थ्य का स्तर बढ़ रहा है।

क्षय रोग को ही लिया जाय और सरकारी आँकड़ों को ही आधार मान कर विचार किया जाय, तो जो वस्तु-स्थिति प्रकट होती है, वह अत्यन्त निराशा एवं चिन्ताजनक है। स्वाधीनता-पूर्व भारत में क्षय रोग की यह स्थिति थी कि अविभाजित भारत की विशाल जन-संख्या में लगभग पच्चीस लाख व्यक्ति क्षय-पीड़ित रहते थे। हमारी स्वाधीनता के तेरह-चौदह वर्ष निकल गये, सरकार ने क्षय रोग की रोकथाम के लिए धुआँधार प्रचार किया, करोड़ों रुपया पानी की तरह बहाया, करोड़ों जनता की बाँहें छिदवा डालीं, प्रबल विरोध और खराब परिणामों के होते हुए भी जबर्दस्ती बी० सी० जी० के टीकों का अबाध प्रसार किया-- यह सब क्षय रोग की रोकथाम के लिए किया गया, परन्तु परिणाम क्या निकला ? इस प्रश्न का जलता हुआ उत्तर क्षय जाँच समिति की रिपोर्ट देती है ! क्षय रोगियों की संख्या दो गुनी हो गई और उसका प्रसार गाँवों में अधिक हो गया।

जो कुछ भी हो, निश्चित है कि क्षय रोग का यह प्रसार, अन्य रोगों की दिन-दूनी बढ़ती, इस बात का जीता-जागता प्रमाण है कि देश की स्वास्थ्य स्थिति भयंकर रूप से पतन की ओर जा रही है। रोगों की इस बाढ़ के तीन कारण मुख्य हैं और बहुत स्पष्ट हैं। पहला भारतीय जन-जीवन में आहार-विहार के नियमों की उपेक्षा ; दूसरा भोजन में यथार्थ पौष्टिक तत्वों की न्यूनता, और तीसरा सब से प्रधान कारण, चिकित्सा में भारतीय जलवायु के विपरीत एवं अहितकर पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति तथा रोगों का अप्राकृतिक दमन करनेवाली चमत्कारिक औषधों का अन्धा-धुन्ध प्रयोग। दीर्घकाल के अनुभव के उपरान्त अब यह तथ्य बहुत स्पष्ट हो गया है कि बहुतायत से टीकों और इन्जेक्शनों के प्रयोग ने ही मनुष्यों की स्वाभाविक रोग-रोधिनी शक्ति को अत्यन्त जीर्ण कर दिया है। डाक्टर लोग साधारण बीमारियों में तक, रोगी से अधिक दाम ऐंठने के लिए, सब मर्जों में इन्जेक्शन चिकित्सा का सुझाव देते हैं, और जन-साधारण त्वरित एवं चमत्कारित लाभ और रोग निवृत्ति के मोहवश हर रोग की चिकित्सा इन्जेक्शनों से कराने को प्रस्तुत हो जाता है। पहले गाँवों में यह रिवाज़ नहीं था। इधर कुछ वर्षों से गाँवों में भी शहरियों की देखा-देखी और नक़ल की भावनावश टीका और इन्जेक्शनों का प्रसार बढ़ा है। क्वैक डाक्टरों के एक वर्ग

ने भोली ग्रामीण जनता को तुरन्त रोग निवृत्ति के सब्जबाग़ दिखाकर अन्धाधुन्ध इन्जेक्शन ठोकने का पेशा चला रखा है; कदाचित् उसका ही यह परिणाम है कि अब हमारे ग्रामीण क्षेत्र में भी क्षय का प्रसार बढ़ा है। क्षय-प्रसार के तो सरकारी आँकड़े मौजूद हैं; इन्जेक्शनों तथा चमत्कारिक दवाओं के दुष्परिणाम से और कितने रोग गाँवों में फैल गये हैं, तथा फैल रहे हैं; इसकी जाँच की जावे तो आँखें खुल जावें।

परन्तु हमारी सरकार की आँखें कैसे खुलें? कभी खुलेंगी या नहीं, यह समझ में नहीं आता। पाश्चात्य चिकित्सा और विदेशी दवाओं के प्रचार-प्रसार के दुष्परिणाम अनेक बार और अनेकविध सामने आ चुके हैं; परन्तु हमारे स्वास्थ्य विभाग उन परिणामों के प्रति ऐसे आँख बन्द किए हुए हैं कि देख कर दुःख और आश्चर्य होता है। वस्तुस्थिति यह है कि भारतीय शासन के संचालक हर प्रकार से देश के आधुनिकीकरण के व्यामोह में बुरी तरह पड़ गये हैं। पुनरुत्थान उन्हें अभिप्रेत नहीं, केवल परिवर्तन पर पिल पड़े हैं। उन्हें एक ही तृष्णा दीखती है कि जैसे भी हो जल्दी से जल्दी भारत देश पाश्चात्य देशों के मुकाबले उन्नत, समृद्ध और प्रगतिशील हो जावे। यह तृष्णा या कामना कदापि बुरी नहीं है। हमारा देश दुनियाँ के अन्य बड़े देशों के ही समान साधन-सम्पत्तिवान एवं उन्नत बने, यह कौन नहीं चाहेगा; परन्तु आँखें खोल कर यह तो देखना चाहिए कि हमें किस-किस बात में विदेशों की नक़ल करना उचित है और किस में अनुचित। विदेशों की नक़ल और प्रगति की मोहनी तृष्णा कुछ विषयों में तो देश के लिए नितान्त घातक सिद्ध हो रही है। प्रगति के नाम पर समाज में, प्रवृत्तिक, रहन-सहन, दैनिक जीवन, खान-पान, व्यवहार आदि में जिन भ्रष्ट आचार-विचारों का समावेश होता जा रहा है, उनसे भारत की वह संस्कृति और सभ्यता छिन्न-भिन्न हो रही है, जो गयी गुजरी हो कर भी संसार को प्रकाश देने की शक्ति रखती थी।

इसी प्रकार स्वास्थ्य और चिकित्सा के प्रसंग में हमारे वर्तमान कर्णधारों का दृष्टिकोण सर्वथा विदेशों पर केन्द्रित हो गया है, ऐसा स्पष्ट जान पड़ता है। स्वाधीनता-प्राप्ति के बाद से ही यदि स्वास्थ्य-चिकित्सा के सम्बन्ध में प्राचीन भारतीय पद्धतियों के पुनरुत्थान की नीति को अपनाया गया होता और आयुर्वेद के विकास पर समुचित ध्यान दिया गया होता तो निश्चित रूप से देश के स्वास्थ्य-स्तर में क्रान्तिकारी सुधार हो गया होता। इन थोड़े से वर्षों में निर्विवाद रूप से आयुर्वेद वह सुफल दे सकता था, जो एलोपैथी सैकड़ों वर्षों में नहीं दे सकी। आयुर्वेद के उत्थान से हमारे देश की जनता को तो राहत मिलती ही, संसार के अन्य देशों के सामन हम अपनी एक सर्वथा मौलिक और सफल स्वास्थ्य पद्धति को ले कर गर्व के साथ खड़े हो सकते थ और सम्मान के पात्र बन सकते थे। हम यह कदापि नहीं कहते कि पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति कतई निकम्मी है और उसको एकदम देशनिकाला दे दिया जाय। उसमें जो अच्छाइयाँ हैं, या उसका जो भी अंश आयुर्वेद के मौलिक रूप को सुरक्षित रखते हुए उसमें समा सकता है—वह अवश्य ले लेना चाहिए। न्यूनांश में आधुनिक विज्ञान के समन्वय से आयुवद एक ऐसी पद्धति बन सकती है, जो संसार में सब से निराली और सब से अच्छी मानी जा सकती है। आयुर्वेद की अच्छी दवाओं को एलोपैथी में समा लेने से कदापि कोई हित होने का नहीं। डाक्टरों का हित भले ही हो जावे, उससे जनहित नहीं हो सकता।

खेद तो यह है कि पाश्चात्य चिकित्सा पद्धति के प्रसार के कारण देश की स्वास्थ्य स्थिति निरन्तर पतन की ओर जा रही है, फिर भी राज्य के कर्णधार सत्य को स्वीकार करने का साहस नहीं कर पा रहे। भाषणों में आयुर्वेद के गुण गाते हैं, पर कर्म में ठीक उससे उलटे जाते हैं। करोड़ों जनता के स्वास्थ्य को सुरक्षित और अभिवर्द्धित रखने की जिम्मेवारी जिन पर है; उन्हें ईमानदारी से एक बार यह विचार तो करना ही चाहिए कि आखिर जिन पाश्चात्य तरीकों को वे अपनाये चले जा रहे हैं, उनसे यथार्थ में जनता का हित हो रहा है या अहित? दूर भविष्य में उसका क्या परिणाम होनेवाला है? आयुर्वेद भारत की प्राचीन निधि है, स्वदेशी है या सस्ती पद्धति है—केवल इस भावना के आधार पर ही आयुर्वेद को प्रधानता दे दी जावे, हम कदापि ऐसा नहीं चाहते। देशहित, जनहित और सत्य को ही प्रमुखता दी जावे। परीक्षा करके देख लिया जावे कि हमारी जनता के लिए आयुर्वेद उपयुक्त है या पाश्चात्य पद्धति! दवाओं का प्रश्न नहीं, पद्धति कौन हितकर है—मुख्य रूप से इस प्रश्न पर विचार होना चाहिए। लेकिन हमारे शासकों को इतना विचारने का भी समय नहीं दिखाई देता। स्वास्थ्य और चिकित्सा के विषय को, सच पूछा

जाय तो कोई महत्व ही नहीं दिया जा रहा। अंग्रेजों के जमाने से जो जैसा चल रहा था, राम के नाम पर उसी पटरी पर गाड़ी को धकेलते चले जा रहे हैं। हिताहित का कोई भी विवेक नहीं। आखिर यह स्थिति स्वास्थ्य की दृष्टि से हमारे देश को कहाँ ला पटकेगी, इस कल्पना-मात्र से जी दुखता है।

धीरे-धीरे यह प्रकट होता जा रहा है कि सरकार ने अपना दृष्टिकोण यही बना लिया है कि भारत को स्वास्थ्य-चिकित्सा के विषय में भी सर्वथा आधुनिक बना दिया जावे। पुराना जो कुछ है उसको समाप्त करके सब कुछ नया कर दिया जावे। मन समझाने भर के लिए सरकार के कर्णधार आयुर्वेद के विकास की बातें कर देते हैं, पर ऐसा जान पड़ता है कि सरकार आयुर्वेद को प्रोत्साहन केवल उस सीमा और साधन के साथ देने को उद्यत है कि अच्छी-अच्छी आयुर्वेद दवायें एलोपैथी में समाविष्ट हो सकें। कम-से-कम केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद् का यही लक्ष्य दिखाई देता है। जनता के हित के लिए आयुर्वेद उपयोगी है, स्वास्थ्य समस्या के लिए आयुर्वेद सर्वोपरि है, देश की करोड़ों जन-संख्या आयुर्वेद से लाभान्वित होती है और आयुर्वेद को चाहती है, आयुर्वेद को राज्याश्रय देने से करोड़ों रुपयों की राष्ट्रीय सम्पत्ति की बचत हो सकती है—इन सब तथ्यों के वावजूद भी—भारत सरकार आयुर्वेद विकास में वास्तविक नीति का अनुकरण करने को प्रस्तुत नहीं और अन्धाधुन्ध रूप से पाश्चात्य चिकित्सा के विस्तार में संलग्न है, यह बहुत शोचनीय है।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य कार्यक्रमों के हेतु ९९ करोड़ ९७ लाख रुपया रखा गया था, उसमें से केवल ३७ लाख ५ हज़ार रुपया आयुर्वेद अनुसन्धान संस्था पर व्यय हुआ। द्वितीय योजना में स्वास्थ्य कार्यक्रमों के निमित्त कुल २६७ करोड़ रुपया निर्धारित किया गया था। इसमें आयुर्वेद का भाग नगण्य ही है। जो कुछ आयुर्वेद के लिए रखा गया, उसका भी उपयोग नहीं किया गया। योजना थी—पाँच साधन सम्पन्न आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित करने की, १३ वर्तमान विद्यालयों के विकास करने की, ११०० औषधालय एवं जड़ी-बूटी संग्रहालय बनाने की और '१५५ औषधालयों के विस्तार करने की। अनुसन्धान कार्यों के लिए अलग। पर इनमें से कौन-कौन कार्य पूरे हुए यह विचार करने पर बड़ा हास्यास्पद लगता है। द्वितीय योजना के चार वर्ष समाप्त हो गये, पर एक भी अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय स्थापित नहीं हुआ। पुरानों के विकास की बात कौन कहे, जिस दशा म थे, उससे भी गिर गये। वाराणसी के महाविद्यालय को समाप्त ही करने की ठान ली है, और भी कई बन्द पड़े हैं। औषधालय जहाँ भी हैं, इतने उपेक्षित हैं कि बस नाम के लिए जीवित हैं। अभी बम्बई की एक घटना पत्रों में पढ़ने को मिली थी। उससे यह सिद्ध हो जाता है कि सरकार के स्वास्थ्य विभाग आयुर्वेदीय औषधालयों को औषधियाँ देने तक में किस दुर्नीति से काम लेते हैं। यवतमाल जिलान्तर्गत पुसद नामक स्थान की जनपद सभा द्वारा संचालित आयुवदिक डिस्पेंसरियों के चिकित्सक वैद्यों को ३५० ऐसे पेंसलिन इन्जेक्शन के दिये गए जिनकी प्रयोगावधि समाप्त हो चुकी थी। वैद्यों ने यथादेश उनका प्रयोग किया। सौभाग्य से कोई हानि तो नहीं हुई, पर पत्रों में इस शीर्षक से समाचार छप गये कि वैद्यों ने प्रयोगावधि बीते इन्जेक्शन प्रयोग किये! विधान सभा में जब प्रश्नोत्तर हुए तब यह रहस्य खुला कि वैद्यों का दोष नहीं था, उन्हें तो वैसे इन्जेक्शन प्रयोगार्थ दिये ही गये थे। तात्पर्य यह कि आयुर्वेदिक डिस्पेंसरियों को, सरकारी विभाग औषधें देने तक में उपेक्षा नीति बर्तते हैं और वैद्यों को बदनाम करने के अवसर जुटाते हैं। द्वितीय योजना में औषधालयों के विकास का जो कार्यक्रम है, उसका यह रूप है!

बताया जाता है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में स्वास्थ्य कार्यक्रमों के निमित्त केन्द्र से २०४ करोड़ तथा राज्यों से ३३० करोड़ रुपयों की व्यवस्था की जा रही है। ५३४ करोड़ की इस विशाल निधि में आयुर्वेद के नाम पर कितना खर्च होगा, इसको सोचते भी हँसी आती है। बहुत विचार कर भी इस निष्कर्ष पर पहुँचना ही पड़ता है कि आयुर्वेद के प्रति सरकार की उपेक्षा नीति का कोई भीतरी कारण अवश्य है। जनता आयुर्वेद को चाहती है, मन्त्रीगण आयुर्वेद की प्रशंसा करते हैं, और आयुर्वेद देश के लिए सर्वथा उपकारक है भी, फिर भी सरकारी योजनाओं में आयुर्वेद को उच्छिष्ट भी नहीं दिया जाता। इसमें भी कोई रहस्य अवश्य है!

आयुर्वेद को उचित अधिकार और प्रोत्साहन न देना एक बात है और उसको दबा कर एलोपैथी की जड़ें मज़बूत करना दूसरी। हमारी सरकार आयुर्वेद को मीठा ज़हर दे रही है और ऐसे कार्यक्रम चला रही है जिससे भारत में

एलोपैथी दिन-दूनी रात-चौगुनी बढ़ती रहे। भारत सरकार ने इधर रूस, पश्चिमी जर्मनी, अमेरिका की सरकारों और कुछ विदेशी फर्मों से जो समझौते किये हैं, वे ध्यान देने योग्य हैं। हाल ही में केन्द्रीय उद्योग-मन्त्री माननीय श्री मनुभाई शाह ने संसद में द्वितीय पंचवर्षीय योजना के लक्ष्यों की चर्चा करते हुए बताया था कि 'दूसरी योजना के आरम्भ में सरकार की यह नीति निर्धारित थी कि देश को दवाओं के विषय में पूर्ण स्वावलम्बी बनाया जावे। न केवल वर्तमान प्रचलित दवाओं के विषय में बल्कि आधुनिकतम और ताज़ी से ताज़ी आविष्कृत औषधों के विषय में भी!' औषधों के विषय में देश को स्वावलम्बी बनाने के उक्त सरकारी दृष्टिकोण की सीमा निश्चित रूप से केवल एलोपैथी दवाओं तक है। इसीलिए कुछ विदेशों से समझौते किये गये हैं, जिनके फलस्वरूप भारत में पाश्चात्य दवाएं बनाने के ६-७ विशाल कारखाने खोले जा रहे हैं। सरकार का अनुमान है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के अन्त तक भारत की औषधों की आवश्यकता १५० से १७० करोड़ तक पहुँच जायगी, और तब तक ही देश में ऐसे कारखानों की योजना भी पूर्ण हो जायगी जिनसे औषधीय आवश्यकता की पूर्ति देश में ही होने लगेगी। केवल ५-१० करोड़ की बिलकुल आधुनिक दवाओं का आयात करना पड़ेगा।

रूस के सहयोग से जो छः औषध निर्माण-केन्द्र स्थापित किये जा रहे हैं, उनमें एक कारखाना एन्टीबायोटिक्स दवायें बनावेगा जिसकी वार्षिक निर्माण-शक्ति २६५ टन होगी। लगभग ४० प्रकार के मूल द्रव्य उसमें लगेंगे जिनमें चार प्रकार के विदेशों से आवेंगे। दूसरा कारखाना सिन्थेटिक दवायें वाला होगा जिसमें बीस प्रकार की ८६३ टन दवाएं प्रति वर्ष बनेंगी। तीसरा कारखाना वनस्पतियों से दवायें बनानेवाला होगा जिसमें लगभग सौ टन वार्षिक निर्माण हो सकेगा। चौथा कारखाना इन्स्यूलिन प्रकार की दवायें बनानेवाला होगा जिसमें मुख्यतः ६ प्रकार की औषधें बनेंगी। पाँचवाँ कारखाना डाक्टरी के औज़ार बनानेवाला होगा। इसके अतिरिक्त दवाओं के क्रियाशील तत्व बनानेवाला एक कारखाना पश्चिम जर्मनी के एक व्यवसायी के सहयोग से खोला जा रहा है, जिसका वार्षिक उत्पादन प्रायः ६ करोड़ होगा। पिंपरी के पेंसलिन बनानेवाले कारखाने का भी इतना विकास किया जा रहा है कि उसकी निर्माण-शक्ति ६ करोड़ मैगा-यूनिट्स हो जायगी। एक अमेरिकी फर्म से भी भारत सरकार ने एक क़रार किया है जिसके अनुसार पिंपरी में एक कारख़ाना स्थापित होगा जो प्रति वर्ष ४५ टन स्ट्रेप्टोमाइसिन बनायेगा। पाश्चात्य दवाओं के विस्तार के लिए जहाँ सरकार उपर्युक्त आयोजन कर रही है, वहाँ देश के कुछ अन्य व्यापारी भी इस दिशा में कम क्रियाशील नहीं हैं। अनुमान है तृतीय योजना के चौथे वर्ष तक उपर्युक्त कारखानों में निर्माण-कार्य शुरू हो जायगा।

उक्त कारखानों की योजना यह सहज ही सिद्ध कर देती है कि आगामी ५-७ वर्षों के भीतर सरकार भारत के बाज़ारों को देश में ही बनी पाश्चात्य दवाओं से पाट देना चाहती है। अभी एलोपैथी दवाओं के प्रचलन में यह एक रुकावट है कि वे मँहगी पड़ती हैं। निश्चित है कि देश में बनाने के कारण वे सस्ती पड़ेंगी। जैसे पेंसिलिन पहले १ रुपया ११ आना प्रति मैगायूनिट मिलता था, अब सिर्फ १० आना में पड़ता है। स्ट्रेप्टोमाइसीन का भाव पहले ४५० रु० प्रति किलोग्राम था, अब १६० रु० प्रति किलोग्राम है। इसी प्रकार सल्फाड्रग्स के मूल्य भी पहले से गिरे हैं। एलोपैथी दवायें जब बहुत बड़े पैमाने पर देश में ही बनने लगेंगी भी तो निश्चित है कि उनका प्रयोग दिनों-दिन बढ़ेगा।

एक ओर सरकारी योजनायें एलोपैथी दवाओं के विकास में संलग्न हैं, दूसरी ओर सरकारी प्रयत्न यह भी चल रहा है कि गाँव-गाँव में पाश्चात्य चिकित्सा और एलोपैथी दवाओं का विस्तार हो जावे। भारत सरकार के कम्यूनिटी डेवलपमेन्ट कार्यक्रम के अन्तर्गत स्वास्थ्य और परिवार नियोजन केन्द्रों की स्थापना गाँव-गाँव में की जा रही है। इस कार्य के लिए ५० ब्लौक्स बनाये जा रहे हैं। हर ब्लौक का कार्य क्षेत्र लगभग ७० हज़ार जन-संख्यावाले सौ गाँव होंगे। हर ब्लाक में कम-से-कम एक प्रारम्भिक हेल्थ सेंन्टर होगा और उसके अधीन तीन छोटे सेन्टर होंगे। हर सेन्टर में १ डाक्टर, १ कम्पाउन्डर, १ महिला हेल्थ विज़िटर, १ सेनिटरी इन्स्पेक्टर, ४ मिडवाइफ और ४ चतुर्थ श्रेणी के कार्यकर्त्ता होंगे। यह सेन्टर्स गाँवों में परिवार-नियोजन के अतिरिक्त स्वास्थ्य और चिकित्सा का कार्य भी करेंगे। अनुमान है कि १९६३ के मार्च तक सम्पूर्ण देश में इस योजना का विस्तार हो जायगा। योजना का

संचालन केन्द्रीय स्वास्थ्य विभाग, सामुदायिक विकास विभाग के सहयोग से करेगा।

इन सूचनाओं के प्रकाश में यह बात गम्भीरता के साथ विचारणीय है कि पाश्चात्य दवाओं के विशाल उत्पादन का आयोजन, उनका सम्भावित सस्तापन, सामुदायिक विकास योजनाओं के अन्तर्गत गाँव-गाँव में स्वास्थ्य-केन्द्रों द्वारा एलोपैथी दवाओं का विस्तार—यह सब इस परिणाम पर पहुँचाएगा कि हमारा किसान भी उन चमत्कारिक दवाओं का आदी हो कर अपनी स्वाभाविक रोगरोधनी शक्ति को खो देगा और नगर निवासियों की भाँति ग्रामीण जनता भी स्वाभाविक रूप से स्वस्थ रहने के प्रति सचेष्टता से विरत हो जायगी। इसका क्या यह परिणाम नहीं होगा कि हमारा सम्पूर्ण देश धीरे-धीरे स्वास्थ्य को महत्व न दे कर केवल चिकित्सा का अभ्यासी हो जायगा? जैसा कि एलोपैथी के प्रसार से आज भी नगरों में स्पष्ट परिलक्षित होता है? इस दृष्टिकोण से विचार करने पर हम इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सरकार जन-सामान्य को चिकित्सा सुविधाओं के नाम पर अधिकांशतः रोगों की खाई में धकेलने जा रही है।

क्या आयुर्वेद समुदाय इस भयावह स्थिति के विषय में कुछ विचार करने को उद्यत होगा? सरकार की उक्त योजनाओं के परिणाम स्वरूप सार्वजनिक रूप से जनता की स्वास्थ्य स्थिति तो गिरेगी ही, दूर भविष्य में यह निश्चित-सा जान पड़ता है कि वैद्यों का उद्योग और आयुर्वेद सदा सर्वदा के लिए कहीं समाप्त न हो जावे! नये कारखानों में विशाल परिमाण में जो सस्ती एलोपैथी दवायें बनेंगी और नगर-नगर, गाँव-गाँव में फैलेंगी, वे डाक्टरों की ही सिद्धि-समृद्धि का साधन बनेंगी। सरकारी अस्पताल जनता को अनिवार्यतः एलोपैथी दवाओं का अभ्यासी बनावेंगे। फिर वैद्यों की जीविका क्या होगी? पहिले तो वैद्य सिद्धान्ततः एलोपैथी चमत्कारिक दवाओं का प्रयोग स्वयं ही न करेंगे। करना चाहें भी तो सरकार अभी से ऐसी कानूनी सीमाएं बनाती जा रही है, जिनसे वैद्य उन दवाओं के स्पर्श से ही वंचित रहें। इस सब का परिणाम एक ही दिखता है कि भारत में धीरे-धीरे वैद्य-हकीम और आयुर्वेद का उन्मूलन और पाश्चात्य चिकित्सा तथा तीव्र चमत्कारिक दवाओं का विस्तार होगा!

इस दुःखद परिणाम के प्रति वैद्य-हकीम समाज को अभी से सचेष्ट होना चाहिए। आज के देश के कर्णधार यदि उल्टे विकास की तृष्णा में, विदेशों की नक़ल में और पाश्चात्य सभ्यता की चकाचौंध में अन्धे हो गये हैं; अपनी नागपुर और त्रिपुरी की प्रतिज्ञाओं को भूल गये हैं, तो उन्हें भूलने दीजिए। काल का झटका कभी न कभी उन्हें अवश्य ठिकाने ले आयगा। परन्तु वैद्य-हकीम समाज को अपने कर्त्तव्य के प्रति जागरूक हो जाना चाहिए। सरकार की दुर्नीति और विनाशक योजनाओं के फलस्वरूप वैद्य-हकीमों की जीविका खतरे में पड़ने वाली है, केवल इसलिए नहीं; बल्कि इसलिए कि पूर्वजों से आयुर्वेद रूपी जो थाती उन्हें मिली है, उसको नष्ट होने से बचाना वैद्य-हकीमों की जिम्मेदारी है। अपनी पैतृक सम्पत्ति को भी हम न बचा सके तो इतिहास हमें कपूत कहेगा। जिस प्रकार आयुर्वेद को जीवित और फलता-फूलता रखना वैद्य-हकीमों का कर्त्तव्य है, उसी प्रकार आयुर्वेद के उपदेशानुसार, विपरीत परिस्थितियों तथा संकट काल में भी देश की जनता के स्वास्थ्य का संरक्षण करना आयुर्वेदोपजीवियों का धर्म है। सरकार के कर्णधार यदि भ्रान्त हो कर जन-स्वास्थ्य के लिए अहितकर साधन जुटाने पर ही तुले हैं तो वैद्यों का कर्त्तव्य है कि वे सम्भव हो तो सरकार को चेतावें, और सरकार न चेते तो जनता को सावधान करें।

आवश्यक है कि हर वैद्य-हकीम अपने-अपने क्षेत्र में प्रयत्नपूर्वक ऐसे वातावरण का निर्माण करें कि जनता वस्तु-स्थिति से परिचित हो कर सरकारी एलोपैथी विस्तार की नीति का प्रबल विरोध करने पर उद्यत हो।

टिप्पणियाँ

धन्य राजस्थान

वैद्य समाज की चिरकाल से यह मांग रही है कि केन्द्र तथा राज्यों में आयुर्वेद के लिए स्वतन्त्र विभाग स्थापित होना चाहिए। इन स्वतन्त्र विभागों का संचालन आयुर्वेदज्ञ वैद्यों के अधीन रहे, तभी आयुर्वेद विषयक कार्य विधिवत् सम्पन्न हो सकते हैं। स्वतंत्र आयुर्वेद विभाग की मांग के सम्बन्ध में केन्द्र सरकार ने तो अबतक कोई

ध्यान दिया ही नहीं। प्रादेशिक सरकारों ने भी इस प्रसंग में कोई समुचित कार्यवाही नहीं की।

परन्तु राजस्थान सरकार ने आयुर्वेद के सम्बन्ध में सदा से ही अग्रगण्य रह कर, अनुकरणीय और अभिनन्दनीय नीति का अनुसरण किया है। राजस्थान में स्वतंत्र आयुर्वेद विभाग तो स्थापित है ही। इस विभाग के संचालक पद पर सुविख्यात आयुर्वेद विद्वान वैद्यराज पंडित प्रेमशंकर जी भिषगाचार्य--पिछले कई वर्षों से जो महत्वपूर्ण सेवायें कर रहे हैं, वह सर्व विदित हैं। हाल ही में राजस्थान सरकार ने आयुर्वेदोन्नति के लिए ऐसा प्रशंशनीय क़दम उठाया है, जिसके लिए प्रदेश की सरकार सम्पूर्ण आयुर्वेद जगत् की ओर से धन्यवाद का पात्र है। वैद्य समाज को यह जानकर हर्ष और उत्साह होगा कि राजस्थान सरकार ने अपने मंत्रिमंडल में आयुर्वेद के लिए एक स्वतंत्र मंत्रालय की स्थापना कर दी है। यह बड़े सन्तोष की बात है कि आयुर्वेद मंत्री के पद पर लोकप्रिय जननायक श्री भीखा भाई जी प्रतिष्ठित हुए हैं। इससे पूर्व भी उप स्वास्थ्य मंत्री के रूप में माननीय भीखाभाई जी की सुयोग्यता, कार्यतत्परता और जनसेवा के उत्कृष्ट उदाहरण हमारे सामने आते रहे हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के तत्वावधान में आयोजित अ० भा० आयुर्वेद शास्त्रचर्चा परिषद् के रतनगढ़ अधिवेशन में हमें माननीय श्री भीखाभाई जी को निकट से देखने का अवसर मिला था, और तभी हमें उनके आयुर्वेद विषयक विचारों को सुनने-समझने का सौभाग्य हुआ था। उस अनुभव के आधार पर हम कह सकते हैं कि राजस्थान में आयुर्वेद मंत्री के रूप में माननीय भीखाभाई जी की नियुक्ति निश्चित रूप से आयुर्वेद के लिए बड़ी कल्याणकर सिद्ध होगी। यों भी राजस्थान प्रदेश आयुर्वेद के लिए आशा का केन्द्र रहा है। माननीय श्री भीखा भाई जी के मन में आयुर्वेद के विकास-हेतु उत्कट लगन है और उदार भावना है। और उनके इन विशिष्ट गुणों का उपयोग आयुवद हित में होगा तो राजस्थान देश की अन्य सरकारों और केन्द्र के लिए, अनुकरणीय उदाहरण प्रस्तुत करेगा।

वर्तमान में राजस्थान प्रदेश ही एकमात्र ऐसा है जिसने आगे बढ़ कर आयुर्वेद के लिए स्वतंत्र मंत्रालय की स्थापना करके, सम्पूर्ण आयुर्वेद-जगत् को आकर्षित किया है। इसके पूर्व केरल की कम्यूनिस्ट सरकार ने भी अपने यहाँ आयुर्वेद मंत्री का पद स्थापित किया था और विशेषता यह थी कि उस पर एक सुयोग्य वैद्य ही थे। केरल ने तो एक कदम और आगे बढ़ाकर वैद्यों को शल्य क्रिया का अधिकार देने वाला एक कानून बनाना चाहा था, परन्तु केन्द्रीय सरकार के अनुचित हस्तक्षेप और दवाब के कारण वह कानून प्रचलित न हुआ। बाद में तो केरल की कम्युनिस्ट सरकार असफल होकर समाप्त ही हो गई। अब तो नई सरकार बनी है; उसका आयुर्वेद के प्रति क्या दृष्टिकोण रहता है, यह भविष्य में देखने की बात है।

परन्तु, पहले पहल आयुर्वेद मंत्रालय स्थापित करने वाला केरल हमारे लिए एक गर्वपूर्ण उदाहरण था, और उसकी समाप्ति के ठीक बाद राजस्थान सरकार ने आयुर्वेद मंत्रालय स्थापित करके इतना अच्छा सामयिक कार्य किया है, जिसकी जितनी प्रशंसा की जावे, थोड़ी है। राजस्थान के आयुर्वेद मंत्री माननीय श्री भीखा भाई जी से आयुर्वेदोत्थान विषयक अनेक आशाओं के साथ हम उन्हें हार्दिक बधाई देते हैं।

आयुर्वेद के लिये जनमत

आज की परिस्थितियों में आयुर्वेदोन्नति के लिए यह यह अत्यन्त वांछनीय हो गया है कि सार्वजनिक रूप से जनता में आयुर्वेद का प्रचार किया जावे। जनता को यह वस्तुस्थिति समझायी जावे कि किस प्रकार आयुर्वेद की प्रगति में बाधाएँ उपस्थित हैं। और यदि आयुर्वेद को विकास का उचित अवसर दिया जावे तो वह किस प्रकार जनहित के लिए सर्वोपरि उपयोगी हो सकता है। यह तो निश्चित है कि भारतीय जनता का बहुत बड़ा वर्ग आयुर्वेद से लाभान्वित होता है और आयुर्वेद की उन्नति चाहता है। जनता के उस आयुर्वेद भक्त वर्ग के मत को प्रकाश में लाया जाना चाहिए और अन्य वर्गों में आयुर्वेद के लिए अनुकूल वातावरण निर्माण करने का उपक्रम होना चाहिए।

एक मत यह है और उसमें सत्यता है कि आयुर्वेद का सर्वांगीण विकास तब तक होना कठिन ही है जब तक शासन की ओर से यथार्थ प्रोत्साहन नहीं मिलता। वैद्य समाज वर्षों से आयुर्वेद के लिए उचित अधिकार और प्रोत्साहन प्रदान करने के निमित्त सरकार से निवेदन करता आ रहा है, परन्तु फल कुछ निकला नहीं। वैद्यों की माँगों पर सरकार ने यथोचित महत्व नहीं दिया। परन्तु सार्वजनिक जनमत को ठुकराने का साहस कोई भी सरकार नहीं कर सकती। भारत की जनता यदि भारतीय सरकार से माँग करेगी कि वह जन-स्वास्थ्य विषयक अपनी नीति को

बदले और आयुर्वेद को उसका उचित अधिकार प्रदान करे तो सरकार को देर-सवेर मानना ही पड़ेगा। यह विचार बहुत दिनों से आयुर्वेद-जगत् में चर्चा का विषय रहा है कि अब समय आ गया है जब कि आयुर्वेद के विषय में जनमत को प्रकट होना चाहिए। जनमत के प्रदर्शन के विभिन्न उपाय हैं। उनमें ही एक उपाय सीधा, वैधानिक और उचित हस्ताक्षर-संग्रह का है। जनतन्त्रीय पद्धति में जनता के हस्ताक्षर युक्त आवेदन-पत्र शासकों की सेवा में प्रस्तुत करना सब से शिष्ट और प्रभावपूर्ण तरीका है। उस पर शासक ध्यान न दे, ऐसा कोई कारण नहीं है। राज्याधिकारी वर्ग हठधर्मी पर ही आमादा हो, तो दूसरी बात है। उस हठधर्मी का प्रतिकार जन-आन्दोलनों से हुआ करता है। तथापि जनता के हस्ताक्षरों का संग्रह करना जनमत प्रदर्शन की पहली सीढ़ी है।

इसी विचार से श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड ने पिछले तीन-चार महीनों से आयुर्वेद-पक्ष में सार्वजनिक रूप से देशव्यापी आन्दोलन चला रखा है। इस हस्ताक्षर आन्दोलन में देश के सभी भागों ने भाग लिया है और राष्ट्रपति महोदय की सेवा में प्रस्तुत किये जानेवाले आवेदन-पत्रों पर जनता के हस्ताक्षर कराके भेजे हैं। प्रथमतः तो यह कार्य आयुर्वेद महासम्मेलन जसी अखिल भारतीय संस्था के करने का था, परन्तु महासम्मेलन के कर्णधारों को अपनी गद्दी सुरक्षित रखने की चिन्ता के सिवाय दूसरा कोई काम ही इन दिनों नहीं सूझ रहा है। हस्ताक्षर आन्दोलन जैसे महत्वपूर्ण कार्य को स्वयं करना तो दूर रहा, यह खेदजनक है कि सम्मेलन के कर्णधारों ने उसमें सहयोग तक नहीं दिया। सचित्र आयुर्वेद कार्यालय से समस्त महासम्मेलन सदस्यों, पदाधिकारियों और प्रादेशिक सम्मेलनों के पदाधिकारियों की सेवा में डाक द्वारा हस्ताक्षर-पत्र इस प्रार्थना के साथ भेजे गए कि वे कृपया अपने क्षेत्र की जनता के हस्ताक्षर करा के हस्ताक्षर-पत्र शीघ्र भिजवायें। बहुत से महासम्मेलन सदस्यों ने तो इस प्रसंग में उत्साहपूर्वक कार्य किया, परन्तु यह कितनी लज्जाजनक बात है कि महासम्मेलन की गद्दियों पर आसीन पदाधिकारियों में से किसी ने भी पत्र का उत्तर तक नहीं दिया। यही दशा प्रादेशिक शाखाओं की हुई। दो-चार को छोड़ कर शेष के पत्रोत्तर भी न मिले। एक-दो प्रादेशिक शाखाओं के पत्र भी डाक विभाग से लौट कर वापिस मिले। यह स्थिति इस बात की द्योतक है कि महासम्मेलन की अनेक प्रादेशिक शाखायें नाम मात्र के लिए कुछ व्यक्तियों के बस्तों में बँधी हुई हैं।

फिर भी कृपालु वैद्यों के सहयोग से बड़ी संख्या में हस्ताक्षर प्राप्त हो गए हैं, और अब भी हस्ताक्षर पत्र हमारे पास आ रहे हैं। जिन सज्जनों ने अब तक हस्ताक्षर-पत्र नहीं लौटाये हैं, वे कृपया शीघ्र ही अपने क्षेत्र की सार्वजनिक जनता के हस्ताक्षर कराके सचित्र आयुर्वेद कार्यालय कलकत्ता के पते पर लौटाने की कृपा करें। सैकड़ों वैद्य-बन्धुओं ने हस्ताक्षर-पत्र सीधे राष्ट्रपति महोदय के पते पर भिजवा दिए हैं, ऐसी हमें सूचना मिली है। हस्ताक्षर आन्दोलन के विषय में ऐसा कार्यक्रम है कि संग्रहीत हस्ताक्षर-पत्रों को ले कर देशभर के प्रतिनिधि आयुर्वेदज्ञों का एक शिष्ट-मण्डल महामान्य राष्ट्रपति महोदय से भेंट करेगा और उन्हें स्वयं ही संग्रहीत हस्ताक्षर-पत्र भेंट करेगा। हमने ऐसा निश्चित किया था कि निकट शीघ्र ही महासम्मेलन का दिल्ली अधिवेशन सम्पन्न होगा और उसी अवसर पर चुने हुए शीर्षस्थ आयुर्वेद विद्वानों का प्रतिनिधि-मण्डल राष्ट्रपति महोदय की सेवा में उपस्थित हो कर आयुर्वेद के विषय में प्रार्थना करेगा। परन्तु खेद है कि महासम्मेलनाधिकारी-वर्ग दिल्ली में अधिवेशन सम्पन्न करने को उद्यत नहीं दिखाई देता और कहा नहीं जा सकता कि सम्मेलन कब हो सकेगा। ऐसी दशा में ऐसा निश्चय किया गया है कि इस प्रसंग में पृथक् से ही आयोजन हो और हर प्रदेश से एक-एक दो-दो शीर्षस्थ आयुर्वेद विद्वान् राजधानी में एकत्र किये जावें। हर्ष की बात है कि अनेक विद्वान् वैद्यों ने दिल्ली आ कर प्रतिनिधि मण्डल में सम्मिलित होने की स्वीकृति भी दे दी है। मार्च मास में यथासम्भव हस्ताक्षर-पत्रों को राष्ट्रपति महोदय की सेवा में प्रस्तुत करने का कार्य सम्पन्न हो जावेगा।

इस हस्ताक्षर आन्दोलन में जिस सुरुचि के साथ विभिन्न प्रदेशों के वैद्यवरों ने सहयोग प्रदान किया है, उससे यह प्रकट होता है कि आयुर्वेद के प्रति जनमत जाग्रत और प्रदर्शित करने के महत्व को वैद्य-समाज ने समझा है। अनेक वैद्य-सभाओं और सम्मेलनों ने बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के इस प्रयास की सराहना की है। निश्चय ही हस्ताक्षर आन्दोलन का श्रीगणेश बड़े उपयुक्त अवसर पर किया गया है और आगामी एक मास के समय में जब कि माननीय राष्ट्रपति महोदय की सेवा में प्रतिनिधि मण्डल उपस्थित हो, तब तक वैद्य-बन्धुओं को चाहिए कि जनता के अधिकाधिक हस्ताक्षर संग्रह करने का उपक्रम जारी रखें। अपेक्षित मात्रा में हस्ताक्षर पत्र सचित्र आयुर्वेद कार्यालय कलकत्ता या श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० झाँसी के पते पर पत्र लिख कर प्राप्त किये जा सकते हैं। हस्ताक्षर-पत्र पर सार्वजनिक जनता के अधिकाधिक हस्ताक्षर कराके झाँसी या कलकत्ता ही उपर्युक्त पतों पर वापिस भेजे जाने चाहिए। २५ मार्च तक संग्रहीत हस्ताक्षर-पत्र प्रतिनिधि-मण्डल द्वारा दिल्ली में राष्ट्रपति महोदय को भेंट किये जा सकेंगे।

हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज

भिषग्वाचस्पति पं० दुर्गादत्त शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

भारत के स्वर्गीय सर्वमान्य नेता महामना पण्डित मदनमोहन मालवीय ने काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की स्थापना जिस उद्देश्य से की थी उसमें प्राच्य विद्याओं का विकास और उत्कर्ष भी मुख्यतः संनिहित था। इन पंक्तियों लेखक को अपने अध्ययनकाल म पूज्य मालवीय जी महाराज के सांनिध्य में रहने और उनके परमपावन विचारपूर्ण हृदयोद्गार अवगत करने का सौभाग्य मिला है। वे जैसे वेद-वेदाङ्ग आदि सभी प्राच्य शास्त्रों के वस्तुतः अनुरागी थे वैसे ही आयुर्वेद के प्रति भी नैसर्गिक निष्ठावान् थे। उन्होंने आरम्भ में आयुर्वेद की शिक्षा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के प्राच्य विद्या विभाग में ही ओरियंटल कालेज के अन्तर्गत रखी थी। उस समय तीन वर्ष मध्यमा, तीन वर्ष शास्त्री और दो वर्ष शास्त्राचार्य–इस प्रकार आठ वर्ष का आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम काशी के सुप्रसिद्ध स्वर्गीय कविराज उमाचरण भट्टाचार्य तथा भारत विख्यात चिकित्सक पण्डित त्र्यम्बक शास्त्री आदि विद्वानों के परामर्श से रखा था। व्याकरण मध्यमा अथवा विश्वविद्यालय की प्रवेशिका परीक्षोत्तीर्ण छात्र आयुर्वेदविभाग में प्रवेश पाते थे। स्नातकों की अन्तिम उपाधि शास्त्राचार्य थी। काशी के सुप्रसिद्ध चरकाचार्य स्वर्गीय कविराज धर्मदास जी आयुर्वेद के विभागीय प्रधानाध्यापक थे। वे चरक-जल्पतरुकार कविराज गङ्गाधर राय के पट्टशिष्य कविराज परेशनाथ सेन के भागिनेय एवं उनके ही चरकज्ञान के मुख्य उत्तराधिकारी थे। कलकत्ता के स्वर्गीय विख्यात कविराज श्यामादास वाचस्पति के वे चचेरे ज्येष्ठ भ्राता थे। काशी के वर्तमान विख्यात कविराज भारत के सर्वप्रथम राष्ट्रपति-चिकित्सक पद्मभूषण पण्डित सत्यनारायण शास्त्री उनके ही प्रधान शिष्य हैं। इस लेख के लेखक तथा पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री भी, जो गत नवंबर तक विश्वविद्यालयकी आयुवदिक फेकल्टी के डीन रहे हैं, उनके ही सर्वप्रथम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण शिष्य हैं। मालवीय जी महाराज विश्वविद्यालय में भारत के चुने हुए विद्वानों का ही उस समय संनिवेश करते थे। उनके अनुरोध पर कविराज धर्मदासजीने भी दैनिक दो घंटे का समय अध्यापन के लिए देना स्वीकार किया था जिसे प्रधानाध्यापक के पद पर रहकर उन्होंने आजीवन निभाया। सन् १९२५ में आयुर्वेद––शास्त्राचार्य परीक्षा का आरम्भ हुआ, उसी सन् में विश्वविद्यालय का सर सुन्दरलाल अस्पताल भी तैयार हुआ। सन् १९२६ में आयुर्वेद की अध्यापन-व्यवस्था प्राच्य विद्याविभाग से हटा कर वहाँ कर दी गई, पर पाठ्यक्रम यथावत् आयुर्वेद प्रधान था। शारीर, शरीर क्रिया विज्ञान,संक्षिप्त शल्य-शालाक्य आदि की शिक्षा आधुनिक पद्धति से भी डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा देते थे। आधुनिक रसायन एवं वनस्पति शास्त्र आदि की। शिक्षा छात्रों को साइंस कालेज में जाकर लेनी पड़ती थी। औषधि परिचय एवं निर्माण की शिक्षा के लिए तत्कालीन वाइसचांसलर पूज्य मालवीयजी के निवासस्थान के सामने ही वनस्पत्युद्यानं और औषधनिर्माणशाला बनी थी।

सन् १९२८ से यू० पी० सरकार से ५० हजार रुपये की वार्षिक सहायता आयुर्वेद विभाग को मिली। उस समय विश्वविद्यालय के विकास में अर्थ-संकट विशेष बाधक था। इसलिये पूज्य मालवीयजी ने सरकार का दिया हुआ एलोपैथी बहुल कोर्स इस आशा से स्वीकार कर लिया कि उससे शिक्षाप्रदत्त स्नातक आयुर्वेद के कालप्रभाव से विलुप्त हुए अङ्गों का आयुर्वेदानुकूल समन्वय संस्कार सरलता से कर सकेंगे। महामहोपाध्याय कविराज गणनाथ सेन सरस्वती डीन नियुक्त हुए। स्नातकों की उपाधि आयुर्वेदाचार्य हुई। प्रधानाध्यापक कविराज धर्मदास जी सरल स्वभाव के वृद्ध पण्डित थे, इसलिए डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा ही नये कोर्स की स्वीकृति के समय सरकार के विभागीय अधिकारियों के पास भेजे जाते थे। पर पूज्य मालवीय जी को इससे विशेष सन्तोष नहीं हो रहा था। इसलिए उनके विशेषानुरोध से बंम्बई के प्रख्यात वैद्य आयुर्वेदमार्तण्ड स्वर्गीय यादवजी त्रिकमजी आचार्य, प्रिंसिपल-पद पर बुलाये गये। पर वे जलवायु की अनुकूलता कम रहने से अस्वस्थ रहने लगे और कुछ मास तक ही ठहर कर वापस चले गये। तब से उस पद पर चरकाचार्य वृद्ध कविराज धर्मदास जी ही

आजीवन आसीन रहे। पर प्रबन्ध-व्यवस्था में डा० वर्मा का ही उनकी अधीनता में हाथ रहता था। कविराज जी आयुर्वेद के सुदृढ़ स्तम्भ थे, अतएव उनके समय तक आयुर्वेद की प्रधानता में विशेष शैथिल्य नहीं जान पड़ा। सन् १९३४ में कविराजजी का देहावसान हो गया। तब से डा० मुकुन्दस्वरूप वर्मा स्थानापन्न प्रिंसिपल हुए। उनके कार्यकाल में एलोपैथी का प्राधान्य इतना बढ़ा कि आयुर्वेद की परीक्षा ३० प्रतिशत और एलोपैथी की ७० प्रतिशत तक कर दी गई। एलोपैथ शिक्षकों की संख्या आयुर्वेदाध्यापकों से तिगुनी-चौगुनी हो गई और छात्रों की प्रवेश-योग्यता संस्कृत मैट्रिक तक कर दी गई। उस समय उपाधि परीक्षा का नाम परिवर्तन करने के लिये छात्रों का आन्दोलन चला और वह यहाँ तक बढ़ा कि पूज्य मालवीय जी ऐसे शीलमूर्ति कुलपति को भी कुछ छात्रों का बहिष्कार करना पड़ा। परन्तु उसका प्रभाव यह हुआ कि छात्रों के सन्तोषार्थ उपाधि परीक्षा का नाम ए० एम० एस् (आयुर्वेदाचार्य इन् मेडिसन् एण्ड सर्जरी) किया गया। डा० उडुप्पा जो इस समय प्रिंसिपल हैं हिन्दूविश्वविद्यालय के ही ए० एम० एस् हैं और कनाडा से एफ० आर० सी० एस्० हुए हैं। मालवीयजी महाराज जब अस्वस्थ हुए तो डॉ० सर्वपल्ली राधाकृष्णन्, जो आज भारत के उपराष्ट्रपति हैं—काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के वाइसचांसलर बनाये गये। छात्रों का आन्दोलन प्रिंसिपल की नियुक्ति के लिये उनके समय में भी होता रहा और सन् १९४२ में डा० बालकृष्ण अमरजी पाठक उस पद पर नियुक्त किये गये और उपाधि परीक्षा का नाम ए० एम० एम० एस्० (आयुर्वेदाचार्य विथ माडर्न मेडिसिन एण्ड सर्जरी) हुआ। वे यद्यपि कोरे एलोपैथ नहीं थे, आयुर्वेदज्ञ और तदनुरागी भी थे। पर उनके कार्यकाल में भी आयुर्वेद की शिक्षा का स्तर निर्धारित पाठ्यक्रम के अनुसार एलोपैथी न्यून ही चलता रहा। सन् १९४८ में डा० पाठक का भी देहान्त हो गया। तब से डा० वर्मा पुनः स्थानापन्न प्रिंसिपल हुए। छात्रों का आन्दोलन फिर चला। छात्रों की पञ्चवर्षीय शिक्षा की डिग्री का नाम ए० बी० एम० एस्० (आयुर्वेदाचार्य बेचलर आफ मेडिसिन एण्ड सर्जरी) किया गया जो अब तक चल रहा है। प्रवेश-योग्यता इंटर साइंस कर दी गई। सन् १९५७ के जून मास में डा० वर्मा को अवकाश ग्रहण करना पड़ा। अब पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री आयुर्वेद शास्त्राचार्य स्थानापन्न प्रिंसिपल हुए। उस समय वे फेकल्टी के डीन भी थे। सन् १९५९ तक उन्होंने उस पद को योग्यता से सम्हाला। वे आयुर्वेद के निष्ठावान् विद्वान् हैं। अतएव उन्होंने आयुर्वेद की शिक्षा का प्राधान्य करने पर जोर लगाया। उत्तरप्रदेश के मुख्य मंत्री डा० सम्पूर्णानन्द के परामर्श से एक आयुर्वेद प्रधान पाठ्यक्रम तैयार हुआ जो आज उत्तरप्रदेश के बोर्ड आफ इण्डियन मेडिसिंस से सबन्धित कालेजों में प्रचलित है। हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के छात्रों को सन्देह हुआ कि वह कोर्स उनके कालेज में भी प्रचलित होगा। इसी से संस्कृतज्ञान विहीन उन छात्रों को अपने प्रधान गुरु पण्डित राजेश्वरदत्त शास्त्री के विरुद्ध स्वर उठाने का बहाना मिला। उन्होंने शास्त्रीजी को अपनी निष्ठा के अनुसार अच्छी गुरुदक्षिणा दी। आन्दोलनकारी छात्रों ने उनको और वाइसचांसलर डा० वेणीशंकर झा को तत्काल त्याग पत्र देने की मांग की और इन सज्जनों का युनिवर्सिटी में प्रवेश भी निषिद्ध कर दिया। अश्लील एवं अशिष्ट शब्दों का प्रयोग तो इतना हुआ कि उसे सुननेवाले भी खिन्न होते थे। अन्त में केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री डा० श्रीमाली को इसमें बीच-बचाव एवं हस्तक्षेप करना पड़ा और कुछ समय के के लिये आयुर्वेदिक कालेज बंद भी कर दिया गया। तत्पश्चात् छात्रों के इस नारे के अनुसार कि हमारा ग्रेजुएट हमारा प्रिंसिपल हो—डा० उडुप्पा को, जो सरकारी नौकरी में सिविल सर्जन के पद पर थे, अवकाश देकर प्रिंसिपल पद पर भेजना पड़ा। यद्यपि पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री भी हिन्दू विश्वविद्योलय के ही सर्व-प्रथम प्रथम श्रेणी में उत्तीर्ण स्नातक हैं और वहाँ के ३८ वर्ष के सुयोग्य अध्यापक हैं। साथ ही डा० उडुप्पा के गुरु हैं। पर इस समय के छात्रों ने उनका जैसा संमान किया वह बड़ा आश्चर्योत्पादक और खेदजनक था। अब डा० उडुप्पा के प्रिंसिपलशिप में आयुर्वेदिक कालेज समाप्त हो रहा है।

यह निश्चय हो चुका है कि जुलाई १९६० से वह "कालेज आफ मेडिकल साइंसेज" के नाम से नये रूप में परिवर्तित कर दिया जाय। अब इस नये कालेज में पांच साल के कोर्स पढ़कर उतीर्ण होने वाले छात्र एम० बी० बी० एस्० की डिग्री लेंगे। विशेषता यह होगी कि इस कालेज में मेडिकल शिक्षा के साथ आयुर्वेद एक अनिवार्य विषय रहेगा जिसमें उत्तीर्ण होने पर ही डिग्री मिल सकेगी। आयुर्वेद भी एक साइंस

(शेषांश पृष्ठ ७९८ पर)

काश्यप-संहिता : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ

वैद्य रणजितराय

मूल विषय पर आने के पूर्व आमुख या प्रवेशक के रूप में कुछ पंक्तियाँ लिखना आवश्यक प्रतीत होता है।

सुविस्तीर्ण तथा सुविकीर्ण आयुर्वेद

प्राप्त आयुर्वेदीय संहिताओं के अनुशीलन से संभावना होती है कि संहिताएँ जिस रूप में हमें प्राप्त हुई हैं उनमें संहिताकारों के समय में प्रचलित ज्ञान भी संपूर्ण समाविष्ट नहीं हुआ है। एक छोटे-से उदाहरण से इसे स्पष्ट करने का प्रयत्न करें।

जीवक वैद्य का काल लगभग वही है जो चरक तथा सुश्रुत के मूल प्रवक्ताओं का है। अपरंच, जीवक वैद्य का शिक्षण चरक के देश में ही हुआ ; एवं उसका व्यवसाय का देश लगभग वही है जो सुश्रुत के मूल प्रवक्ता महाराज दिवोदास का है। इस जीवक ने विद्याभ्यास करने के अनन्तर आचार्य के समक्ष अपने को परीक्षार्थ प्रस्तुत किया तो आचार्य उसके सामने कोई शल्यतन्त्रसाध्य या काय-चिकित्सासाध्य रुग्ण नहीं रखा, न ही उसे विषम प्रसूति की कोई रुग्णा निदान-चिकित्सा के लिए दी। उसे आचार्य ने यही कहा कि आश्रम के ऐक-एक योजन चारों ओर घूम कर कोई ऐसा द्रव्य लाओ जिसका औषधतया उपयोग विदित न हो। आदेशानुसार जीवक आश्रम के चारों ओर एक-एक योजन घूम आया और आ कर आचार्य को निवेदन किया : आचार्य देव, आपके आदेश से मैं आश्रम के चारों ओर एक-एक योजन घूम आया। परन्तु, मुझे कोई द्रव्य ऐसा न मिला जिसका औषधीय-उपयोग मुझे विदित न हो। आचार्य ने कहा : जीवक, तुम परीक्षा में उत्तीर्ण हो गए। घर जा कर अपना व्यवसाय करने की योग्यता तुम में आ गयी।

अपूर्णोपलब्ध आयुर्वेद

इस वृत्तान्त से दो बातें फलित होती हैं। एक तो आयुर्वेद कितना विशाल है। दूसरे हमारा वर्तमान ज्ञान जीवक कालिक आयुर्वेद की अपेक्षया कितनी हीन कोटि का है। हमारे उत्तमोत्तम विद्वान् को भी घर के चारों ओर चार-चार कदम घूम आने को कहा जाए और ऐसी ही सूचना की जाए कि औषधीय गुण-कर्म जिसके विदित न हों ऐसा कोई द्रव्य ले आओ तो क्या परिस्थिति होगी, इसकी कल्पना की जा सकती है। यह सत्य है कि, इस परिस्थिति का एक कारण यह भी है कि संप्रति उद्यानों में विदेशी वनस्पतियाँ ही अधिक लगाई जाती हैं। उनका गुण-कर्म हमें विदित न हो यह स्वाभाविक है। परन्तु उस दशामें भी हम अपनी अकर्त्तव्य-परायणता से तो मुक्त नहीं कहे जा सकते। प्रयत्न करके इन द्रव्यों के औषधीय उपयोग जानने का उपक्रम तो हमें करना ही चाहिए।

इस वृत्तान्त का मूल विषय से संबद्ध विचार यह है कि, जीवक की परीक्षा जिस पद्धति से ली गयी उससे स्पष्ट है कि, प्राप्त संहिताओं में जितनी औषधियाँ निर्दिष्ट हैं आयुर्वेद का निघण्टु उन्हीं में मर्यादित नहीं है। यों, चरक, सुश्रुत, वाग्भट तीनों ने कहा है कि, जगत् की कोई वस्तु ऐसी नहीं है जो औषध-रूप न हो। तथापि, औषधों के प्रकरण में बहुत ही थोड़े द्रव्यों का उल्लेख पूर्वाचार्यों ने किया है। और कई जन, (उनकी संख्या सौभाग्यवश नगण्य ही है), संहितोक्त द्रव्यों से बाहर के किसी भी द्रव्य को आयुर्वेदीय नहीं मानते। अपने समय में उपलब्ध यावत् द्रव्यों का उल्लेख अपनी-अपनी संहिता में आचार्यों ने क्यों नहीं किया इसका कारण कुछ भी हो, यह तो इससे फलित होता ही है कि, उपलब्ध संहिताओं में ऐसी अगणित औषधियाँ समाविष्ट होने से रह गयी हैं, जो संहिताकारों के काल में प्रचलित थीं। कम-से-कम इतने अंशों में तो आयुर्वेद हमें अपूर्ण रूप में ही प्राप्त हुआ है।

आयुर्वेद की पूर्ति का प्रकार

एक अन्य दृष्टि से इस विषय का विचार करें। चरकोपदिष्ट बहुत-सी बातें सुश्रुत में नहीं मिलतीं, सुश्रुतोक्त कितने ही विषय चरक में नहीं प्राप्त होते। वाग्भट में आई कई बातें चरक-सुश्रुत में नहीं प्राप्त होतीं। काश्यप-

संहिता में भी चरकादि संहिताओं में अनिर्दिष्ट कई बातें प्राप्त होती हैं। आयुर्वेद-संबद्ध कितने ही विषय ऐसे हैं जो चरकादि संहिताओं में नहीं प्राप्त होते, किंतु वेद, निरुक्त, हरिवंश, हठयोग प्रदीपिका, सांख्य तत्त्वकौमुदी आदि में प्राप्त होते हैं। संभव है, कोई बातें ऐसी हों जो संहिताकारों के काल में आचार्य कुल में, व्यवसायी वैद्यों में या वैद्येतरों में प्रचलित रही हों, परन्तु उनका समावेश इन संहिताओं में न हुआ हो। कारण कुछ भी हो, आज परिस्थिति यह है कि आयुर्वेद के वैभव-काल में जब आयुर्वेदोपदिष्ट मार्ग से आयुर्वेद समृद्धि के मार्ग पर अग्रसर होता जा रहा था, आयुर्वेद की जैसी स्थिति थी वैसी स्थिति आज नहीं रही है। हो तो भी उसकी गति अत्यन्त मन्द तथा स्वरूप अत्यन्त अस्पष्ट है। इस दशा में आयुर्वेद को समृद्ध और उत्तरोत्तर प्रगतिशील बनाने के लिए जो कार्य हमें करने हैं उनमें एक निश्चित ही यह है कि प्राचीन समस्त वाङ्मय का अवगाहन कर उससे आयुर्वेद-विषयक वचनों का दोहन किया जाए।

आयुर्वेद-विषयक वाङ्मय के प्रथम स्रोत निश्चित ही आयुर्वेदीय संहिताएँ हैं। अभी तो इनका भी पूर्ण अध्ययन तथा उपयोग किया नहीं जा सका है। पुनश्च, कुछ नयी संहिताएँ भी प्रकाश में आई हैं——यथा काश्यप-संहिता तथा भेल संहिता। अवश्य ही ये खण्डित रूप में प्राप्त हुई हैं, तथापि आयुर्वेद को पूर्ण करने की दृष्टि से इनका महत्त्व अनन्य है। आयुर्वेदीय संहिताओं के अतिरिक्त संस्कृत भाषा का विशाल ग्रन्थ-भण्डार, जिसका प्रतिपाद्य विषय आयुर्वेद नहीं है, उसका भी अवगाहन करने से आयुर्वेद-संबद्ध वचन उसमें से मिलना संभव है। वेद, ब्राह्मण ग्रन्थ, उपनिषद्, पुराण, काव्य आदि का समावेश इन ग्रन्थों में होता है।

संस्कृत वाङ्मय के अतिरिक्त पाली, अर्धमागधी आदि भाषाओं तथा वैदिक धर्म के साहित्य के अतिरिक्त जैन आदि धर्मों के ग्रन्थों में भी आयुर्वेदीय वचनावली सुलभ है। विभिन्न शिलालेखादि में भी आयुर्वेदीय विषय उपलब्ध हो सकता है। इन दिनों अवगाह्य वाङ्मय का एक और भण्डार प्रस्तुत होने लगा है। कई आयुर्वेद आदि विषयों के प्रतिपादक मूल ग्रन्थ जो अब भारत में प्राप्य नहीं हैं, परन्तु जिनके किसी काल में अरबी आदि भाषाओं में हुए भाषान्तर विदेशों में सुलभ हैं, इनका भी आलोडन करना आवश्यक होगा।

यह तो मुद्रित साहित्य की बात हुई। अमुद्रित हस्तलिखित कितना ही साहित्य प्रकाशकों की प्रतीक्षा करता यत्र-तत्र बिखरा पड़ा है। गुरुवर्य आचार्य यादवजी भाई ने अपने व्यय से आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला का संपादन और प्रकाशन आरम्भ किया था। ऐसा ही उद्यम कोई नए सिरे से करे तो आयुर्वेद के लिए यह अतीव उत्तम प्रयास कहा जाएगा। आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला के दो-एक ग्रन्थ आधुनिक लेखकों की टीका-सहित प्रकाशित हुए हैं।

इस विषय में दुःस्थिति यह है कि, आज तो प्राचीन टीकाओं सहित चरक-सुश्रुत-वाग्भट द्वय ही दुष्प्राप्य हो रहे हैं। कोई भी ग्रन्थ प्रकाशित होने के पूर्व इन संहिता-ग्रन्थों का प्रकाशन सर्वप्रथम आवश्यक है। ये संहिताएँ आज प्राप्त हैं इस स्थिति में प्रकाशित हों तो भी कार्य-साधक होंगी। अच्छा यह होगा कि निर्णय-सागर द्वारा प्रकाशित श्री पराडकर शास्त्री संपादित अष्टाङ्ग हृदय किंवा पूना के श्री किंजवडेकर शास्त्री संपादित अष्टाङ्ग संग्रह के समान पुनः संपादन कर ये संहिताएँ प्रकाशित की जाएँ।

किं बहुना, इस समस्त वाङ्मय-संभार का अवगाहन कर विषयक्रम से समग्र वचनावली का संकलन करना आयुर्वेद के लिए आज ही करणीय कार्यों में एक है। भविष्य के पाठ्य ग्रन्थों के लेखकों के लिए ऐसे संग्रह उपजीव्य के रूप में अतुलित उपकार करनेवाले सिद्ध होंगे, इसमें संशय को अवकाश नहीं।

मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति ने आयुर्वेदीय वाङ्मय के दोहन और संदोहन की एक विस्तृत योजना बनाई है और प्रादेशिक तथा केन्द्रीय सरकारों के समक्ष प्रस्तुत की है। यह योजना **सचित्र आयुर्वेद** में मुद्रित भी हो चुकी है। अनुसंधान-समिति के मन्त्री श्री अ० ना० नामजोशी अब केन्द्रीय सरकार द्वारा नियोजित आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति के भी सदस्य हैं। अतः आशा की जा सकती है कि यह योजना शीघ्र मूर्त रूप ग्रहण कर सकेगी। अन्य संस्थाएँ भी इस दिशा में प्रयत्नवान् हैं।

दोहन-योग्य विषय कहाँ-कहाँ बिखरा हुआ पड़ा है इसकी विशदता के लिए कुछ उदाहरण देना आवश्यक प्रतीत होता है।

श्वासक्रिया का प्राचीनों द्वारा अनुशीलन

डॉ० बेंजामीन ली गोर्डन ने विश्व में चिकित्सा-शास्त्र के विकास पर एक अत्युत्तम पुस्तक 'दि रोमान्स ऑव् मेडिसिन' नाम से लिखी है। इस पुस्तक के पञ्चम अध्याय में ८१ वें पृष्ठ पर इविंग-लिखित 'हिन्दु कन्सेप्शन्स ऑव् दि फंक्शन्स ऑव् ब्रेथ' के पृ० ८६ से यह उद्धरण दिया गया है ;

No people, however, have paid as much attention to the physiology of breathing as the Hindus. They recognized various forms of respiration and assigned to each phase a particular function. They carefully computed the normal respiratory rate per diem and found the average to be 22, 636 or about 16 per minute, which almost agrees with the rate setby modern physiologists. Cultured Hindus still look upon the study of respiration as a science. They maintain that a well regulated respiration has a vital effect on the mental and physical activities of the person.

तात्पर्य: श्वासक्रिया के वैज्ञानिक अध्ययन के प्रति अन्य किसी प्रजा ने उतना ध्यान नहीं दिया जितना हिन्दुओं ने। उन्होंने श्वास के विविध प्रकारों का ज्ञान प्राप्त किया था तथा उसकी प्रत्येक अवस्था का पृथक्-पृथक् कर्म निश्चित किया था। उन्होंने अति सूक्ष्मता से श्वसन की दैनिक संख्या की भी गणना की थी। यह उनकी गणनानुसार २२,६३६ प्रति दिन है। तुलना से यह प्रति मिनिट १६ होती है जो आधुनिक क्रियाशारीर-विदों की श्वसन-संख्या से लगभग मिलती है। संस्कृत हिन्दु आज भी श्वासक्रिया के अनुशीलन को एक विज्ञान ही मानते हैं। उनका विश्वास है कि श्वासक्रिया को सुनियन्त्रित किया जाए तो पुरुष की शारीरिक-मानसिक क्रियाओं पर उसका अद्वितीय प्रभाव होता है।"

श्वासक्रिया का जो वैज्ञानिक अध्ययन पूर्वाचार्यों ने किया था और जिसका निर्देश ऊपर दत्त उद्धरण में इतिहास लेखक ने किया है, उसकी प्रतीति वाचकों को योग-विद्यान्तर्गत प्राणायाम एवं स्वरोदय-शास्त्र के प्रकरणों को ध्यान में लाने से होगी। यहाँ प्रकरण के वैशद्य के लिए मैं कुछ ग्रन्थों से श्वासक्रिया की संख्या के सूचक वचन उद्धृत करता हूँ। इन वचनों की प्राप्ति के लिए मैं मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति के वैयाकरण **श्री गुर्जर** तथा हिन्दी-विशेषज्ञ **श्री जयदेव भाई** का ऋणी हूँ।

शत छं शतानि पुरुष: समेनाष्टौ शता यन्मितं वदन्ति।
अहोरात्राभ्यां पुरुष: समेन तावत्कृत्व: प्राणितिचापचानिति।
—शतपथ ब्राह्मण १२।३।२।८

इसके अनुसार एक अहोरात्र में (२४ घण्टे में)
१०० × १००० + ८०० = १०,८०० प्राण तथा
१०० × १०० + ८०० = १०,८०० अपान होते हैं।
दोनों मिला कर १०,८०० + १०,८०० = २१,६०० प्राणपान या श्वसन एक अहोरात्र में होते हैं।
२१,६०० ÷ २४ = ९०० श्वसन एक घण्टे में,
९०० ÷ ६० = १५ श्वसन प्रति मिनिट होते हैं।

नीचे की उपनिषदों में भी श्वसन की जो संख्या बताई गयी है, वह इतनी ही होती है।

षट्छतान्यधिकान्यत्र सहस्राण्येकविंशतिः।
अहोरात्रवहैः श्वासैर्वायुमण्डलघातकः॥
—वराहोपनिषत् ५।३

हकारेण वहिर्याति सकारेण विशेत्पुनः।
हंस हंसेत्यमुं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
शतानि षड् दिवारात्रं सहस्राण्येक विंशतिः।
एतत्संख्यान्वितं मन्त्रं जीवो जपति सर्वदा॥
—ध्यानबिन्दूपनिषत् ६१-६२

अहोरात्रयोरेकविंशतिसहस्राणि षट्छतान्यधिकानि भवन्ति॥
—हंसोपनिषत्

इन तीनों वचनों में शतपथ ब्राह्मण के सदृश ही अहोरात्र में २१,६०० श्वसन-संख्या निर्दिष्ट हुई है।

अशीतिश्च शतं चैव सहस्राणि त्रयोदश।
लक्षश्चैकोननिश्वासः अहोरात्र प्रमाणतः॥
—अमृतनादोपनिषत्

इस वचन में आई संख्या का मेल दुर्घट है।

ये वचन यह दर्शाने के लिए दिए हैं कि आयुर्वेदीय संहिताकारों ने श्वसन की संख्या न जाने क्यों शरीर की क्रिया के निर्देश के प्रसंग में नहीं दी। आज तो यही प्रतीत होता है कि नासाभ्यन्तर संचारी प्राणापान के प्रकरण में इस संख्या का निर्देश हमें लेना ही होगा। यह निर्देश भिन्न-भिन्न ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। ऊपर दिए इनके उद्धरण से विशद होगा कि तद्युग में आयुर्वेद के शास्त्रीय

पक्ष को पूर्ण करने के लिए प्राचीन वाङमय के अवगाहन की आवश्यकता तथा स्वरूप कैसा है?

श्वसन-क्रिया में बाह्य वायु का शरीर में प्रवेश और उपकारकता का स्वल्प निर्देश सुश्रुतादि ने भी किया है। यथा अधोनिर्दिष्ट पद्य में बाह्य प्राण का लाभ ले कर आभ्यन्तर प्राण द्वारा शरीर के धारण का उल्लेख किया गया है :

प्राणो ह्याभ्यन्तरो नृणां बाह्यप्राण गुणान्वितः।
धारयत्यविरोधेन शरीरं पाञ्चभौतिकम्॥

——सु० सू० १७।१३

यह वचन यद्यपि आहार के महत्त्व के प्रतिपादनार्थ मूल में आया है, तथापि शब्दों की योजना स्पष्ट ही श्वसन-क्रिया से शरीर को प्राप्त होनेवाले लाभ की द्योतक है।

शार्ङ्गधर ने आभ्यन्तर प्राण का हृदय और फुफ्फुस में हो कर कण्ठद्वार से बाहर जाना एवं विष्णुपदामृत (शब्दार्थ-आकाश का अमृत) का पान कर सर्व शरीर में संचरण करते हुए समग्र धातुओं की पुष्टि, विशेषतया रक्त के प्रीणन तथा अग्नि की दीप्ति का उल्लेख करते हुए श्वसन का स्वरूप अधिक विशद कर दिया है। ये पद्य इतने विदित हैं कि उन्हें यहाँ उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना जता देना आवश्यक है कि लघुत्रयी में भी कितनी दोहन-योग्य उपयुक्त सामग्री भरी पड़ी है। इसी श्वसन से संबद्ध बहुत-से वचन अध्यात्म-ग्रन्थों में विकीर्ण हैं। डॉ० घाणेकरजी की सुश्रुत-व्याख्या, डॉ० बनर्जी का आयुर्वेदीय शारीर, इस लेखक के आयुर्वेदीय क्रियाशारीर आदि ग्रन्थों में इनमें कुछ का संग्रह किया भी गया है। उन पर इस प्रकरण में दृष्टिपात करने से इस बात की पुष्टि होगी कि आयुर्वेद-संबद्ध वाङमय के पुनरुद्धरण के लिए कितने विशाल क्षेत्र का अवगाहन हमें करना है। अन्य वचन उद्धृत न करते हुए पनवेल तथा झाँसी के **श्री गोपाल शास्त्री गोडबोले** जी की कृपा से प्राप्त एक वचन यहाँ उद्धृत करता हूँ। इसमें जीव-रक्त का हृदय में वाम-दक्षिण कोष्ठों में जाना तथा गेंद के समान उछल कर ऊपर-नीचे फुफ्फुस में और वहाँ से हृदय की ओर आना-जाना सुस्पष्ट निर्दिष्ट है। देखिए :

प्राणापानवशाज्जीवो ह्यधश्चोर्ध्वं प्रधावति।
वामदक्षिणमार्गेण चञ्चलत्वान्न दृश्यते॥
आक्षिप्तो भुजदण्डेन यथोच्चलति कन्दुकः।
प्राणापानसमाक्षिप्तस्तथा जीवो न विश्रमेत्॥
रज्ज्वा बद्धो यथा श्येनो गतोऽप्याकृष्यते पुनः।
गुणबद्धस्तथा जीवः प्राणापानेन कृष्यते॥
ऊर्ध्वं चाधः स्थितावेतौ यो जानाति स योगवित्॥

——विवेकमार्तण्ड प्रबोध २९-३३ श्लोक

'रक्तं जीव इति स्थितिः' इस प्रसिद्ध वचन में रक्त का पर्याय जीव बताया है। जीवादान शब्द में जीव शब्द स्पष्ट ही रक्त के लिए आया है। शार्ङ्गधर के पूर्वनिर्दिष्ट पद्यों में आया 'जीव' शब्द भी रक्त का ही वाचक है। इन तथा अन्य वचनों के आधार पर उपरिनिर्दिष्ट पद्यों में भी जीव शब्द का अर्थ रक्त लेने में कोई विप्रतिपत्ति नहीं है।

प्राण तथा अपान शब्द पञ्च प्राणों के प्रकरण में आते हैं। परन्तु नासाभ्यन्तर-संचारी, किंवा स्पष्ट शब्दों में कहना तो हो श्वसन-क्रिया में अन्दर-बाहर जाने-आनेवाले वायुओं के लिए भी प्राण-अपान शब्दों का प्रयोग समग्र प्राचीन वाङमय में प्रसिद्ध है। इस विषय का अधिक विचार एवं प्राण-अपान शब्द श्वासक्रिया के प्रकरण में लोक में जिन अर्थों में प्रसिद्ध हैं उनसे परस्पर-विपरीत इनका अर्थ प्राचीन वाङमय में सर्वत्र आता है इस विषय में विशेष ऊहापोह आयुर्वेदीय क्रियाशारीर में किया है। उसके प्रति संकेतमात्र कर यहाँ इतना ही कहना प्राप्त है कि विवेकमार्तण्ड के उपरिलिखित पद्यों में प्राण-अपान शब्दों का व्यवहार निश्चित ही श्वासक्रिया में गमनागमन करनेवाले वायुओं के लिए ही हुआ है। इतनी भूमिका के प्रकाश में अब मूल वचनों का शब्दार्थ देखें——

"प्राण तथा अपान अर्थात् उच्छ्वास और निःश्वास के वश जीव (रक्त) ऊपर तथा नीचे वाम और दक्षिण मार्ग से सवेग गति करता है। इसका यह गमनागमन द्रुतत्व (चञ्चलत्व) के कारण दृष्टिगोचर नहीं होता।

"जैसे गेंद के खेल में हथेली से नीचे पृथ्वी तल की ओर फेंकी गयी गेंद पुनः उछलती है और क्रीडा चालू रहे तब तक गेंद के ऊपर-नीचे जाने-आने की यह क्रिया चालू रहती है वैसे प्राण और अपान के वेग से प्रक्षेपित जीव आजन्म विश्राम लिए बिना गमनागमन किया करता है।

"जैसे रस्सी से बँधा हुआ कोई बाज उड़ कर थोड़ी दूर जाता है और पुनः खिंच आता है वैसे गुणों से बद्ध जीव प्राणापान द्वारा पुनः आकृष्ट कर लिया जाता है।

"प्राण अपान ऊपर और नीचे स्थित हैं। इनकी क्रिया को जो जानता है वह योगवित् है।"

वायु और मन का परस्पर संबन्ध

भूमिका-रूप यह प्रकरण हम इस प्रयोजन से दे रहे हैं कि संकलनार्ह आयुर्वेदीय विषय के कितने-कितने आवश्यक अंश कहाँ-कहाँ बिखरे पड़े हैं इसकी कुछ प्रतीति हो सके। एक और विषय उद्धृत कर इस प्रकरण को हम समाप्त करेंगे तथा शीर्षकोक्त विषय को प्रस्तुत करेंगे।

कुपित या क्षीण दोषों, धातुओं तथा मलों का मन पर प्रभाव आयुर्वेद में सुनिरूपित है। इनमें भी वायु का सम किंवा विषम दोनों अवस्थाओं में मन पर विशेष प्रभाव होता है। **नियन्ता प्रणेता च मनसः** इत्यादि वचनों में मन का वायु के साथ संबन्ध सुस्पष्ट पदों में आयुर्वेद में बताया गया है। अतएव, मानस रोगों में वायु को समावस्था में लाने पर सविशेष लक्ष्य सिद्ध वैद्य दिया करते हैं। आयुर्वेद की अपेक्षया भी योग के ग्रन्थों में मन और वायु के परस्पर संबन्ध का प्रतिपादन अधिक विशद पदों में दिया गया है। आयुर्वेद के शास्त्र एवं कर्म को स्वच्छ और यशस्वी बनाने के लिए योग के ग्रन्थों का अवलोकन कर इस संबन्ध को बुद्धिगत करना अतीव हितावह हो सकता है। इस दृष्टि से हठयोग प्रदीपिका से दो वचन उद्धृत करना उपयुक्त समझता हूँ।

इन्द्रियाणां मनो नाथो मनोनाथस्तु मारुतः।

तात्पर्य—मन उभयविध इन्द्रियों का स्वामी है। इस मन का भी स्वामी या नियन्ता वायु है।

अन्यत्र इसी ग्रन्थ में वायु और मन के संबन्ध को और भी विशद करते कहा गया है—

दुग्धाम्बुवत् संमिलितावुभौ तु
तुल्यक्रियौ मानसमारुतौ हि।
यतो मरुत् तत्र मनः प्रवृत्ति
र्यतो मनस्तत्र मरुत्प्रवृत्तिः॥
तत्रैकनाशादपरस्य नाश
एके प्रवृत्तेरपरप्रवृत्तिः।
अध्वस्तयोश्चेन्द्रियवर्गवृत्तिः
प्रध्वस्तयोर्मोक्षपदस्य सिद्धिः॥

अर्थात्—मन और वायु ये समान-क्रियाकारी हैं—मिल कर विविध क्रियाओं का संपादन करते हैं। ये परस्पर इस प्रकार गाढ़ संबन्ध से जुड़े हुए हैं, जैसे परस्पर संयुक्त दूध और जल। जिस कार्य में वायु की प्रवृत्ति होती है उसी कार्य में मन प्रवृत्त होता हैं। उधर जिस कार्य के प्रति मन की प्रवृत्ति होती है उसके संपादनार्थ वायु उद्यत होता है। दोनों में एक के नाश से (अकर्मण्यता आदि से) अन्य का नाश होता है और एक की प्रवृत्ति से अन्य की प्रवृत्ति होती है। ये ध्वंसरहित हों तो इन्द्रियों की संसारमूलक चेष्टाएँ होती हैं। ये प्रध्वस्त हो गए तो मोक्ष की प्राप्ति होती है।

काश्यप संहिता—आरम्भिक वक्तव्य

आयुर्वेदीय वाङ्मय के दोहनार्थ विकीर्ण क्षेत्रों के उदाहरण रूप में जिन ग्रन्थों के वचन ऊपर उद्धृत किए गए हैं वे प्रायः ऐसे हैं जिनका मुख्य प्रतिपाद्य विषय आयुर्वेद नहीं है। आयुर्वेद का प्रतिपादन जिनका प्रधान विषय है ऐसे ग्रन्थों का निर्देश ऊपर किया नहीं गया है। सच पूछा जाए तो आज विषय प्रधान अध्ययन-अध्यापन की परिपाटी चालू हो जाने के परिणामस्वरूप संहितोक्त विषयों के भी पुनर्गुम्फन की आवश्यकता स्पष्ट प्रतीत होने लगी है। आयुर्वेदीय विषयों पर जो नवीन ग्रन्थ लिखे जा रहे हैं उनके लेखकों तथा वाचकों को इस स्थापना की सत्यता का स्पष्ट परिचय होगा। अब तक प्रायः नवीन ग्रन्थ आयुर्वेद के वचनों का संक्षिप्त भाषान्तर तथा उसी विषय के समान आधुनिक विज्ञानोक्त विषय से पृष्ठ पूर्ति के रूप में ही लिखे जाते रहे हैं। परन्तु अब प्रायः इस बात के प्रति चित्त आकृष्ट हुआ है कि आयुर्वेदीय ग्रन्थ केवल आयुवदीय मूल संहताओं तथा प्राचीन आयुर्वेदेतर वाङ्मय से वचनों का दोहन करके लिखे जाएँ तो आयुर्वेद का अभिधेय अधिक स्पष्ट हमारे सामने आ सकेगा। लेखक भी एक बार अपनी दृष्टि में परिवर्तन ले आएँ तो स्वयं उन्हें संहिता-ग्रन्थों में नव-नव विषय दृष्टिगोचर होंगे।

प्राचीन संहिताओं में चक्रपाणि आदि की टीकाओं सहित चरक-संहिता, डल्हन और कई स्थानों पर गयदास आदि की टीका सहित सुश्रुत-संहिता आदि ग्रन्थ सुविदित हैं। शार्ङ्गधर-भावप्रकाश आदि ग्रन्थ तथा उनकी प्राचीन टीकाओं में भी विपुल विषय बिखरा पड़ा है। इनके अतिरिक्त कुछ ही वर्ष पूर्व भेल-संहिता, काश्यप-संहिता नावनीतक, अञ्जननिदान प्रभृति ग्रन्थ प्रायः त्रुटित दशा में

उपलब्ध हुए हैं। इनके प्रति भी ध्यान दिया जाना आवश्यक है। प्रस्तुत लेख द्वारा मैं काश्यप-संहिता के कुछ ऐसे प्रमुख विषयों को उद्धृत करना चाहता हूँ, जो अन्य तन्त्रों में उपलब्ध नहीं होते। इससे विद्वत्समाज इस ग्रन्थ के स्वाध्याय में अधिक प्रवृत्त हुआ तो यह श्रम सार्थक समझा जाएगा।

सन् १९३८ में कौमारभृत्य-विषयक यह काश्यप-संहिता नेपाल-संस्कृत ग्रन्थमाला के प्रथम गुच्छ के रूप में **वैद्य यादवजी त्रिक्रमजी आचार्य** ने प्रकाशित की थी। यह संहिता ताडपत्रों पर लिखित नेपाल में प्राप्त हुई थी। विद्वच्छिरोमणि नेपाल राजगुरु **स्व० हेमराज शर्माजी** ने इसे संपादित किया। इसके साथ आयुर्वेद के सुविस्तृत इतिहास आदि के निर्देश के रूप में उपोद्घात तय्यार किया। इस उपोद्घात-सहित यह संहिता निर्णय सागर प्रेस में मुद्रित हुई। इस रूप में यह दुर्लभ हो गई थी। कुछ वर्ष पूर्व संस्कृत उपोद्घात, मूल संहिता एवं इनके साथ दोनों वक्तव्य-सहित हिन्दी भाषान्तर **श्री सत्यपाल आयुर्वेदालंकार** द्वारा करवा प्रसिद्ध पुस्तक-प्रकाशक तथा विक्रेता चौखम्भा-संस्कृत सीरीज़ ने इसे प्रकाशित किया है। यह प्रयत्न करके इस संस्था ने आयुर्वेद का वास्तव में अतुलित उपकार किया है।

निर्णयसागर मुद्रित मूल संहिता में उपोद्घात के २४० पृष्ठ तथा संहिता के ३३८ पृष्ठ हैं। इतने आरम्भिक स्वल्प परिचय के पश्चात् काश्यप-संहिता में प्रतिपादित कुछ विशिष्ट विषयों का संक्षेप में निर्देश किया जाता है।

फक्करोग

काश्यप-संहिता के नामोल्लेख के साथ ही जो प्रथम विषय स्मृतिगत होता है वह है इसमें प्रतिपादित फक्करोग। इस रोग-का निर्देश कुछ नावीन्य रखता है, परन्तु इसके समग्र रूप के प्रति बहुधा ध्यान जाता नहीं। अपना अभिप्राय स्पष्ट करने के लिए मुझे थोड़ी बात प्रस्तावना रूप में कह देनी चाहिए।

आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान के सुप्रसृत होने के कारण प्रायः ऐसे प्रसंग आते हैं, जब प्राचीन मत आदि का साम्य नवीन मत आदि से दर्शाना आवश्यक प्रतीत होता है। प्रस्तुत फक्करोग भी ऐसा ही है। इस विषय में एक स्मरणीय सत्य यह है कि प्राचीनों ने जिसे एक रोग कहा है वह नवीन मत से भी एक ही रोग हो यह निश्चित नहीं। अन्य शब्दों में, प्राचीनोक्त एक-एक रोग आधुनिक मत से अनेकानेक रोगों के वर्ग हैं। यद्यपि श्वास, प्रमेह आदि रोगों के प्राचीनों ने भी अनेकानेक भेद किए हैं तथापि उनके निदान (हेतु) तथा चिकित्सा में तो सादृश्य माना ही है। अतएव, उन्हें एक ही शीर्षक के अन्तर्गत रखना उचित समझा है। परन्तु, श्वासादि रोगों के प्रत्येक भेद का आधुनिक मत से समन्वय करने चलें तो स्पष्ट विदित होगा कि प्रत्येक भेद नव्यमतानुसार निदानादि की दृष्टि से सर्वथा भिन्न रोग है। वसामेह (काइलयूरिआ), मधुमेह (डायाबिटीज़ मेलीटस), कालमेह (ब्लेकवॉटर फीवर आदि का मूत्र), सिकतामेह, शनैर्मेह, सान्द्रप्रसादमेह (आल्ब्यूमिनयूरिआ) आदि प्रमेहों पर दृष्टिपात करने से यह तथ्य समझ में आ सकेगा। विषम ज्वर सामान्यतया मलेरिया समझे जाते हैं। परन्तु इनमें कदाचित् श्लीपद ज्वर, पायलायटिस आदि का भी अन्तर्भाव किया जा सकता है। पुनश्च, विषम शब्द का अर्थ विकट (दारुण) गृहीत कर संतत ज्वर को भी इसमें समाविष्ट कर लिया गया है। फक्क के विषय में भी यही स्थिति है। यह नव्यमत से कोई एक रोग नहीं है। प्रायः इसे एक रिकेट्स का पर्याय मान कर व्यवहार किया जाता है। अतः आरम्भ में ही इतनी विशदता करना उचित समझ कर पश्चात् एतद्विषयक अधिक विवेचन किया जाता है।

काश्यप-संहिता का प्रथम परिचय प्रायः अधीती वैद्यों तथा विद्यार्थियों को इसी रूप में होता है कि इसमें फक्करोग का वर्णन है जो अन्य तन्त्रों में उपलब्ध नहीं होता। मुख्यतया इसी कारण काश्यप-संहिता में आए विशिष्ट विषयों के प्रति संकेत के लिए प्रथमतः इसी रोग को हमने पसन्द किया है।

फक्क का लक्षण काश्यप ने यह दिया है।—

बालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति।
स फक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम् ॥३॥

अर्थात् बालक एक वर्ष का हो गया हो तो भी अन्य बालकों के समान चल न सके—चलता न हो तो उसे फक्क कहते हैं।

रोगी बालक का नाम यहाँ फक्क दिया है। उस पर से नवीन लेखक रोग को फक्क रोग कहते हैं।

आगे दसवें पद्य में फक्क के तीन भेद तन्त्रकार ने बताए हैं। वह कहता है—

113235

क्षीरजं गर्भजं चैव तृतीयं व्याधिसंभवम् ।
फक्कत्वं त्रिविधं प्रोक्तम् × × × ॥१०॥

अर्थात् फक्कत्व (फक्करोग) के तीन भेद हैं : **क्षीरज**, **गर्भज** तथा **व्याधिज** ।

इनमें क्षीरज फक्करोग का लक्षण देते काश्यप कहते हैं :

धात्री श्लैष्मिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेति संज्ञिता ।
तत्क्षीरपो बहुव्याधिः कार्श्यात् फक्कत्वमाप्नुयात् ॥४॥

धाय (अथवा माता) का दुग्ध श्लेष्म-प्रधान हो तो उसे फक्कदुग्धा कहा जाता है। उसका दुग्धपान करनेवाला बालक अनेक रोगों से पीड़ित हो कर कृश (अपरिपुष्ट, क्षीण धातुओंवाला) हो जाता है और अन्त में फक्कत्व को प्राप्त होता है--(धातु अपरिपुष्ट होने से दुर्बल हो जाते हैं। दुर्बल होने से बालक) --पैरों से चलने में अशक्त हो जाता है।

इस पद्य में निर्दिष्ट अनेक कफ प्रधान रोग कौन से हैं, इसका परिज्ञान कफनानात्मज रोगों की सूची पर सामान्य दृष्टिपात करने से हो सकता है। विशेष परिज्ञान के लिए चरक का वह प्रकरण देखना चाहिए जिसमें उसने इस बात का निरूपण किया है कि माता कौन-कौन अहिताहार-विहार करे तो उसके स्तन्य की दुष्टि होती है, स्तन्य दुष्टि में किस दोष का प्रकोप होने पर अहिताहार-विहारवश कुपित दोष के किस-किस गुण का प्रकोप (प्रायः) होता है, प्रत्येक गुण से क्षीराद बालक में किस-किस लक्षण का आविर्भाव होता है, एवं प्रत्येक दोष के प्रत्येक गुण के प्रकोप की पृथक् चिकित्सा क्या-क्या है? यह प्रकरण चिकित्सा स्थान के ३० वें अध्याय के २२९ से २८१ वें पद्य तक आया है।

इस प्रकरण में कहा है कि, विविध अहिताहार-विहार से तीनों दोषों के सब मिल कर आठ दोष (गुण-प्रकोप) होते हैं। इनमें कफ के कारण दूध में स्निग्धत्व, पैच्छिल्य तथा गौरव ये दोष होते हैं। इनमें प्रत्येक के कारण होने वाले लक्षण अधोनिर्दिष्ट हैं :

क्रुद्धो गुर्वादिभिः श्लेष्मा क्षीराशयगतः स्त्रियाः ।
स्नेहान्वितत्वात् तत्क्षीरमतिस्निग्धं करोति तु ॥

--च० चि० ३।२४६

गुरु-भोजनादि कारणों से माता (या धात्री) के शरीर में श्लेष्मा का प्रकोप होता है। यह स्तन में स्थान संश्रय कर, इसमें स्निग्धता विशेष होने से (प्रकोपक कारण स्निग्धता की वृद्धि करनेवाला हो तो) स्तन्य को भी अति स्निग्ध बना देता है। इसके कारण--

छर्दनः कुन्थनस्तेन लालालुर्जायते .शिशुः ।
नित्योपदिग्धैः स्रोतोभिर्निद्राक्लमसमन्वितः ॥
श्वासकासपरीतस्तु प्रसेकतमकान्वितः ॥

--च० चि० ३०।२४७-४८

क्षीराद बालक वमनशील, कुन्थनशील (पक्वाशय कफोपलिप्त होने के कारण प्रवाहिका के सदृश मल-प्रवृत्ति के लिए प्रवाहणशील), लालास्रावी ; जिसके मुख, नासिका, नेत्र, प्राणवह स्रोत, गुद आदि स्रोत नित्य कफ से व्याप्त हों ऐसा ; निद्राशील, क्लम पीड़ित (अतएव चेष्टा भीरु), श्वास तथा कास से पीड़ित (श्वास=डब्बा इत्यादि नामों से प्रसिद्ध), कफष्ठीवी एवं तमक पीड़ित (आँखों के आगे अन्धेरा जिसे दीखे ऐसा ; किंवा पूर्वनिर्दिष्ट श्वास का अर्थ क्षुद्र श्वास तथा तमक का अर्थ तमक श्वास--डब्बा--लें तो उन रोगों से पीड़ित) होता है।

अब कफ के अन्य गुण पिच्छिल का कोप दुष्ट स्तन्य में हुआ हो तो उसके लक्षण देखिए।--

अभिभूय कफः स्तन्यं पिच्छिलं कुरुते यदा ।
लालालुः शूनवक्त्राक्षिर्जडः स्यात् तत्पिबञ् शिशुः ॥

--च० चि० ३०।२४६

कफ यदि स्तन्य में स्थानसंश्रय कर उसे प्रकोपक-कारणानुसार पिच्छिल बना दे तो उसका सेवन करनेवाला बालक जड़ (चपलता-रहित, सुस्त), लालास्रावी तथा शोथयुक्त मुख और नेत्रवाला होता है।

कफः क्षीराशयगतो गुरुत्वात् क्षीरगौरवम् ।
करोति गुरु तत्पीत्वा वालो हृद्रोगमृच्छति ॥
अन्यांश्च विविधान् रोगान्कुर्यात्क्षीरसमाश्रितान् ॥

--च० चि० ३०।२५०

स्तन तथा स्तन्य में कफ स्थानसंश्रय करे और वह (अपने प्रकोप कारणों के योग से) गुरु हो तो स्तन्य को भी गुरु बना देता है। इसका सेवन करनेवाला बालक हृद्रोग से पीड़ित होता है, एवं अन्य भी विविध कफ प्रकोपज क्षीरोत्थ रोगों का ग्रास होता है।

कफ के कुपित हुए इन विविध गुणों से हुई स्तन्य-दुष्टि का उपचार इसी प्रकरण में आचार्य ने प्रदर्शित किया है। जिज्ञासुओं को इसे वहीं देखना चाहिए। यहाँ यह विशेषतया द्रष्टव्य है कि, काश्यप ने जो लिखा है कि स्तन्य श्लेष्म प्रकोपक

हो तो उससे बालक कृश (क्षीण धातुवाला, शुष्क) हो जाता है, उसकी संप्राप्ति क्या है? मेरी नम्र बुद्धि में राजयक्ष्मा अनुलोम धातुक्षयज हो तो उससे धातुएँ कैसे क्षीण होती हैं इस बात की जो संप्राप्ति तन्त्रकारों ने बताई है वह कफ के कारण बालकार्श्य कैसे होता है इस बात की उत्तम व्याख्या कर सकती है। अतः उसे उद्धृत किया जाता है।

> कफप्रधानैर्दोषैस्तु रुद्धेषु रसवर्त्मसु।
> क्षीयन्ते धातवः सर्वे तेन शुष्यति मानवः ।।–सु०उ०४१।१०

राजयक्ष्मा के आरम्भक दोष, जिनमें प्रधान कफ होता है, रस तथा अन्य शारीर धातुओं के वहन के मार्गों (स्रोतों) को अवरुद्ध करते हैं, परिणामतया धात्वाशयों में रस समीचीनतया पहुँच नहीं पाता, जिससे वे क्षीण होते हैं और पुरुष शोष (यक्ष्मा) से पीड़ित होता है।

कहा जा सकता है कि कफ द्वारा स्रोतोरोध का अर्थ मुख्यतया यह होता है कि कफ का प्रधान गुण मन्द कुपित हो कर रसवह स्रोतों में रस के वहन की गति को मन्द कर देता है। उचित वेग (दबाव) से रस-रक्त धात्वाशयों को प्राप्त न हो सकने से उनकी पुष्टि नहीं हो पाती, अथवा उनकी क्रिया में व्याघात होता है।

बालक के कफ प्रधान इस कृशता या धातुक्षय के कारण, बालक के धातुओं में दौर्बल्य आता है। परिणामतया, वह यदि चल न सके तो उसे क्षीरज फक्क कहा जाता है। कृश शब्द प्राचीन है। बालकों में कार्श्य का निरूपण भी तन्त्रकारों ने किया है। तथापि जानो प्राचीनों ने इसका विचार ही न किया हो, ऐसी शङ्का का आभास करानेवाला बालशोष शब्द वर्तमान लेखकों ने इस के लिए चला रखा है। इसमें परिवर्तन होना चाहिए।

क्षीरज फक्क के लक्षण देख कर अब आगे फक्क के अन्य भेदों के लक्षण प्रस्तुत करते हैं। (सावशेष)

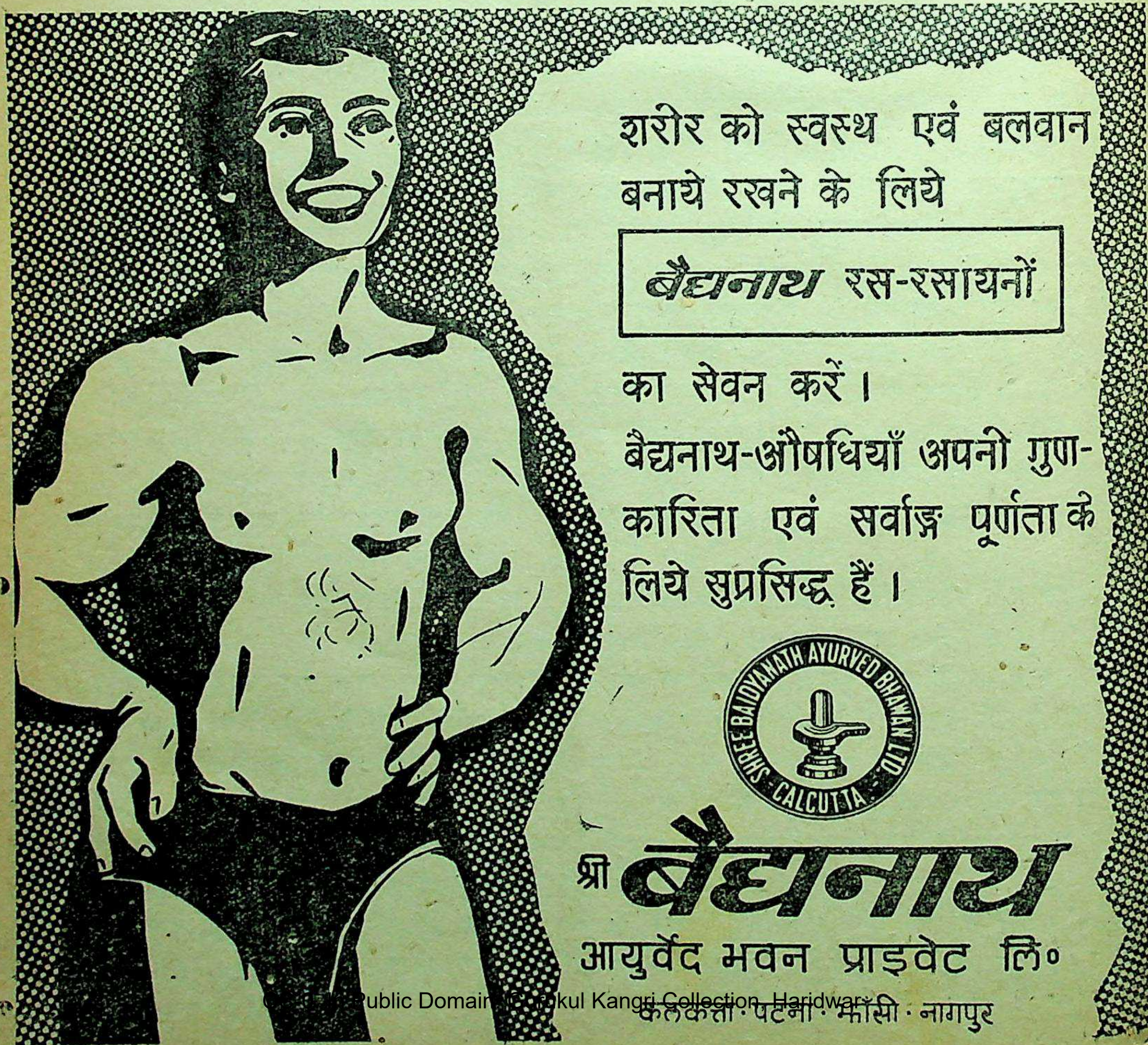
शरीर को स्वस्थ एवं बलवान बनाये रखने के लिये

बैद्यनाथ रस-रसायनों

का सेवन करें।

बैद्यनाथ-औषधियाँ अपनी गुणकारिता एवं सर्वाङ्ग पूर्णता के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD.
CALCUTTA

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

सचित्र आयुर्वेद के लिए विशेष

कूपीपक्व विज्ञाने अग्निमात्रा विनिर्णयः

आचार्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी

प्रयोगक्रमांक : १३ : मल्लसिन्दूरम्

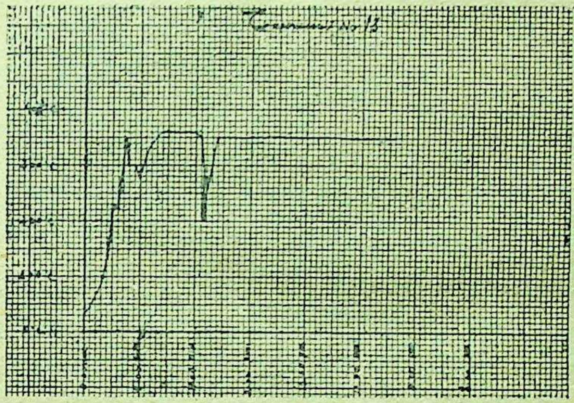

प्रारम्भतिथि : ३-९-१९५८ **समाप्तितिथि** : २२-९-१९५८

मूलपाठ :

रसरसाविधू नवाक्षौ सार्धेषु चतुः सुवर्णबलिमल्लौ।
कूप्यां द्रव्यहं विपक्वः पवनकफौ हन्ति मल्लसिन्दूरः॥

—सि० भे० मणिमाला

भाषान्तर : श्लोकनिर्दिष्ट प्रमाणानुसार प्रथम शुद्ध पारद एवं गन्धक मिला कर कज्जली बनावें। तदनन्तर उसमें रसकर्पूर, मल्लादि द्रव्य डालकर, मर्दन कर, काचकूपी में भर, दो दिन तक पाक करना चाहिये। इस प्रकार से निर्मित मल्लसिन्दूर वातकफ को नष्ट करता है।

उपकरण (क) **औषधद्रव्यः**—विशुद्ध पारद ९ तोला
विशुद्ध रसकर्पूर ९ तोला
विशुद्ध गंधक ५॥ तोला
विशुद्ध मल्ल ४॥ तोला
भावनार्थ : कुमारी रस

(ख) **साधन द्रव्यः**—खल्वयन्त्र, बालुकायन्त्र, भ्राष्ट्री, शलाका, कोकिल।

पाककाल : ५९ घंटा तक

मुद्रणकाल : ११ घंटा पश्चात्

द्रव्यमान : **अपक्वौषधिमान** :—कज्जली २८ तोला, पूर्व प्रयोग का अवशेष १० तोला—कुल ३८ तोला।

सिद्धौषधिमान :—कंठस्थ २७ तोला तलस्थ २ तोला—कुल २९ तोला

अवलोकन : (क) १९ सितम्बर १९५८ को प्रातः ८ बजे अग्नि देना प्रारम्भ किया।

(ख) १९ सितम्बर १९५८ को रात्रि में ३ बजे डाट लगाया गया।

(ग) २०-९-५८ को प्रातः ५ बजे कूपीमुख पर चमकीले श्वेत कण दिखलाई दिये। अतः यन्त्र उतार लिया गया।

(घ) २०-९-५८ को पुनः मुखमुद्रण कर यन्त्र को अग्नि देना प्रारम्भ किया।

(ङ) २१-९-५८ को सायं ४ बजे अन्तिम बार कोयला डालकर आगे कोयला देना बन्द किया।

(च) २२-९-५८ को ११ बजे प्रातः स्वांगशीत होने पर यन्त्र में से काचकूपी को बाहर निकाल कर यथाविधि कूपीभंग कर सिन्दूर एकत्र किया गया।

विमर्श :—इस यौगिक में मूलपाठ के अनुसार कुल २२ तोला के लगभग यौगिक तैयार होना चाहिये था तथा इसमें पिछले प्रयोग का अवशिष्टांग १० तोला मिलाया गया था जिससे समस्त मान २९॥ तोला यौगिक उपलब्ध हुआ। २७॥ तोला के भार का एक अति सुन्दर एवं रमणीय मल्लसिन्दूर का खण्ड हमें प्राप्त हुआ। इस प्रयोग में अग्निमात्रा भी विशेष समय तक जारी रखनी पड़ी है। पारद गन्धक के साथ जहाँ-जहाँ मल्ल, ताल आदि मिश्रित रहते हैं, उन समस्त यौगिकों में विशेष अग्नि देनी पड़ती है। इसके मणिभ भी रससिन्दूर के मणिभों (Crystals) से भिन्न हैं।

प्रयोगक्रमांक १३—समयतापमान दर्शक तालिका

१९ वीं सितम्बर १९५८ को प्रातः ८-३० बजे प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
८-३० प्रातः	Normal	२०-९-१९५८	३६०°c
११-००	६८°c	१-००	३६०°c

समय	तापमान	समय	तापमान
१२-००	१३०°c	२-००	३६०°c
१-सायं	२३०°c	३-००	३६०°c
२-००	२२०°c	४-००	३६०°c
३-००	३०५°c	५-००	३५०°c
३-३०	३५०°c	५-३०	२००°c
४-००	३००°c	६-००	२५०°c
५-००	३००°c	७-००	३००°c
६-००	२७५°c	८-००	३५०°c
७-००	३२०°c	९-००	३५०°c
८-००	३४०°c	१०-००	३५०°c
९-००	३५०°c	११-००	३५०°c
१०-००	३६०°c	१२-००	३५०°c
११-००	३६०°c	२०-९-५८ सायं १-०० २१-९-५८ सायं ४-०० तक	३५०°c
१२-००	३६०°c		

प्रयोगक्रमांक : १४ : मल्लचन्द्रोदय

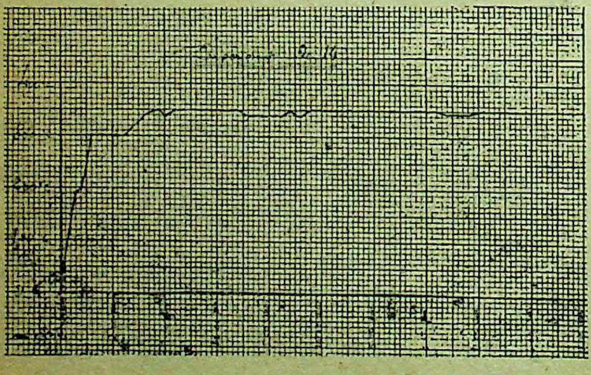

प्रारम्भतिथि : २४-११-५८ **समाप्तितिथि :** १-१२-५८

मूलपाठ तथा भाषान्तर : प्रयोगक्रमांक १३ के अनुसार

उपकरण (क) : औषधद्रव्य :

विशुद्ध पारद ९ तोला
विशुद्ध रसकर्पूर ९ तोला
विशुद्ध गन्धक ५।। तोला
विशुद्ध मल्ल ४।। तोला
सुवर्णपत्राणि १ तोला

(ख) खल्वयन्त्र, बालुकायन्त्र, मकरध्वजभ्राष्ट्री, शलाका, कोयलादि।

पाककाल : ४५ घंटा तक

मुद्रणकाल : ९ घंटा के पश्चात्

द्रव्यमान :

सिद्धौषधिमान—कंठस्थ २१ तोला ६ माशा
तलस्थ १ तोला

अवलोकन :–

(क) २९-११-५८ को प्रातः ९ बजे अग्नि देना प्रारम्भ किया।

(ख) २९-११-५८ को सायं ६ बजे डाट लगाया गया।

(ग) १-१२-५८ को प्रातः ६ बजे अग्नि देना बन्द किया। स्वांगशीत होने पर कूपी को यन्त्र में से निकाला गया। कूपी का आकार परिवर्तित हो गया था। फिर कूपीभंग कर मल्लचन्द्रोदय संगृहीत किया गया।

विमर्श—प्रस्तुत प्रयोग भी बहुत सफल रहा है क्योंकि नियतानुपातनियम के अनुसार प्राप्तव्य २२ तोला यौगिक मान से केवल ६ माशा कम यौगिक प्राप्त हुआ है तथा परिश्रुत पारद का ग्रहण किया है, जिसके कारण तलस्थ प्राप्तमान भी केवल सुवर्ण चूर्ण ही एक तोला है। पारद साथ नहीं रहा है। किसी भी प्रयोग में ५-७ माशे की कमीबेशी होना अविचारणीय माना जाता है।

प्रयोगक्रमांक १४ समयतापमानदर्शक तालिका

२९ नवम्बर १९५८ को प्रातः ९-०० बजे प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
९-००	Normal	२-००	३५०°c.
१०-००	१५०°c.	३-००	३४०°c.
१०-३०	१९०°c.	४-००	३४०°c.
११-००	२००°c.	५-००	३४०°c.
१२-००	३००°c.	६-००	३४०°c.
१-००	३००°c.	७-००	३५०°c.
२-००	३००°c.	८-००	३४०°c.
३-००	३००°c.	९-००	३५०°c.
४-००	३२०°c.		
५-००	३४०°c.		
६-००	३५०°c.	१०-००	३४५°c.
७-००	३४०°c.	११-००	३४५°c.
८-००	३५०°c.	१२-००	३४५°c.

समय	तापमान	समय	तापमान
९-००	३५०°c.	१-००	३५०°c.
१०-००	३५०°c.	२-००	३५०°c.
११-००	३५०°c.	३-००	३५०°c.
१२-००	३५०°c.	४-००	३५०°c.
३०-११-५८		५-००	३५०°c.
१-००	३५०°c.	६-००	३५०°c.

प्रयोगक्रमांक : १५ : तालसिन्दूर

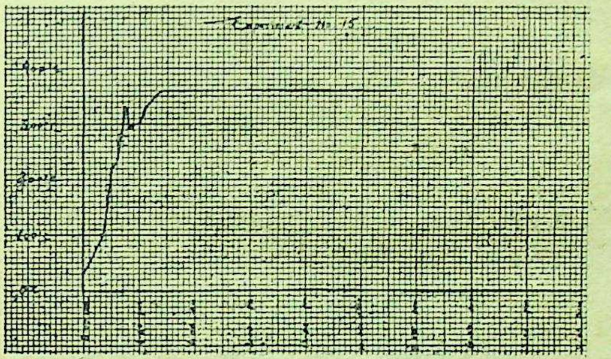

प्रारम्भतिथि ८-९-५८ **समाप्तितिथि** २२-९-५८

मूलपाठ :

> रसभागा रसतः पुनरेकैकस्तालमल्लगन्धकतः ।
> कूप्यां डयूहं विपक्वः पवनकफौ हन्ति तालसिन्दूरः ।।
>
> —रसामृतम्

भाषान्तर :

शुद्ध पारद ६ भाग, शुद्ध ताल, मल्ल एवं शुद्ध गन्धक १-१ भाग लेकर तीनों की कज्जली बनाकर सात कपड़-मिट्टी की हुई शीशी में भरकर रससिन्दूर बनाने की विधि के अनुसार बालुकायन्त्र में दो दिन पकाने से तालसिन्दूर तैयार होता है।

उपकरण (क) औषधद्रव्य–

शुद्ध पारद	१८ तोला
शुद्ध गन्धक	३ तोला
शुद्ध ताल	३ तोला
मल्ल	३ तोला

(ख) साधनद्रव्य :—खल्वयन्त्र, बालुकायन्त्र, मकरध्वजभ्राष्ट्री, शलाका, कोयला आदि।

पाककाल : ५९ घंटा

मुद्रणकाल : ११ घंटा पश्चात्

द्रव्यमान : अपक्वौषधिमान :—कज्जली २७ तोला
१ तोला पिछले प्रयोग का
शेष—कुल २८ तोला।
सिद्धौषधिमान—कंठस्थ २२ तोला
तलस्थ ३ तोला

अवलोकन : यह प्रयोग भी पूर्ण सफल रहा है किन्तु नीचे थोड़ी मात्रा में गन्धक एवं ताल का अंश अवशिष्ट रहा है। ताल के मिश्रित होने के कारण ही इस प्रयोग में अग्निमात्रा विशेष समय तक देनी पड़ी है।

प्रयोगक्रमांक १५ : समय तापमान दर्शक तालिका

१९ वीं सितम्बर १९५८ को प्रातः ८-३० बजे प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
८-००	Normal	३-००	३६०°c.
११-३०	१०३°c.	४-००	३६०°c.
१२-००	१३०°c.	५-००	३६०°c.
१-००	२२०°c.	६-०० से १२-००	३६० c.
२-००	२३०°c.	१-००	३६०°c.
३-००	२९५°c.	२-००	३६०°c.
३-३०	३३०°c.		
४-००	२९५°c.	२१-९-१९५८	
५-००	३००°c.	१-००	३६०°c.
६-००	३००°c.	२-००	३६०°c.
७-००	३३०°c.	३-००	३६०°c.
८-००	३४०°c.	४-००	३६०°c.
९-००	३५०°c.	५-००	३६०°c.
१०-००	३६०°c.	६-०० से	
११-००	३६०°c.	१२-००	३६०°c.
१२-००	३६०°c.	१-०० से ४-००	३६० c.

प्रयोगक्रमांक : १६ : शिलासिन्दूर

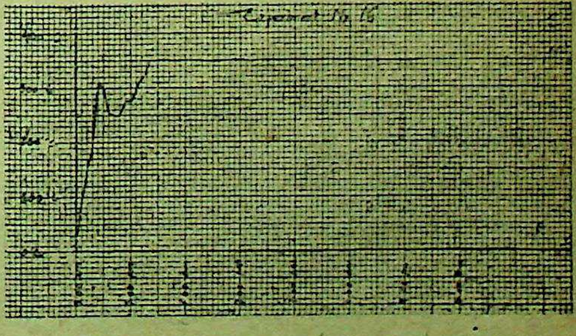

प्रारम्भतिथि ३० सितम्बर १९५८

समाप्तितिथि ६ अक्टूबर १९५८

मूलपाठ : शिलारसेन्द्रगन्धानां प्रत्येकं तु पलद्रव्यम् ।
मर्दयित्वा कुमार्याद्भिः कुर्यात् कज्जलिकां शुभाम् ।।
विपचेद्वालुकायन्त्रे यामषोडशकं भिषक् ।
शिलासिन्दूरसंज्ञः स्यात् कफवातगदापहः ।।
—रसामृतम् ।।

भाषान्तर : शुद्ध मनःशिला, शुद्ध पारद, शुद्ध गन्धक प्रत्येक दो-दो पल लेकर, कुमारी स्वरस से मर्दन कर, कज्जली बना, १६ याम तक बालुकायन्त्र में पाक करना चाहिये। इस विधि से प्राप्त यौगिक शिलासिन्दूर कहलाता है। यह कफवातज रोगों को हरता है।

उपकरण (क) औषधद्रव्य : विशुद्ध पारद १० तोला
विशुद्ध गन्धक १० तोला
विशुद्ध मनःशिला १० तोला
भावनार्थ कुमारी स्वरस

(ख) साधनद्रव्य :—खल्वयन्त्र, बालुकायन्त्र, आष्ट्री, शलाका, कोयला।

पाककाल : ६१ घंटा तक

मुद्रणकाल : १४।। घंटा पश्चात्

द्रव्यमान : अपक्वौषधिमान : कज्जली ३० तोला
५ तोला पूर्व प्रयोग का अवशेष।
सिद्धौषधिमान : कंठस्थ द्रव्य १३ तोला
तलस्थ द्रव्य ८ तोला

अवलोकन :

(क) दिनांक ४ अक्टूबर १९५८ को प्रातः ९ बजे अग्नि देना प्रारम्भ किया।

(ख) दिनांक ४ अक्टूबर १९५८ को प्रातः ११ बजे धूम्रारम्भ हुआ।

(ग) दिनांक ४ अक्टूबर १९५८ को सायं ११।। बजे डाट लगाया।

(घ) दिनांक ६ अक्टूबर १९५८ को रात्रि के ११ बजे अन्तिम बार कोयला डाल अग्नि देना बन्द किया गया।

(ङ) दिनांक ७ अक्टूबर १९५८ को प्रातः १० बजे स्वांगशीत होने पर यन्त्र में से शीशी निकालकर यथाविधि कूपीभंग कर सिन्दूर संगृहीत किया गया।

विमर्श—प्रस्तुत प्रयोग में ६१।। घंटा अग्नि देने पर भी ८।। तोला द्रव्य तल में अवशिष्ट रहा है। इससे प्रतीत होता है कि इसमें और विशेष अग्नि देने की आवश्यकता है। ऊपर की ठोस डली बड़ी सुन्दर थी। इसके मणिभ ताल मल्ल के यौगिकों के मणिभों के समान ही हैं।

प्रयोगक्रमांक १६ : समय तापमान दर्शक तालिका

४ अक्टूबर १९५८ को प्रातः ९-०० बजे प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
९-००	Normal	८-००	३००°c.
१०-००	९५°c.	८-३०	३१०°c.
११-००	१५०°c.	९-३०	३२०°c.
१२-००	१९०°c.	१०-३०	३५०°c.
१-००	३१०°c.	११-३०	३५०°c.
२-००	३००°c.	१२-००	३५०°c.
३-००	२५५°c.	१-००	३५०°c.
४-००	२५०°c.	२-००	३५०°c.
५-००	२५०°c.	३-००	३५०°c.
६-००	२७५°c.	४-०० सायं से ११-३० बजे	
७-००	२७५°c.	६-१०-५८ को	३५०°c.

प्रयोगक्रमांक : १७ : सोमनाथी ताम्र

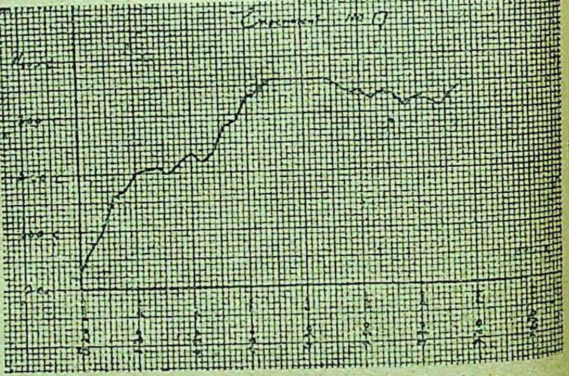

प्रारम्भतिथि : १३-२-१९५८ **समाप्तितिथि** २३-२-१९५

मूलपाठ : शुल्वतुल्येन सूतेन बलिना तत्समेन च।
तदर्धांशेन तालेन्द्र शिलया च तदर्धया ।।
विधाय कज्जलीं श्लक्ष्णां भिन्नकज्जलसन्निभाम्।
यन्त्राध्यायविनिर्दिष्टगर्भयन्त्रोदरान्तरे।
प्रपचेद्यामपर्यन्तं स्वांगशीतं प्रचूर्णयेत् ।।

भाषान्तर : शुद्ध ताम्र १ भाग, शुद्ध पारद १ भाग, शुद्ध गन्धक १ भाग, शुद्ध हरिताल १/२ भाग, एवं शुद्ध मनःशिला १/४ भाग लेना चाहिये। प्रथम पारद ताम्र को मिलाकर मर्दन करना चाहिये। बीच में थोड़ा-

थोड़ा कांजी डालते रहना चाहिये। एमेलगमेशन बन जाने पर उसमें गन्धक मिलाना चाहिये। फिर हरिताल और फिर मनःशिला। कज्जलसदृश कज्जली बन जाने पर गर्भयन्त्र द्वारा एक याम पाक कर स्वांगशीत होने पर विचूर्णित कर रख लेना चाहिये। इसे सोमनाथी ताम्र कहते हैं।

विशेष : हमने अपने प्रयोगों में बालुकायन्त्र विधान का अंगीकार किया है। इसका अधिक स्पष्टीकरण हमारे लेख सोमनाथी ताम्र भस्म 'धन्वन्तरि' कायचिकित्सांक पृष्ठ ८८ से १०२ तक में किया गया है। जिज्ञासु विद्वान इसे वहीं देखें।

उपकरण (क) औषधद्रव्य :

विशुद्ध ताम्रपत्र ८ तोला ६० रत्ती : १ तोला ६ रत्ती शोधन में कम हो गया।
विशुद्ध पारद १० तोला
विशुद्ध गन्धक १० तोला
विशुद्ध हरिताल ५ तोला
विशुद्ध मनःशिला २॥ तोला
भावनार्थ निम्बु रस

(ख) साधनद्रव्य : खल्वयन्त्र, बालुकायन्त्र, भ्राष्ट्री, शलाका, कोयला।

पाककाल : ३४ घंटा तक

मुद्रणकाल : १५॥ घंटा पश्चात्

द्रव्यमान : अपक्वौषधिमान : ३६ तोला ५ माशा २ रत्ती।

सिद्धौषधिमान : कंठस्थ द्रव्य ९ तोला ९ माशा
तलस्थ द्रव्य १७ तोला ६ माशा

अवलोकन : (क) दिनांक १३-२-५९ को कज्जली निर्माण प्रारम्भ।

(ख) दिनांक २२-२-५८ को प्रातः ८ बजे अग्नि देना प्रारम्भ किया गया।

(ग) दिनांक २२-२-५८ को सायं ७ बजे रक्त ज्वाला दिखाई दी।

(घ) दिनांक २२-२-५८ को सायं ११॥ बजे डाट लगाया गया।

(ङ) दिनांक २३-२-५८ को सायं ६ बजे अग्नि देना बन्द किया गया।

प्रयोगक्रमांक १७ : समय तापमान दर्शक तालिका

दिनांक २-५८ प्रातः ८-३० बजे प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
८-३० प्रातः	Normal	२-३० प्रातः	३६०°C.
९-३०	७०°C.	३-३०	३६०°C.
१०-३०	१००°C.	४-३०	३६०°C.
११-३०	१६०°C.	५-३०	३६०°C.
१२-३० मध्याह्न	१७०°C.	६-३०	३६०°C.
१-३०	२००°C.	७-३०	३५०°C.
२-३०	२०५°C.	८-३०	३३५°C.
३-३०	२१०°C.	९-३०	३४०°C.
४-३०	२००°C.	१०-३०	३२५°C.
५-३०	२२०°C.	११-३०	३३५°C.
६-३०	२३५°C.	१२-३० मध्यान्ह	३३०°C.
७-३०	२२०°C.	१-३०	३१०°C.
८-३०	२३५°C.	२-३०	३२५°C.
९-३०	२८०°C.	३-३०	३२०°C.
१०-३०	२९०°C,	४-३०	३१०°C.
११-३०	३३०°C.	५-३०	३३०°C.
१२-३० रात्रि	३४०°C.	६-३०	३४५°C.
१-३०	३६०°C.		

(क्रमशः)

शास्त्रीय और शुद्ध बैद्यनाथ रस-रसायन जाड़े में सेवन करें
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० कलकत्ता · पटना झाँसी · नागपुर

प्रमाणपरिचयः

कविराज श्री उपेन्द्रनाथदास, का. व्या. सांख्यतीर्थ

(पूर्वतोऽनुवृत्तः)

प्रत्यक्षम्——प्रत्यक्षशब्देन प्रत्यक्षप्रमा यथार्थज्ञानरूपा जायते प्रत्यक्षप्रमाणञ्च यस्य पुरुषस्य प्रत्यक्षज्ञानं जायते स प्रत्यक्षप्रमाता, यद्विषयकं प्रत्यक्षं जायते स प्रत्यक्षप्रमेयो यज्ज्ञानं जायते सा प्रत्यक्षप्रमितिः प्रभा वा, येन खल्विन्द्रियेण प्रत्यक्षप्रमा जायते तत् प्रत्यक्षप्रमाणम्। अक्षस्याक्षस्य प्रतिविषयवृत्तिः प्रत्यक्षम्। अक्षशब्दोऽयमिन्द्रियवाची। अक्षेणेन्द्रियेण सन्निकर्षाद् यज्ज्ञानं जायते तत् प्रत्यक्षमुच्यते।

श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनाघ्राणाख्यानि पञ्च बाह्यप्रत्यक्षज्ञानसाधनानि बहिरिन्द्रियाणिज्ञानेन्द्रियाणि कथ्यन्ते तेषां प्रतिनियता विषया यथासंख्यं शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धाः। मनःपुरःसराणीन्द्रियाणि विषयग्रहणसमर्थानि भवन्तीति नियमः।

इन्द्रियबुद्धि (प्रत्यक्ष) लक्षणं चरकेणोक्तम्——ताः पुनरिन्द्रियेन्द्रियार्थसत्त्वात्मसन्निकर्षजाः क्षणिका निश्चयात्मिकाश्च। प्रत्यक्षक्रमोऽपि तेनैव वर्णितः——

इन्द्रियेणेन्द्रियार्थो हि समनस्केन गृह्यते।
कल्पते मनसाऽप्यूर्ध्वं गुणतोदोषतस्तथा॥
जायते विषये तत्र या बुद्धिर्निश्चयात्मिका।

अस्यायमर्थ :——ज्ञानेन्द्रियं स्वं स्वं विषयमालोच्य मनसे प्रयच्छति, मनस्तस्मिन्विषये संकल्पं विकल्पं च कृत्वा बुद्धये ददाति (सांख्यनये मनोऽहंकारायाहंकारोऽभिमत्य बुद्धये ददाति), बुद्धौ तद्विषयिणी याऽध्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) वृत्तिर्जायते सा वृत्तिः प्रतिविम्बिताभवत्यात्मनि तत एव प्रत्यक्षज्ञानं जायते।

यद्यपि न्यायसूत्रे इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नंज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षमिति प्रत्यक्षलक्षणो मनस आत्मनश्चोल्लेखो नास्ति तथाऽपि न्यायनये आत्मनः संयोगस्य ज्ञानसामान्ये कारणत्वात् ज्ञानविशेषस्य प्रत्यक्षस्य लक्षणे तयोरनुल्लेखोऽपि तयोः संयोगोऽपि प्रत्यक्षे कारणमिति बोध्यम्।

स्थाणुर्वा पुरुषोवेति संशयज्ञानमपीन्द्रियार्थसन्निकर्षजं किन्तु तत्र व्यवसायात्मकमिति न प्रत्यक्षम्। इक्षुक्षीरगुड़ादीनां मधुरद्रव्याणां माधुर्ये महदन्तरं तथापि व्यपदेशेन (नाम्ना) तदनन्तरं प्रकाशयितुं न शक्यते केवल रासनप्रत्यक्षद्वाराऽनुभूयते तदनन्तरमिति प्रत्यक्षज्ञानं व्यपदेशेन बोधयितुमयोग्यमित्याह——द्रव्यव्यपदेशमिति। किञ्च सविकल्पकं निर्विकल्पकं चेति द्विविधमेव प्रत्यक्षम्। तत्र मधुनो माधुर्यमेतद् गुडस्य माधुर्यमेतदित्यादिप्रकारताविशेषता युक्तं ज्ञानं सविकल्पकं किन्तु प्रलम्बितपादः कार्यव्यग्रोऽकस्मात् पादे स्पर्शमात्रमनुभूय पादमाकर्षतिः किदृशोऽयं स्पर्श इति पृष्टोऽपि नाख्यातुं शक्नोति। प्रकारता विशेष्यतारहितमिदृशंज्ञानं निर्विकल्पकं ततोऽव्यपदेश्यमेव। शुक्तिकायां रजतज्ञानं दण्डे वा सर्पज्ञानं परीक्षयाऽसत्यमतो व्यभिचारीति तस्मादिन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्यमपि व्यभिचारित्वान्न प्रत्यक्षम्। जन्यज्ञानं द्वितीयक्षणे विनश्यतीति प्रत्यक्षज्ञानमपि क्षणिकमेव। चरकोक्तं लक्षणं न्यायोक्तं च प्रत्यक्षप्रमाया एव न तु प्रत्यक्षप्रमाणस्य, किन्तु प्रत्यक्षप्रमाया यत् साधकतमं कारणं तदेव प्रत्यक्षप्रमाणमिति प्रमाण लक्षणं पृथङ्नोल्लिखितमिति।

प्रमायाः कारणं प्रमाणमिति निर्विवादमपि किं नामकरणमत्रास्ति मतभेदो विदुषाम्। साधकतमंकारणमिति केचित्तेषामयमभिप्रायः——यद्यपि क्रियासिद्धौ बहूनिकारणानि व्याप्रियन्ते तथाऽपि तेषु मध्येऽनेनैतत्करोमीति कर्ता यत् साधकतमं मन्यते तदेव कारणमिति तथा स्वहस्तेन लिखितवान् लेखन्या वा लिखितवानित्यादि।

व्यापारवत् कारणं कारणमिति केचित्। यस्मिन् कारणे व्यापारोत्पत्तेरनन्तरं क्रिया सम्पद्यते तत् कारणमित्यर्थः। "तज्जन्यत्वे सति तज्जन्यजनको हि व्यापारः"। यथाच्छेदन क्रियायां कुठारः करणम्, छेद्य परशुसंयोग स्तस्य व्यापारः, यतः संयोगोऽयं परशुजन्यःसन् परशुजन्यस्य छेदनस्य जनको भवति। सत्यपि परशौ तावत् छेदनक्रिया न सम्पद्यते यावत् छेद्यपरशुसंयोगो व्यापाराख्यो न जायते। तस्मात् व्यापारवत् कारणं करणमिति नव्याः। प्राचीनास्तु व्यापारमेव कारणमाहुः। एवं चक्षुषा घटं पश्यतीत्यत्र चक्षुर्घटसंयोगो (रश्मिद्वारा) व्यापार स्तद्वत्

कारणं चक्षुः करणं तदेव प्रत्यक्षप्रमाणं चाक्षुषप्रत्यक्षे तु व्यापारमेव कारणमिच्छन्ति तन्मते चक्षुर्घटसंयोग एव करणं प्रत्यक्षप्रमाणञ्च तथाऽपि तदाश्रयभूतं चक्षुरेव दर्शनश्च निमित्तं तदन्तरासंयोगोऽपि न भवतीति कारणबोधक तृतीयाविभक्तिभाक् चक्षुरेव न तु चक्षुर्घटसंयोगः। चक्षुरेव घटसंयोगेन दर्शनक्रियाया साधकतमं कारणमिति दृष्ट्वा नवीना व्यापारवत् कारणमेव करणमाहुर्न व्यापारमात्रमिति। तस्मात् षड्विधेषुप्रत्यक्षेषु श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि (बहिरिन्द्रियाणि) मनश्चान्तरेन्द्रियमिति षडेव प्रमाणसंज्ञकानीति।

इन्द्रियार्थसन्निकर्षजं ज्ञानं प्रत्यक्षमुच्यते, तत्र कानीन्द्रियाणि कस्येन्द्रियस्य के केऽर्थाः कीदृशश्च सन्निकर्ष इन्द्रियेणसह विषयस्येति विविच्य विज्ञेयम्।

तत्र श्रोत्रत्वङ्नेत्ररसनाघ्राणाख्यानि पञ्चज्ञानेन्द्रियाणि तत्त्वतोऽभौतिकानि विषयग्रहणलिङ्गेनानुमानगम्यान्यपि चिकित्साशास्त्रे तेषां भौतिकान्यधिष्ठानान्येतेन्द्रियं संज्ञया व्यवह्रियन्ते। आयुर्वेदनये सर्वेषामिन्द्रियाणां पाञ्चभौतिकत्वेऽप्येकैकस्मिन्निन्द्रिये एकैकस्य भूतस्य प्राधान्यम्। यदुक्तं चरके—"एकैकाधिकयुक्तानि खादीनामिन्द्रियाणि तु। पञ्चकर्मानुमेयानि येभ्यो बुद्धिः प्रवर्तते॥" एकैकस्मिन्निन्द्रिये भूतस्यैकस्य प्राधान्याद् यस्मिन्निन्द्रिये यस्य भूतस्य प्राधान्यं तेनेन्द्रियेण तस्य भूतस्य विशेषगुणमनुभवितुं शक्नोति पुरुषः। यदुक्तं चरके—"तत्रानुमानगम्यानां पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकानामपि सतामिन्द्रियाणां तेजश्चक्षुषि खं श्रोत्रे घ्राणे क्षितिरापो रसने स्पर्शनेऽनिलो विशेषेणोपपद्यते। तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियंविशेषेण तत्तदात्मकमेवार्थमनुधावति तत् स्वभावाद्विभुत्वाच्च।" विस्तृतार्थोऽस्य पञ्चभूतविज्ञाने द्रष्टव्यः। संक्षेपादेतावदेवावबोध्यं यद् यद्यपि सर्वाणीन्द्रियाणि पञ्चानां महाभूतानां विकारसमुदायैस्त्वग्रक्तमांसादिभिरारच्यन्ते तथाऽपि श्रोत्रे आकाशस्यैव प्राधान्यादाकाशस्य प्रधानगुणं शब्दमेव श्रोत्रेण गृह्णाति, त्वगिन्द्रिये वायोः प्राधान्याद्वायोर्विशेषगुणं स्पर्शमेव त्वचा गृह्णाति। नेत्रे तेजसः प्राधान्यात्तेजसो विशेषगुणं रूपमेव चक्षुषा गृह्णाति, रसनायां जलस्य प्राधान्याज्जलस्य विशेषगुणं रसमेव रसनया गृह्णाति, घ्राणे पृथिव्याः प्राधान्यात् पृथिव्या विशेषगुणं गन्धमेव घ्राणेन गृह्णाति पुरुषः। एकैकस्मिन् भूते एकैकस्य विशेषगुणस्य स्वीकारे, तथैकैकस्मिन्निन्द्रिये एकैकस्यभूतस्याधिक्यस्वीकारे एव एकैकेनेन्द्रियेणैकैकस्यविशेषगुणस्य ग्रहणव्यवस्था सुष्ठु संगच्छते। एकस्मिन्भूतेऽनेकविशेषगुणस्वीकारे तदारब्धेनेन्द्रियेणाऽनेकगुणग्रहणं कथं न स्यात् (पृथिव्यामेव स्पर्शरूपरसगन्धस्वीकारे पार्थिवेन घ्राणेन तान् चतुरो विशेषगुणान् कथं न गृह्णातीति) दुस्तरः प्रश्नः स्यात्।

श्रोत्रवर्णनम्—कर्णशष्कुल्यवच्छिन्नमाकाशं श्रवणेन्द्रियमिति न्यायवैशेषिका स्तन्मते व्यापकस्याकाशस्यारम्भकत्वाऽसम्भवात् कर्णशष्कुल्युपाधियुक्तमाकाशमेव श्रवणेन्द्रियं, तस्य विषयेण शब्देनसहाकाशस्य समवायः सम्बन्ध एव सम्भवति तस्मात् श्रवणेन्द्रियेणसह तस्यार्थस्य शब्दस्य सन्निकर्षः समवायसम्बन्धेन स्यात्। शब्देऽवस्थितायाः शब्दत्व जातेः सन्निकर्षः समवेतसमवायेन, (आकाशस्वरूपे श्रोत्रे शब्दः समवेतस्तत्र शब्दत्वं समवायेन तिष्ठति तस्मात् समवेते समवायः समवेत समवायः सम्बन्धः)। येनेन्द्रियेण यं विषयं गृह्णाति तस्य विषयस्याऽभावोऽपि तेनैवेन्द्रियेणेति नियमात् शब्दाभावमपि श्रोत्रेणैव गृह्णाति विशेषणता सम्बन्धेन। यदुक्तं विशेषणतया तद्वदभावानां ग्रहीभवेत्।

आयुर्वेदनये सर्वाणीन्द्रियाणि विशिष्टयन्त्रस्वरूपाणि। तेषांवहिर्द्वारमारभ्येन्द्रियकेन्द्रपर्यन्तमेकमेवयन्त्रमिन्द्रियसंज्ञकम्। तस्मात्केवलादाकाशादेव न श्रोत्रं जायते किन्तु आकाश प्रधानात् पञ्चमहाभूतविकार समुदायादेव।

श्रोत्रेन्द्रियस्यरचनाविज्ञानं प्रत्येकावयवस्य क्रियाविज्ञानञ्च जानन्त्येव शरीररचना-शरीरक्रियाज्ञानवन्तस्तस्मात्तस्य वर्णनं विषयान्तरमिति विरम्यते। शब्द आकाशस्यैव विशेषगुणः, आकाशस्य च शब्द एव विशेषगुण इति न्यायवैशेषिकाः। आयुर्वेदनये यद्यपि शब्द आकाशस्यैव विशेषगुण स्तथापि वाय्वादिमहाभूतेषु आकाशस्योपष्टम्भादाकाशादिषु पञ्चस्वेवमहाभूतेषु शब्दगुणो विराजते। आकाशस्य व्यापकत्वे तत्र गत्यभावात् शब्दे च गुणस्वरूपेऽपिगत्यभावात् शब्दस्य प्रसरणाख्य गत्यसम्भवे तस्य श्रोत्रविषयतैव न स्यात्, किन्तु आकाशस्येथर स्वरूपे स्वीकृतेऽत्यल्पकालेनैव शब्दस्य बहुदूर देश गमनं प्रमाणसिद्धं सत्यं सम्भवति। "ईथर" तरंगस्यातिसूक्ष्मत्वात् कुत्रापि तस्योपलेपो (गत्यवरोधः) न सम्भवति (यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते—गीतायां) तस्मान्न श्रूयते यन्त्रविशेषस्यसहायकमन्तरा तादृशः शब्दः। [illegible]द्वारा यः शब्दः प्रसरति स एव कर्णशष्कुली प्रतिहतः कम्प-

विवरं प्रविश्य कर्णपटहमान्दोलयति। शब्दवाहकेनवायुना कर्णपटहस्यान्दोलनाभावे शब्दश्रवणं न सम्भवति। कर्णपटहान्दोलनात् पश्चाद्येनक्रमेण श्रोत्रनाड्या मनोवहस्रोतसा च श्रोत्रकेन्द्रं याति शब्दतरंगस्तस्य वर्णनस्य नायमवसरः। मस्तिष्कपरिसरीयभागस्थयोः शब्दसम्वेदनकेन्द्रयोरेव शब्दज्ञानं जायत इति नव्याः। प्राचीनास्तु मन्यन्ते स एव शब्दतरंगो यावदात्मनो निवासस्थानं हृदयं न याति तावन्न भवति शब्दज्ञानम्। "षडंगमंगं विज्ञानमिन्द्रियाण्यर्थ पञ्चकम्। आत्मा च सगुणश्चेत श्चिन्त्यं च हृदिसंस्थितम्॥" इति चरकवचनात् इन्द्रियपरिसरीयभागस्थादिन्द्रियकेन्द्रात् केन मार्गेण हृदयं याति शब्द स्तत्प्रत्यक्षं नोपलभ्यते तस्माद् हृदये प्रत्यक्षं न मन्यन्ते नव्या स्तथापि तावन्मात्रकारणेन प्राचीनसिद्धान्तो नाऽविश्वसनीयः।

किंचेदमत्राऽवधेयम्—एकस्मिन् जीवितशरीरे एक एव जीवात्मा स सहाऽनुभविता तस्यैकमेव श्रेष्ठतममायतनं यदुक्तमन्तरात्मनः श्रेष्ठतममायतनं हृदयमिति। यद्यपि सम्पूर्णं शरीरं चेतनाऽधिष्ठानं तथापि कानिचित् श्रेष्ठान्यप्यायतनानि सन्ति किन्तु श्रेष्ठतममायतनं हृदयमेव तस्मात्तत्रैव ज्ञानस्य चरमोत्पत्तिर्वाच्या। मस्तिष्कपरिसरीयभागाद् हृदयपर्यन्तं गन्तुं मार्गः कश्चिन्न दृश्यत इतिचेत् सन्देहोऽयं तावदेव समीचीन आसीद् यावत् केवलं सूत्रद्वारैव सम्वादप्रेषणमभवदधुना तु मनुष्यनिर्मितयन्त्रमपि सूत्रमन्तरैव सन्देशं प्रेरयितुं शक्नोति तस्मात् कथं पुनः शंक्यते परमेश्वररचितस्य शरीरयन्त्रस्यसूत्रमन्तरा। सम्वेदन प्रेषण सामर्थ्ये, अतो हृदये एव विषयज्ञाननिष्पत्तिरित्यायुर्वेदसिद्धान्त एव श्रेयान्। मस्तिष्क परिसरीयभागात् केन मार्गेण हृदयं याति सम्वेदनं तस्याविष्कारोऽपि नातिमहताकालेन भविष्यतीति सम्भाव्यते।

श्रवणेन्द्रियेण ये शब्दाः श्रूयन्ते ते द्विविधाः। (१) ध्वन्यात्मकास्ते ये हस्ताद्यभिघातजा वाद्ययन्त्रसमुत्थाश्च। रागरागिणीताललयादि यन्त्रिता एते नानाविधभावव्यञ्जकाश्चित्तरञ्जकाश्च भवन्तीत्यनुभवसिद्धम्। (२) वर्णात्मका स्ते ये विभिन्नभाषाधारभूतवर्णरूपाः शब्दवाक्यादिद्वारा वक्तुरभिप्रायं ज्ञानविज्ञानञ्चाशेषप्रकारं प्रकटयन्तः शब्दप्रमाणे (आप्तोपदेशे) अन्तर्भवन्ति। शब्दस्य श्रवणमा[illegible]व श्रोत्रस्य विषयः। श्रुताच्छब्दादर्थबोधास्तु केवल[illegible]वाक्यादिति बोध्यम्। येन खलु इन्द्रियाख्येनयन्त्रेण शब्दः श्रूयते तत् श्रोत्रमिति सिद्धान्तस्तस्माद्यस्य जीवस्य कर्णौ न दृश्यते सोऽपि येन शब्दं शृणोति तदेव तस्य श्रोत्रमतः सर्पस्य चक्षुःश्रवा इति संज्ञा, यतः सर्पस्य पृथक् कर्णौ न स्तः किन्तु चक्षुषोरेव श्रवणच्छिद्रमिति। वृक्षलतादयोऽपि शब्दं शृण्वन्तीति परीक्षासिद्धमभवत्। तस्माद् येन करणेन ते शब्दं शृण्वन्ति तदेव तेषां श्रोत्रमिति। एतदेव स्पष्टमभिहितं शास्त्रे—दिषयग्रहणलिंगेनानुमानमिन्द्रियाणां न तु प्रत्यक्षमिति। श्रोत्रद्वारे अंगुलीभ्यां सम्यक् पिधायाऽपि श्रोत्रयन्त्रशब्दं हृच्छब्दं च श्रोतुं शक्नोति श्रेत्रेणैवेति परीक्षासिद्धं समीक्षकाणामिति। तत्र श्रवणेन्द्रिय शब्दो दूरस्थवंशीरव इव। हृच्छब्दस्तु "लुप" "डाप" इत्याकार इति विशेषः।

त्वगिन्द्रियवर्णनम्—स्पर्शज्ञानस्य यत् साधकतमं कारणं तत् स्पर्शनेन्द्रियं प्रायशस्त्वगाश्रितत्वात्त्वगिन्द्रियमपि कथ्यते। पञ्चमहाभूतविकारसमुदायारब्धेऽप्यस्मिन्निन्द्रिये वायोः प्राधान्यात्तस्य विशेषगुणः स्पर्श एव विशेषेण त्वचा गृह्यन्ते। त्वचि यत्र यत्र वातसूत्राण्याततानि तत्र तत्र स्पर्शाऽवबोध शक्तिः, स्पर्शग्राहकवातसूत्ररहितेस्थाने सा शक्ति नैव दृश्यते। प्राचीनाः खल्वाचार्या वायुमेव स्पर्शग्राहकं वर्णयन्ति किन्तु स्थूलदर्शिनो नवीना रूपरहितं वायुं चक्षुषा द्रष्टुमसमर्था स्तद्वाहकानि वातसूत्राण्येव स्पर्शवाहकानीति वर्णयन्ति। यथा विद्युदनभिज्ञास्तद्वाहकं सूत्रमेव शब्दवाहकं मन्यन्ते। सूक्ष्मदर्शिनस्तु केवलं वातसूत्रसंचालकमेव वायुं मन्यन्ते किन्तु ततोऽप्यति सूक्ष्मेवातसूत्ररहिते प्रत्येकपरमाणौ "सेल" संज्ञके वायोश्चेष्टादिकं वर्णयन्ति। सर्वशरीरस्थाः स्थानस्थाः पञ्चवायवोऽपि प्राणापानादि संज्ञाः।

एकमेवस्पर्शेन्द्रियं सर्वेन्द्रियव्यापकं तस्मात् पञ्चविधं प्रत्यक्षमपि स्पर्शज्ञानस्यैव पञ्चविधा विकल्पा इत्यपि चरकेणैव वर्णितम्। तथा हि—"तत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियाणामिन्द्रियव्यापकं चेतः समवायिस्पर्शनव्याप्तेर्व्यापकमपि च चेतस्तस्मात् सर्वेन्द्रियाणां **व्यापकस्पर्शकृतो यो भावविशेषः** सोऽयमनुपशयात् पञ्चविधस्त्रिविधविकल्पो भवत्यसात्म्येन्द्रियार्थ संयोगः।" अत्र व्यापकस्पर्शकृत शब्देन पञ्चेन्द्रियज्ञानिनो बोध्यानि, पञ्चानामिन्द्रियज्ञानानामवबोधायान्यत्राऽपि स्पर्श शब्दस्य प्रयोगः श्रीमता चरकेणैव कृतः—"स्पर्शनेन्द्रियसंयोगः स्पर्श मानस एव च। द्विविधः सुख दुःखानां वेदनानां प्रवर्तकः॥" इति।

अत्रैकं स्पर्शनेन्द्रियमिन्द्रियव्यापकं चेतः समवायीति प्रयोगात् सर्वेन्द्रियाणामभिवोढ़ा यो वायुस्तस्याश्रयभूताः पञ्चविधावायवो बोध्यव्या स्ता एव चेतः संसर्गिण्य इति सिद्धान्तः ।

केवल त्वगिन्द्रियग्राह्यः स्पर्शोऽयं चतुर्विधः । पृथिव्यां पाकजोऽनुष्णाशीतो जले शीतस्तेजस्युष्णो वायौचापाकजोऽनुष्णाशीत आकाशे स्पर्शाभावादेवं चतुर्विधः स्पर्शभेद इति न्यायवैशेषिकाः । तेषां मते वयं यदुष्णमनुभवामस्तदुष्णं यच्च शीतमनुभवाम स्तत् शीतमित्यादि व्यवहारिकः स्पर्श एव वर्णितोऽस्माकं शारीरं तापमेककं परिकल्प्य । एवमुष्णशीतादि निर्णयो व्यवहारिक आपेक्षिकश्च न तात्त्विक इति । तथाहि पंचत्रिंशत् शतांश (६५ डिग्री से) तापयुक्तमुदकमनुष्णमेवास्माभिरुपलभ्यते किन्तु तदेवोदकं शतांशचतुष्टय तापयुक्तादुदकादुष्णं लघुतरं चेति परीक्षासिद्धमेव तस्माच्चरकेण––"खरद्रवचलोष्णत्वं भूजलानिलतेजसाम् । आकाशस्याऽप्रतिघातो दृष्टं लिंगं यथा क्रमम् ॥"––लक्षणं सर्वमेवतत्स्पर्शनेन्द्रियगोचर इत्यभिहितम् । वस्तुतः––उष्णशीतादयः खरादयश्च सर्व एव स्पर्शविशेषाः स्पर्शत्वजातिः स्पर्शाऽभावः पीडनं चक्षुरिन्द्रियग्राह्यमपि सर्वं त्वगिन्द्रियेणाऽपि गृह्यते, रूपं रूपत्वं रूपाभावञ्च विहाय । तथाहिघटादिकं द्रव्यं तत्रस्था चलनकम्पनादि क्रिया द्वित्वादिसंख्या महत्त्वक्षुद्रत्वादि परिमाणंमित्यादिकं चक्षुषा यद् यद् गृह्यते नेत्रें निमिल्य हस्तादिस्पर्शेनाऽपि तत्तद्ज्ञायते इति ।

स्पर्शनेन्द्रियेण तस्यैव द्रव्यस्य प्रत्यक्षं सम्भवति यस्य रूपमस्तीति रूपरहितस्यवायोर्न प्रत्यक्षं किन्तु स्पर्शादिलिंगेनानुमानमिति प्राचीना भाषन्ते "ज्ञेयः स्पर्शादि लिंगकैः" इति । आधुनिकास्तु मन्यन्ते––यथा चक्षुषा घटस्य रूपं दृष्ट्वा घटप्रत्यक्षं स्वीक्रियते तथैव वायोः स्पर्शस्य त्वगिन्द्रियेण प्रत्यक्षाद् वायोरपि प्रत्यक्षमंगी कर्तव्यम् । द्रव्य प्रत्यक्षे रूपवत्त्वस्यावश्यकता स्वीकारे बलवत्प्रमाणं नास्ति । घ्राणजादि विभेदेन प्रत्यक्षंषड्विधं मतमिति येषां मतम्, स्पर्शस्य प्रत्यक्षमपि येऽङ्गी कुर्वन्ति ते स्पर्शाधिकरणस्यवायोः प्रत्यक्षं कथं नाङ्गी कुर्वन्तीति कल्पयितुं न शक्यते । गुणस्वरूपे स्पर्शे गतिर्न सम्भवति तस्मात्केवलेन स्पर्शेन त्वगिन्द्रियस्य सन्निकर्षोऽपि न सम्भवति । गुणानां सर्वेषामेव तत्तदिन्द्रियेण सन्निकर्षस्तत्तदाश्रयद्रव्यसन्निकर्षद्वारैव भवतीति स्वीकार्यमेव । ततः स्पर्शाश्रयेणवायुना त्वगिन्द्रिया च सन्निकर्षादपि केवलं स्पर्शस्यैव प्रत्यक्षं न वायोरिति कथं कथयितुं शक्यते ? तस्माद्वायोरपि प्रत्यक्षमवश्यमंगीकार्यम् ।

स्पर्शाश्रयेण द्रव्येणसह त्वचः सन्निकर्षः संयोगेन, स्पर्शे सन्निकर्षः संयुक्तसमवायेन (द्रव्यं संयुक्तं तत्र गुणः समवेतः) स्पर्शत्वस्य जातेश्च सन्निकर्षः संयुक्तसमवेतसमवायेन (स्पर्शे स्पर्शस्य समवायात्) एवं सम्बन्धत्रयेण, स्पर्शाश्रयस्य द्रव्यस्य, स्पर्शस्य, स्पर्शजातेश्च सन्निकर्षात् त्वाचं प्रत्यक्षं भवति । विशेषणता सम्बन्धेन च स्पर्शाभावस्य प्रत्यक्षमिति ।

स्पर्शवहानाड्यास्तत्सूत्राणि च स्पर्शवहान्येव वस्तुतः स्पर्शनेन्द्रियं तेषां प्रान्तास्त्वचि समाप्यन्त इति त्वगपि स्पर्शनेन्द्रियं कथ्यते, किन्तु त्वङ्मात्रमेव न स्पर्शनेन्द्रियं, मांसादावपि यत्र तत्र स्पर्शग्राहकानिवातसूत्राणि विद्यन्ते तान्यपि स्पर्शेन्द्रियाणीति । सर्वथा गलितत्वचि व्रणेऽपि स्पर्शानुभूति दर्शनात् । रोगवशाद् वातसूत्राणां निष्क्रियत्वे सत्यामपि त्वचि स्पर्शज्ञानाभावादिति ।

स्पर्शनेन्द्रियमिदं जंगमानां स्थावराणां च सर्वेषामेवप्राणिनामस्ति । स्थावरजीवेषु लज्जालुलतायाः स्पर्शविज्ञानं बालैरप्यनुभूयते स्पर्शनादेवपत्रादि संकोच दर्शनात् ।

जैनदर्शने स्थावरप्राणिनामेकेन्द्रिय संज्ञा त्वङ्मात्रशक्तित्वात् मनुसंहितायां स्थावराणामपि पञ्चेन्द्रियशक्तिमनुमानेन प्रतिपाद्य––"तमसा बहुरूपेण वेष्टिताः कर्म हेतुना । अन्तः संज्ञा भवन्त्येते सुखदुःख समन्विताः ॥"––इत्याद्यभिहितम् । प्रमाणीकृतं चैतन्नवीनयन्त्रादिभिर्देशेविदेशे च श्रीमद्भिर्जगदीशचन्द्रवसु महोदयैरिति ।

सर्वाणीन्द्रियाणि दक्षिण-वामभेदेन द्विभागविभक्तान्यपि श्रोत्रनेत्रघ्राणेषु विभागोऽयं स्पष्टमुपलभ्यते । रसनापि द्विभाग विभक्ता, सेवन्यासंस्यूतैकेव दृश्यते, स्पर्शनेन्द्रियन्तु स्थूलदृष्टया द्विभागविभक्तं न दृश्यते किन्तु शरीरस्य रचना-क्रियाविज्ञैः स्पष्टं विज्ञायते स्पर्शनेन्द्रियमपि द्विभागविभक्तम् । मस्तिष्कस्य परिसरीयभागेऽपि स्पर्शकेन्द्रद्वयं स्पष्टमेव । तस्माद्दक्षिणवामभेदेन स्पर्शनेन्द्रिये द्वे एव, एक पार्श्वस्थस्यस्पर्शनेन्द्रियस्य विकृतौ तस्मिन्नेव पार्श्वे सुप्तिर्जायत इति प्रत्यक्षमेव परीक्षकाणामिति श्रोत्रं वर्णितम् ॥ (क्रमशः)

आयुर्वेदीय साहित्य में विवादास्पद वनस्पतियाँ

ठाकुर बलबन्त सिंह, एम० एस० सी०

आयुर्वेदीय चिकित्सा-प्रणाली में वनस्पतियों का प्राधान्य बराबर रहा है। इस प्राचीन प्रणाली के मूल सिद्धान्त वनस्पतियों के प्रयोगजनित परिणामों पर ही आधारित हैं और आयुर्वेद के रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव सम्बन्धी व्यापक सिद्धान्त का आविर्भाव और विकास वनस्पति-साम्राज्य जैसी विशाल प्रयोगशाला में हुआ इसे कौन अस्वीकार कर सकता है। आयुर्वेद और वनस्पतियों के बीच इस प्रकार का जन्मजात सम्बन्ध होते हुए भी आयुर्वेदीय साहित्य में वनौषधियों की चीन्ह-पहचान के लिये किसी निर्णयकारी पद्धति का अभाव बड़ी विचित्र और खटकने वाली बात है। कहा जा सकता है कि प्राचीनों में शास्त्रों का अध्ययन-अध्यापन आश्रमीय शिक्षा व्यवस्था द्वारा सम्पन्न होने के कारण वनौषधियों से विद्यार्थियों का ऐसा सन्निकट और साक्षात सम्पर्क बना रहता था कि वनौषधियों के नामरूपात्मक ज्ञान के लिये किसी असंदिग्ध एवं निर्णयकारी पद्धति का विकास आवश्यक नहीं समझा गया और "गोपालास्तापसा व्याधा ये चान्ये वनचारिणः। मूलजातिश्च ये तेभ्यो भेषजव्यक्तिरिष्यते"—ऐसा निर्देश करके ही प्राचीन वैद्य समाज ने इस उत्तरदायित्व से अपने को मुक्त कर लिया था। परन्तु मैं तो समझता हूँ कि जब तक पठन-पाठन एवं अभ्यासकाल में वैद्यों का वनस्पतियों एवं जंगल-पहाड़ आदि उनकी प्राकृतिक परिस्थितियों से सम्पर्क बना हुआ था तबतक ज्ञात वनस्पतियों के संग्रह एवं अज्ञात तथा नवीन जड़ी-बूटियों की खोज के लिये गोपालादि की सहायता तथा उनसे संकेत प्राप्त करना ही उनका एकमात्र उद्देश्य रहा होगा। यदि प्राचीन परिस्थितियाँ आजतक बनी रहतीं तो निस्संदेह हमारा वनौषधि विषयक ज्ञान और भी परिष्कृत और परिपूर्ण हो गया होता। परन्तु यहाँ तो हजारों वर्षों तक जो राजनैतिक तथा सामाजिक उथल-पुथल होते रहे, उनके कारण हमारी प्राचीन परम्पराएँ नष्ट होती गईं और आयुर्वेदीय क्षेत्र में उनका एक घातक दुष्परिणाम यह हुआ कि वैद्यों का वनस्पतियों के उत्पत्तिस्थान से साक्षात् सम्पर्क क्रमशः समाप्त हो गया और धीरे-धीरे वनौषधियों के संग्रहादि का कार्य क्रमशः एक अशिक्षित व्यापारी वर्ग के हाथ पड़ गया। यह सही है कि वर्तमान परिस्थितियों में अपने व्यवहार के लिये वैद्य स्वयं जड़ी-बूटियों का संग्रह करता रहे, यह सम्भव नहीं है। परन्तु औषध द्रव्यों की प्राप्ति के लिये वह व्यापारी वर्ग पर ही पूर्णतः आश्रित हो जाय और आँख मूंद कर जो द्रव्य जैसा भी मिले उसका व्यवहार करता जाय यह स्थिति भी कैसे स्वीकार की जा सकती है? सैकड़ों वर्षों की इस उपेक्षा और उदासीनता के जो दुष्परिणाम हुए हैं उनसे कोई भी विवेकशील वैद्य अनभिज्ञ न होगा। परन्तु आश्चर्य तो यह है कि आज भी अपने औषध द्रव्यों के प्रति वैद्य समुदाय की उपेक्षा और उदासीनता ज्यों की त्यों बनी हुई है।

उपर्युक्त मनोवृत्ति के कारण हमारा वनौषधि विषयक ज्ञान कितना विकृत हो चुका हैं इसका कुछ आभास मिलेगा यदि हम पंसारियों से मिलने वाले औषध द्रव्यों की परीक्षा करें और देखें कि वस्तुतः वे क्या हैं और किन-किन नामों से उनका व्यवहार किया जा रहा है। व्यवहार में आने वाली सम्पूर्ण वानस्पतिक कच्ची औषधियों को **तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है। प्रथम श्रेणी** उन द्रव्यों की है जो अधिकांश लोक-प्रसिद्ध और लोकोपयोगी होने के कारण असंदिग्ध रूप से हमें मालूम हैं और प्रायः विशुद्ध रूप में सब जगह मिल जाया करते हैं। यथा—गुडूची, वासा, विल्व, गम्भारी, कण्टकारी, एरण्ड, सिन्धुवार, त्रिफला, त्रिकटु, द्राक्षा आम्रादि प्रसिद्ध फलवृक्ष, वटादिक्षीरी वृक्ष, भल्लातक कूष्माण्डादि प्रसिद्ध फलशाक, वास्तुकादि पत्रशाक, पलाश शाकादि काष्ठवृक्ष, शिग्रु, निम्ब, शाल्मली, आरग्वध अरिष्टक, चन्दनद्वय, एलाद्वय, अर्क, मंजिष्ठा, मुण्डी, अपामार्ग, अश्वगंधा, शतावरीद्वय, धातकी, हरिद्रा, चित्रक तथा धान्यकादि प्रसिद्ध मसाले इसी श्रेणी के द्रव्य हैं। इनमें प्रायः ऐसे ही द्रव्य हैं जो देश के अधिकांश भाग में पैदा होते हैं और अथवा हमारे घरेलू व्यवहार में भी उनका विशेष स्थान है। इनसे प्राप्त कच्ची औषधियाँ जिन जिस रूप में (मूल, त्वक, पुष्प, फल, बीज तथ

काष्ठादि) हमें बाजार में मिलती है उन्हें भी हम ठीक-ठीक न पहचान सकें और इनके संग्राहक तथा पंसारी इनसे मिलती-जुलती दूसरी वस्तुएँ (केवल या मिश्रण के रूप में) हमें दे दें—तो यह दूसरी बात है। ऐसी ठगहारी के शिकार हम न हों सकें, इसके लिये यह आवश्यक है कि आधुनिक वैज्ञानिक साधनों की सहायता से उनका असंदिग्ध स्वरूपज्ञान हमें हो। ऐसा न होने पर गुडूची सत्त्व में आंटा मिलाकर और कम्पिल्लक में ईंट का चूर्ण मिलाकर ठगा ही जा सकता है।

इस श्रेणी के असंदिग्ध द्रव्यों के विषय में एक विचारणीय प्रश्न और है जिसकी ओर संकेत करना आवश्यक प्रतीत होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार प्राणिजातियों में परिस्थिति आदि के अनुसार बदलते रहने का स्वभाव होता है इसीके कारण सम्पूर्ण जीवसृष्टि की उत्पत्ति और उसका विकास हुआ है, ऐसा माना जाता है। अतः हजारों वर्ष पूर्व पाई जाने वाली जातिओं के चिकित्सा-सम्बन्धी गुणों में न्यूनाधिक परिवर्त्तन न हुए हों ऐसी बात स्वीकर नहीं की जा सकती। परन्तु यह तो हमारे लिये सर्वथा एक नवीन और बहुत बड़ा प्रश्न है जिसका समाधान नवीन अन्वेषण से ही हो सकता है। यहाँ एक उदाहरण द्वारा इस प्रश्न के महत्त्व को दिखाया जा सकता है। आजकल अश्वगंधा की जगह वैद्य "नागौरी असगंध" के नाम से मिलने वाले द्रव्य का उपयोग करते हैं। खोज से ऐसा मालूम हुआ है कि यह नागौरी असगंध खेत में पैदा किया हुआ अश्वगंधा है। जंगली असगंध और नागौरी असगंध के मूलों में रासायनिक और आकृतिक दृष्टि से स्पष्ट भेद दिखाई देता है। कृषि में आने के कारण अश्वगंधा का यह भेद विशेष पैदा तो गया है यह स्पष्ट ही है। अब प्रयोग के लिये कृषिजन्य अश्वगंधा को ग्रहण किया जाय या जंगली को इसका तो अन्वेषण से ही पता लगाया जा सकता है। मैं समझता हूँ कि इस नवीन दृष्टिकोण से यदि असंदिग्ध मूल स्रोत वाले औषध द्रव्यों पर विचार किया जाय तो अश्वगंधा के समान अनेक अन्य द्रव्यों के सम्बन्ध में भी यही प्रश्न सामने आयेंगे। आधुनिक वैज्ञानिक खोजों से तो यहाँ तक मालूम किया गया कि समान परिस्थितियों में होनेवाले एक ही जाति (Species) के पौधों में भी बड़ी मात्रा में रासायनिक कार्यकारी सत्वों की दृष्टि से अन्तर पैदा हो जाते हैं, यद्यपि [illegible] में ऐसा अत्यल्प भेद होता है कि वह तीक्ष्ण अन्वेषक दृष्टि को ही प्रगट होता है।

पंसारियों के यहाँ मिलने वाले औषध द्रव्यों की **दूसरी श्रेणी** उनकी है जिनमें एकरूपता नहीं हैं अर्थात् एक ही नाम से भिन्न-भिन्न स्थानों में भिन्न-भिन्न द्रव्यों का प्रयोग हो रहा है, जैसे सारे देश से यदि चिरायता जैसे प्रधान द्रव्य के नमूने एकत्र किये जायँ तो भिन्न-भिन्न जाति की वनस्पतियाँ चिरायता के नाम से हमारे सामने आएँगी। इस श्रेणी में भी दो विभाग किये जा सकते हैं। एक में वे द्रव्य सम्मिलित किये जा सकते हैं जो असंदिग्ध मूल स्रोत वाले शास्त्रीय द्रव्यों के नाम से प्रयुक्त हो रहे हैं परन्तु किसी कारण से वास्तविक द्रव्य के स्थान में और उसीके नाम से अनेक भिन्न-भिन्न द्रव्य बाजार में मिल रहे हैं। यह सम्भवतः सभी को मान्य होगा कि हिमालय में प्राप्त होनेवाली Swevertia Chirata नामक वनस्पति ही प्राचीनों की किराततिक्त (चिरायता) नामक औषधि है परन्तु अब इस नाम से प्राप्त होने वाले द्रव्यों में इसके अतिरिक्त (Swertia) की अन्य जातियाँ तथा कालमेघ (Andrographis paniculata) नामक वनस्पति मिलती है। इसी तरह पाटला, श्योनाक, दारुहरिद्रा, पुष्करमूल, पाठा, कायफल, वृहती, गोक्षुर, सारिवा, इन्द्रायण, ज्योतिष्मती पुनर्नवा, तगर, अगरु, विडङ्ग, शंखपुष्पी, अशोक, तिनिश, नागकेशर तथा कलिहारी आदि शास्त्रीय द्रव्य हमें असंदिग्ध रूप से मालूम हैं पर इन नामों से प्राप्त होने वाले बाजारु द्रव्यों में एकरूपता नहीं होती।

इस श्रेणी के दूसरे विभाग में संदिग्ध वानस्पतिक स्रोत वाले मूल द्रव्यों को सम्मिलित किया जा सकता है जैसे, उदाहरण के लिये मूर्वा, पर्पट, चारों पर्णियाँ, विदारी, वाराही, पाषाणभेद, जीवन्ती, रास्ना, नागबला, महाबला, तालीश, चव्य और गजपिप्पली, अम्लवेतस, प्रियंगु, काकजंघा, काकनासा, ब्राह्मी, विधारा, रोहितक, रेणुका, एलबालुक, त्रायमाण, वेतस, तथा मूषाकर्णी आदि का नाम लिया जा सकता है। इनके विषय में तो कुछ कहना ही नहीं। इनमें किसी-किसी के नाम से एक-एक दर्जन भिन्न जातीय तथा भिन्न वर्गीय वनस्पतियों का प्रचार हो गया है। केवल एक मूर्वा के नाम से कम-से-कम ६ वनस्पतियों के ग्रहण का संकेत मिलता है। अब हमारे सामने विचारणीय प्रश्न यह है कि इस श्रेणी के द्रव्यों के विषय में हमारा [illegible]

कर्तव्य होना चाहिये। ध्येय तो हमारा यही होना चाहिये कि सारे देश में प्रयुक्त द्रव्यों में एकरूपता हो। जिनका वास्तविक वानस्पतिक स्रोत हमें ज्ञात है वे तो वस्तुतः प्रथम श्रेणी के द्रव्यों के ही समान हैं और मिलावट (Adulteration) रोकने के लिये इनके भी स्वरूपादि का ऐसा असंदिग्ध ज्ञान हमें होना चाहिये कि कभी भी उनकी ठीक पहचान करने में हम असफल न हों। मैं समझता हूँ कि बिना आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का आश्रय लिये यह सम्भव न हो सकेगा और हमें भी आयुर्वेदीय द्रव्य-परिचय-विज्ञान (Pharmacognosy) का विकास करना ही होगा। ज्ञात द्रव्यों की पूरी पहचान कर लेने पर और उनके सुलभ हो जाने पर उनके स्थान में प्रयुक्त सभी द्रव्य त्याज्य हो जायेंगे यह आवश्यक नहीं। हो सकता है कि उनमें कुछ ऐसे भी निकलें जो मूल द्रव्य के समान गुणकारी द्रव्य हों। ऐसा देखा गया है कि यातायात सम्बन्धी तथा अन्य आकस्मिक कारणों से व्यवहार में आनेवाले बहुत द्रव्य कभी-कभी दुष्प्राप्य हो जाते हैं। ऐसी अवस्था उत्पन्न होने पर तत्कालीन विद्वानों को प्रतिनिधि द्रव्यों की खोज करनी पड़ती है। आयुर्वेदीय वनौषधि क्षेत्र में प्रतिनिधि द्रव्यों की खोज और उनका ग्रहण प्रचुर मात्रा में हुआ है यह मानना ही पड़ेगा। हिमालय से प्राप्त होने वाले दार्वी, किराततिक्त तथा कट्फल के स्थान में दक्षिणी दार्वी (Indian Calumba या कलम्बक) कालमेघ तथा कुम्भी का प्रयोग सम्भवतः इसी खोज का परिणाम रहा हो। ऐसा मालूम होता है सम्भवतः निघंटुकारों ने भी ऐसे द्रव्यों का प्रतिनिधित्व स्वीकार कर लिया है। कहीं-कहीं तो ऐसे द्रव्यों का वर्णन मूल द्रव्यों के भेदों के रूप में उन्होंने किया है और गुणकर्म-सम्बन्धी विशेषताओं का भी उल्लेख किया है। पाटला-काष्ठपाटला, अग्निमंथ-तकीरी तथा श्योनाक-अरलु में मूल-प्रतिनिधि जैसा सम्बन्ध है। निघंटुओं के पर्यायों का अध्ययन करने से ऐसा आभास मिलता है कि अनेक स्थलों पर निघंटुकारों ने मूल तथा प्रतिनिधि द्रव्यों को बिना पृथक किये हुए दोनों का एक साथ वर्णन कर दिया है। वनौषधियों के लोक प्रचलित नामों का अध्ययन करने से यह बात अच्छी तरह समझ में आती है। नागपुर तथा भण्डारा जिलों के कुछ जंगली क्षेत्रों का अध्ययन करने पर गत वर्ष यह मालूम हुआ कि वहाँ के लोग कालमेघ को "भूनीम" कहते हैं और व्यापारी उसे चिरायते के नाम से बाजार में देते हैं। कुम्भी नामक वृक्ष की छाल को कट्फल के नाम से चलाया जाता है। यहाँ ऐसी धारणा बनती है कि निघंटुकारों ने किराततिक्त तथा कट्फल के वर्णनों में क्रमशः भूनिम्ब तथा कुम्भी या कुम्भिका आदि का पर्याय देकर इन प्रतिनिधि द्रव्यों का ही संकेत किया है—क्या ही अच्छा हुआ होता यदि ऐसे प्रतिनिधि द्रव्यों के नामरूपात्मक तथा गुणधर्मात्मक पार्थक्य का स्पष्ट निर्देश किया गया होता। यहाँ हमें यह स्मरण रखना चाहिये कि एक द्रव्य दूसरे का पूर्ण प्रतिनिधित्व तो सम्भवतः कभी नहीं कर सकता और दोनों में न्यूनाधिक अन्तर का होना अनिवार्य होता है। अतः हमारा कर्त्तव्य होता है कि प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रयोग भले ही करें परन्तु तुलनात्मक अध्ययन से व्यवहार में तथा साहित्य में उनके पार्थक्य का स्पष्ट निर्देश करके उन्हें ग्रहण करें।

अब हम पाठकों का ध्यान उन स्थानापन्न बाजारू द्रव्यों की ओर ले जाना चाहते हैं जिनका केवल हमारे अज्ञान या लापरवाही से गलत नामों से प्रचार हो गया है और जो किसी तरह भी प्रतिनिधि द्रव्य नहीं कहे जा सकते। कलिहारी असंदिग्ध रूप से Glorisa Superba नामक वनस्पति है किन्तु उसके नाम से केमुककन्द (Costus Speciosa) का व्यवहार कितना उपहासजनक है। इसी प्रकार मूर्वा के नाम से मरोड़फली, पुष्करमूल के नाम से कमलनाल, गजपिप्पली के नाम से ताल की वाली का प्रयोग बड़ा ही हास्यास्पद प्रतीत होता है। समझ में नहीं आता कि इसे व्यापारी वर्ग का आँख में धूल झोंकना कहें अथवा इन्हें व्यवहार में लाने वालों की विवेकशून्यता और दृष्टिहीनता। स्पष्ट है कि ये मिश्रित द्रव्यों (Adulterants) का प्रयोग और प्रचार बन्द होना ही चाहिये। अब इस श्रेणी के संदिग्ध द्रव्यों का टेढ़ा प्रश्न उपस्थित होता है। इनके मूल स्रोत की खोज का प्रयत्न तो होना ही चाहिये परन्तु इतना तो निश्चित है कि जिन संदिग्ध द्रव्यों का सर्वमान्य निर्णय नहीं हो जाता उनके नाम से उन्हीं वस्तुओं का व्यवहार क्षम्य हो सकता है जो गुण-धर्म में मूल द्रव्य के लगभग समकक्ष हों। भिन्न एवं अज्ञात गुणधर्म वाले द्रव्यों का प्रयोग नहीं होना चाहिये। मूर्वा के स्थान में मरोड़फली का तथा जीवन्ती के स्थान में पीतवर्ण आर्किड (Orchid) का प्रयोग इसी प्रकार का अवांछनीय प्रयोग प्रतीत होता है।

अब हम आयुर्वेदीय साहित्य की उन वनस्पतियों की ओर आते हैं जिनके मूल स्रोत का हमें बिलकुल ज्ञान नहीं है और वे हमारे लिये भूले हुए तथा लुप्त द्रव्यों की श्रेणी में आ गये हैं। इस **तीसरी श्रेणी** के द्रव्यों में अष्टवर्गीय द्रव्यों के समान कुछ ऐसे औषध-द्रव्य हैं जिनका चिकित्सा में बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है। ऐसे द्रव्यों के स्थान में जिन वस्तुओं का व्यवहार आजकल हो रहा है उनमें कुछ तो ऐसे हैं जो प्रतिनिधि रूप में स्वीकार किये गये हैं--जैसे अष्टवर्ग के स्थान में शतावरादि। परन्तु साथ ही इनकी जगह कुछ ऐसे द्रव्यों का भी प्रचार होने लगा है जिनके वास्तविक गुणधर्मों के सम्बन्ध में कुछ निर्णय करने का प्रयास नहीं किया गया है। देहरादून तथा कलकत्ता से आनेवाले अष्टवर्गीय द्रव्यों के नमूने इसी श्रेणी के हैं। ये अथवा इनमें से कुछ द्रव्य शास्त्रोक्त अष्टवर्गीय द्रव्य ही क्यों न हों, परन्तु प्रचार के पहले उनके गुणधर्मों का निर्णय तो होना ही चाहिये। कहा जा सकता है कि जबतक उपर्युक्त निर्णय नहीं हो जाता तबतक ऐसे द्रव्यों का प्रयोग और प्रचार शास्त्र के प्रति अन्याय होगा। नवीन द्रव्यों का प्राचीन नामों से प्रचार करने की प्रवृत्ति शास्त्रमर्यादा के लिये हितकर नहीं मालूम होती। आज प्रायः सभी लोग धवलवरुआ (Rauwolfia) को सर्पगंधा और कटुकपित्थ को तुवरक कहने लग गये हैं जब कि हमारे विचार से इस नवीन मान्यता के विरोध में पर्याप्त प्रमाण दिये जा सकते हैं।

अन्त में हम वाचकों का ध्यान उन प्रयुक्त द्रव्यों की ओर आकृष्ट करना चाहते हैं जो कई महत्त्वपूर्ण मूल द्रव्यों के नाम से बाजार में मिलते हैं परन्तु उनके मूल स्रोत के सम्बन्ध में कोई जानकारी नहीं है। अज्ञात द्रव्यों का प्रयोग किसी भी दशा में मान्य नहीं होना चाहिये--कूठ तथा वच के स्थान में अन्तः प्रयोग के लिये क्रमशः मीठा कूठ तथा 'दुधियावच' नामक द्रव्यों के प्रयोग की कहीं-कहीं परम्परा-सी बन गई है; परन्तु हमें नहीं मालूम कि कूठ और वच जैसे असंदिग्ध और सुलभ द्रव्यों के स्थान में अन्य (और वे भी अज्ञात) द्रव्यों के प्रयोग के लिये कोई शास्त्रीय आधार भी है?--इसी तरह कुछ समय पहले बम्बई से प्राप्त नामकरण तथा उत्तरप्रदेश में रोहितक के नाम से प्राप्त एक छाल का हमें पता नहीं था परन्तु अब परीक्षा से मालूम हुआ है कि उपर्युक्त त्रायमाण (Gentina Rhizonal) तथा रोहितक छाल पारिभद्र वृक्ष की छाल है। संक्षेप में हमें यहाँ यही कहना है कि अज्ञात द्रव्यों का प्रयोग नहीं होना चाहिये और जिनका हो रहा है उनके मूलस्रोत तथा गुणकर्म की परीक्षा करने के पश्चात उनका मूल्यांकन होना चाहिये।

प्रयुक्त औषध द्रव्यों के विषय में अभीतक जो विचार उपस्थित किये गये हैं उनका सारांश इस प्रकार है:--

(१) व्यवहार में ग्रहण किये जाने वाले वानस्पतिक द्रव्यों में एक वर्ग उन द्रव्यों का है जो प्राचीनोक्त मूल-द्रव्य ही हैं और आज भी प्रायः सर्वत्र व्यवहार के लिये विशुद्ध रूप में मिलते जा रहे हैं। यद्यपि इनके वास्तविक स्वरूप को पहचानने की कोई निश्चित प्रणाली हमारे यहाँ न होने के कारण उनमें भी जहाँ-तहाँ व्यापारियों द्वारा मिलावट की जा सकती है और की जा रही है, परन्तु आधुनिक परीक्षण-विधियों का आश्रय लेकर हम भी अपने लिये एक औषध-परिचय-विज्ञान (Pharmacognosy) का विकास कर सकते हैं और इस कमी को पूरा कर सकते हैं।

(२) दूसरा वर्ग उन शास्त्रोक्त द्रव्यों का है जिनके मलस्रोत के सम्बन्ध में यद्यपि कोई सन्देह नहीं है अथवा न होना चाहिये, परन्तु उनके नाम से प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों में सर्वत्र एकरूपता नहीं है। इनमें (१) वास्तविक मूलद्रव्य (२) प्रतिनिधि द्रव्य तथा (३) मिश्रण द्रव्य तीनों प्रकार के द्रव्य मिलते हैं। यहाँ भी वास्तविक मूलद्रव्यों को अन्य द्रव्यों से पृथक करके और केवल इन्हीं के व्यवहार का स्पष्ट निर्देश करके एकरूपता लाई जा सकती है और शेष द्रव्यों में प्रतिनिधि द्रव्यों को मिश्रण द्रव्यों से पृथक् करने का प्रयास किया जा सकता है। प्रतिनिधि द्रव्यों का प्रतिनिधि रूप में ग्रहण किया जा सकता है, परन्तु अध्ययन द्वारा मूल तथा प्रतिनिधि--दोनों के नामरूपात्मक तथा गुणकर्मात्मक वैशिष्ट्य का स्पष्ट निर्देश करना चाहिये। ऐसा हो जाने पर मिश्रण-द्रव्य अपने-आप व्यवहार-क्षेत्र से पृथक हो जायेंगे। इस प्रकार हम दर्वी के स्थान में कलम्बक का प्रयोग चालू रख सकते हैं पर इसे प्राचीनोक्त दार्वी ही समझ लेने की गलती तो नहीं करेंगे! ऐसे ही प्रयास से कलिहारी की जगह केमुककन्द जैसे मिश्रण द्रव्यों का प्रयोग भी बन्द किया जा सकता है।

(३) संदिग्ध और अज्ञात स्रोत वाले शास्त्रीय द्रव्यों का प्रश्न निस्सन्देह एक अत्यन्त जटिल प्रश्न है।

दोनों श्रेणी के मूल द्रव्यों को एक प्रकार से अज्ञात ही कहा जा सकता है। इनकी समस्या एक ही प्रकार की है और उसका समाधान भी एक ही प्रकार से किया जा सकता है। औषध-निर्माण में तो उनका व्यवहार ही बन्द हो जाना चाहिये अथवा केवल तत्सम गुणधर्म वाले द्रव्यों का ही व्यवहार होना चाहिये। साथ ही साथ, उनके मूलस्रोतों की खोज का प्रयत्न प्रारम्भ करना चाहिये। एतदर्थ देशव्यापी महान प्रयत्न का समारम्भ आवश्यक है। यहाँ जिस कार्य-पद्धति का अनुसरण करना होगा, उस पर कई बार (लेखक द्वारा) प्रकाश डाला गया है और प्राचीनों द्वारा बतलाये हुए "गोपालास्तापसा...भेषजव्यक्तिरिष्यते" मार्ग को अपनाने का निर्देश किया गया है। इस पद्धति से जो कुछ भी कार्य किया जा सका है उसके परिणामों को देखकर हमें विश्वास होता है कि केवल इसी मार्ग से संदिग्ध एवं अज्ञात शास्त्रोक्त द्रव्यों पर हमें निर्णयात्मक प्रकाश मिल सकता है। यदि देश भर में वन्य प्रदेशों का जनता से सम्पर्क स्थापित करके उनकी सहायता से वनौषधियों के परम्परया प्रचलित नामों और गुणों का संग्रह किया जाय तो अनेक अज्ञात एवं विवादग्रस्त मूल द्रव्यों का ठीक-ठीक पता लगाया जा सकता है और जंगलों में रहनेवाली मूल जातियों की जानकारी में पड़े हुए अनेक वनौषधि-रत्न प्रकाश में लाये जा सकते हैं। इस मार्ग को अपनाकर आजतक जो कुछ भी छिट-फुट प्रयत्न हुए हैं, उनसे कई अज्ञात एवं संदेहास्पद वनस्पतियों के निर्णय में सहायता मिली है और अन्य द्रव्यों के विषय में फैली हुई भ्रांतियों को मिटाया जा सका है।

काष्ठौषधियों के प्रति वैद्य समाज की सैकड़ों वर्षों की उदासीनता और उपेक्षा बुद्धि ने जिस शोचनीय स्थिति को उत्पन्न किया उसका दिग्दर्शन उपर्युक्त पंक्तियों में करने का प्रयास किया गया है। कोई भी आयुर्वेद हितैषी और समर्थक इस बिगड़ी हुई स्थिति के प्रति आँख मूँद सकता है—यह समझ में आने की बात नहीं है। परन्तु देखा यही जा रहा है कि आज भी लोगों का ध्यान इधर आकृष्ट नहीं हुआ है। स्पष्ट है कि जैसी स्थिति है उसके अनुसार काष्ठौषधियों में शोध और सुधार का बहुमुखी कार्य-क्षेत्र बहुत बड़ा है। गुणधर्म की जाँच के लिये आतुरालयों और प्रयोगशालाओं की स्थापना और नामरूपात्मक अध्ययन के निमित्त देशव्यापी वन-भ्रमण सम्बन्धी महान बहुपक्षीय कार्य जितना ही व्यय तथा श्रमसाध्य है उतना ही अधिक कर्मनिष्ठ एवं श्रद्धालु कार्यकर्त्ताओं की अपेक्षा करता है। मुझे नहीं मालूम कि आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से ऐसे अध्ययन के लिये देश की किसी भी संस्था में कोई व्यवस्था है। अतः आयुर्वेद के प्रति निष्ठावान प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि इस विषय की ओर गम्भीरतापूर्वक सोचे और अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने में हाथ बटाये।

प्रसंगात्—हम यह बतला देना चाहते हैं कि स्वर्गीय आचार्य यादवजी के सुझाव पर श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिंग डाइरेक्टर श्री रामनारायण जी शर्मा ने इस शोधकार्य की आवश्यकता को समझा और अन्य क्षेत्रों में शोध कार्यों के साथ इसमें योगदान करने का संकल्प किया। इसीका परिणाम है कि गत कई वर्षों में इस संस्था की ओर से वनभ्रमण और वनौषधि-अध्ययन की कई छोटी मोटी योजनाएँ कार्यान्वित की जा चुकी हैं। इन योजनाओं के अन्तर्गत बिहार प्रान्त (मुंगेर, राँची, पलामू, तथा सिंहभूमि), झाँसी तथा खनियाधाना (पूर्व ग्वालियर राज्यान्तर्गत), मध्य भारत (नागपुर तथा भण्डारा), उत्तर प्रदेश (मिर्जापुर तथा चित्रकूट) तथा मध्यप्रदेश (विलासपुर) के कुछ वन्यप्रदेशों की वनौषधियों का अध्ययन किया गया है। इस कार्य के फलस्वरूप इन क्षेत्रों के वैद्यों में इस विषय की ओर रुचि, स्थानीय शुद्ध वनौषधियों के संग्रह और प्रयोग की प्रवृत्ति तथा इन प्रान्तों में सुलभ वनौषधियों की सामान्य जानकारी कराई जा सकी है। इसके अतिरिक्त इस कार्य के फलस्वरूप कई अज्ञात एवं संदिग्ध वनौषधियों के विषय में पर्याप्त प्रकाश मिला है। आशा है कि 'सचित्र आयुर्वेद' के आगामी अंकों में उपर्युक्त वनौषधियों के विषय को इस नवीन प्रकाश में उपस्थित किया जा सकेगा।

प्राध्यापक हिन्दूविश्वविद्यालय }
वाराणसी। }

शीतपित्त

वैद्य शंकरलाल शर्मा, भिषगाचार्य

इस रोग के नाम में दो शब्द हैं, **शीत** और **पित्त**। यहाँ शीत शब्द से शीतगुणविशिष्ट कफ एवं वायु का ग्रहण समझना चाहिये और पित्त का निर्देश स्पष्ट ही है; इस तरह यह रोग तीनों दोषों वात, पित्त एवं कफ से होता है, जैसा कि इस रोग के निदान एवं सम्प्राप्ति में शास्त्र लिखता है—"शीतमारुतसंस्पर्शात् प्रदुष्टौ कफमारुतौ। पित्तेन सह सम्भूय बहिरन्तर्विसर्पतः।" अर्थात् बाह्य शीत वायु के स्पर्श से अपने-अपने कारणों से कुपित वात और कफ पित्त के साथ मिलकर बाहर त्वचा में और भीतर रक्तादि धातुओं में फैल जाते हैं।

यह रोग लोक में "पित्ती" के नाम से प्रसिद्ध है। सामान्यतया साधारण जनता इस रोग को विशेष महत्त्व नहीं देती; कारण यह है कि यह रोग दो-चार दिन अपने लक्षण प्रकट कर अपने-आप ठीक हो जाता है या साधारण उपचार करने पर ठीक हो जाता है; किन्तु किसी-किसी को यह इतना अधिक कष्ट देता है कि निरन्तर छः-छः मास या इससे भी अधिक समय तक पीछा नहीं छोड़ता। इस रोग में त्वचा में वरटी (एक तरह की विषैली मक्खी) के काटने पर जो लाल-लाल चकत्ते हो जाते हैं तत् सदृश चकते हो जाते हैं। इसके साथ रोगी को ज्वर, वमन, कण्डु, जलन एवं तोद (सूई चुभने जैसी पीड़ा) भी होते हैं। किसी-किसी रोगी को कण्डु एवं जलन इतनी अधिक होती है कि उसे लेटने, बैठने एवं चलने-फिरने में भी सुखानुभूति नहीं होती। ये चकत्ते शीत के समय अर्थात् प्रातः-सायं एवं रात्रि में विशेष निकलते हैं। दिन में प्रायः नहीं निकलते।

इस रोग में कई विशेष अवस्थाएँ होती हैं, जैसे—शीतपित्त, उदर्द, कोठ, उत्कोठ। यह रोग त्रिदोषजन्य है, यह पहले लिखा गया है, किन्तु जब वायु की अधिकता हो तो उसे शीतपित्त और कफाधिक होने पर उसे उदर्द समझना चाहिये। उदर्द के लक्षण शास्त्र में नीचे लिखे अनुसार हैं—"सोत्संगैश्च सरागैश्च कण्डुमद्भिश्च मण्डलैः। शैशिरः श्लेष्मबहुल उदर्द इति कीर्तितः॥" अर्थात् प्रान्त भाग में ऊँचे और मध्य में निम्न, लाल एवं कण्डुयुक्त मण्डलों से युक्त, शिशिर ऋतु में होनेवाला एवं जिसमें कफ प्रधान हो, वह उदर्द रोग है। इसी तरह कोठ और उत्कोठ के लक्षण आगे लिखे अनुसार हैं—"असम्यग्वमनोदीर्णपित्तश्लेष्मान्ननिग्रहैः। मण्डलानि सकण्डूनि रागवन्ति बहूनि च॥ उत्कोठः सानुबन्धश्च कोठ इत्यभिधीयते।" असम्यक् वमन से बढ़े हुए पित्त एवं कफ से तथा दूषित अन्न के रुकने से कण्डु, लालिमायुक्त बहुत-से मण्डल हो जाते हैं, उन्हें "उत्कोठ" कहते हैं, यदि ये बार-बार उत्पन्न होते रहे तो उनकी कोठ संज्ञा हो जाती है।

उक्त रोग में प्यास, अरुचि, हृल्लास (जी मिचलाना), देह-साद (शरीर का टूटना), शरीर का भारी होना, तथा नेत्रों का लाल होना, ये पूर्वरूप होते हैं।

शास्त्रीय चिकित्सा—यह रोग त्रिदोषज है, अतः चिकित्सा भी त्रिदोषनाशक ही करनी चाहिये। अतएव, शास्त्र ने इस रोग में सर्वप्रथम वमन पुनः विरेचन कराने की आज्ञा दी है। वमन से शरीरस्थ दूषित कफ का निःसरण हो जाता है; क्योंकि "वमनं श्लेष्महराणाम्" यह शास्त्राज्ञा है। इसी तरह विरेचन से शरीरस्थ दूषित पित्त निकल जाता है; क्योंकि "विरेचनं पित्तहराणाम्" यह शास्त्र में निर्दिष्ट है। वात-दोष की शान्ति के लिए कटुतैल के अभ्यंग की आज्ञा दी है तथा गर्म जल से स्नान कराने को लिखा है। इस तरह शोधन-चिकित्सा के बाद शमन-चिकित्सा करनी चाहिये। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि वायु की शोधन-चिकित्सा नहीं की जाती उसकी तो शमन-चिकित्सा ही की जाती है। अतएव, यहाँ वात-पित्त की शान्ति के लिए कटुतैलाभ्यंग एवं गर्म जल से स्नान तथा आगे महातिक्तादिघृत-पान कराने की आज्ञा दी है। उक्त रोग के शमनार्थ कुछ शास्त्रीय योग एवं कुछेक प्रचलित योग आगे लिखे जाते हैं:—

(१) त्रिफला, शुद्ध गूगुल, पीपल क्रम से तीन भाग, पांच भाग और एक भाग लेकर, गुटिका बना उचित मात्रा में सेवन से शीतपित्त रोग ठीक हो जाता है।

(२) मिश्री और त्रिकटु, गुड़ और आमला, सोंठ, मिरच, पीपल और यवक्षार के साथ अजवायन के प्रयोग से शीतपित्त ठीक हो जाता है।

(३) अद्रक का रस पुराना गुड़ मिलाकर पीने से शीतपित्त से मुक्ति मिल जाती है।

(४) शीतपित्त के रोगी के शरीर पर श्वेतसरसों एवं हलदी को पीसकर उसमें पवांड़ का बीज तिल तथा कडुआ तैल मिलाकर उबटन करना चाहिये।

(५) जो शीतपित्त का रोगी गुड़ और अजवायन दोनों की गुटिका बनाकर सेवन करे और पथ्य भोजन करे तो उसके एक सप्तह में उक्त रोग ठीक हो जाता है।

(६) पान में खाने का चूना बताशे में रखकर खाने से साधारण शीतपित्त शान्त होते देखा गया है।

(७) साधारण जनता इस रोग में घृत और कालीमिर्च पिलाया करती है।

(८) रोगी को ऊनी वस्त्रों से भी ढाँक देते हैं, इससे भी किसी-किसी का रोग ठीक हो जाता है।

(९) कुछेक आरण्योपलभस्म को शरीर पर मला करते हैं।

कोठ रोगी को पहले स्निग्ध, स्विन्न कर पुनः वमन, विरेचन से शुद्धकर महातिक्त घृत पिला, रक्तमोक्षण कराना चाहिये। इसी तरह उत्कोठ रोग में भी शरीर को शुद्ध कर पुनः कुष्ठ रोगनाशक चिकित्सा करनी चाहिये। इस तरह यहाँ तक इस रोग की शास्त्रीय चिकित्सा का वर्णन किया गया अब आगे इस रोग की स्वानुभूत चिकित्सा लिख रहा हूँ—

अनुमानतः ८-९ मास हो गये होंगे, एक युवक को उक्त रोग हो गया। उसकी चिकित्सा आदिमें मुझसे कराई गई। मैंने उस समय मञ्जीष्ठादि चूर्ण २ माशा, शुद्ध गन्धक २ रत्ती दोनों को मिश्रित कर एक मात्रा, ऐसी दो मात्रा प्रातः-सायं दोनों समय साधारण गर्म पानी से लेने को कह दिया। पथ्य में गेहूँ का फुलका, चीनी, दूध, घृत बतला दिया और नमक छोड़ने के लिए कह दिया। इस चिकित्सा से एक बार तो अवश्य लाभ हो गया किन्तु १५-२० दिन व्यतीत होने पर पुनः उक्त रोग का उग्ररूप हो गया। पुनः एक अन्य वृद्ध वैद्य की चिकित्सा कराई गई, किन्तु उस चिकित्सा से भी लाभ न हुआ। फिर एलोपैथिक चिकित्सा चालू की गई। इस चिकित्सा से प्रारंभ में तो लाभ हुआ किन्तु पुनः पूर्ववत् रोग के लक्षण प्रकट होने लग गये। एलोपैथिक चिकित्सा करते समय शरीर के एक भाग से रक्त लेकर अन्य भागों में इन्जेक्शन भी दिये जिससे एक बार तो लाभ हुआ किन्तु कुछ दिन बाद पूर्ववत् रोग के लक्षण प्रकट हो जाते थे। इस तरह चिकित्सक और रोगी दोनों ही हैरान हो गये और यह निश्चय किया गया कि त्वचा के रोगों की चिकित्सा करनेवाले किसी डाक्टर को दिखाया जाये। यह विचार कर रोगी दिल्ली गया और वहाँ एक त्वग्रोग चिकित्सक को दिखाया गया और चिकित्सा चालू की गई किन्तु उससे भी कोई लाभ न हुआ। अन्त में देहली के एक हकीम की चिकित्सा चालू कराई गई। दवा चालू करने के तीन-चार दिन बाद कुछ-कुछ लाभ होने लग गया और ८-९ दिन दवा लेने से रोग पूर्व रूप में एक बार तो अवश्य ही ठीक हो गया। रोगी ने देहली में रहते हुए एक मास तक दवा का सेवन किया। अब रोगी को तथा उसके सम्बन्धियों को यह विश्वास हो गया था कि भविष्य में पुनः रोग का आक्रमण न होगा। अतएव १५ दिन की दवा लेकर रोगी यहाँ (फतेहपुर, शेखावटी) आ गया। यहाँ आने पर जैसे-जैसे पन्द्रह दिन की लाई हुई औषधि समाप्त होने लगी कि रोग का आक्रमण फिर हो गया। पहले रोग साधारण रूप में प्रकट हुआ, पुनः शनैः-शनैः रोग के लक्षण अधिकाधिक बढ़ते गये। आयुर्वेदिक, यूनानी, एलोपैथिक चिकित्सा कराने पर भी रोग का पुनः-पुनः आक्रमण होने से रोगी के घरवाले तथा रोगी अत्यधिक विषण्ण हुए और मेरे पास पुनः आकर कहा कि हम लोग चिकित्सा कराने के लिए देहली भी गये और कई तरह की चिकित्सा भी कराई किन्तु स्थायी लाभ किसी से भी न हुआ। आखिर इस रोग से कब मुक्ति मिलेगी। रोगी तथा उसके घरवालों ने कहा कि आप कोई ऐसा उपाय करें कि इस रोग का पुनः आक्रमण न हो, समय चाहे जितना लगे। फिर मैंने इस रोगी के विषय में यह विचार किया कि अभीतक इसको जो-जो औषधें दी गई-हैं वे रोगशामक ही शोधन-चिकित्सा बिल्कुल ही नहीं की गई; इसीसे रोग का बार-बार आक्रमण हो रहा है। आयुर्वेद में शमन-चिकित्सा की अपेक्षा शोधन-चिकित्सा को विशेष महत्त्व दिया गया है जैसा कि शास्त्र में लिखा है—

"दोषाः कदाचित् कुप्यन्ति जितालङ्घनपाचनैः। ये तु संशोधनैः शुद्धा न तेषां पुनरुद्भवः।" अतएव मैंने यह निश्चय किया कि इस रोगी को पहले वमन, विरेचन करा इसके

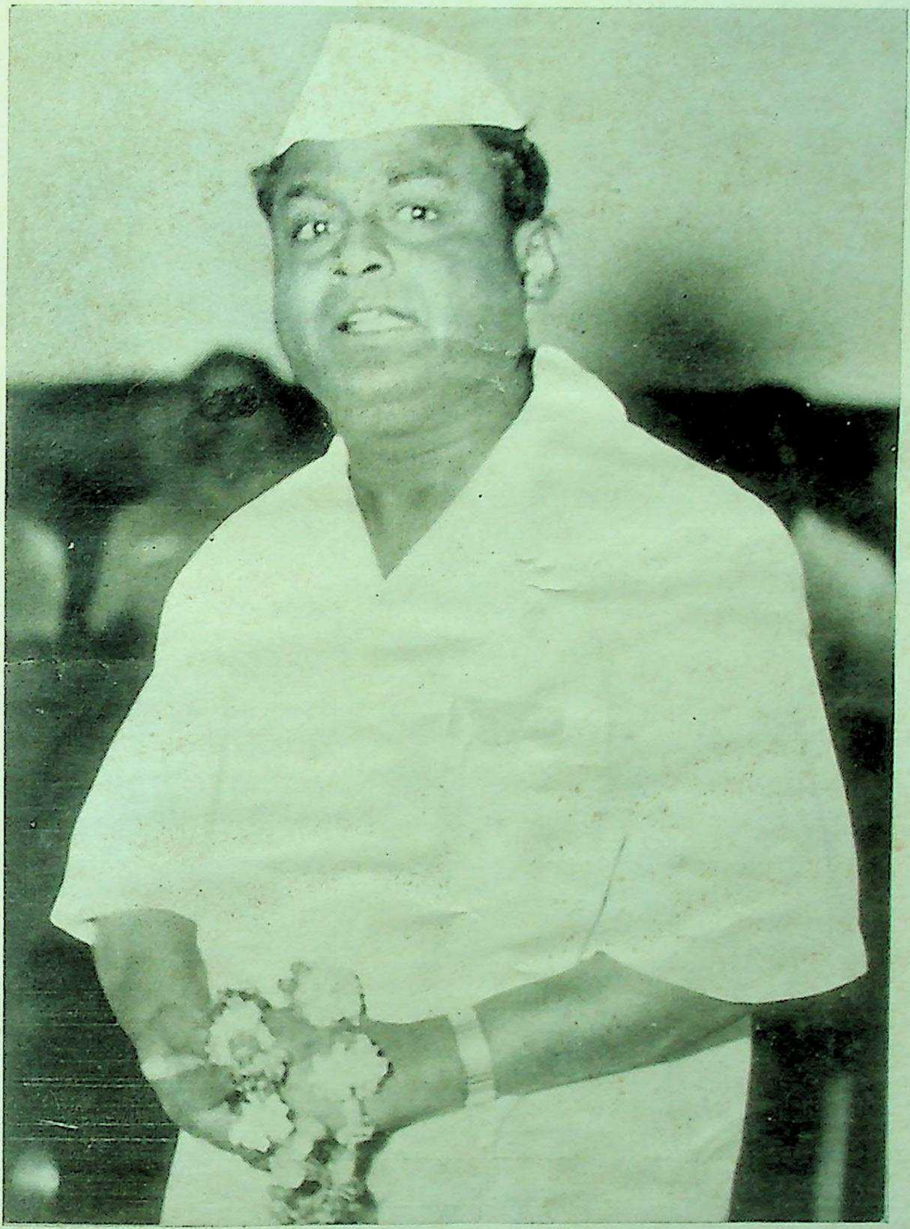

राजस्थान सरकार के नवनियुक्त आयुर्वेद-मन्त्री
माननीय श्री भीखाभाई जी

देशी दवाओं का सबसे बड़ा और विश्वासी कारखाना
श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि
कलकत्ता. पटना. झांसी. नागपुर. इलाहाबाद.
बहुजन सुखाय
बहुजन हिताय
निर्गम

अलीगढ़ प्रदर्शिनी में आयोजित बैद्यनाथ-स्वास्थ्य-प्रदर्शिनी पर उमड़ते हुए जन-समूह का एक दृश्य। उत्तर प्रदेश सरकार के सभा-सचिव वैद्य श्री धर्मदत्तजी प्रदर्शन-कक्ष का निरीक्षण कर लौटते दिखायी दे रहे हैं।

शरीर को शुद्ध करना चाहिये, इस रोग की शास्त्रीय चिकित्सा में वमन, विरेचन कराना लिखा भी है; अतः मैंने पहले रोगी को निम्बपत्र का क्वाथ बनवाकर उसमें मात्रानुसार मदनफल-चूर्ण एवं मधु मिला कर पिला दिया, जिससे रोगी को ३-४ वमन हुए। पुनः विरेचनार्थ विरेचनी वटी ४ गुटिका उष्ण जल से दी गई जिससे ४-५ बार दस्त लगकर पेट भी साफ हो गया; पुनः प्रातः-सायं शुद्ध गन्धक ४ रत्ती समभाग मिश्री मिला कर चालू किया। सोते सामय नवकार्षिकक्वाथ भी क्वाथ-विधि से बनवाकर दिया जाने लगा। इस क्वाथ में कुटकी के होने से रोगी को प्रातः मलप्रवृत्ति ठीक तरह से हो जाया करती थी। रोगी पर्याप्त परेशान हो चुका था। अतः मैंने यह विचार किया कि अबकी बार ऐसी औषधि दी जावे कि जिससे रोग का आक्रमण पुनः न हो। इसलिए इस रोग की प्रसिद्ध औषध भैषज्यरत्नावली प्रतिपादित हरिद्राखण्ड भी बनाया और उसका सेवन प्रातः वाली औषध-सेवन के आध घण्टे पश्चात् ६ माशा की मात्रा में साधारण गर्म पानी से लेने को कह दिया। इस व्यवस्था से ३-४ दिन तक तो कोई विशेष लाभ न हुआ किन्तु पाँचवें दिन से थोड़ा-थोड़ा लाभ होने लग गया। औषधि चालू करने के १० दिन बाद रोग के लक्षण बिल्कुल शान्त हो गये और पुनः रोग बिल्कुल न हुआ। औषधि का सेवन डेढ़ मास तक चालू रक्खा। भोजन में गेहूँ की दलिया, फुलका, दूध, चीनी के सिवाय कुछ भी नहीं दिया गया। नमक, लाल मिर्च, खटाई, तैल आदि बिल्कुल मना करा दिया गया। दो सप्ताह तक मकान से बाहर भी जाना बन्द करा दिया गया, क्योंकि यह रोग शीत वायु के स्पर्श से अधिक बढ़ता है। प्रतिदिन कटु तैल की मालिश भी कराई जाती थी, स्नानार्थ उष्ण जल का उपयोग किया जाता था। अनुमानतः एक मास बाद अल्प मात्रा में सैन्धा नमक चालू कराया गया। औषध बन्द करने के बाद भी कई दिन तक पथ्य-पालन के लिए कह दिया गया और उसने पूरी तरह से पथ्य-पालन किया भी। डेढ़ मास औषध-सेवन करने के बाद औषध बन्द कर दी गई। शनैः-शनैः क्रम से सभी वस्तुओं के उपयोग के लिए कह दिया गया। इस तरह से उक्त रोग से पीड़ित रोगी ने आयुर्वेदिक चिकित्सा से शीघ्र ही स्वास्थ्य लाभ कर लिया। लेख में उल्लिखित सभी योग शास्त्रीय हैं, अतः उनका यहाँ लिखना उचित नहीं।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, वह बिल्कुल सत्य है। आयुर्वेद-शास्त्र में ऐसे बहुत-से योग हैं जो प्रतिदिन जनता को रोगमुक्त कर रहे हैं और भविष्य में भी करते रहेंगे किन्तु फिर भी, हमारी केन्द्रीय सरकार आयुर्वेद को समुचित सहायंता क्यों नहीं देती; यह समझ में नहीं आता।

सर्दी, जुकाम- हरारत. इन्फ्लुएंजा को सुप्रसिद्ध महौषधि, जिसे हर घर में हमेशा रहना चाहिए।
बैद्यनाथ
लक्ष्मीविलास रस
(नारदीय)
SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD.
CALCUTTA

वातरक्त और उसकी चिकित्सा

वैद्य अम्बालाल जोशी

वात-रक्त एक ऐसा दुखद रोग है जो मानव शरीर को तीव्र वेदना से त्रस्त कर देता है। इसका आक्रमण होने के बाद देह के सन्धि भागों में इतनी असह्य वेदना होती है कि रोगी के शूलमय स्थानों पर यदि मक्खी भी बैठ जाय तो तीव्र वेदना पैदा कर देती है। सहस्रों मनुष्यों को भारत में यह रोग व्यापता है। भारतेतर ठण्डे प्रदेशों में भी इसका आक्रमण व्यापक है, ऐसा ज्ञात किया जाता है।

रोग-परिचय—वातरक्त के रोगियों के परीक्षण से ऐसा प्रतीत हुआ है कि उनकी पीड़ित सन्धियों में एक श्वेत पदार्थ जमा हो जाता है। सम्भवत: वही पीड़ा का कारण होता हो। यह भी कहा जाता है कि प्रोटीन की संवर्तन क्रिया के समुचित संपादित न होने के कारण रक्त में यूरिकाम्ल की अधिकता होती तथा सन्धि भागों में सोडियम बाई यूरेट्स जमा हो जाता है तथा इसीसे यह रोग पैदा होता है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि यह रोग शनैः-शनैः सहज प्रकार से मानव शरीर में पनपता रहता है और रोगी को यह पता भी नहीं चलता कि वह वातरक्त रोग से पीड़ित है। इस ओर गम्भीरता से ध्यान न देने के कारण यह रोग बढ़ता रहता है और समय पा कर क्रुद्ध वातावरण बना लेता है। तब यह स्पष्ट होता है कि अमुक व्यक्ति वातरक्त रोग से ग्रसित है।

यह रोग सुकुमार प्रकृतिवालों में, धनी लोगों में, परिवार विशेष में, तथा जाति विशेष में होना अधिक सम्भव है। इसकी उत्पत्ति का उत्तरदायित्व उतना खाद्य की मात्रा पर नहीं है जितना उसके प्रकार पर है। बहुमूल्य मद्यों का अधिक पान करनेवाले, अधिक नत्रजनीय भोजन करनेवाले, अस्वस्थता-जनक परिस्थितियोंमें कार्य तथा निवास करनेवाले, कारखानों तथा छापाखानों में काम करनेवाले लोगों में यह रोग अधिक देखा गया है। लगभग ६० प्रतिशत रोगी ऐसे मिल जाते हैं जिनके पूर्वजों को यह रोग हो चुका हो। यह रोग स्त्रियों की अपेक्षा पुरुषों में अधिक होता है। ३५ वर्ष की आयु से अधिक वृद्धों में इसका आक्रमण अधिक देखा गया है। परन्तु इसका कारण आज भी अज्ञात है। एक कुतुहल इस रोग की विचित्र प्रवृत्ति को ज्ञात कर होता है कि यह रोग अधिकतर अत्यधिक प्रतिभासम्पन्न पुरुषों से अधिक मैत्री रखता है। संसार के कई प्रतिभावान व्यक्ति इससे स्नेहासिक्त थे। मार्टिन लूथर, जान कालविन, सर आइजक न्यूटन, फ्रांसिस न्यूटन, गैटे, चार्लस डारविन आदि उन सहस्रों में से कुछ प्रतिभाएं हैं जिनका नामोल्लेख इस प्रसंग में किया जा सकता है तथा जो आयु पर्यन्त या अल्प काल तक इस रोग के 'बलि' रह चुके हैं।

रोग-निदान—आयुर्वेद तथा आधुनिक पाश्चात्य चिकित्सा शास्त्र के अनुसार इसकी उत्पत्ति के निम्नलिखित कारण हैं—लवण, अम्ल, कटुक्षार, स्निग्ध, उष्ण तथा भोजनों के अतिमान, गरिष्ट भोजन, अजीर्ण भोजन, क्लेदयुक्त भोजन, सूखे भोजन, ठण्डे भोजन, मत्स्यमांस, आनूप मांस, मूली, कुलथी, माष, निष्पाव, शाकादि, पलल (भृष्टमांस) गन्ना, दधि, कांजी, सुरा, सिरके, तक्र, शराब तथा आसवादि मात्राविरुद्ध भोजन, मान विरुद्ध भोजन, क्रोध, दिवा स्वाप तथा रात्रि जागरण आदि के विषम योग तथा अतियोग ही इस रोग की उत्पत्ति के कारण माने गये हैं। प्रायः मिथ्या आहार-विहारियों में, सुकुमारों में, स्थूलों और सुखी व्यक्तियों में वातरक्त रोग अधिक होता है।

लवणाम्ल कटुक्षार स्निग्धोष्ण जीर्ण भोजनैः।
क्लिन्न शुष्काम्बुजानूप मांस पिण्याक मूलकैः॥
कुलत्थ माष निष्पाव शाकादि पललेक्षुभिः।
दध्यारनाल सौवीर शुक्त तक्र सुरा सवैः॥
विरुद्धाध्यशन क्रोधा दिवास्वप्न प्रजागरैः।
स्थूलानां सुखिना[१] चापि कुप्यते वातशोणितम्।
(चरक ६।२८, २६)

चरक ने वातरक्त को आढचवात नाम से सम्बोधित किया है। यथा—खण्डु वात बला सारूया माढचवातञ्च नामभिः (चरक चि० अ० २६) (आढचवात-धनाढचवात)

---

[१] अचङ्क्रमणशीलानाम (इति पाठान्तरम्)

प्रसंग में इस रोग के प्रवेश का मुख्य स्थल धनाढच व्यक्ति स्पष्ट विचारणीय है।

जैसा कि ऊपर कहा गया है कि यह रोग सहज (आदिबल प्रवृत्त) रोग है। आधुनिक चिकित्सा मत के अनुसार प्राइस कहता है––"वातरक्त के सहज रोग होने के पक्ष में अति प्रबल प्रमाण मिलते हैं। लगभग ५० से ८० प्रतिशत रोगियों के पूर्वजों के वातरक्ताक्रान्त होने का इतिहास प्राप्त हुआ है। सम्पन्न पुरुषों में ७५ प्रतिशत एवं आरोग्यशाला में प्रविष्ट रोगियों में ५० प्रतिशत के कुल परम्परा में वातरक्त होने का वृत्तान्त प्राप्त हुआ है।" (ए० वी० गरडे) इससे उपर्युक्त आयुर्वेदीय वाक्यों की पुष्टि ही होती है।

"यह रोग मुख्यतया वंशानुगत है तथा सम्पन्न परिवारों में इसका आधिक्य पाया जाता है। स्वयं रोग का तो अवतरण नहीं होता, परन्तु इसके प्रति प्रवणता ही संतति में उतरती है। रोग प्रादुर्भाव के अन्य कारणों के उत्पन्न होने तक यह अनभिव्यक्त दशा में रहता है।" (लेवेलिन)

रोग संप्राप्ति––यह रोग मध्यवय ३५ से ५० वर्ष तक के पुरुषों में होनेवाला है। परन्तु प्रबल आदिबल प्रवणता के होने पर अति तरुणों में यहाँ तक कि शालेय विद्यार्थियों तक में हो सकता है। यह रोग वंशानुगत है, फिर भी आयुर्वेद-शास्त्रों में उल्लिखित कारणों से इसका स्वतन्त्र रूप से अर्जित होना भी सम्भव है। यद्यपि ऊपर लिखा गया है कि यह रोग पुरुषों में अधिक होता है फिर भी स्त्रियाँ इस रोग की अपवाद नहीं हैं। इसके सिवाय भी संक्रामक[1] व्याधियों के कारण, शल्य क्रिया के कारण, मानसिक पृष्ठभूमि के कारण तथा ऋतु-विषमता या तात्कालिक प्रभाव के कारण इस रोग का आक्रमण मानव-शरीर पर हो सकता है।

हस्ती, उष्ट्र, अश्व की सवारी करने से अर्थात् इन सवारियों से शरीर के हिलने पर, तथा भोजन के तत्काल बाद चलने (तेज चलने तथा दौड़ने) पर और विदाही अन्न खाने पर इनका विदाह रक्त में उत्तेजना तथा दाह पैदा कर उसे क्रुद्ध करता है। तदन्तर यह दुष्ट रक्त ऊर्ध्वकाय से नीचे उतर कर पैरों में संचित हो जाता है और अपने कारणों से अथवा तात्कालिक कारणों से दुष्ट वायु से मिल कर वातरक्त पैदा करता है। प्रश्न यह उठता है कि जब शास्त्रों ने रक्तगत वात का वर्णन वात रोगों के अन्तर्गत कर दिया है तब यहाँ इसे स्वतन्त्र रोग मानने की क्या आवश्यकता पड़ी। वस्तुतः वात यह है कि रक्तगत वात रोग में वात तथा रक्त दोनों ही दूषित रहते हैं। चरक में कहा है—

वायु प्रवृद्धो (विवृद्धो) वृद्धेन रक्तेना वारितः पथि।
क्रुद्धः (कृत्स्नः) संदूषयेद्रक्तं तज्ज्ञेयं वात शोणितम्॥
(चरक चि० स्था० अ० २९)

"बढ़े हुए रक्त से मार्ग में रुका हुआ वा प्रवृद्ध वायु क्रुद्ध हो कर रक्त को दूषित कर देता है और यही रोग वात शोणित नाम से जानना चाहिए।" रक्तगत वात में तो दुष्ट वात ही अदुष्ट रक्त से मिलता है, परन्तु वात रक्त में प्रवृद्ध रक्त से मार्गावरोध हो कर प्रदुष्ट तथा प्रवृद्ध वात पुनः रक्त को दूषित करता है। यद्यपि इसमें वात तथा रक्त दोनों ही दूषित होते हैं, परन्तु प्रदुष्टि का प्राबल्य वायु की अपेक्षा अधिक होता है, इसीलिए इसे 'वातरक्त' ऐसी संज्ञा दी गई है न कि 'रक्तवात'।

नव्य मतानुसार इस रोग में मूत्राम्ल (Uric acid) मात्रा से अधिक रहता है, परन्तु केवल मूत्राम्ल के ही आधार पर इस रोग की उत्पत्ति मान लेना एक मौलिक भूल होगी। क्योंकि अन्य अवस्थाओं में जैसे श्वेताणु वृद्धि में, अथवा बाहर से मूत्राम्ल (Uric acid) खिलाने से वातरक्त रोग नहीं पैदा होता। सम्भवतः वातरक्त में रक्त का क्षारत्व घट जाता है और यूरिकाम्ल सोडियम बाई यूरेटस (Uric acid sodium bi-urates) के रूप में यह क्षारत्व रक्त से पृथक हो कर ऐसे सन्धि स्थानों में बैठ जाता है जहाँ उसे रक्त का संचार अल्प गतिमान होने के कारण अनुकूल वातावरण भी मिल जाता है। अधिकतर ऐसे स्थान हैं—पादांगुष्ठ की प्रपादिक पाँव सन्धि। जब स्थानीय कार्टिलेजों में यह श्वेत पदार्थ जम जाता है तथा कालान्तर में इसके नीचे के कार्टिलेज गलने लगते हैं और व्रणयुक्त हो जाते हैं, शनैः-शनैः सन्धि के सभी अंग, कार्टिलेज बन्धन, अस्थियाँ तथा श्लेष्मिक कलाएँ इससे प्रभावित होने लगती हैं। अस्थियों के सिरे मोटे तथा सन्धि शोथयुक्त दिखाई देने लगती हैं। तदनन्तर यह पूयमय हो कर फट जाती है। इस रोग में छोटी सन्धियाँ विशेष प्रभावित होती हैं। चिरकाल बाद वृक्क भी शोथयुक्त हो जाते हैं।

यदि हम ध्यान से उपर्युक्त दोनों प्रकार की संप्राप्तियों पर गौर करें तो विशेष अन्तर नहीं दिखेगा। प्रथम

---

[1] फिरंग, भृशोष्णवात आदि।

संप्राप्ति में सर्वप्रथम दूष्य है रक्त। रक्त के विदाही बनने का तात्पर्य है रक्त में उष्णता बढ़ना या पित्त की वृद्धि होना। यदि रक्त में पित्त या उष्णता अधिक बढ़े, तो रक्त द्वारा निस्सरित मूत्र भी पित्त प्रधान या अम्लत्व प्रधान होगा। इस प्रकार मूत्र में अम्लत्व का जो लक्षण आया वह रक्त के विदाहित्व के कारण ही प्रकट हुआ है, ऐसा मान लेने में कोई आपत्ति नहीं आनी चाहिए। अब, जब कि यह विदाही रक्त आगे बढ़ कर कुपित वायु के संसर्ग से उग्र गतिपूर्ण होता है तो इसीलिए इस रोग में स्थान-स्थान पर रक्त वर्ण के चर्म का आभास होता है। रक्त की इस गति में रक्त के सम्पूर्ण घटक इस परिभ्रमण में इसका साथ नहीं दे सकते और इसीलिए कुछ क्षारीय घटक रक्त से अलग हो कर मानव अंग-प्रत्यंग की जोड़ों में छोटी-छोटी रक्तवाहिनियों में जम जाते हैं। यह रोग का दृष्ट (प्रत्यक्ष उपलब्ध) कारण कहा जाता है। क्षार का कार्य अवयवों को व्रणित करने तथा गलाने का है ही।

रोग की अवस्थाएँ—इस रोग की दो अवस्थाएँ मानी गई हैं—(१) उग्र अवस्था (Acute stage) तथा (२) जीर्ण अवस्था (Chronic stage)–**उग्र अवस्था** एक सुप्रसिद्ध अंग्रेज डाक्टर थामस सिडिंघम, जो स्वयं इस रोग के शिकार थे, ने बताया कि सर्वप्रथम इस रोग का आक्रमण उन पर सन् १६८२ में हुआ। वे रात्रि में सम्पूर्ण स्वस्थ अवस्था में निद्रा की गोद में सोने गये, परन्तु अकस्मात् ही अर्धरात्रि बीतने के बाद उनके पादांगुष्ठ में तीव्र वेदना तथा जलन प्रारम्भ हुई तो वे जगे। यह वेदना उन्हें कभी-कभी (सदैव नहीं) जागृत अवस्था में भी संवेदित कर दिया करती थी, परन्तु इस बार यह असह्य प्रतीत हुई। पूर्ण बेचैनी तथा मानसिक अवसाद आदि के लक्षण अनुभूत हुए। जोड़ में जहाँ वेदना थी वहाँ का चर्म चमकदार, तना हुआ, रक्ताभ हो गया। तदनन्तर धीरे-धीरे वह चर्म श्याम रक्त हो कर वहाँ स्थानीय शोथ का अनुभव होने लगा। इस प्रहार के साथ ही डाक्टर महोदय को अल्प ज्वर तथा गतिमान हृदय का भी अनुभव हुआ। प्रसेक हो कर कुछ ज्वर वेग कम होता परन्तु फिर सर्दी का अनुभव होता। कुछ निद्रा आती, परन्तु फिर पीड़ा के कारण जग जाना पड़ता।

कालान्तर में पीड़ा शमन हो जाती है तथा कुछ शान्ति का अनुभव होने लगता है। अधिकतर यह पीड़ा दिन की अपेक्षा रात्रि में तथा वह भी रात्रि के उत्तर काल में दुखप्रद होती है। वेग से कुछ पहिले मूत्र में यूरिकाम्ल (Uric Acid) कम हो जाता है, परन्तु वेग के समय तथा वेग के बाद अधिक होता है। धीरे-धीरे रोग जीर्णावस्था को प्राप्त हो जाता है।

जीर्णावस्था—पूर्व वेग के बाद पुनः-पुनः आक्रमण होने लगते हैं। सन्धि सदा के लिए विकृत हो जाती है, अर्थात् बढ़ी हुई, शोथमय और अल्प पीड़ायुक्त रहती है। रोगी लंगड़ाता हुआ चलता है। कुछ काल बाद सन्धि फट जाती है, व्रण बन जाते हैं और उनमें से स्राव बहने लगता है। जब तक Sodium biurates की गाँठ निकल नहीं जाती तब तक पीड़ा और स्राव कायम रहते हैं। एक सन्धि के बाद दूसरी सन्धि आक्रान्त होती है, परन्तु सर्वप्रथम प्रायः अंगुष्ठ ही प्रभावित होता है, अनन्तर अन्य सन्धियाँ।

पूर्वरूप—वातरक्त होने के पूर्व कुछ ऐसे लक्षण भासित होते हैं जिन्हें जान कर हम यह ज्ञात कर सकें कि इस रोग का आक्रमण होनेवाला है। यद्यपि ये लक्षण सामान्यतया अन्य रोगों के पूर्व भी भासित हो सकते हैं, फिर भी इनको जान लेने से रोग निर्णय में कुछ सहायता ही मिलेगी, अतः यहाँ उन लक्षणों का उद्धरण देना अनावश्यक न होगा।

स्वेदाधिक्य या सर्वथा स्वेद का अभाव, अंगों का श्याम वर्ण होना, स्पर्श ज्ञान का क्षय, आघात से दारुण पीड़ा का अनुभव, सन्धियों की शिथिलता, आलस्य या गात्र गौरवता, अंगमर्द, पीडिकाओं का आभास, जानु, जंघा, उरु, अंस, हस्त, पाद, एवं अंगों की समस्त सन्धियों में यथावसर तोद, स्फुरण, भेद, गौरव, सुप्ति, कण्डू, आदि इस रोग के पूर्व लक्षण हैं। सन्धियों में बार-बार पीड़ा होना तथा मिटना, विवर्ण चर्म, तथा मण्डलों की उत्पत्ति भी रोग के पूर्वाभास हैं। उपर्युक्त लक्षणों में दूषित रक्त के लक्षणों का वर्णन है। सुश्रुत के मतानुसार दुष्ट लक्षण ये हैं—

'पित्तवद्रक्तेनाति कृष्णं च' (सूत्र० अ० १४)

रोग में दोष वृद्धि—आयुर्वेद सिद्धान्त के अनुसार यह रोग दोषानुबन्धित माना गया है। वाग्भट ने (३।१६) बताया है कि यदि वातरक्त—

(१) वातानुबन्धित हो तो उसमें शूल प्रस्फुरण और भंजन अधिक होता है। वातरक्त में शोथ का वर्ण रूक्ष, कृष्ण एवं श्याम होता है और विषम वेगानुसार ये घटते

तथा बढ़ते रहते हैं। उसमें धमनियों और अंगुलियों की सन्धियों में संकोच, अंगग्रह तथा पीड़ा अधिक होती है।

(२) रक्तानुबन्ध अवस्था में शोथ, अति पीड़ा, ताम्र वर्ण, तोद और सुसुप्ति (चमचमाहट) होती है। इस अवस्था में कण्डू और क्लेद होता है, जो स्निग्ध एवं रूक्ष पदार्थों से शान्त नहीं होता।

(३) पित्तानुबन्ध होने से विदाह, सम्मोह, स्वेद, मूर्च्छा, तृष्णा, स्पर्शाऽसहस्व (स्पर्श का सहन न होना) रुजा, लालिमा, शोथ, पाक, अत्यधिक ऊष्मा होती है।

(४) कफानुबन्ध होने पर स्तिमितता, गुरुता, सुप्ति, स्निग्धता, शैत्य, मन्द-मन्द कण्डू और पीड़ा, आदि लक्षण अनुभूत होते हैं।

इसी प्रकार वातरक्त रोग में द्विदोषानुबन्धित होने पर दो दोषों के संयुक्त लक्षण तथा त्रिदोषानुबन्धित होने पर तीन दोषों के पूर्ण लक्षण प्रकट रूप में भासित होते हैं।

सुश्रुत ने माना है कि वातरक्त पैरों के मूल में आ कर कभी-कभी हाथों के मूल में भी प्रसार पा जाता है। वहाँ यह मूषक विष की तरह कुपित हो कर तब सम्पूर्ण शरीर में फैल जाता है।

पादयोर्मूलमास्थाय कदाचिद्धस्तयोरपि।
आखोर्विषमिव क्रुद्धं तद्देहमुपसर्पति॥ (सु० २।१)

आयुर्वेद मत के अनुसार वातरक्त दो प्रकार का माना गया है, (१) उत्तान तथा (२) गम्भीर। उत्तान वातरक्त त्वचा और मांस के आश्रय पर होता है और गम्भीर अन्तराश्रित होता है। सुश्रुत ने इसका कुष्ठ की तरह उत्तान के बाद गम्भीर होना माना है।

उत्तानमथ गम्भीरं द्विविधम वात शोणितम्।
त्वङ् मासाश्रयं उत्तानं गम्भीर त्वंतराश्रयम्॥
(चरक चि० स्था० अ० २९)

अन्य वात रोग तथा वातरक्त—स्थूलतया वात रोगों में इसको शास्त्रकारों ने स्वीकार नहीं किया है। इसका कारण ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है, क्योंकि यह स्वतन्त्र रूप से वात कुपित रोग नहीं, न इसकी चिकित्सा अन्य वात रोगों से मिलती ही है। अतः इसे वात रोगों से अलग रोग माना है।

उरुस्तम्भ और वातरक्त—इसी प्रकार उरुस्तम्भ रोग से भी इस रोग की भिन्नता की जा सकती है। वातरक्त में वात तथा रक्त ही दोष तथा दूष्य है जब कि उरुस्तम्भ में श्लेष्मा तथा मेद के साथ वात पित्त दोष को अभिभव कर उरु में आ जाता है तथा स्थान विशेष को स्तम्भित कर देता है। यह सम्प्राप्ति स्पष्ट रूप से वातरक्त से भिन्न है, अतः सहज में ही इसमें भेद किया जा सकता है।

आमवात और वातरक्त—आमवात रोग तथा वातरक्त रोग के साम्य का भ्रम कई बार वैद्यों को भ्रमित कर देता है, परन्तु स्पष्टतया जैसा कि नाम से ही भासित होता है शरीरस्थ आम कफ के स्थान में प्रकुपित वायु द्वारा प्रेरित होकर आमाशय, उरु, सिर, कण्ठ और अन्य सन्धियों की ओर जाता है। वहाँ से शिराओं में पहुँच कर स्तम्भ पैदा कर देता है। यह कफवात प्रधान व्याधि है, जब कि वातरक्त वातपित्त प्रधान।

रोग का साध्यासाध्यत्व—वातरक्त रोगों की चिकित्सा करने के पूर्व साध्यासाध्यत्व की ओर ध्यान देना भी परमावश्यक है।

साध्य—(१) एक दोषज वातरक्त (अनुबन्धित) सुख साध्य है।

(२) निरुपद्रव वातरक्त साध्य है।

याप्य—(१) दो दोषवाला नवीन वातरक्त याप्य है।

(२) जिस वातरक्त में मोह के बिना शेष लक्षण सम्पूर्ण न हों, वह कष्ट साध्य है।

(३) जो वातरक्त एक वर्ष पुराना है वह कृच्छ्र साध्य है

असाध्य—(१) तीनों दोषों के अनुबन्धवाला वातरक्त असाध्य है।

(२) बहुत से उपद्रवों वाला वातरक्त असाध्य है।

(३) जानु पर्यन्त पहुँचा हुआ वातरक्त जिसमें त्वचा दलित तथा विदीर्ण हो गई हो और जो प्राणक्षय एवं मांसक्षय आदि उपद्रवों से युक्त हो, वह असाध्य है।

(४) निद्रानाश, अरुचि, श्वास, मांस कोथ, शिरोग्रह, मूर्च्छा, मद, रुजा, तृष्णा, ज्वर, मोह, कंपकंपी, हिक्का, पांगुल्य, विसर्प, पाक, तोद, भ्रम, क्लम, वक्रांगुलित्व, स्फोट, दाह, मर्मग्रह, और अर्बुद इन सम्पूर्ण उपद्रवों से युक्त या अकेला मोह से उपद्रवित वातरक्त चिकित्सा की दृष्टि से वर्ज्य है अर्थात् असाध्य है।

उपर्युक्त उपद्रवों तथा साध्यासाध्य, कृच्छ्रसाध्य, आदि लक्षणों को मनन करने के बाद ही चिकित्सक इस रोग की चिकित्सा में हाथ डालें।

रोग-चिकित्सा की सामान्य रीति—इस रोग की चिकित्सा करने के पूर्व हम यह निवेदन करना चाहेंगे कि चिकित्सक तथा रोगी को सर्वप्रथम यह ध्यान देना चाहिए कि किस वस्तु के अति सेवन से उसे यह रोग हुआ है। वह व्यक्ति आदतन किस चीज के खाने-पीने का शौकीन है। सर्वप्रथम उसे उस ओर से हटाना चाहिए—यह परमावश्यक है। तदन्तर उपयुक्त आहार विहार की व्यवस्था ही इस रोग का निराकरण कर सकती है। नियमित आहार-विहार तथा व्यायाम का साम्य योग मनुष्य पर इस रोग का आक्रमण नहीं होने देता। रोगी का भोजन सामान्यतया सुपाच्य तथा साधारण होना चाहिए। प्रोटीन तथा वसा का सेवन कम करे। मद्य का सेवन बिलकुल बन्द कर दे। 'निदानम् परिवर्जयेत्' सिद्धान्त के अनुसार इस लेख में रोग-निदान में कहे गये खाद्य तथा पेयों, आहार-विहार आदि की व्यवस्था को ध्यानपूर्वक मनन कर उसका उचित परिमार्जन कर रोग निवारण का प्रयत्न करे।

नव्य मत के एक प्रसिद्ध डाक्टर श्री ओसवाल्ड सेवेज (Oswald savage) द्वारा रचित पुस्तक How to live with your rheumatism (वातरक्त में किस प्रकार रहना) शीर्षक जो ब्रिटिश मेडीकल एसोसियेशन लन्दन द्वारा प्रकाशित हो चुकी है, का उद्धरण अपने उपर्युक्त कथन के पक्ष में हम यहाँ सकारण प्रस्तुत कर रहे हैं।

इस रोग की वेगावस्था में पाँव को ऊँचा और आराम से रखे। सोते हुए परों के नीचे तकिया लगा कर इस प्रकार सोवे कि ओढ़ने के कपड़े का आघात पैरों पर न पड़े। पीड़ित स्थान का स्वेदन करे। विरेचन के साथ चिकित्सा प्रारम्भ करनी चाहिए तभी औषधि अधिक लाभ कर सकती है। इस रोग में हृदय पौष्टिक, वातघ्न, कोष्ठबद्धता-नाशक तथा मूत्रल औषधियाँ देना हितकर है। एरण्ड स्नेह देना लाभकारी है। मूत्र की अम्लता दूर कर उसे क्षारीय बनाने का यत्न करे। चिकित्सा करते समय औषधियों के विष लक्षणों का भी ध्यान रखे। इस रोग में तैलीय वस्ति का उपयोग भी लाभदायक हो सकता है। चिकित्सा के समय अन्य औषधियों के साथ यथावसर शिलाजतु का प्रयोग करते रहना चाहिए।

उत्तान वातरक्त को प्रलेप, अभ्यंग, सेक, उपनाह poultice आदि द्वारा तथा गम्भीर वातरक्त को विरेचन, आस्थापन, स्नेहपान, आदि क्रियाओं द्वारा शान्त किया जा सकता है। दोषानुसार बाह्य तथा आभ्यन्तर वातरक्त में मृग-शृंग, सूची, अलाबु तथा जोंक के द्वारा दूषित रक्त का निर्हरण कराना उचित है।

साधारण वातरक्त में

(१) हरीतकी तथा गुड़ को चबाकर ऊपर से गुडूची स्वरस या क्वाथ पीना।

(२) अश्वत्थ त्वचा के क्वाथ को मधु के प्रक्षेप के साथ पीने से लाभ होता है।

(३) एरण्ड बीज तथा बकरी के दूध को साथ उबाल कर पीना लाभप्रद है।

(४) गिलोय स्वरस, चूर्ण, कल्क, क्वाथ, का नित्यप्रति सेवन करना रोग-नाशक है। विभिन्न अनुपानों के साथ यह दोषानुबन्धी वातरक्तों को मिटाता है।

(५) सुरंजान ३५ माशा, केशर १॥। माशा, सक-मूनिया उठनीमार्का ३॥ माशा, हरडे और बादाम, १०॥ माशा, गुलाब पुष्प २१ माशा, सनाय २४॥ माशा, शक्कर ८ तोला ९ माशा मिला कर चूर्ण बना कर ९ माशा मात्रा में योग्य अनुपान के साथ सेवन करे।

(६) गोरखमुण्डी १ तोला चूर्ण को गिलोय के क्वाथ में पीने से दुस्तर वातरक्त शान्त होता है।

(७) शतावर को घृत में सेवन करने से रोग शमन होता है।

(८) अश्वगन्धा तथा सौंफ ६-६ माशा योग्य अनुपान द्वारा सेवन करे।

(९) चोबचीनी १। तोला को गरम पानी में भिगो दें। जब वह नरम हो जाय तब प्रातः क्वाथ बना कर मिश्री मिला कर सेवन करे।

उत्तान वातरक्त में—

(१) लघु मंजिष्टादि क्वाथ (शार्ङ्गधर संहिता)

(२) वृहद मंजिष्टादि क्वाथ (शार्ङ्गधर संहिता)

(३) यवक्षार, कदली क्षार, शोरा कलमी को गोक्षुर पंचतृणमूल के क्वथित जल में प्रक्षेप देकर करीब ४ रत्ती शिलाजतु मिला कर पिलावें।

(४) पटोल-पत्र, कुटकी, शतावरी, त्रिफला, तथा गिलोय के सम्मिलित दो तोले क्वाथ को तैयार कर पीने से दाहयुक्त उत्तान वातरक्त शान्त हो जाता है।

(५) अमलतास, गिलोय, वासा के दो तोले क्वाथ को तैयार कर पीना। इस क्वाथ में किंचित् एरण्ड स्नेह का प्रक्षेप दें।

(६) एरण्डमूल, अडूसा, गिलोय, गोखरू, खरैंटी तथा तालमखाना समान भाग मिला कर २ तोले क्वाथ जानुपर्यन्त वातरक्त को दूर करता है।

गम्भीर वातरक्त में

(१) लांगुल्यादि लौहम् (रसेन्द्रसार संग्रह)

(२) दशमूल भावित दुग्ध तथा घृत का सेवन

(३) निम्बादि चूर्ण (भैषज्य रत्नावली) मात्रा ३ माशा अडूची क्वाथ के साथ १ मास तक सेवन करे।

(४) अमृताद्य घृतम् (अश्विनीकुमार निर्मित)

(५) शिलाजतु चूर्णम् ४ माशा गिलोय स्वरस के साथ सेवन करे।

(६) जवारिश केशर (प्रयोग अन्यत्र)

वातानुबन्धी वातरक्त

(१) वज्र गुग्गुलु (रसरत्न समुच्चय) यह योग भल्लातक मिश्रित होने के कारण अत्यन्त उग्र है, अतः इसका प्रयोग बड़ी सतर्कता के साथ करें।

(२) विश्वेश्वरो रसः (भैषज्य रत्नावली)

(३) शतावरी घृतम् (निघण्टु रत्नाकर)

(४) हरताल भस्म

(५) ताल सिन्दूर रस

(६) सिंहनाद गुग्गुलु (तीव्र विरेचक है, अतः इसका प्रयोग ज्ञानपूर्वक करें)।

पित्तानुबन्धी वातरक्त

(१) पित्तान्तक लौहम् (भैषज्य रत्नावली)

(२) रसाभ्र गुग्गुलु

(३) पुनर्नवाद्य गुग्गुलु

(४) गुडूची घृतम्

(५) गुडुच्यादि लोहम् (रसेन्द्रसार संग्रह)

(६) गन्धक रसायन (योगरत्नाकर)

(७) पंच निम्ब चूर्णम् (शार्ङ्गधर संहिता)

कफानुबन्धी वातरक्त

(१) द्वादशायसः

(२) कैशोर गुग्गुलु

(३) योगराज गुग्गुलु

(४) महायोगराज गुग्गुलु

(५) चविकासव

(६) वात शूलान्तक रस (रसेन्द्रसार संग्रह)

जीर्ण मूत्र विकृति सह

(१) ताप्यादि लोहम्

(२) चन्द्रप्रभा बटी (शिलाजतु-युक्त)

(३) सारिवाद्यासव

(४) माजून सुरंजान (योग अन्यत्र)

इसके सिवाय द्विदोषानुबन्धी वातरक्त की चिकित्सा उपर्युक्त लिखित दोष चिकित्सा के आधार पर वैद्य स्वयं करें। इस रोग में प्रलेप के लिए भी कुछ प्रयोग है तथा औषधि सिद्ध तैल का मालिश भी किया जा सकता है। जिसकी व्यवस्था वैद्य स्वयं दोषों की अंशांश कल्पना को ध्यान में रख कर करें। यदि यह रोग रक्त विकृति के कारण या संसर्गज व्याधियों (जैसे फिरंग, गनोरिया आदि) के कारण से हो, तो अर्क ऊसवा (योग अन्यत्र देखें) देवें। शल्य क्रिया के द्वारा यदि यह रोग आया हो, तो पूरक औषधियाँ प्रदान कर शक्ति का संचय करे। आज एलोपैथी में टिंचर कालचिकम की २० बूंद डाइफोरेटिक मिश्रण के साथ देने की व्यवस्था है। टिंचर कालचिकम सुरंजान (कटु) का मद्य मात्र है। अन्य कोई औषधि अभी तक सगर्व चिकित्सा जगत् के सामने नहीं पेश की जा सकी।

त्रिदोषज वातरक्त

(१) वातरक्तान्तक रस २ रत्ती (नीम के पत्ते के अनुपान से) (रसेन्द्रसार संग्रह)

(२) अमृताद्य घृतम्

(३) वृहद वातरक्तान्तक लोह (रसयोग सागर)

उपर्युक्त योगों में अधिकांश योग शास्त्रीय ही हैं, अतः उनका ग्रन्थ प्रसंग ऊपर उद्धरित किया जा चुका है। कुछ योग कल्पनिक भी हैं, अतः उनके योग यहाँ उद्धरित किये जा रहे हैं।

(१) **जवारिश केशर**—करफस के बीज, अजवायन, अकरकरा, साँभर नमक—प्रत्येक २१॥ माशा।

पीपल, सूठ, हरडे सकमूनिया, निसोत—प्रत्येक ४२ माशा, शक्कर ५२॥ माशा।

विधिवत लेह्य तैयार कर ले। मात्रा—आधा माशा। दोष निस्सारण के लिए अनुपम है।

(२) **माजून सुरंजान**——करफस के बीज, सौंफ, समुद्र-झाग, मुसब्बर, सफेद मिरच, सातर, सैंधव, मेंहदी के पत्ते——प्रत्येक ५-५ माशा।

बोनीदान, माहजहरज चित्रक किवर जड़ ७-७ माशा, गुलाब के पुष्प, धनिया, सूठ, सकमूनिया,——प्रत्येक १०।। माशा, सुरंजान मीठी २१ माशा, हरड २ तोला, निसोत ४।। तोला, बादाम रोगन ३। तोला, मधु ७।। सेर यथाविधि माजून का पाक करें। मात्रा——७ माशा।

अर्क ऊसबा

उन्नाव, पित्तपापड़ा, गिलोय, सरपुंखा, मेंहदी के पत्ते, शीसम का चूर्ण, गोरखमुण्डी, बिस्पायज——प्रत्येक ५-५ तोले

जव, हरडे तथा चिरायता कडुवा १०-१० तोला, सफेद चन्दन, लाल चन्दन, बड़ी इलायची, गावजुबाँ, राजहंस २-२ तोला।

सभी औषधियों को जवकुट कर १४ सेर पानी में भिगो कर २४ घण्टे बाद अर्क निकाल लें।

उपर्युक्त योगों के अलावा अन्य योग भी मिल सकते हैं, परन्तु योग प्राधान्य चिकित्सा की ओर कम ध्यान दे कर दोष प्रधान चिकित्सा का ध्यान रख कर कार्य करना सफलता देगा। महर्षि चरक ने अत्यन्त ही संक्षेप में इस रोग की दोष प्राधान्य चिकित्सा का सुन्दर वर्णन किया है, जो मनन योग्य है।

सामान्य चिकित्सा——स्नेहन आदि में कर स्नेहयुक्त या रूक्ष, मृदु विरेचनों से विरेचन कराना चाहिए तथा बार-बार बस्ति कर्म भी प्रशस्त है। सेक, अभ्यंग, लेप, अन्न तथा स्नेह प्रायः करके अविदाही वातरक्त में प्रशस्त होते हैं। (च० चि० ४० अ० २१)

विशेष चिकित्सा (१) बाह्य वातरक्त में आलेपन, अभ्यंग, परिषेक, उपनाह, आदि से (२) विरेचन आस्थापन, बस्ति, स्नेहपान द्वारा गम्भीर वातरक्त की चिकित्सा करें। (३) घृत, तैल, चर्बी, मज्जा का पीना मालिश करने तथा बस्तियों में प्रयोग करने से। सुखोष्ण उपनाहों से वात प्रधान वातरक्त को ठीक करें, (४) विरेचन, घृतपान, दुग्धपान, परिषेक तथा बस्तियों के साथ, तथा शीतल और दाहशामक उपचारों से रक्तपित्त प्रधान वातरक्त को जीते। (५) कफ प्रधान वातरक्त में हल्की वमन, बहुत अधिक न हो इतना स्नेहन तथा सेक, लंघन तथा सुखोष्ण लेप कफ प्रधान वातरक्त में प्रशस्त होते हैं। (६) कफवात प्रधान वातरक्त में शीतल लेपों के कारण स्तम्भन से दाह शोथयुक्त शूल तथा खुजली की वृद्धि होती है। रक्तपित्त प्रधान वात में उष्ण लेपों से दाह, क्लेद, फटने की-सी पीड़ा, होती है, अतः वैद्य दोष बल जान कर चिकित्सा करें।

(चरक चि० ४१, से ४७ तक अ० २१)

कुपथ्य

दिन में सोना, रात्रि में जागरण, अत्यधिक गर्मी, व्यायाम तथा मैथुन, गरम तथा कड़वे खाद्य, गुरु और अभिष्यन्दी नमकीन तथा खट्टे पदार्थों को कुपथ्य मान कर छोड़ दें।

अन्त में वातरक्त की चिकित्सा में दिये गये मुख्य-मुख्य प्रयोगों को यहाँ उद्धरित कर लेख समाप्त करेंगे।

(१) **रक्तमोक्षण**——रक्त को शिरा द्वारा निकालना तथा Auto Homotherapy द्वारा रक्त का क्षेपण करना।

(२) **बस्तिकर्म**——स्नेह तथा दुग्ध या औषधि क्वाथों की बस्ति लगाना। नहि बस्तीसमं किंचिद्वालपरक्त-चिकित्सितम्।

(३) उपनाह——विभिन्न प्रकार के तैलों का प्रयोग।

(४) परिषेक——स्वेदन करना या केवल परिषेक करना

(५) विरेचन——इसका स्पष्ट विवरण ऊपर दिया जा चुका है।

(६) आस्थापन——स्पष्ट किया जा चुका है।

(७) नमक विहीन भोजन का प्राधान्य

(८) गुरु तथा अभिष्यन्दी पदार्थों का त्याग।

(९) दुग्ध प्रयोग का प्राचुर्य।

संदर्भ ग्रन्थ

(१) चरक संहिता,
(२) सुश्रुत संहिता
(३) अष्टांग हृदय (वाग्भट्ट)
(४) निदान चिकित्सा हस्तामलक (रणजितराय देसाई
(५) व्याधि विज्ञान (डा० आशानन्द)
(६) चिकित्सा तत्व प्रदीप (कालेडा)
(७) तिब्बे अकब्बर
(८) इलाजुल गुर्बा
(९) मीजाने तिब्ब
(१२) अन्य प्रयोग ग्रन्थ

वासा-पर्पटी

कविराज प्राणनाथ शर्मा, आयुर्वेदरत्न

आज से लगभग १७ वर्ष पूर्व सेवायोगी आश्रम, राड़ा, जि० अम्बाला (पंजाब) के परम पूज्य श्री मनोहर योगीजी के शुभ सम्पर्क से यह साधुप्रदत्त योग मुझे प्राप्त हुआ। तभी से मैं इस योग को बना कर श्वास के रोगियों में मुफ्त वितरित करता रहा हूँ। यह कौड़ियों में तैयार होने वाला योग लाभ की दृष्टि से अत्यन्त चमत्कारिक सिद्ध हुआ है। अनेक रोगी इससे लाभ उठा चके हैं और उठा रहे हैं।

श्री मूलचन्द खैरायती राम ट्रस्ट आयुर्वेदिक औषधालय व अन्वेषणालय, लाजपत नगर, नई दिल्ली के डायरेक्टर आदरणीय वैद्यरत्न कविराज प्रताप सिंहजी के आदेशानुसार मैंने यह योग उक्त अस्पताल की रसायनशाला में तैयार किया। इसी काल में हमारे औषधालय में पूज्यपाद श्री स्वामी कृष्णानन्दजी का शुभ आगमन हुआ और कविराज प्रताप सिंहजी ने उनसे इस योग का जिक्र किया तो श्री स्वामीजी ने इस योग की सराहना करते हुए इसका नाम वासा-पर्पटी रखने की सम्मति दी।

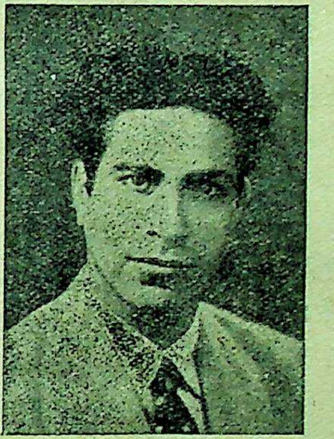

लेखक

उक्त औषधालय के अन्तरंग विभाग में ६० रोगीशय्या हैं। अतः वासा-पर्पटी के निर्माण होने के पश्चात् अस्पताल में आने वाले श्वास रोगियों में से जिन को अन्तरंग विभाग (Indoor patient Dept.) में प्रविष्ट किया गया उन पर वासा-पर्पटी के परिणामों का संक्षिप्त विवरण वैद्य बन्धुओं की जानकारी के लिए नीचे दे रहा हूँ।

(१) रोग-विवरण

रोगी संख्या ८२०, शय्या संख्या ६०

रोगी नाम : मदनलाल पुत्र रूपलाल

आयु : २४ वर्ष (विवाहित)

व्यवसाय : अभाव

निवास स्थान : १४ सैन्ट्रल मार्केट, लाजपत नगर, नई दिल्ली।

प्रवेश तिथि : १४-१०-५९

रोग-निर्णय : तमक श्वास

रोग-समय : ६ वर्ष

चिकित्सा :—

लक्ष्मीविलास १ रत्ती
वासा-क्षार ४ रत्ती
टंकण भस्म १ रत्ती
३ मात्रा, अनुपान क्षीर।
लवंगादि वटी ३ चूसनार्थ
श्वास कास चिन्तामणि १ रत्ती
३ मात्रा।
दशमूलारिष्ट ३ माशा,
जल ६ माशा

उक्तोपचार से लाभ न होने पर :
वासा-पर्पटी १ रत्ती
१ मात्रा प्रातः प्रतिदिन, अनुपान तक्र द्वारा, चिकित्सा की गई।

पथ्य—दही, क्षीर, भोजन

निर्गम तिथि : २६-१०-५९

परिणाम : स्वस्थी भूय गतः

(२) रोग-विवरण

रोगी संख्या—८३८, शय्या संख्या—५६

रोगी नाम—कृष्णलाल, पुत्र चून्नीलाल

आयु : २० वर्ष

व्यवसाय : व्यापार

निवास स्थान : १३ए.।१६ ब्रह्मपुरी, करोलबाग, नई दिल्ली।

रोगीप्रवेश-तिथि १९-१०-५६

रोग-निर्णय : श्वास

रोग-समय : एक वर्ष

चिकित्सा

वासा-पर्पटी १ रत्ती

१ मात्रा प्रातः, अनुपान तक्र,

पथ्य : तक्र, क्षीर, भोजन

रोगी-निर्गमतिथि : ४-११-५९

परिणाम : स्वस्थी भूय गतः

(३) रोग-विवरण

रोगी संख्या ८९०, शय्या संख्या ५९

रोगी नाम : जीतसिंह, पुत्र जवाहरसिंह

निवास स्थान : ब्लॉक ४१, फ्लैट २१२ सिंहसभारोड, सब्जी मण्डी, दिल्ली।

रोगी प्रवेश तिथि : ४–११–५९

रोग निर्णय : तमक श्वास

चिकित्सा : प्रथम अन्योपचार करने पर लाभ न होने से अन्त में वासा-पर्पटी की व्यवस्था की गई।

निर्गम तिथि : ५–१२–५९

परिणाम : स्वस्थीभूयगतः

(४) रोग-विवरण

रोगी संख्या : ९१४, शय्या संख्या ५३, रोगी का नाम : चमनलाल, पुत्र गुरुदित्तामल, आयु : ४० वर्ष।

निवास स्थान : प्रेमनगर, लोधी रोड, ४, नई दिल्ली। रोगी प्रवेश तिथि : ११–११–५९

रोग निर्णय : तमक श्वास ...

चिकित्सा : समीर पन्नग १ रत्ती, सूतशेखर १ रत्ती, प्रवाल पंचामृत ४ रत्ती, ३ मात्रा, अनुपान क्षीर।

एलादि बटी ६ चूसनार्थ, विरेचन बटी १।

उक्तोपचार से लाभ न होने पर अन्त में : वासापर्पटी की व्यवस्था की गई।

निर्गम तिथि : २५–११–५९

परिणाम : स्वस्थीभूयगतः

(५) रोग-विवरण

रोगी संख्या ९२५, शय्या संख्या ५०,

रोगी का नाम : ख्यालीराम, पुत्र नत्थूराम

आयु : ३५ वर्ष :

निवास स्थान : जुमु[illegible], नई दिल्ली।

प्रवेश तिथि : १५–११–५९

रोग निर्णय : तमक श्वास ..

रोग का समय : १ वर्ष।

चिकित्सा : प्रवाल पंचामृत ४ रत्ती, समीर पन्नग १ रत्ती लक्ष्मीविलास १ रत्ती, स्फटिका २ रत्ती, लवंगादि चूर्ण ४ रत्ती—३ मात्रा

उक्तोपचार से लाभ न होने पर अन्त में : वासा-पर्पटी की व्यवस्था की गई।

परिणाम : स्वस्थीभूयगतः

रोगी निर्गम तिथि : २८–११–५९।

इसी प्रकार अनेक श्वास-रोगियों पर वासा-पर्पटी ने आश्चर्य चकित कर देनेवाला प्रभाव दिखाया। अब मैं वैद्य-बन्धुओं की सेवा में दुःखी श्वास रोगियों के लाभार्थ वासा-पर्पटी का योग और निर्माण-विधि नीचे लिख रहा हूँ और वैद्य-बन्धुओं से मेरा सविनय निवेदन है कि वे इस औषध का निर्माण कर कम-से-कम इसका आधा भाग रोगियों को मुफ्त प्रदान करें और निर्धन रोगियों से इस औषध का कभी मूल्य प्राप्त न करें।

वासा-पर्पटी-निर्माण-विधि

वासा का विशेष परिचय देना मैं यहाँ अभीष्ट नहीं समझता, क्योंकि समस्त वैद्य-समाज वासा वनस्पति के वासा, वासक, अडूसा और बहकड़ आदि नामों और गुणों से भली प्रकार परिचित हैं। अतः इस प्रसिद्ध श्वेत पुष्पवाली वनस्पति वासा का पंचाङ्ग प्राप्त कर उसे काट कर छोटे-छोटे टुकड़े कर लेवें और किसी कड़ाही आदि लौह-पात्र में डाल देवें। अब इसी में जल भी इतना डालें कि वासा से चार अंगुल ऊपर तक रहे। अथवा वासापंचाङ्ग से द्विगुण जल डाल देवें, देश एवं ऋतु के अनुसार जल की मात्रा घटाई-बढ़ाई जा सकती है। इस वासा वाले लौह-पात्र को अब किसी ऐसे स्थान पर २१ दिन तक खुला रख दें कि जहाँ दिन में सूर्य की धूप और रात में ओस पड़ती रहे। मध्यकाल में कभी-कभी वासा को किसी लकड़ी से हिला दिया करें। २१ दिन के बाद इस पात्र को ज्यों-का-त्यों ही चूल्हे पर रख कर इस के नीचे वासा की लकड़ियों या बेर की लकड़ियों अथवा कीकर (बबूल) की लकड़ियों की एक घण्टे तक मन्द आँच और बाद में मध्य आँच जलावें। यहाँ तक कि पात्र का समस्त जल सूख जावे, किन्तु इस काल में पात्र में पड़े वासा को हिलावें नहीं। पात्र का सब जल सूख जाने पर पात्र को चूल्हे से नीचे उतार कर साफ फर्श

लकड़ी आदि के किसी तख्ते पर उलट देवें। पात्र का सब वासा फर्श पर आ जावेगा और पात्र की पेंदी काले रंग की पपड़ी लगी हुई मिलेगी। उस पपड़ी को खुरपे आदि से खुर्च कर खरल में खूब बारीक कर लेवें। बस यही **वासा-पर्पटी** है। इसे शीशी में सुरक्षित रखिए। आवश्यकतानुसार इसकी मात्रा आधी रत्ती से १ रत्ती तक मक्खन (नवनीत) या दही की मलाई में रख कर रोगी को प्रातः (खाली पेट) सेवन करावें और औषध के तुरन्त बाद तक्र (फीका) का सेवन करावें। पथ्य में तक्र का सेवन अधिक रखना चाहिए। अपथ्य स्वरूप : खट्टे और तैलादि में तले हुए पदार्थ न देवें।

टिप्पणी : वासा कफ-निःसारक, आक्षेप-निवारक व रसायन है और रक्त के रक्तकण बनाता है। यह क्षय, कास, जीर्ण कास-श्वास एवं अन्यान्य उरोगत श्लैष्मिक रोगों में सेव्य है। तिक्त होने से भूख को बढ़ानेवाला है। लौह भी रक्त एवं शक्तिवर्धक है। इस योग में वासा के साथ २१ दिन लौह पात्र का सम्पर्क रहने से इसमें लौह के भी सूक्ष्म अंश आ जाते हैं। अतः वासा और लौह का यह उत्तम योग है।

वासा-पर्पटी में वासा, कफ-निःसारक होने से श्वास-नलिका एवं फुफ्फुसों में से कफ को निकालता है जिससे श्वासवाही स्रोतों में श्वास का आदान-प्रदान सुगम हो जाता है। इसी प्रकार लौह कषाय होने से उन स्रोतों को सिकोड़ कर संकुचित कर देता है, जो निरन्तर कफ निकालने (स्राव) में अभ्यस्त हो चुके होते हैं। इस प्रकार वासा-पर्पटी के प्रयोग से वह एकत्रित हुआ श्वासवाही स्रोतों को अवरुद्ध कर श्वास-कष्ट उत्पन्न करनेवाला कफ निकलने लगता है और लौह के कारण उसका स्राव रुक कर रोगी को लाभ होता है। इसके अतिरिक्त वासा तिक्त होने से लौह का शरीर में सात्मीकरण करता है जिससे रोगी में रोग-निवृत्ति के साथ-साथ उसकी शक्ति भी बढ़ती है। नवीन रक्त उत्पन्न होता है, भूख बढ़ती है पाचन ठीक प्रकार से होता है। इसके साथ तक्र का सेवन सोने में सुगन्ध का कार्य करता है। यह त्रिदोष-नाशक है। तक्र से नष्ट हुआ रोग पुनः उत्पन्न नहीं होता।

वासा-पर्पटी के उक्त २१ दिवसीय निर्माण काल में दिन में सूर्य की किरणों व रात्रि में चन्द्रमा की रश्मियों एवं ओस के पड़ने रहने से इसमें अनेक प्रकार के रासायनिक परिवर्तन होते हैं और वासा एवं लौह के सूक्ष्म तत्व इसमें प्राप्त होते हैं जिससे यह औषध सूक्ष्म स्रोतोंगामी एवं आशु-फलदायक सिद्ध होती है। इस प्रकार वासा-पर्पटी जहाँ रोग में लाभ पहुँचाती है वहाँ रोगी को बल एवं शक्ति भी प्रदान करती है। वैद्य-बन्धु बनाएँ और लाभ उठाएँ।

४६७५, शोरा कोठी, पहाड़गंज,
नई दिल्ली।

बैद्यनाथ बंग भस्म

असंयम से पैदा हानेवाले रोगों तथा दुर्बलता को दूर कर शरीर को ताकत देती है। विशेष जानकारी के लिए वैद्य से सलाह लें।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि॰
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

ग्रहणीरोग-विमर्श

वैद्य यशवन्त रा० पण्डित

(पूर्वतोऽनुवृत्तः)

सचित्र आयुर्वेद के गतांकों में ग्रहणी रोग के विषय में आयुर्वेदीय आचार्यों का मत प्रतिपादन किया गया है। अब उन शास्त्रीय प्रतिपादित मतों में जहाँ-जहाँ मुझे सन्देह है उन्हें प्रश्न रूप में उपस्थित किया जा रहा है। साथ ही मेरे प्रश्नों के उत्तर जो विशिष्ट आयुर्वेदज्ञों द्वारा दिए गये हैं वे भी प्रकाशित किये जा रहे हैं।

विचारणीय प्रश्न

(१) आयुर्वेदीय सम्प्राप्ति के अनुसार वातादि दोष-भेदजन्य चारों प्रकार के ग्रहणी रोग में, षष्ठीपित्तधरा-कला का कार्य दूषित होने के कारण आम-पक्व, मुहुर्बद्ध-मुहुर्द्रव मल की प्रवृत्ति अकस्मात् अर्थात् बिना किसी सन्निकृष्ट कारण के दीर्घकाल तक होती है, ऐसा आयुर्वेदीय दृष्टिकोण है। परन्तु लघ्वन्त्र तथा वृहदन्त्र की किसी व्याधि में जैसे—अन्त्र-क्षय, कृमि, पित्त प्रधान पाण्डु, मृत्तिकाभक्षणजन्य पाण्डु, असाध्य गुल्म आदि रोगों में ग्रहणी-विकार के समान मल प्रवृत्ति होते नहीं देखा जाता है। इन सब विकारों में प्रत्यक्षतया ग्रहणी में और उसके मूलभूत धातु (Structural) में क्या अन्तर हुआ तथा उसकी कैसी स्थिति है—इत्यादि बातों का विचार आयुर्वेद में प्रत्यक्ष रूप से नहीं है। ऐसी स्थिति में क्या एक्स-रे जैसा आधुनिक वैज्ञानिक साधनों का उपयोग किया जा सकता है?

(२) "अन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता" इस वचनानुसार अन्न का ग्रहण-पाचन-शोषण करनेवाले अवयव को ग्रहणी कहते हैं—ऐसे व्यापक अर्थ में उसका स्थान केवल पक्वाशय और आमाशय के मध्य में आया हुआ क्षुद्रान्त्र के गुरु भाग को नहीं मान कर अन्न का विपाक-शोषण-पाचन और सार-किट्ट-विभजन करनेवाला लघ्वन्त्र तथा जलांश शोषण करनेवाला वृहदन्त्र भी समझा जाय और लघ्वन्त्र को लघुग्रहणी तथा वृहदन्त्र को स्थूल ग्रहणी के नाम से सम्बोधित किया जाय, तो क्या आपत्ति होगी? क्योंकि अन्न का ग्रहण अर्थात् पाचन-शोषण मुख्यतः लघ्वन्त्र में तथा गौण रूप से वृहदन्त्र में होता दीखता ही है। पाचन-शोषण-कार्य की न्यूनाधिकता और मुहुर्द्रवता स्पष्टतया परिलक्षित होती है। इस तरह विचार करने पर लघ्वन्त्र तथा वृहदन्त्र को तान्त्रीकता के अनुक्रम से लघुग्रहणी और स्थूल ग्रहणी नाम अन्वर्थक माना जाय या नहीं?

(३) ग्रहणी तथा अतिसार ये दोनों अग्निमांद्यजन्य रोग और आमविकारज हैं। इन दोनों के कारण और सम्प्राप्ति एक ही माने जायें। व्यवच्छेदक लक्षणों से प्रतिपादित भेद—"द्रवधातु प्रवृत्तिः अतीसारे ग्रहण्यान्तु बद्धस्याविमलस्य प्रवृत्तिः" यह केवल स्थूल भेद है। मूलतः तो इन दोनों में अग्निसाद और ग्रहणी अर्थात् पित्तधरा-कला का दौर्बल्य-मार्दव क्रिया का वैगुण्य न्यूनाधिक परिमाण में अभिप्रेत है। इन दोनों की चिकित्सा का क्रम भी एक ही प्रणाली के अनुसार कहा गया है। उनका परस्पर सम्बन्ध भी देखा जाता है। अतः यदि भविष्य में इन दोनों रोगों का उल्लेख "ग्रहणीविकार" शीर्षक से किया जाय, तो क्या आपत्ति है?

(४) भुक्त आहार-द्रव्यों के कुछ अंशों का पचन मुखगत लाला-रस (बोधक कफ) द्वारा तथा कुछ अंशों का पचन आमाशय में उत्पन्न क्लेदक कफ के स्राव से होता है। अन्न-पचन-कार्य में यदि इन स्रावों का सहयोग उचित परिमाण में न हो तो अग्नि का अन्न-पचन-कार्य सुचारु रूप से नहीं चल सकता है। अब यदि ग्रहणी के कार्य अविकृत रूप में हों और ग्रहणी में मृदुता भी न आई हो, किन्तु बोधक कफ और क्लेदक कफ के कार्य न्यूनाधिक होने से ग्रहणी विकार जैसी मल-प्रवृत्ति होने लगे तो इस अवस्था को ग्रहणी विकार न कह कर कफज अग्निमान्द्य कहना उचित होगा। क्योंकि यह कफ भी पचन कार्य में अग्नि को (पित्तधरा-कला को) सहायता करता है। इसी तरह ग्रहणी ठीक होने पर भी समान वायु का कार्य बराबर न हो सके तो वातज अग्निमान्द्य कहना चाहिए। अर्थात् ग्रहणी अविकृत रहने पर भी अग्निमान्द्य होना समझना है। अन्न-पचन-कार्य में सिर्फ ग्रहणी

को ही महत्त्व नहीं देना चाहिए। इस सम्बन्ध में आपका क्या मन्तव्य है?

(५) चरक ने सम-अग्नि को छोड़ कर शेष तीनों प्रकार की अग्नि को ग्रहणी रोग के अन्तर्गतकर लेने को लिखा है। परन्तु पचन-कार्य में बोधक-क्लेदक कफ और समान वायु कई प्रकार से सहायता करते हैं। यदि इन दोषों के कार्य बराबर न हों और ग्रहणी ठीक भी रहे तो अग्निमान्द्य जैसे रोग होने की सम्भावना रहती है। ऐसी स्थिति में ग्रहणी को ही विकृत मान लेना असंगत बात है। हाँ, ग्रहणी-दूषित करनेवाला कारण मान सकते हैं। क्योंकि "यश्चाग्निःपूर्वमुद्दिष्टो रोगानिके चतुर्विधः। तं चापि ग्रहणी दोषं समवर्जं प्रचक्ष्महे।।" इस श्लोक में "तं चापि ग्रहणी हेतुं समवर्जं प्रचक्ष्महे" ऐसा पाठ होना चाहिए। इसमें आपका क्या अभिप्राय है?

मेरे उक्त प्रश्नों के उत्तर में जो लेख प्राप्त हुए हैं उन्हें भी प्रकाशित किया जा रहा है।

वैद्य श्री रमाकान्त अमृतराम का उत्तर

(१) मेरे प्रथम प्रश्न के उत्तर में आप लिखते हैं—"कोष्ठस्थ पक्वाशय और आमाशय के मध्य में तथा धात्वाशयान्तर-मर्यादा के रूप में स्थित अन्तस्त्वचा के भाग को "ग्रहणी" कहते हैं। यह पाचक पित्त का स्थान है। अतएव, "अग्न्यधिष्ठानम्" और "ग्रहण्याबलमग्निर्हि स चापि ग्रहणीं श्रितः" ऐसा वचन लिखा गया है। यह ग्रहणी अर्थात् पित्तधरा-कला अविकृत होने पर—"अन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणी मता" तथा—"धारयत्यन्नं पक्वं सृजति पार्श्वतः" कार्य करती है। परन्तु जब आहार-दोष से अग्निमान्द्य होने के कारण षष्ठीपित्तधराकला दूषित होने पर अन्न का पचन ठीक से नहीं कर पाती है तब आमाशयस्थ अपक्व अन्न का धारण-सम्यक् पचन न होने के कारण अपक्व अन्न को ही निकालने लगती है—"दुर्बलाग्निवला दुष्टा त्वाममेव विमुञ्चति"। इससे सिद्ध होता है कि ग्रहणी-कला की विकृति जन्य (ग्रहणी-कला के आश्रय से) जो रोग होता है उसे **ग्रहणीरोग** कहते हैं। यह साधारण व्याख्या है।

प्रश्नकर्ता ने लिखा है—"कृमि, पित्तज पाण्डु, असाध्य गुल्म आदि रोगों में ग्रहणी रोग जैसी मल-प्रवृत्ति होती है।" इस सम्बन्ध में निवेदन है कि "उन व्याधियों के लक्षणों में—"भक्तद्वेषोऽतिसारश्च; भिन्नविट्कोऽतिपीताभः, क्रिमिकोष्ठेऽतिसार्यते" इसी तरह "वम्य[illegible]" आदि वचनों का उल्लेख है। इन वचनों में अधिकतर अतिसार जैसे मल की अब्धातु-प्रवृत्ति ही देखने में आती है और यह अनुभव की भी बात है। ग्रहणी और अतिसार में मल-प्रवृत्ति का स्वरूप-भेद मात्र है। आयुर्वेद में इन दोनों के भेद भी बताए गए हैं। यथा—**अतिसार में**—"सामंशकृत् ×× सरणात्" तथा **ग्रहणी में**—"सामं" ×× पुनः-पुनः।" इस तरह मलोत्सर्ग में स्पष्ट भेद प्रतीत होते हैं। अतः उपर्युक्त रोगों में हुए मलोत्सर्ग को ग्रहणी रोग के समान मानना उचित नहीं।

अब प्रत्यक्ष साधन का विचार करें। प्रश्नकर्ता ने लिखा है कि "आयुर्वेद में ऐसा कोई प्रत्यक्ष साधन नहीं है जिसके द्वारा तत्तद्विकार में परिवर्तित लक्षणों की प्रत्यक्षतया जानकारी हो सके इत्यादि।" आयुर्वेद में रोग-लक्षणों द्वारा ही दोष-दूष्य का विचार किया जाता है। अष्टविध रोग-परीक्षा में मल-परीक्षा का भी उल्लेख है ही और यह प्रणाली आज तक निर्बाध रूप से चल रही है। आधुनिकों द्वारा प्रचारित जो रोग-परीक्षण के साधन—एक्स-रे आदि हैं वे तो बहुत कम दिनों के हैं। और अतिसार-ग्रहणी आदि रोग अत्यन्त पुरातन हैं तथा ये रोग आयुर्वेदीय चिकित्सा से आज तक अच्छे हो रहे हैं और होते रहेंगे। अतः यदि आयुर्वेद चिकित्सक एक्स-रे आदि साधनों का उपयोग न भी करें तो उनका कार्य रुक नहीं सकता। हाँ, जिस उपयोगी चीज का आविष्कार हुआ है, आवश्यकता पड़ने पर उसे भी काम में लिया जा सकता है। एक्स-रे द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान यथार्थ और सत्य ही होता है—ऐसा नहीं मानना चाहिए, क्योंकि कई बार इससे भ्रम भी हो जाता है। फिर भी यह आयुर्वेदीय चिकित्सकों के ऊपर निर्भर है कि वे इसका व्यवहार करें या न करें।

(२) "अन्नस्य ग्रहणात् ग्रहणीमता" इस वचन के अर्थ को व्यापक बना कर लघ्वन्त्र को लघुग्रहणी तथा बृहदन्त्र को स्थूलग्रहणी नाम रखा जाय ऐसाप्रश्नकर्ता का अभिप्राय है और इसके लिए उपपत्ति भी बताई है।" ऐसे नामकरण से क्या विशेष लाभ होता है यह विचारणीय है। ग्रहणी शब्द "ग्रह उपादाने" धातु से बना है। उपादान का अर्थ "उप-समीपे आदानं-ग्रहणं नाम धारणं" अर्थात् ग्रहण-धारण करना है। शोषण करना यह स[illegible] कदापि सम्भव नहीं है। महास्रोतस् में अन्न-पचन में मुख्य अंग—"मुखमामाशयः [illegible] च ग्रहणीकला। पक्वाशयाख्यं ×× प्रकुर्वते।"

ये अवयव प्रतिदिन अन्न-पचन-कार्य करते रहते हैं। यदि प्रश्नकर्त्ता के आशयानुसार अर्थ की व्यापकता को स्वीकार किया जाय, तो पचन-क्रिया में वैगुण्य न आ कर पाचक अवयवों की संख्या कितनी कम हो जाती है, यह विचारणीय है। मुख, विवर तथा आमाशय को तो स्वीकार करना ही पड़ेगा। केवल क्षुद्रान्त्र और वृहदन्त्र के नाम में ग्रहणी शब्द का संयोग करके लघुग्रहणी और स्थूलग्रहणी शब्द का परिवर्तन करना मात्र शेष रह जाता है। ऐसा नामकरण रखने का कारण भी बतलाया गया है कि "अन्न का पाचन तथा शोषण मुख्यतः क्षुद्रान्त्र में और गौणतः वृहदन्त्र में होता है।" इसके अतिरिक्त और कोई विशेष लाभ नहीं कहा गया है। अतः शास्त्र में जहाँ-जहाँ पक्वाशय शब्द का निर्देश किया गया है, तत्तत् स्थानों में स्थूलग्रहणी मानना पड़ेगा, यथा—"पक्वाशयस्थे ××× संदीपनैः" इत्यादि स्थानों में स्थूलग्रहणी शब्द से भ्रम ही उत्पन्न होगा। मलोत्सर्ग में बद्धता-द्रवता और आमपक्वता की क्रिया तो कोई भी संज्ञा रखने पर भी होनेवाली है। इन सब बातों पर विचार करने से ज्ञात होता है कि इस प्रकार नाम-परिवर्तन करने से लाभ से अधिक हानि ही होगी, जो लौकिक व्यवहार दृष्ट्या इष्ट नहीं है और इसीलिए आयुर्वेद के प्रामाणिक ग्रन्थकारों ने भी ऐसा करना अच्छा नहीं समझा। इन सब बातों को दृष्टिगत रख कर यही मानना पड़ता है कि शास्त्र में जैसा वर्णन है वही ठीक है।

(३) तीसरे प्रश्न में "अतिसार और ग्रहणी का निदान-सम्प्राप्ति तथा चिकित्सा क्रम का साम्य तथा पारस्परिक सम्बन्ध दर्शा कर अग्निसाद यह मुख्यहेतु है और इसीलिए उसमें अवस्था भेद मान कर "ग्रहणी विकार" के अन्तर्गत ही लेने का प्रश्नकर्ता का अभिप्राय है।

अतिसार और ग्रहणी अग्निमान्द्यजन्य और आमप्राय विकार ठीक ही है। किन्तु इसे विशिष्ट ग्रहणी रोग नहीं कहा जा सकता, क्योंकि "रोगाः ××× ऽग्नौ"—ऐसा उल्लेख है, अतः उक्त दोनों रोगों का एक ही शीर्षक (ग्रहणी विकार) के नीचे उल्लेख करना आयुर्वेदीय ग्रन्थकर्ताओं के प्रति अन्याय करना होगा। आचार्यों ने सूत्ररूप से [illegible] किया है कि—दोनों का चिकित्साक्रम एक ही है। परन्तु निदान, सम्प्राप्ति, रोग-लक्षण आदि पृथक्-पृथक् लिखे हैं। [illegible] में लिखा है कि "अतिसारे... [illegible]।" और अतिसार न होने पर भी ग्रहणी रोग स्वतन्त्र रूप से उत्पन्न होता है। "अतिसारेषु......सेवितैः। इसी प्रकार "सदुष्टा......वहुशः" ग्रहणी का स्वतन्त्र कारण भी बताया है। अतिसार की सम्प्राप्ति में "अथावरं ......प्रकल्पते" अर्थात् अतिसार में मूत्र और स्वेद पक्वाशय में मल को अपने द्रवत्व से द्रव करके बाहर निकालता है जिससे "यन्मूत्रोऽति......प्रवृत्तत्वात्" ××× समकालमिति—इस प्रकार अतिसार और ग्रहणी की मल-प्रवृत्ति होने से सम्प्राप्ति-भेद स्पष्ट है तथा अतिसार को ग्रहणी का अवस्था-भेद न मान कर पृथक् ही समझा गया है। इसे चक्रपाणि ने लिखा है—"तस्य ××× अनन्यत्वमुक्तम्।" "ग्रहणी-विकार" शीर्षक के नीचे अतिसार का भी उल्लेख करने से इसके निदान-सम्प्राप्ति, लक्षण आदि तो पृथक् रहेंगे ही, अतः इन दोनों का पृथक्-पृथक् ही वर्णन रहना चाहिए।

(४) "अन्न-पाचन का कार्य बोधक तथा क्लेदक कफ से होता है। यदि इन दोनों का अन्न-पचन में नियमित साहाय्य न हो, तो ग्रहणी-विकार जैसी मल-प्रवृत्ति होने की सम्भावना रहती है। अतः अन्न-पाचन क्रिया में केवल ग्रहणी को ही महत्त्व नहीं देना चाहिए" ऐसा प्रश्नकर्ता का अभिप्राय है।

आहार-पाचन में कौन पदार्थ क्या काम करते हैं इस पर विचार करें। चरक ने लिखा है—"आहार परिणामकारित्वे ×××× समयोमश्चेति"। उसके कार्य—"तत्र ×××× मापादयति। इन वचनों के अनुसार वायु और क्लेदक कफ अन्न-पचन कार्य में सहायक मात्र ही होते हैं साक्षात् रूप से अन्न-पचन कार्य तो अग्नि से ही होता हैं। चक्रपाणिदत्त ने कहा है—"अन्न ×××× यान्ति। गणनाथ सेन ने भी लालास्राव के कार्य-प्रसंग में लिखा है—"तेभ्यः प्रवृत्तादि ×××× भवति।" अर्थात् चतुर्विध आहार का क्लेदन करना यही उसका प्रधान कार्य है। पाचन क्रिया तो अग्नितत्त्व का ही कार्य है। अष्टांगहृदयकार लिखते हैं—"अन्न ××× मार्दवम्।" सन्धुक्षितः ××× तण्डुलम्" अर्थात् जठराग्नि ही अन्न का पचन करता है, दूसरे पदार्थ तो अन्न-संघात को द्रव बनाने में ही उपयोगी होते हैं। पचन-कर्म का अर्थ है विजातीय तेज ××× व्यापारः और वह व्यापार अग्नितत्त्व के अतिरिक्त दूसरे सजातीय क्लेदक या बोधक कफ के बिना होना असम्भव है, अतएव, आहार-पाचन में ग्रहण्याश्रित अग्नि का ही महत्त्व है।

(५) पाँचवें प्रश्न में विषयों का अधिकतर उत्तर चौथे प्रश्न में ही हो चुका है। फिर भी थोड़ा विचार व्यक्त कर देता हूँ। बोधक और क्लेदक कफ तथा समान वायु तो उपकरण रूप में ही रहते हैं, प्रधानतया तो अग्नितत्त्व ही पचन कार्य करते हैं। इसी को लक्ष्य में रख कर अरुणदत्त ने "पचत्या ×××× ऽग्निः" इसकी टीका में स्पष्ट कहा "यद्यप्ये ××× एव।" इसलिए "बोधक तथा क्लेदक कफ और समान वायु के न्यूनाधिक ग्रहणी अविकृत होने पर भी अग्निमान्द्य हो सकता है"—ऐसा जो कहा गया है इसमें यह तो स्पष्ट है कि अजीर्ण, अग्निमान्द्यादि विकार अग्न्याधिष्ठान ग्रहणी की विकृति के बिना नहीं हो सकते और न उन दोषों को ग्रहण्याश्रित दोष ही माने गए हैं। "अग्निमान्द्या ×××× एव।" अतः आश्रयाश्रयी-भावेन ग्रहणी की विकृति से अग्निमान्द्यादि रोग होते हैं और अग्निसाद करनेवाले कारणों के सेवन से ग्रहणी रोग होता है। "ग्रहण्या ××× बलाः।" "××× रोग-कारिणी" तथा—"दूष्यति ××× कर्मभिः" इत्यादि वचनों से यह फलित होता है। इसीलिए "यश्चाग्नि ××× द्विष्टः" इस श्लोक में "ग्रहणी दोष" के स्थान पर "ग्रहणीहेतु" ऐसा परिवर्तन करने का जो प्रश्नकर्ता ने किया है वह योग्य नहीं है। वात-पित्त-कफ-सन्निपातजन्य चार प्रकार के ग्रहणी रोग का जो निर्देश शास्त्रकारों ने किया है वही ग्रहणी रोग है। वातादि दोषत्रय से होनेवाले विषम, तीक्ष्ण और मन्द ये तीनों ही अग्नियाँ ग्रहणी रोग के मुख्य विकार हैं। "तेन ××× गृह्यन्ते।" वाग्भट ने भी कहा है—"विभागे ××× दोषाः।" इससे भी विषमादि तीनों अग्नियों का ग्रहणी दोष की तरह ही वर्णन किया है। अरुणदत्त ने स्पष्ट कहा है—"ननु एवं सति ××× बोध्यम्।" इस प्रकार सामान्य और विशेष ग्रहणी दोष का भेद बता कर विषमादि तीनों अग्नियों को ग्रहणी दोष के नाम से ही आचार्यों ने मान्यता दी है। यह सिद्धान्त है, अतः इसमें किसी प्रकार के हेर-फेर करना शास्त्र-विरुद्ध और अनधिकार चेष्टा मानी जायगी, ऐसा मेरा अभिप्राय है। (क्रमशः)

सचित्र आयुर्वेद के ग्राहकों को सूचना

'सचित्र आयुर्वेद' प्रत्येक मास की १० तारीख को प्रकाशित होता है। इसलिए १५ तारीख तक ग्राहकों के पास डाक से इसका पहुँचना स्वाभाविक ही है। लेकिन, अक्सर ऐसा होता है कि 'सचित्र आयुर्वेद' के नहीं प्राप्त होने की शिकायत ग्राहकों से मास के प्रथम सप्ताह में ही मिलने लगती है। अतएव, ग्राहकों से हमारा अनुरोध है कि वे प्रति मास कम-से-कम १५ तारीख तक 'सचित्र आयुवद' के लिए प्रतीक्षा करें और उस तारीख तक यदि उनको पत्रिका प्राप्त न हो, तो सर्वप्रथम अपने इलाके के डाकखाने में पूछ-ताछ करें। डाकखाने से सन्तोषजनक उत्तर नहीं मिलने पर ही वे 'सचित्र आयुर्वेद' को प्राप्त करने के लिए हमारे पास पत्र लिखा करें। इससे ग्राहकों को भी व्यर्थ का डाक-व्यय नहीं करना पड़ेगा और हमारे काम में भी कम असुविधा होगी।

—व्यवस्थापक।

आयुर्वेदीय मूत्र-परीक्षा

वैद्य श्री ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, आयुर्वेदरत्न

आयुर्वेद के वर्त्तमान काल में प्रायः यह आक्षेप किया जाता है कि "आयुर्वेदीय ग्रन्थों में रोगी की परीक्षाएँ अपर्याप्त होने से मूत्र, मलादि की परीक्षा नव्य-पद्धति अर्थात् एलोपैथी द्वारा हो" परन्तु मेरे विचारानुसार यह कथन अत्यन्तानुचित होने से आयुर्वेदीयोपचारार्थ निदान भी वैद्यक-विधि से इसका हो। ग्रन्थों में ही पर्याप्त वर्णन है। अब आवश्यकता इस बात की है कि स्वसिद्धान्त, स्वभाषा द्वारा अन्य समस्त चिकित्सा-शास्त्रों की उपयोगी बातों को आयुर्वेद में आत्मसात् (पाचन) करके—उसका वर्द्धन किया जावे। प्रस्तुत विषय एलोपैथी से उत्कृष्ट है।

आयुर्वेद-पद्धति की प्राचीन मूत्र-परीक्षा—समस्त वैद्यों, शिक्षणालयों आदि को ग्राह्य है। यह अल्पव्ययी, आडम्बररहित होने पर भी सारयुक्त, और आश्चर्यजनक हैं। सर्वप्रथम

"पाश्चात्तु रजनी यामे घटिकानां चतुष्टये।
उत्थाप्य रोगिणां वैद्यो मूत्रोत्सर्गञ्च कारयेत्॥"

पुनः सावधानी से—

"आद्यधारान्तु संत्यज्य मध्यधारासमुद्भवम्।
शुभे काचमये पात्रे कृत्वा मूत्रं परीक्षयेत्॥"

तदुपरान्त आगे—

"भास्करोदयवेलायां प्रकाश स्थानके धृतम्।
लोलयित्वा पुनः सम्यक् ततोमूत्रं परीक्षयेत्॥"

अब देखिये—

(१) भौतिक परीक्षा

(अ) दर्शन (वर्ण परीक्षा)—सर्व प्रथम रुग्ण के मूत्र [illegible] वर्ण देखें, वर्ण से विकृति का अनुमान इस प्रकार है :—

[illegible]त	ज्वरावस्था, विषमज्वर, पित्तदुष्टि, पित्त स्वरभेद
कृष्ण	[illegible], वातदुष्टि, वातार्श, वातज स्वरभेद
रक्त	[illegible]दुष्टि, रक्तमेह
श्वेत	श्लेष्म[illegible], बहुमूत्र, कफजपाण्डु
[illegible]	वातदुष्टि, नीलमेह
पाण्डुर	कफपित्तदुष्टि, क्षौद्रमेह
सौवीरसमम्	वातकफ दुष्टि,
सोद्बुद कृष्ण	त्रिदोषदुष्टि
अजामूत्रवत्	जीर्णज्वर
घृतवत्	दकोदर
मधुवत्	प्रमेह
तैलवत्	पित्तकफदुष्टि, कामला
जल वत्	उदकमेह, सोमरोग, अतिजलपानावस्था
पीत, सकृष्णोद्बुद	प्रसूतिदोष
मञ्जिष्ठोदक संकाश	मंजिष्ठामेह
मसीवत्-कृष्ण	कालमेह
हारिद्रजलवत्	हारिद्रमेह
हस्तिमूत्रवत्	हस्तिमेह
गँदला	इक्षुवालिकारसमेह
वाताद वत्	ज्वरावस्था
तण्डुल पिष्टवत्श्वेत	शुक्लमेह
दुग्धवत्	वसामेह
क्षय में श्वेत	क्षयासाध्यता
वीर्यवत्	शुक्रमेह
कूप जल सम	समधातु पुरुष
मज्जायुक्त	मज्जामेह

(ब) गन्ध-परीक्षा—सामान्यतः कुछ अवधि तक मूत्र निर्गन्ध होता है। मूत्र को बिना संतप्त किए ही घ्राणेन्द्रिय से गन्ध ज्ञान कर, इस प्रकार अनुमान लगाएं :—

मधुर गन्ध	शर्करा उपस्थिति, उपवास, मधुमेह
निर्गन्ध	सोमरोग, उदकमेह
अति मधुर गन्ध	शीतमेह, इक्षुबालिकारसमेह
आम्रवत् ,,	रक्तमेह, मंजिष्ठामेह
अजामूत्रवत् ,,	अजीर्ण

(स) धारा-परीक्षा—पीत व श्वेतधारा ज्वरावस्था

रक्तधारा	महारोगी
कृष्णधारा	मरणसन्निकट

द. पारदर्शन-परीक्षा—काच के पात्र में स्थित मूत्र में से दूसरी ओर देखें, मूत्र में लालावत् सूत्र हों तो, लालामेह समझें।

ध. स्पर्शन परीक्षा (तापक्रम)—त्वक्इन्द्रिय द्वारा मूत्रीय शीतोष्णता देखें :—

शीतल—उदकमेह, शीतमेह, इक्षुबालिका रसमेह, सोमरोग
उष्ण—रक्तमेह, कालमेह

न. प्रश्न (प्रमाण परीक्षा)—स्वस्थावस्था में अहर्निश में लगभग ४ शराव अर्थात् २ प्रस्थ मूत्र कुल आता है। मात्रा में परिवर्त्तन प्रतीत होने पर इस प्रकार अनुमान करें :—

ह्रास—विसूचिका, ग्रीष्मकाल, जलोदर, पाण्डु, ज्वर, अतिसार, वृक्क में विकृति।
वृद्धि—वर्षाकाल, उदकमेह, मधुमेह, शीत, बहुमूत्र।

ञ. मूत्रोत्सर्ग-परीक्षा—रोगी से प्रश्नादि द्वारा ज्ञात कर, पुनः इस प्रकार अनुमान लगाना चाहिये :—

वेग रहित मूत्र विसर्जन—	शनैर्मेह
बार-बार मूत्र विसर्जन—	वसामेह, शीतमेह, शुक्रमेह
सोरुजा ,, ,, —	शनैर्मेह

(२) रासायनिक परीक्षा

रासायनिक मूत्र-परीक्षा में आवश्यकोपकरण एवं द्रव्य—काच, सुराप्रदीप, काच परीक्षणनलिकायें, तुत्थ, स्वर्जिकाक्षार, चिंचाक्षार, अन्यावश्यक द्रव्य।

क. रस-परीक्षा—मूत्रीय रस से अनुमान इस प्रकार करें :—

लवण	रक्तमेह
मधुर	मधुमेह
कटु	हारिद्रमेह
स्वादु-कषाय	क्षौद्रमेह
अत्याम्ल	नीलमेह
अति-मधुर	इक्षुबालिका रसमेह

ख. प्रतिक्रिया-परीक्षा—१. विधि—मूत्र को काच-परीक्षण नलिका में संतप्त करें, पुनः नलिका में चिंचाक्षार १ रत्ती डालें। २. निरीक्षण—उभरे या फेनयुक्त हो जावे। ३. परिणाम—मूत्र को क्षारीय समझें। ४. यथा—क्षारमेह आदि। यदि उक्त परिणाम न आवे तो पुनः द्वितीय विधि करें—१. विधि—काच-नलिका में मूत्र को अग्नि द्वारा संतप्त करें, पुनः स्वर्जिका क्षार १ रत्ती डाल दें। २. निरीक्षण—उभरना या फेन आरम्भ हो जावे। ३. परिणाम—मूत्र को 'अम्लीय' समझें। ४. अनुमान—अम्लता की वृद्धि हो जाने पर—श्वसनक ज्वर, नवज्वर आदि। शाकाहारियों का मूत्र क्षारीय और मांसाहारियों का अम्लीय होता है।

ग. शुक्लि-परीक्षा—१—उपस्थित्यनुपस्थिति, विधि—मूत्र सन्तप्त करें, पुनः तुत्थ १ रत्ती डालें, पुनः तापदानोपरान्त थोड़ी-सी तुत्थ डाल दें। २. निरीक्षण—वर्ण पीला होकर रक्त हो जावे। ३. परिणाम—शुक्लि की उपस्थिति जानें। शुक्लि प्रमाण—१. विधि—नलिका में मूत्र सन्तप्त कर उबाल करके अहर्निश पर्यन्त स्थिर रख दें। कुल मूत्र के जितने भाग में अवक्षेप जम जावे, उसीके अनुसार मात्रा की प्रतिशतता निकाल लेते हैं। ४. अनुमान—प्राकृतिकावस्था में भी शुक्लि मिल जाता है, परन्तु ३ प्रतिशत से अधिक होने पर वृक्करोग, ज्वरावस्था, हृदयदौर्बल्य आदि का ज्ञान होता है।

घ. शर्करा-परीक्षा—१. विधि—मधुर गन्ध, रस होना, कीटपिप्पलिका आदि लगना परीक्षा-विधि है। २. निरीक्षण—मूत्र-रस, गन्ध में मधुर होता है। ३. परिणाम—मूत्र में शर्करा की उपस्थिति जानें। ४. अनुमान—यथा-मधुमेह, अतिशर्करा प्रयोग आदि। केवल शर्करा के प्रमाण का कोई महत्त्व नहीं है।

ङ. पित्त रंग परीक्षा—१. विधि—परीक्षण-नलिका में मूत्र संतप्त करके, उसमें स्वर्जिका क्षार १ रत्ती डाल दें, पुनः तापदानोपरान्त थोड़ी-सी तुत्थ डाल दें। २. निरीक्षण—मूत्र पीत हो जावे। ३. परिणाम—पित्त द्रव्योपस्थिति जानें। ४. अनुमान—यथा कामला की उत्तरावस्था आदि।

च. रक्तकण - परीक्षा—विधि—उपर्युक्त विधि करें। निरीक्षण—रक्त वर्ण का हो जावे। परिणाम—पित्त के साथ रक्तकणोपस्थिति जानें। अनुमान—यथा लालामेह, मूत्राशयार्बुदादि।

छ. भास्वीय परीक्षा—विधि—काच नलिका मूत्र तप्त करके शुक्तिकाम्ल डालें, अदृश्य हो जाने पर भास्वीयोपस्थिति जानिये।

(३) सूक्ष्म दर्शनात्मक

विधि—कांस्य पात्र में मूत्र को सूर्योदयोपरान्त रख कर, तैल की एक बूंद टपका दें। पुनः देखें :—

(शेषांश ७९० पृष्ठ पर)

भाँग

वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा

वर्ग—N. O. Cannabinaceal (**भंगादि वर्ग**)

नाम—सं०–भंगा, विजया, सिद्धि, गंजा ; हिन्दी–भंग, भाँग, विजया, सिद्धि ; बं०–सिद्धि, भाँग ; ब्राह्मी-भाषा में–बिन ; अ०–हशीश, हशीश तुलफुकराऽ ; फा०–बंग ; अं०–Indian Hemp ले०–Cannabis Indica (नैसर्गिक) Cannabis Sativa (बोयी हुई)।

उत्पत्तिस्थान—मध्य एशिया, ईरान, ईराक और मिस्र, कश्मीर, देहरादून, हरिद्वार, पीलीभीत और राजस्थान की अरावली पर्वत श्रेणियों में नैसर्गिक उत्पन्न होती है। भारत के अनेक प्रान्तों में बोयी जाती है। इसका आदि जन्म-स्थान साइबेरिया है।

वर्णन—भाँग की दो किस्में हैं (१) बोयी हुई और (२) नैसर्गिक। यह उष्ण कटिबन्धजात एक प्रसिद्ध वर्षजीवी क्षुप है। इसकी ऊँचाई ४ से ८ फीट तक होती है। मादा क्षुप नर क्षुप की अपेक्षा अधिक ऊँचा होता है। काण्ड के दोनों तरफ पत्ते होते हैं। शाखें पतली और अन्दर से खोखली होती हैं। प्रत्येक शाख पर पाँच से नौ और ग्यारह तक पत्र आते हैं। पान-आमने-सामने, ऊपर में अन्तर पर, इसे ८ इंच व्यास के, नीचे ५ से ११ हिस्से, ऊपर १ से ३ हिस्से, पत्तों के किनारे करोती के समान दाँतेदार, ऊपर से संकरे, हथेली की अंगुलियों के समान नसवाले, लम्बे वृन्त सह, और अक्सर नीचे को लटके हुए होते हैं वे बहुत सब्ज और खुरदरे होते हैं। उप पान–दो पीछे। पुष्प—हरे रंग के छोटे, नर-मादा अलग-अलग क्षुप पर। पुष्पपत्र ऐंठे हुए। पुं पुष्प के छोटा पुष्पदण्ड होता है। नरफूल—पत्र कोण में से निकली हुई तुर्रे जैसी पुष्प रचना में। पुष्प [illegible] के पत्र ५, ऊपर ऊपर। पुं केसर ५ प्रारम्भिक, [illegible]व। मादा पुष्प पत्र कोण में कलगी [illegible] स्त्री पुष्प का गर्भदण्ड छोटा, स्त्री केसर [illegible] ह्यान्त [illegible] कोष उज्वल। बीजाशय वृन्त [illegible], ८ कोषयुक्त। फल—[illegible] परन्तु कुछ छोटे होते हैं। इनके ऊपर हरे रंग का छिलका होता है। जब छिलके के रगड़ पहुँचती है तब वे दूर हो जाते हैं। अन्दर से सफेद चिकना और गोल दाना निकल[illegible] है। कुछ समय के पश्चात् इनकी सफेदी अलग होकर [illegible] मैलापनयुक्त कालापन आ जाता है। इसके दा[illegible] खोल सख्त होता है। बीजों को मशीन में दब[illegible] भाग तेल निकलता है। रंग हरा पीलापन लिये हो[illegible] है। नैसर्गिक जाति के पौधों की ऊँचाई कम होती है पत्ते ज्यादा खुरदरे और रंग भी ज्यादा हरा नहीं होता, कि[illegible] वे सफेदी मायल दिखाई देते हैं। फूल ललाई लिये हो[illegible] हैं। एप्रिल और मई मास में इसके फूल और फ[illegible] लगते हैं।

गाँजा—मादा क्षुप में मंजरी (पुष्पांकुर) को फलि[illegible] होने के पहले तोड़ लिया जाता है, उसे गाँजा कहते हैं।

नर और मादा क्षुपों के फलित पुष्प पान को भाँग कह[illegible] हैं। पुष्पों में जब फल (बीज) की उत्पत्ति हो जाती है तब नशा लाने की शक्ति का ह्रास हो जाता है। [illegible] क्षुपों की शाखाओं की दरार, पान और फूलों पर [illegible] (गोंद) जम जाता है उसे 'चरस' कहते हैं। यह गोंद[illegible] पदार्थ (चरस) ६००० से ८००० फीट की ऊँचाई [illegible] होनेवाले क्षुपों में अधिक उत्पन्न होता है। वस्तुतः [illegible] रेसिन ही भाँग का तत्व है, जो भाँग में १०%, गाँजे में २०[illegible] और चरस में ४०% होता है। इस प्रकार भाँग, गाँ[illegible] तथा चरस ये तीनों द्रव्य एक ही वनस्पति (Cannab[illegible] sativa) के भिन्न-भिन्न अङ्गों से प्राप्त होते हैं भिन्न-भिन्न स्थानों में उत्पन्न पौधों से प्राप्त औषधि तत्वों [illegible] एकरूपता नहीं होने के कारण उपर्युक्त तीनों औष[illegible] द्रव्य अलग-अलग प्रान्तों की वनस्पतियों से प्राप्त किये ज[illegible] हैं। पूर्वी बंगाल, मध्य प्रदेश और बम्बई के लगाये [illegible] पौधों से गाँजा; नेपाल, काश्मीर तथा लद्दाख के पर्वती[illegible] भागों में उत्पन्न किये पौधों से चरस ; सीमान्त, पंज[illegible] तथा मद्रास की नीची पर्वत श्रेणियों के आस-पास [illegible] [illegible] पौधों से भाँग प्राप्त की ज[illegible] रही है।

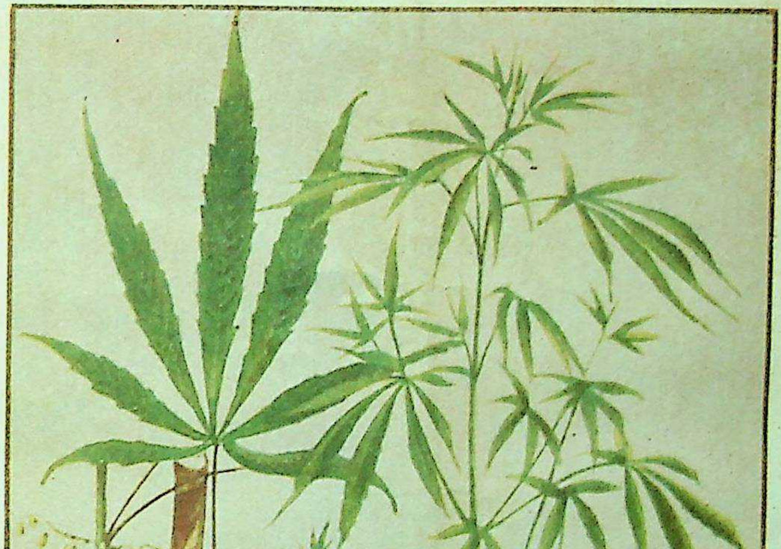

भाँग और गांजा

GURUKULA KANGRI LIBRARY HARDWAR

GURUKULA KANGRI
LIBRARY
HARDWAR

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० के राउरकेला स्थित बिक्रीकेन्द्र में आयोजित धन्वन्तरि-जयन्ती-समारोह का एक भव्य दृश्य।

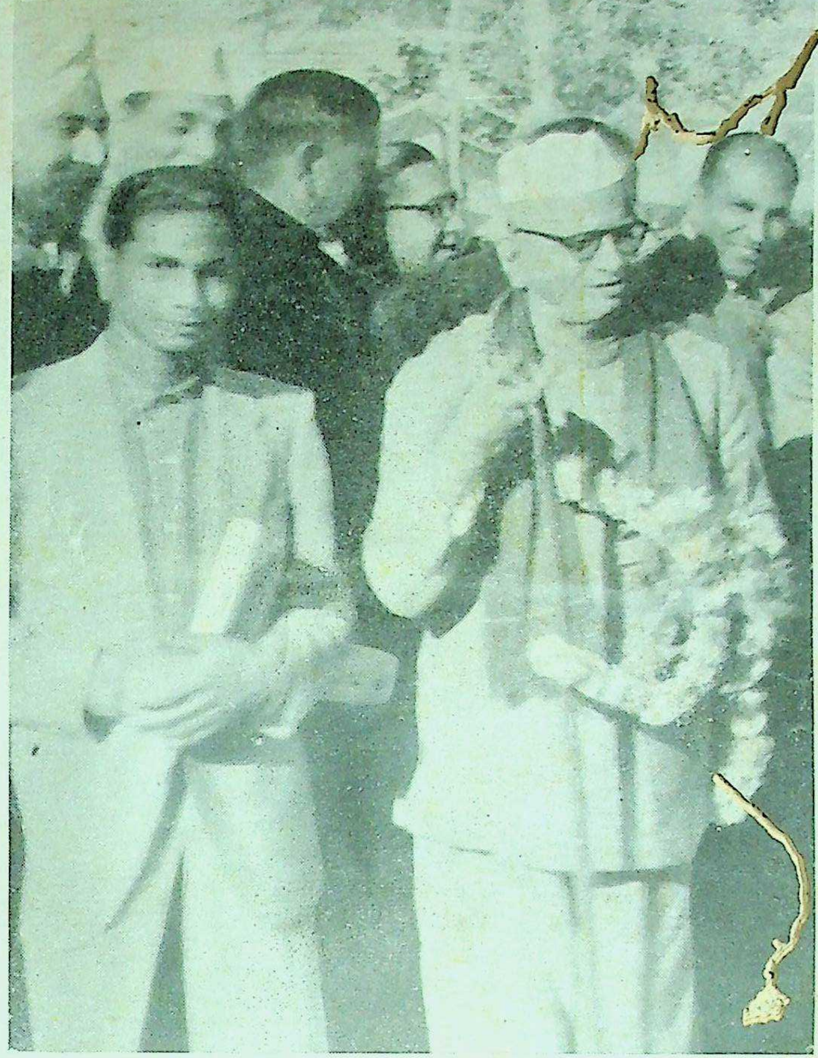

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के मोगा स्थित बिक्री केन्द्र की ओर से पंजाब के राज्यपा[illegible]ी एन० वी० गाडगिल का स्वागत उस समय किया गया, जब कि पंज[illegible]प्रादेशिक आयुर्वेद सम्मेलन में बैद्यनाथ के प्रदर्शन-कक्ष [illegible]यपाल ने निरीक्षण किया।

उपयुक्त अङ्ग---पत्र (भाँग), गाँजा, चरस, बीज आदि।

रासायनिक संगठन---इसमें भंगीन (केनेबिनोल--Cannabinol) नामक एक राल जातीय गुणोत्पादक वीर्य, एक उत्पत् तेल और एक क्षारोद होता है।

प्रकृति---भाँग तीसरे दर्जे में शीत एवं रूक्ष है। कुदरती उत्पन्न भाँग तीसरे दर्जे में गरम खुश्क बताई जाती है।

गुण-कर्म---भाँग रस में कड़वी, उष्णवीर्य, ग्राही, दीपनी, पाचनी, रुचिवर्धक, लघु, तीक्ष्ण, पित्तला, हर्षजननी, शोक नाशिनी, मोहकरी, मदकारी, बकवाद करानेवाली, निद्राप्रद, कामोत्तेजक और कफवातनाशक है तथा अग्निमान्द्य, अनिद्रा, वृक्कशूल, नपुंसकता, आक्षेप, स्त्रियों का शिर-दर्द, हिस्टीरिया, रक्तप्रदर, रजःशूल, मानसिक निर्बलता को दूर करती है।

गाँजा के गुण-कर्म---अग्नि प्रदीपक, तृप्तिकारक, बल्य, कामोत्तेजक, विचारों की सृष्टि उत्पादक, निद्राप्रद, गर्भपातक, विकासी, वेदना-शामक, आक्षेप-हर और मादक है तथा ज्वर, पागल कुत्ते का विष, बाह्यायाम, अन्तरायाम, प्रबल विषूचिका, मदात्यय, शूल, अम्लपित्त, अग्निमांद्य, रक्तप्रदर, प्रसव वेदना, शिर-दर्द, काली खाँसी, क्षय, कास, शुष्क कास, कम्प, नृत्यवात, योषापस्मार, निद्रानाश और उन्मादादि रोगों को दूर करता है।

डॉक्टर देशाई ने लिखा है कि "गाँजे की मुख्य क्रिया मस्तिष्क पर होती है। यह त्वचा को चेतन करनेवाला है।"

डॉक्टर राधा गोविन्द कर लिखते हैं कि "चरस, गाँजा या भाँग का सेवन करने पर शरीर और मन उत्तेजित होते हैं। अन्तःकरण प्रफुल्लित और हर्षित होता है। दुश्चिन्ता दूर होती है, क्षुधा प्रदीप्त होती है और कामोत्तेजना होती है। मात्रा अधिक लेने पर मादक गुण उपस्थित होता है। मत्त व्यक्ति वाचाल होता है। गान करता है, चिल्लाता है, खूब हँसता है या भोजन करना चाहता है। कभी-कभी मांस-पेशियों के खिंचाव सह विचार-शून्यता आ जाती है। फिर उत्तेजना शमन हो कर सुषुप्ति की प्राप्ति हो जाती है। निद्रा भंग होने पर शिर-दर्द, ग्लानि, उबाक, क्षुधामांद्य, मलावरोध आदि कोई विकार नहीं होता। मात्र जिह्वा और सारा शरीर शुष्क-सा ज्ञात होता है।

बीजों के गुण---ग्राही, कय और दस्तों को रोकनेवाले हैं। शेष गुण भाँग के अनुसार हैं।

यूनानी मतानुसार गुण-कर्म--भाँग पहिले आराम और नशा पैदा करती है और गालों की लाली को निखारती है। बाद में नशा उत्पन्न करके पहिले लक्षणों के विरुद्ध स्थिति उत्पन्न होती है। इसको पीने से शुरू में चिन्ता मिटती है। यह भूख और प्यास को तेज करती है। अन्त में दिमाग को विकृत कर देती है, दृष्टि को नुकसान पहुँचाती है आँखों के नीचे अँधेरा आने लगता है। जनून और मालीखोलिया हो जाता है। नामर्दी आ जाती है। कामवासना कम हो जाती है, क्योंकि इससे वीर्य खुश्क हो जाता है। मिठाई से नशा बढ़ जाता है और खटाई से कम हो जाता है। कभी-कभी मात्रा में पी लिया करे और आदत नहीं डाले तो इससे नुकसान नहीं होता। खाली पेट नुकसान पहुँचाती है। जो व्यक्ति इसको दोनों वक्त पीते हैं वे खाँसी से पीड़ित हो कर आखिर मृत्यु की शरण लेते हैं। इसमें काली मिर्च डाल कर पीने से इसकी खुश्की बढ़ जाती है। उम्दा यह है कि बादाम गिरी, ककड़ी का मगज़, तरबूज के बीजों की गिरी, कद्दू के बीजों की गिरी, छोटी इलायची के दाने और सौंफ इसके साथ घोंट कर पीयें। यह चीजें काली मिर्च से उत्तम हैं।

भंग-सेवियों के लिए उत्तम योग---चीनी ऽ।। शुद्ध भाँग ऽ।, बादाम गिरी ऽ≈, चिरौंजी ऽ–, काली मिर्च १ तोला। पहिले भाँग को शुद्ध धो कर घी में भून लें, अन्य वस्तुओं को कपड़ छान कर रख लें।

मात्रा---३ माशा। प्रातः-सायं ताजे जल के साथ सेवन करने से वृद्धावस्था में होनेवाली कमजोरी, क्षुधा मांद्य एवं सम्पूर्ण रोगों से मुक्त करती है। इसके सेवन से स्मरण शक्ति तथा शुक्र स्तभम्न शक्ति बढ़ कर नपुंसकता दूर होती है। (धन्वन्तरि विष चिकि०)

भाँग का शोधन---(१) भाँग को दूध के अन्दर उबालने से वह शुद्ध हो जाती है।

(२) भाँग को पानी में न्यूनतम ४-५ घण्टे भिगोने के बाद निचोड़ कर पानी फेंक दें (भाँग सेवन करनेवालों के लिए इतना ही शोधन पर्याप्त है)। तत्पश्चात् भाँग को सुखा कर गाय के घी में भून कर प्रयोग करना चाहिए।

(३) सूखे हुए भाँग के पत्तों को कूट कर उन्हें बबूल की छाल के क्वाथ में २५ या ३० मिनट तक मध्यम अग्नि में स्वेदन करें। जब अच्छी तरह से उबल जायें, तब क्वाथ

से निकाल कर धूप में सुखा लें। इस प्रकार बबूल के क्वाथ में उबाली हुई भाँग उत्तम रूप से शुद्ध हो जाती है।

(रसतरंगिणी)

उपयोग—मस्तिष्क को किसी कारण से आघात पहुँच कर होनेवाले धनुर्वात (आक्षेप), प्रसूता धनुर्वात, मिथ्यापस्मार, कम्पवात, दाँत आने के समय बालकों का आक्षेप, वृक्क प्रदाह से उत्पन्न आक्षेप, सगर्भा को होनेवाला अपस्मार; हिस्टीरिया इन सब रोगों पर गाँजे की श्रेष्ठता निर्णीत हुई है। धनुर्वात में गाँजा निर्भय औषधि है, किसी को भी दे सकते हैं।

श्लेष्मिक कला पर गाँजा या चरस मलने पर वह स्थान शून्य बन जाता है। वहाँ वेदना होती हो, तो दूर हो जाती है। इसका मसूढ़े पर मर्दन करके दाँत निकाला जाय तो वेदना नहीं होती।

(१) **विषूचिका**—अपचन जनित या कीटाणुजन्य हैजा हो कर वमन और दस्त होने लगे तो प्रारम्भावस्था में गाँजा या भाँग, छोटी इलायची और काली मिर्च २-२ रत्ती तथा कपूर १ रत्ती मिला कर आध-आध घण्टे या एक-एक घण्टे पर उबाल कर शीतल किये हुए जल के साथ देते रहने से थोड़े ही समय में वमन और अतिसार दूर होते हैं, नाड़ी सुधरती है, देह में उष्णता और उत्तेजना भी आ जाती है। विषूचिका के लिए यह उत्तम उत्तेजक औषधि है।

(२) **हिक्का**—गाँजे को सम भाग गुड़ के साथ मिला मटर के समान गोली बना कर देने से हिक्का शमन हो जाती है। आवश्यकता रहे तो १ घण्टे बाद फिर से १ गोली देवें। इस गोली से कुछ नशा आता है, परन्तु किसी प्रकार की हानि नहीं होती।

(३) **फुफ्फुसावरण प्रदाह** (Pleurisy)—इसकी प्रथमावस्था में फुफ्फुसों की झिल्ली में शूल (पार्श्वशूल) चलता है। उस शूल को दूर करने में गाँजा, अफीम की अपेक्षा विशेष हितावह माना गया है।

(४) **निद्रानाश**—शाम को भूनी भाँग का चूर्ण शहद के साथ लेने पर रात्रि को शान्त निद्रा आ जाती है। यह वृद्ध मनुष्यों के निद्रानाश पर अधिक व्यवहृत होती है एवं यह प्रयोग अतिसार पीड़ितों के लिए भी हितावह है।

(५) **पक्षाघात [illegible] कम्प**—गर्मी के आघात से पक्षाघात होता है। उसमें कुछ कुछ समय बाद कम्प (झटका) आता रहता है। उस कम्प को दूर कराने के लिए सोमल आदि मुख्य औषधि के साथ गाँजा दिया जाता है।

(६) **वृक्क प्रदाह**—(Brights Disease) इस रोग में लसीका मेह और शोथ या जलोदर के लक्षण होते हैं। यह आशुकारी और चिरकारी दो प्रकार का होता है। इन दोनों प्रकारों के भीतर मूत्र में जानेवाले प्रथिन को रोकने, रक्तस्राव बन्द करने और वेदना का शमन करने के लिए गाँजा अमोघ औषधि है।

(७) **कष्टार्तव**—मासिक-धर्म आने के पहले मृ विरेचन दे कर उदर को शुद्ध कर लेना चाहिए। फिर गाँजा का चरस दिन में ३ बार हींग के साथ [illegible] वेदना कम होती है और रजःस्राव नियमानुसार हो जाता है।

(८) **पागल कुत्ते का विष**—पागल कुत्ता काटने के १०-२० दिन के भीतर यदि बड़ी मात्रा में कुछ दिनों तक नियमित गाँजे का सेवन कराया जाय, तो कीटाणु और विष नष्ट हो कर सदा के लिए रोग दूर हो जाता है और रोग की जीर्णावस्था में जलभीति, वेदना और खिंचाव को दूर कराने के लिए गाँजा सफलतापूर्वक दिया जाता है। लम्बे समय तक देते रहने पर रोग दूर हो जाने के अनेक उदाहरण मिले हैं।

(९) **पेचिस**—Dr. J. S. Remsie लिखते हैं कि इसका अरिष्ट Tr. cannabrs Indica १५ से २० बूँद की मात्रा में दिन में ३ वक्त सेवन करने से पेचिस आराम होती है

(१०) **दमा**—भाँग का सेवन वा धूम्रपान करने से कष्टकर श्वास और दमकशी मिटती है। काली खाँसी में थोड़ी भंग खिलाने या इसके योग देने से कास का आक्षेपयुक्त कष्ट कम हो जाता है।

(११) **अर्श**—फूली हुई और दर्दनाक बवासीर पर हरी या सूखी भंग १ तोला, अलसी ३ तोला की पुल्टिस बना कर बाँधने से दर्द और खुजली मिट जाती है।

(१२) **आक्षेप**—शुद्ध भंग के पत्तों की १३ माशा की खुराक देने से ताण दूर हो जाती है। (अलहकीम, लाहौर)

(१३) **आँख उठना**—ताजा पत्तों का मंदोष्ण लेप आँख का दर्द और प्रकाश का नहीं सहना दूर कर देता है।

(१४) **दर्द गुरदा**—इससे पेशाब की मिकदार बढ़ जाती है। अगर इसको पेशाब लानेवाली दवाओं के साथ पिलाया जाय, तो पेशाब बहुत ज्यादा आता है और इसलिए

गुरदों की जलन में इसके सेवन से पेशाब ज्यादा आता है और खून बन्द हो कर दर्द शान्त होता है।

(१५) **शीघ्र पतन के ऊपर गोली**—चरस उम्दा २ माशा, चादी के बर्क १ माशा, मुनक्का ६ माशा सब की मसूर के समान गोलियाँ बनावें। रुकावट के लिए २ घण्टे पूर्व १ गोली दूध से लेवें।

(१६) **गर्भस्थापन हेतु**—अफीम १ माशा, जायफल १ माशा, केसर १ माशा, कस्तूरी २ रत्ती, लौंग ४ नग, सुपारी २ नग, भाँग के पत्ते ३ माशा, गुड़ ६ माशा लकर गोलियाँ चने के समान बनावें। बाँझ को १ गोली सुबह-शाम उचित अनुपान से दें। यह योग ऋतु निवृत्ति के बाद सेवन करें और १ सप्ताह सेवन करने के बाद गर्भाधान संस्कार करें।

(१७) **मलेरिया ज्वर पर**—शुद्ध भाँग का चूर्ण १ माशा, गुड़ २ माशा की ४ गोलियाँ बनावें। जाड़े का बुखार दूर करने के लिए १-१ गोली, २-२ घण्टे की देरी से देवें या शुद्ध भाँग की १ माशा की गोली ज्वर के १ घण्टा पूर्व देने से ज्वर का वेग नहीं होता। अधिकतम २ दिन में कुल २ मात्रा से अपूर्व लाभ होता है।

(१८) **धनुस्तम्भ पर**—७ रत्ती भाँग का धुँआ पिलाने से शनैः-शनैः आक्षेप कम हो जाते हैं। बार-बार भाँग का धुँआ पीने से रोग छूट जाता है। धनुस्तम्भ के लिए उत्तम औषधि है। (शा० नि० भू०)

(१९) **माजून विजया**—भाँग के पत्ते १ पाव को ६ सेर ताजा दूध में औटावें, २ सेर बाकी रहने पर छान कर मावा बना लें। इसमें १ सेर शहद मिलावें और नीचे लिखी दवाइयों को शामिल करें—

गुलाब के फूल, गावजवान, बिल्लीलोटन प्रत्येक ४॥ माशा, जायफल, बड़ी इलायची, केसर, जावित्री, छोटी इलायची, वंशलोचन, प्रत्येक ९ माशा, मस्तगी ७ माशा, बारीक करके मिलावें। यह माजून वाजीकरण और स्तम्भन के लिए उम्दा है।

मात्रा—४॥ माशा। सुबह और शाम।

(२०) **माजून विजया नं० २**—भाँग के पत्ते ६४ तोला, शक्कर सफेद ३२ तोला, गाय का घी २४ तोला, सब दवाइयों को पुष्य नक्षत्र में एकत्रित करें। शुद्ध भाँग के पत्तों को वस्त्रपूत कर लें और दूसरी दवाइयों को मिलाने योग्य कर माजून बना लें।

मात्रा—१० माशा। **गुण**—उपर्युक्त।

(२१) **विजया पुष्पाद्यवलेह**—जल में धोया हुआ गाँजा १४ तोले, जायफल, जावित्री, लौंग और बादाम की गिरी ४ तोले लेवें। सब को मिला कूट कर कपड़छान चूर्ण करें। फिर १ सेर मिश्री की अवलेह के योग्य चाशनी कर आधी गरमी कम होने पर चूर्ण तथा कस्तूरी और अम्बर ६-६ माशे मिला लेवें।

मात्रा—१ से ३ माशे, दिन में २ बार चटा कर ऊपर से मिश्री मिला दूध पीवें।

इस अवलेह के सेवन से थोड़े ही दिनों में नपुंसकता, शीघ्रपतन, शारीरिक निर्बलता और निद्रानाश दूर होते हैं। शारीरिक उत्साह की वृद्धि होती है। मन प्रफुल्लित होता है, पचन क्रिया सबल बनती है और शरीर पुष्ट होता है।

आयुर्वेदीय बनावटें—मदनोदय मोदक, त्रैलोक्य विजय बटी, त्रैलोक्य संमोहन रस (रस तं०) जातिफलादि चूर्ण, लाई चूर्ण। (शार्ङ्ग०)

यूनानी बनावट—माजून फल केसर।

भाँग का जहरीला असर—जब रोगी को भाँग से जोश आता है, तब वह दौड़ता है। उसकी सूर्ख आँखें घूमती रहती हैं और पूर्ण तन्दुरुस्त जोशवाला व्यक्ति हो ऐसा बकता रहता है। सिर के दर्द की शिकायत होती है और अनुभव करता है कि कोई खोपड़ी उड़ाये ले जाता है। इसको बड़ी मात्रा में काम में लाने से (Apoplexy) सक्ता हो जाता है जिसके बाद बेहोशी हो कर दिल की हरकत बन्द हो कर मौत हो जाती है। जिनकी बहुत ज्यादा भंग लेने की आदत हो उनका मगज़ खराब हो जाता है और समय-समय पर नहीं दबाया जा सके, ऐसे जोश में आ जाता है। उसकी चाल अलग ही तरीके की होती है। उसकी आँखें बहुत चपल, आनन्दमय और लूचाई से भरपूर दिखाई देती है। कई दिनों के व्यसन से भूख बन्द हो जाती है और शरीर कमजोर हो जाता है तथा उसका चेहरा उसके [illegible] समय के व्यसन की साक्षी देता है। मस्तिष्क पर [illegible] अहितकर प्रभाव पड़ता है कि रोगी पागल हो जाता है। याद रखिए किसी भी मद्य-सेवी विशेषतः भंग-सेवन [illegible] से कोई भी उल्टा-सीधा काम सरलता से कराया जा सकता है।

घातक मात्रा—

(१) भाँग के सत्व ([illegible] Cannabis Indica) [illegible] मात्रा है। [illegible] ग्रेन तक

अति मात्रा और उस का घातक काल १२ से ४८ घण्टे तक है।

(२) भाँग का आसव (Tr. Cannabis Indica) साधारण मात्रा ५ से १५ बूँद तक, अति मात्रा १ से २ ड्राम तक, और घातक काल १२ से ४८ घण्टे।

(३) भाँग की साधारण मात्रा २ से ४ रत्ती, अति मात्रा आधा से १ तोला तक और घातक काल १२ से ४८ घण्टे।

भाँग विष चिकित्सा

(१) कय और दस्त करावें, स्टमक पम्प से मेदे को धो डालें।

(२) शिर पर शीतल जल की धारा छोड़नी चाहिए।

(३) बिनौले (कपासियों) की गिरी २ तोला को ठण्डाई के समान घोंट पाव भर जल में छान कर मिश्री मिला बार-बार पिलावें। अनुभूत।

(४) कपास के पत्तों या फूलों का रस आध पाव की मात्रा में बार-बार पिलावें।

(५) दूध में घी और मिश्री डाल कर बार-बार पिलावें।

(६) एक पाव खट्टे दही में आधा तोला सोंठ का चूर्ण मिला कर पिलावें।

(७) खटाई--नींबू तथा इमली का रस पिलावें।

(८) भाँग विष के पुराने रोगी को दूध, घी आदि स्निग्ध और तर चीजें काम में लेना लाभकारी है।

(९) मात्रानुसार शुद्ध कुचला का प्रयोग भी इसमें उत्तम है।

मात्रा--कैना बिनोल चौथाई से आधी रत्ती। चरस आधी से १ रत्ती। प्रसूता को जल्दी प्रसव कराने के लिए गाँजा ५-५ रत्ती नागरवेल के पान में १-१ घण्टे के अन्तर पर या २-३ बार तथा रक्त स्राव बन्द कराने के लिए २ से ५ रत्ती दिन में ३ बार। अन्त्र के रोगों पर गाँजा देना हो तो उसे दूध में उबाल लेना चाहिए।

मात्रा--१ से २ रत्ती दिन में ३ बार। भंग २ से ४ रत्ती। मूल का चूर्ण १० रत्ती।

नोट--कितनेक व्यक्तियों से गाँजे की अधिक मात्रा सहन नहीं होती। अतः प्रारम्भ में मात्रा कम देवें।

अहितकर--दृष्टि क्षीणकर, उन्मादजनक और मद (मालिनखोलिया) कारक है।

निवारण--घी पिलाना।

प्रतिनिधि--भाँग और गाँजा।

शेषांश] **आयुर्वेदीय मूत्र-परीक्षा** [७८५ पृष्ठ क

परीक्षण	अनुमान
चमकते रहना	रोगी साध्य
स्थिर हो जाना	असाध्यता
शीघ्र अधोस्थित हो जाना	अरिष्ट
घूमने लगना	अरिष्ट
मध्य में छिद्रयुक्त हो जाना	मृत्यु
धनुष्, दण्ड, खड्गाकार हो जाना	मृत्यु
बुद्बुदाकार हो जाना	दैवी प्रकोप
[illegible]अंग, हंस, छत्र, चामर, हस्त्याकार होना	रोगी का जीवनाधिक्य
[illegible]य, दक्षिण से फैलना	रोगी का आरोग्यासंभव

अब अपने सम्पूर्ण परिणामों को इस प्रकार लिख लें—

आयुर्वेदीय निदान परीक्षणालय

क्रमांक परीक्षणालय. . . .मूत्र-परीक्षा-पत्रक. . रोगी क्रमांक

रुग्ण का नाम. . . . . .लिंग. . . .वयः. . . .

(अ) भौतिकपरिणाम	(ब) रसायनिक परिणाम	(स) सूक्ष्म परिणाम
१. वर्ण. . .	१. रस. . .	१. बिन्दु की अवस्था
२. गन्ध. . .	२. प्रतिक्रिया.	. . .
३. धारा. . .	३. शुक्लि. . .प्रमाण	२. साध्यासाध्यता
४. पारदर्शन. .	४. शर्करा. . . .	. . . .
५. तापक्रम. .	५. पित्तरंग. . .	३. दोषोल्वणता
६. प्रमाण. . .	६. रक्तकण. . .	. . . .
७. मूत्रोत्सर्ग. .	७. भास्वीय. . .	४. अन्य विशेष

टिप्पणी . . . .

परीक्षा तिथि. . . . . परीक्षक-वैद्य. . . . .

पता. . . . .

वर्णित सामग्री तो रूपरेखा और संकेत मात्र है। मूत्र विषय के साथ मल, नेत्र, जिह्वा, नाड़ी आदि का विस्तृत भण्डार पैतृक सम्पत्ति के रूप में है। अभी तो पूज्य पिताजी से संकेत मात्र ही मिल सका है। विस्तृत सम्पूर्ण विवेचना युक्त सामग्री भविष्य में ग्रन्थ में प्रस्तुत की जावेगी।

अष्टाङ्गहृदये—शारीरस्थानम्

आयुर्वेदाचार्य डा० शङ्करलाल भेडा, एम० बी० बी० एस०

(पूर्वतोऽनुवृत्तः)

मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयेन तत् ।।५२।।
सम्बद्धं तेन गर्भिण्या नेष्टं श्रद्धाविमाननम् ।
देयमप्यहितं तस्यै हितोपहितमल्पकम् ।।५३।।
श्रद्धाविघाताद् गर्भस्य विकृतिश्च्युतिरेव वा ।

इस गर्भ का हृदय माता के आर्तव नामक मृदु बीज भाग से उत्पन्न होता है। (मातृत इति मातुरागतात् शोणितात्––चक्रपाणि।) यह हृदय माता के हृदय के साथ (रस वहन करनेवाली धमनियों द्वारा) जुड़ा रहता है। इसलिए गर्भ और माता के हृदय में इन धमनियों द्वारा एक प्रकार की इच्छा उत्पन्न होती है, क्योंकि गर्भवती के हृदय को पीड़ा होने पर गर्भ के हृदय को भी पीड़ा होती है, क्योंकि दोनों के परस्पर सम्बन्ध रहते हैं। इसी सिद्धान्त से गर्भिणी को 'दौहृदिनी' कहते हैं। 'द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते' –सु०। ऐसे समय में माता की इच्छा गर्भ में तथा गर्भ की इच्छा माता में होती है, इस लिए इस समय में माता की अभिलाषा पूर्ण करनी चाहिए। अत्यन्त तीव्र इच्छा होने पर अहितकारी वस्तु को भी हितकारी पदार्थ के साथ मिला कर देना चाहिए। द्विहृदया की श्रद्धा की पूर्ति न होने से वायु प्रकुपित हो कर गर्भ में विरूपता तथा गर्भ का नाश कर देता है।

वक्तव्य––मातृजं––मातुर्जातं मातृजम् "पञ्चम्याम-जातौ" इति जने ड प्रत्ययः[1]। हृदय––चेतनाधिष्ठान है। इस हृदय में ही चेतना का अधिवास आयुर्वेदाचार्यों ने माना है। यह हृदय रक्त और कफ के प्रसाद से उत्पन्न हुआ है[2]। प्राणवह धमनियों का इससे सम्बन्ध है[3]। इसके दोनों तरफ फुफ्फुस हैं। दक्षिण भाग में निम्न प्रदेश में यकृत् और क्लोम तथा वाम भाग में नीचे प्लीहा होती है। यही हृदय ओज का स्थान[1] है तथा प्राण और अन्य चेतना स्थानों की अपेक्षा अधिक महत्त्व चेतना स्थान का है।

यह हृदय ही अपने संकोच-विकास से रक्त को सदैव गतिमान् करता है। यह अनैच्छिक मांस से निर्मित शरीर के विशेष महत्त्व का अङ्ग है। इसके संकोच-विकास पर मनुष्यों का कोई अधिकार नहीं है। इसी हृदय के साथ धमनी और सिराएं दोनों ही सम्बन्ध रखती हैं, किन्तु दोनों का हृदय के साथ सम्बन्ध भिन्न प्रकार से होता है। संक्षेप में प्राण, ओज, रस, स्पन्दन आदि कार्यों के लिये धमनियाँ हृदय के आश्रित रहती हैं। धारण, पोषण या रक्षण द्वारा आश्रितों का कार्य निर्वाह करने से धमनियों की दृष्टि से हृदय आश्रय है। सिराएं कार्य निर्वाह करने से हृदय से सम्बन्ध रखने पर भी उससे कुछ भी ग्रहण नहीं करती हैं, किन्तु हृदय को ही रक्त पहुँचाती हैं। इसका सुन्दर वर्णन महर्षि भेड़ ने इस तरह किया है[2]—"हृदय रक्त के लिये सिराश्रयी होता है, सिराएं हृदयाश्रयी नहीं होती हैं।" संक्षेप में हृदय रक्त परिचालक यन्त्र है। इसी हृदय से सम्पूर्ण शरीर की समस्त धातुओं अङ्ग-प्रत्यङ्गों को प्राणयुक्त, ओजयुक्त, चैतन्ययुक्त जीव-रक्त मिलता है। इसी कारण से समस्त शरीर में यह चेतनास्थान है तथा समस्त शरीर चैतन्ययुक्त हो जाता है[3]। आयुर्वेद में हृदय का वर्णन बहुत ही सुन्दर है––

"हृदय अधोमूख, रक्त-कमल, कलिका सदृश बन्द हुआ नीचे की तरफ नोकीला तथा ऊपर मोटा मांस-पेशी

---

[1] –मातृकारणकार्तवजम्। ––चक्रपाणि। मातुर्बीजभागेन मृदुना आर्तवाख्येन जायते।––इन्दुः।

[2] –शोणित-कफप्रसादजं हृदयम्। हृदयं चेतनास्थानमुक्तं सुश्रुत ! देहिनाम्। ––सु०।

[3] –यदाश्रया हि धमन्यः प्राणवहाः।

[1] –कफप्रसादा स्याद् हृदयं स्थानमोजसः।
मांसपेशीचयो रक्त पद्माकारमधोमुखम्। (अरुणदत्त)।
तत्परस्यौजसः स्थानम् । ––चरक।

[2] –हृदो रसो निस्सरति तत एव च सर्वतः।
सिराभिर्हृदयं चैति तस्माद् हृत्प्रभवाः सिराः।
––भेड़ संहिता सू० अ० २१

[3] –तद् (हृदयं) विशेषण चेतनास्थानम्।––सु० शा० ४।३१
[illegible]तनं हृदयम्।––च० नि० [illegible]

से निर्मित एक पोला अङ्ग है[1] ।" अर्थात् हृदय सदा ही कमल-कलिका के समान रहता है, कभी भी कमल-पुष्प की तरह खिलता नहीं है । भेद इतना ही है कि दिन में चलना-फिरना, खड़े होना, बैठना, खाना-पीना, विचार करना आदि कार्य करने के लिये कार्य की न्यूनाधिकता के अनुसार न्यूनाधिक मात्रा में रक्त की भी आवश्यकता होती रहती है । यह सभी कार्य हृदय के संकोच और विकास से होते हैं । दिन में ये कार्य अधिक होते हैं, रात्रि में कायिक, वाचिक और मानसिक सम्पूर्ण ऐच्छिक कार्य कम हो जाने से दिन की अपेक्षा रात्रि में हृदय को शरीर में भिन्न-भिन्न अङ्गों में रक्त पहुँचाने का कार्य कम करना पड़ता है । इसलिये हृदय को दिन में अधिक कार्य करना पड़ता है तथा रात्रि में अधिक आराम मिलता है । इसी आधार पर सुश्रुत संहिता में रात्रि में हृदय का संकुचित दिन में विकसित होना लिखा है[2] । नव्य-मत में विशेष अन्वेषण करने से यह ज्ञात हुआ है कि आराम के समय हृदय एक मिनिट में (५ से साढ़े ६ सेर तक) रक्त बाहर फेंकता है तथा अधिक परिश्रम के समय यह कार्य ७-८ गुणा बढ़ जाता है । अर्थात् ३० सेर से अधिक रक्त बाहर फेंक सकता है । इसी तरह रात्रि में अत्यधिक आराम लेने पर दश गुना कम भी हो जाता है ।

हृदय बुद्धि, मन और चेतना का स्थान है तथा हृदय—इच्छा, सुख, दुःखादि का भी स्थान है, इसलिये गर्भ में पूर्व-जन्मकृत शुभाशुभ कर्मों के अनुसार कुछ इच्छाएं होती हैं, इसी को "दौहृद" कहते हैं । इसी विषय को चरक ने इस तरह व्यक्त किया है—

"गर्भ में सुख-दुःख की भावनाएँ उत्पन्न होती हैं तथा सुख-दुःख के कारण गर्भ माता के उदर में हस्त-पादों का संचालन करता है और हृदय के द्वारा अपनी कामनाओं का प्रभाव माता के हृदय पर डालता है, क्योंकि मातृ-हृदय गर्भ-हृदय के साथ मिलने से दो हृदय हो जाता है[3] ।

अरुणदत्त ने भी[1] "गर्भिणी हृदय के सन्तप्त होने पर गर्भ-हृदय भी सप्तप्त होता है, क्योंकि हृदय का सम्बन्ध परस्पर है । इसलिये गर्भिणी को द्विहृदया कहते हैं, अतएव, परायत्त हृदय होने से उस समय अपनी-अपनी इच्छानुकूल अभिलाषा को छोड़ कर अनेक तरह की अभिलाषाएं उत्पन्न होती हैं । अ० हृदय-संग्रह तथा चरक में तृतीय मास में ही सुख-दुःखादि का ज्ञान तथा गर्भ का संचालन माना है, किन्तु सुश्रुत ने इन्द्रियों के विषयों की इच्छा को चतुर्थ में कहा है। क्योंकि उस समय स्पन्दनादि समस्त स्पष्ट हो जाते हैं। तृतीय मास से ही गर्भ के हृदय की वृद्धि होने लगती है। संग्रहकार ने[2] तीन पक्ष से पाँच मास तक दौहृद का काल माना है। इन श्लोकों से——गर्भिणी का द्विहृदयत्व, (२) गर्भिणी का दौहृद काल (३) गर्भिणी का दौहृद पूरण काल, (४) दौहृद विमान से हानि, (५) दौहृद की यथावत पूर्ति का फल आदि जो तृतीय मास से होने वाली अवस्थाओं का वर्णन है। रघुवंश में "सुदक्षिणा दौहृद लक्षणं दधौ" इन श्लोकों से तथा श्रीमल्लिनाथ ने टीका में अष्टाङ्ग हृदय के ही प्रमाण दिये हैं[3] ।

---

[1] पुण्डरीकेण सदृशं हृदयं स्यादधोमुखम् ।—सु० शा० ४।३२

[2] जाग्रतस्तद् विकसति स्वपतश्च निमीलति ।——सुश्रुत

[3] तस्य यत् कालमेवेन्द्रियाणि सन्तिष्ठन्ते, तत् कालमेव चेतसि वेदना निर्वन्धं आप्नोति, तस्मात्तदा प्रभृति गर्भः स्पन्दते, प्रार्थयते च जन्मान्तरानुभूतं यत् किञ्चित्, तद् द्वैहृदय्यमाचक्षते वृद्धाः । [illegible]

सुख-दुःख सम्बन्धात्, सुखोत्पादनार्थं दुःखपरिहारार्थं च स्पन्दते चलति, तथा प्रार्थयते च सुख हेतून् जन्मान्तरानुभूतानित्यर्थः । तद् गर्भ प्रार्थनायुक्तं मातृ हृदयं द्वैहृदयमिति वृद्धा ज्ञानवृद्धा आचक्षते । द्विहृदयस्य भावात् द्वैहृदय्यम्, मातृ हृदयं गर्भहृदयेन समं हृदयद्वयं भवति।

——चक्रपाणि

[1] गर्भिणी हृदयेन सन्तप्तेन गर्भहृदयमपि सन्तप्यते। परस्परं हृदयस्य सम्बन्धत्वात् । अतएव च गर्भिणी द्विहृदया दौहृदिनीत्युच्यते । अतएव च परायत्त हृदयत्वात् तत्काले स्वस्वभावोचितमभिलाषं विहाय नानाभिलाषो जायते ।——अरुणदत्त ।

[2] अन्येतु पक्षत्रयात् प्रभृत्या पञ्चमान्मासाद् दौहृद कालमाहुः ।——वृ० वा०

[3] शरीरसादादसमग्रभूषणा मुखेन साऽलक्ष्यत लोध्रपाण्डुना।

——रघु० तृ० स०

स्व हृदयेन गर्भहृदयेन द्विहृदया गर्भिणी। यथाह वाग्भटः—

"मातृजं ह्यस्य हृदयं मातुश्च हृदयं च तत् । सम्बद्धं तेन गर्भिण्याः नेष्टं श्रद्धाभिमाननम्" तत् सम्बद्धत्वाद् गर्भो द्वौहृदमित्युच्यते । सा च तयोर्योगाद् दौहृदिनीति तदुक्तं संग्रहे—"द्विहृदयां नारीं दौहृदिनीमाचक्षते"।

——श्रीमल्लिनाथः ।

श्रद्धाविमाननम्––गर्भावस्था में गर्भिणी के मन में जो विशेष अभिलाषाएँ उत्पन्न होती हैं, उनकी पूर्ति न करना अथवा तिरस्कार की भावना से देखना। देयमप्यहितम्–– स्त्री की गर्भिणी अवस्था में मस्तिष्क, मन तथा स्वभाव आदि में विशेष परिवर्तन हो जाता है, जिनका वर्णन प्रथम आ चुका है, ये सभी लक्षण गर्भ के ही कारण होते हैं। आयुर्वेद में गर्भ का सम्बन्ध मन के साथ होने से मन पर जो अच्छा-बुरा प्रभाव पड़ता है, उसका प्रभाव तत्क्षण गर्भ पर पड़ता है। इसलिये इस अवस्था में गर्भिणी की जो-जो इच्छाएँ हों, उनकी पूर्ति अवश्य करनी चाहिये। इनमें पथ्यकर हो तो पूर्ण रूप से यदि अपथ्यकर हो तथा अत्यन्त इच्छाएं हों तो पथ्यकर द्रव्यों के साथ मिला कर अल्प मात्रा से गर्भिणी के चित्त को शान्ति देनी चाहिये। अत्यन्त ही अहितकर हो तो उसे न देना ही अच्छा है, यह भी चरक का आदेश है। श्रद्धा विघात से दोनों के लिये विशेषतः गर्भ के लिये अत्यन्त हानि होती है[1]।

सुश्रुत सूत्रस्थान अध्याय २४ में दौहृदापचारकृत–व्याधियों के वर्णन में––"मातुरपचारात् पंगुजात्यन्धबधिरमूकमिन्मिनवामन प्रभृतयो जायन्ते" लिखा है। अर्थात् गर्भ के भीतर जीवन का असर होने से माता के मन में जो विविध वासनाएं तथा श्रद्धाएं उत्पन्न होती हैं, उनके विघात होने से उत्पन्न होनेवाली व्याधियाँ। ये समस्त व्याधियाँ दौहृदापचार शब्द में श्रद्धा-विघातादि जन्य सभी का समावेश हो जाता है।

प्रकृत में "मातृजं ह्यस्य हृदयम्"–के विषय में यह भी स्मरणीय है कि आचार्यों ने गर्भ के शरीरावयवों के विषय में कुछ मातृज, कुछ पितृज आदि निर्दिष्ट किए हैं। इनका निष्कर्ष यह है कि––माता एवं पिता के बीजों से गर्भ के जो अवयव निर्मित होते हैं, उनका स्वरूप, स्वास्थ्य एवं अस्वास्थ्य माता-पिता के अवयवों के स्वरूपानुसार ही होते हैं "मनुष्य बीजं हि प्रत्यङ्गबीजभागसमुदायात्मकं स्वसदृशप्रत्यङ्गसमुदायरूप पुरुषजनकम्"––चक्रपाणि। तथापि प्रत्येक अवयवों में मातृज-पितृज दोनों के अंश होते हैं, किन्तु जिस अङ्ग में माता का अंश होता है उसको मातृज कहते हैं, इसलिये प्रकृत में गर्भ के हृदय में माता का अंश अधिक होता है। इसका स्पष्टीकरण "व्यपदेशस्तु भूयसा"–अ० सू० ६।२ तथा अरुणदत्त ने "अस्मिन् देहे अनेक सामग्रीकेऽपि यन्मृदुवस्तुतन्मातृजम्। मातुराधिक्येन कारणभाव इत्यर्थः।" ––अ० हृ० शा० ४-५ टीका।

व्यक्तीभवति मासेऽस्य तृतीये गात्रपञ्चकम् ॥५४॥
मूर्धा द्वे सक्थिनी बाहू सर्वसूक्ष्माङ्गजन्म च।
सममेव हि मूर्धाद्यैर्ज्ञानञ्च सुखदुःखयोः ॥५५॥

तृतीय मास में इस गर्भ के पाँच अङ्ग व्यक्त हो जाते हैं, एक शिर, दो सक्थि (टाँगें), दो बाहू तथा सम्पूर्ण सूक्ष्म अङ्गों की उत्पत्ति हो जाती है, क्योंकि साथ ही शिर आदि द्वारा गर्भ को सुख-दुःख का ज्ञान होता है।

वक्तव्य––इस मास में गर्भाण्ड नारङ्गी के आकार का हो जाता है। लम्बाई ३॥ इञ्च की भार में लगभग २। तोला का होता है। आंत्र पूर्णतया उदरगुहा में पहुँच जाती हैं तथा नाभिनाल में चक्करदार मोड़ हो जाता है। अनेक अस्थियों में अस्थि-निर्माण-केन्द्र बनने लगते हैं। हस्त-पाद अंगुलियाँ पर अति सूक्ष्म रूप से नख पैदा हो जाते हैं और अंगुलियाँ अलग-अलग दिखाई देते हैं। बाह्य जननेन्द्रिय कुछ स्पष्ट होने लगती हैं। "पुत्र तथा कन्या की पहिचान अच्छी तरह हो सकती है। बालग्रन्थि और अधिवृक्क बनते हैं। धड़ से ग्रीवा द्वारा सिर विभक्त होता है[1]।"

तृतीय मास के गर्भ का तन्त्रान्तरों में स्वरूप

तृतीय मास में दो हाथ, दो पैर तथा सिर इनकी पाँच पिण्डिकाएं निकल आती हैं और अङ्ग-प्रत्यङ्ग-विभाग सूक्ष्म होता है[1]।

---

[1]–सा यद् यदिच्छेत् तत् तदस्यै दद्यादन्यत्र गर्भोपघातकरेभ्यो भावेभ्यः। तीव्रायान्तु प्रार्थनायां काममहितमप्यस्यैहितेनोपहितं दद्यात् प्रार्थना विनयार्थम्।––च० शा० ४
गर्भं समानयोग क्षेमाहि गर्भिणी भवति। तस्माद् विशेषतस्तां प्रिय हि ताभ्यां गर्भोपघातकरेभ्यो रक्षेत्।
––वृ० वा०

उपेत्य सा दौहृददुःखशीलतां यदेव वव्रे तदपश्यदाहृतम्।
––रघुवंशः।

दौहृदं––गर्भचतुर्थमासात् प्रभृति गर्भहृदयेन समं मातुः प्रार्थना विषयेषु, तत्र प्रार्थितालाभे दौहृदापचारः, स गर्भे विकृतिं जनयति। ––भानुमत्यां चक्रपाणिः

[1]–शाखाश्चतस्रोमूर्द्धोरःपृष्ठोदराण्यङ्गानि, चिबुकनासौष्ठश्रवणांगुलिपार्ष्णि प्रभृतीनि प्रत्यङ्गानि। ––डल्हण

[2]–तृतीये मासि हस्त-पाद शिरसां पञ्च पिण्डका निवर्तन्ते। अङ्ग-प्रत्यङ्ग-विभागश्च सूक्ष्मो भवति। ––सुश्रुत

तृतीय मास में सब इन्द्रियाँ तथा सब अङ्ग-अवयव एक साथ प्रकट हो जाते हैं[1]।

तृतीय मास में पाँच अवयव अलग-अलग हो जाते हैं, दो बाहु, दो सक्थि और शिर। सन्धियों में जब पुरोह (अंगुली आदि) बनने लगते हैं, तब से ही सब अङ्गों के अवयव और इन्द्रियाँ एकदम बनने लग जाती हैं। परन्तु जन्मोत्तर काल में होनेवाले दन्त आदि क्रमशः उत्तर में स्पष्ट होते हैं। यह तो स्वभाव है। इससे विपरीत (गर्भ में ही दन्त आदि निकलना) विकृति है[2]।

इत्यादि बहुत विस्तार के साथ चरक तथा अ० संग्रह में मिल रहा है। तृतीय मास में गर्भवती को चेतना स्पष्ट होने लगती है तथा इस समय से ही गर्भ का स्फुरण होने लगता है, और पाँचों इन्द्रियों के विषयों में अभिलाषा होने लगती है। संग्रह तथा चरक में प्रथम तृतीय मास के गर्भ का वर्णन करके अनन्तर "मातृजं ह्यस्य हृदयम्" इसका वर्णन किया है, किसी अंश में यह ठीक भी प्रतीत होता है।

गर्भस्य नाभौ मातुश्च हृदिनाड़ी निबध्यते।
यया सः पुष्टिमाप्नोति केदार इव कुल्यया ॥५६॥

गर्भ की नाभि में लगी नाड़ी के द्वारा माता के आहार-रस से गर्भ का पोषण केदारकुल्या न्याय से होता है। जिस तरह सिंचाई करते समय कृषक विभिन्न क्यारियों में लगाए या बोए हुए वृक्ष या पौधों की सिंचाई करता है, ठीक उसी तरह नाभि नाड़ी की एक ही मल नाड़ी से जाते हुए आहार-रस के द्वारा अनेक धातुओं का पोषण होता है।

वक्तव्य—गर्भ का पोषण माता के द्वारा कैसे होता है, इसका वर्णन इस श्लोक में किया है। गर्भ का पोषण अनेक विधियों से होता है इसका वर्णन प्राचीन तथा नवीनों ने विशद रूप से किया है, उनका दिग्दर्शन किया जाता है। पोषण की दृष्टि से गर्भावस्था को दो कालों में विभाजित करना चाहिये। प्रथम काल अपरा तथा नाभि-काल-निर्माण होने के प्रथम के तीन मास का, दूसरा काल अन्तिम ६ या ७ मास का होता है, इस तरह गर्भ का विभिन्न तरह पोषण होता है। अपरा तथा नाभि-नाड़ी बनने के सम तक गर्भ के सम्पूर्ण शरीर के चारों तरफ माता की रसव धमनियों से जो रक्त आता है, उससे ही उसका पोषण हो है। जब अपरा बन जाती है तब केवल अपरानुसा माता की रसवह धमनियों से उसका पोषण होता है।

प्राचीनमत—जब तक अपरा नहीं बनती तब त गर्भ का पोषण बीज द्वारा स्वयं ग्रहण किए गए आहारों होता है। यह आहार उसको गर्भाशयस्थित मातृ-र और रक्त से मिलता है। यह पोषण का प्रथम क्रम है इसके बाद जब अपरा की उत्पत्ति हो जाती है तब पोषण क क्रम अपरा तथा नाभिनाल के द्वारा होने लगता है।—अ० शा

गर्भ को प्यास तथा क्षुधा नहीं होती, उसका जीव पराधीन होता है, अर्थात् माता के आधीन होता है। व सत् और असत् (सूक्ष्म) अङ्गावयव वाला गर्भ मात पर आश्रित रहता हुआ उपस्नेह और उपस्वेद (ऊष्मा) से जीवित रहता है। जब अङ्गावयव व्यक्त ह जाते हैं—स्थूल रूप में आ जाते हैं तब कुछ त रोम-कूप के मार्ग से उपस्नेह होता है और कुछ नाभि-ना के मार्ग से। गर्भ की नाभि पर नाड़ी लगी रहती है, ना के साथ अपरा लगी (जुड़ी) रहती है और अपरा का सम्ब माता के हृदय के साथ रहता है। गर्भ की माता का हृ स्पन्दमान (बहती हुई) सिराओं द्वारा उस अपरा को र या रक्त से परिपूर्ण करते रहता है। वह रस गर्भ क वर्ण और बल देने वाला होता है। सम्पूर्ण रसों से यु आहार-रस गर्भिणी-स्त्री में तीन भागों में विभक्त हो जात है। प्रथम भाग उसके अपने शरीर की पुष्टि के लि होता है। दूसरा भाग क्षीरोत्पत्ति के लिये तथा तीसर भाग–गर्भ-वृद्धि के लिए होता है। इस तरह ग आहार से परिपालित हो कर गर्भाशय में जीवि रहता है[1]।

---

[1] १–तृतीये मासि सर्वेन्द्रियाणि सर्वाङ्गावयवाश्च यौगपद्येनाभि निर्वर्तन्ते......

[2] २–तृतीये पञ्चधा प्ररोहति। तद्यथा—सक्थिनी बाहू शिरश्च। सक्थ्यादिप्ररोहैककालमेव च सर्वाङ्गावयवेन्द्रियाणि युगपत् सम्भवन्त्यन्यत्र जन्मोत्तरकालजेभ्यो दन्तादिभ्यः। क्रमेण तु स्फुटी भवन्ति। एषा प्रकृतिः, विकृतिरतोऽन्यथा। —सं० शा० २

[1] १–व्यपगत पिपासाबुभुक्षणः खलुगर्भः परतंत्रवृत्तिः, मात माश्रित्य वर्त्तयत्युपस्नेहोपस्वेदाभ्यां गर्भस्तु सदसद् भूत ङ्गावयवः। तदनन्तरं ह्यस्य लोमकूपायनैरुपस्ने कश्चिन्नाभिनाडचयनैः। नाभ्यां ह्यस्य नाड़ी प्रसक्त नाडयाञ्चामरा, अमराचास्य मातुः प्रसक्ता हृदये, मा हृदयं ह्यस्य तामपरामभिसंप्लवते सिराभिः स्पन्दमाना स तस्य रसो बलवर्णकरः सम्पद्यते। स च सर्वरसवान हारः स्त्रिया ह्यापन्नगर्भायास्त्रिधा रसः प्रतिपद्यते स्व

चतुर्थे व्यक्तताऽगानां--

चतुर्थ मास में अङ्ग व्यक्त हो जाते हैं।

वक्तव्य--चतुर्थ मास में गर्भ ६ इन्च लम्बा (१५ सेण्टीमीटर) भार में ७ औंस का होता है। लिङ्ग पूर्णतया व्यक्त हो जाता है, गर्भ-लोम पूरी त्वचा पर निकल आते हैं। मांसपेशियाँ स्पष्ट हो जाती हैं। गर्भ में चतुर्थ मास के अन्त में कुछ गति होने लगती है, जो स्त्री स्वयं प्रतीत करने लगती है।

प्राचीनमत--चतुर्थ मास में सभी अङ्ग-प्रत्यङ्ग के विभाग स्पष्ट हो जाते हैं। गर्भ हृदय पूर्णतया व्यक्त हो जाता है। फलतः चेतना-धातु भी कार्यशील हो जाता है। अतः इस मास में गर्भ अपनी इन्द्रियों से विषय ग्रहण करने की इच्छा करने लगता है। फलतः गर्भ के अनुसार माता को खाना, पीना, देखना, सुनना आदि आहार-विहारों की इच्छा होने लगती है। इस अवस्था में गर्भिणी-स्त्री दो हृदयवाली हो जाती है। इसीलिये इसे "दौहृदिनी" कहते हैं[1]।

इस मास में ही रोमकूप निकलते हैं[2]। चतुर्थ मास में गर्भ स्थिर (ठोस-घन) हो जाता है। इसलिये उस समय गर्भिणी को अपना देह विशेषतः भारी प्रतीत होता है[3]।

चतुर्थ मास में गर्भ गर्भाशय में स्थिर हो जाता है तथा उपद्रवों से रहित होता है। इस मास में गर्भिणी का शरीर भी अधिक भारी हो जाता है[4]।

चेतनायाश्च पञ्चमे।

पञ्चम मास में चेतना स्पष्ट हो जाती है। चेतना मन को कहते हैं।

वक्तव्य--इस मास में ७ से ८ इन्च लम्बा तथा भार में लगभग आधा सेर का गर्भ होता है। अन्य अङ्गों की अपेक्षा शिर बहुत बड़ा होता है। त्वचा के ऊपर उल्ब नामक एक चिकना पदार्थ लगा हुआ रहता है, इससे त्वचा की रक्षा होती है। यकृत् अच्छी तरह बन जाता है। लम्बाई अधिकतर टाँगों में होती है। आन्त्र में कुछ मल इकट्ठा होने लग जाता है। गर्भ का चलन-वलन अधिक होता है।

प्राचीनमत--इस मास में गर्भ की पेशियों की वृद्धि होती है। (फलतः गर्भिणी का बल तथा वर्ण घट जाता है) अन्य महीनों की अपेक्षा अधिक होती है। इसलिये बहुत कृश हो जाती है[1]।

सुश्रुत ने मन की अभिव्यक्ति इसी मास में निर्दिष्ट की है[2]। काश्यप ने भी कहा है--"हे जीवक! पञ्चम मास में गर्भ के मांस और रक्त में विशेष वृद्धि होने लगती है। इसलिये इस समय गर्भिणी अत्यन्त कृश हो जाती है[3]।" अष्टाङ्ग संग्रह में भी ऐसा ही लिखा है[4]। गर्भोपनिषद्कार कहते हैं कि--इसमें पृष्ठवंश होता है[5]।

मन--मन्यते ज्ञायते--अनेन इति मनः। मन ज्ञाने धातु से मन शब्द बनता है। ज्ञान का होना अथवा न होना ही मन के अस्तित्व का लक्षण है। सुख-दुःख आदि के साक्षात्कार या उपलब्धि का जो साधन है, वह मन है। मन अणु, एक सर्वशरीरचर है, यह जहाँ आवश्यकता होती है वहाँ पर तत्क्षण पहुँच कर इन्द्रियार्थों के ग्रहण करने में

शरीरपुष्टये स्तन्याय गर्भवृद्धये च। स तेनाहारेणोपष्टब्धः परतंत्रवृत्तिर्मातरमाश्रित्य वर्त्तयत्यन्तर्गतः।
—च० शा० ६

[1]–चतुर्थे सर्वाङ्गप्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्ततरो भवति, गर्भहृदयप्रव्यक्तीभावाच्चेतनाधातुरभिव्यक्तो भवति, कस्मात्—तत् स्थानत्वात्, तस्माद् गर्भश्चतुर्थेमास्यभिप्रायमिन्द्रियार्थेषु करोति, द्विहृदयाञ्च नारीं दौहृदिनीमाचक्षते। ——सुश्रुत

[2]–चतुर्थे लोमानां सम्भवश्चात्र दृश्यते। —हारीत

[3]–चतुर्थे स्थिरत्वमापद्यते गर्भः। तस्मात्तदा प्रभृति गर्भिणी गुरुगात्रत्वमधिकमापद्यते विशेषेण।। ——चरक

चतुर्थेऽङ्ग-प्रत्यङ्गविभागः प्रव्यक्तो गर्भश्च स्थिरो भवति। ——अ० सं०

[4]–चतुर्थे स्थिरतां याति गर्भः कुक्षौ निरामयः। —का०सं०

[1]–पञ्चमे मासि गर्भस्य मांसशोणितोपचयो भवत्यधिकमन्येभ्यो मासेभ्यः। ——चरक

उल्बं हि नाम पूतिग्रन्थिनिःस्रवेणमृतत्वक्कोषाणुभिश्चविनिर्मितः स्नैहिकस्तरो, गर्भोदकमग्नस्य गर्भत्वचोऽभिरक्षणः। —अ० प्र० तं०

चेतनायाः पुनर्मनोद्वितीयनामिकाया अव्यक्तरूपायाः पञ्चमे मासि व्यक्तता जायते। ——अरुणदत्त

[2]–पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति। ——सुश्रुत।

[3]–गर्भिणी पञ्चमे मासि तस्मात् कार्त्स्न्येन युज्यते।
गुरुगात्रत्वमधिकं गर्भिण्या स्तत्र जायते।
मांसशोणितवृद्धिस्तु पञ्चमे मासि जीवकं। —का०सं०

[4]–पञ्चमे मनः प्रतिबुद्धतरं भवति, मांसशोणितोपचयश्चं।
—वृ० वा०

[5]–पञ्चमे पृष्ठवंशो भवति। —गर्भोपनिषद्।

सहायता करता है[1]। केश-नखादि संज्ञाहीन शरीर के उपाङ्गों को छोड़ कर मन समस्त शरीर में सञ्चार करके ज्ञान प्राप्त कराता है[2]। सुश्रुत में मन की गणना इन्द्रियों के भीतर करते हुए इसको कर्मेन्द्रिय तथा ज्ञानेन्द्रिय दोनों में मान कर उभयात्मक कहा है[3]। अन्य इन्द्रियों के साथ सात्विक अहङ्कार से मन की उत्पत्ति सांख्य-शास्त्र के अनुसार सुश्रुत ने बतलाई है[4] इसलिये मन भी इन्द्रिय है। ज्ञानेन्द्रियों के साथ मन का घनिष्ठ सम्बन्ध है।

चरक के मत से आत्मा श्रोत्रादि इन्द्रियों तथा शब्दादि विषयों के साथ सम्बन्ध होते हुए भी कभी किसी विषय का ज्ञान होता है तथा कभी नहीं होता है। इस ज्ञान का होना तथा न होना किसी कारणान्तर को सूचित करता है। इस कारणान्तर को ही मन कहते हैं[5]।

षष्ठे स्नायुसिरारोमबलवर्णनखत्वचाम् ।।५७।।

षष्ठ मास में स्नायु-सिरा-रोम-बल-वर्ण-नख तथा त्वचा उत्पन्न होती हैं।

वक्तव्य—इस मास में गर्भ ९ इञ्च (२३ से० मी०) लम्बा होता है तथा इसका भार एक सेर का होता है। त्वचा के नीचे मेद का सञ्चय हो जाता है तथा सिर पर बाल उग आते हैं। इस समय "अण्डग्रन्थि" वृक्क के पास उदर में रहती है। भ्रू और पक्ष्म बनने लगते हैं।

प्राचीन-मत—इस मास में गर्भ में अन्य मासों की अपेक्षा बल और वर्ण की अधिक वृद्धि होती है, इसलिये इस समय गर्भिणी में विशेषतया निर्बलता होती है तथा वर्ण भी पीला पड़ जाता है[6]।

षष्ठ मास में विशेषत: वृद्धि (अधिक प्रव्यक्त) हो
है। सु०, अ० संग्रह तथा गर्भोपनिषद् में भी ऐ
ही लिखा है।

सर्वैः सर्वाङ्ग सम्पूर्णो भावैः पुष्यति सप्तमे।

सप्तम मास में गर्भ सम्पूर्ण-समस्त अङ्गों को पूर्ण क
वाले भावों (वस्तुओं) से पुष्ट हो जाता है[1]।

वक्तव्य—इस मास में गर्भ की लम्बाई लगभग ११
(२६–५–से० मी०) और भार पौने दो सेर का होता है
नेत्रवर्त्म खुल जाते हैं। कनीनकच्छद नामक
धीरे-धीरे विलीन हो जाती है। सम्पूर्ण शरीर मृदु
सूक्ष्म लोमों से आच्छादित हो जाता है। आन्त्र में काला
रङ्ग का गर्भ-मल मिलता है। त्वचा के नीचे अ
मेद का सञ्चय होने से गर्भ के त्वचा की बलियाँ (झुरि
दूर हो जाती हैं। अण्ड ग्रन्थियाँ कुछ नीचे को उतरती
गर्भप्रसव के बाद कुछ काल जीवित रह सकता है।
में जीवनोपयोगी सब अङ्गों की कम-से-कम जितनी वृ
होनी जरूरी है, उतनी वृद्धि इस मास में होती है।

गर्भोपनिषद् लिखा है कि–"जीव से युक्त हो जाने का
यह गर्भ जीने योग्य हो जाता है—अर्थात् इस मास
आखिरी में बालक का जन्म हो जाये तो उसकी विधि
परिचर्या करने से वह जीवित रह सकता है[2]। किन्तु
बालक अकाल प्रसव होने के कारण दीर्घायु और तन्दुरु
नहीं होता है[3]। नव्यमत वाले भी इस मास के अन्त
बालक की उत्पत्ति मानते हैं।

गर्भेणोत्पीडिता दोषा स्तस्मिन् हृदयमाश्रिताः।
कण्डूं विदाहं कुर्वन्ति गर्भिण्याः किक्विसानि च ।।५

गर्भ के कारण उत्पीडित हुए वातादि दोष गर्भ-समय
हृदय में आश्रित हो कर गर्भवती के कण्डू तथा विदाह
किक्विस रोग उत्पन्न करते हैं। (क्रमशः)

---

[1] १–मनः पुरस्सराणीन्द्रियाणि—अर्थग्रहण समर्थानि भवन्ति। —चरक सू० ८

[2] २–वेदनानामधिष्ठानं मनोदेहश्च सेन्द्रियः।
केशलोमनखाग्रान्न–मलद्रवगुणैर्विना। —च० शा०

[3] ३–उभयात्मकं मनः। —सु० शा० १

[4] ४–इन्द्रियञ्च साधर्म्यात्। —सां० का०
तत्र वैकृतादहङ्कारात्तैजस सहायात्तल्लक्षणान्येवैकादशेन्द्रियाण्युत्पद्यन्ते। —सुश्रुत शा० १

[5] ५–लक्षणं मनसो ज्ञानस्वाभावो भाव एव च।
सति ह्यात्मेन्द्रियार्थानां सन्निकर्षेण वर्तते।
वैकृत्यान्मनसो ज्ञानं सान्निध्याच्च वर्तते। —च० शा० १

[6] ६–षष्ठे मासि गर्भस्य बलवर्णोपचयोभवत्यधिकमन्येभ्यो-मासेभ्यः। (च०)। षष्ठे बुद्धिः। (सु०)। बलव-र्णौजसां वृद्धिः षष्ठे मातुःश्रमोऽधिकः। (का० सं०)। षष्ठे केशरोमनखास्थिस्नाय्वादीन्यभिव्यक्तानिबलवर्णोपचयश्च। (अ० सं०)। षष्ठे मासे मुखनासिका
श्रोत्राणि भवन्ति। (गर्भोपनिषद्)।

---

[1] १–गर्भःसर्वैर्भावैराप्यायते सहसा, तस्मात्तदा गर्भिणी सर्वा
क्लान्तमा भवति। —च०

[2] २–सप्तमे मासे जीवने संयुक्तो भवति। —गर्भोपनि

[3] ३–तेन सर्वेण जन्मजीवनलक्षणेन अर्थेन अङ्गैश्च सम्पू
भवत्यवतिष्ठते। तथा चास्मिन् सप्तमे मासि ग
जातो जीवति, किन्त्वकाल प्रसवत्वान्न तथा दीर्घजीवि
त्वादिकं स्यादिति।

स्वामी दयानिधिजी महाराज

आचार्य श्री नरदेव शास्त्री, वेदतीर्थ

आपका जन्म खण्डाला ग्राम में हुआ था। यह खण्डाला ग्राम जयपुर से ६० मील के अन्तर पर है। इस समय आपकी अवस्था ६६ वर्ष की है।

बाल्यावस्था की शिक्षा खण्डाला में हुई। आपने स्व० महानन्दजी से देहरादून में व्याकरणशास्त्र पढ़ा, आयुर्वेद की शिक्षा स्वर्गीय स्वामी लच्छीराम जी आयुर्वेदाचार्य (जयपुर) से प्राप्त की। साहित्य, धर्मशास्त्र, सांख्य-वेदान्त जयपुर के पण्डितों से सीखा। प्राइवेट रूप में आपने अंग्रेजी का भी पर्याप्त ज्ञान प्राप्त किया। इस तरह स्व० दयानिधि जी व्यापक पण्डित बने, किन्तु इनकी प्रसिद्धि आयुर्वेद के कारण ही हुई, क्योंकि आयुर्वेद के क्षेत्रमें ही इनका जीवन लगा रहा। आप १९१९ में नौ मई से बाबा काली कमलीवाले के क्षेत्रसे सम्वद्ध आयुर्वेदिक औषधालय में काम करने लगे थे। आपने ही आयुर्वेद सेवा-समिति की स्थापना की जिसमें लगभग दो लक्ष की स्थिर निधि है। इस समिति की संरक्षिका एक समिति है: जिसके अध्यक्ष हैं, देहरादून गुरु रामराय दरबार के महन्त श्री इन्दिरेश- चरण दास, एम० ए०।

स्वामी दयानिधिजी महाराज

आयुर्वेद सेवा-समिति के मुख्य उद्देश्य

श्री १०८ बाबा काली कमलीवाले हृषीकेश की आयुर्वेद सेवा-समिति का उद्देश्य सर्वसाधारण जनता में आयुर्वेदीय औषधियों का स्वल्प मूल्य में प्रचार करना है। इनके अधीन (१) आयुर्वेद विद्यालय, (२) श्री धन्वन्तरि छात्रावास, (३) औषधालय, (४) पुस्तकालय और (५) औषध-निर्माणशाला है, जो ३६ वर्षों से अपना कार्य करके जनता-जनार्दन की सेवा कर रही है। विद्यालय में सैकड़ों छात्र आयुर्वेद-शिक्षा प्राप्त करके भारत के कोने-कोने में चिकित्सा कर रहे हैं। निर्माणशाला में उन्हें औषधि-निर्माण कार्य में दक्ष बनाया जाता है। धर्मार्थ औषधालय में रोगियों को मुफ्त दवा दी जाती है।

स्व० दयानिधिजी ने कलकत्ते के प्रसिद्ध स्वर्गीय कविराज श्री गणनाथ सेन जी से भी आयुर्वेदिक तत्त्वों के रहस्य का ज्ञान प्राप्त किया था और श्री गणनाथ सेन जी कविराज ने आपकी विद्या, बुद्धि-तत्परता, परिश्रम से प्रसन्न होकर निम्न श्लोक में आपकी प्रशंसा की थी।

अस्माकं प्रिय शिष्याय।
वैदिकोद्धार धीमते॥
अर्पितः सादरं कोऽपि।
श्री दयानिधये निधिः॥

अर्थात् हम अपने प्रिय शिष्य दयानिधि को जो आयुर्वेदिक पद्धति के उद्धार में लगे हुए हैं आयुर्वेद-निधिकी उपाधि दे रहे हैं अथवा आयुर्वेद की निधि दे रहे हैं। आपके गुरु-भाइयों में जयपुर के श्री स्व० जयराम दास, (जयपुर), श्री मणिरामजी आयुर्वेद विश्वभारती (सरदार-शहर) आदि गण्यमान्यों का नाम उल्लेख योग्य हैं।

[आपका कार्यक्षेत्र उत्तराखण्ड रहा है और प्रायः ४० वर्षों से ऋषीकेश में ही रहते हैं और बाबा काली कमली-वाले के औषधालय का संचालन कर रहे हैं। इस औषधालय की शाखा-प्रशाखाएँ बद्रीनाथ-धाम, केदारनाथ-धाम की यात्रा लाइन में प्रति वर्ष छह महीने के लिए खुलती हैं, जिनसे इधर तीर्थ-यात्रा करनेवाले लक्षों यात्रियों को लाभ पहुँचता रहता है। स्वामी दयानिधि जी का नाम उत्तराखण्ड का बच्चा-बच्चा जानता है। आप निखिल भारत-वर्षीय आयुर्वेद विद्यापीठ के प्रमुख सदस्य और आयुर्वेद सम्मेलन उत्तर प्रदेश के भी प्रमुख सदस्य रहे हैं।

आपका जीवन, रहन-सहन, सरल तथा मितव्ययी रहा है और अब तक जो कुछ धन आपने कमाया वह सब उपकारी

कार्य में लगा रहे हैं। आपने अपने गुरु स्वर्गीय श्री स्वामी महानन्द जी के नाम से ऋषीकेश में महानन्द आश्रम नामक संस्था स्थापित की है। यह आश्रम ऋषीकेश स्टेशन रोड पर स्थित है, इस पर लगभग सत्तर हजार रुपये व्यय हुए हैं। इस आश्रम का उद्देश्य है, संस्कृत शिक्षा-प्रसार और आयुर्वेदोद्धार। आपने इस आश्रम को श्री दादूदयाल ट्रस्ट (जयपुर) के सुपुर्द किया है, जो इस आश्रम का संचालन करेगा।

स्वामी दयानिधि जरा स्वस्थ हो जायँ तो इसका उद्घाटन समारम्भ होगा, इनका भतीजा या शिष्य श्री विद्याधर आयुर्वेदिक कालेज जयपुर में विद्याध्ययन कर रहा है और इस वर्ष जयपुर का भिषगाचार्य हो जायेग। वह अत्यन्त सरल, विनयी, सदाचारी एवं परिश्रमी नव-युवक है।

स्व० दयानिधि जी कभी लोकैषणा में नहीं पड़े। एक तपस्वी की भाँति आयुर्वेद की सेवा करते रहे—जहाँ शरीर मुख्य धर्म-साधन का मन्दिर है, वहाँ यह व्याधियों का भी मन्दिर है। खेद है स्व० दयानिधि जी कुछ काल से रुग्ण हैं। सब प्रकार से आपकी सेवा-सुश्रुषा की जा रही है। ईश्वर आपको स्वास्थ्य प्रदान करे जिससे वह पूर्ववत् अपने व्रत—आयुर्वेद सेवा का पालन कर सकें, तथास्तु, एवमस्तु, परेशो मङ्गलं विदधातु।

शेषांश]

हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदिक कालेज

[पृष्ठ ७४४ का

स्वीकार किया गया है इसलिए इस भावी कालेज का नाम 'कालेज आफ मेडिकल साइंसेज' रहेगा। अब तक के हिन्दूविश्वविद्यालय के ए० एम० एस् अथवा ए० बी० एम० एस्० स्नातक दो वर्ष तक एलोपैथी का कंडेंस्ड कोर्स पास कर लेंगे तो उनको भी इस कालेज की एम० बी० बी० एस० की डिग्री मिलेगी।

इसके बाद १५ मास का 'एम० एस० सी० इन आयुर्वेद' का कोर्स रहेगा। उसको सरकार द्वारा स्वीकृत पञ्चवर्षीय कोर्स वाले सभी कालेजों के उत्तीर्ण छात्र पढ़ सकेंगे। भारत में यह एक पहला कालेज होगा जिसमें एम० बी० बी० एस्० के कोर्स में आयुर्वेद एक कम्पलसरी विषय रहेगा। भारत सरकार की यह कामना समझ में आती थी कि मेडिकल शिक्षा के साथ आयुर्वेद के भी एक दो प्रश्नपत्र रख दिये जायं और वैसी व्यवस्था हो जाने पर आयुर्वेद कालेजों की स्वतन्त्र आवश्यकता न समझी जाय। संभवतः आगे चल कर इस कालेज का अनुकरण भारत के अन्य मेडिकल कालेज भी करें। और सरकार आयुर्वेद की समाप्ति इस पद्धति से करे।

जामनगर में भारत सरकार की सहायता से पोस्ट-ग्रेजुएट ट्रेनिंग सेंटर इन आयुर्वेद चल रहा है। वहाँ कोई डिग्री नहीं दी जाती है। यदि वहाँ के उत्तीर्ण छात्र यहाँ आना चाहेंगे तो वे भी एम० एस० सी० कोर्स में लिये जा सकेंगे। वहाँ की शिक्षा का दृष्टिकोण आयुर्वेद को एलोपैथी में आत्मसात् करना ही प्रतीत होता है। किसी भी मेडिकल कालेज के ग्रेजुएट जिनको आयुर्वेद की शिक्षा नहीं मिली है यदि एक वर्ष का आयुर्वेदीय कंडेंस्ड कोर्स पास कर लेंगे तो वे भी 'एम० एस० सी० इन आयुर्वेद' में प्रवेश पा सकेंगे।

'एम०एस०सी० इन आयुर्वेद' में उत्तीर्ण छात्र पी० एच्० डी० इन आयुर्वेद में प्रवेश पास पा सकेंगे। उसका दो वर्ष का कोर्स रहेगा। यह गत ५. २. ६० को हाल में ही निश्चय किया गया है। यह स्वीकृति पं० राजेश्वरदत्त शास्त्री के विशेष अध्यवसाय और अनुरोध पर प्रिंसिपल डा० उडुप्पा और वाइसचांसलर डा० झा की संमति से हुई है। सन्तोष यही है अब तक आयुर्वेद के नाम से प्राप्त हुआ धन सीधा एलोपैथों के उदर में जाता था अब वह आयुर्वेद के ही उपयोग में आ सकेगा। इस कालेज में आयुर्वेद का विकास कैसा-क्या होगा यह तो भविष्य ही बता सकेगा। ह्रास तो वर्तमान कालेज की समाप्ति से संमुख उपस्थित है ही।

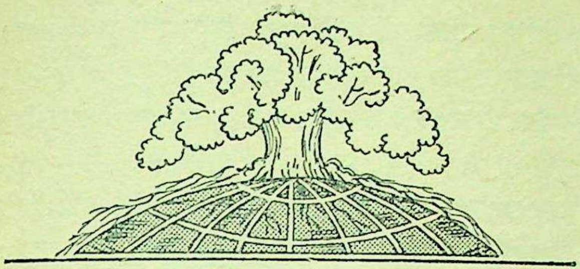

आयुर्वेद-जगत्

उत्तर प्रदेश में आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सा की प्रगति

उत्तर प्रदेशीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा-प्रणाली की संस्थाओं की सन् १९५६-७ की वार्षिक रिपोर्ट में कहा गया है कि आलोच्य वर्ष में आठ आयुर्वेदिक तथा दो यूनानी राजकीय चिकित्सालयों की स्थापना की गई। इस प्रकार इनकी संख्या बढ़ कर क्रमशः ४७८ और ९० हो गई। इन चिकित्सालयों में लगभग ९७ लाख व्यक्तियों की चिकित्सा की गई।

रिपोर्ट में कहा गया है कि आयुर्वेदिक एवं यूनानी औषधि निर्माणशाला, विभागीय अधिकारियों तथा आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी पर पूर्व वित्तीय वर्ष (१९५५–५६) के ४१,०८,३०० रुपयों की तुलना में आलोच्य वित्तीय वर्ष में ५५,२२,८०० रुपया व्यय हुआ।

राजकीय आयुर्वेदिक व यूनानी चिकित्सालयों की उपयोगिता बढ़ाने के उद्देश्य से पुराने चिकित्सालयों को ३९,५०० रुपयों और नवीन चिकित्सालयों को २२,३०० रुपयों की साज-सज्जा तथा उपकरणादि दिये गये।

अन्तरंग चिकित्सा की सुविधाओं का विस्तार करने की दृष्टि से द्वितीय आयोजना के प्रथम वर्ष में दस नवीन राजकीय अस्पतालों में अन्तरंग विभाग स्थापित किये गये। इनमें ३०७ रोगियों की चिकित्सा की गयी। केदारनाथ और बदरीनाथ मार्ग पर गढ़वाल जिले के चार अस्पतालों में अस्थाई रूप से चार अन्तरंग विभागों की स्थापना की गई। इलाहाबाद में माघ मेला और हरिद्वार अर्द्ध कुम्भ मेला के अवसर पर अन्तरंग चिकित्सा-युक्त आयुर्वेदिक चिकित्सालयों की व्यवस्था की गई।

रिपोर्ट में कहा गया है कि जिला बोर्ड के चिकित्सालयों की संख्या ४२३ थी जिसमें से ३७९ आयुर्वेदिक तथा ४४ यूनानी अस्पताल थे। जिला बोर्ड द्वारा संचालित राजकीय सहायता प्राप्त आयुर्वेदिक चिकित्सालयों की संख्या ६४ और यूनानी चिकित्सालयों की संख्या २० थी। इस वर्ष इन चिकित्सालयों को ४८,९१९ रुपयों की सहायता दी गई।

रिपोर्ट के अनुसार स्वास्थ्य मन्त्री के विवेकाधीन कोष से इस वर्ष २३६ चिकित्सालयों को ८३,४६५ रुपए के अनुदान स्वीकृत किए गए। ये चिकित्सालय ग्रामीण क्षेत्रों में स्थापित थे, जहाँ निःशुल्क औषधि वितरित की जाती थी।

भारतीय चिकित्सा परिषद्, उत्तर प्रदेश से सम्बन्धित आयुर्वेदिक एवं यूनानी विद्यालयों के अलावा आयुर्वेदिक महाविद्यालय, हिन्दूविश्वविद्यालय, वाराणसी, में ए० एम० एस०, आयुर्वेदिक महाविद्यालय, लखनऊ विश्वविद्यालय में बी० एम० बी० एस० और तिब्बिया कालेज, मुस्लिम विश्वविद्यालय, अलीगढ़, में बी० यू० टी० एस० की शिक्षा जारी रही। इनके अलावा गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय हरद्वार और गुरुकुल विश्वविद्यालय, वृन्दावन में भी यथावत अध्यापन और चिकित्सा-कार्य होते रहे।

रिपोर्ट में यह भी कहा गया है कि राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी औषधि निर्माणशाला में २६२ आयुर्वेदिक तथा यूनानी औषधियों का निर्माण हुआ, जिनका मान ८२५ मन था। इस विभाग ने प्रदेश के समस्त राजकीय आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सालयों में प्रयुक्त होनेवाली औषधियों की व्यवस्था तो की है, साथ ही नेपाल राज्य तथा राष्ट्रीय प्रसार सेवा-खण्डों में औषधियों के प्रयोग के निमित्त औषधि-पेटिकाओं की औषधियों का भी निर्माण किया।

इस वर्ष ९७७ वैद्यों तथा २०५ हकीमों का रजिस्ट्रेशन किया गया। इस प्रकार वर्ष के अन्त में इनकी संख्या क्रमशः २५,६२१ और ६,९३२ हो गई।

आयुर्वेदिक एवं तिब्बी अकादमी ने ११ पुस्तकों के लेखकों को पुरस्कार भी दिये।

रिपोर्ट में कहा गया है कि ग्रामीण क्षेत्रों में चिकित्सालय स्थापित करके निःशुल्क औषधि वितरित करने वाले २८ चिकित्सकों को २० रुपये प्रतिमास के हिसाब से सहायता दी गई।

बिहार राज्य आयुर्वेद विज्ञान सम्मेलन

बिहार राज्य आयुर्वेद विज्ञान सम्मेलन का द्वितीय अधिवेशन कविराज विद्यानारायण शास्त्री की अध्यक्षता में भागलपुर में सफलतापूर्वक ६ फरवरी को सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में राज्य के विभिन्न हिस्सों से पर्याप्त संख्या में प्रतिनिधि सम्मिलित हुए थे। सम्मेलन का उद्‌घाटन बिहार सरकार के स्वास्थ्य मन्त्री श्री वीरचन्द पटेल ने किया। अधिवेशन का उद्‌घाटन करते हुए अपने महत्त्वपूर्ण भाषण में स्वास्थ्य मन्त्री ने कहा कि आज आयुर्वेद विषम स्थिति में पड़ गया है। यदि इसका विकास नहीं हुआ और वैद्य समुदाय आधुनिक विज्ञान की अच्छाई को अपनाने में असमर्थ रहा तो भारतीय जनता की अपूर्व निधि समाप्त हो जायगी। वैद्यों को चेतावनी देते हुए स्वास्थ्य मन्त्री ने कहा कि आयुर्वेद विज्ञान सम्मेलन को इस पर विचार करना चाहिए। चरक-सुश्रुत और वाग्भट में किसी भी औषधि का चमत्कारी गुण लिखा गया है। इसलिए आज के युग का वैज्ञानिक इसे स्वीकार नहीं कर सकता है। विज्ञान की आधुनिक कसौटी पर कसने के बाद ही सारा संसार इसकी ओर आकृष्ट हो सकता है। अनुसन्धान की चर्चा करते हुए स्वास्थ्य मन्त्री ने कहा कि सरकार आयुर्वेद की औषधों का परीक्षण आधुनिक विज्ञान के द्वारा करा कर विश्व के सामने नयी चीजें देना चाहती है। विज्ञान सम्मेलन को इस दिशा में प्रयास करना चाहिए। वैज्ञानिक को अपने दिल और दिमाग का दरवाजा खुला रखना चाहिए जिससे सत्य को ग्रहण किया जा सके। अन्त में आपने वैद्यों से संगठित होने की मार्मिक अपील की। स्वास्थ्य मन्त्री के भाषण के बाद अधिवेशन के मनोनीत अध्यक्ष कविराज विद्यानारायण शास्त्री का अत्यन्त सारगर्भित भाषण हुआ, जिसमें आयुर्वेद से संम्बन्धित विभिन्न सामयिक प्रश्नों पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया था।

बिहार राज्य आयुर्वेद-यूनानी अधिकाय के अध्यक्ष एवं बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संचालक श्री रामदयाल जोशी और कविराज श्री सुखराम प्रसाद के भी अधिवेशन में अत्यन्त मार्मिक भाषण हुए। श्री जोशी जी ने आयुर्वेद की ज्वलन्त समस्याओं पर प्रकाश डालते हुए आयुर्वेदोत्थान के लिए वैद्य-समाज से सम्मिलित प्रयास करने की जोरदार अपील की। अधिवेशन में आयुर्वेद के रचनात्मक कार्यक्रम, चिकित्सा-अनुसन्धान, औषध-निर्माण एवं परिवार-नियोजन की विभिन्न समस्याओं पर विचार किया गया। आयुर्वेद के विकासार्थ सात महत्त्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए। प्रस्ताव में राज्य की प्रत्येक गाँव पंचायत के तत्वावधान में आयुर्वेदीय औषधालय की स्थापना, कास रोग पर पुनर्परीक्षणात्मक अनुसन्धान एवं तत्सम्बन्धी साहित्य संकलित करने एवं सहयोगिता के आधार पर औषध-निर्माण करने पर जोर दिया गया। इस अवसर पर जिला वैद्य-हकीम सम्मेलन का अधिवेशन भी हकीम हाजी रहमान बक्स के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। अधिवेशन का उद्‌घाटन बिहार राज्य आयुर्वेद-यूनानी सम्मेलन के प्रधान मन्त्री प्राध्यापक कविराज श्री सुखरामप्रसाद जी ने किया। उन्होंने वैद्यों और हकीमों की सामान्य समस्याओं पर प्रकाश डाला और जिले के प्रतिनिधियों को संगठित होने की सलाह दी। सभापतिजी ने वैद्यों और हकीमों की चिन्तनीय दशा का विश्लेषण करते हुए सरकार से अधिक सहायता की माँग की। सम्मेलन की सफलता के लिए बिहार के मुख्य मन्त्री डा० श्रीकृष्ण सिंह ने अपनी शुभकामना प्रेषित की थी, जो खुले अधिवेशन में पढ़ कर सुनायी गयी।

आयुर्वेद प्रकृति के सर्वथा अनुरूप

अष्टांग आयुर्वेद महाविद्यालय व ब्रह्मचर्याश्रम इन्दौर के आद्य संस्थापक स्वर्गीय महर्षि स्वामी द्वारकादत्तजी महाराज की पुण्यतिथि के अवसर पर आयोजित समारोह के अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए इन्दौर मण्डल के आयुक्त (कमिश्नर) श्रीमान् युधिष्ठिर भार्गव आइ० ए० एस० महोदय ने कहा कि आयुर्वेद का प्रकृति के साथ गहरा सम्बन्ध है। अन्य पैथियों से तुलना करते-हुए आपने बताया कि आयुर्वेदिक चिकित्सा ही प्रकृति के अनुरूप है तथा अन्य पद्धतियाँ प्रकृति से दूर ही नहीं, अपितु विपरीत दिशा में बढ़ रही हैं; इसीलिए रोगाणुओं की संख्या में ह्रास की अपेक्षा वृद्धि हो रही है। पेनीसीलिन नामक औषध जिन कीटाणुओं (बेक्टीरीयॉज) का जिस मात्रा में प्रयोग होने पर नाश करने में सफल हुई थी, वही अब रोग के साथ रोगी के नाश करने पर भी उतारू हो गई है, क्योंकि कृमियों ने प्राकृतिक रूप से उसके प्रतिकार की शक्ति पैदा कर ली है। आपने अखिल भारतवर्षीय मेडिकल कान्फ्रेन्स के अध्यक्ष शिवपुरी द्वारा दिये गये दंभपूर्ण वक्तव्यों व आक्षेपों का भी तर्कपूर्वक खण्डन किया, जिसमें कहा गया था कि आयुर्वेद-प्रेमी

विधायक व लोकसभा के सदस्यगण स्वयं कभी-कभी आयुर्वेदेतर चिकित्सा कराते हैं। अन्त में आपने आयुर्वेद के उज्ज्वल भविष्य की कामना करते हुए सम्पूर्ण सहयोग प्रदान करने की घोषणा की।

इसके पूर्व महामण्डलेश्वर स्वामी श्री विद्यानन्दजी महाराज न्यायवेदान्ताचार्य (प्रज्ञाचक्षु) महोदय ने भी आयुर्वेद के महत्त्व व उसमें अनुसन्धान व राज्याश्रय की आवश्यकता पर बल देते हुए अपना प्रभावोत्पादक प्रवचन दिया। समारोह में नगर के गण्यमान्य चिकित्सक, श्रेष्ठिवर्ग व पत्रकार उपस्थित थे।

नष्ट अवयव को पुनः ठीक करना संभव

काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय व्याख्यानमाला के अन्तर्गत छात्रों तथा अध्यापकों की एक सभा में भाषण करते हुए काशी हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेद कालेज के प्रिंसिपल डा० के० एन० उडुप्पा ने कहा कि वह समय दूर नहीं है, जब कि किसी नष्ट अंग को ठीक कर देना ही नहीं, अपितु अवयव विशेष के किसी भाग अथवा सम्पूर्ण अवयव को विकसित कर देना भी सम्भव हो जायेगा।

डा० उडुप्पा ने आगे बताया कि निम्न कोटि के जीवों में पुनरुद्धार की प्रक्रिया बड़े ही आश्चर्यजनक ढंग से सम्पन्न होती है। दो भागों में कट जाने पर एक केंचुआ दो हो जाता है। इसी प्रकार छिपकिली की पूरी दुम कट कर अलग हो जाने पर भी सामान्य रूप से बढ़ जाती है। किन्तु उच्चकोटि के जीवों में पुनरुद्धार की शक्ति बहुत ही सीमित होती है। एक कुत्ते की कटी पूँछ सामान्य रूप से विकसित नहीं हो सकती। किसी बड़े पशु का विभिन्न हाथ-पाँव भी स्वाभाविक रूप नहीं प्राप्त कर सकता।

घाव भरने की प्रक्रिया की चर्चा करते हुए डा० उडुप्पा ने बताया कि घाव होते ही घाव की कोमल सतह पर रक्त-वाहिनियों से रुधिर का स्राव आरम्भ हो जाता है और सेल प्रायः मृत हो जाते हैं। किन्तु घाव के इर्द-गिर्द के स्वस्थ सेल सक्रिय हो उठते हैं और उनकी संख्या बढ़ने लगती है। डा० उडुप्पा ने स्लाइडों के द्वारा सेलों तथा कोशाओं की अभिवृद्धि पर प्रकाश डाला। अन्त में आपने बताया कि किस प्रकार किसी नष्ट अवयव के स्थान पर सफलतापूर्वक दूसरा अवयव लगाया जा सकता है। आपने जोर दे कर कहा कि शल्य-क्रिया द्वारा किसी नष्ट हुए अवयव के स्थान पर दूसरा अवयव सफलतापूर्वक लगाया जा सकता है और मनुष्य को भली-भाँति जीवित रखा जा सकता है। आपने कहा कि किसी व्यक्ति की नष्ट आँख तथा गुदा प्रभृति सफलतापूर्वक आजकल लगाए जा सकते हैं।

दन्त रोग की दवा—बायविडंग

आयुर्वेद रिसर्च कौंसिल के तत्वावधान में बायविडंग के सम्बन्ध में चल रहे अनुसन्धान के फलस्वरूप अनुसन्धान-कर्ताओं को यह ज्ञात हुआ है कि 'बायविडंग' मुँह, गले और दाँतों के प्रायः सभी रोगों में अचूक सिद्ध हो रहा है। पायरिया अब असाध्य रोग नहीं माना जायगा। किन्तु अधिक थूक आने तथा ओष्ठ कैंसर पर इसका कोई प्रभाव नहीं देखा गया। बायविडंग भारत, लंका तथा सिंगापुर में उपलब्ध एक लता का बीज है। स्मरणीय है कि चिकित्सा के इतिहास में उपर्युक्त रोगों पर इसका यह प्रभाव प्रथम बार ही जाना जा सका है। गत तीन हजार वर्षों से इसका प्रयोग प्रायः आन्तरिक कृमिघ्न के रूप में (पेट में कीड़े मारने के लिए) होता रहा है।

देश-विदेश के कई प्रसिद्ध अस्पतालों को और अधिक खोज करने के लिए औषधि भेजी जा चुकी है, ताकि इसके गुण-धर्म के बारे में और भी जानकारी प्राप्त हो सके।

ज्ञातव्य है कि आयुर्वेद रिसर्च कौंसिल, दिल्ली का यह दूसरा बड़ा अनुसन्धान है। पहला अनुसन्धान नेत्र-संजीवनी पुनर्नवा है, जो कि ऐनक तक को उतार देती है।

वैद्यनाथ द्वारा आयोजित प्रदर्शनी

अर्द्धकुम्भ के मेले में श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० की ओर से एक स्वास्थ्य प्रदर्शनी का आजोजन किया गया था, जो अपनी सुन्दरता एवं भव्यता के कारण कुम्भनगर में समवेत लाखों नर-नारियों के आकर्षण का केन्द्र बनी रही। इस स्वास्थ्य प्रदर्शनी में सुबोध भाषा में अच्छे ढंग से स्वस्थवृत्त के नियमों का प्रचार तथा चित्रों द्वारा स्वास्थ्य-रक्षा किस प्रकार की जा सकती है उसके महत्व को समझाया गया था। प्रदर्शनी का निरीक्षण अनेक प्रमुख समाज-सेवियों, पत्रकारों एवं साधु-महात्माओं ने किया और सजावट देख कर मुग्ध हो गए! झूंसी श्री प्रभुदत्त जी ब्रह्मचारी ने भी वैद्यनाथ स्वास्थ्य प्रदर्शनी का निरीक्षण किया और प्रसन्नता प्रकट की। उन्होंने वैद्यनाथ प्रतिष्ठान के संचालकों के प्रति ऐसी भव्य प्रदर्शनी

के आयोजित करने पर साधुवाद प्रकट किया और कहा कि बद्यनाथ प्रतिष्ठान ने इस प्रदर्शनी का आयोजन करके लाखों नर-नारियों को जिस प्रभावपूर्ण ढंग से स्वास्थ्य-रक्षा के लिए प्रेरित किया है, वह सर्वथा प्रशंसनीय है।

हि० वि० वि० के उपकुलपति से निवेचन

आयुर्वेद विज्ञान परिषद्, इन्दौर के तत्वावधान में आयोजित एक जन-सभा में प्रस्ताव पारित कर हिन्दू-विश्वविद्यालय, वाराणसी की प्रशासन समिति एवं उपकुलपति से यह अपील की गई है कि आयुर्वेदीय विभाग को समाप्त करने सम्बन्धी निर्णय में अविलम्ब परिवर्तन किया जाय। प्रस्ताव में कहा गया है कि उक्त निर्णय से विश्वविद्यालय के आद्य संस्थापक महामना मालवीयजी महाराज की स्वर्गीय आत्मा दुखित होगी ; साथ ही आयुर्वेद का भी बड़ा अहित होगा। केन्द्रीय सरकार से भी इस मामले में हस्तक्षेप करने की जोरदार माँग प्रस्ताव में की गयी।

ग्राम्य विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विभाग

आरोग्य सेना के नेता डा० लक्ष्मीपति के सुझाव पर अखिल भारत सर्वसेवा संघ ने सेवाग्राम स्थित ग्राम्य विश्वविद्यालय के अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक विभाग की स्थापना करने का निश्चय किया है। इस विभाग के अवैतनिक अध्यक्ष डा० लक्ष्मीपति होंगे। मुफ्त आवास के अतिरिक्त १५०) रु० मासिक वेतन पर एक मन्त्री को नियुक्त करने की स्वीकृति दी जा चुकी है। वनस्पति उद्यान (Herb-garden) के लिए एक कृषि-विशेषज्ञ की नियुक्ति की गयी है, जो वनस्पति उद्यान की देख-रेख करेगा। इस आयुर्वेदिक विभाग को २००० रुपए की रकम अग्रिम के तौर पर दी गयी है। इस विभाग को आर्थिक दृष्टि से आत्मनिर्भर बनाने के लिए डा० लक्ष्मीपति को सार्वजनिक क्षत्र से चन्दा एकत्र करने का अधिकार सौंपा गया है।

निम्नलिखित योजनाएँ तत्काल कार्यान्वित की जायँगी :—

(१) आचार्य विनोबा भावे के निर्देशन में कस्तूरबा हॉस्पिटल और मेनरोड के बीच की ५ एकड़ भूमि में (सेवाग्राम में) वनस्पति उद्यान की स्थापना।

(२) रोगों की रोकथाम के लिए सेवाग्राम के पार्श्ववर्ती ग्रामों के वैद्यों को प्रशिक्षित करना।

(३) सेवाग्राम स्थित ग्राम्य विश्वविद्यालय में आयुर्वेद फेकल्टी का प्रधान मन्त्री श्री जवाहरलाल नेहरू द्वारा उद्घाटन।

(४) उपयुक्त साहित्य का प्रकाशन।

मकरसंक्रान्ति के अवसर पर एक दर्जन तुलसी एवं जसमिन के पौधे विश्वविद्यालय के वनस्पति उद्यान में लगाए गए।

सेवाग्राम के पार्श्ववर्ती ४० गाँवों के वैद्यों को प्रशिक्षित करने के लिए अंग्रेजी, हिन्दी और मराठी में साहित्य प्रकाशित करने का निश्चय किया गया।

ग्राम्य विश्वविद्यालय में प्रजा-वैद्य परीक्षा चालू

ग्राम्य विश्वविद्यालय, सेवाग्राम की आयुर्वेद फेकल्टी के डीन डा० ए० लक्ष्मीपति ने, एक वक्तव्य में बताया कि सेवाग्राम स्थित ग्राम्य विश्वविद्यालय तीन परीक्षाएँ लेगा। पहली परीक्षा प्रजावैद्य की होगी, जिसमें वैद्य और डाक्टर बैठ सकेंगे। यह स्नातकोत्तर परीक्षा होगी। दूसरी परीक्षा आरोग्य प्रचारक और तीसरी आरोग्य सहायक की होगी। प्रशिक्षण काल ६ महीने का होगा।

प्रजावैद्य परीक्षा मई १९६० में तथा शेष दो परीक्षाएं अक्तूबर में होंगी। सेवाग्राम स्थित ग्राम्य विश्वविद्यालय के आयुर्वेद संकाय (फेकल्टी ऑफ आयुर्वेद) के उद्देश्यों पर प्रकाश डालते हुए डा० लक्ष्मीपति ने बताया कि महात्मा गाँधी बहुत उत्सुक थे कि सेवाग्राम को केन्द्र बना कर आयुर्वेद का प्रसार किया जाय। किन्तु उनका स्वप्न उनके जीवन-काल में पूरा न हो सका। अब अखिल भारतीय सर्व-सेवा संघ ने महात्मा जी के स्वप्न को मूर्त्तरूप देने की दिशा में प्रयास जारी किया है। आपने आगे कहा कि ग्रामीण क्षेत्रों की चिकित्सा-सम्बन्धी आवश्यकताओं को दृष्टि में रख कर ही प्रजावैद्य परीक्षा चालू की गयी है। आपने बताया कि स्वास्थ्य-रक्षा तथा रोग-निवारण के सम्बन्ध में भारत सदैव आत्म-संयम पर जोर देता रहा है और इस दिशा में भारत विश्व का नेतृत्व कर सकता है। सर्वसाधारण जनता में स्वस्थवृत्त के नियमों के अधिकाधिक प्रचारित किए जाने पर डा० लक्ष्मीपति ने बड़ा जोर दिया।

ललितहरि आ० कालेज में हॉकी टूर्नामेण्ट

ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज के क्रीड़ा-स्थल पर [illegible] प्रांतीय हाकी प्रतियोगिता समाप्त हुई।

दिनांक १२-१-६० को प्रतियोगिता का उद्घाटन जिले के पुलिस सुपरिण्टेन्डेन्ट महोदय द्वारा किया गया था। श्री महेन्द्र सिंह आई० पी० एस० ने विशाल जनमूह के समक्ष झंडा फहरा कर और पहली गेंद मारकर इस प्रतियोगिता का उद्घाटन किया। प्रतियोगिता में प्रांत के भिन्न-भिन्न नगरों से आने वाली बहुत-सी टीमों ने भाग लिया। १६-१-६० को इस प्रतियोगिता का अन्तिम दिन था। पहला हार्ड लाइन कप मैच स्थानीय ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज और राजकीय महाविद्यालय की टीमों के बीच खेला गया। किन्तु कोई भी टीम कोई गोल न कर सकी। दूसरा फाइनल मैच न्यू इंगलिश स्कल इलाहाबाद की टीम और स्कूल आफ़ प्रिंटिग टेक्नालोजी की टीम के बीच खेला गया। लगभग दस हजार जनता ने खेल को लगन और शान्ति से देखा। किन्तु यह मैच भी अनिर्णीत ही रहा। बहुत प्रयासों के उपरान्त भी कोई टीम गोल न कर सकी।

मैच के उपरान्त कुंवर ज्योतिस्वरूप जी ने पुरस्कार वितरण किया। टॉस के द्वारा हार्ड लाइन कप——स्थानीय राजकीय महाविद्यालय की टीम ने जीता तथा पुरस्कार आयुर्वेदिक कालेज की टीम को मिला।

इसी प्रकार रजत शील्ड, स्कूल आफ प्रिंटिग टेकनालाजी इलाहाबाद ने जीती और रजत——कप न्यू इंगलिश स्कूल इलाहाबाद ने जीता। खिलाड़ियों के विशेष पुरस्कार भी दिए गए।

श्री जे० एस० बैरो, स्थानीय जिला विद्यालय निरीक्षक ने सब टीमों को तथा पुरस्कार विजेताओं को मुबारकबाद दी और नवयुवकों से क्रीड़ा-क्षेत्र के समान ही अन्य क्षेत्रों में भी सहयोग और अनुशासन की भावना को हृदयंगम करने की अपील की। अन्त में आयुर्वेदिक कालेज के प्रिंसिपल तथा टूर्नामेंट सक्रेटरी ने समस्त सहयोगियों को बहुत-बहुत धन्यवाद दिया। इसके बाद सब अतिथियों ने खिलाड़ियों के साथ बैठ कर जलपान किया।

बिहार में आयुर्वेद-विकास अधिनियम

४१। राज्य-सरकार द्वारा निरीक्षण की शक्ति। राज्य-सरकार द्वारा इसके लिए प्राधिकृत कोई व्यक्ति, परिषद् द्वारा आभुक्त या उसके नियंत्रण एवं प्रशासन के अधीन किसी स्थावर सम्पत्ति में या उसके निदेश के अधीन होते हुए किसी कार्य में प्रवेश कर उसका निरीक्षण कर सकता है या प्रवेश करा निरीक्षण करवा सकता है और किसी दस्तावेज को, जो इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ परिषद् के कब्जे में या उसके नियंत्रण के अधीन हो, मंगा और उसका निरीक्षण कर सकता है।

परिषद् को अवक्रान्त करने की शक्ति——

४२। (१) यदि किसी समय राज्य-सरकार को यह प्रतीत होगा कि परिषद् ने इस अधिनियम के द्वारा या अधीन उस पर, डाले गए किसी कर्त्तव्य के सम्पादन में चूक की है अथवा अपनी शक्ति का अतिक्रमण या दुरुपयोग किया है, तो राज्य-सरकार, यदि वह ऐसी चूक, अतिक्रमण या दुरुपयोग को गम्भीर समझती है, उसका विवरण परिषद् को सूचित कर सकती है तथा ऐसी चूक, अतिक्रमण या दुरुपयोग के संबंध में परिषद् को आवश्यक निदेश दे सकती है तथा यदि परिषद्, ऐसे समय के भीतर, जो राज्य-सरकार इसके लिए नियत करे, ऐसे निदेशों के पालन में चूकती है, तो राज्य-सरकार, अधिसूचना द्वारा ऐसा करने का कारण उल्लिखित करते हुए, घोषित कर सकती है कि परिषद् ने, यथास्थिति, चूक की है, अथवा अपने अधिकार का अतिक्रमण या दुरुपयोग किया है,

तथा——

(क) निर्देश दे सकती है कि अधिसूचना में उल्लिखित की जाने वाली तारीख को परिषद् के सदस्यों के पद रिक्त समझे जाएंगे तथा उक्त तारीख को या के पहले नया निर्वाचन करने की आज्ञा दे सकती है; अथवा

(ख) निर्देश दे सकती है कि परिषद् छः महीनों से अनधिक ऐसी अवधि तक, जो अधिसूचना में उल्लिखित की जाय, अवक्रान्त रहेगी।

(२) परिषद् के जो सदस्य उप-धारा (१) के अधीन की गई घोषणा के कारण पद रिक्त करें, पुनर्निर्वाचन या पुनर्मनोनयन के लिए अनर्ह न समझे जाएंगे, जब तक कि राज्य सरकार अन्य निर्देश न दे।

(३) जहाँ उप-धारा (१) के खंड (ख) के अधीन अवक्रमण का आदेश दिया गया है, वहाँ उसके निम्नलिखित परिणाम होंगे, अर्थात् :——

(क) परिषद् के सभी सदस्य, आदेश में उल्लिखित तारीख से, ऐसे सदस्यों के रूप में अपने पद रिक्त कर देंगे;

(ख) इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन परिषद् द्वारा प्रयुक्त होने वाली सभी शक्तियों और सम्पादित होने वाले सभी कर्त्तव्य, अवक्रमण की अवधि में, ऐसे व्यक्ति या व्यक्तियों द्वारा प्रयुक्त एवं सम्पादित होंगे, जिन्हें राज्य-सरकार निर्देशित करे ;

(ग) परिषद् में निहित सारी सम्पत्ति, अवक्रमण की अवधि में राज्य-सरकार में निहित रहेगी ; तथा

(घ) अवक्रमण की अवधि की समाप्ति के पहले परिषद् के पुनर्गठन के प्रयोजनार्थ, निर्वाचन एवं मनोनयन होंगे। (क्रमशः)

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय की स्थापना

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय, सोनैचा जि० वाराणसी का उद्घाटन महोत्सव उत्तरप्रदेश के स्वास्थ्य मंत्री ठाकुर हुकुम सिंह के द्वारा सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर आयोजित एक जनसभा में भाषण देते हुए स्वास्थ्य मंत्री ने कहा कि सरकार आयुर्वेद की उन्नति हृदय से चाहती है और इसी उद्देश्य से सरकार ने एक राजकीय आयुर्वेदिक कालेज तथा अस्पताल की स्थापना लखनऊ में की है। इतना ही नहीं, सरकार राज्य भर में आयुर्वेदिक, यूनानी, एवं होमियोपैथिक चिकित्सालयों का एक जाल बिछा देना चाहती है, जिससे कि प्रति पाँच मील पर प्रत्येक ग्रामीण को चिकित्सा की सुविधाएँ उपलब्ध हो सके। स्वास्थ्य मन्त्री ने देश की बढ़ती हुई जनसंख्या से उत्पन्न परिस्थिति पर चिन्ता व्यक्त करते हुए ग्रामीणों से परिवार नियोजन करने की अपील की।

उपजिला वैद्य सभा का चुनाव

उपजिला वैद्य सभा वाराँ (कोटा) का वार्षिक चुनाव महाबीर जैन औषधालय में सम्पन्न हुआ, जिसमें सर्व सम्मति से नए वर्ष के लिए निम्न पदाधिकारी चुने गए। गत वर्ष का विवरण भी प्रस्तुत किया गया और स्वीकृत हुआ। नव निर्वाचित पदाधिकारी इस प्रकार हैं—अध्यक्ष, वद्य तोताराम जी, उपाध्यक्ष—वैद्य कृष्णलाल जी, मंत्री, वैद्य कृष्णगोपाल, कोषाध्यक्ष—श्री रामकल्याण शर्मा।

बड़ौदा जिला वैद्य मण्डल

बड़ौदा जिला मण्डल के निम्नलिखित पदाधिकारी नए वर्ष के लिए चुने गए— वैद्य श्री रणछोड़भाई रामनारायण अध्यक्ष—वैद्य दत्तात्रय नानुराव हर्डीकर उपाध्यक्ष—वैद्य रविशंकर पुरोहित मंत्री—विष्णुप्रसाद नंदलाल, शिवप्रसाद करुणाशंकर, रमाकांत अमृतराम, कोषाध्यक्ष—नरहरिलाल अंबालाला, लेखा निरीक्षक।

आयुर्वेद का विकास देश के लिए जरूरी

डा० सुकुमार सेन की अध्यक्षता में विगत चौबीस जनवरी को आयुर्वेद की विशेषता पर विचार—विमर्श के लिए एक सभा का आयोजन हुआ। सभा में सर्व सम्मति से एक प्रस्ताव पास किया गया कि आयुर्वेद की वृद्धि के लिए तृतीय पंच वर्षीय योजनान्तर्गत सरकार द्वारा प्रयास किया जाय। प्रो० तपनाथ चक्रवर्ती, प्रो० कृष्ण गोपाल तथा प्रो० रवीन्द्रनाथ बनर्जी ने आयुर्वेद की विशेषता पर प्रकाश डाला। अध्यक्ष-पद से भाषण देते हूए डा० सुकुमारसेन ने बताया कि आयुर्वेद वह विज्ञान है, जो हमें शिक्षा देता है कि किस तरह हम दीर्घायु हो सकते हैं। राजा-महाराजा से लेकर साधारण लोग भी आयुर्वेदिक औषधियों का व्यवहार कर सकते हैं।

दवाओं का मूल्य डिब्बों पर अंकित रहना जरूरी

औषधियों के विक्रय में मँहगाई और नकली मालों का सामना खरीददारों को जिस बुरी तरह करना पड़ रहा है उसकी कठिनाइयों को दूर करने की दृष्टि से हाल ही में हु औषधि-विक्रेता सम्मेलन में पश्चिम बंगाल केमिस्ट एण ड्रगिस्ट एसोसिएशन के उपाध्यक्ष श्री पी० के० चटर्जी ने बहुमूल्य एवं कार्यकारी सुझाव देते हुए कहा कि सरकार को चाहिए कि वह औषधि-निर्माताओं को बाध्य करे कि व प्रत्येक औषधि पर चाहे वह पेन्सीलीन अथवा स्ट्रेप्टोमाइसि क्यों न हो उसका उचित मूल्य छापा करे। इससे औषधि उचित मूल्य पर ही बिकेंगी। ज्ञात हुआ है कि इस सुझा को बहुत महत्व दिया जा रहा है और इसे केन्द्रीय स्वास् मंत्रालय के पास भेज दिया गया है, ताकि औषध कानून यथारूप संशोधन किया जा सके, क्योंकि खरीदारों औषध का वास्तविक मूल्य न ज्ञात होने के कारण ऊँचा मू चुकाना पड़ता है।

आयुर्वेद चिकित्सक का निधन

झुंझनू जिला वैद्य-सम्मेलन की कार्य-समिति की सद एवं सरस्वती आयुर्वेद भवन, रतन शहर की उप-संचालि

श्रीमती सरला देवी का असामयिक देहावसान १२ फरवरी को राजगढ़ में हो गया। स्व० सरला देवी का कई आयुर्वेदिक संस्थाओं से सम्बन्ध था और विभिन्न आयुर्वेदीय अस्पतालों में वह स्त्री-चिकित्सिका रह चुकी थीं। उन्होंने आयुर्वेदिक विषयों पर अनेक लेख लिखे हैं। उनके शोक में कतिपय आयुर्वेदिक संस्थाएँ बन्द रहीं।

श्री रामावतार शर्मा का प्रयाग में स्वागत

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० के अधिष्ठाता श्री रामदयाल जोशी के सुपुत्र श्री रामावतार शर्मा के स्वागत में प्रयाग वैद्य सभा की ओर से जामनगर केन्द्रीय आयुर्वेदानुसन्धान केन्द्र के भूतपूर्व प्राध्यापक श्री गणेशदत्तजी सारस्वत की अध्यक्षता में एक समारोह का आयोजन प्रयाग हिन्दी साहित्य सम्मेलन के सत्यनारायण कुटीर में किया गया। इस अवसर पर आयुर्वेद पंचानन पं० जगन्नाथ प्र० शुक्ल ने वैद्यनाथ प्रतिष्ठान द्वारा की गयी सर्वतोमुखी आयुर्वेदीय सेवाओं का उल्लेख करते हुए श्री रामावतारजी शर्मा के सद्‌गुणों की चर्चा की तथा अपने आशीर्वादात्मक भाव व्यक्त किए। श्री सारस्वत ने अपने अध्यक्षीय भाषण में वैद्यनाथ भवन की वैज्ञानिक सेवाओं की सराहना की और कहा कि श्री शर्मा यदि विदेशों से प्राप्त अपने नवीन ज्ञान का उपयोग आयुर्वेद-हित में करेंगे तो औषधि-निर्माण-क्षेत्र में बहुत उपयोगी दिशा का निर्माण हो सकेगा।

उपर्युक्त महानुभावों के अतिरिक्त मेरठ निवासी श्री दयानिधिवैद्य, प्रयाग जिला वैद्य सभा के अध्यक्ष श्री महादेव जी पाठक तथा आयुर्वेद प्रचारिणी सभा, प्रयाग के अध्यक्ष श्री ब्रजनाथ तिवारी प्रभृति आयुर्वेदज्ञों ने श्री शर्मा के सफल जीवन के लिए शुभकामनाएँ व्यक्त कीं। अन्त में सधन्यवाद आयोजन समाप्त हुआ।

श्री सी० द्वारकानाथन का भव्य स्वागत

भारत सरकार के आयुर्वेद-परामर्शदाता डा० सी० द्वारकानाथन, जो दक्षिण भारतके दौरे पर गए हुए हैं—का भव्य स्वागत विजयवाड़ा में किया गया। स्टेशन पर ही विजयवाडा मेडिकल एसोसिएसन के अध्यक्ष डा० टी० वी० एस० चलपतिराव, नेशनल मेडिकल एसोसिएशन की आंध्रशाखा के अध्यक्ष डा० बी० एच० विश्वनाथम्, डा० कला सुब्रम्हण्यम प्रभृति प्रसिद्ध आयुर्वेदज्ञों ने डा० द्वारकानाथन को माल्य प्रदान किया। आंध्र आयुर्वेद परिषद् के तत्वावधान में एक सभा का भी आयोजन किया गया, जिसमें संस्कृत में एक मान-पत्र श्री द्वारकानाथन को भेंट किया गया। श्री द्वारकानाथन ने अपने स्वागत का उत्तर देते हुए आंध्र आयुर्वेद परिषद् के कार्यों की भूरि-भूरि प्रशंसा की। आपने अपने भाषण में जड़ी-बूटियों के अनुसन्धान पर जोर डाला।

राजस्थान में आयुर्वेद की उन्नति

राजस्थान के स्वास्थ्य मन्त्री श्रीयुत् भीखा भाई ने आयुर्वेदिक कालेज, उदयपुर के वार्षिकोत्सव में अध्यक्षीय भाषण देते हुए कहा कि गत कुछ वर्षों में राज्य में आयुर्वेद ने जो उन्नति की है, वह इसका प्रत्यक्ष प्रमाण है कि जनता इस पद्धति को बहुत चाहने लगी है। आयुर्वेद विभाग का बजट १५ लाख रुपयों से बढ़ कर ६० लाख हो गया है और गाँव-गाँव में आयुर्वेदिक औषधालय खोलने की माँग है। उप-मन्त्री ने आगे आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति को जन-साधारण के लिए सर्वथा उपयुक्त बताते हुए कहा कि आयुर्वेद में शल्य-चिकित्सा उतनी उन्नत नहीं है, किन्तु अन्य व्याधियों को दूर करने की सामर्थ्य आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली में है।

राजस्थान प्रा० वैद्य सम्मेलन

अलवर जिला वैद्य-सभा का वार्षिक चुनाव हाल ही में सम्पन्न हुआ, जिसमें जिले भर के वैद्यों ने भाग लिया। सभा ने एक राजस्थान प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन करने का निश्चय किया, जो मई में आयोजित किया जायगा। आयुर्वेदिक व यूनानी औषधियों, जड़ी-बूटियों तथा चिकित्सा-साहित्य की प्रदर्शनी भी उस अवसर पर होगी। जटिल रोगों के निदान व चिकित्सा की भी व्यवस्था की जाएगी।

मनुष्य की आयु बढ़ानेवाली औषधि

अपने सहस्रों वर्षों के इतिहास में मनुष्य सदैव इस बात के लिए प्रयत्नशील रहा है कि वह ऐसी औषधियों या विद्याओं का पता लगाए, जिनसे वह अपनी आयु बढ़ा सके और उसमें भी युवावस्था का आनन्द अधिक वर्षों तक भोग सके। अभी हाल ही में डेवेनाल नामक औषधि जर्मनी में इसके लिए प्रयोग में लायी गयी है। पहले चहों, फिर जानवरों, बीमारों और वृद्धों पर प्रयोग किए जाने के पश्चात् डाक्टर इस नतीजे पर पहुँचे हैं, कि यह औषधि इस दिशा में चमत्कारी गुण दिखा सकती है।

अभी तक यह सोचा जाता था कि आयु के बढ़ने के साथ-साथ मनुष्य अपनी शक्ति का अधिक प्रयोग कर लेता है, जिससे उसमें वृद्धावस्था के लक्षण प्रतीत होने लगते हैं। हाल की खोजों के द्वारा ज्ञात हुआ है कि शरीर की शक्ति एक विशेष रूप की बीमारियों के विरुद्ध युद्ध करने में व्यय होती है। ये बीमारियाँ शरीर के बाहर प्रतीत नहीं होतीं, वरन, केवल आन्तरिक ही हैं। अभी तक डाक्टर उन बीमारियों के विरुद्ध कुछ भी करने में असमर्थ थे।

डाक्टर हाकमान ने डेवेनाल, नामक औषधि का (जो सुलफानोमिड से तैयार की जाती है) निर्माण किया और पहले चूहों पर और बाद में जानवरों और मनुष्यों पर प्रयोग किया। श्रीमती हाकमान ने, जो स्वयं आँखों की बीमारियों की विशेषज्ञ हैं, इस दवा का आँखों के मरीजों पर प्रयोग किया। फ्रैंकफर्ट के एक ऐसे परिवार में जिसमें वृद्धों की संख्या अधिक थी—डाक्टर बेकर ने बर्ता। सभी इसी नतीजे पर पहुँचे हैं कि न केवल इससे बीमारी ही दूर होती है, बल्कि मनुष्य के शरीर में इससे एक नयी शक्ति का संचार होने लगता है।

संतति-निरोध की आयुर्वेदिक औषधि

संतति-नियमन के लिए एक ऐसी आयुर्वेदीय औषधि का निर्माण किया गया है, जो स्वास्थ्य के लिए लाभकर होने के साथ-साथ संतान की अवांछित उत्पत्ति पर रोक लगा सकेगी। बताया जाता है कि औषधि का अधिक मात्रा में निर्माण होने पर इसको विक्रयार्थ देश-विदेश में भेजने मे लिए सरकार से अनुमति प्राप्त की जायगी। इस औषध का शोध तथा निर्माण महागुजरात आयुर्वेद कालेज ने किया है।

कैन्सर विरोधी पदार्थ की खोज

सोवियत की तास संवाद-समिति द्वारा प्रचारित एक समाचार में बताया गया है कि सोवियत वैज्ञानिक वृक्ष की छाल से एक ऐसा विशुद्ध पदार्थ निकालने में सफल हो गए हैं, जिसमें अत्यधिक कैन्सर विरोधी गुण हैं।

संवाद-समिति ने चिकित्सा विज्ञान एकेडमी के सदस्य प्रो० लिओन शबाह का हवाला देते हुए कहा कि इस पदार्थ का पशुओं पर अच्छी तरह से परीक्षण किया जा चुका है और अब वह डाक्टरी उपयोग के लिए इकट्ठा किया जा रहा है। प्रो० शेबाह ने कहा कि अनेक मामलों में कैन्सर का निश्चित रूप से इलाज किया जा सकता है।

कविराज श्री श्रीनिवास शास्त्री पुरस्कृत

श्री विशुद्धानन्द सरस्वती मारवाड़ी अस्पताल, कलकत्ता के कविराज श्री श्रीनिवास शास्त्री को 'चन्द्र महीपति' नामक संस्कृत में लिखे गए मौलिक उपन्यास पर उत्तर प्रदेश की सरकार ने दो हजार रुपए का पुरस्कार प्रदान किया है। यह पुरस्कार १९५९–६० के संस्कृत वाङ्मय के ग्रन्थों पर दिए गए पुरस्कारों में सर्वोच्च है। अभिनव-शैली में लिखा गया उक्त उपन्यास इधर लिखे गए संस्कृत ग्रन्थों में अपनी विशिष्टता रखता है।

आयुर्वेदिक कालेजों का सम्मेलन

ऋषिकुल आयुर्वेद कालेज के अधिकारियों ने आगामी ग्रीष्म ऋतु में हरिद्वार में भारतवर्ष के सभी आयुर्वेदिक कालेजों का एक सम्मेलन बुलाने का निश्चय किया है और उसमें कांग्रेसी मन्त्रियों, आयुर्वेद के विद्वानों तथा आयुर्वेदिक कालेजों के प्रतिनिधियों को आमन्त्रित कर आयुर्वेदिक कालेजों की उन्नति, शिक्षा-प्रणाली तथा आयुर्वेद के उत्थान के तरीकों पर विचार किया जायगा।

ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज की प्रबन्ध व्यवस्था में भी हाल में कुछ परिवर्त्तन हुआ है। कालेज का संचालन कुछ वर्षों से राज्य सरकार के द्वारा होता था, लेकिन ऋषिकुल की प्रधान सभा और प्रबन्धकारिणी समिति के अनुरोध पर उत्तर प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्रालय ने ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज का समस्त नियन्त्रण और पूर्णाधिकार ऋषिकुल ब्रह्मचर्याश्रम के पदाधिकारियों को सौंप दिए हैं। लेकिन उनकी प्रबन्ध-समिति में सहयोग देने के लिए सरकार की ओर से ५ प्रतिनिधि भी नियत किए गए हैं।

आयुर्वेदिक कालेजों में हड़ताल

मध्य प्रदेश में आयुर्वेदिक महाविद्यालयों के छात्रों की हड़तालें चरम सीमा पर पहुँच गई हैं। रायपुर आयुर्वेद कालेज में गत ढाई महीने से, ग्वालियर आयुर्वेद कालेज में विगत डेढ़ माह से छात्र हड़ताल पर हैं। अब इन्दौर के आयुर्वेदिक कालेज के छात्र भी हड़ताल पर हैं। आयुर्वेद स्नातकों के देश स्तरीय पंजीकरण (रजिस्ट्रेशन), आयुर्वेद प्रशिक्षित चिकित्सकों की वेतन-वृद्धि, कालेजों में अनुसन्धान सम्बंधी सुविधाएँ उपलब्ध करने, राज्य में आयुर्वेद चिकित्सा के लिए पृथक् संचालक नियुक्त किए जान आदि की माँग को लेकर छात्र हड़ताल पर हैं। इन्दौर नगर वैद्य-परिषद्

अष्टांग आयुर्वेद संस्था, तथा राष्ट्रीय आयुर्वेद परिषद् की इन्दौर शाखा ने छात्रों की माँगों का समर्थन किया है। मध्य प्रदेश के विश्वविद्यालय में आयुर्वेद शिक्षा निकाय की स्थापना की माँग की जा रही है। छात्रों ने हर हानि उठा कर माँगों की पूर्ति न होने तक हड़ताल को जारी रखने का निर्णय किया है।

वैद्य श्री रामदत्तजी भारद्वाज का अभिनन्दन

गवर्नमेण्ट आयुर्वेदिक औषधालय दरीणी (कांगड़ा) के प्रधान चिकित्सक वैद्यराज श्री रामदत्तजी शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य का अभिनन्दन समारोह दरीणी की जनता की ओर से श्री पं० चुन्नीलालजी शर्मा, सरपंच की अध्यक्षता में मनाया गया। समारोह में सर्वसाधारण जनता के अलावा नगर के प्रतिष्ठित व्यक्ति एवं सभी सरकारी कर्मचारियों ने भाग लिया।

वैद्य जी के द्वारा योग्यतापूर्ण ढंगसे किये गये कार्य एवं उनके प्रेमपूर्वक व्यवहारों की भूरि-भूरि प्रशंसा वक्ताओं ने की और वैद्य जी के पद त्याग कर एवं दरीणी छोड़ कर जाने पर दुःख प्रकट किया।

बाद में अध्यक्ष-पद से बोलते हुए श्री पं० चुन्नीलाल जी सरपंच ने कहा कि वैद्य जी गवर्नमेण्ट औषधालय के प्रधान चिकित्सक-पद को छोड़ कर श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० की झाँसी निर्माणशाला में प्रधान के पद पर जा रहे हैं, इससे हमको प्रसन्नता है क्योंकि वह स्थान यहाँ की बजाय बहुत विशाल है। श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० को मैं अच्छी तरह जानता हूँ, देशी औषधियों के निर्माण में भारत की सब से बड़ी संस्था है। किन्तु हमें दुःख इतना ही है कि इस स्थान पर वैद्यजी सरीखे योग्य चिकित्सक बहुत कठिनतासे मिलेंगे। वैद्यजी ने अपनी योग्य चिकित्सा द्वारा पुराने से पुराने और असाध्य रोगियों को यहाँ रोग-मुक्त किया है। यदि वैद्यजी किसी सम्पन्न नगर में होते तो बहुत कुछ आर्थिक उन्नति प्राप्त करते किन्तु यहाँ की गरीब जनता शुभाशीर्वाद के सिवा वैद्य जी को और क्या दे सकती है। फिर भी जनता का शुभाशीर्वाद एवं हम लोगों की शुभकामनाएँ वैद्य जी के अभ्युदय में अवश्य सहायक होंगी। वैद्य जी का सर्वसाधारण जनता से प्रेमपूर्ण व्यवहार रहा है, जो कि विशेष प्रशंसनीय है। वैद्यजी गवर्नमेण्ट सर्विस में आने के पहले भी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० में ही कार्य करते थे। अब उनका पुनः वहीं बुलाया जाना उनके योग्य, कार्यकुशल एवं कर्मठ होने का परिचायक है। ऐसे ही योग्य व्यक्तियों द्वारा आयुर्वेद की उन्नति सम्भव है। मैं दरीणी की जनता की ओर से श्री वैद्यजी का अभिनन्दन करता हूँ और उनसे प्रार्थना करता हूँ कि हम लोगों से जो कुछ त्रुटियाँ हों उनको क्षमा करेंगे और हम लोगों की याद हमेशा बनाए रखेंगे।

इसके बाद अभिनन्दन का उत्तर देते हुए श्री वैद्य रामदत्त जी ने जनता के प्रति कृतज्ञता व्यक्त की और कहा कि हिमालय में देवता निवास करते हैं और जहाँ देवता रहते हैं वहीं स्वर्ग है, अतः इस स्वर्ग में मेरे को भी एक साल रहने का सौभाग्य मिला है। "क्षीणे पुण्ये मृत्यु लोकं वसन्ति" का उदाहरण देते हुए वैद्यजीने कहा कि मैंने इतने ही पुण्य किये थे जो एक सालतक आप देवपुरुषों की सेवा करने का शुभावसर मिला। अब मेरे पुण्य क्षीण हो चुके हैं अतः यहाँ से जाना पड़ रहा है, अन्यथा यहाँ से जाने को जी नहीं चाहता है। हिमगिरि की हिमाच्छादित चोटियों के समान आप लोगों के हृदय भी इतने धवल हैं कि प्रत्येक व्यक्ति को बलात् ही आकृष्ट कर लेते हैं। आप लोगों को भूलने की बात तो दूर रही बल्कि आप लोगों के बिना रहना ही कठिन हो जायेगा। आपने जो मेरा सम्मान किया है मैं उसके लायक तो नहीं था, किन्तु यह आप लोगों ने अपनी ही महानता एवं उदारता का परिचय दिया है। मुझे बलात् ही सदा के लिये अपना आभारी बना लिया है। बाद में सभी सम्मिलित सज्जनों को स्वल्पाहार देकर समारोह सानन्द समाप्त हुआ।

हाथरस आयुर्वेद सम्मेलन

तहसील आयुर्वेद-सम्मेलन, हाथरस द्वारा आयोजित एक शोक-सभा में जिले के प्रसिद्ध उत्साही एवं आयुर्वेद औषधि-निर्माणशाला विशेषज्ञ, प्रगतिशील, वैद्योपाध्याय, श्री कुन्दनलालजी मोहता, आयुर्वेदाचार्य, संस्थापक, श्री मोहता रसायनशाला, हाथरस के आकस्मिक देहावसान पर शोक प्रकट किया गया। एक संवेदनासूचक प्रस्ताव स्वीकृत किया गया जो निम्न प्रकार है—

स्व० मोहता जी ने अपनी थोड़ी-सी आयु में ही आयुर्वेद क्षेत्र में जो ख्याति एवं सम्मान प्राप्त किया वह उनके विशेष गुणों एवं विद्वत्ता का ही परिचायक था। प्रभु ने उन्हें इतनी जल्दी हमसे पृथक् कर वैद्य समाज में ऐसी क्षति उत्पन्न

की है जिसकी पूर्ति शीघ्र न हो सकेगी। इस आकस्मिक घटना से उनके परिवार को जो आघात पहुँचा है, वह वस्तुतः असह्य है। यह सभा परम-पिता परमेश्वर से प्रार्थना करती है कि शोक-सन्तप्त परिवार को साहस एवं धैर्य प्रदान करें तथा दिवंगत आत्मा को शान्ति व सद्गति प्रदान दें।

आयुर्वेद मण्डल टोहना का चुनाव

आयुर्वेद एण्ड यूनानी मण्डल' टोहाना का वार्षिक चुनाव बृजलाल जी गुप्ता की अध्यक्षता में हुआ। प्रधान वैद्य जगदीशचन्द्र शर्मा, उप-प्रधान, बी० रामचन्द भाटिया, प्रधान मन्त्री, श्री रामनारायण ढीगड़ा, उप-मन्त्री, शिवदयाल तथा कोषाध्यक्ष वैद्य रामजी दास चुने गये।

एक प्रस्ताव में सरकार से माँग की गई कि लोगों के स्वास्थ्य को सुधारने के लिये टोहाना में शराब का नया ठेका मंजूर न किया जावे।

श्री साहु हरिप्रसाद वादविवाद प्रतियोगिता

श्री ललितहरि आयुर्वेदिक कालेज पीलीभीत के तत्वावधान में उक्त प्रतियोगिता दिनांक १६ व १७ जनवरी १९६० को सम्पन्न हुई। दिनांक १६ जनवरी को अन्तरंग प्रतियोगिता में रुहेलखण्ड कमायूँ प्रदेश की अनेकों विख्यात संस्थाओं के छात्र एवं छात्राओं ने प्रतियोगिता में प्रतिनिधि-रूप में भाग लिया। इस भाग का "श्री साहु जगदीशप्रसाद रजत विजय चिह्न" द्रौपदी कन्या इन्टर कालेज, बरेली की छात्राओं ने प्राप्त किया। उक्त प्रतियोगिता में सर्व-प्रथम पुरस्कार स्थानीय डायमण्ड राजकीय इन्टर कालेज के छात्र श्री दयाशंकर ने प्राप्त किया तथा द्वितीय पुरस्कार श्री ल० ह० आयुर्वेदिक कालेज के छात्र श्री इन्द्रपाल सिंह तोमर ने प्राप्त किया। महिला वर्ग में द्रौपदी कन्या इन्टर कालेज की दोनों छात्राओं कुमारी सौदामिनी खेड़ा तथा कुमारी शशि मित्रा ने क्रमशः प्रथम व द्वितीय पुरस्कार प्राप्त किए। इसके अतिरिक्त ४ विशेष पुरस्कार तिलक इन्टर कालेज बरेली के छात्र श्री परमानन्द कुमार, इस्लामियाँ इन्टर कालेज के छात्र श्री वाचस्पति त्रिवेदी, एम० बी० इन्टर कालेज के छात्र श्री तेजंग बहादुर तथा स्थानीय डायमण्ड इन्टर कालेज के छात्र श्री कृष्ण कुमार गोयल ने प्राप्त किये। इस प्रतियोगिता के सभापति पद पर कु० मोहन स्वरूप जी बी० ए०, एल० एल० बी० सदस्य लोक सभा आसीन थे। नगर के अनेक प्रतिष्ठित नागरि भी इसमें उपस्थित थे।

दिनांक १७ जनवरी को डिग्री सेक्शन से सम्बन्धित प्रादेशिक प्रतियोगिता सम्पन्न हुई। इसमें उत्तर प्रदे के अनेकों नगरों की संस्थाओं ने भाग लिया। उक्त प्रतियोगिता का उद्घाटन श्रीमती साहु जगदीश प्रसाद के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। इस सभा का सभापतित्व श्री एम० एल० शुक्ल, डिप्टी प्रोजेक्ट एक्जीक्यूटिव आफिसर ने किया। अन्त में पारितोषिक वितरण प्रतियोगिता समिति के अध्यक्ष श्री साहु जगदीशप्रसाद के कर-कमलों द्वारा सम्पन्न हुआ। श्री साहु हरिप्रसाद प्रादेशिक रजत विजय चिह्न, बरेली कालेज, बरेली के प्रतियोगियों को प्राप्त हुआ। सर्वप्रथम पुरस्कार विजयित्री भी बरेली कालेज की छात्रा कुमारी सरोज अग्रवाल घोषित की गई। द्वितीय पुरस्कार श्री वी० एम० त्रिपाठी छात्र बी० वी० संस्कृत महाविद्यालय, कानपुर को प्राप्त हुआ। महिला वर्ग में बरेली कालेज की छात्रा कुमारी सरोज अग्रवाल तथा श्री ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज की पंचम वर्ष की छात्रा कुमारी राधारानी को क्रमशः प्रथम व द्वितीय पुरस्कार प्राप्त हुए। विशेष पुरस्कारों में से सेन्टजोन्स कालेज आगरा के छात्र श्री रामस्वरूप शर्मा, हिन्दू डिग्री कालेज मुरादाबाद के छात्र श्री प्रफुल्ल पन्त, आर-ए-कालेज हरिद्वार के छात्र श्री ओम् प्रकाश शर्मा तथा वी० वी० संस्कृत विद्यालय कानपुर के छात्र श्री प्रकाशदेव शुक्ल को प्राप्त हुए। इसके अतिरिक्त कालेजीय पुरस्कार इ विद्यालय के छात्र श्री बी० एन० शुक्ल, श्री मथुराप्रसा त्रिवेदी, कुमारी राधारानी तथा कुमारी उर्मिला गर्ग को प्राप्त हुए। अन्त में समिति के अध्यक्ष श्री सा जगदीशप्रसाद तथा समिति के मन्त्री ने सब को धन्यवा दिया। प्रतियोगिता में प्रतियोगियों तथा श्रोताओं की संख्या असंख्य थी।

अलीगढ़ जिला वैद्य सम्मेलन

अलीगढ़ जिला वैद्य सम्मेलन का १४ वाँ अधिवे गत २ फरवरी को आयुर्वेद एण्ड यूनानी तिब्बी कालेज के प्रिंसिपल कविराज आशुतोष मजूमदार की अध्यक्षता समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। सम्मेलन में आयुर्वे विद्वानों एवं चिकित्सक वैद्यों की उपस्थिति संतोषज

थी। अधिवेशन का उद्घाटन उत्तर प्रदेश के सभासचिव वैद्य धर्मदत्त शर्मा, एम० एल० ए० ने किया। अपने उद्घाटन भाणष में श्री धर्मदत्त ने वैद्यसभा का प्राचीन इतिहास प्रस्तुत करते हुए वैद्य संगठन के महत्व पर प्रकाश डाला। आगे आपने कहा कि सरकार की प्रथम पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेद को कोई विशेष स्थान नहीं दिया गया है। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में भी आयुर्वेद की उपेक्षा की गई अब तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेद की क्या स्थिति होगी, यह अभी गर्भ में है। आपने जोर देकर कहा कि सरकार के प्रति आयुर्वेद की उपेक्षानीति का इससे बढ़ कर दूसरा ज्वलंत प्रमाण और क्या होगा। सरकार की आयुर्वेद के प्रति उपेक्षापूर्ण नीति का समर्थन इस देश का कोई भी समझदार व्यक्ति नहीं कर सकेगा और न इसे अच्छा ही कहेगा।

आगे आपने अनुसंधान की चर्चा करते हुए कहा कि हमसे भी कहा जाता है कि आयुर्वेद का अनुसंधान किया जाना चाहिए——पर इस सम्बन्ध में हमें कहना है कि इस विज्ञान ने जितनी खोज की है, वह आज तक कहीं खोज में न आ सका। हमारे यहाँ खोज में बचा ही क्या है, जिसकी हम खोज करें। उत्तर प्रदेशीय सरकार द्वारा निर्धारित पाठ्यक्रम की चर्चा करते हुए आपने कहा कि उससे कुछ लोगों का कहना है, कि देश को लाभ नहीं पहुँचेगा। पर हमारा अनुभव है कि हमारे स्नातक ऐलोपैथी की चकाचौंध में घूम गए हैं। जनता की सेवा का द्वार खुला हुआ है और हमें रंचमात्र की आशंका नहीं है कि हमारा विज्ञान मिटा दिया जावेगा। आपने आगे बतलाया कि चिकित्सा-सम्बन्धी नीति अपनाने के सम्बन्ध में गाँधी जी से जब पूछा गया था तो उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि विदेशी शासन के अन्त होने पर हमें आत्म-निर्भर बनना होगा और करोड़ों तथा अरबों रुपए की विदेशी चिकित्सा में होनेवाली देशी मुद्रा की हानि को बचाना पड़ेगा। निश्चय ही महात्मा जी आयुर्वेद चिकित्सा-प्रणाली को अपनाने के पक्ष में थे।

श्री शुक्ल जी का भाषण

आयुर्वेद पंचानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल ने सम्मेलन में भाषण करते हुए कहा कि हमारा आयुर्वेद किसी समय उन्नत था, परन्तु उसको नष्ट करने के लिए बड़े-बड़े षड़यन्त्र चल रहे हैं, फिर भी मेरा विश्वास है कि कि आयुर्वेद विज्ञान कभी भी नंष्ट न होगा। शुक्ल जी ने आगे कहा कि आयुर्वेद में अशुद्ध कुछ भी नहीं है, यह तो गंगा की धारा की तरह सर्वथा शुद्ध है। आयुर्वेद समस्त ज्ञान को आत्मसात् करने की शक्ति रखता है। हम चाहते हैं कि इस देश में आयुर्वेद पूर्णरूप से राष्ट्रीय चिकित्सा विज्ञान का रूप ले। सरकारी सहायता के सम्बन्ध में बोलते हुए आपने कहा कि यदि सरकार हमें कुछ नहीं देना चाहती है, तो एलोपैथी को भी आर्थिक सहायता देना बन्द कर दे और दोनों को अपनी मौत मरने दे। पचीस साल के बाद जाँच कराई जाय, जो विज्ञान विकसित तथा जीवित दिखाई दे उसे प्रोत्साहन और सहायता दी जावे।

अंत में नए वर्ष के लिए पदाधिकारियों का चुनाव हुआ। धन्यवाद देकर सम्मेलन की कार्यवाही समाप्त की गयी।

केन्द्रीय चिकित्सा परिषद् में श्री केसरवानी का भाषण

केन्द्रीय देशी चिकित्सा परिषद् के प्रथमाधिवेशन (जयपुर) में अध्यक्ष-पद से बोलते हुए डा० धर्मानन्द केसरवानी ने कहा कि आयुर्वेद-शास्त्र की व्युत्पत्ति और परिभाषाएँ हमारे ऋषिगण बहुत स्पष्ट रूप से कर गए हैं। फिर भी प्रत्येक विज्ञान को समय के साथ प्रगति करनी होती है। यही युगधर्म होता है। इसी सिद्धान्त को भारतीय चिकित्सा परिषद् के दिल्ली में हुए सितम्बर १९५२ के अधिवेशन में प्रथम प्रस्ताव का रूप देकर फिर से स्पष्ट और पुष्ट किया गया।

श्री केसरवानी ने आयुर्वेद की एकदेशिता और सार्वभौमिकता के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए कहा कि जो हमें आयुर्वेद का साहित्य उपलब्ध है, उसमें ये दोनों तत्व विद्यमान हैं। आयुर्वेद के त्रिदोष प्रभृति सिद्धान्त सार्वभौमिक हैं, परन्तु ग्रन्थों में वर्णित ७००-८०० औषधियाँ एकदेशिक हैं। इस सम्बन्ध में भी प्राचीन आचार्यों ने बड़ी उदारता से काम लिया है। उन्होंने यह कह कर कि जिस देश में जो जीव पैदा होता है उसके लिए वहाँ पर उत्पन्न हुई औषधियाँ हितकर हैं—इस सार्वभौमिकता के सिद्धान्त को अपनाने की छूट दी है।

आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धांतों के सम्बन्ध में विचार व्यक्त करते हुए श्रीयुत् केसरवानी जी ने कहा कि पंचमहा-

भूत, त्रिदोष, प्रकृति परिचय एवं द्रव्य-निरूपण हमारे स्थिर सिद्धांत हैं। अपनी प्राचीन प्रणाली से एवं गत ५० वर्षों में आधुनिक वैज्ञानिक शब्दावली को ग्रहण कर एवं तुलना में लाकर आयुर्वेद के कतिपय महान् दिग्गज इन सिद्धान्तों के स्पष्टीकरण का प्रयास कर चुके हैं, और अभी इस दिशा में कार्य हो रहा है। द्रव्य-गुण-रस-वीर्य-विपाक सिद्धांत हमें औषध की उपादेयता का मार्ग बतलाता है परन्तु ऋषियों ने यहाँ भी उसी वैज्ञानिक उदारता का परिचय दिया है।

रोग के निदान के लिए व्यवहार में आनेवाले आधुनिक यंत्रों और उपकरणों को आयुर्वेद में स्वीकार कर लेना चाहिए या नहीं--इस प्रश्न पर विचार प्रकट करते हुए आपने कहा कि ये यंत्र एवं उपकरण, प्रत्यक्ष प्रमाण की पुष्टि करते हैं, अतः इनके प्रयोजन का विरोध न होना चाहिए इसी प्रकार यह प्रश्न उठता है कि नवान्वेषण द्वारा प्रस्तुत प्रभावकारी औषधियों को आयुर्वेद को द्रव्य-गुण विज्ञान में सम्मिलित कर लेना चाहिए अथवा नहीं। इसके उत्तर में मेरा यही कहना है कि आयुर्वेद में इतनी सामर्थ्य है कि पश्चिम के प्रकाण्ड पण्डितों द्वारा अन्वेषित औषधों को ही नहीं, अपितु ग्वालों और बहेलियों तथा जंगलियों द्वारा बतायी हुई औषधियों को अपनी चिकित्सा प्रणाली में ग्रहण कर ले। अनुसंधान के बारे में आपने कहा कि आयुर्वेद की काय चिकित्सा में विशेषतः तथा अन्य अंगो में सामान्यतः "रिसर्च" कार्य के लिए बड़ी गुंजाइश है। आपने कहा कि हमारे देश में भी बड़ी तेजी के साथ औद्योगिक युग आ रहा है—और प्रत्येक व्यक्ति की निरोगिता का ध्यान आज रखना पड़ता है। ऐसी स्थिति में व्यक्ति को प्रथम कोई रोग ही नहीं होवे और यदि होवे तो उसे शीघ्र-से-शीघ्र नीरोग कर कार्य-क्षम बनाया जावे। हमारी आयुर्वेदिक चिकित्सा के सामने भी समस्या आनेवाली है--शीघ्र और स्थायी चिकित्सा करनी होगी। आयुर्वेद की अनुसंधानशालाओं द्वारा इस चिकित्सा की प्रभावकारिता को अंकों में भी दिखाना होगा। हमें विश्वास है कि केन्द्रीय एवं प्रदेशीय सरकारें तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेदिक रिसच के लिए उपेक्षित धन प्रचुर मात्रा में निर्धारित करेंगी।

मोटापन कम करने के उपाय
लेखक—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी
इस पुस्तक में मोटापन को दूर कर स्वस्थ, सबल बने रहने के उपायों पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है। मूल्य--सजिल्द २), अजिल्द रु० १.५०.
प्रकाशक--
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, १ गुप्ता लेन, कलकत्ता-६

सचित्र आयुर्वेद के लेखकों को सूचना

सचित्र आयुर्वेद के लेखकों को सूचित किया जाता है कि वे अपनी रचनाएं हमेशा स्पष्ट अक्षरों में स्याही से लिखकर भेजें। पेन्सिल से लिखी रचनाओं को स्थान नहीं दिया जायगा। रचनाएं हमेशा कागज के एक ही ओर लिखी जायं। दोनों ओर लिखित रचनाओं को हम स्वीकार नहीं करेंगे। 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशनार्थ स्वीकृत रचनाओं पर उचित पारिश्रमिक दिया जाता है। ऐसी किसी रचना को हम प्रकाशित नहीं कर सकेंगे, जो अन्यत्र किसी पत्र-पत्रिका में छप गयी हों या प्रकाशनार्थ भेजी गयी हों। लेखकों को चाहिए कि वे अपनी रचनाएं वापस मंगाने के लिए डाक-टिकट अवश्य भेजें।

—सम्पादक।

निदान-चिकित्सा-हस्तामलक (प्रथम खण्ड) पर

कतिपय आयुर्वेद-मनीषियों एवं सहयोगियों के विचार

आयुर्वेदाचार्य कविराज श्रीहरदयाल वैद्यवाचस्पति, रामानन्द बाग, गली नं० ६, अमृतसर लिखते हैं :—

वस्तुतः सम्प्रति आयुर्वेद का अस्तित्व काय-चिकित्सा तक ही सीमित दिखता है। आयुर्वेद के अन्य अङ्ग शनैः-शनैः क्षीयमाण होते जा रहे हैं।

विगत चार-पाँच दशकों से समन्वय के चाकचक्य ने कुछ ऐसी प्रकृति अपनाई है, जिससे आयुर्वेद की मौलिक स्थिति की कम्पायमानावस्था के सही चित्र-चित्रण में इतिहासकार चूक नहीं करेंगे। समन्वय के प्रवाह में लेखक यह भूल गए कि उनकी कृतियाँ आयुर्वेद की छाप लगाएँगी या एलोपैथी की छाप आयर्वेद पर व्यक्त होगी। परिणाम यह हुआ कि 'विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्' इस प्रवृत्ति का व्यक्त रूप यह प्रकट हुआ कि ऊँचे क्षेत्र भी यह कहने पर विवश हो गए कि 'यदि आयुर्वेद को पराश्रय हो कर ही जीवित रहना है तब इसे जिन्दा रखने से क्या लाभ ?'

उक्त धारणा का मूलोच्छेद करने में प्रस्तुत ग्रन्थ के संग्रहकर्ता ख्यातनामा लेखक **श्री रणजितराय जी देसाई** पूर्ण सफल हुए हैं। श्री देसाई जी आयुर्वेद के उन लेखकों में से हैं, जिनकी लेखनी से आयुर्वेद का वास्तविक सम्बर्द्धन, उत्थान और आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का आयुर्वेदीय सरणि के द्वारा ही उसकी सार्वभौम व्यापकता का रुचिर युक्तियों द्वारा समर्थन हुआ है। पाठक उपर्युक्त तथ्य को प्रस्तुत पुस्तक में पाएँगे। प्रसंगोपात्त तुलनात्मक विषयों पर बुद्धिग्राह्य युक्तियों द्वारा आयुर्वेद की वैज्ञानिकता को व्यक्त किया गया है। आत्मसात् वा वास्तविक समन्वय के कुछ उदाहरणों का रसास्वादन भी पाठक पुस्तक में कर सकते हैं।

प्रस्तुत पुस्तक समय की प्रबल माँग के अनुरूप उपयुक्त काल में प्रकाशित हुई है। इस प्रकाशन से आयुर्वेद के विद्यार्थियों और अध्यापकों को इस विषय के लिए ग्रन्थों के अध्याय और पन्ने ढूंढ़ने का परिश्रम बच गया है। एक ही पुस्तक में उन्हें विषयानुबन्धी उपादेय सामग्री मिलेगी। विषय प्रधान व्याख्यान शैली के लिए उत्तम संग्रह हुआ है। आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में यत्र-तत्र बिखरे हुए सम्बन्धित सूत्रों के साथ-साथ विषयोपात्ति संस्कृत के अन्य वाङ्मय से भी उपयुक्त सहायता ली गई है। इससे इतिहास के विद्यार्थियों, चिकित्सकों एवं आयुर्वेदानुरागियों के लिए भी ग्रन्थ उपयोगी बन गया है।

समालोच्य पुस्तक का पूर्वार्द्ध नौ अध्यायों में पूर्ण हुआ है। इस पूर्वार्द्ध में रोगों का विविध दृष्टचा वर्गीकरण, नानात्मज रोगों का प्रसरण विधान एवं रोग और रोगी परीक्षणादि पर सरस विवेचन हुआ है। चिकित्सानुबन्धी जिज्ञासा उत्तरार्द्ध तक बनी रहेगी।

आयुर्वेद के महत्त्व को वैज्ञानिक सामंजस्य के साथ व्यक्त करने के इस महदुपयोगी प्रयास के लिए लेखक महोदय धन्यवादार्ह हैं। ग्रन्थ-प्रकाशक **श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०** के संचालक विशेष रूपेण धन्यवादार्ह हैं। अनेक प्रकार के टाइप प्रयुक्त हुए हैं। कागज और छपाई अतिसुन्दर होने पर भी मूल्य समय की महँगाई को देखते हुए अत्यल्प रखा गया है। इस संग्रहणीय और उपादेय पुस्तक का सर्वत्र आदर होगा, ऐसी पूर्ण आशा है।

इतने बड़े ग्रन्थ में कहीं-कहीं प्रूफ संशोधन में स्खलन तो स्वाभाविक माना जा सकता है, परन्तु फर्मा संयोजिक की एक उपेक्षा ही रसभंगक मानी जाएगी। आशा है अगले संस्करण में इस उपेक्षा का सुधार हो जाएगा।

—हरदयाल वैद्य

श्री अनन्तनारायण नामजोशी एम० एस-सी०, बम्बई लिखते हैं—

विद्वान् लेखक द्वारा पुस्तक का जो नानमाभिधान किया गया है वह अपने गुण द्वारा इसे पूर्णतः सार्थक सिद्ध कर रहा है। आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्तों एवं आयुर्वेद की विशिष्ट देन त्रिदोषों की गहनता पर जो विशद एवं हृदयंगम विचार लेखक ने मनोरम शैली में किया है, वह केवल आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए ही नहीं अपितु आयुर्वेद के प्रत्येक व्यवसायी चिकित्सक के लिए भी अवश्यमेव अध्ययनीय है। आधुनिक चिकित्सा विज्ञान के विद्वानों के लिए भी यह पुस्तक अत्यन्त उपादेय है, क्योंकि रोगी के शरीर में होने वाली अमूर्त क्रियाओं और उसके कारणों को समझने में उन्हें भी बहुत बड़ी सामग्री इसमें अधिगत हो सकती है।

विद्वान् लेखक ने आयुर्वेदीय शास्त्रों की दृष्टि से 'रस' शब्द का व्यापक अर्थ लेते हुए 'रसायन' शब्द का जो विवेचन किया है,वह वस्तुतः अत्यन्त मननीय, यथार्थ और अपने 'रसायन'नाम के वैशिष्टचय का द्योतक है।

वात-पित्त और श्लेष्मा के महत्त्व-दोषत्व और धातुत्व का लेखक ने अत्यन्त विद्वत्तापूर्ण परन्तु सरल और स्फुट वर्णन किया है, जिसमें त्रिदोष की वैज्ञानिकता स्पष्टतः अध्येता को हृदयंगम हो जाती है।

प्रारम्भ से लेकर अन्त तक लेखक की वृत्ति विषय के मूल तक पहुँचने और उसे विशद करने की रही है। लेखक के साथ-साथ पाठक की वुद्धि भी विषय के वैशिष्ठय, गाम्भीर्य और स्वास्थ्य को प्राप्त करती हुई उस विषय के हार्द तक पहुँच जाती है।

सूत्र रूप में प्राप्त होने वाले आयुर्वेद आदि विषयों के भारतीय ग्रन्थों की विशद व्याख्या लेखक की विचार-सरणि और विवेचन-शैली पर होना चाहिए, तभी इन विषयों का हार्द समझा जा सकता है।

लेखक ने निदान-सम्प्राप्ति के विवेचन के साथ ही चिकित्सा सूत्र का भी संकेत किया है, ग्रन्थ की यह विशेषता विद्यार्थियों के लिए अत्यन्त प्रेरणाप्रद एवं हितावह है। इसीलिए आयुर्वेदीय महाविद्यालयों में यह पुस्तक जहाँ पाठ्य ग्रन्थों में स्थान पाने की योग्यता रखती है, वहाँ ही व्यवसायी चिकित्सकों एवं स्वाध्याय-प्रेमियों के लिए यह उत्तम पुस्तक की पूर्ति करने की क्षमता रखती है।

ग्रन्थालयों में यह पुस्तक अनेक उत्तम ग्रन्थ-रत्नों में से एक रत्न का ही स्थान प्राप्त करने के गुणों से यक्त है। मेरी मति में तो गुजराती, मराठी, बंगला और अंग्रेजी आदि भाषाओं में भी इसका अनुवाद किया जाय तो आयुर्वेद के प्रचार में विशेष सहायता होगी। पुस्तक की छपाई, सफाई अत्युत्तम एवं प्रशंस्य है।

किमधिकम्—लेखक ने इस आयुर्वेद-आगम के गहनतम विषय की विवेचना करके तत्वार्थ का स्पष्ट दर्शन करा दिया है। महाकवि भारवि का निम्न श्लोक मेरे अभि प्राय को पूर्णतः व्यक्त करता है।

मतिभेदतमस्तिरोहिते गहने कृत्याविधौ विवेचनाम्।
सुकृतः परिशुद्ध आगमः कुरुते दीप इवार्थदर्शनम्॥

वस्तुतः यदि आयुर्वेद शास्त्र का इसी प्रकार सदुपन्यास करने वाले और आयुर्वेद मंदिर के अन्तरंग तक पहुँचने के सफल मार्ग का प्रकाश करने वाले विद्वान् आयुर्वेद की सेवा के क्षेत्र में आयें, यद्यपि ऐसे विद्वान् दुर्लभ हैं, तथापि अलभ्य तो नहीं है, तो-ही आयुर्वेद-शास्त्र जैसे गहन विषय को भी समझना सुकर और सरल हो जाय। भारवि के शब्दों में कहूँ—

विषमोऽपि विगाह्यते नयः कृततीर्थः पयसामिवाशयः।
स तु तत्र विशेषदुर्लभः सदुपन्यस्यति कृत्यवर्त्म यः॥

मेरी दृष्टि में पुस्तक की उपादेयता अत्यन्त अधिक है। **—अनन्तनारायण नामजोशी**

कविराज श्री उपेन्द्रनाथ दास, पहाड़ीधीरज, दिल्ली लिखते हैं—

तरुण होकर भी सुप्रतिष्ठित विद्वान श्री रणजित राय देशाई महोदय के बहुत परिश्रम से लिखित "निदान चिकित्सा हस्तामलक" पुस्तक पढ़कर आनन्द हुआ। लेखक महोदय के अन्यान्य पुस्तक जैसे लोकप्रिय हुए, यह पुस्तक भी ऐसा ही होगा इसमें सन्देह नहीं है। इसका द्वितीय खण्ड भी शीघ्र प्रकाशित होना चाहिये।

—कविराज श्री उपेन्द्रनाथ दास

आयुर्वेदवृहस्पति वैद्य श्री घनानन्द पन्त विद्यार्णव देहली लिखते हैं—

निदान चिकित्सा हस्तामलक पुस्तक का पर्यालोचन किया। आधुनिक विज्ञान में जो अनेक नवीन विषय समझे जाते हैं उनका अस्तित्व संहिताग्रन्थों व उनकी टीका टिप्पणियों से एक-एक वाक्य चुनकर प्रमाणित किया है। प्रसङ्गवश ग्रन्थों में आजकल के जिन नवीन विचारों का उल्लेख प्राचीन संहिताओं में नहीं मिलता या सूत्र रूप से मिलता है उनको भी यत्र तत्र स्पष्ट कर दिया है। जो लोग वात पित्त कफ को विज्ञान सम्मत नहीं मानते वे इसका अवश्य अवलोकन करें। एक प्रकरण में जीवाणुवाद के मूल का अस्तित्व संहिताओं में प्रतिपादित किया है। वैदिक ऋचाओं के स्मरणकर्ता याज्ञवल्क्य ने भी—"स्फीतादपि न सञ्चारि रोगदोष समन्वितात्" अपनी स्मृति में लिखा है। इससे वैदिक काल में भी साञ्चारिक रोगों का अस्तित्व प्रमाणित है। रक्तविक्षेप (ब्लडप्रेशर) आयुर्वेद में किन-किन रूपों में वर्णित है एवं मधुमेह में कीटोसिस पर भी प्रकाश डाला है। कुशाग्र बुद्धि लेखक की विचारधारा आयुर्वेद के एक-एक अक्षर को मनन करती है। यत्र तत्र सन्दिग्ध विषयों पर विज्ञान से प्रकाश दिया है। दर्शन धर्मशास्त्र आदि में भी कुछ कृत्य यथा दन्तधावन आदि धार्मिक क्रियाओं के अङ्ग वर्णित हैं, वास्तव में वे स्वास्थ्योपयोगी हैं उन पर भी प्रकाश डाला है। आयुर्वेद प्रतिपाद्य पूर्व- जन्म इहजन्मकृत पापों से रोगोत्पत्ति कैसे होती है इसको सप्रमाण दर्शाया है। साञ्चारिक रोगों का हेतु अधर्म है इस पर भी विचार किया है। इस छोटी विचारणा में ग्रन्थ के अमूल्य रत्नों का वर्णन नहीं हो सकता। पुस्तक सर्वसाधारण वैद्यों के अतिरिक्त अध्यापकों व छात्रों के लिये अत्युपयोगी है। प्रकाशकों को धन्यवाद दिये बिना आलोचना पूर्ण नहीं होती। **—वैद्य घनानन्द पन्त**

कविराज हरिवक्ष जोशी, काव्य-सांख्य-स्मृति-तीर्थ कलकत्ता लिखते हैं—

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा "प्रेषित निदानचिकित्सा हस्तामलक" पुस्तक प्राप्त हुई। इसके लेखक हैं—श्री वैद्य रणजित राय देसाई आयुर्वेदालंकार आयुर्वेदाचार्य।

इसको हमने पढ़ा। विषय का विवेचन उत्तम ढंग से किया है। लेखक ने प्राच्यपाश्चात्य निदान का तुलनात्मक ढंग से वर्णन करके आयुर्वेद को प्रधानता दी है। आपकी लेखनशैली सुस्पष्ट, सुबोध, विद्वत्तापूर्ण और सारगर्भित है। यह न केवल आयुर्वेदिक छात्रों के लिये बल्कि आयुर्वेद प्रेमियों के लिये भी रोग निदान में मार्गप्रदर्शक सिद्ध होगा।

आपने हिन्दी भाषा में आयुर्वेद के अनेक ग्रन्थ लिखकर आयुर्वेद की महती सेवा की है। वर्तमान में ऐसे ग्रन्थों का अभाव था आप इस कमी को दूर कर करने में प्रयत्न शील हैं। इससे सर्वसाधारण में आयूर्वेद के प्रचार-प्रसार करने में सहायता मिलेगी।

पुस्तक की छपाई, सफाई और भाषाशैली प्रशंसनीय हैं, इसके लिये प्रकाशक, मुद्रक और लेखक धन्यवाद के पात्र हैं। पुस्तक पठनीय तथा मननीय है। पुस्तकालयों तथा सर्वसाधारण के लिये संग्रहणीय हैं। निदान के साथ चिकित्सा भी रहती तो पाठकों को और भी सुविधा होती।

वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ने औषधि-व्यवसाय के साथ-साथ आयुर्वेदिक ग्रन्थों के प्रकाशन का काम शिरू कया है यह अत्यन्त स्तुल्य हैं। **—कविराज हरिबक्ष जोशी**

वैद्यरत्न जयरामदास स्वामी भिषगाचार्य प्रिंसिपल राजकीय आयुर्वेदिक कालेज जयपुर से लिखते हैं—

वैद्य रणजितराय कृत "निदान चिकित्सा हस्तामलक" की एक प्रति प्राप्त हुई। पुस्तक के कुछ स्थल मैंने देखे और पाया कि पुस्तक वस्तुतः अध्यापक एवं चिकित्सक वर्ग दोनों के लिए संग्रहणीय है। लेखक ने जो परिश्रम करके वैद्य समुदाय के समक्ष यह ग्रन्थ प्रस्तुत किया है उसके लिए वे अवश्य प्रशंसा के पात्र हैं। इस प्रकार के उपयोगी प्रकाशनों के लिए वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक भी धन्यवाद के पात्र हैं।

—जयरामदास स्वामी

वैद्य धर्मदत्त जी, आयुर्वेदाचार्य, एम० एल० ए० लखनऊ लिखते हैं——

मुझे निदान चिकित्सा हस्तामलक पुस्तक को देखने का अवसर मिला। पुस्तक के कुछ अंशों को पढ़ से उसके लेखक श्री रणजीत राय देसाई वैद्य की तिवा की छाप पड़ी। आर्ष ग्रन्थों में जो रोग के निदान का विष दिया है वह पूर्ण होते हुए भी इस वैज्ञानिक युग के छात्रों के लिये पर्याप्त नहीं कहा जा सकता। लेखक ने पुस्त को अर्वाचीन रीति से हृदयाग्राही तो बनाया ही है साथ ही रोचक और आकर्षित भी कर दिया है। चिकित्सा अनेक आवश्यक तत्वों को सम्मिलित कर देने से पुस्तक की उपयोगिता में वृद्धि हुई है। सम्मिश्रण पाठ्यक्र से कालिजों के छात्रों के पठन के लिए यह पुस्तक मार्गदर्शन का कार्य करेगी। पुस्तक के लेखक श्री देसाई त प्रकाशक श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०, कलकत्ता, के प्रति वैद्य जगत सदा कृतज्ञ रहेगा।

——धर्मदत्त वै

प्राणाचार्य श्री रामगोपाल शास्त्री, गोडबोले, आयुर्वेद बृहस्पति, पनवेल लिखते हैं——

आयर्वेद के प्रधान पाठ्य विषय चार हैं। उनमें पहला विषय सूत्रस्थान याने आयुर्वेदीय शारीर प्रभृ विषयों में आनेवाले प्रधान तत्त्वों की उपपत्तियाँ; दूसरा विषय शारीरस्थान याने रोग चिकित्सा के ना रुग्ण पुरुषों का शरीरज्ञान, शरीराभिनिर्वृत्तिज्ञान, शरीराभिवृद्धिज्ञान और प्रकृतिविकारज्ञान इन चार बा का प्रत्यक्ष दृष्ट परिचय; तीसरा विषय रोगनिदान याने रोगों की कार्यकारण मीमांसा; और चौथा विष चिकित्सा याने रोगों की निवृत्ति तथा साथ ही साथ रोगों की अपुनरावृत्ति। इन चार विषयों के पठ पाठन के लिये सुश्रुत, चरक, वाग्भट के समय में स्वतन्त्र ग्रंथ न थे। मगर बृहत्त्रयी के पश्चात् उक्त चा विषयों पर स्वतंत्र ग्रन्थ, पृथक्-पृथक् ग्रंथ निर्माण करने की आवश्यकता पूर्वाचारों के ध्यान में आ गयीथी। तद सार सूत्रस्थान विषय पर—आयर्वेद सूत्र; शारीर विषय पर शारीर पद्मिनी शारीर विवेक, निदा विषय पर माधव निदान और चिकित्सा विषय पर चक्रदत्त वृंदमाधव ये ग्रंथ रचे गये। इसके बाद या माधवनिदान के पश्चात् निदान सहित चिकित्सा-विषय पर भी गदनिग्रह, वंगसेन, वैद्यविनोद औ योगरत्नाकर इत्यादि ग्रन्थों की रचना हो गई। इस रीती से आयर्वेदशास्त्र का परिवर्धन संवर्धन अब तक हो चुका। इतना हो जाने पर भी आयुर्वेदीय निदान-चिकित्सा यह संयुक्त विषय वर्तमानकालीन तत्संबंधी ज्ञान विज्ञान की अधिकता के कारण पर्याप्त सा मालूम नहीं होता। चरकाचार्य की भाषा में भी यह ज्ञान वयव होता है, कृत्स्नज्ञान नहीं होता।

भूतपूर्व ज्ञानविज्ञान और वर्तमान वा आधुनिक ज्ञानविज्ञान इन दोनों का सुसंवादी मेल रख कर आयु दीय रोगनिदान चिकित्सा विषय पर पठन-पाठन-चिंतन योग्य ग्रंथ लिखना यह सुगम बात नहीं। प आयुर्वेद के सुदैव के कारण वस्तुतः यह असुगम विषय सुगम पद्धति से ग्रंथ रूप में लिखने का बड़ा उद्योग इ "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" नामक ग्रंथ द्वारा आयुर्वेदाचार्य बहुश्रुत वैद्य पण्डित् रणजितराय ने किया यह अभिनन्दनीय है, प्रशंसनीय है। इस ग्रंथ का विशेष लाभ आयुर्वेद का अध्ययन, अध्यापन और अनुसन्ध करनेवाले आयुर्वेद प्रेमी जनों को अवश्य होगा यह निःसंदिग्ध है।

——रामगोपाल शास्त्री गोडबो

आचार्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी, आयुर्वेद महाविद्यालय, जामनगर लिखते हैं——

अनुभव और अध्ययन के आधार पर सुप्रसिद्ध सूरत आयुर्वेद महाविद्यालय के स्वनामधन्य आ श्री रणजितराय देसाई द्वारा लिखित, सुमुद्रित एवं आकर्षकस्वरूप में उपस्थित, मूल्य में अपेक्षाकृत सस्ती पुस्तक तद्विषयक ग्रन्थों में जो आजतक छपे हैं सर्वोत्तम मालूम पड़ती है। एतदर्थ लेखक एवं प्रका दोनों ही धन्यवादार्ह हैं। मुझे पूर्ण विश्वास है कि वैद्यनाथ के अन्य प्रकाशनों की भांति इस हस्ताम का भी वैद्य- संसार में पर्याप्त स्वागत होगा।

——रघुबीरप्रसाद त्रि

डॉ० अनन्तानन्द, गुरुकुल कांगड़ी विश्वविद्यालय लिखते हैं--

भाई श्री रणजितराय जी द्वारा लिखित निदान चिकित्सा हस्तामलक का प्रथम खण्ड देखने को मिला। इसके ६ खण्डों में आयुर्वेदिक ढंग से निदानोपयोगी सभी सामग्री संग्रहीत है। वर्तमान वैज्ञानिक ढंग से भी इसका उचित प्रतिपादन हुआ है। पुस्तक अनुपम है। न केवल विद्यार्थियों के लिए अपितु प्रत्येक आयुर्वेद प्रेमी के लिए संग्राह्य है। लेखक और प्रकाशक दोनों बधाई के पात्र हैं।

--अनन्तानन्द

वैद्य चुन्नीलाल रेवाशंकर 'आयुर्वेदमार्तण्ड, वैद्य शिरोमणि, बड़ौदा लिखते हैं--

निदानचिकित्सा हस्तामलक प्रथम खण्ड ग्रंथ के अवलोकन से स्पष्ट दिखाई देता है कि इसमेंचरक सुश्रुत एवं वाग्भट्ट ऐसी वृद्धत्रयी प्राचीन संहिताएँ तथा अन्य महत्त्व के आयुर्वेदीय साहित्य ग्रंथों के सूत्रों को लेकर निदान चिकित्सा व्यवसाय के ऊपर महत्त्व के विवरण का समावेश करके निदान (Diagnosis) के लिये आयुर्वेदीय सिद्धान्तों द्वारा अष्टविध परीक्षा का विवरण भी स्पष्ट बताया गया है

वर्तमान समय में कई नवीन व्याधि बताकर पाश्चात्य चिकित्सक वर्ग विषम उपचारों से मानव. समाज को खतरे एवं भ्रम में डाल रहे हैं। ।सत्य तो यही है कि यह नवीन व्याधि ही नहीं है। यह निदान चिकित्सा हस्तामलक ग्रंथ में सिद्ध करके इन व्याधियों के लिये अष्टविध परीक्षा का विवरण स्पष्ट बताया है वह प्रशंसनीय है। संक्षेप में यह ग्रंथ भारतीय वैद्य समूह एवं आयुर्वेदीय छात्रों के लीये उपयोगी एवं महत्त्व का मार्गदर्शक है।

--चुन्नीलाल रेवाशंकर वैद्य

राजस्थान वैद्य सम्मेलन पत्रिका की शुभ-सम्मति--

वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के प्रकाशन विभाग द्वारा निदान चिकित्सा हस्तामलक नामक ग्रन्थ के प्रथम भाग का अभी प्रकाशन हुआ है। इसके लेखक है वैद्य समाज के परिचित माननीय वैद्य रणजितरायजी। उक्त प्रथम भाग में नौ अध्याय हैं। इनमें निदान से संबन्धित संहिता ग्रन्थों के विविध स्थलों में वर्णित विषयों का समी करण कर निरूपण किया गया है। आयुर्वेद में प्रयुक्त पारिभाषिक शब्दों के अर्थ व्यक्त करते समय प्रामाणिक टीकाकारों का भी ध्यान रखा गया है।

ग्रन्थ की शैली विषय की प्रधानता को लेकर है। अतः निदान का निरूपण तदनरूप करना उचित है। साथ ही नवीन वैज्ञानिक पद्धति का एतद् विषयक दृष्टिकोण यथास्थान निरूपण किया गया है। जहाँ तक विषय प्रतिपादन का क्रम है, उसमें आयुर्वेद के प्राप्त मूल संहिता के तथ्यों तथा सिद्धांतों का सर्वत्र अनुसरण किया गया है।

उक्त प्रथम भाग में मुख्यतया रोग हेतु तथा रोगों के विभिन्न वर्गों का निरूपण कर आयुर्वेद के त्रिदोष सिद्धांत के महत्व को अभिव्यक्त किया गया है। इस भाग में मुख्यतया रोग के मूल सिद्धांतो का निरूपण किया गया है। आगे से भागों में विविध रोगों का निरूपण किया जायगा।

ग्रन्थ की उपादेयता स्वतः सिद्ध है। छात्रों के लिए यह ग्रन्थ निदान सम्बन्धी सिद्धान्त समझनेमें बड़ा सहायक होगा। ग्रन्थ का प्रकाशन उत्तम रूप में हुआ है। गेटअप भी आकर्षक है। वर्तमान समय की की महर्घता को देखतें ग्रन्थ का मूल्य उचित रखा गया है।

इस तरह के उपयोगीग्रन्थों के प्रकाशन का कार्य कर वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रशंसा का पात्र है। आशा है इस ग्रन्थ का वैद्य समाज समादर कर अपने कर्तव्य की पूर्ति करेगा तथा लेखक तथा प्रकाशक के श्रम व व्यय की सार्थकता सम्पादित करेगा।

—राजस्थान वैद्यसम्मेलन पत्रिका—जयपुर

बैद्यनाथ **२५०० रुपये**

पुरस्कार

प्रथम पुरस्कार १००० रुपये

द्वितीय पुरस्कार ५०० रुपये

तृतीय पुरस्कार ३०० रुपये

इसके अतिरिक्त सात साधारण पुरस्कार प्रत्येक १०० रुपये

यह पुरस्कार उन लोगों को दिये जायेंगे, जो श्री *बैद्यनाथ* आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि० द्वारा निर्मित निम्न चार दवाओं के लिये उपयुक्त, सार्थक एवं सर्वोत्तम हिन्दी नाम निर्धारित करके भेजेंगे :—

१. **दर्द की दवा :**—यह खाने की टिकिया विशेष कर सर-दर्द और साधारणतः अंग-प्रत्यंग के सब तरह के दर्दों पर तुरन्त लाभ पहुँचाती है और किसी भीतरी अंग पर कोई हानि नहीं करती।

२ **आँख की दवा :**—यह सभी नेत्र-रोगों में लाभकारी होने के साथ-साथ विशेष कर आई हुई दुखती आँख में बूंद-बूंद डालने की सबसे बढ़िया दवा है।

३. **चर्मरोगों का मलहम :**—यह फोड़ा, फुंसी और चमड़ी के दूसरे विकारों को बिना हानि के शीघ्र दूर करनेवाला उत्तम मलहम है।

४. **खून साफ करने की दवा :**—यह खाने की गोली खून की सब खराबियाँ दूर करके खून को साफ, निरोग और चमकीला बनाकर नया खून बढ़ाती है।

उस व्यक्ति को, जिसके द्वारा भेजे गये नामों में से, उपरोक्त चारों दवाओं के लिये सर्वोत्तम नाम मिलेंगे, १०००) रुपये का प्रथम पुरस्कार दिया जायेगा। इसी प्रकार जिसके नामों में से तीन नाम उपयुक्त होंगे, उसे ५००) का द्वितीय पुरस्कार दिया जायगा और जिसके नामों में से दो नाम उत्तम होंगे, उसको ३००) का तृतीय पुरस्कार दिया जायगा। इसके अतिरिक्त १००) १००)रुपये के सात पुरस्कार ऐसे लोगों को दिये जायेंगे, जिनका कम-से-कम कोई एक नाम ठीक पाया जायगा। एक सज्जन प्रत्येक दवा के लिये अधिक-से-अधिक पाँच नाम एक साथ भेज सकते हैं। नाम भेजने की अन्तिम तिथि १५ मार्च १९६० है। श्री *बैद्यनाथ* आयुर्वेद भवन प्रा० लि० को किसी भी शाखा, प्रशाखा से सम्बन्धित व्यक्तियों को छोड़कर भारत का कोई भी नागरिक महिला या पुरुष इस पुरस्कार-प्रतियोगिता में भाग ले सकते हैं।

पुरस्कार-प्राप्ति के लिये सर्वोत्तम नाम वे समझे जायेंगे (१) जो छोटे होने के साथ-साथ सर्वसाधारण जनता के लिये सुबोध और सहज स्मरणीय होंगे और जिनमें दवा की उपयोगिता का भाव अधिक-से-अधिक निहित होगा।(२) जो अब तक प्रचलित नहीं होंगे और किसी अन्य के रजिस्टर्ड नामों से प्रत्यक्ष अर्थ में मिलते-जुलते नहीं होंगे। प्रेषित नामों की उत्तमता और उपयुक्तता का निर्णय हिन्दी के सुविख्यात व्याकरणाचार्य विद्वान पण्डित श्री किशोरीदासजी वाजपेयी की अध्यक्षता में गठित एक निर्णायक समिति द्वारा किया जायेगा, जिसका निर्णय सर्वरूपेण अन्तिम और सर्वमान्य होगा।

केवल वैद्यों के लिए ३१ मार्च, १९६० तक निम्न पते पर नाम भेजिये :-

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और
विश्वासी कारखाना

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
गुसाईंपुरा, झाँसी

एक तन्दुरुस्ती हजार नियामत

यह कहावत बहुत पुरानी होकर भी हमेशा सच्ची है। संसार के सभी सुख-साधनों के बावजूद अगर आदमी के शरीर में रोगों का घर हो, तो उसके लिए दुनिया का आनन्द किस काम का? इसीलिए शास्त्रों में भी आरोग्य को ही धर्म, अर्थ और मोक्ष का मूल स्वीकार किया गया है।

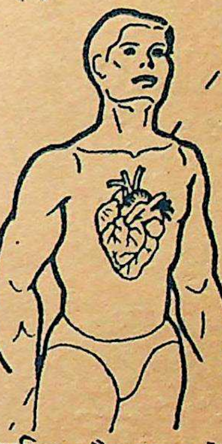

GURUKULA KANGRI LIBRARY

आरोग्य की प्राप्ति और रक्षा के लिए आरोग्य-शास्त्र में जो अनुभव-प्रसूत औषधियां हैं, उनमें सर्वश्रेष्ठ और सुप्रसिद्ध है :—

बैद्यनाथ वसन्तकुसुमाकर रस

आजकल अक्सर लोगों में स्नायुदौर्बल्य, पेशाब के साथ गदले पदार्थों का निकलना, दुर्बलता एवं जवानी में बुढ़ापा के चिह्न आदि विभिन्न शिकायतें देखी जाती है। इन सभी शिकायतों के लिए इससे बढ़कर कोई दूसरी दवा नहीं है। कमजोर से कमजोर आदमी भी इसके सेवन से हृष्टपुष्ट और ताकतबर बन जाता है।

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

सदा-सबके लिये गुणकारी

बैद्यनाथ दवाएँ

रस रसायन भस्में — शुद्ध और सर्वांगपूर्ण

आसव अरिष्ट — पुराना और पारदर्शी

अवलेह मोदक पाक — ताजा और तुरत फलदायक

पेटेन्ट दवाएँ — हजारों--लाखों द्वारा परीक्षित

औषधि तैल — पूर्ण शास्त्रीय विधि से प्रस्तुत

देशी दवाओं का सब से बड़ा
और विश्वासी कारखाना

श्री
बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

सचित्र आयुर्वेद

वर्ष १२] कलकत्ता, मई, १९६० [अंक ११

आयुर्वेद—रूढ़िवादी नहीं !

अपने व्यापक मौलिक सिद्धान्तों के बल पर ही युगों के अनेक सामाजिक और राजनीतिक उथल-पुथल एवं उत्थान-पतन के बाद भी आयुर्वेदिक प्रणाली अपना अस्तित्व बनाए रख सकी। आयुर्वेद का दृष्टिकोण कभी रूढ़िवादी न रहा बल्कि परिवर्तित स्थिति के अनुसार अपने को ढालने की क्षमता इसके अन्दर विद्यमान रही। अतः यदि आयुर्वेद के विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं किया जायगा तो आयुर्वेद की शिक्षा अधूरी ही रहेगी। आयुर्वेद-शास्त्र में निहित महान् विचारों की उचित ढंग से शिक्षा देनी है, तो अब तक के समाधान की अपेक्षा कोई भिन्न समाधान निकालना पड़ेगा। इस दृष्टिकोण से देखना यह है कि भारत के चिकित्सक चाहे जिस प्रणाली को अपनायें, स्वास्थ्य की समस्या का सामना उनका मुख्य लक्ष्य होना चाहिए तथा दूसरी चिकित्सा-प्रणाली के सर्वोत्कृष्ट गुणों को ग्रहण करते हुए मानवता की सेवा में सदैव उन्हें निरत रहना चाहिए।

मेरा हार्दिक विश्वास है कि अगर सावधानीपूर्वक आयुर्वेद में प्रशिक्षण की ओर ध्यान दिया जाए, तो इसका बहुत ही सुन्दर परिणाम होगा। अब समय आ गया है, कि जब कि आयुर्वेदीय शिक्षा-सम्बन्धी सारी समस्याओं का नए सिरे से अध्ययन किया जाना चाहिए।

डॉ० सी० द्वारकानाथन्

अध्यक्ष-केन्द्रीय आयुर्वेद सलाहकार समिति–देहली।

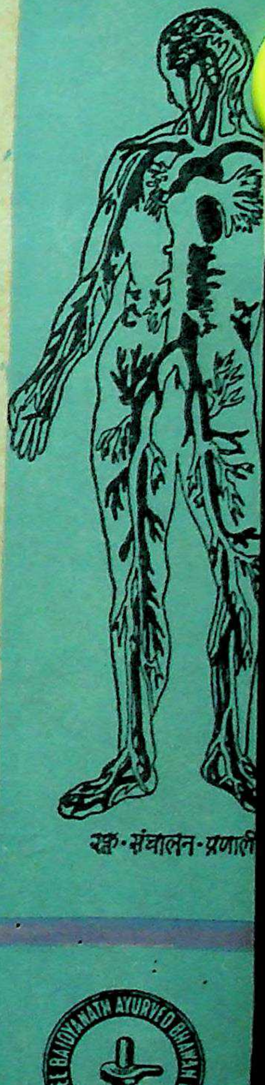

रक्त-संचालन-प्रणाली

प्रकाशक
बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

'गागर में सागर'

अणु-शक्ति के आविष्कार ने आज भौतिक-स्तर पर भी ज्ञान-योग आश्रित रस-रसायनों के सूक्ष्मीकरण सिद्धान्त को समझना आसान कर दिया है। एक विशिष्ट द्रव्य या धातु को यदि निरन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्म (बारीक) किया जाय तो उस पदार्थ में निहित शक्ति प्रकट होने लगती है; रस-रसायनों के विलक्षण-प्रभाव का यही रहस्य है। ***बैद्यनाथ*** रस-रसायन सैकड़ों-हजारों अग्निपुटों, औषध-संस्कारों और स्वरसभावनाओं के द्वारा सूक्ष्मीकरण की शास्त्र-सम्मत प्रक्रिया से तैयार होते हैं।

बैद्यनाथ रस-रसायन

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

बैद्यनाथ सिद्ध मकरध्वज, ***बैद्यनाथ*** बसन्तकुसुमाकर रस, ***बैद्यनाथ*** पूर्णचन्द्र रस वृहत्, ***बैद्यनाथ*** श्वास चिन्तामणि रस वृहत्, ***बैद्यनाथ*** योगेन्द्र रस आदि आदि ***बैद्यनाथ*** रस-रसायन स्वयं स्फूर्त शक्तिपुंज होते हैं।

श्री ***बैद्यनाथ*** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी : नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

सचित्र आयुर्वेद के प्रेमी ग्राहकों से

"सचित्र आयुर्वेद" के १२ वें वर्ष का ११ वाँ अंक आपके हाथ में है। इसके बाद १२ वाँ अंक जून में प्रकाशित होगा। और वह अंक आपको मिलने बाद "सचित्र आयुर्वेद" १२ वाँ वर्ष पूरा कर जुलाई १९६० से १३ वें वर्ष में पदार्पण करेगा। इसके साथ-साथ जिन ग्राहक महानुभावों का चन्दा जुलाई १९५९ से जून १९६० तक के लिए जमा था वह पूरा हो जायगा। जिन ग्राहकों का चन्दा आगामी जून '६० में पूरा हो जाता है, उनसे प्रार्थना है कि वे नीचे छपे हुए आवेदन-पत्र को भर कर ५ नये पैसे का टिकट लगा "सचित्र आयुर्वेद" कार्यालय में शीघ्रातिशीघ्र भेजने की कृपा करें। यह सूचना कार्ड भरकर सचित्र आयुर्वेद कार्यालय में वापिस भेजना इसलिए आवश्यक है कि पोष्ट आफिस के नियमानुसार बिना पूर्व सूचना मिले हम अपने किसी भी ग्राहक को वी० पी० नहीं भेज सकते। हमें पूर्ण आशा है कि इस नियम को ध्यान में रख कर हमारे ग्राहक महोदय समय पर ही—यथासम्भव १५ जून तक—आगामी १३ वें वर्ष के लिए वार्षिक चन्दा ५) मनिआर्डर से भेज देंगे अथवा कार्या-लय को वी० पी० द्वारा १३ वें वर्ष का प्रथम अंक भेजने की आज्ञा प्रदान करेंगे। १५ जून '६० तक ग्राहक बनने की स्वीकृति सूचना जितनी प्राप्त हो जायेंगी, १३ वें वर्ष के प्रथम अंक हम उसी तादाद में छपायेंगे, क्योंकि सम्प्रति न्यूजप्रिण्ट कागज कोटा से अधिक मिल नहीं रहा है। अतएव, हो सकता है कि विलम्ब से प्राप्त स्वीकृति सूचना भेजनेवाले को हम १३ वें वर्ष के प्रथम अंक से ग्राहक न बना सकें। अतएव, ग्राहकों से हमारा अनुरोध है कि वे १५ जून '६० तक अवश्य ही अपना वार्षिक चन्दा अथवा वी० पी० द्वारा अंक भेजने की सूचना हमारे पास भेज दें।

—व्यवस्थापक।

भी विफल नहीं होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात,
इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है।
चार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस
निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके ११ संस्करणों में १,०८,००० प्रतियाँ छपकर
हैं और बारहवें संस्करण में २० हजार प्रतियाँ फिर छापी गयी हैं। इसी से
की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हिन्दी में
क दूसरी नहीं है, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि
स्तक का मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठों की विशाल पुस्तक
मात्र रु० २·२५, डाक खर्च १) रु०।

हमारे ५ निर्माण-केन्द्रों, ३०० बिक्री-केन्द्रों तथा २५ हजार एजेन्सियों में से
यह पुस्तक खरीदी जा सकती है। इससे डाक-खर्च की बचत होगी।

प्रकाशक
बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता—६

संस्कारों और स्वरसभावनाओं
के द्वारा सूक्ष्मीकरण की
शास्त्र-सम्मत प्रक्रिया से
तैयार होते हैं।

बैद्यनाथ
रस-रसायन

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और
विश्वासी
कारखाना

बैद्यनाथ सिद्ध मकरध्वज, **बैद्यनाथ** बसन्तकुसुमाकर रस, **बैद्यनाथ** पूर्णचन्द्र रस बृहत्, **बैद्यनाथ** श्वास चिन्तामणि रस बृहत्, **बैद्यनाथ** योगेन्द्र रस आदि आदि **बैद्यनाथ** रस-रसायन स्वयं स्फूर्त शक्तिपुंज होते हैं।

बैद्यनाथ

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी : नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ बृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

स्वास्थ्य और सुख की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन

आरोग्य-प्रकाश

—प्रत्येक परिवार में रहना अत्यन्त आवश्यक है !

◆

भारत-प्रसिद्ध श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा ने अनेक वर्षों के परिश्रम से इस महान ग्रन्थ——**आरोग्य-प्रकाश**——को स्वयं लिखा है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। इसके पूर्वार्द्ध के व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, दिन-रात्रि-ऋतुचर्या, सदाचार, उत्तम विचार आदि विषयों को पढ़कर और तदनुकूल आचरण कर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के ही नीरोग और तन्दुरुस्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों के कारण, निदान, रोग-लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि पर बड़ी ही सरल भाषा में सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है, जिनको पढ़कर विद्वान से लेकर साधारण पढ़ेलिखे व्यक्ति तक समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत वर्षों के परीक्षित, कभी विफल नहीं होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके ११ संस्करणों में १,०८,००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और बारहवें संस्करण में २० हजार प्रतियाँ फिर छापी गयी हैं। इसी से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठों की विशाल पुस्तक का मूल्य मात्र रु० २·२५, डाक खर्च १) रु०।

नोट :——हमारे ५ निर्माण-केन्द्रों, ३०० बिक्री-केन्द्रों तथा २५ हजार एजेन्सियों में से कहीं भी यह पुस्तक खरीदी जा सकती है। इससे डाक-खर्च की बचत होगी।

प्रकाशक

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

——१, गुप्ता लेन, कलकत्ता—६——

स्वास्थ्य और सुख की प्राप्ति का श्रेष्ठ साधन

आरोग्य-प्रकाश

—प्रत्येक परिवार में रहना अत्यन्त आवश्यक है !

◆

भारत-प्रसिद्ध श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड के मैनेजिंग डायरेक्टर वैद्यराज पण्डित रामनारायण शर्मा ने अनेक वर्षों के परिश्रम से इस महान ग्रन्थ—आरोग्य-प्रकाश—को स्वयं लिखा है। इस ग्रन्थ का एक-एक वाक्य हजारों रुपयों का काम देता है। इसके पूर्वार्द्ध के व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, दिन-रात्रि-ऋतुचर्या, सदाचार, उत्तम विचार आदि विषयों को पढ़कर और तदनुकूल आचरण कर सदा बीमार रहनेवाला व्यक्ति भी बिना दवा के ही नीरोग और तन्दुरुस्त हो जाता है।

इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध में शरीर में पैदा होनेवाले सभी रोगों के कारण, निदान, रोग-लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि पर बड़ी ही सरल भाषा में सुन्दर ढंग से विवेचन किया गया है, जिनको पढ़कर विद्वान से लेकर साधारण पढ़ेलिखे व्यक्ति तक समान भाव से लाभ उठा सकते हैं। इसमें दवाओं के जो नुस्खे लिखे हैं, वे बहुत वर्षों के परीक्षित, कभी विफल नहीं होनेवाले और शास्त्रानुमोदित हैं। शहर हो या देहात, सब जगह इस पुस्तक के घर में रहने से रोगी को तत्काल लाभ पहुँचाया जा सकता है। औषध तैयार करने का विधान तो इस पुस्तक में बहुत ही श्रेष्ठ है, क्योंकि लेखक इस विषय के निर्णयात्मक ज्ञाता हैं। इसके ११ संस्करणों में १,०८,००० प्रतियाँ छपकर बिक चुकी हैं और बारहवें संस्करण में २० हजार प्रतियाँ फिर छापी गयी हैं। इसी से इस ग्रन्थ की लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण मिलता है। हिन्दी में ऐसी पुस्तक दूसरी नहीं है, यदि यह कहा जाय तो अनुचित न होगा। प्रचार की दृष्टि से इस पुस्तक का मूल्य भी बहुत कम रखा गया है। ४६० पृष्ठों की विशाल पुस्तक का मूल्य मात्र रु० २·२५, डाक खर्च १) रु०।

नोट :—हमारे ५ निर्माण-केन्द्रों, ३०० बिक्री-केन्द्रों तथा २५ हजार एजेन्सियों में से कहीं भी यह पुस्तक खरीदी जा सकती है। इससे डाक-खर्च की बचत होगी।

प्रकाशक

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

१, गुप्ता लेन, कलकत्ता —६ —

आचार्य जी के ५० वर्षों का चिकित्सानुभव

२५००० प्रतियाँ अब तक बिक चुकी हैं

सिद्धयोग-संग्रह

अर्थात्

(आयुर्वेद के योग-समुद्र में से चुने हुए चिकित्सोपयोगी प्रयोग रत्न)

लेखक——**आयुर्वेदमार्त्तण्ड-वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य**

अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त और लब्धप्रतिष्ठ स्व० आचार्य जी केवल आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं बल्कि एक पीयूषपाणि—सिद्धहस्त चिकित्सक भी थे और इनकी चिकित्सा की लोकप्रियता इसलिए अधिक थी कि इनके नुस्खे कम खर्च में तैयार होते तथा आशुफलप्रद होते थे।

इस पुस्तक में आचार्य जी ने अपने चिकित्सा-काल के ५० वर्षों के अनुभव का दोहन कर——आयुर्वेदीय-यूनानी अथवा आनुभविक जिन योगों द्वारा चिकित्सा में सफलता प्राप्त की उन्हीं योगों को जन-कल्याणार्थ वैद्यों से लेकर सर्वसाधारण जनता के लिए निश्छलभाव से लिख दिया है। आचार्य भाव मिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ज्वराधिकार से लेकर रसायन-बाजीकरणाधिकार पर्यन्त विभिन्न २९ प्रकरणों में औषध-चिकित्सा बहुत समझा कर लिखा है। पुस्तक के परिशिष्ट में स्वर्णादि धातुओं की शोधन-विधियाँ भी ऐसे सरल तरीके से लिखी गई हैं जिन्हें वैद्य सुविधानुसार व्यवहार में ला सकते हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि रोगों की अनेकविध चिकित्सा न बताते हुए सम्मान्य लेखक ने अपने आनुभविक चिकित्सा-प्रयोगों का ही उल्लेख किया है। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ नये-पुराने वैद्यों तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों के अन्तिम वर्ष की पढ़ाई में विद्यार्थियों के लिए भी अत्युपयोगी है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा निर्मित अधिकतर दवाएँ इसी ग्रन्थ के आधार पर तैयार होकर वैद्यनाथ के ५ निर्माण-केन्द्रों, ३५० बिक्री-केन्द्रों तथा २५००० से अधिक एजेण्टों द्वारा एक ही मूल्य में सर्वत्र प्राप्त होती हैं।

ऐसे उपयोगी पुस्तक डबल डिमाई १६ पेजी, २०० पृष्ठ का मूल्य——२·७५ नये पैसे हैं।

प्रकाशक

श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

—१, गुप्ता लेन, कलकत्ता—६—

आयुर्वेदीय औषधों के निर्माण, गुण-धर्म, उपयोग आदि पर
विशद विवेचनपूर्ण महान् ग्रन्थ

आयुर्वेद सारसंग्रह

(चतुर्थ संस्करण)

सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र का मंथन कर यह महान् ग्रन्थ—आयुर्वेद सार-संग्रह—अनेक वर्षों के घोर परिश्रम से तैयार किया गया है। इसमें रोगों के अवस्थानुसार औषधों का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औषध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा में समझा कर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियों द्वारा अतिप्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगों का चिकित्सकों द्वारा सफल परीक्षण असंख्य बार कर लिया जा चुका है, ऐसे ही सफल प्रयोगों का संग्रह इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में परिभाषा प्रकरण के अन्तर्गत औषध-निर्माण-परिभाषा, मान-परिभाषा, सांकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभाषा; यन्त्र-पुट-खरल-परिभाषा, औषध-प्रयोग-विधान, पथ्यापथ्य, पारद-गंधक-हिंगुल का विशद विवेचन; शोधन-मारण प्रकरण के अन्तर्गत धातुओं का शोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन; कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-बटी, पर्पटी, लौह मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), मलहम आदि प्रकरणों में विविध प्रकार की औषधियों की निर्माण-विधि, प्रयोग, गुण-धर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिए गये हैं, जिनसे औषधि-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षों में इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। सर्वसाधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र—७·०० रु० है।

प्रकाशक

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता–६

सम्पादक—कामेश्वर शर्मा 'कमल'

विषय-सूची

विषय		लेखक		पृष्ठ
लोक-सभा के माननीय सदस्यों से अपील	..	..	..	९२१
सम्पादकीय	..	..	..	९२३
आयुर्वेद को खो कर पछताओगे	..	श्री रामनारायण शर्मा, वैद्य	..	९२७
काश्यप संहिता : एक अनुशीलनीय ग्रंथ	..	वैद्य रणजितराय	..	९३३
कूपीपक्व विज्ञाने अग्निमात्रा विनिर्णयः	..	आचार्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी	..	१०००
प्रमाण परिचयः	..	कविराज उपेन्द्रनाथ दास	..	१००६
चीनी द्रव्यगुण विज्ञान की ऐतिहासिक प्रगति	..	आचार्य बनारसीदास गुप्ता	..	१०१०
भ्रम	..	कविराज रघुवीर प्र० त्रिवेदी	..	१०१७
सौंफ	..	वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा	..	१०२५
अष्टाङ्ग हृदयम्-शारीरस्थानम्	..	डा० शंकरलाल भेड़ा	..	१०३१
ऋतुकाल चर्या	..	डा० शिवपूजन सिंह, कुशवाहा 'पथिक'	..	१०३४
जनस्वास्थ्य और सरकार का दायित्व	..	वैद्य सभाकान्त झा	..	१०३६
मयूरशिखा	..	ठाकुर बलबंत सिंह, एम० एस० सी०	..	१०४
मलेरिया के विरुद्ध अभियान (संकलित)	..	..	..	१०४
मकरध्वज पर विश्लेषणात्मक प्रयोग (संकलित)	..	..	..	१०४
हमारा मानसिक स्वास्थ्य	..	श्री पी० एन० रंगिया	..	१०५
पाठकों के विचार	..	..	..	१०५
आयुर्वेद-जगत्	..	..	..	१०५

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित सभी रचनाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। हमारी पूर्व अनुमति के बिना इसमें प्रकाशित किसी रचना का कोई अंश किसी पत्र-पत्रिका में उद्धृत नहीं किया जाना चाहिए। —सम्पादक।

वार्षिक मूल्य ५) एक प्रति ५० नये

आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेदविज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

श्री धन्वन्तरये नमः

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष १२ | कलकत्ता, मई, १९६० | अंक ११

लोक-सभा के माननीय सदस्यों से अपील[1]

सम्मान्य सदस्यगण,

देश के एक प्रमुख किन्तु उपेक्षित वर्ग और सार्वजनिक हित से सम्बन्धित एक समस्या की ओर हम आपका कृपापूर्ण ध्यान आकृष्ट करना चाहते हैं ।

स्वतन्त्रता-प्राप्ति के लिए संघर्ष के दिनों में देश के नेताओं एवं स्वदेशी भावना को देख कर स्वाभाविक विश्वास होता था कि स्वाधीनता-प्राप्ति के अनन्तर भारत की अपनी प्राचीन संस्कृति, साहित्य, कला और विज्ञान का समुचित विकास होगा और राष्ट्रीयता की भावना के आधार पर स्वदेशी विद्वत्ता को प्रोत्साहन दिया जायेगा । जहाँ तक साहित्य और ललित कलाओं का सम्बन्ध है, राष्ट्रीय सरकार के योग से उनका विकास हुआ है । परन्तु प्राचीन भारतीय ज्ञान-विज्ञान का एक उत्कृष्ट अंग आयुर्वेद आश्चर्यजनक रूप से न केवल उपेक्षित एवं राज्याश्रय से वंचित रखा जा रहा है, बल्कि इसके स्वाभाविक विकास में राज्य की ओर से विभिन्न वाधायें उपस्थित की जा रही हैं । यद्यपि कांग्रेस के नागपुर अधिवेशन (१९२०) के प्रस्तावांक ११ द्वारा आयुर्वेद-यूनानी को भारतके लिए सर्वोपरि मान कर उनके विकास को वांछनीय स्वीकार किया गया था । इस स्थिति के परिणाम स्वरूप आयुर्वेद व्यवसाय में लगे हुए कई लाख वैद्य-हकीमों एवं श्रमिकों की जीविका पर दिनोंदिन जो संकट बढ़ता जा रहा है, वह आपके ध्यान देने योग्य है ।

हम आपका ध्यान इस गम्भीर तथ्य की ओर भी आकृष्ट करना चाहते हैं कि भारतीय स्वास्थ्य परम्पराओं तथा आयुर्वेद-पद्धति की उपेक्षा के कारण ही हमारे देश का सार्वजनिक स्वास्थ्य-स्तर गिरता जा रहा है । पाश्चात्य चिकित्सा के बहुतायत प्रचार से प्रभावित होकर स्वास्थ्य के विषय में जन-सामान्य की मनोवृत्ति चेष्टा रहित हो गई है । लोग रोगी होने पर दवा खा लेने के अधिक अभ्यासी हो गये हैं और स्वाभाविक स्वास्थ्य के प्रति कोई सुरुचि नहीं रह गई है । तेज और चमत्कारिक दवाओं के निरन्तर प्रयोग से शारीरिक रोग भी जनता को असामान्य रूप से त्रस्त कर देते हैं । यह आश्चर्यजनक सत्य है कि बड़े-बड़े नगरों में जहाँ प्रभूत मात्रा में आधुनिक विज्ञान की सुविधा सुलभ है ; विशेषकर वहाँ ही अधिकांश जनता किसी-न-किसी रोग से ग्रस्त दिखाई देती है । हमारा नागरिक जीवन दवाओं के सहारे चलने को वाध्य और अभ्यस्त हो चला है ।

१—लोक-सभा में स्वास्थ्य मन्त्रालय की माँगों पर विचार के समय माननीय संसदसदस्यों की सेवा में प्रस्तुत एक पत्र ।

हमारा आग्रह है कि समय रहते आप इस दिशा में ध्यान दें और सरकार को चेतना प्रदान करें। दवाओं और चिकित्सा पर अधिक बल देने की अपेक्षा, जनता में स्वाभाविक स्वास्थ्य के प्रति रुचि जागृत की जावे और देशी स्वास्थ्य परम्पराओं का पुनरुद्धार किया जावे, जो आज भी सांस्कारिक रूप में हमारे जन-जीवन में व्याप्त हैं। इसके विपरीत सरकार पाश्चात्य दवाओं के अधिकाधिक उत्पादन और आधुनिक चिकित्सकों की वृद्धि के लिए जो करोड़ों-अरबों की योजनायें बना रही है वह अन्ततः घातक सिद्ध होगी और सामान्य जनता स्वाभाविक स्वास्थ्य से पंगु हो कर केवल दवाओं पर जीवित रहने को बाध्य हो जावेगी। उत्तेजक दवाओं के प्रसार से रोगों का उन्मूलन कदापि सम्भव नहीं होगा।

इस प्रसंग में आयुर्वेद निश्चित सहायक हो सकता है। आप कृपा कर सरकार को समझावें कि आयुर्वेद को नगण्य न समझ कर उस पर राष्ट्रीय भावनापूर्वक विचार करना वांछनीय है। उसकी परीक्षा करके देखा जावे। अपना आयुर्वेद केवल रोग-चिकित्सा प्रधान विज्ञान ही नहीं है प्रत्युत, उसका आधार ही मानव के स्वाभाविक स्वास्थ्य की सुरक्षा एवं अभिवृद्धि के साधन प्रस्तुत करना है। आयुर्वेद की त्रिदोष-पद्धति, रोगमात्र का दमन नहीं करती, बल्कि रोगी और स्वस्थों की शारीरिक एवं मानसिक स्थिति को विकृति रहित बनाती है। आरोग्य के हेतु रोग-निरोध अपना कर दवाओं के प्रयोग में कमी लाने का उपक्रम आयुर्वेद सिद्धान्तों से ही सफल हो सकता है। पाश्चात्य विज्ञान में कुछ ग्राह्य अच्छाइयाँ हैं, तथापि यह भी स्पष्ट सत्य है कि पाश्चात्य दवाओं की प्रक्रिया रोग को तुरन्त और अप्राकृतिक रूप से दबाने की है, जिससे शरीर की सहन-शक्ति क्षीणतर हो जाती है। आयुर्वेद में जो तुरन्त रोग को दमन करने की पद्धति नहीं है वह उसकी वैज्ञानिक विशेषता है। आयुर्वेद रोग की नहीं रोगी की चिकित्सा करता है। चिकित्सा-पद्धति को अपनाने के लिए रोगोन्मूलन की समस्या के स्थायी समाधान को लक्ष्य मान कर चलना चाहिए। और इसी दृष्टिकोण से यह देखना चाहिए कि पाश्चात्य पद्धति और आयुर्वेद में अन्तर क्या है?

पाश्चात्य चिकित्सा विश्लेषणात्मक पद्धति है जब कि आयुर्वेद संश्लेषणात्मक। पाश्चात्य पद्धति रोगों का दमन करने वाला केवल चिकित्साशास्त्र है, जब कि आयुर्वेद रोगी और स्वस्थों के शारीरिक एवं मानसिक दोषों का समीकरण करने वाला आरोग्य एवं स्वास्थ्य का जीवन विज्ञान है, जिसका प्रथम लक्ष्य है कि रोग उत्पन्न ही न हो। पाश्चात्य पद्धति में ओषधीय मूल द्रव्य का तीव्रतम तत्व लिया जाता है, जब कि आयुर्वेद में संश्लेषण के दृष्टिकोण से मूल द्रव्य के सम्पूर्ण तत्व लेकर तत्सम गुण-धर्म वाले द्रव्यों का सम्मिश्रण किया जाता है। पाश्चात्य पद्धति में सामान्य औषधों को भी रूप बदल कर दिया जाता है। जब कि वह आयुर्वेद में मूल रूप में सुलभ होती है। शीत प्रधान देशों की जलवायु में कल्पित तीव्र पाश्चात्य दवायें भारत की उष्ण जलवायु के अनुकूल कदापि नहीं—जब आयुर्वेदीय औषधें भारत में ही उत्पन्न होती हैं। और उनके योगों की कल्पना यहाँ की जलवायु के आधार पर की गई है। पाश्चात्य चिकित्सा महँगी और बोझिल है और सामान्य जनता की समझ से बिलकुल बाहर है। जब कि आयुर्वेद सर्वसुलभ है और उसके मूल सिद्धान्त यहाँ के किसान-मज़दूर तक जानते और व्यवहार में लाते हैं। आर्थिक दृष्टि से भारत के लिए आयुर्वेद पर आधारित स्वास्थ्य नीति सर्वोपयोगी एवं हितकर है। क्योंकि केवल आयुर्वेद में ही अधिकांश वानस्पतिक ओषधियों का प्रयोग है जो कि हमारे देश में ही विशाल परिमाण में उत्पन्न होती है। इस सब से ऊपर आयुर्वेद में वह विशेषता है जिसके आधार पर दवाओं की, चिकित्सकों की और अन्य चिकित्सा साधनों की अपेक्षा कम हो कर, रोगोन्मूलन होगा और स्वाभाविक स्वास्थ्य की वृद्धि होगी।

अतः देश और जनहित के नाते हम आपसे साग्रह अपील करते हैं कि आप सरकार को कर्तव्य प्रेरित करें कि वह स्वास्थ्य चिकित्सा के प्रसंग में पाश्चात्य देशों की नकल पर न चले और विदेशी शासन द्वारा परिचालित नीति एवं कार्यक्रमों में परिवर्तन करके भारत की जलवायु एवं स्थिति के अनकूल निज की राष्ट्रीय स्वास्थ्य नीति का निर्धारण करे।

सरकार एक बार उपयोगिता की दृष्टि से आयुर्वेद की परीक्षा करे, और जब कि वह देश के लिये उपयोगी है, तथा जनता के लिये हितकर है तो सुरुचिपूर्वक राज्य की ओर से आयुर्वेद के विकास को प्रोत्साहन दिया जाय। यह कितने आश्चर्य की बात है कि देश की ८० प्रतिशत जनता जिसकी चिकित्सा प्रणाली से लाभान्वित हो, उसके लिए पंचवर्षीय योजनाओं में नगण्य स्थान दिया जावे। निश्चय ही केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री इस विषय में रुचि रखते हैं कि दवाओं के प्रसार की अपेक्षा रोग-निरोध पर बल दिया जावे। लोक-सभा के माननीय सदस्यगण यदि स्वास्थ्य मन्त्री को अपने स्वर का बल प्रदान करें तो हमारा विश्वास है कि सरकार की आयुर्वेद-उपेक्षा नीति में कुछ परिवर्तन आयेगा और भारत का यह मौलिक प्राचीन ज्ञान लोप होने से बच जायेगा।

अन्त में हम आपसे पुनः आग्रह करते हैं कि स्वास्थ्य मन्त्रालय के बजट पर विचार के समय आप कृपा कर आयुर्वेद की वस्तुस्थिति पर विचार करें और सरकार का ध्यान उचित दिशा में आकर्षित करें।

विनीत—

सचित्र आयुर्वेद
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता

रामदयाल रामनारायण वैद्य

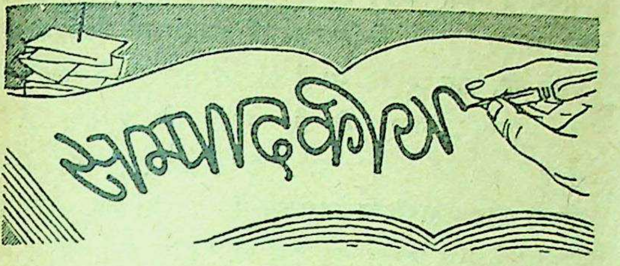

वैद्य-हकीम आँखें खोलें ?

भारत में देशी चिकित्सा-पद्धतियों का सर्वतोमुखी विकास हो, इसके लिए तीन बातें नितान्त आवश्यक हैं। पहली, आयुर्वेद-यूनानी को समुचित राजकीय प्रश्रय मिले; दूसरी, राज-साहाय्य उपलब्ध न हो तो भी कम-से-कम राज्य बाधक न बने और तीसरी, भारत का वैद्य-हकीम समुदाय हीनता की, शंका की तथा संकीर्णता की समस्त भावना-मूलक प्रवृत्तियों का बिलकुल ही परित्याग कर पूरे आत्म-विश्वास के साथ, गौरवानुभूतिपूर्वक और भरपूर उदार दृष्टिकोण, एवं संगठन के साथ अपनी पूर्वजों की धरोहर—आयुर्वेद-यूनानी—को दिनोंदिन विकसित और विवर्द्धित करने का संकल्प प्राणों की गाँठों में बाँध लें! विषमताओं की परवाह न करके दृढ़ता और साहस के साथ आगे बढ़ें! आयुर्वेदोन्नति के लिए सक्रिय एवं रचनात्मक प्रवृत्तियाँ अपनावें। परन्तु; यह तीसरी बात अर्थात् वैद्य-हकीम समाज की सक्रियता अवलम्बित इस पर है कि आयुर्वेद के प्रति सरकार का युक्तियुक्त दृष्टिकोण हो और सरकार उसके विकास में सहायता न दे तो कम-से-कम बाधक बनने की कुटिलतापूर्ण नीति अवश्य त्याग दे। सरकार के दृष्टिकोण में अनुकल परिवर्तन लाने के लिए एक वैधानिक उपाय यही है कि सरकार में विद्यमान जनता के प्रतिनिधि संसद-सदस्यों को प्रेरित किया जावे। इस दिशा में पिछले दो-तीन वर्षों से विभिन्न सूत्रों द्वारा महत्वपूर्ण प्रयास हो रहा है। उसका बहुत सुफल न भी हुआ हो, परन्तु इतना निश्चित है कि आयुर्वेद के विषय में संसदीय क्षेत्र में एक वातावरण का निर्माण हो रहा है। हाल ही में केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की माँगों पर चर्चाके समय 'सचित्र आयुर्वेद' के संचालक श्री रामदयाल रामनारायण वैद्य ने आयुर्वेद के सम्बन्ध में एक गम्भीर अपील समस्त संसद-सदस्यों की सेवा में प्रस्तुत की थी। (इसी अंक में अन्यत्र प्रकाशित है) और उनसे आग्रह किया था कि वे कृपा कर संसद में आयुर्वेद का स्वर उठावें। सन्तोष की बात है कि इस बार स्वास्थ्य मंत्रालय की माँगों पर बहस के समय अनेक संसद-सदस्यों ने उस खेदजनक नीति की तीव्र भर्त्सना की जिसके अनुसार सरकार भारत में पाश्चात्य विज्ञान को दिन-दूना बढ़ा रही है और देशी चिकित्सा पद्धतियों की उपेक्षा कर रही है।

अनेक सदस्यों ने अपने भाषणों में देश में जनस्वास्थ्य विकास के लिए कई महत्वपूर्ण एवं व्यवहारिक सुझाव प्रस्तुत किये हैं। प्रायः सभी भाषण-कर्त्ताओं ने जनता के गिरते हुए स्वास्थ्य स्तर, रोगों की रोकथाम में शासन की असफलता, चिकित्सा-सुविधाओं की अपूर्णता, अन्य कार्यों की भाँति स्वास्थ्य विषय पर सरकार की यथार्थ रुचि का अभाव, राष्ट्रीय स्वास्थ्य योजना की न्यूनता, और देशी चिकित्सा-पद्धतियों को पर्याप्त विकास सुविधा न देने पर अत्यन्त खेद प्रकट किया है। सभी सदस्यों ने विशेष रूप से ग्रामीण क्षेत्र में स्वास्थ्य-संरक्षण साधनों और चिकित्सा सुविधाओं का कोई भी आयोजन न किये जाने पर बड़ी चिन्ता प्रकट की है। स्वच्छ पानी की व्यवस्था, खाद्यान्नों में मिलावट की रोकथाम, रोग निरोध के निमित्त पुष्टिकर भोजन और नियमित आचरणों की प्रवृत्ति बढ़ाने के लिए सरकार कुछ नहीं कर सकी—इस पर निराशा प्रकट की गई है। डाक्टर श्री कोडियान जी ने अपने भाषण में और पं० श्री ठाकुरदास जी भार्गव ने अपने प्रश्नों में इस तथ्य को प्रकट किया है कि वर्तमान सरकार की स्वास्थ्य-नीति १९४८ के एक निर्धारण के अनुसार चल रही है जिसमें स्वास्थ्य कार्यक्रमों के विकास हेतु बुनियादी रूप से आधुनिक विज्ञान को ही निरन्तर रखने का निश्चय किया गया था और यह भी निश्चय किया गया था कि आयुर्वेद तथा अन्य देशी चिकित्सा-पद्धतियों को केन्द्र तथा राज्य पर्याप्त विकास सुविधायें देंगे, इनका अनुसन्धान किया जायगा और इनकी उत्तमता को आधुनिक विज्ञान में मिला लिया जायगा ताकि देश में एक ही पद्धति प्रचलित रखी जा सके। सरकार की बुनियादी नीति पर टीका करते हुए संसद-सदस्य श्री कोडियान जी ने यह बहुत ही युक्तिपूर्ण बात कही है कि अनुसन्धानों के अनन्तर देशी औषधों को आधुनिक

विज्ञान में समन्वित करके जिस एक रूप चिकित्सा पद्धति को प्रचलित किया जायगा क्या वह एकमात्र एलोपैथी ही नहीं होगी? और, क्या इसका यह अर्थ नहीं है कि ऐसा करने से प्राचीन देशी चिकित्सा-पद्धतियों का भारत से धीरे-धीरे लोप ही हो जायगा! श्री कोडियान जी ने अपने भाषण में दुःखपूर्वक कहा है कि यदि सरकार का ऐसा ही लक्ष्य है तो बहुत ग़लत है और यह नीति अत्यन्त घातक होगी।

कुछ सदस्यों ने ग्रामीण क्षेत्र में बिगड़ती हुई स्वास्थ्य स्थिति और उसके सुधार में सरकार की असमर्थता की समीक्षा करते हुए कहा कि स्वास्थ्य मंत्रालय कहता है कि स्वास्थ्य सेवा के विस्तार के लिए डाक्टरों की कमी है, गाँवों में डाक्टर जाना नहीं चाहते फिर क्यों नहीं स्वास्थ्य सेवाओं में वैद्य-हकीमों को ले लेती। एक डाक्टर सदस्य ने तो यहाँ तक कहा कि वर्तमान स्थितियों में गाँवों में डाक्टरों को भेजने की कल्पना ही गलत है। आधुनिक डाक्टरों से कहा जाय कि वे गाँवों में जा कर अपने स्टेथिस्कोप का प्रयोग करें तो वे सही अर्थों में कुछ करने में समर्थ नहीं होंगे। जब कि आयुर्वेद-यूनानी वाले कुछ करने में समर्थ होंगे, क्योंकि वे कम-से-कम एक मनोवैज्ञानिक प्रभाव डालते हैं। हमें चाहिए कि हम आयुर्वेद-यूनानी और वैद्य-हकीमों को अधिक अच्छा बना दें और उनका उपयोग करें, क्योंकि वे लाखों की संख्या में हैं और गाँवों में ही फैले हैं और अच्छी सेवा करने में सफल हो रहे हैं। आपने कहा है कि वैसे भी कई तरह के लोग चिकित्सा का काम करते हैं। सरकार भी दवायें पंचायतों के मुखियों या पंचों द्वारा बटवाती है जिन्हें दवा का कुछ ज्ञान नहीं होता। कम-से-कम देशी चिकित्सक उन सब से अच्छे होंगे। उक्त डाक्टर महोदय ने प्रबल अपील की है कि आयुर्वेद-यूनानी वालों को अवसर दिया जाय कि वे अपनी पद्धति की विशेषताओं को सिद्ध कर सकें। आयुर्वेद और वैद्य-हकीमों को काट देना और निरुपयोगी बना देना अत्यन्त घातक होगा। इसकी अपेक्षा यह अच्छा होगा कि पुराने में नयापन ला कर उसका सदुपयोग किया जाय। कुछ सदस्यों ने वैद्य-हकीमों को रिफ्रेसर कोर्स दे कर अविलम्ब स्वास्थ्य सेवाओं में ले लेने का सुझाव दिया है। कुछ सदस्यों ने आधुनिक वैज्ञानिकों से अपील की है कि वे खोज करके देखें कि भारतीय चिकित्सा में आखिर क्या है? स्वास्थ्य सेवाओं के विस्तार में वैद्य-हकीमों को लिए जाने के सम्बन्ध में एक सदस्य ने एस्टीमेट कमेटी की उस सिफारिश का उल्लेख भी अपने भाषण में किया जिसमें स्पष्ट कहा था कि स्वास्थ्य मंत्रालय को चाहिए कि ऐसे चिकित्सा-कार्य करने वाले वैद्य-हकीमों आदि को, रोग निरोध कार्यों का प्रारम्भिक प्रशिक्षण देने की योजना बनाए जो कि अभी भी ग्रामीण क्षेत्र में कार्य कर रहे हैं और सारे देश में फैले हुए उन समस्त सैकड़ों और हज़ारों कार्यकर्त्ताओं वैद्य-हकीमों का, स्वास्थ्य सेवाओं के एक यथार्थ समानता और मिले-जुले स्वरूप में उपयोग किया जावे। इस योजना के साथ ही एक ऐसी योजना भी रहे जिसके आधार पर ग्रामीण क्षेत्रों के उक्त छोटे केन्द्रों का सम्बन्ध उच्चतर ज्ञान सम्पन्न मेडिकल सहायता केन्द्रों से भी रहे ताकि गम्भीर रोगियों को अच्छे उपचार के लिए वहाँ भेज दिया जाय। इस प्रकार समस्त प्राप्य ज्ञाता एवं क्षमता प्राप्त चिकित्सक पीड़ित मानवों की रक्षा एवं रोग-निरोध के लिए समानाधार पर निर्मित साँचे में कार्य करने में समर्थ होंगे एवं विभिन्न पद्धतियों में वर्तमान प्रतिस्पर्द्धा का वातावरण स्वस्थ सहकारिता में परिणत हो जायगा।

सदस्यों ने खेदपूर्वक यह भी कहा कि देशी चिकित्सा-पद्धतियों के सम्बन्ध में सरकार कितनी ही कमेटियाँ बना चुकी हैं, परन्तु उनकी सिफारिशों पर अमल नहीं किया जाता। श्री वाजपेयी जी ने व्यंग करते हुए यहाँ तक कहा है कि शायद स्वास्थ्य मंत्री जी को उक्त कमेटियों की सिफारिशों पर विचार करने के लिए भी एक कमेटी बनानी पड़ेगी!

सदस्यों के भाषणों में आयुर्वेदोत्थान की आवश्यकता पर बल देते हुए यह माँग की गई है कि आयुर्वेद के उत्थान में यथार्थ कार्य किया जाय। आयुर्वेदानुसन्धान का कार्य सर्वथा आयुर्वेदज्ञों से ही कराया जावे। आयुर्वेदज्ञों को स्वयं योजना बनाने का अवसर दिया जाय। सरकार की नीति ऐसी हो कि स्वास्थ्य के मामले में आयुर्वेद को छोटा सहायक न समझ कर बराबर का साथी माना जाय ताकि देशी चिकित्सकों में शक्ति और आत्मविश्वास जागे। वैद्यों-हकीमों से ही उनकी पद्धति में प्रेरणा दे कर नया अनुसन्धान कराया जाय और फिर उसकी वैज्ञानिक परीक्षा की जावे। ताकि भारत की कुछ ऐसी दवाओं को उभारा जा सकें जिन्हें हमारी अकर्मण्यता से लाभ उठा कर विदेशी उभार रहे हैं। हमें अपने घर में अपने

व्यक्तियों को कुछ नयी खोज करने का अवसर देना चाहिए।

कुछ सदस्यों ने आयुर्वेदीय औषधों के मूल द्रव्यों में मिलावट की चर्चा करते हुए माँग की कि पंचायतों के अधीन गाँवों में ओषधि उद्यानों की स्थापना होनी चाहिए। श्री नरदेव स्नातक, डा० सुशीला नायर, श्री कोडियान जी, श्री अटलबिहारी वाजपेयी, श्री अब्दुल लतीफ साहब, श्री पं० ठाकुरदास भार्गव आदि सदस्यों ने अपने भाषणों में देशी चिकित्सा-पद्धति के पक्ष पर निश्चय ही अच्छा प्रकाश डाला है। हम इन माननीय संसद-सदस्यों की सूझ-बूझ, विवेकशीलता और वास्तविक दृष्टिकोण की प्रशंसा किये बिना नहीं रह सकते। साथ ही अन्य माननीय सदस्यों से यह अपेक्षा रखते हैं कि संसद में देशी चिकित्सा-पद्धतियों के प्रश्न पर जनमत को प्रकट करने में साहस से काम लेवें। केवल स्वदेशी के पक्षपातवश नहीं बल्कि वर्तमान सरकार जनस्वास्थ्य के सम्बन्ध में जिस घातक नीति पर चल रही है, उससे देश को बचाने के लिए शक्तिवश संसद-सदस्यों को इस ओर ध्यान देना चाहिए।

संसद में जन-प्रतिनिधि सदस्यों ने सरकार की आयुर्वेद विरोधी नीति पर चिन्ता व्यक्त की है। पहले भी ऐसा होता रहा है, कोई नई बात नहीं। सचाई यह है कि हमारा स्वास्थ्य मंत्रालय ऐसा चिकना घड़ा है जिस पर एक बूंद ठहरना मुश्किल है। परिस्थिति स्पष्ट है, हर बार स्वास्थ्य मंत्रालय की माँगों के समय संसद के अनेक सदस्य सरकारी नीति की आलोचना करते हैं। आयुर्वेद की उपेक्षा पर खेद प्रकट करते हैं, सरकार को भाँति-भाँति के उत्तम और व्यावहारिक सुझाव देते हैं, माँगे करते हैं, परन्तु स्वास्थ्य मंत्रालय पर कब इन सब का प्रभाव पड़ा है? कौन-सा काम स्वास्थ्य मंत्रालय ने उन सदस्यों की भावना को ध्यान म रख कर किया है? जब भी आलोचनायें होती हैं तो हमारे स्वास्थ्य मंत्री जी उनसे बचाव के लिए बड़ी-बड़ी बातें कर देते हैं। देशी चिकित्सा-पद्धतियों के विकास-हेतु कुछ सब्जबाग दिखा देते हैं, परन्तु उनके वचनों में और कार्यों में समानता दृष्टिगोचर नहीं होती। कम-से-कम आयुर्वेद के सम्बन्ध में उनकी गतिविधियों की तो यही स्थिति है। राजकुमारी अमृतकौर के बाद मान्य श्री करमरकर महोदय ने जब स्वास्थ्य मंत्रालय सम्हाला तो सब को ही यह विश्वास हो चला था कि आयुर्वेद विषयक सरकारी नीति में कुछ परिवर्तन आयगा। आयुर्वेद जगत् को तो निश्चित रूप से श्री करमरकर जी के प्रति यह विश्वास था कि उनसे आयुर्वेद को समुचित न्याय मिलेगा। राजकुमारी जी स्पष्ट शब्दों में आयुर्वेद का विरोध कर दिया करती थीं; पर श्री करमरकर जी जो यदा-कदा आयुर्वेदोन्नति के समर्थन में कुछ कह दिया करते हैं, उससे वैद्य-हकीमों का यह विचार कर लेना स्वाभाविक है कि उनसे आयुर्वेद को न्याय मिलेगा, परन्तु ऐसा लगता है कि यह एक बड़ा भ्रम है। इस बार की संसदीय बहस को देख कर हमें यह सोचने के लिए बाध्य होना पड़ता है कि श्री करमरकर जी से भी आयुर्वेद के लिए कुछ बड़ी आशा करना भूल होगी। माननीय करमरकर जी ने बहस का जो उत्तर दिया है उसका यह कमाल है कि आरम्भ में एक सदस्य का उल्लेख करते हुए आयुर्वेद के परिभाषा सूत्र का जिक्र किया गया है, परन्तु पूरे उत्तर में माननीय मंत्री जी सदस्यों की उस स्पष्ट आलोचना को ऐसा पी गए, जैसे सुना ही न हो, जिसमें सदस्यों ने सरकार की आयुर्वेद विरोधी नीति के अनौचित्य पर खेद व्यक्त किया था। आयुर्वेदोन्नति के विषय में सदस्यों के सुझावों पर भी श्री करमरकर जी ने एक शब्द नहीं कहा। ऐसा कहना अतिशयोक्ति नहीं होगी कि श्री करमरकर जी भी राजकुमारी जी के चरण-चिह्नों पर ही चल रहे हैं। केवल उनका तरीक़ा कुछ भिन्न है। बहस के उत्तर में माननीय श्री करमरकर जी ने बहुत ऊँचा आदर्श ग्रहण कर कहा है कि औषध के मामले में स्वदेशी-विदेशी का व्यवधान नहीं किया जा सकता। जिससे रोगी को लाभ हो, वही औषध लेना चाहिए, चाहे वह देशी हो या विदेशी। यहाँ भी माननीय मंत्री जी ने चरक को स्मरण करके कहा है कि चरक का आदेश है कि अच्छी औषध न केवल मित्र प्रत्युत् शत्रु से भी ग्रहण करनी चाहिए। आपने कहा है कि निश्चय ही यूरोप हमारा शत्रु नहीं है और आधुनिक औषध हमारी शत्रु नहीं है। हमें जो कुछ श्रेष्ठ हो, वही ग्रहण करना चाहिए। कोई माननीय मंत्री जीसे पूछे कि दयानिधान! यह श्रेष्ठत्व ग्रहण करने का सिद्धान्त केवल पाश्चात्य पद्धति के लिए ही क्यों अपना रखा है? और कौन कहता है कि किसी की अच्छाई को ग्रहण मत कीजिए? लेकिन माननीय मंत्री जी बतावें कि ग्रहण का ऐसा अर्थ किस लुग़त में लिखा है कि अपनी अच्छाइयों को दूसरों में विलीन कर दो और अपने को समाप्त

कर दो! पाश्चात्य विज्ञान की अच्छाइयाँ ले कर यदि स्वास्थ्य मंत्रालय भारत की देशी चिकित्सा-पद्धति को समृद्ध बनाने की चेष्टा करता तो रोना ही किस बात का था? परन्तु वे कहते हैं दूसरों की अच्छाइयाँ लो—और कर यह रहे हैं कि आयुर्वेद की अच्छाइयों को छाँट-छाँट कर दूसरों को दे रहे हैं और आयुर्वेद को नष्ट कर रहे हैं।

वैद्य-हकीम समाज को इस प्रसंग में अपनी आँखें खोल लेनी चाहिए कि सरकार की वह बुनियादी नीति जो कि इस बार कुछ सदस्यों के भाषणों में प्रकाश में आई है, आयुर्वेद-यूनानी के लिए विनाशकारिणी है। वह स्वीकृत नीति यही है कि पाश्चात्य चिकित्सा को निरन्तर रखा जावे और आयुर्वेद-यूनानी का अनुसन्धान करके उसकी अच्छी दवायें ले कर देश में एकमात्र चिकित्सा-पद्धति का विकास किया जाय—जो कि प्रकारान्तर से एक सदस्य के शब्दों में एलोपैथी ही होगी! स्पष्ट है कि सरकार के सभी काम उसी नीति के अनुसार चल रहे हैं। इसी आधार पर एलोपैथी दवायें बनाने के बड़े-बड़े कारखाने विदेशों की मदद से भारत में खोले जा रहे हैं, अधिकाधिक मात्रा में मेडिकल कालिज़ बढ़ाये जा रहे हैं और अन्य अनेक प्रकारों से डाक्टरी को प्रोत्साहन दे कर गाँव-गाँव में एलोपैथी-चिकित्सा का जाल बिछाया जा रहा है। इस नीति के प्रकाश में यह कहना भी कदाचित् अतिशयोक्ति नहीं होगी कि सरकार आयुर्वेद के अनुसन्धान और विकास के नाम पर जो कुछ कर रही है, वह न केवल एक दिखावा है, बल्कि दुर्नीतिपूर्ण षड्यन्त्र भी है। अब कोई विश्वास नहीं किया जा सकता कि सरकार द्वारा हो रहे आयुर्वेद-अनुसन्धान के प्रयत्न आयुर्वेद के लिए हैं। वे केवल इसलिए हैं कि आयुर्वेद की उत्तम दवाओं को छाँट कर आधुनिक विज्ञान में मिला लिया जाय और फिर वैद्य-हकीमों को अंगूठा दिखा दिया जाय। सरकार ने अब तक यही किया है। आयुर्वेद की सैकड़ों चीज़ें आधुनिक औषधों में मिला कर उनके प्रयोग से वैद्यों को निषिद्ध कर दिया है। आसवारिष्टों पर मद्य-कर, आपत्तिजनक विज्ञापन कानून, वैद्यों को आधुनिक दवायें प्रयोग करने से रोकना इत्यादि सब उसी षड्यन्त्र के अंग हैं, जिसके द्वारा हमारी सरकार में बैठे हुए भारत के सपूत (?) अपने ही हाथों प्राचीन भारतीय स्वास्थ्य विज्ञान आयुर्वेद के विनाश कर देने का पुरुषार्थ कमा लेना चाहते हैं!

क्या इतने स्पष्ट संकट की स्थिति में भी वैद्य-हकीम समाज में चेतना न आयगी? हमारा विश्वास है कि वैद्य-हकीम यदि संगठित हो कर व्यापक प्रयत्न करें तो आयुर्वेद के प्रश्न पर सरकार का सिंहासन हिलाया जा सकता है; क्योंकि देश का बहुत बड़ा जनमत वैद्य-हकीमों के साथ है। पहले तो १९४८ की नीति स्वयं में ग़लत है उस पर भी सरकार का मंत्रिमण्डल मनमानी करके उसका ग़लत अर्थ कर रहा है और स्वास्थ्य मंत्रालय जन-विश्वास एवं अधिकारों का भीषण दुरुपयोग कर रहा है। हम समझते हैं कि १९४८ की नीति का वही अर्थ किया जाना चाहिए जैसा कि भाषा के मामले में विधान की व्यवस्था है कि एक सीमित समय तक जब तक कि हिन्दी को समृद्ध और सशक्त न बना लिया जावे, तब तक शासन कार्यों में अंग्रेजी चले। यही स्थिति स्वास्थ्य कार्यक्रमों के सम्बन्ध में १९४८ की नीति की है। तत्वतः पाश्चात्य-विज्ञान को उस समय तक अपनाये रहना चाहिए जब तक देशी चिकित्सा-पद्धतियों को उतना लायक न बना लिया जावे जितना कि शासन चाहता है। इस बीच देशी चिकित्सा-पद्धतियों का विकास किया जाय और पाश्चात्य विज्ञान से न्यूनांश ग्रहण कर उसको इस योग्य बनाया जाय ताकि वही एकमात्र चिकित्सा पद्धति के रूप में आगे अपनायी जा सके। परन्तु सरकार का दुराग्रही स्वास्थ्य मंत्रालय, १९४८ की उक्त नीति की भावना को ही बदल कर चल रहा है। सरकार ने स्वयं ही एक नहीं अनेक कमेटियाँ बनाई, उनकी बात न मानी। हर वर्ष संसद में सदस्य चिल्लाते हैं, उनकी भी सरकार नहीं मानती—फिर वैद्यों के भाषणों मात्र का क्या प्रभाव होने वाला है? ऐसी स्थिति में क्या किया जावे, यह वैद्य-हकीम समाज के सोचने का प्रश्न है?

हमारी समझ में इस गम्भीर स्थिति में आयुर्वेद महासम्मेलन के कर्णधारों को कुछ हाथ-पैर हिलाना चाहिए। वे अधिक कुछ नहीं कर सकते तो कम-से-कम अब तो महासम्मेलन का वार्षिक सम्मेलन कर ही डालें। हम एक बार सम्मेलनाधिकारियों से, भाई शिव शर्मा जी से और अन्य सभी आयुर्वेद के विद्वानों से हार्दिक अपील करते हैं कि आयुर्वेद की रक्षा के नाम पर वे पिछली विषाक्त बातों को भूल जा और पारस्परिक एवं व्यक्तिगत विवादों से ऊपर उठ कर केवल मौखिक भाषणों की नीति त्याग कर, व्यक्ति

[शेषांश पष्ठ ९३१ पर]

आयुर्वेद को खोकर पछताओगे !

श्री पं० रामनारायण शर्मा, वैद्य

हमारा देश उन्नति कर रहा है। बड़े-बड़े निर्माण-कार्य सम्पन्न हो रहे हैं। विदेशों के जो अतिथि आते हैं वे हमारे विकास कार्यों की ओर हमारी प्रगति की प्रशंसा करते हैं। विकास और उन्नति की इस चेतना से हमारे नगर और गांव किसी न किसी रूप में प्रभावित हैं। एक पंचवर्षीय योजना पूरी हो चुकी, दूसरी पूरी होने को है और तीसरी बन रही है। इन योजनाओं के निर्धारित लक्ष्य पूरे हो जाने पर, कहा जाता है कि हमारा देश भी संसार के अन्य उन्नत राष्ट्रों के मुकाबले समृद्ध और उन्नतिशील हो जायगा। यह सब देख-सुनकर हृदय गद्गद् हो जाता है।

हमारा भविष्य

परन्तु इस उन्नति-प्रगति का एक पक्ष जितना उज्ज्वल और गौरवास्पद दिखाई देता है, दूसरा उतना ही दुःखमय और निराशजनक प्रतीत होता है। ऐसा लगता है जैसे हम थोड़ा कुछ पा रहे हैं और बहुत कुछ खो रहे हैं। आर्थिक और भौतिक उन्नति तो हो रही है और होगी, परन्तु जो उन्नति हो रही है उससे भारत की आत्मा किस रूप में प्रभावित है, यह बात विचार करने की है। क्या भारतीयता की उन्नति हो रही है? यह प्रश्न है जिसकी उपेक्षा आज भले ही न खटके, पर कालाँतर में यदि हम वह सब खो चुकेंगे, जिसे केवल अपना कह सकते हैं तो इतिहास हमें क्षमा नहीं करेगा। भारत अपनी मौलिक और आज के संसार से कुछ भिन्न विशेषताओं को लुटाकर यदि बड़े और प्रगतिशील कहे जाने वाले राष्ट्रों के मुकाबले उन्हीं जैसा उन्नतिशील हुआ तो वह विकास भारतीयता की कब्र पर बना हुआ ऐसा आधुनिक महल होगा, जिसके नीचे भारत की अपनी संस्कृति-सभ्यता और भारत का अपना सब कुछ दबकर न जाने कबतक कराहता रहेगा। समय रहते ही यदि इस तथ्य की ओर ध्यान दिया जा सके तो निश्चित रूप से हितकर होगा।

प्राचीन में कोई चमत्कार नहीं

इसमें कोई संदेह नहीं कि हमारे आज के राष्ट्र-निर्माताओं के अन्तर्मन में राष्ट्रोन्नति की पवित्र भावना है। देश को सुख-समृद्ध से सुसम्पन्न बनाने के लिए प्रगति पथ पर ले दौड़ने की ललक उनमें प्रभूत है। संसार के सामने भारत का माथा ऊँचा रखने का उत्साह उनमें है और वे बड़े साहस के साथ अपने लक्ष्य की ओर बढ़ रहे हैं, देश को बढ़ा रहे हैं। उनके विविध सद्यत्न अनेक अंशों में भविष्यके लिए कल्याणकर होंगे, तथापि उनके दृष्टिकोण में थोड़ा-सा दिग्भ्रम प्रतीत होता है। निर्माण के लिए दो विचार होते हैं—एक पुनरुत्थान दूसरा परिवर्तन। एक ऐसा है जिसमें अपनी किसी वस्तु की बुराइयाँ निकालकर, अच्छाइयाँ बढ़ाकर अपनी ही वस्तु का सुधार-संचार करना। दूसरा ऐसा है जिसमें अपनी वस्तु को बिलकुल हटाकर उसके स्थान पर दूसरी नयी वस्तु की स्थापना करना। दुर्भाग्य से कहिये या समय के संयोग से, हमारे वर्तमान राष्ट्र-निर्माताओं के दृष्टिकोण में पुनरुत्थान के विचार को कोई स्थान नहीं है। उन्हें अधिकांश परिवर्तन प्रिय हैं। परिवर्तनवादी दृष्टिकोण को लेकर वे पूरी लगन और ईमानदारी के साथ राष्ट्रनिर्माण में लगे हैं। भारत का जो कुछ प्राचीन है, उन्हें उसमें कोई चमत्कार दिखाई नहीं दे रहा है। या यों कहिये कि वह उनकी समझ की सीमा में नहीं आ रहा है। इसलिए वे सर्वथा नवीन की ओर दौड़ रहे हैं। कालिदास की यह चेतावनी उनकी बुद्धि में नहीं खप रही है।

पुराणमित्येव न साधु सर्वं,
न चापि काव्यं नवमित्यवद्यम्।
सन्तः परीक्ष्यान्यतरद्भजन्ते,
मूढः परःप्रत्ययनेय बुद्धिः ॥

परन्तु इस दिग्भ्रमपूर्ण दृष्टिकोण के आधार पर देश में जो कुछ हो रहा है, उसका तात्कालिक प्रभाव ही पर्याप्त चिन्ताजनक है। देश का आधारिक धरातल सर्वथा निर्बल हो चला है। परिवर्त्तनवादी प्रगति का जो स्वरूप वर्त्तमान

और आगामी पीढ़ी में दृष्टिगोचर हो रहा है, वह कम चिंता का विषय नहीं है। हम प्रशासन में बढ़ते हुए भ्रष्टाचार से चिन्तित होते हैं। छात्रों में संक्रामक रोग की भांति फैलनेवाली उद्दंडता और अनुशासनहीनता हमें उद्विग्न करती है। राष्ट्रनिर्माण के लिए सामान्यजन में कर्तव्य, प्रेरणा और जागरूकता का अभाव हमें खटकता है। कहा जाता है कि जनता का नैतिक स्तर गिर गया है। इन सबके कारणों की खोज की जाती है, हल भी तलाश किये जाते हैं, परन्तु फल में यह कहावत चारितार्थ होती है कि 'मर्ज बढ़ता ही गया, ज्यों-ज्यों दवा की।'

क्या यह सब उसी परिवर्त्तनवादी प्रगति का दुष्परिणाम नहीं है? कुछ दिन हुए छात्रों में अनुशासनहीनता के कारणों की खोज करने हेतु एक समिति नियुक्त हुई थी। उसके विद्वान् सदस्यों ने नब्ज पकड़ ली और बताया कि शिक्षा में भारतीय संस्कृति और आचार-बोध का अभाव इसका कारण है। निश्चित रूप से यही कारण तथ्यपूर्ण है। समाज में बढ़ते हुए अन्य दोषों का कारण भी यही है कि हम भारतीयता के प्राचीन आदर्शों के प्रति भटक गये हैं। इस थोड़े से भटकन ने क्या से क्या कर दिखाया। विदेशी शासन में तो हमें प्रयत्नपूर्वक भटकाया गया, परन्तु अपने शासन में हमें संभलना चाहिये था।

किसी जमाने में काशी भारतीय संस्कृति, सभ्यता और विद्वत्ता का केन्द्र मानी जाती थी। ज्योतिष, वैद्यक, व्याकरण, साहित्य आदि के प्रकाण्ड विद्वान् काशी में अनायास मिल जाया करते थे। परन्तु अब खोजना पड़ता है और नहीं मिलते। भारतीय विद्वत्ता निराश्रित हो गयी है, इसीलिए भारतीय ज्ञान को जंग लग गया है। महामना पण्डित मदनमोहन मालवीयजी ने काशी की परम्पराओं को फिर उठाने के लिए ही हिन्दू विश्वविद्यालय की कल्पना की थी, परन्तु विश्वविद्यालय की स्थिति ने काशी को कुछ ऐसा बदला है, जिसको देखकर परिताप होता है। कदाचित् इसीलिए कि विश्वविद्यालय को आधुनिक और पाश्चात्य वातावरण से ठोंक-ठोंक कर भरने की चेष्टा की गयी है और वह चेष्टा अब भी कार्यरत है। इसका उदाहरण, हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेद महाविद्यालय को समाप्त करके उसकी जगह मेडिकल कालेज बनाने का प्रयत्न है।

वर्तमान की परिवर्तनवादी प्रगति ने सबसे अधिक घातक प्रभाव देश की परम्पराओं पर किया है। सर्वत्र नवीनता के व्यामोहवश ही स्वाधीनता काल में भी भारतीय स्वास्थ्य-विज्ञान आयुर्वेद की अवनति हो रही है। स्वाधीनता के लिए संघर्ष के दिनों में नेताओं की यह स्पष्ट सम्मति थी कि भारत के विकास में स्वदेश को प्रधानता दी जायगी। हर क्षेत्र से विदेशीपन को समाप्त किया जायगा। राष्ट्रपिता के आंदोलन की भूमिका ही स्वदेश पर आधारित थी। स्वास्थ्य और चिकित्सा के प्रसंग में राष्ट्रनेतागण आयुर्वेद और यूनानी को सर्वोपरि मानते थे। अब से ४० वर्ष पूर्व नागपुर कांग्रेस में एक प्रस्ताव द्वारा आयुर्वेद-यूनानी पद्धतियों को भारतीय जनता के हित सर्वोपरि मानकर उसके विकास की प्रतिज्ञा की गयी थी। १९३८ में कांग्रेस कार्यसमिति ने एक प्रस्ताव में कहा था कि कांग्रेस सरकार आयुर्वेद-यूनानी को जनहित के लिए विधिवत् प्रोत्साहन दें। परन्तु स्वाधीनता प्राप्ति के उपरान्त शासन में अधिकार प्राप्त कांग्रेस नेताओं का आयुर्वेद के प्रति व्यावहारिक दृष्टिकोण कुछ ऐसा बदला कि आश्चर्य और खेद होता है। जहाँ अन्य विषयों में अधिक नवीनता का व्यामोह कुछ ही हानिकर हुआ है वहाँ स्वास्थ्य और चिकित्सा के क्षेत्र में तो उसने अत्यन्त हानिकर परिणाम प्रस्तुत किये हैं। अधिक आश्चर्य की बात यह है कि हमारा शासनतन्त्र उन परिणामों की बुराई स्वीकार करने को उद्यत नहीं होता।

आयुर्वेद की उपेक्षा

आयुर्वेद की उपेक्षा और भारतीय स्वास्थ्य परम्पराओं के ह्रास का ही यह परिणाम है कि भारतीय जनता का स्वास्थ्य-स्तर गिरता जा रहा है। रोग अधिक बढ़ रहे हैं। बड़े-बड़े रोगों की तो जांच-पड़ताल हो जाती है, परन्तु सामान्य रोग कितनी विशालता से बढ़ रहे हैं, इसकी कोई देखभाल नहीं। जब कि स्थिति यह है कि हमारे नागरिकों की स्वाभाविक रोगनिरोध शक्ति- अत्यन्त ही जर्जर हो गयी है, इतनी कि वह नितान्त सामान्य रोग को भी सहन नहीं कर पाती। शहरी लोग सर्दी-जुकाम में भी इंजेक्शन लगवाने दौड़ते हैं। पहले समय में हमारे समाज में स्वाभाविक रूप से स्वस्थ रहना एक अनिवार्य कर्त्तव्य समझा जाता था। उसके लिए भोजन, विश्राम और संयम के

कुछ ऐसे नियम थे जो सर्वसामान्य के जीवन में घुले-मिले थे। प्राचीन आचार-विचार भी स्वास्थ्य की उत्तमता में सहायक होते थे। रोगी होना लज्जाजनक माना जाता था। रोगी होने पर पुनःस्वास्थ्य में अधिक समय लगेगा, इस भयवश भी लोग स्वाभाविक स्वास्थ्य के नियमों का पालन करते और चेष्टा करते थे कि रोगी न होना पड़े। शारीरिक शक्तियाँ इतनी सबल तो रहती ही थीं कि मामूली रोग उन पर प्रभाव नहीं कर पाते थे। परन्तु वर्त्तमान स्थिति बिलकुल भिन्न है। लोगों में स्वास्थ्य के प्रति सुरुचि नहीं। जरा-सा रोग हुआ और उसको चमत्कारिक दवा लेकर तुरन्त दवा लिया, इस प्रवृत्ति ने लोगों की स्वास्थ्य चेष्टाओं को मार दिया है। पाश्चात्य दवाओं द्वारा अस्वाभाविक रूप में रोगों को दबाने की पद्धति ने लोगों की सहनशक्ति का सफाया कर दिया है और ऐसी स्थिति में ला खड़ा किया है कि बाध्य होकर अपनी आय का एक अच्छा अंश वे चिकित्सा पर खर्च करते हैं और दवाओं के सहारे जीते हैं।

वर्तमान शासनतन्त्र, यह मानते हुए भी कि चिकित्सा की अपेक्षा आरोग्य हितकर है, व्यवहार में सर्वथा इसके विपरीत चल रहा है। सरकारी स्वास्थ्य विभाग विदेशी सरकार के बनाये हुए ढाँचे के अन्तर्गत ही कार्यरत है, इसलिए उसकी अधिक शक्तियाँ इस दिशा में ही लग रही हैं कि अधिक से अधिक डाक्टर उत्पन्न किये जायँ और अधिक से अधिक दवाएँ। जितना धन दवाओं और डाक्टरों की बढ़ती पर व्यय किया जा रहा है उसका शतांश भी स्वाभाविक स्वास्थ्य-रक्षा और आरोग्य की योजनाओं पर नहीं किया जा रहा है। रूस, पश्चिम जर्मनी आदि के सहयोग से अरबों रुपया लगाकर कुछ ऐसे कारखाने भारत में खोले जा रहे हैं, जो बहुत बड़ी मात्रा में पाश्चात्य दवाओं का निर्माण करेंगे। नये-नये मेडिकल कालेज इसलिए बढ़ाये जा रहे हैं कि लाखों की संख्या में नये डाक्टर तैयार हो जायँ और जनता की सेवा (?) करें। यह सब देखकर ऐसा लगता है जैसे आगे ऐसा युग आ रहा है जब कि हम केवल दवाओं के आसरे ही जी सकेंगे। दवा खाकर ही काम कर सकेंगे, दवा खाकर ही भोजन पचायेंगे, दवा खाकर ही सोयेंगे। दवा खाकर ही लड़ेंगे और दवा खाकर ही मरेंगे। पाश्चात्य देशों में अधिकतर ऐसी ही स्थिति है। पर, क्या भारत के लिये दवाओं पर आश्रित जीवन का यह रूप उचित और सम्भव होगा?

नयी नीति घातक

समझ में नहीं आता कि अपने प्रशासनों को यह तथ्य की बात कैसे समझायी जाय कि वे स्वास्थ्य चिकित्सा के विषय में भी परिवर्तनवादी प्रगति का जो दृष्टिकोण अपनाये हुए हैं वह न केवल गलत है बल्कि घातक भी है। इतनी मोटी-सी बात भी उनकी समझ में नहीं आती है कि पाश्चात्य चिकित्सा-विधियाँ और दवाएँ, जो शीतप्रधान वायुमण्डल के देशों के लिए वहाँ की ही स्थिति के अनुकूल कल्पित है, वे भारत जैसे उष्ण वातावरणवाले देश के निवासियों को अनुकूल नहीं पड़ सकतीं। यहां विदेशी दवाएँ रोग का तुरत ही दमन जरूर कर देती हैं, परन्तु वे उसी अस्वाभाविक दमन की प्रक्रिया द्वारा एक रोग को मारकर दूसरे कई रोगों की भूमिका शरीर में बना देती है और मनुष्य की स्वाभाविक रोगनिरोधिनी-शक्ति को इतना निर्बल बना देती है कि फिर उस पर किसी भी साधारण रोग का आक्रमण सहज हो जाता है। जो एक बार रोगी होकर पाश्चात्य दवा खा ले वह फिर सदा के लिए दवा का ही अभ्यासी बन जाता है। परीक्षा करके और किसी निष्पक्ष कमेटी द्वारा जांच कराके इस सच्चाई को देखा जा सकता है।

केवल इसलिए नहीं कि आयुर्वेद को प्रश्रय देने से भारत की एक प्राचीन वैज्ञानिक कला का विकास होगा। इसलिए भी नहीं कि ऐसा करने से आयुर्वेद-उद्योग में लगे हुए लाखों वैद्य-हकीमों और लाखों श्रमिकों की जीविका नष्ट होने से बच जायगी और इसलिए भी नहीं कि आयुर्वेद को प्रोत्साहन देने से स्वदेश की राष्ट्रीय भावना एवं कर्तव्य का पालन होगा। बल्कि इसलिए कि आयुर्वेद को भारत में राजकीय प्रश्रय मिलना चाहिये और आयुर्वेद भारतीय स्वास्थ्य समस्या के समाधान का सर्वोपरि सफल माध्यम सिद्ध हो सकता है। इस बात को केवल हमारे या वैद्यों के कहने मात्र से न माना जाय, प्रत्युत सरकार यथार्थता की परीक्षा करके देखे और यदि यह सिद्ध हो जाय कि आयुर्वेद उपयुक्त है, तो फिर उसको राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति का सम्मान मिलना ही चाहिये। यह न तो कोई भावुकता की बात है, न दुराग्रह की, सीधे तर्क की बात है।

भारत सरकार और आयुर्वेद

परन्तु जहां तर्क को भी स्थान न हो वहां क्या किया जाय। भारत सरकार की नीति आयुर्वेद के सम्बन्ध में

ऐसी ही तर्कहीन है। परीक्षा करके देखते नहीं, मात्र आयुर्वेद से अनभिज्ञ आधुनिक विज्ञान के शिष्यों के कह देने से कि आयुर्वेद अवैज्ञानिक है उसको राज्याधिकारी भी नगण्य माने हुए हैं। अधिकांश संसद-सदस्य, मन्त्रिगण और कांग्रेस नेतागण आयुर्वेद से सहानुभूति रखते हैं, परन्तु शासन के परिवर्तनप्रिय दृष्टिकोणवाले तन्त्र के सामने वह सहानुभूति क्षीण पड़ जाती है। दलीय अनुशासन लोगों का मुँह पकड़ लेता है। फलतः राज्याधिकारी ऊपर से आयुर्वेद के प्रति सहानुभूति भरे शब्द कहकर कर्तव्य की इतिश्री कर देता है। आयुर्वेद को प्रोत्साहन न देना एक बात है और उसकी स्वाभाविक प्रगति में ही बाधा उपस्थित करना दूसरी बात है। स्थिति यह है कि सरकार उचित प्रोत्साहन तो देती ही नहीं, उल्टी बाधक हो रही है। राज्याश्रय न मिले और बाधाएँ न हों तो भी आयुर्वेद अपनी शक्ति से जीवित रह सकता है और विकास कर सकता है। विदेशी शासन में इसी कारण आयुर्वेद जीवित रहा। विदेशियों ने इसकी उपेक्षा की, राज्याश्रय नहीं दिया, अपनी व्यावसायिक समृद्धि के लिये एलोपैथी का प्रसार किया फिर भी आयुर्वेद के मार्ग में कोई बाधा खड़ी करने का साहस विदेशी कानूनों द्वारा नहीं हुआ। एक ओर तो आयुर्वेद की प्रगति को रोका जा रहा है, दूसरी ओर आयुर्वेद-अनुसन्धान के नाम पर उसकी श्रेष्ठ दवाओं को चुन-चुन कर एलोपैथी में शामिल करके आयुर्वेद का अंग-भंग किया जा रहा है। उधर एलोपैथी का दिन दूना विस्तार करके आयुर्वेद विरोधी क्षेत्र का निर्माण किया जा रहा है। बड़े दम्भ के साथ ग्रामीणों को चिकित्सा सुविधा देने के नाम पर देहातों में भी एलोपैथी थोपने के उपक्रम चल रहे हैं। यद्यपि सुनिश्चित है कि जनता नहीं चाहती, परन्तु तो भी केवल परिवर्तन में विश्वास रखनेवाले, जबरन जनता को पाश्चात्य दवाओं का अभ्यासी बनाकर छोड़ेंगे और प्राचीन आयुर्वेद-यूनानी को समाप्त करके मानेंगे, ऐसे लक्षण दिखायी देते हैं।

जहाँ शासन और उसका नेतृवर्ग जनभावना के विपरीत हर काम को अपनी व्यक्तिगत रुचि के आधार पर करने का दुराग्रह कर उठे, वहां एक मात्र उपाय यही रह जाता कि जनता स्वयं खड़ी हो और आनेवाले खतरे से बचाव के लिए सन्नद्ध होकर शासकों को ठिकाने पर लाये। आज का शासकवर्ग यदि भारत के हर प्राचीन ज्ञान और संस्कृति की परम्पराओं को पिछड़ा हुआ, अवैज्ञानिक और अग्राह्य बनाने पर तुला हुआ है तो जनता का ही कर्तव्य है कि वह अपनी संस्कृति को और अपने आयुर्वेद को बचाने के लिए उठ खड़ी हो। नेताओं के मस्तिष्क पर भले ही पाश्चात्य प्रगति का भूत चढ़ आया हो, परन्तु जनता में अभी भारतीयता और स्वदेशी भावना विद्यमान है।

अच्छा हो कि समय रहते शासन के उत्तरदायी व्यक्ति कम से कम आयुर्वेद के विषय में अपनी भूल सुधार लें। हम यह आग्रह नहीं करते कि आयुर्वेद का वर्तमान रूप (जो कि उपेक्षाओं में घिस-पिसकर शेष बचा है वही) पूरा और पर्याप्त है। हम यह भी नहीं कहते कि आधुनिक विज्ञान में जो कुछ है वह सबका सब अग्राह्य है। हमारा तो आग्रह है कि पहले आयुर्वेद को भलीभांति देख-समझ कर उसका पुनरुद्धार किया जाय और आधुनिक विज्ञान में जो कुछ भी आयुर्वेद के मूल सिद्धांत से मेल खाता हो या जिससे उसकी पूर्ति होती हो वह ग्रहण कर लिया जाय। यदि इस नीति के आधार पर यथार्थ रुचि के साथ आयुर्वेद का पुनरुत्थान किया जाय तो वह निश्चित रूप से भारत में आरोग्य-स्थापन का सर्वथा सफल माध्यम सिद्ध होगा और हम एक ऐसे उन्नत स्वास्थ्य विज्ञान को लेकर संसार को प्रकाश दे सकेंगे जो सर्वथा भारतीय कहा जा सकेगा और जिससे संसार में हमारी प्रतिष्ठा बढ़ेगी।

आयुर्वेद की आवश्यकता

हम ऊपर कह आये हैं कि आयुर्वेद का उत्थान इसलिये वांछनीय है कि भारतीय जनता के गिरते हुए स्वास्थ्य स्तर को सम्हालने के लिये आयुर्वेद की जरूरत है। दवाओं और चिकित्सा पर अधिक बल देने से रोगों का अन्त कदापि नहीं हो सकता। पाश्चात्य पद्धति और चमत्कारिक दवाओं का जितना विस्तार होगा, उतना ही रोगों का विस्तार होगा, यह आश्चर्यजनक सत्य है। इसलिए दवाओं कम से कम प्रयोग और चिकित्सा पर कम से कम आर्थि रहकर स्वाभाविक एवं आरोग्य को अधिक महत्त्व दे चाहिये। जितना धन इन दवाओं पर व्यय कर रहे उससे चौथाई भी यदि आरोग्य-वृद्धि के प्रसार में लगा जावे तो वह स्थायी सुफल दिखायेगा। इस दृष्टिकोण ही भारत में आयुर्वेद को प्रश्रय दिया जाना उचित है क्योंकि आयुर्वेद और पाश्चात्य चिकित्सा का सबसे स

अन्तर ही यह है कि आयुर्वेद मूलतः आरोग्य का विज्ञान है जब कि पाश्चात्य पद्धति केवल चिकित्सा की कला है। वह चिकित्सा भी शामक नहीं, मारक औषध प्रधान है। पाश्चात्य पद्धति और आयुर्वेद के प्रश्न को वस्तुतः देशहित और अनहित को प्रधान मानकर विचारना चाहिये। आर्थिक दृष्टि से, औद्योगिक दृष्टि से, राष्ट्रीय बचत के विचार से और स्वदेशी भावन की दृष्टिसे आयुर्वेद देशके लिए सर्वथा हितकर है। जनता के लिये इसलिए सर्वोपरि है कि वह अब भी उसके अधिक निकट है, चिकित्सा के साथ वह शरीर के स्वाभाविक स्वास्थ्य की अभिवृद्धि करता है। आयुर्वेदीय स्वास्थ्य सिद्धान्त मनुष्यों को न केवल शारीरिक, बल्कि मानसिक दृष्टि से भी स्वस्थ और संयमी बनाते हैं। आयुर्वेद की इन विशेषताओं पर शासकों को ध्यान देना चाहिये और उसके विकास के लिए राज्य की ओर से यथार्थ प्रयत्न किये जाने चाहिये।

स्थिति में सुधार कैसे

यदि आयुर्वेद की प्रगति में बाधा डालनेवाले कानूनों में सुधार कर दिया जाय, वैद्यों को उचित सम्मान और डाक्टरों के बराबर का दर्जा दिया जाय, आयुर्वेद के शिक्षा-प्रसार के हेतु अखिल भारतीय व्यवस्था हो और आयुर्वेद का आयुर्वेदीय दृष्टिकोण से अनुसन्धान किया जाय तो थोड़े ही दिनों में आयुर्वेद की जन-कल्याणकारी शक्ति प्रकाश में आ सकती है। इसी प्रकार जनता में दवाओं और डाक्टरों का जाल बिछाने की अपेक्षा यदि आयुर्वेदीय स्वास्थ्य सिद्धांतों का प्रचार किया जाय और अस्पतालों के बजाय स्वास्थ्य-रक्षा केन्द्र स्थापित किये जायँ तो देश में आरोग्यकी स्थिति-निर्माण में आशातीत सफलता मिल सकती है।

यदि बार-बार के निवेदन के बाद राज्य अपने कर्त्तव्य का पालन नहीं करता। भारत का स्वास्थ्य विभाग दुराग्रहवश ही पाश्चात्य पद्धति और चमत्कारिक दवाओं का प्रसार करता रहा और आयुर्वेद की उपेक्षा करता रहा, तो हमारा देश दवाओं पर आश्रित मरीजों का अजायवघर तो हो जायगा ही, साथ ही आयर्वेद-रूपी हमारा प्राचीन अद्भुत ज्ञान जो सैकड़ों वर्षों के विदेशी शासन में लुप्त न हो सका, वह अपनों के राज्य में उपेक्षित, पीड़ित और हताश होकर धीरे-धीरे लुप्त हो जायगा। जो आज पाश्चात्य चकाचौंध में भूलकर आयुर्वेद को नगण्य मान रहे हैं, हमारा उनसे ही कहना है कि आयुर्वेद को खो कर पछताओगे जिस के लिए आनेवाला इतिहास तुम्हें कभी क्षमा नहीं करेगा।

शेषांश] सम्पादकीय [६२६ पृष्ठ का

प्रतिष्ठाओं का झूठा अभिमान छोड़ कर, कुछ वास्तविक और रचनात्मक दृष्टिकोण अपनाने की कृपा करें।

तुरन्त महासम्मेलन का अधिवेशन किया जावे और उसमें व्यर्थ की भाषणबाजी एवं प्रस्तावों की अपेक्षा केवल दो ही प्रश्न विचारणीय रखे जावें। एक तो यह कि वर्तमान सरकार की आयुर्वेद-नाशक नीति के विरोध में किस प्रकार सरकार से व्यापक असहयोग किया जाय और दूसरा यह कि किस भूमिका पर स्वयं वैद्य समाज आयुर्वेद की रक्षा एवं विकास कार्यों को अपने हाथ में ले! यदि महासम्मेलनाधिकारी दुराग्रहवश अधिवेशन नहीं ही करना चाहते हों, तो कम-से-कम उनका यह धर्म तो है ही कि वे प्रस्तुत समस्याओं पर विचार करने के लिए देशभर के चुने हुए वैद्य-हकीमों का एक स्वतन्त्र सम्मेलन आयोजित करें।

आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान

(पूर्वार्द्ध एवं उत्तरार्द्ध)

किसी रोग की चिकित्सा के पूर्व रोग का निदान परमावश्यक है। रोग के सम्यक् निर्णय के बिना कदापि रोगी की सफल चिकित्सा नहीं हो सकती। इसलिए व्याधि-विज्ञान (रोग निदान) आयुर्वेद का एक प्रधान विषय है। इस 'आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान' की रचना आयुर्वेद-मार्तण्ड वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य ने की है और व्याधि विज्ञान के साधनों और व्याधियों के सम्बन्ध में सभी ज्ञातव्य बातों का बड़े सुन्दर और सरल ढंग से विवेचन किया गया है। इस ग्रन्थ का पूर्वार्द्ध तो कई वर्ष पहले ही छप चुका था और सर्वत्र उसका यथेष्ट समादर हुआ था, किन्तु इस ग्रन्थ के उत्तरार्द्ध के लिये वैद्य-समाज की ओर से जबर्दस्त माँग की जा रही थी।

अब 'आयुर्वेदीय व्याधि-विज्ञान' का उत्तरार्द्ध खण्ड भी प्रकाशित हो गया है और इस प्रकार वैद्य-समाज की एक जबर्दस्त माँग की पूर्ति हो गयी है। इसके प्रत्येक अध्याय में विविध रोगों, यथा—ज्वर, महास्रोत रोग, उरोगत रोग, रक्तपित्त, पाण्डु, शोथ, व्रण, विसर्प, वृद्धि, भग्न-निदान, गलगण्ड, गण्डमाला, कुष्ठ आदि के लक्षण, निदान, चिकित्सा आदि पर सरल भाषा में पाण्डित्यपूर्ण विवेचन किया गया है। आयुर्वेदीय अध्यापको और विद्यार्थियों के साथ-साथ वैद्यों के लिए भी यह ग्रन्थ अत्यन्त आवश्यक है।

मूल्य :—पूर्वार्द्ध का २।।) और उत्तरार्द्ध का ६), डाक-खर्च पृथक

अपनी प्रति आज ही सुरक्षित करा लें

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

काश्यप-संहिता : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ (३)

वैद्य रणजितराय

व्याधिज फक्क के उपचार

व्याधिज फक्क का वह भेद जिसमें अधःकाय निश्चेष्ट तथा प्रम्लान (शिथिल) होता है, उसका साम्य आधुनिकों के पॉलिओमायलाइटिस से है, यह संभावना गत लेख में प्रकट की है। आयुर्वेद के अन्य तन्त्रों की दृष्टि से विचार करना हो तो यह सिद्ध है कि अकर्मण्यता या निश्चेष्टता तथा संधिबन्ध के शैथिल्य के कारण यह रोग 'पक्षवध' कहा जाएगा। साध्य-साध्यता तथा चिकित्सा-भेद की दृष्टि से इस भेद को **कफ-संयुक्त वात से उत्पन्न पक्षवध** कहना चाहिए। दोष-भेद से भेद देखने का प्रयोजन यह है कि : पक्षाघात का मूल यद्यपि वात होता है तथापि वात यदि कफ किंवा पित्त से संयुक्त हो तो केवल वायु या धातुक्षयवश कुपित वायु से हुए पक्षाघात की तुलना में यह साध्यतर होता है। दोष-भेद से पक्षवध की विवेचना जिस पद्य में की है वह पद्य प्रसिद्ध होने से उसके उद्धृत करने की आवश्यकता नहीं। केवल इतना निर्देश करना उचित प्रतीत होता है कि, आवरण या अन्य दोष के संबन्ध से कुपित वायु से हुए पक्षाघात के विषय में माधव-निदान की स्थापना यह है—**साध्यम् अन्येन संयुक्तम्**। यहाँ 'साध्य' शब्द से उसके 'कृच्छ्र साध्य' इस भेद का ग्रहण करना योग्य है। वाग्भट के पद्य में तो पाठ ही यह है—**कृच्छ्रमन्येन संयुक्तम्**। सामान्यतया 'साध्य' शब्द से 'सरलता से जिसे शान्त किया जा सके ऐसा रोग' इस अर्थ की ही प्रतीति होती है। तात्पर्य, पक्षाघातमात्र कष्टसाध्य या असाध्य है। दोषादि भेद से उसके तारतम्य में भेद होता है।

अङ्ग की शिथिलता तथा वय कफप्रधान होना—इस दृष्टि से विचार करें तो **पॉलिओ कफानुबन्धी वात से हुआ पक्षाघात** है। इस मन्तव्य की अन्तिम परीक्षा तो उपचार-दर्शन से ही हो सकती है। समीरपन्नग, मल्लसिन्दूर, रस-माणिक्य इत्यादि कफ पर क्रिया करनेवाले पक्षाघातोपयुक्त कल्पों का प्रयोग पॉलीयो पर करके देखा जा सकता है। एकाङ्ग-वीर, सुवर्णभूपति, महायोगराज गुग्गुलु इत्यादि भी उत्तम है।

कफानुबन्धी पक्षाघात के इस प्रकरण में स्मरण किया जा सकता है कि, **वयःस्थों में कफानुबन्धी पक्षाघात** होता है तो उसमें कफ के मन्द गुण के कारण **सिराशैथिल्य** रहा करता है। यह स्थिति 'लो ब्लड प्रेशर' नाम से प्रसिद्ध है। मन्द गुण के साथ कफ का पिच्छिल गुण भी सहचारी के रूप में रहा हो तो मन्द अयनवाले रस-रक्त का स्कन्दन हो जाता जाता है। वह रस-रक्तवह स्रोतों में ही जम जाता है। यह स्कन्दन मस्तिष्क-गत रस-रक्तवह स्रोतों में कहीं हो तो पक्षाघात होता है। स्कन्दन हृदय की पोषक सिराओं या स्रोतों में हो तो हृच्छूल होता है। हृच्छूल की संप्राप्ति में कफावरुद्ध वायु से होने वाला हृच्छूल का एक प्रकार कहा गया है। उस की यह संप्राप्ति है। पित्तावरुद्ध व्यान वायु से होनेवाले हृच्छूल में इन स्रोतों के अन्दर के मण्डल (कोट) में पाक (एण्ड आर्टराइटिस) हो जाता है। कफ तथा पित्त के अनुबन्ध से होनेवाले पक्षाघातादि इन रोगों के प्रति प्रसंगान्तर के भय से दिङ्मात्र-निर्देश किया है।

पॉलियो पर उपयोगार्थ उक्त जिन कल्पों की सूचना ऊपर की है उनके विषय में कठिनाई यह है कि पॉलीयो पर विचार करने की प्रक्रिया ऍलोपेथी से ही सांप्रत वैद्य भी यथास्थित ग्रहण करते हैं। संप्राप्ति ऍलोपेथी की गृहीत होने से चिकित्सार्थ नव्यमत को ही दृष्टि में रखा जाता है। प्रायः वैद्य इस रोग को हाथ नहीं लगाते। रोगी के स्वजन-परिजन भी प्रायः पॉलीयो का नाम आने पर आयुर्वेदीय उपचार के प्रति दृष्टि-निक्षेप नहीं करते। पॉलियो ही नहीं, अन्य कितने ही रोगों के संबन्ध में भी स्थिति यही है। आयुर्वेद के क्षेत्र में कार्य करनेवालों को प्रत्येक रोग के निदान तथा उसके उपचार के विषय में आयुर्वेदिक दृष्टि निर्माण करने तथा उसके विकसित करने का प्रयास करना चाहिए।

पॉलियो पर प्रायः आधुनिक तज्ज्ञ कोई आभ्यन्तर औषध नहीं देते। पूर्ण संभव है, डॉक्टरी उपचार के साथ-साथ ऊपर निर्दिष्ट या अन्य कोई औषध-योजना कराने में पॉलीयो-पीडित बालक के स्वजन-परिजनों को भी कोई विप्रतिपत्ति न होगी। डॉक्टरी मत से तो पॉलीयो की संप्राप्ति पर मल्लसिन्दूर आदि की कोई क्रिया न होने से नव्य चिकित्सक तो इस विषय में प्रायः अनुमति न भी दें। तथापि ऐसे अवसर

सुलभ हो सकते हैं, जिनमें पॉलियो पर आयुर्वेदीय औषध-योजना आजमाई जा सके। आभ्यन्तर औषध के साथ नारायण तैल, विषगर्भ तैल, लाक्षादि तैल आदि का अभ्यङ्ग भी किया जाना चाहिए।

फक्क रोग का काश्यपोक्त उपचार

व्याधिज फक्क के विषय में चिकित्सा के प्रसंग में इतना उल्लेख करने के पश्चात् अब हम काश्यप-संहितोक्त उपचारों का निर्देश करते हैं। इस प्रसंग में यह कहना आवश्यक है कि, फक्क चिकित्सित अध्याय का संप्राप्ति-पर्यन्त प्रकरण पूर्ण उपलब्ध हुआ है। परन्तु चिकित्सा-भाग त्रुटित ही प्राप्त हुआ है। उपलब्ध चिकित्सा एवं अन्य संहिताओं में निर्दिष्ट पक्षवधाधिकारोक्त चिकित्सा को एक साथ समक्ष रख कर व्याधिज फक्करोग का अधिक विनिश्चय करना चाहिए और पश्चात् रुग्णों पर उसका प्रयोग कर अन्तिम निर्णय की दिशा में पदार्पण करना करना चाहिए[1]।

फक्क की जो चिकित्सा काश्यप ने दी है वह फक्क के तीनों भेदों के लिए है, यह भी स्मरण रखना चाहिए।

वागिन्द्रिय का द्विविधत्व :—

१. फक्कचिकित्साध्याय में ही काश्यप ने एक वस्तु कही है, जो अन्य संहिताओं में उपलब्ध नहीं होती है। यह वस्तु है—वागिन्द्रिय का द्विविधत्व। आचार्य कहते हैं :

तत्र वागिन्द्रियं त्वेकं द्विधा भिन्नं यथा करौ।
अर्धेन शब्दं वदति गृह्णात्यर्धेन तं पुनः।

अर्थात् वागिन्द्रिय मूल में एक है। उसके दो भेद हैं। जैसे हाथ एक है, परन्तु उसके दो भेद हैं। वागिन्द्रिय के एक प्रकार से शब्द का उच्चारण किया जाता है तथा द्वितीय प्रकार से उस का ग्रहण (श्रवण) किया जाता है। इस सिद्धान्त के आधार पर आचार्य आगे कहते हैं—इसी कारण मूक पुरुष प्रायः बधिर भी होते हैं। श्रोत्रेन्द्रिय का मूल वागिन्द्रिय है। वागिन्द्रिय की विकृति होने से श्रवणेन्द्रिय में भी वैकल्य आता है।

वागिन्द्रिय के इस द्वैविध्य का निरूपण रचना शरीर के लेखकों तथा अध्यापकों को करना चाहिए। एक अन्य विशदता भी यहाँ हो सकती है। हाथ को यहाँ मूल में एक कह कर उसे द्विधा विभक्त कहा है। क्या इसी प्रकार 'फुफ्फुस' के लिए जो एक वचनान्त प्रयोग आता है उस की भी व्याख्या नहीं की जा सकती? अर्थात् —फुफ्फुस मूल में एक है—उसके आगे दो भेद हो गए हैं। रचना शारीर के विद्वान् इस विषय पर भी अधिक विचार कर अपना मतामत दें।

× × फक्क रोगी को **कल्याणक घृत** या **षट्पल घृत** का सेवन कराना चाहिए। ये घृत अमृत सम होते हैं। सात दिन के अनन्तर उसे **त्रिवृत-क्षीर** देकर शोधन कराए। कोष्ठशुद्धि के पश्चात् × × ×।

इसके आगे शूद्र को **ब्राह्मीघृत** देने का निषेध किया है। इसका तात्पर्य यह है कि त्रुटित अंश में ब्राह्मी घृत का शेष फक्करोगियों के लिए विधान होगा।

× × रास्ना, मधुयष्टी, पुनर्नवा, पर्णीद्वय, एरण्ड, शतपुष्पा, द्राक्षा, पीलु इनका क्षीरपाक दे। इन सब को मिला कर मांसका × ×। × ×। शालिधान्य के साथ संस्कृत यूष तथा क्षीर दे। इस से बालक का प्राण-धारण होता है एवं रोग-मुक्ति होती है। तैल पक्व कर उसका उपयोग कराए। रास्ना, मधुयष्टी × × इन से दो वार संस्कृत कर घृत या तैल या क्षीर एवं यूष तथा रस (मांस रस) का सेवन कराए। इससे बालक सर्वरोगों से मुक्त होता है।

(उक्त योगों में दो वार संस्कार का अर्थ है—पाठोक्त द्रव्यों से तैल की एक बार सिद्धि करे, पश्चात् उसी तैल में उन्हीं द्रव्यों को नवीन ले पुनः तैलपाक करे।)

फक्करोगी बालक कफप्रधान हो तो दूध में (गो) मूत्र मिला कर हितकर आहार का सेवन कराए।

इसके पश्चात् **राजतैल** नामक एक राजार्ह (राजा किंवा संपन्न व्यक्ति ही जिसका उपयोग कर सके ऐसा धन-साध्य कल्प) तैल का पाठ दिया है। यह त्रुटित है। जितना अंश उपलब्ध है वह नीचे दिया जाता है।

एरण्ड, शालिपर्णी, बिल्व ××× इनमें प्रत्येक दस-दस पल ले। यव, कोल और कुलत्थ प्रत्येक एक-एक प्रस् का आवाप करे। चार द्रोण जल में इनका चतुर्थांश शे क्वाथ करे। पश्चात् इसमें तैल और दही प्रत्येक एक-ए प्रस्थ ले उनका पाक कर तैल तय्यार करे। यह तैल वन्ध्य पङ्गु (फक्क आदि) ×××।

इक्ष्वाकु, सुबाहु, सगर, नहुष, दिलीप, भरत और इन राजाओं के पुत्रों को इस राज तैल के सेवन से गर्भ शक्ति, आयु, बल और सुखप्राप्ति हुई। प्रथम, राजाओं के लिए इसका उपदेश किया गया, अतः इसे राज तैल ना दिया गया है। ×××।

आयुर्वेदीय औषध विशेषज्ञ इस खण्डित पाठ की तुल इतर संहिताओं में वातरोगाधिकारोक्त तैलों से कर नि

कर सकते हैं कि यह उन से मेल खाता है या नहीं। इस प्रकार यत्न करने से काश्यप-संहिता के इतने त्रुटित अंश की संपूर्ति की जा सकती है।

इसके अनन्तर आचार्य ने फक्करोगी के लिए **त्रिचक्र फक्करथक का** विधान किया है। इस लेखमाला के आरम्भ में कहा है कि, विशेषतया 'पॉलियो' में रोगी बालक की चलने की हिम्मत ही नष्ट हो जाती है। अतः तत्-तत् उपाय कर इस बात का विश्वास उस के मन में उत्पन्न (रीए-श्योरेन्स, रीहेबिलिटेशन) करना पड़ता है कि उसमें चलने की शक्ति है। एक बार यह विश्वास उत्पन्न होते ही आगे का कार्य बालक की बुद्धि स्वयं सँभाल लेती है। 'त्रिचक्र फक्करथक' इसी प्रक्रिया का सूचक है। जैसा कि नाम से सूचित है, यह बच्चों को नीरोग दशा में भी चलने का अभ्यास कराने के लिए व्यवहार में आनेवाला साधन है, जिसमें लकड़ी की एक चौखट होती है जो ऊर्ध्वमुख होती है। ऊपर की डंडी बालक पकड़ता है और उसे धक्का देता है। नीचे एक सीधी और एक आगे निकली पट्टी में कुल मिलाकर तीन पहिए लगे होते हैं, जो स्वल्प आयास से गाड़ी के आगे चलने में सहायभूत होते हैं। गुजराती में इसे 'चालणगाड़ी' कहते हैं। इस का विधान करते मूल पद्य ये हैं।——

त्रिचक्रं फक्करथकं प्राज्ञः शिल्पिक निर्मितम्।
विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत्॥

पद्य का अर्थ सुगम है। आगे आचार्य कहते हैं—— बस्तियाँ, स्नेहपान, स्वेद, उद्वर्तन बालकों के वातरोगों में विशेषतया इतर दोषों से संसृष्ट वातरोगों में (प्रशस्त हैं)। ×××शय्या, आसन (बैठना)[1] तथा बस्तियों के विविध योग (कर्मबस्ति आदि) रोगों को नष्ट करने में उत्तम है।

अम्लपित्त : काश्यपमें विशिष्टतया निर्दिष्ट

फक्क रोग का प्रकरण काश्यपसंहिता में प्रथम ध्यान में आनेवाला विशिष्ट प्रकरण है। इससे कुछ उतर कर जिस पर दृष्टि जा सकती है ऐसे प्रकरणों में एक अम्लपित्त है। काश्यपसंहिता के अनुसार इसकी विशेषताओं का उल्लेख करने के पूर्व इस विषय में थोड़ा प्रास्ताविक विवेचन कर लेना उपयुक्त प्रतीत होता है।

वृद्धत्रयी में अम्लपित्त का निर्देश?

यह सुविदित है कि, वृद्धत्रयी में अम्लपित्त का पृथक् निर्देश नहीं है। केवल माधवनिदान में इसके पृथक् स्थान दिया है। अम्लपित्त-सदृश सुप्रत्यक्ष रोग को संहिताकारों ने स्थान नहीं दिया, यह विस्मय की बात अवश्य प्रतीत होती है। आचार्यों ने तत्-तत् रोग का शृङ्ग ग्राहिकया[1] जो निर्देश किया है उसके पीछे उनकी क्या दृष्टि रही इसे ध्यान में रखा जाए तो अम्लपित्त के अनुल्लेख किंवा अल्पोल्लेख का कारण समझने में सहायता हो सकती है। इस प्रकरणमें चरक ने जो स्पष्टता की है वह लक्ष्य में लेने योग्य है।

आचार्यों द्वारा वर्णनार्थ स्वीकृति रोग

विमानस्थान के षष्ठ अध्याय के पञ्चम सूत्र में आचार्य कहते हैं——

तत्र व्याधयोऽपरिसंख्येया भवन्ति, अतिबहुत्वात्। दोषास्तु खलु परिसंख्येया भवन्ति, अनति बहुत्वात्। तस्माद्यथाचित्रं विकारानुदाहरणार्थम्। अनवशेषेण च दोषात् व्याख्यास्यामः॥ च० वि० ६।५

इसकी टीकामें चक्रदत्त कहते हैं——**यथा चित्रमिति यथाविन्यासम्। तेन यानेव पूर्वाचार्या अधिकतमत्वेनोक्तवन्तस्तानेब व्याख्यास्यामः, न तु सर्वान् अशक्यत्वात्॥**

तात्पर्य : (अनेक प्रकरणों में की गयी विशदता के अनुसार) रोग असंख्य होते हैं। शृङ्गग्राहिकया उन सब की निदान-चिकित्सा का निरूपण अशक्य है। परन्तु, दोष संख्येय हैं। उनकी गणना तथा संपूर्ण प्रतिपादन किया जाना शक्य है। वस्तुस्थिति यह होने से नीति यह निर्धारित की है कि दोषों का विवरण संपूर्ण दे दिया जाए, परन्तु रोगों के निरूपण के प्रकरण में उदाहरणतया उन्हीं रोगों को लिया जाए जो अति प्रसिद्ध हैं, तथा इसी कारण हमारे पूर्ववर्ती संहिताकार आचार्यों ने भी अपने-अपने तन्त्रों में जिन ही का निरूपण किया है।

अन्यत्र दोष-नानात्मज रोगों के नाम निर्देश के प्रकरण में प्रकारान्तर से चरकाचार्य ने यही बात कही है।——प्रत्येक

---

[1] शय्या तथा आसन अथवा **शय्यासुख** तथा **आस्यासुख** इन शब्दों का प्रयोग प्राचीनों ने उसी अर्थ में किया है जिस अर्थ में पूर्ण विश्रान्ति (कम्प्लीट रेस्ट) इस शब्द का प्रयोग आधुनिक चिकित्सक करते हैं।

[1] पशुओं की गणना प्रत्येक पशुका पृथक्-पृथक् शृङ्ग पकड़ कर की जाय तो इसे 'शृङ्गग्राहिका' कहते हैं। इसी प्रकार किसी विषय (यथा, यहाँ रोग-विचार) के पृथक्-पृथक् अङ्गों का विचार किया जाए तो इसे शृङ्ग-ग्राहिका न्याय कहा जाता है।

दोषज नानात्मज रोगों का निर्देश करने के अनन्तर आचार्य ने कहा है कि यों तो इस दोष से उत्पन्न होनेवाले रोग असंख्य हैं तथापि जो रोग प्राय: देखे जाते हैं उन्ही को इस गणना में हमने स्थान दिया है। यथा प्रथम वातनानात्मज रोगों का उल्लेख कर आचार्य कहते हैं——

इत्यशीतिवातविकारा वातविकाराणामपरिसंख्येयानामाविष्कृततमा व्याख्याताः ।। च० सू० २०।११

इस वचन की टीका में चक्रपाणि कहते हैं——**तत्र येऽभिहितास्ते प्रधानभूताः प्रायोभावित्वेन। अनुक्तास्तु वातविकाराणामसंख्येयत्वेन ग्राह्याः ।।**

अर्थात्-वातविकार यों अगणित हैं, तथापि यहाँ हमने आविष्कृततम–अर्थात् जो प्राय: दृष्टिगोचर होनेवाले होने से प्रधानतया परिगणनीय हैं, उन्ही का नामत: उल्लेख किया है। उनका वात के सामान्य गुण-कर्म एवं उसके प्रकोपवश व्यक्त होनेवाले सामान्य लक्षणों को देख कर निदान कर लेना चाहिए और चिकित्सा का भी निर्धारण इसी शैली से कर लेना चाहिए।

इतनी प्रस्तावना के अनन्तर आचार्य ने अगले पैरेमें उन विक्रियाओं का निर्देश किया है जो वायु का प्रकोप होने पर सामान्यतया देखी जाती हैं। साथ ही कहा है कि, कुशल वैद्य इन विक्रियाओं को देख कर उक्त या अनुक्त वातरोग पीडित व्यक्ति उपस्थित होने पर निः संशय निदान कर लेते हैं कि रोगी वातरोग से पीडित है। किं बहुना, वातनानात्मज रोगों के निरूपण में उल्लिखित जिन शब्दों का व्यवहार तन्त्रकार ने किया है उन्ही का व्यवहार आगे पित्त और कफनानात्मज रोगों के प्रकरण में भी किया है। इसके पश्चात् प्रत्येक दोष के मूल गुण-कर्मों को लक्ष्य में रखते हुए सामान्य रूप से जिस चिकित्सा का अवलम्बन करना चाहिए उसका निर्देश किया गया है।

इन प्रकरणों को देखते हुए यह सिद्धान्त स्थिर किया जा सकता है कि, चरकने अपने तन्त्र में उन्ही रोगों का निरूपण शृङ्गग्राहिकया किया है जो अपने प्रदेश में उन्हें अधिकत: देखने को मिलते होंगे। जिन पूर्वाचार्यों के विषय में आचार्य ने लिखा है कि उन्होंने जिन रोगों का शृङ्गग्राहिकया प्रतिपादन किया है उन्ही का हम भी निरूपण करेंगे, वे आचार्य भी प्राय: उसी प्रदेश के किंवा समीपवर्ती प्रदेशों के होंगे जनमें चरकाचार्य का निवास रहा होगा। उस काल में भी भारत के सम्पूर्ण प्रदेशों में शास्त्र आदिका परस्पर आदान-प्रदान उच्च कक्षा का होने पर भी यह संपूर्ण संभव है कि आचार्य चरक के उपजीव्य (आधारभूत) ग्रन्थ तथा उनके कर्त्ता प्रधानतया चरक जिस प्रदेश में रहे होंगे उस प्रदेश के किंवा उसके नातिदूरवर्ती प्रदेशों के ही रहे होंगे।

चरक संहिता में अम्लपित्त का अल्प निर्देश

चरक में अम्ल पित्त का निरूपण निदान या चिकित्साके प्रकरण में पृथक् अध्याय में क्यों नहीं आया इस बात की मीमांसा के रूप में हमने ऊपर प्रकरणान्तर-जैसी प्रतीत होती चर्चा की है। चरक के व्यक्तित्व के विषय में बहुत विदित नहीं हो सका है, तथापि यह माना जाता है कि जब तक अधिक ज्ञात न हो तब तक चरक को कनिष्क का राजवैद्य ही समझना चाहिए। यह मत स्वीकृत हो तो चरक का स्थान पश्चिमोत्तर पाकिस्तानी पंजाब (तक्षशिला) था यह भी स्वीकार करना होगा। यह प्रदेश जाङ्गल है और जैसा कि आगे देखेंगे अम्लपित्त आनूप देश का रोग है। आनूप देश में ही, विशेषतया इसका आविर्भाव होने से उसका विशेष विवरण चरक ने अपने तन्त्र में नहीं किया। सर्वथा निर्देश नहीं किया यह तो नहीं कहा जा सकता, इस वस्तु का विचार हम आगे करेंगे।

सुश्रुत का देश वर्तमान उत्तरप्रदेश होने से उन्हें भी अम्लपित्त के रोगी अधिक संख्या में देखने को न मिले होंगे। अतः उन्हों ने भी इस रोग का सविस्तार उल्लेख करना आवश्यक न माना। परन्तु——

माधव निदान में अम्लपित्त का उल्लेख क्यों

माधवनिदान के कर्ता की परिस्थिति भिन्न थी। वे बङ्गाल-जैसे आनूप देश के निवासी थे। अपने देश में उन्हों ने अम्लपित्त का प्रत्यक्ष प्राय: किया होगा। जिन उपजीव्य ग्रन्थों से दोहन कर उन्होंने अपने ग्रन्थ का निर्माण किया उन ग्रन्थों के कर्त्ता भी प्राय:बङ्गदेशीय या तत्समीपवर्ती ही रहे होंगे। इन उपजीव्य ग्रन्थों में भी माधवकार को अम्लपित्त का पृथक्त्वेन निरूपण प्राप्त हुआ होगा। इसी कारण माधव निदान में हमें अम्लपित्त का निर्देश पृथक् प्राप्त होता है।

काश्यपसंहिता में भी अम्लपित्त के निदान-चिकित्सा का निरूपक पथक अध्याय है। संभव है, आचार्य नेपाल की तराई में ही कहीं के निवासी हों और उन्हें इस प्रदेश के आनूप

होने के कारण अम्लपित्त के विशेष अनुशीलन की सुविधा प्राप्त हुई हो। इतने प्रास्ताविक विचार के पश्चात् अब हम विषय के अन्य पहलुओं का विचार करते हैं।

चरकसंहिता में अम्लपित्त का उल्लेख

ऊपर कहा है कि, चरक ने अल्प शब्दों में ही अम्लपित्त का निर्देश किया है। यह निर्देश **ग्रहणी-चिकित्सित अध्याय** (च० चि० १५) में हुआ है। हेतु, संप्राप्ति तथा सामान्य लक्षणों का निर्देश कर आचार्य कहते हैं कि, अपक्व (आम) रह कर शुक्तपाक को तथा उसके पश्चात् विषरूप को प्राप्त हुआ अन्न स्वतन्त्र लक्षणों को तो उत्पन्न करता ही है, तत्-तत् दोष के संम्पर्क में आ कर वह अन्य नानाविध विकारों को भी उत्पन्न करता है। इस प्रकरण में पित्त के संसर्ग से होने वाले रोगों की गणना करते आचार्य कहते हैं—

संसृज्यमानपित्तेन दाहं तृष्णां मुखामयान्।
जनयत्यम्लपित्तं च पित्तजांश्चपरान् गदान्॥
च० चि० १५।४७

इसमें अम्लपित्त का निर्देश हुआ है। यहाँ आया अम्लपित्त शब्द अम्लपित्त नाम से वैद्य-समाज में प्रसिद्ध स्वतन्त्र रोग का वाचक है या पैत्तिक ग्रहणी के लक्षणभूत विकारका वाचक है या दोनोंका वाचक है,यह विचारणीय विषय है। आगे ग्रहणी के सामान्य लक्षणों में तथा पैत्तिक ग्रहणी के विशिष्ट लक्षणों में वे सर्व लक्षण समाविष्ट हो गए हैं जिनकी गणना अम्लपित्त के लक्षणों में की जाती है। उदाहरणतया,

ग्रहणी के सामान्य लक्षणों में विदग्ध (अम्लीभूत) अन्न की ऊर्ध्व तथा अधो दिशा में गति निम्न शब्दों में निर्दशित की है—**दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।** इसी प्रकरण में आगे तिक्ताम्लोद्गार, छर्दिआदि का भी उल्लेख है। सामान्य पूर्वरूपों में गौरव, अविपाक, बलक्षय, आलस्य आदि लक्षणों का निर्देश है। आगे पैत्तिक ग्रहणी के लक्षणों में नील-पीत द्रव मल की अतिप्रवृत्ति, अम्लोद्गार, हृत्कण्ठदाह आदि लक्षण निर्दिष्ट हुए हैं।

इस प्रकरण में भेदक परीक्षा की दृष्टि से उपयुक्त यह लक्षण ध्यान देने योग्य है कि विदग्ध अन्न की ऊर्ध्व या अधोमार्ग से गति का निर्देश उक्त वचन में करके आगे आचार्य कहते हैं कि—इन दोनों गतियों में अधोमार्ग से जो गति होती है उसे ग्रहणी रोग कहा जाता है।—**अधस्तु पक्वमांसं वा विदग्धं ग्रहणीगदः।** छर्दि का एक लक्षण के रूप में सभी आचार्यों ने ग्रहणी रोग में उल्लेख किया है।

ऊपर कहा है कि—शुक्तपाक को प्राप्त विषरूप में परिणत अन्न का पित्त से संसर्ग होता है तो जो लक्षण या रोग उत्पन्न होते हैं उनमें अम्लपित्त भी एक है। इस प्रकरण में चक्रपाणि ने अम्लपित्त की सुन्दर व्युत्पत्ति दी है—**अम्लगुणोद्रिक्तं पित्तम्।** अर्थात् पित्त का इस रोग में प्रकोप होता है, परन्तु यह पित्त ऐसा होता है जिसमें उसके (पित्तके) अन्य गुणों की अपेक्षया अम्लगुण की ही वृद्धि (उद्रेक) अधिक रहती है। आगे चक्रपाणि दत्त कहते हैं।—

अस्य तन्त्रान्तरे लक्षणमुक्तम्

अविपाकक्लमोत्क्लेद तिक्ताम्लोद्गार गौरवैः।
हृत्कण्ठदाहारुचिभिश्चाम्लपित्तं विनिर्दिशेत्॥

चक्रपाणि-उद्धृत यह पद्य, जिसमें अम्लपित्त के गौरव, क्लम आदि सार्वदेहिक लक्षण तथा हृत्कण्ठदाहादि प्रादेशिक लक्षण निरूपित हैं, माधव में आया है। स्वयं माधव ने अपना ग्रन्थ अन्य तन्त्रों से दोहन करके ही बनाया है। उपलब्ध अन्य किसी प्राचीन संहिता में यह पद्य दृश्यमान न होने से कहा नहीं जा सकता किस ग्रन्थसे माधव और चक्रपाणि ने यह पद्य उद्धृत् किया है। चक्रपाणि भी बङ्गदेशीय होने से उन्हें वह ग्रन्थ सुलभ रहा होगा जिससे माधव ने यह पद्य संगृहीत किया है।

इस प्रकार हमने देखा कि चरक ने अम्लपित्त इस संज्ञाका निर्देश समग्र ग्रन्थ में केवल एक बार किया है। परन्तु मुझे लगता है नामान्तर से भी इस रोग का निर्देश आचार्य ने प्रकारणान्तर में किया है। संक्षेप में उसका भी विचार कर लें।

रक्तज रोगों में अम्लपित्त का निर्देश

प्रसिद्धि है कि, दोषों के प्रकरण में शल्यविदों ने रक्त की भी दोषरूप से गणना की है। इस विषय में अधिक सत्य यह है कि रक्त को एक स्थान पर दोषों के साथ स्थान देते हुए भी शल्यविदों ने दोष तो नहीं ही कहा है। दूसरी ओर, **कायचिकित्सकों ने भी रक्त को अल्प महत्त्व नहीं दिया है।** वात, पित्त, कफ के प्रकोप के कारण, तज्जन्य नानात्मज रोगों तथा उनके सामान्य उपचारों का निर्देश चरक ने किया है तो रक्त की दुष्टि के भी कारण, तज्जन्य रोग तथा उनके सामान्य उपचार एवं तत्संबद्ध अन्य कई प्रकार की

जानकारियों के लिए एक पूरा अध्याय ही (विधिशोणितीय अध्याय) चरक ने बनाया है। काय चिकित्सकों द्वारा रक्त के प्रति प्रदर्शित इस पक्षपात तथा दोषों के साथ रक्त के साधर्म्य के प्रति चाहिए उतना ध्यान अध्ययनाध्यापनक्रम में दिया नहीं जा रहा है।

उक्त विधिशोणितीय अध्याय (च० सू० २४) में चरक ने जिन रोगों का परिगणन किया है वे अन्यत्र वर्णित इन्ही नामों वाले रोगों से भिन्न हैं ऐसा भ्रमवश न मान लेना चाहिए। इस गणना का अभिप्राय यही है कि, ये रोग हैं जिनमें कभी-कभी दोषों को दृष्टि में रखकर की गयी चिकित्सा फलवती होती नहीं। अन्त में उनमें धातु-विशेष नाम रक्त को दृष्टि में रखकर उसके विस्रावण के रूप में विशिष्ट चिकित्सा करनी पड़ती है। इसी कारण इन्हें रक्तज रोग कहा भी गया है। अर्थात् इनमें दूष्य विशेषतया रक्त हुआ करता है। वस्तुतः——

विधिशोणितीय अध्याय में रक्तज रोगों की गणना कर जो यह सामान्य सिद्धान्त स्थापित किया गया है कि स्निग्ध-रूक्षादि दोषपरक उपायों से चिकित्सा करने पर भी रोग शान्त न हो तो उसे रक्तज समझना चाहिए, ठीक यह सिद्धान्त इन रोगों की पृथक् चिकित्सा के प्रकरणों में, यथा ज्वर, गुल्म आदिके प्रकरणों में आचार्य ने पुनः स्थापित किया है। एवं इन रोगों में से प्रायः प्रत्येक रोग के उपचार में रक्तावसेचन का भार देकर विधान आचार्य ने किया है।

अम्लपित्त में रक्तावसेचन का विधान

किं बहुना, विधिशोणितीय अध्याय में रक्तज नाम से जिन रोगों की गणना की गयी है वे अन्यत्र स्वनाम से निर्दिष्ट रोगों से भिन्न नहीं हैं। इन रोगों में अम्लपित्त का नामतः निर्देश प्राप्त नहीं होता, तथापि कुछ लक्षण निर्दिष्ट हैं जो अम्लपित्त के ही लक्षण कहे जा सकते हैं। इन के प्रति संकेत करने के पूर्व इस बात का प्रतिपादन आवश्यक प्रतीत होता है कि, अम्लपित्त में भी रक्त दूष्य होता है तथा उसमें भी अन्य उपचारों से गुण न होने पर रक्तावसेचन कराना आवश्यक हुआ करता है। **योगरत्नाकर** के कर्त्ता ने निम्न पद्य में कहा है कि यदि रोगी को वमन-विरेचन इस प्रधान चिकित्सा से भी[1] रोगशान्ति न हो तो रक्तमोक्षण कराना चाहिए।——

कृतवमनविरेकस्यापि रोगोपशान्ति-
र्न भवति यदि युक्त्या रक्तमोक्षश्च कार्यः ।।

इस विधान को दृष्टि में रखें तो विश्वास किया जा सकता है कि, अम्लपित्त भी शोणितज (रक्तज) रोग है। नामतः चरक प्रतिपादित रक्तज रोगों में इस का परिगणन नहीं है, तथापि——**विदाहश्चान्नपानस्य तिक्ताम्लोद्गिरणं क्लमः——** ये लक्षण अम्लपित्त को छोड़ कर अन्य किसी रोग के सूचक नहीं। विदाह शब्द से उस का परिणामभूत कुक्षिहृत्कण्ठदाह स्वयं गृहीत है। अरुचि इन रक्तज रोगों में गृहीत है। यह भी अम्लपित्त का एक लक्षण है। अम्लपित्त के लक्षणों में निर्दिष्ट अजीर्ण चरकोक्त रक्तज रोगों की गणना में अग्निसाद नाम से निर्दिष्ट है। अम्लपित्त का अङ्गभूत गौरव रक्तज-रोगोक्त गुरुगात्रता है।

इस विवरण से फलित है कि चरक ने अपने प्रदेश में अल्पदृश्यमानहोने से, एवं अपने उपजीव्य ग्रन्थों के रचयिताओं द्वारा भी इसी कारण अनिर्दिष्टप्राय होने से अम्लपित्त को उस प्रकार पृथक् स्थान नहीं दिया जैसा माधव, भावमिश्र आदि ने अथवा संप्रत्येव उपलब्ध काश्यप ने दिया है। तथापि ग्रहणी तथा रक्तज रोगों के प्रकरण में उसने इसे स्मरण अवश्य किया है। रक्तज रोगों में गणना करके तो चरक ने इसमें रक्तावसेचन की सूचना भी दे दी, जिसका विधान योगरत्नाकर को छोड़ अन्यत्र कहीं दृग्गोचर नहीं होता।

माधवोक्त तथा काश्यपोक्त संप्राप्ति में भिन्नता

इस प्रकार पूर्वविदित संहिताकारों द्वारा स्वल्प आदृत अम्लपित्त के लिए एक पृथक् ही अध्याय सुरक्षित रखती काश्यप-संहिता की यह एक विशिष्टता है परन्तु, माधवादि ने अम्लपित्त की जो संप्राप्ति दी है उससे कुछ अधिक महत्त्व की और प्रत्यक्षदृष्ट बात काश्यप ने कही है। अगले पृष्ठों में किया गया इस विषय का विवेचन सुगम हो इस प्रयोजन से संक्षेप में प्रस्तावना रूप में इतना कह देना उपयक्त होगा कि, **माधवनिदानोक्त संप्राप्ति में पित्तके चय और प्रकोप की ऋतु (काल) को प्राधान्य दिया गया है, जब कि काश्यप में पित्त की वृद्धि की दृष्टि से ऋतु के साथ संपूर्ण सादृश्य रखनेवाले आनूप देश को विशेषतया लक्ष्यमें** रखा गया है अम्लपित्त की उत्पत्ति में देश का यह प्राधान्य सर्व वैद्यों को सुविदितचर होने पर भी इसका उल्लेख काश्यपसंहिता के अतिरिक्त अन्य किसी संहिता में पाया नहीं जाता।

---

[1] **ऊर्ध्वगं वमनैर्विद्वान् अधोगं रेचनैर्हरेत् ।।** —— भावप्रकाश

अम्लपित्त में देश का विचार

अम्लपित्त चिकित्साध्याय के अन्त में आचार्य काश्यप देश का इस रोग के साथ संबन्ध दर्शाते कहते हैं––

आनूपदेशे प्रायेण संभवत्येष देहिनाम् ।

अर्थात्––यह रोग प्रायः आनूपदेश में पुरुषों को पीडित किया करता है । अतः,

तस्माज्जाङ्गलजैरेनमौषधैः समुपक्रमेत् ।

इसमें जाङ्गलदेशज आहारौषध द्रव्यों का ही सेवन रोगी को कराना चाहिए ।

इसके आगे अत्यन्त महत्त्व की बात आचार्य लिखते हैं कि यदि स्वदेश में रहते हुए सर्व उपचार करने पर भी रोग नहीं ही शान्त हो तो फिर देशत्याग ही एकमात्र उपचार है–– **अप्रशाम्यति चैतस्मिन्नपि देशान्तरं व्रजेत् ।** देशान्तर का अर्थ है सूखी आबोहवा वाला स्थान । पूर्ण संभव है कि, रोगी अपने देश तथा स्वजन-परिजन की माया-ममता का परित्याग करने को तय्यार न हो । इस विषय में भी बोध देना आचार्य अपने कर्तव्य का अङ्ग मानते हुए कहते हैं––

स एव देशो यत्र स्यादारोग्यं, ते च बान्धवाः ।
गच्छन्ति, ये न गच्छन्ति ये चास्य हितकारिणः ।।

अर्थात् उसी को देश (स्वदेश) समझना चाहिए जहाँ आरोग्य स्थिर रहे । वे ही अपने स्वजन हैं जो अपने साथ रहें, छोड़ कर न चले जाएँ और अपने हित में ही संलग्न रहें । अगले पद्य में कहा है कि, सामान्यतया नित्य रोगी व्यक्ति से ऊब कर स्वजन भी विजन हो जाते हैं ।

माधव तथा काश्यप के मत का समन्वय

अगले लेख में हम अम्लपित्त की माधवोक्त तथा काश्यपोक्त संम्प्राप्ति पृथक्-पृथक् देखेंगे । दोनों के मतों में कुछ विरोधाभास न प्रतीत हो इस निमित्त यहाँ इतना कह देना उचित है कि, **अम्ल पित्त का कारण विदाह** (अन्न-पान का अम्लीभाव) है । विदाह का यह स्वभाव वायु तथा भूमि में रहे क्लेद (भीनापन) के धान्यों में प्रवेश के कारण उत्पन्न होता है । **वर्षा में** यह स्वभाव ऋतु की विशिष्टतावश आता है, जब कि **आनूप देश में** भूमि में बारहों मास स्थित क्लेद का धान्यों में प्रवेश होने से उत्पन्न होता है । दोषों का संचयपूर्वक प्रकोप न केवल ऋतुओं से होता है किन्तु आहारादि भी उसमें हेतु हैं, यह आयुर्वेद का सिद्धान्त है, जिसका उल्लेख आगामी विवरण में किया जाएगा । इस वस्तु-स्थिति को दृष्टि में रखते हुए माधव तथा काश्यप की संप्राप्ति को समझना सुगम होगा । तथा यह भी लक्षित होगा कि दोनों आचार्यों की संप्राप्ति में कोई भिन्नता नहीं है, किंतु दोनों ने **अन्धजन्याय से संप्राप्ति के एक-एक पहलू का ही प्रधानतया निरूपण** किया है ।

वैद्यनाथ बंग भस्म

असंयम से पैदा होनेवाले रोगों तथा दुर्बलता को दूर कर शरीर को ताकत देती है । विशेष जानकारी के लिए वैद्य से सलाह लें ।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

सचित्र आयुर्वेद के लिए विशेष

कूपीपक्व विज्ञाने अग्निमात्रा विनिर्णयः

आचार्य वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी

प्रयोगक्रमांक २६-२७-चन्द्रोदय-सुवर्णमकरध्वज

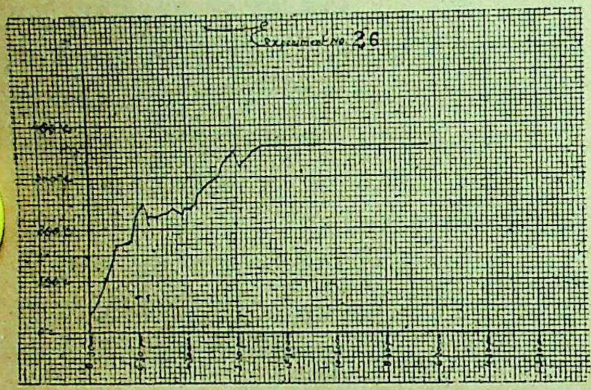

मूलपाठः—

पलं मृदु स्वर्णदलं रसेन्द्रात् पलाष्टकं षोडशगन्धकस्य ।
न्यग्रोधशुंगप्रभवैः रसैस्तु दिनं विमर्द्याथ कुमारिकाद्भिः ।।
सत्काचकुम्भे निहितं सुगाढ़ेमृत्कर्पटै स्तद्दिवसत्रयं च ।
पचेत्क्रमाग्नौ सिकताख्ययन्त्रे भवेद्रसौ वैं मकरध्वजाख्यः ।
रसरत्नाकर, रसयोगसार आदि ।

भाषान्तर—सर्वप्रथम एक पल मृदु सुवर्ण पत्रों को ८ पल पारद के साथ मर्दन कर मिलाना चाहिए। तदनन्तर १६ पल विशुद्ध गन्धक डालकर यथाविधि न्यग्रोधशुंगक्वाथ एवं कुमारी रस की भावना देकर मर्दन द्वारा कज्जली निर्माण करना चाहिए। फिर इसे काचकूपी में भरकर कपडमिट्टी कर क्रमाग्नि द्वारा तीन दिन तक पाक करना चाहिए। इस विधि से मकरध्वज तैया होता है। इसी को चन्द्रोदय कहा जाता है।

प्रारम्भतिथि :—७।७।५८ **समाप्ततिथि—**१२।८।५८

उपकरण—(क) औषधद्रव्य :—

अष्टसंस्कारित पारद	२० तो०
विशुद्ध गन्धक	४० तो०
स्वर्णपत्रचूर्ण	२।। तो०
भावनार्थः—वटजटास्वरस	आधा रतल
तीन भावनार्थ	१।। रतल

(ख) साधनद्रव्य :—खल्वादिक, मकरध्वज भ्राष्ट्री, पाषाणकोकिल, ४ मन, ३२ तरल, लौह शलाका, बालुका-यन्त्रम् आदि ।

पाककालः—६६ घण्टा ।

मुद्रणकालिः—३० घटों के पश्चात् ।

द्रव्यमान :—अपक्वौषधिमान :—कज्जलि ६३।।।तोला सिद्धौषधिमान—(क) प्रथमकूपिका—कण्ठस्थ १० तोला ४ माशा तलस्थ ३ तोला

(ख) द्वितीयकूपिका—कण्ठस्थ १२ तोला तलस्थ ३ तोला ।

अवलोकन :—

(अ) दिनांक ६।७।५८ को कज्जलिनिर्माण प्रारम्भ किया गया।

(ब) दिनांक ८।८।५८ को मध्याह्न में कज्जलि को कूपिका में भरा गया।

(स) दिनांक ६।८।५८ को प्रातः ८-४५ बजे कूपिका को भ्राष्ट्री पर चढाया गया तथा दोनों कूपियों में से एक नम्बर की कूपी से ११-३० पर तथा दो नम्बर की कूपी से १०-५० पर पीतवण के धूम का उद्गम होना प्रारम्भ हुआ।

(द) सायं ७-१५ के लगभग नीलवर्ण की ज्वाला निकलनी प्रारम्भ हुई (कूपीसंख्या १ में)। द्वितीय कूपी में सायंकाल ५-४५ बजे ज्वालादर्शन हुआ।

(इ) दोनों कूपियों पर दिनांक १०-८-५८ को दोपहर के १२।३० तथा १।३० पर क्रमशः डाट लगा दिये गये।

(ई) दिनांक १२।८।५८ को प्रातः १२ बजे स्वांगशीत होने पर कूपीभंग कर चन्द्रोदय द्वय को पृथक् तथा तलस्थ-यौगिकद्वय को पृथक् संगृहीत कर लिया गया।

विमर्श :—प्रस्तुत प्रयोगों में नियतानुपातनियम के अनुसार २३ तोला ४ माशा कंठस्थ यौगिक की उपलब्धि होनी चाहिए थी किन्तु यौगिक २२ तोला ४ माशा उपलब्ध हुआ है। तलस्थ सुवर्णचूर्ण केवल २।। तोला मिलना

चाहिए था किन्तु उपलब्ध तलस्थयौगिकमान ६ तोला है। तलस्थ यौगिक को देखने से प्रतीति हुई तथा च पिछले प्रयोगक्रमांक के हमारे कथन का समर्थन हुआ कि (१) अष्टसंस्कारित पारद से चन्द्रोदय अथवा सिन्दूरकल्प बनाने में विशुद्ध पारद की अपेक्षा अधिक समय तक अग्नि देनी आवश्यक होती है। (२) अष्टसंस्कारित पारद से चन्द्रोदय बनाने पर स्वर्ण के साथ कुछ पारद पक्षखण्डता एवं निगृहीत मूर्च्छितावस्था में संयुक्त होता हुआ तलस्थ यौगिक के रूप में उपलब्ध होता है।

विशेष वक्तव्य--उपर्युक्त कथन का पुनः समर्थन करने के लिए हमने तलस्थ स्वर्णमय यौगिक को दो भागों में विभक्त करके दिनांक १९।८।५८ को प्रथम ३ तोला यौगिक मल्ल तथा तुलसीरसयुक्त कर पुटें देनी प्रारम्भ की। १३ पुटों के उपरान्त भस्ममान ३ तोला ४६ रत्ती हुआ। द्वितीय यौगिक को केवल तुलसीरस से भावित कर दि० १।१०।५८ को पुटें देनी प्रारम्भ कीं। ८ पुटों के उपरान्त भस्ममान २ तोला ५४ रत्ती हुआ। समस्त भस्ममान ६ तोला ४ रत्ती हुआ। अर्थात् इसमें बहुत ही कम भारक्षय की सम्भावना रही। और सुवर्ण में मूर्च्छितावस्था में मिश्रित पारद जा न सका। अतः निष्कर्ष निकला कि तलस्थ यौगिक में कुछ न कुछ अंश में पारद मिलकर रह जाता है।

प्रयोगक्रमांक २६---समयतापमानदर्शकतालिका

दिनांक ९।८।५८ को प्रातः ८-४५ पर प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
८.४५ प्रातः	Room Temp.	८.०० प्रातः	२८०°c
११.४५	१०१°c	९.००	२९०°c
२.१० सायं	१७०°c	११.००	३००°c
५.१५	१७५°c	१२.००	३३०°c
६.००	२२५°c	१२.३०	३५०°c
७.३०	२५०°c	१.५०	३५०°c
८.३०	२२५°c	२.३०	३३०°c
९.३०	२२५°c	३.१५	३२०°c
१०.३०	२२५°c	४.००	३३०°c
११.३०	२३०°c	५.००	३४०°c
१२.३० प्रातः	२३०°c	६.००	३५०°c
१.३०	२४०°c	७.०० से ७.०० प्रातः	३६०°c
३.३०	२३०°c		
४.००	२४०°c	७.०० प्रातः ७.०० सायं	३६०°c
५.००	२४०°c		
६.००	२४५°c	७.०० सायं ५.०० प्रातः	३६०°c
७.००	२७०°c		

प्रयोगक्रमांक २७---समयतापमान दर्शकतालिका

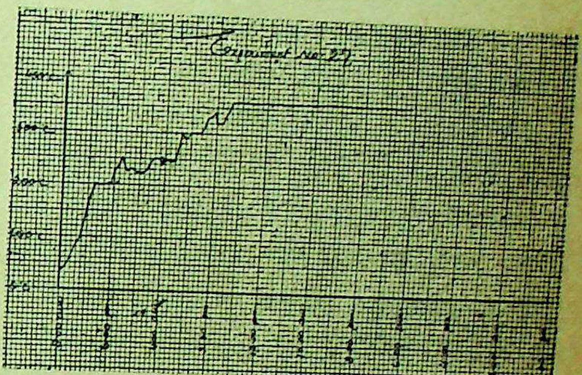

दिनांक ९।८।५८ को प्रातः ८-४५ बजे प्रारम्भ

समय	तापमान	समय	तापमान
८.४५ प्रातः	Room Temp.	८.०० प्रातः	२९०°c
११.५०	१०१°c	९.००	३००°c
११.५०	१०१°c	९.००	३००°c
१२.५० सायं	१५०°c	११.००	३००°c
२.१०	२००°c	१२०००	३३०°c
५.१०	२००°c	१.०० सायं	३३५°c
६.००	२२५°c	१.३०	३४०°c
७.३०	२५०°c	२.००	३२०°c
८.३०	२२५°c	३.००	३२०°c
९.३०	२३०°c	४.००	३४०°c
१०.३०	२२५°c	५.००	३६०°c
११.३०	२२५°c	६.००	३६०°c
१२.३० प्रातः	२३०°c		
१.३०	२५०°c	७.००सायं से ७.०० प्रातः	३६०°c
१.३०	२५०°c		
३.१०	२४०°c		
४.००	२५०°c	७.०० प्रातः ७.०० सायं	३६०°c
५.००	२४५°c		
६.००	२४५°c		
६.००	२४५°c	७.००सायंसे ५.० प्रातः	३६०°c
७.००	३००°c		

पिछले पृष्ठों में हमने अपने स्वयं द्वारा प्रत्यक्षीकृत २७ प्रयोगों का संग्रह दिया है। इस संग्रह का मननपूर्वक अवलोकन करने के उपरान्त वाचक स्पष्टतया एवं सरलतया शास्त्रोक्त क्रमाग्नि का तात्पर्य निकाल सकता है। क्रमाग्नि शब्द से मृदु मध्य और तीव्र अग्नि अभिप्रेत हैं। पिछले पृष्ठों में दिये गये रिकार्ड के आधार पर स्थूलता इस त्रिविभामय क्रमाग्नि का अंकन इस प्रकार किया जा सकता है :—

मन्द अथवा मृदु	१२५.° शतांश तक
मध्यम	१२५.° शतांश से २५०.° शतांश तक
तीव्राग्नि	२५०.° शतांश से ३५०.° शतांश तक

एक प्रयोगक्रमांक दिनांक १३।११।५८ में हमने तलभागीय तापमान का अंकन पायरोमीटर-विथ-थर्मोकपल की सहायता से किया था। इस प्रयोग के आधार पर स्थूलतया यह कहा जा सकता है कि तलस्थभाग का तापक्रम ऊर्ध्वतलस्थ (surface) तापक्रम से प्रायः त्रिगुण होता है। प्रत्यक्षीकरण के पश्चात् यह हमारा अनुभव है जिसे हम वैद्यकीय जगत की सेवा में प्रस्तुत कर रहे हैं।

निबन्ध को समाप्त करने के पूर्व हम एकाध विषय पर और प्रकाश डाल देना उचित समझते हैं। प्रथम हम कूपीपक्व बनाने में आवश्यक सूचनाओं पर विचार करेंगे।

कूपीपक्व बनाने में कुछ आवश्यक सूचनाएँ :—

(१) कज्जलीनिर्माण—यदि कज्जली केवल पारद और गन्धक के संयोग से ही बनानी हो तो तो दोनों को विशुद्ध अवस्था में ग्रहण कर एकत्र मर्दन करना चाहिए। यदि कज्जली के अतिरिक्त सुवर्ण ताम्र आदि अन्य द्रव्यों को भी डालना हो तो प्रथम पारद के साथ सुवर्णपत्र अथवा ताम्रपत्र मिला एक खरल में सम्यकतया मर्दन करना चाहिए। जब मिश्रण अच्छी प्रकार से हो जाए तब उसमें निर्दिष्ट मात्रा में गन्धक मिला कर पुनः मर्दन करना चाहिए। जब अंजन के सदृश अति सूक्ष्म चूर्ण बन जाय तो समझना चाहिए कि कज्जली तैयार हो गई है।

(२) कज्जली निर्माण के उपरान्त कूपी की समस्या सामने आती है। कूपी शब्द से आतशी शीशी, फलास्क, अथवा स्पिरिट विक्रयार्थ जो बोतलें बाजार में देखी जाती हैं उनमें से किसी का भी उपयोग किया जा सकता है। शीशी को लेकर प्रथमतः अन्दर से साफ कर लेना चाहिए। तत्पश्चात् कूपिका पर सात कपड़मिट्टी करनी चाहिए। किन्तु यहाँ यह ध्यान रखना चाहिए कि जब तक एक बार की की हुई कपड़मिट्टी सूख न जाय तब तक दूसरी बार कपड़मिट्टी न करनी चाहिए। सातों बार कपड़मिट्टी कर शीशी को अच्छी प्रकार शुष्क कर लेना चाहिए।

(३) कपड़मिट्टी सूखने के पश्चात् जिस योग का कूपीपक्व बनाना हो उसकी कज्जली को शीशी में शीशी के एक तृतीयांश तक भर देना चाहिए। तथा च शीशी का दो तृतीयांश भाग खाली रखना चाहिए ताकि उफान आने की सम्भावना न रहे तथा च पाक भी सरलता से हो सके।

(४) शीशी में कज्जली भरकर शीशी को बालुकायन्त्र में रखना चाहिए। बालुकायन्त्र मिट्टी का अथवा लौह का लिया जा सकता है किन्तु लौह का पात्र अधिक सुरक्षात्मक होता है। पात्र के तल में एक पाव से आधा इंच तक बालुका रखकर अथवा अभ्रक का पात्र रखकर ऊपर शीशी रखनी चाहिए। फिर शीशी के चारों ओर सर्वतः बालुका कण्ठतक पूर देनी चाहिए। पात्र के दोनों ओर लोहे के कंडे होने चाहिए जिससे कि अकस्मात् के समय पात्र के नीचे उतारने में सुविधा रहे।

(५) अन्योपकरणों में एक शलाका, छुरी, खल्व, एक ताम्र की पट्टी या ताम्रपत्र का एक खण्ड एवं ३६०° शतांश तक का तापक्रम मापनेवाला तापक्रममापक यन्त्र कार्य आरम्भ करें उस समय पास में होने चाहिए।

(६) अग्निमात्रा मन्द, मध्य एवं तीव्र इस क्रम से देनी चाहिए। इसका अभिप्रेतार्थ यह है कि पहले ६-८ घंटों में १२५° शतांश तक की अग्नि, दूसरे ८ घटों में १२५ शतांश से २५०° शतांश तक की अग्नि और तीसरे ४ घंटों में २५०° शतांश से ३६०° शतांश तक की तीव्र अग्नि दी जाती है। यह सब हमारे पूर्वोक्त प्रयोगों से स्पष्ट परिलक्षित होगा।

(७) अग्निप्रदान के ३-४ घंटों के बाद शीशी के मुंह में से धूम निकलना प्रारम्भ हो जाता है। तथा च जैसे अग्निक्रम बढ़ता है पीतवर्ण का धूँआ निकलना चालू रहता है। उस समय तप्तशलाका को शीशी के गले में बार-बार फिराना चाहिये ताकि शीशी के गले में लिप्त एवं संचित अनावश्यक गन्धक को दूर किया जा सके। अन्यथा शीशी का कण्ठावरोध हो जायगा तथा च शीशी–भंग का भय रहेगा। मध्यमाग्नि के बाद एवं ३५०° शतांश तक की अग्नि कुछ समय तपाने के पश्चात् एक नील वर्ण की ज्वाला शीशी के

मुख पर दिखाई देती है जिससे प्रतीत होता है कि गन्धक का (Ignition point) जो ३६३ शतांश के करीब है वहाँ तक की उष्णता शीशी के मुख तक आ गई है। जब शिखा निकलनी बन्द हो जाये तो मुखमुद्रण का समय हो गया है ऐसा जानना चाहिए। इसके साथ-साथ ही शीशी के तल में रक्तिमा भी दृष्टिगोचर होनी चाहिए। इसकी विशेष प्रतीति करने के लिये एक ठण्डी शलाका कूपी में प्रविष्ट कर तलगत द्रव में डुबा कर बाहर निकालकर द्रव को शुष्क कर सावधानी से खरल में खरोंच कर ले लेना चाहिए। तत्पश्चात् मुशली से पीस कर देखना चाहिये। पीसने से वह यौगिक खरल में ललाई प्रदर्शित करेगा। इससे यह समझना चाहिये कि यौगिक तैयार हो गया है। इसके अतिरिक्त एक ताम्रपात्र का खण्ड शीशी के मुख पर रख कर भी देखना चाहिये। यदि ताम्रपात्र में पारद के कण लग जायें एवं धूम श्वेत निकल रहा हो तो फौरन डाट बन्द कर देना चाहिये।

(८) डाट खडिया मिट्टी का, इष्टिका का एवं चाक का शीशी के मुख पर पूरा फिट हो जाय ऐसा लिया जा सकता है। यदि डाट असमान हो तो उसे घिस कर समान किया जा सकता है। डाट लगाकर इसकी मुद्रा देने के लिए मुलतानी मिट्टी में भिगोये हुए कपड़े की लीरें डाट के परितः संवेष्टित करनी चाहिए। इस प्रकार का ३-४ संवेष्टन कर पुनः मिट्टी का हाथ लगाकर पालिश कर देनी चाहिए। कई लोग गुड़ और चूने के द्रव को भी मुद्रा के लिये प्रयुक्त करते हैं। गुड़ और चूने के द्रव में पूर्वोक्त प्रकार से कपड़े की लीरें भिगो कर डाट के ऊपर संवेष्टन किये जाते हैं। यह भी प्रक्रिया निरापद है। डाट लगाने के उपरान्त कम से कम आधा घंटा अग्नि मन्द कर देनी चाहिए। तथा च गल भाग में थोड़ी बालुका का अपसारण कर देना चाहिए जिससे हमारे यौगिक को ऊर्ध्वसंलग्न होने में सुगमता रहे। इसके आधे घण्टे के पश्चात् ८-१० घण्टे तक तीव्राग्नि देनी चाहिये। इससे माल अच्छा उतरता है। तथा च शीशी के तल भाग मे कोई यौगिक नहीं रह पाता। यह हमारा कई बार का अनुभव है। उसके पश्चात् अग्नि-प्रदान करने का कार्य बन्द कर देना चाहिए। और जब यन्त्र स्वांगशीत हो जाए तब शीशी को यन्त्र में से निकाल कर चाकू से कपड़मिट्टी हटा आर्द्र वस्त्र से बोतल को स्वच्छ कर लेना चाहिए। उस समय प्रत्येक उत्सुक "क्रियावान् वैद्य और विद्यार्थी शीशी के ऊर्ध्वभाग की ओर देखेगा और वहाँ ऊर्ध्वसंलग्न यौगिक का एक अच्छा खण्ड लगा हुआ है ऐसा प्रतीत होगा। इसके पश्चात् मिट्टी के तैल में संक्लिन्न धागा या सुतली शीशी के उदर पर लपेट कर दियासलाई से जलाना चाहिए। जब सुतली जल जाये तो तब उसे चाकू से पृथक् कर उस पर शीघ्र ही आर्द्र वस्त्र लपेट देना चाहिए। इस क्रिया से शीशी दो खण्डों में विभक्त हो जायेगी और फिर शीशी के कण्ठस्थ भाग का कांच तोड़ कर संलग्न यौगिक को सावधानी से निकाल लेना चहिए।

(९) यदि प्रयोग के बीच में विशेष अग्नि लगने से कहीं उफान आने लगे तो पात्र को थोड़ी देर के लिये नीचे उतार कर रख देना चाहिए। तथा च गन्धक से मुख बन्द हो जाने की आशंका हो तो तप्तशलाका बार-बार डालकर मुख का साफ कर देना चाहिए।

अन्त में इन सब कूपीपक्वों में वर्णविषयक रासायनिक विज्ञान पर कुछ कहना और विद्वज्जनों के समक्ष इसका निवेदन कर देना मैं उचित समझता हूँ।

वर्णविषयक रासायनिक विज्ञान :—

चरक के अनुयायियों में रासायनिक समासों की वर्ण-सम्बन्धि अद्भुत विचारधारा किस प्रकार से प्रचलित रही थी, इसके एक उदाहरण के रूप में कविराज गंगाधर कविरत्न चरक की जल्पकल्पतरु नामक, कलकत्ता से सन् १८७६ ई० में प्रकाशित, टीका का एक अंश उद्धृत करता हूँ। साथ ही मैं यह भी निवेदन करता हूँ कि कविराजजी की विचारधारा चरक के विशुद्ध एवं यथार्थ सिद्धान्तों पर आधारित है। आचार्य गंगाधर एक सरल कथन के साथ प्रारम्भ करते हैं कि परमाणु (Atom) के गुण अणुओं (Molecule) में भी तत्सम गुणों की उत्पत्ति करते हैं। अतएव अणुओं के गुण तथा विशेषतायें संयोग या विभाग का परिणाम है। और यह बात स्थित्यनुसार परमाणुओं की प्रवृत्ति पर निर्भर करती है। उदाहरणार्थ जब पंचमहाभूत संघठित होकर किसी केन्द्रिय समास (Organic Compound) यथा मानवशरीर का निर्माण करते हैं तब तेज, जल और पृथिवी क्रमशः रक्त, श्वेत और कृष्ण वर्णों का उत्पादन करते हैं, किन्तु शरीर में पीतवर्ण उपर्युक्त भूतों की प्रवृत्ति के कारण विशिष्ट अनुपात और संयोग (Proportion and collucation) के परिणामस्वरूप हो सकता है। यहाँ यह विशेषतया दृष्टव्य है कि अणु (Molecub) एक नवीन संयोग

(Fresh collocation) का निर्माण करते हैं, राशि (Mass) एवं शक्ति (Energy) को नवीन रूप से विभाजित करते हैं तथा वस्तु या शरीर में जो नवीन शक्ति का आधान करते हैं वह पुरातन शक्ति अथवा प्रवृत्ति (Potencies or tendencies) को परिवर्तित कर नवनिर्मित परिणामद्रव्य की शक्ति अथवा प्रवृत्ति का निर्णय करती है यह क्रिया रासायनिक समासों के विलक्षण किन्तु परिपूर्ण वर्ण सिद्धान्त का विस्तार करती है।

किसी सामान्य द्रव्य का वर्ण एवं अन्य विशेषतायें उस द्रव्य विशेष में निहित सत्त्व (Essence), रजस (Energy) तथा तमस् (Mass) की शक्ति के परिणामस्वरूप होती है, जब इस प्रकार के दो द्रव्य परस्पर में संयुक्त होते हैं तो उनमें वर्ण आदि की उत्पत्ति होती है, तथापि यह संयोग नवीनरूप में सत्त्व, रजस और तमस को वितरित कर देता है तथा इस प्रकार से निर्मित शक्तियाँ या तो वेगपूर्वक परिवर्तित हो सकती है अथवा सामान्यतया संयोगोन्मुख द्रव्यों की पृथक्-पृथक् प्रवृत्तियों या शक्तियों को अवरुद्ध तक कर सकती है। उदाहरणार्थ जब हम समपरिमाण में पारद एवं गन्धक को मिश्रित कर अंजन सदृश चूर्ण (Collyrium) बनाते हैं तो परिणामजन्य समास कृष्णवर्ण का प्राप्त होता है। इसकी व्याख्या करते समय यह स्मरणीय है कि पारद एवं गन्धक दोनों में से प्रत्येक में विभिन्न अनुपात में सत्त्व (Essence), रजस (Energy) एव तमस (Mass) विद्यमान रहते हैं, और इनमें से जब तमस (Inertia, mass) प्रधान होता है तब कृष्णवर्ण, सत्व (Essence) प्रधान होने पर श्वेतवर्ण तथा रजस (Energy) प्रधान होने पर रक्तवर्ण का उत्पादन होता है। अब कज्जली : पारद का कृष्ण गन्धाइद (Black Sulphide of mercury) में पारद के श्वेतवर्ण को श्वेतवर्ण तथा गन्ध के पीतवर्ण को पीतवर्ण की उत्पत्ति के लिये प्रवृत्त होना चाहिये और यदि इन प्रवृत्तियों का अवरोध न किया जाय तो इनका अन्तिम परिणाम एक मिश्रित वर्ण होगा किन्तु इस विशिष्ट संयोग में पारद के तमोगुण का प्राधान्य होकर या तमस् की तीक्ष्णता प्रवृद्ध होकर पारदीय पूर्वोक्त श्वेतता को नष्ट कर देती है। इसी प्रकार गन्धक की पीतवर्णता भी नष्ट हो जाती है, और यह सब कुछ श्वैत्योत्पादक सत्व एवं रक्तिमोत्पादक रजस की संयुक्ति क्रिया के परिणामस्वरूप होता है।

पुनश्च, जब हम उपयुक्त यन्त्र एवं अग्निसाहाय्य से पारद एवं गन्धक का मिश्रण करते हैं तो हमें पारद के रक्तवर्ण के गन्धाइद (Red mercury Sulphide) की उपलब्धि होती है। परिणामतः उत्पन्न रक्तवर्ण को इस तथ्य के आधार पर स्पष्ट किया जा सकता है कि नवीन संयोग में, यद्यपि गंगाधर कविराज ने स्पष्ट नहीं किया है, रजस सम्भवतः पारदीय तीक्ष्ण हो जाता है और पारद के श्वैत्योत्पादक सत्त्व एवं गन्धक के पीतोत्पादक सत्त्व रजस को नष्ट कर समास में रक्तवर्ण का आधान करता है। इन प्रक्रियाओं तथा हरिद्राचूर्ण संयोग द्वारा रक्तवर्ण के उत्पादन में अर्थात् जहाँ कही भी एक नवीन वर्ण की उत्पत्ति होती है, उसका विवेचन करते समय सत्त्व रजस तमस के प्राधान्य के आधार पर अथवा उनके संयोग तथा संयोग से उत्पन्न शक्तियाँ द्वारा अमिश्रित द्रव्यों की शक्तियों के पराभव के परिणामस्वरूप नवीन द्रव्यवर्ण की उत्पत्ति होती है, यह स्पष्ट जान लेना चाहिए।

किन्तु इसके विपरीत कुछ अन्य उदाहरण भी है जहाँ समास का वर्ण एक मिश्रित वर्ण होता है जो कि संयोगोन्मुख द्रव्यों के वर्ण पर निर्भर करता है, अर्थात् जब पारद का गन्धाइद (Sulphide of mercury) तथा भस्मीकृत वंग (Calcined tin) का संयोग किया जाता है तो परिणामजन्य वर्ण एक मिश्रित गुलावी वर्ण उत्पन्न होता है जो कि संयोगोन्मुख द्रव्यों के वर्ण द्वारा अनायास ही स्पष्ट किया जा सकता है। इसी प्रकार यान्त्रिक एकीकरण में, यथा एक वस्त्र खंड में यदि सूत्र श्वेत होते हैं तो वस्त्र खंड में भी श्वेत वर्ण ही होगा, इस क्रिया को स्पष्ट किया जा सकता है। (History of Hindu Chemistry vol II P. 151 से-155 तक-किंचित परिवर्तित)——

इस प्रकार यह विवेचन चरक महर्षि के एक निम्न श्लोकमात्र का ही स्पष्टीकरण है जो कि रासायनिक समासों के परीक्षण के सिद्धान्तों को विशद करता है।

> "संयोगे च विभागे च कारणं द्रव्यमाश्रितम्।
> कर्तव्यस्य क्रियाकर्म कर्म नान्यदपेक्षते ॥" च०सू०१-२४

गंगाधर व्याख्या——तत्कार्यारम्भे पृथिव्यादिद्रव्यावस्थागुणा गन्धादयः खलु स्वस्वजातीयं गन्धविशेषादिकं आरंभमाणाः यदारभ्यमाणं स्वस्वविजातीयं कार्यं स्वारम्भकं कारणं च अहंकारादिस्थं गुणांशं उभयथा कुत्रचित् हत्वा

कुत्रचित् न हत्वा स्वजातीयं गुणविशेषं आरभन्ते। यथा पारदगन्धकयोः संयोगे कज्जलीभूतद्रव्ये पारदस्थः शुक्लः शुक्लविशेषं आरंभमाणः गन्धकस्थपीतः पीतमारम्भमाणः पारदस्थतीक्ष्णेन तैक्ष्ण्यमारभमाणेन विरोधिना बध्यते। सर्वत्रैव शौक्ल्यं सत्त्वगुणयोनिकं तमोगुणयोनिकेन तैक्ष्ण्येन विरोधिना बध्यते। गन्धकस्थपीतस्थौ लोहितशुक्लौ रजःसत्वयोनिकौ बध्यते। तयोः शुक्ललोहितवधे तैक्ष्ण्यसमानयोनिः अभिव्यज्यते। इति पारदगन्धकोभयात्मके कार्ये श्वेतपीतमेलनेन सम्भाव्यं कार्यं यद्वर्णं तत् तीक्ष्णगुणेन बध्यते, तत्कारणं शुक्ललोहितं हत्वा। एवं हिंगुले पारदगन्धकाभ्यामारभ्यमाणे यन्त्रवेशेषे वह्निना पच्यमाने रजोबहुलयोनिकेन तीक्ष्णेन सत्वतमोयोनिकौ शुक्लकृष्णौ बध्येते। पारदस्थशुक्लगन्धकस्थपीतमेलनेन सम्भाव्यं कार्यवर्णं च बध्यते। रजोर्योनिक लौहित्यं च अभिव्यज्यत इति। एवं हरिद्राचूर्ण संयोगेऽपि लौहित्यमभिव्यज्यते चूर्णस्थ तैक्ष्ण्येन हरिद्रास्थशुक्लकृष्णवधे। अथ अवधे यथा--हिंगुलवंगभस्मसंयोगे श्वेतलोहितवर्णमेवोभयात्मकं भवति पाटलवर्ण, न च तत्र हिंगुलस्य लौहित्यं वंगभस्मस्थं शौक्ल्यं च केनापि बध्येत। एवं शुक्लसूत्रनिर्भितपटस्यशौक्ल्यमेव। (जल्पकल्पतरु व्याख्या--च० सू० प० १९ से २००, संस्करण १९२५)।

वर्णों का चिकित्सा में उपयोग :--

आकाश–सत्त्वप्रधान, रजस् प्रच्छन्न तथा तमस् अर्धप्रच्छन्न।
वायु–रजस् प्रधान, सत्त्व प्रच्छन्न, तथा तमस् अर्धप्रच्छन्न।
अग्नि–रजस् प्रधान, तमस् प्रच्छन्न, तथा सत्व अर्धप्रच्छन्न।
जल–तमस् प्रधान, रजस् अर्धप्रच्छन्न तथा सत्व प्रच्छन्न।
पृथ्वी–तमस् प्रधान, रजस् प्रच्छन्न तथा सत्त्व अर्ध-प्रच्छन्न।

इससे यह ज्ञात होता है कि पांचों महाभूतों में अहंकार के तीनों गुण उपस्थित रहते हैं। किन्तु आकाश में सत्व की, वायु और अग्नि में रजस् की और अप् और पृथ्वी में तमस् की प्रधानता होती है।

इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है रक्तवर्ण के पदार्थों में रजस् की प्रधानता होती है अर्थात् उनमें अग्नि और वायु महाभूतों का प्राधान्य रहता है। श्वेतवर्ण के पदार्थों में सत्वगुण की प्रधानता होती है अर्थात् उनमें आकाश महाभूत का प्राधान्य होता है। कृष्णवर्ण के पदार्थों में तमस् की प्रधानता होती है अर्थात् उनमें पृथ्वी और अप् महाभूतों का प्राधान्य होता है।

आचार्यप्रवर चरक का मन्तव्य है कि पृथ्वी और अप्-भूतों का जिन द्रव्यों में प्राधान्य होता है वे विशेषतः शरीर के अधोभाग पर कार्यकर होते हैं। तथा च जिन द्रव्यों में तेज और वायु महाभूतों का प्राधान्य होता है वे विशेषतः शरीर के ऊर्ध्वभाग पर कार्यकर होते हैं। इन दोनों प्रकार के द्रव्यों के लिये विरेचक और वामक द्रभ्व्यों का उदाहरण दिया जा सकता है। देखिये :--

> "..... अग्निवाय्वात्मकत्वादूर्ध्वभागप्रभावादौषधस्योर्ध्वमुत्क्षिप्यते, सलिलपृथिव्यात्मकत्वादध्ननोभागप्रभावाच्चौषधस्याधःप्रवर्तते.........।"
>
> (चरकसंहिता कल्पस्थान १।५)

इस प्रकार यह अनुमान किया जाता है कि वे समस्त द्रव्य जिनका कि वर्ण रक्त होता है, यदि किसी प्रकार का अवरोध न हो, तो वे शरीर के ऊर्ध्वभाग पर अर्थात् श्लेष्मस्थान और उसमें भी विशेषतः रस् पर क्रियाकर होते हैं तथा इसी प्रकार के समस्त द्रव्य जिनका कि कृष्णवर्ण होता है, यदि किसी प्रकार का अवरोध न हो तो, वे शरीर के अधोभाग पर अर्थात् वातस्थान और विशेषतः पक्वाशय पर क्रियाकर होते हैं। उदाहरणार्थ रससिन्दूर का कार्य श्लैष्मिक रोगों में उरस् पर और कज्जली तथा पर्पटी का कार्य वातरोगों में पक्वाशय पर होता है। तथा च इसी प्रकार श्वेतवर्ण के द्रव्य जिनमें सत्वगुण प्रधान होता है वे शिरस् पर या इन्द्रियाधिष्ठान पर विशेषतः कार्यकर होते हैं यथा :--रौप्य।

हमने पिछले पृष्ठों में रसशास्त्रान्तर्गत कूपीपक्वों में अग्निमात्रा का दिर्णय करने का प्रयास किया है। इसमें जो कुछ और जैसा अनेकों प्रयोगों के उपरान्त दृष्टिगत हुआ है उसका विस्तृत विवेचन हमने किया है। यद्यपि प्रत्येक प्रयोग का सम्पादन पूर्ण सावधानीपूर्वक किया गया है तथापि दृष्टिदोष एवं प्रमादवश किहीं त्रुटियों का रह जाना भी बहुत सम्भव है।

इस निबन्ध द्वारा हमने वैद्य जगत्को एक प्रेरणा दने का भी प्रयास किया है। अपने इस प्रयास को मैं तभी सार्थक मानूँगा जब कि अन्य वैद्य भी इसी प्रकार अपने प्रयोगों का सम्पादन कर इस विषय को और अधिक अग्रसर करेंगे।

अन्तमें महाकवि कालिदास के निम्न श्लोकांश द्वारा अपने निबन्ध को समाप्त कर विद्वज्जनों की सेवा में अर्पण करता हूँ :--

"आपरितोषाद्विदुषां न साधुमन्ये प्रयोगविज्ञानम्।"

प्राध्यापक एवं अध्यक्ष
रसशास्त्र एवं भैषज्य कल्पना
विभाग स्नातकोत्तर आयुर्वेदीय
प्रशिक्षण केन्द्र जामनगर (बम्बई)

प्रमाणपरिचयः

कविराज श्री उपेन्द्रनाथ दास, का० सां० व्या० तीर्थ

(पूर्वतोऽनुवृत्तिः)

नेत्रवर्णनम्

चक्षुरिन्द्रियं तैजसमिति न्यायवैशेषिकाः केवलं तेज एव चक्षुषः समवायि (उपादान) कारणमिति तदर्थः। किन्तु केवलेन तेजसा चक्षुर्यन्त्रस्य निर्माणं न सम्भवति तथा तेजसैव निर्मितंचेच्चक्षुर्स्तर्हि तेजसो द्वौ विशेषगुणौ स्पर्शो रूपञ्च न्यायादिवर्णितौ चक्षुषा कथं न गृह्यते, गृह्यते च केवलं रूपमेवेति विप्रतिपत्तिः प्रसज्यते तस्मात्पञ्चमहाभूतविकारसमुदायात्मकेऽपि चक्षुषि तेजसःप्राधान्यं तत एव तेजसविशेषगुणोरूपमेव चक्षुषा ज्ञायत इति निर्णय आयुर्वेदाचार्याणाम्। यथा शब्दादिषु मध्ये रूपमात्रप्रकाशको दीपस्तैजस तथा रूपमात्रप्रकाशकं चक्षुरपि तैजसमिति––अनुमीयते, तस्मादुष्णस्पर्श––भास्वरशुक्लरूपरहितस्याऽपि चक्षुस्तैजसत्वे (तेजः प्रधानत्वे वा) नास्ति विप्रतिपत्तिः। नहि सर्वमेवतैजसमुष्णस्पर्शं भास्वरशुक्लं च भवतीति ताम्रलौहादिधातावन्यथा दर्शनात्।

यद्यप्युद्भूतरूपमेव प्राधान्येन चक्षुषो विषयस्तथाऽप्यन्यान्यपि सन्ति बहूनि नेत्रग्राह्याणि यथोद्भूतरूपकान्तिद्रव्याणि पृथक्त्वं, संख्या, विभाग, ससंयोगःपरत्वे स्नेहो द्रवत्वं परिमाणम् प्रत्यक्षद्रव्ये या क्रियायाश्च जातिः, समवायश्चेति सर्वमेव चक्षुषा ज्ञायते। यदुक्तम्––"उद्भूतरूपं नयनस्य गोचरे द्रव्याणि तद्वन्ति पृथक्त्व संख्ये। विभागसंयोगपरापरत्व स्नेहद्रवत्वं परिमाण युक्तम्। क्रियाजातियोंयवृत्तिः समवायश्च तादृशः॥" इति।

यद्यच्चक्षुषा ज्ञायते तस्य तस्याऽभावोऽपि चक्षुषैव ज्ञायते। पञ्चस्विन्द्रियेषु चक्षुरिन्द्रियमेवाधिकोपयोगी मन्यते। तदिदं प्राप्यकारिकिमुक्ता प्राप्यकारिचक्षुरिति विवादः प्राचीनानां दार्शनिकानां दृश्यते तत्रेदंकारणं नेत्रातिरिक्तैरिन्द्रियैः सहार्थाश्रयणं द्रव्याणां साक्षात्सम्बन्धादेव रसग्रहणं किन्तु नेत्रसंलग्नस्याञ्जनादेः प्रत्यक्षं न सम्भवति नेत्रस्याऽतिसमीपस्थमक्षरादिकमपि सर्वथा न दृश्यते, दृश्यते तु दूरस्थमेव सर्वम्। यद्यपि दूरस्थस्याग्नेरौष्ण्यं त्वचा गृह्यते, दूरस्थस्यपुष्पस्याऽपिगन्धो घ्राणेनेतिप्रत्यक्षसिद्धस्तथापि घनीभूता ये तेजोऽवयवा अग्निसंज्ञास्त एव विरलीभूय त्वचा संयुज्यते तस्मात्तेजसस्त्वचा सह साक्षात्सम्पर्कादेवोष्णस्पर्शोऽनुभूयते, तथा दूरस्थस्यगन्धवद्द्रव्यस्य गन्धाधिकरणभूताः पार्थिवावयवा अतिसूक्ष्मा यदा वायुतरंगेन सह प्रसृत्य घ्राणेन संयुज्यते तदैव गन्धज्ञानं सम्भवति। तस्मादन्येषामिन्द्रियाणां प्राप्यकारित्वेऽपि चक्षुरिन्द्रियमप्राप्यकारीति केषांचिन्मतम्। अन्येत्वाहुरप्राप्यकारित्वे चक्षुषो व्यवहितं विप्रकृष्टं वा कथं न दृश्यते? यदेवांगुरीयकमधुना दृश्यते तदेव हस्तपिहितं न दृश्यते यच्च विमानमधुना दृश्यते दूरंगतं तदेव न दृश्यते तस्माच्चक्षुन्द्रियमपि प्राप्यकारीति निश्चयः किन्तु विशेषोऽयं चक्षुषि यत् ततो रश्मिरेको निर्गत्य विषयदेशं गत्वा विषयपरिच्छेदं कृत्वा प्रत्यावर्तते तत एव विषयज्ञानं जायते, विषयाधिकरणंद्रव्यमागत्यान्यैरिन्द्रियैः संयुज्यते किन्तु नेत्रात्तैजसो रश्मिर्निर्गत्य विषयदेशं गत्वा तमादाय प्रत्यावर्तत इति विशेषः।

अत्राऽप्यप्राप्यकारिवादिनः पुनराहुर्नप्राप्यकारित्वं चक्षुषो वृक्षपक्षिचन्द्रमसां युगपद् दर्शनात्। यदि चक्षुषो रश्मि निर्गत्य विषयदेशं गत्वा प्रत्यावर्तते नाम तर्हि यावताकालेन समीपस्थं वृक्षं गत्वा निवर्तते न तावतैव कालेन दूरस्थं गगनविहारिणं पक्षिणं गत्वा, तावतैव च कालेनाऽतिदूरस्थंचन्द्रं गत्वा प्रत्यावर्तितुं शक्यते तस्मादप्राप्यकारि चक्षुरिति। प्राप्यकारिवादिनस्त्वाहुः –– तैजसस्यरश्मेरतितीव्रगतिशीलत्वाद् दूराद्दूरान्तरगमन प्रत्यागमनकालानन्तरा ग्रहादेव यौगपद्यभान्तिर्यतोऽप्राप्यकारित्वे व्यवहितविप्रकृष्टानामपि प्रत्यक्षप्रसंग इति। (आलोकस्यगतिराधुनिकैरपि २८६००० माईल प्रतिसेकेण्ड इति गण्यते)।

एवं युक्तितर्काभ्यां चक्षुषः प्राप्यकारित्वे सिद्धेऽपि नेत्रान्निर्गत्य रश्मिर्विषयदेशं गत्वा विषयाकाराकारितः प्रत्यावर्तते इति युक्तिप्रमाणसिद्धं न भवति। यतस्तादृशे तैजसे रश्मौ भास्वरं शुक्लंरूपं कथंनानुभूयते नवोष्णःस्पर्शं इति

दुस्तरः प्रश्नः। न्यायभाष्यकारेणात्राऽभिहितम्——रश्मावस्मिन्नदृष्टवशान्नोद्भूतं रूपमस्ति नवोष्णः स्पर्श इति। तैजसोऽपि रूपस्पर्शरहितो रश्मिः कथं कल्पनीय इत्यत्र हेतुमाह भाष्यकारः——प्रत्यक्षस्यान्यथाऽनुपपत्त्येति। रश्मिकल्पना परित्यागे प्रत्यक्षमेव न स्यादिति तदर्थः।

किञ्च यदि तैजसो रश्मिरेव विषय प्रकाशकस्तर्हि चाक्षुष प्रत्यक्षेनालोकापेक्षास्यात् किन्तु गृह्णाति चक्षुः सम्बन्धादालोकोद्भूतरूपयोरिति चाक्षुषप्रत्यक्षे आलोकस्य नियतकारणत्वमंगीकृतम्। अनुद्भूतरूपोरश्मिस्तीव्रालोकंनिर्भिद्य कथं विषयं व्याप्नोति प्रत्यावर्तते वा।

यत्तु नक्तञ्चराणां चक्षूरश्मिदर्शनादिति सूत्रं तत्रापि विचार्यं यद्यपि नक्तञ्चराणां चक्षूरश्मिरस्माभीरात्रावुज्ज्वलो दृश्यते तथाऽपि तेन रश्मिना नक्तञ्चरा न पश्यन्ति। दिवा च तदेव चक्षुः सूर्यकराऽभिभूतमनुज्ज्वलं स्यात्। तस्मान्निरर्थकं कल्पनामात्रमेतत् चाक्षुषप्रत्यक्षस्यान्यथोपपत्तिसम्भवादिति। तथाहि——

द्विविधं हि दृश्यं ज्योतिष्मज्ज्योतिर्हिनं च। तत्र ज्योतिष्मतां सूर्यचन्द्रप्रदीपादीनां रश्मिः सततमेव स्वतः समन्तात् प्रसरति। भास्वरशुक्लरूपवत्तेजएवालोकसंज्ञं ज्योति संज्ञं च। ज्योतिष्मतामालोकसंज्ञकं तत्तेजः स्वयं चक्षुषि दृष्टिवितानं प्रविश्य पातयति "फोकस" संज्ञकं प्रतिविम्बम्। ज्योतिर्हीनानां दर्शनमालोकसहायेन चक्षुषा भवति तत्राऽपि येनालोकेनाऽस्माभिर्वस्तु दृश्यते तदालोकसंज्ञकं तेज एव दृश्यवस्तुनि पतितं तदाकाराकारितं प्रत्यावृत्ति चक्षुषि दृष्टिवितानं प्रविश्य जनयति दृश्यप्रतिविम्बम्। यथा——प्रतिविम्बग्राहियन्त्रस्य (फोटोग्राफी) सम्मुखस्थेविम्बे निपतित आलोक एव विम्बाकाराकारितः प्रत्यावृत्य यन्त्रपश्चाद्भागस्थेपट्टे प्रतिविम्बं पातयति, न खलु यन्त्राद्रश्मिर्विनिर्गत्य विम्बस्यरूपं गृहीत्वा प्रत्यावर्तते इति परीक्षासिद्धमेव। यथा वायुर्गन्धाऽधिकरणं पार्थिवंकणमभिवहन् गन्धवहः कथ्यते करोति च गन्धाऽधिकरणेन सह घ्राणेन्द्रियस्य संयोगं तथैव तेजोऽपि स्वयं रूपवत् ततो रूपवद्वस्तुनि पतितं तदीयरूपवद्भूत्वा प्रत्यावृत्य चक्षुषि दृष्टिवितानं प्रविश्य जनयति तत्र प्रतिविम्बम्। चक्षुःसंसक्तस्याऽतिसमीपस्था वा प्रतिविम्बं न पतति दृष्टिविताने तस्मात्तेषां प्रत्यक्षं न स्यादिति। चक्षुषो मण्डलादयः केवलं यथास्थानं प्रतिविम्बं पातयितुं सहायकाः किन्तु यथास्थानं पतितं प्रतिविम्बमेव दृश्यं स्यात्, ततोऽग्रे पश्चाद्वा पतितं प्रतिविम्बं समीपस्थादर्शनं दूरस्थादर्शनञ्च जनयति दृष्टिदोषंमुन्नतोदरेण नतोदरेणवोपनेत्रेण क्रियते दर्शनक्रियासहायकमिति परीक्षितं परीक्षकैरनेकधेति।

शुक्लपीतरक्तादयोवर्णभेदा अपि रूपभेदा एव प्राचीनानाम्। किञ्चाऽधुनिकैः सलिलस्वच्छकाचादिकं वर्णरहितं वर्ण्यते तदपि शुक्लरूपमेव प्राचीनमते। आकृत्यादयः सौन्दर्यादयोऽपि रूपसंज्ञा एव चक्षुर्ग्राह्याः। चक्षुषा द्रव्यस्य सन्निकर्षः संयोगसम्बन्धेन (न्यायमते) द्रव्याश्रितस्य रूपस्य संयुक्तसमवायेन रूपाश्रिताया रूपत्वजातेः संयुक्तसमवेत समवायेनेति। षड्विधेषु प्रत्यक्षेषु चाक्षुषप्रत्यक्षस्यैव प्राधान्यं मन्यते सर्वैरिति।

तरुलतादीनामपि दृष्टिशक्तिरस्तीति मनुनाऽनुमितं——"वल्ली वेष्टयते वृक्षं" इत्यादिना, तस्मादस्माभिरदृष्टमपिरूपदर्शनसाधनं तेषामस्तीति ज्ञायते. येन खल्ववयवेन तरुलतादयः पश्यन्ति दृश्यं स एवावयवस्तेषां चक्षुःसंज्ञ इति मन्तव्यम्।

रसनेन्द्रियवर्णनम्

रसनं जलीयं गन्धाद्यव्यञ्जकत्वे सति रसव्यञ्जकत्वात् सक्तुरसाऽभिव्यञ्जकोदकवदितिन्यायविदः, किंतुकेवलेनोदकेन रसनाया निर्माणं न सम्भवतीति पञ्चमहाभूतविकारसमुदयारब्धायां रसनायां जलस्य प्राधान्यमिति, जलस्य विशेषगुणो रस एव रसनया ज्ञातुं शक्यत इति चरकः। जलभूते यदि स्पर्शरूपरसास्त्रयो विशेषगुणा न्यायवर्णिताः स्वीक्रीयन्ते तर्हि जलीयया रसनया तेषां विशेषगुणानां ज्ञानं कथं न भवति,भवति च केवलस्य रसस्यैव ज्ञानमिति दुस्तरः प्रश्नः। तस्मादेकैकस्मिन् भूते एकैको विशेषगुणो महाभूतेषु चक्रमंशो गुणवृद्धिरिति——"तेषामेकगुणः पूर्वो गुणवृद्धिः परे परे। पूर्वः पूर्वो गुणश्चैव क्रमशोगुणिषुस्मृतः॥" चरकसिद्धान्तोऽयं समीचीनः। केवलेयं जिह्वा न रसनेन्द्रियं किन्तु यावन्तोऽस्या अवयवा रसाङ्कुर रसना आदि संज्ञास्तेषांसमुदयनिर्मितं रसग्रहणे साधकतमं कारणमेव रसनेन्द्रियम्। शब्दोच्चारणे साधकतमत्वाज्जिह्वावागिन्द्रियमपि कथ्यते——"जिह्वावागिन्द्रिय" मिति। मधुरादयोरसाः रसत्वजातिस्तथा रसाभवोऽपि रासनयैव गृह्यते। शब्द-रस-गन्धाश्रयाणां द्रव्याणां श्रोत्र-रसना-घ्राणैरिन्द्रियैस्तथाप्रत्यक्षंनभवति यथा स्पर्शरूपाश्रयाणां द्रव्याणांत्वङ्नेत्राभ्यामिति प्राञ्चोवदन्ति। किन्तु यथा घटरूपं दृष्ट्वा घटोऽयमितिज्ञानं घटस्पर्शे च घटोऽयमितिज्ञानं तथैव कुक्कुटशब्देन कुक्कुटोऽयमिति गुड़रसेन

गुड़ोऽयमिति कर्पूरगन्धेन कर्पूरोऽयमितिघनान्धकारेऽपि सत्याऽनुभूतिः सम्भवति तस्मात्पञ्चभिरेव ज्ञानेन्द्रियैर्यथा शब्दादीनां पञ्चानां विशेषगुणानां तथैव तदाश्रयाणां द्रव्याणामपिभवत्येव बोध इति स्वीकारेऽपि नास्ति कदाचित् विप्रतिपत्तिः। दर्शनस्पर्शनाभ्यामिन्द्रियाभ्यां रूपस्पर्शयोस्तदाश्रयद्रव्याणामपि प्रत्यक्षं किन्तु श्रोत्र-घ्राण-रसनैरिन्द्रियैः केवलं शब्दगन्ध-रसाख्यानां गुणानामेव प्रत्यक्षं तदाश्रयद्रव्याणामनुमानमात्रमिति कल्पनायां बलवत्कारणं नास्तिति।

किञ्च वह्निधूमयोर्द्रव्ययोर्भूयः साहचर्यदर्शनात् यथा व्याप्तिग्रहः सम्भवति तेन चानुमितिस्तथा द्रव्यगुणयोः पृथक्सत्तारहितयोर्व्याप्तिग्रहासम्भवादनुमिति प्रसक्तिरेव नास्ति। किञ्च गुणसरूपेरसे गन्धे च गत्यभावात् स्वाश्रयद्रव्यरहितस्य रसस्य रसनया तादृशस्य गन्धस्य च घ्राणेन सन्निकर्षाभावात् प्रत्यक्षमेव न सम्भवतीति विभाव्यम्। किञ्च तुल्यरूपयोरपि घृतनारिकेलतैलयोर्यदि गन्धेनैव विवेकज्ञानं स्यात्, यदि वा मुद्रितनेत्रस्यापि रसविशेषेणैव मिष्टान्नानां विवेकःस्यात्तर्हि चक्षुषा रूपाश्रय द्रव्यस्येव रसनया रसाश्रयद्रव्यस्य गन्धेन च गन्धाश्रयद्रव्यस्य प्रत्यक्षस्वीकारे नास्ति कश्चिद् दोष इति। स्थावरा अपि जीवा वृक्षादयो यैरवयवै रसमनुभवन्ति तेषां त एवावयवा रसनेन्द्रियभूता ज्ञेया। इति

घ्राणेन्द्रियवर्णनम्

घ्राणेन्द्रियं पार्थिवं रूपादिषुमध्य गन्धस्यैवव्यञ्जकत्वात् कुंकुमगन्धाऽभिव्यञ्जकगोघृतवदिति मुक्तावल्याम्। किन्तु केवलया पृथिव्या घ्राणेन्द्रियनिर्माणं न सम्भवतीति पृथिव्यधिकपञ्चमहाभूतविकारसमुदायारब्धेन घ्राणेन्द्रियेण पृथिव्या विशेषगुणो गन्ध एव ज्ञातुं शक्यते। स च गन्धः पृथिव्या एव गुणस्तस्य घ्राणेन्द्रियेण सन्निकर्षस्तदैव सम्भवति, यदा गन्धवतो द्रव्यस्य गन्धवन्तः क्षुद्रा अवयवा वायुना नासान्तर्वर्तिघ्राणेन्द्रियं नीयन्ते, तस्मादेव वायोर्गन्धवह संज्ञा। गन्धस्य पृथिव्यागुणत्वाद् गुणे च गत्यभावात् पृथिवीं हित्वा वायुं नयति गन्धस्तस्माद्गन्धाधिकरणवहो वायुर्गन्धवहः कथ्यते। अतिगन्धवत्यपि यस्मिन् पार्थिवद्रव्ये उड्डयनमशक्ताः क्षुद्रा अवंयवा न सन्ति तस्य गन्धस्तावन्न ज्ञायते यावत्तस्यावयवा उड्डयनशीला न जायन्ते। तस्मादेव गन्धकस्य गन्धस्तावन्तोपलभ्यते यावत् संचालनेनाग्निसंयोगेन वा तस्यावयवा उड्डयनशीला न भवन्ति। येषां द्रव्याणामवयवा तीव्रवेगेनोड्डीना भवन्ति, तानिद्रव्याण्यधिकगन्धवन्ति समुपलभ्यन्ते। कस्तूरीकर्पूरादीनां तीव्रगन्धानामयवास्तूर्णं वायुं व्याप्नुवन्ति तस्मान्मुक्तवायुस्थानानामेषामवयताऽपचयाद् गुरूत्वहानिरपि सत्वरमेवभवतीति परीक्षा सिद्धमेव।

गन्धोगन्धत्वजातिर्गन्धाभावश्च घ्राणेन्द्रिय ग्राह्याः। येषां विशिष्टगन्धवतां कस्तूरीकर्पूरादीनामवबोधो गन्धद्वारा भवति तेषां द्रव्याणामपि घ्राणेन्द्रियगम्यत्वं स्वीकार्यमिति प्रागुक्तम्। प्राचीनैः सौरभासौरभभेदेन द्विविधो गन्धोऽङ्गीकृतः। यथा--"सौरभश्चासौरभश्च स द्वेधा परिकीर्तितः" इति। किन्तु तत्त्वतो नायं गन्धभेदः किन्तु भक्तिभेद एव। तथाहि हिंगुपलाण्डुरसोनादीनां भक्षकस्तेषां गन्धं सौरभं मन्यतेऽभक्षकस्तु मन्यतेऽसौरभं तमेव। तस्मात्कथञ्चिद् व्यवहारिकोऽयंभेद स्तात्त्विकस्तु स्त्यानतीव्रमन्दादिगन्धभेद एवेति।

बहिरिन्द्रियजन्यानि पञ्चविधानि प्रत्यक्षाणि वर्णितानि। सुखादीनां मानसप्रत्यक्षेऽन्तरिन्द्रियस्य मनस आत्मना सह (सांख्यमतेऽहङ्कार-बुद्धिद्वारा) संयोगः कारणम्। तथाहि संस्कारसहितं मनोऽहंकारेणाहंकारस्तु बुध्या संयुज्यते बुद्धिरपि वृत्तिद्वारेणात्मनि जनयति प्रतिविम्बम्। न्यायनये बुध्यहंकारयोर्न द्रव्यत्वं तस्मान्मन एवात्मनासंयोगमेत्य सुखादिकं जनयति।

सांख्यनये बहिरिन्द्रियजन्ये प्रत्यक्षेऽपि--बहिरिन्द्रियाणि विषयमालोच्य मनसे प्रयच्छति, मनस्तु संकल्प्याहंकाराय प्रयच्छति, अहंकारोऽभिमत्य बुद्धये, बुद्धौ या व्यवसायात्मिका वृत्तिर्जायते तस्याः प्रतिविम्बनमात्मनि भवतीतिक्रमेण विषयज्ञानं जायते। न हि मनो नवेन्द्रियाणि साक्षादात्मनि किमपि प्रायपितुं शक्नुवन्ति किन्तु बुद्धिरेव सर्वं प्रापयत्यात्मानं प्रतिविम्बरूपेणेति।

इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षं तत्र षड्विधेषु सन्निकर्षेषु कस्य की दृशः सन्निकर्ष इति विशिष्य दर्शितम्। तथाऽपि शीघ्रस्मरणार्थं संक्षिप्य पुनरुच्यते।

द्रव्यज्ञानन्तु संयोग सम्बन्धेन प्रजायते।
द्रव्येषु समवेतानां गुणजात्यादीनां ग्रहः।।
संयुक्तसमवायेन सम्बन्धेनभवेद्ध्रुवम्।
द्रव्यस्थगुणमाश्रित्य गुणत्वादि समाख्यत।।
या जातित्वाज्ज्ञानं तस्याः सम्बन्धेनेदृशेन च।
संयुक्ते समवेतो यस्तस्यापि समवायतः।।

शब्दस्य समवायेन सम्बन्धेन ग्रहोमतः ।
समवेते समवायसम्बन्धेन ज्ञानं भवेत् ।।
शब्देषु समवेतायाः जातेरिति विनिश्चयः ।
प्रत्यक्षं समवायस्य विशेषणतया भवेत् ।
विशेषणतयातद्वदभावानां ग्रहोभवेत् ।।

१–सोयोगः २–संयुक्तसमवायः, ३–संयुक्तसमवेतसमवायः, ४–समवायः, ५–समवेतसमवायः, विशेषणताचेति षड्भिःसम्बन्धैः सन्निकर्षःस्यादिति । एते षट् लौकिकाः सन्निकर्षाः कथ्यन्ते, सन्ति खलु त्रिविधा अलौलिका अपि यदुक्तम्–– "अलौकिकस्तुव्यापारस्त्रिविधःपरिकीर्तितः । सामान्यलक्षणो ज्ञानलक्षणोयोगजस्तथा ।।" अश्वादिकंव्यक्तिमेकैकंदृष्ट्वा तत्तज्जातेः सन्निकर्ष सामान्यलक्षणः, कस्यचिद्विशिष्ट प्रत्यक्षाद् यः संस्कारो जायते तस्य संस्कारस्योद्बोधात् स्मृतिः प्रत्यभिज्ञा वा स्यात् स ज्ञानलक्षणः । योगः सन्निकर्षस्तु युक्तानां युञ्जानानां च भवति न सर्वेषाम् । तत्र योगसिद्धानां सर्वदैवालौकिकं योगजंज्ञानं भवितुमर्हति । योगाभ्यासिनां तु एकाग्रचिन्तयेति विशेषः । यदुक्तं–– "योगजो द्विविधः प्रोक्तो युक्तयुञ्जानभेदतः । युक्तस्य सर्वदाभानं चिन्तासहकृतोऽपरः ।।"इति ।

प्रत्यक्षोऽयं सूक्ष्मविचारः––इन्द्रियार्थ सन्निकर्षजन्यं ज्ञानं प्रत्यक्षमिति" सर्वैःस्वीक्रियते, तत्रेन्द्रियाणि न केवलं दृश्यानि बहिर्द्वाराणीन्द्रियाणाम्, किन्तु बहिर्द्वारमारभ्य मस्तिष्क परिसरीयभागस्थं ज्ञानकेन्द्रपर्यन्तमेकैकयन्त्ररूपमिन्द्रियमिति परीक्षासिद्धम् ।

इन्द्रियस्यबहिर्द्वारि यत्रेन्द्रियार्थेन सन्निकर्षो जायते न तत्रैव प्रत्यक्षमित्यपि परीक्षासिद्धमतः प्रश्नोऽयं समुदेति–– इन्द्रियबहिर्द्वारसन्निकृष्टं विषयाधिकरणंद्रव्यं केन मार्गेण याति ज्ञानकेन्द्रम् ?। यदि विषयाधिकरणंद्रव्यं न गच्छति नाम, निराश्रयारूपरसादयोगुणा न शक्नुवन्ति गन्तुम् गतिहीनत्वात्, किञ्च यदि विषयाधिकरणंद्रव्यं न गच्छति ज्ञानकेन्द्रं तर्हि शर्करा रसोऽयमयमाम्रनिम्बुरस इत्यादि विशेषबोधो न सम्भवति । न वा सम्भवति द्रव्यादीनां प्रत्यक्षमिति महानयं सन्देहविषयः, उत्तरमस्य श्रीमता चरकेणोक्तम्–– "तत्रानुगम्यानां पञ्चमहाभूतः × × ×। तत्र यद्यदात्मकमिन्द्रियं विशेषेण तत्तदात्मकमेवार्थमनुधावति तत् स्वभावाद् विभुत्वाच्च ।।" संक्षिप्तार्थोऽस्य प्रागेवोल्लिखितः । अत्रेदं रहस्यं––वृत्तिमद्भिरिन्द्रियैरेव विषयग्रहणंस्यान्नतु वृत्तिरहितैः । वृत्तिर्नाम गतिविशेषः । इन्द्रियकेन्द्रादिन्द्रियोपादानां बहिर्गमनमित्यर्थः । सर्वेषामिन्द्रियाणां पाञ्चभौतिकत्वाज्जाग्रदवस्थायां सर्वेभ्य इन्द्रियकेन्द्रेभ्यः पञ्चैव भूतानि प्रतिक्षणं वहिर्गच्छन्ति स्व स्व विषयग्रहणाय तथाऽपि यस्मिन्निन्द्रिये यस्य भूतस्य प्राधान्यमाधिक्याख्यं तद्भूतमेवेन्द्रियसन्निकृष्टविषयाऽधिकरणभूतस्य-भूतस्यसूक्ष्माऽतिसूक्ष्मंशं गृहीत्वा विषयाकाराकारितं भवति तदानीं सर्वेन्द्रियार्थामभिवोढ़ावायुर्विषयाकाराकारितस्येन्द्रियप्रधानो पादानस्य भूतस्य प्रतिलोमगतिमुत्पाद्येन्द्रियकेन्द्रं प्रापयति । यथाचक्षुःकेन्द्राद् यद्यपि पञ्चैव महाभूतानि जाग्रदवस्थायां हि निर्गच्छन्ति वृत्तिकराणिभवन्ति तथाऽपि दृष्टिविताने यत्र तेजसा दृश्यप्रतिविम्बं पातितं तत्रागत्य चक्षुष उपादानभूतं वहिर्गच्छत्तेज एव रूपवत् तैजसं सूक्ष्मंकरणमादाय तादृग्रूपवद्भूत्वेन्द्रियार्थाऽभिवाहकेन वायुना प्रतिलोमगत्या गच्छत्याज्ञाकन्दं ततश्च मनोवहेन स्रोतसा मनसो नियन्त्रा च वायुना वाहितं मस्तिष्कपरिसरीरभागस्थं दृष्टिकेन्द्रं प्रापयति विषयमिति । एवं सर्वेषामिन्द्रियाणां विषयग्रहणे क्रमः । तदेवोक्तमाचार्य्यैः "इन्द्रियं हि विषयदेशं गत्वा विषयं परिच्छिनत्ति" नियमोऽयं न केवलं नेत्रमात्रस्य किन्तु सर्वेषामेवेन्द्रियाणामिति । तत्र विषयदेशशब्देनेन्द्रियबहिर्द्वारि यत्र विषयसन्निकर्षो जातः स एव देशो बोध्यो न तु शरीराद्बहिर्विषयदेश इति । चक्षुषोऽपि रश्मिद्वारा शरीराद्बहिर्गमनं न सम्भवतीति प्राक् प्रतिपादितमतः का कथा रसनाघ्राणादीनां शरीराद्बहिर्गमनस्येति ।

यद्यपि गुणेषु गत्यभावाद्गन्धादयः स्वस्वाऽधिकरणं हित्वा न वायुं यान्ति न वायुःस्वगुणं स्पर्शं हित्वा गन्धादिकं वोढुं शक्नोति तथाऽपि तत्तद् विषयाणां सूक्ष्माऽतिसूक्ष्ममधिकरणमेवाऽभिवहन् सर्वेन्द्रियार्थानामभिवोढा कथ्यते, यद्यपि प्रत्येकमिन्द्रियं पाञ्चभौतिकमतःसर्वेषामेवकेन्द्रात् पञ्चैव भूतानि वहिर्गच्छन्ति वृत्तिकराणि कथ्यन्ते तथाऽपि यस्मिन्निन्द्रिये यस्य भूतस्य प्राधान्यं तद्भूतमेव सन्निकृष्टविषयाधिकरणसंसर्गात् प्रत्यक्षयोग्यंमहत्त्वमाप्नोति तदेवोक्तं तत् स्वभावाद् विभुत्वाच्च । इन्द्रियोपादानभूतान्यप्रधानानिभूतानि सन्निकृष्टविषयाऽधिकरणसंसर्गादपि प्रत्यक्षयोग्यतां नाप्नुवन्ति तस्मादेकैकेनेन्द्रियेणैकैकस्यैव विषयस्य प्रत्यक्षे नियमःस्यात् । प्राचीनैः––"सक्तुरसाऽभिव्यञ्जकोदकवत्" कुंकुमगन्धाभिव्यञ्जक गोघृतवदित्यादि दृष्टान्तेन ग्राह्यविषयाणामभिव्यक्तिर्वर्णिता, इन्द्रियोपादानभूतानि तु विषयाकाराकारितानि विषयान् ग्राहयन्ति न तु ग्राह्यरूपाण्यपि व्यञ्जयन्तीति महद् वैषम्यमेतयोरिति सुधीभिर्विवेच्यम् । न केवलं पार्थिवं गोघृतमेव गन्धाभिव्यञ्जकं जलसंयोगाद् वह्निसंयोगाच्च गन्धाभिव्यक्तिः प्रत्यक्षसिद्धा । न वा गोघृतं पार्थिवं, पृथिवी स्नेहहीना, घृतं तु स्नेहोत्तममिति प्रत्यक्षसिद्धमितिदिक् ।

चीनी द्रव्यगुण विज्ञान की ऐतिहासिक प्रगति

(१३६८ से १६४३ ई० के मध्य)

आचार्य बनारसी दास गुप्त बी० ए०, ए० एम० एस०

सन् १३६८ में किसानों की क्रान्ति के फलस्वरूप 'मिंग' राज्य का प्रादुर्भाव चीन में हुआ। १६ वीं शताब्दी में चीन में अनेक आविष्कार हुए क्योंकि सांस्कृतिक, राजनैतिक एवं आर्थिक दृष्टि से चीन के लिए यह स्थिरता का काल कहा जाता है। चिया चिंग (१५२२-१५६६) का राज्यकाल चीन में स्वर्ण युग कहा जाता है। चिकित्सा के क्षेत्र में, विशेष औषधि क्रिया विज्ञान ने इस काल में आश्चर्यजनक प्रगति की।

इसका कारण यह है कि १५ वीं शताब्दी के प्रारम्भ में चीन ने जहाजों का निर्माण कार्य प्रारम्भ किया। चेंगहु ने सात वार अपने जहाज पर दक्षिण समुद्र की यात्रा की, कुछ जहाज तो अफ्रीका तक भी पहुँच जाते थे। इस प्रकार यह यात्री विदेशों की वनस्पतियों का परिचय प्राप्त करते थे और साथ इन देशों की चिकित्सा विधि से भी परिचित होते थे। उष्ण कटिबन्ध में प्राप्त कुछ आश्चर्यजनक वनस्पतियों का इन यात्रियों ने उल्लेख किया। कुचेह और कुंगचेन के कार्यों ने चीनी साहित्य को इस दिशा में विशेष रूप से समृद्ध किया।

१३वीं शताब्दी में ली कु ने निश्चित किया कि पाचन ही स्वास्थ्य का मूलाधार है और इसी की दुर्वलता के कारण शरीर में रोगों का प्रादुर्भाव होता है। १४ वीं शताब्दी के चु चेन हेंग ने चिकित्सकों का ध्यान पथ्य की ओर विशेष रूप से आकृष्ट किया। मिंग राज्यकालीन (१३६८-१६४३) चिकित्सा सवन्धी प्रगति उपर्युक्त दो (ली कु और चु चेन हेंग) वैज्ञानिकों से विशेष रूपेण प्रभावित हुई। इस काल में चिकित्सकों ने पथ्य पर विशेष रूप से ध्यान दिया, परिणामतः इस विषय पर अनेक उपादेय ग्रन्थों का निर्माण सम्भव हो सका। दुर्भिक्ष काल में चिन्तित वैज्ञानिकों ने नवीन भक्षणीय वनस्पतियों को ढूँढा और अपने देशवासियों की रक्षा की और अप्रत्यक्षतः चिकित्सा क्षेत्र भी उनसे प्रभावित हुआ। इस काल की दो प्रतिनिधि देन यह हैं यथा "दुर्भिक्षकालीन द्रव्यगुण विज्ञान' और 'वन्य वनस्पतियों का विस्तृत अभिलेख।"

दार्शनिक दृष्टि से मिंग राज्यकाल में चु सी का प्रभाव सर्वाधिक रहा। कन्फ्यूसिस दर्शन का यह एक अधिकारी विद्वान था। कन्फ्यूसिस दर्शन पर किये गये इसके भाष्य ने इस क्षेत्र में नवीन मानकों का सृजन किया। मिंग राज्यकाल के विद्वान अपने चतुष्पादीय (Four Leggers) निवन्धों को इसकी अनुमति के विना प्रामाविक नहीं समझते थे। यह एक भौतिक-विकासवादी व्यक्ति था और इसके ज्ञान और अनुसन्धान को विकसित एवं विस्तृत करने की लगन थी। और धि चिकित्सा भी अनुसन्धानीय वस्तु होने के कारण स्वभावतः इस ओर लोग आकृष्ट हुए। परिणामतः औषधि चिकित्सा के क्षेत्र में विभिन्न उपादेय ग्रन्थों का निर्माण इस काल में हुआ, जिनमें निम्न प्रमुख हैं— "द्रव्यगुण विज्ञान परिचय", "द्रव्यगुण विज्ञान के आवश्यक तत्व", द्रव्यगुण विज्ञान सम्बन्धी निबन्धों का संग्रह आदि।

इस प्रकार इस कालमें इतना अधिक कार्य हुआ जिसको शृंखलाबद्ध कर चिकित्सकों के समक्ष प्रस्तुत करने की अत्यन्त आवश्यकता थी। इस ऐतिहासिक आवश्यकता की पूर्ति १६ वीं शताब्दी के अन्त में भी ली-सी-चिन ने की। उन्होंने अपनी कृति का नाम 'पेन टासो कांगमु' रखा। द्रव्यगुण विज्ञान के सम्बन्ध में यहाँ विस्तृत और आधुनिकतम विवेचन उपस्थित किया गया। सुविधा की दृष्टि से मिगराज्य में हुई चिकित्सा, विशेषतः द्रव्यगुण विज्ञान सम्बन्धी प्रगति को तीन वर्गों में विभक्त किया जा सकता है। यथा (१) ली-शी-चिन के कार्य (२) इससे पूर्ववर्ती अभिलेख (३) इसके उत्तरकालीन कार्य।

ली-शी-चिन से पूर्ववर्ती साहित्य—शुंग राज्य के बाद चिकित्सा सम्बन्धी अनुसन्धानों में एक नया जीवन आया। चांग यान-सु, ल्यु-वान-सु, ली-कु, चुचेन हेंग एवं इस काल के अन्य अनेक विद्वानों ने चिकित्सा जगत में नये सिद्धान्तों को

जन्म दिया। साथ ही औषधियों के प्रभाव का भी नये तरीकों से वर्णन प्रारम्भ किया। उदाहरणार्थ चांग-यान-सु ने अपनी कृति चियाह-कु-चिया-चेन (चिया कु की निधि) मेंकहा है कि औषधियों का प्रयोग द्वादस चिंगस (Vascular System) के आधार पर करना चाहिये। ली-कु ने अपनी कृति युंग-या-फा-हिंसिंग (औषधि प्रयोग के नियम) में औषधियों का उनके प्रभाव के अनुसार वर्गीकरण किया, यथा सेंग (वर्धक), चियांग (ह्रासक), फु (उत्प्लवनशील) और चेन (निमज्जनशील)। यान और मिंग राज्य काल के चिकित्सकों ने,जो अबतक इन पूर्ववर्ती आचार्यों का अनुसरण करते रहे थे,देखा कि शुंग राज्य काल में निर्मित चेंग-ली-पेन-टासो (वर्गीकृत द्रव्य गुण विज्ञानं) की परिधि अब उनके लिये पर्याप्त नहीं है। एतदर्थ औषध क्रिया विज्ञान संबन्धी विस्तृत एवं विकीर्ण आंकड़ों को श्रृंखलाबद्ध कर आधुनिकतम बनाने की दृष्टि से दो ग्रन्थों का निर्माण हुआ। पेन-टासो-फा-हुई (द्रव्यगुण सम्बन्धी विवेचन) का निर्माण हसु-येन-युन ने और टांग-येह-पेन-टासो (द्रवौषधिगुण विज्ञान) का निर्माण वांग-हा-कु ने किया। पेन-टासो हुई-पियन (द्रव्य गुण संग्रह) इस काल का अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। इसके निर्माता वांग ची हैं। ली-शी-चिन ने कालान्तर में इसे अशुद्धियों से भरपूर बतलाया।

वांग हु-कु और हसु--येन -चुन ने अपनी कृतियों में द्रव्यों का वर्गीकरण करते समय परम्परागत पद्धति का ही अनुसरण किया, यथा, हर्ब, वृक्ष (ट्रीज), वनस्पति, पक्षी, पशु, धातुज खनिज आदि-आदि। वांगलुन ने सर्व प्रथम १४८ में अपनी कृति पेन-टासो-ची -यु (द्रव्यगुन विज्ञान के आश्यक तत्त्व) में औषधियों का विभाजन औपशमिक प्रभाव के अनुसार किया। उस ग्रन्थ में और अशुद्धियाँ हैं यथा कोरीडेलस एम्बीगुआ (Corydalis ambigua) जैसी शामक एवं जयपाल (पा-टाटु) जैसे विरेचक द्रव्य की गणना रक्त स्रावक वर्ग में की जाती है। एक ही औषधि का अनेक वर्गों में भी उल्लेख पाया जाता है। इन सभी न्यूनताओं के होते हुए भी, औषधियों के वर्गीकरण की दृष्टि से यह एक महत्वपूर्ण कदम था।

७३ वर्ष के बाद १५६५ में चुन-चिया-मो ने उपर्युक्त आधार पर ही एक नवीन कृति का निर्माण किया। इसका नाम पेन टासो मेंग चुआन (परिचयात्मक द्रव्यगुण विज्ञान) रखा गया। लेखक को ही इसे प्रकाशित करने में [illegible] समय लगा और इस काल में पांच बार इस का संशोधन किया गया। वांग-लुन के वर्गीकरण का ही अनुसरण इस कृति में किया गया है। ७४२ प्रकार के औषधीय तत्त्वों का निर्देश इसमें किया गया है पर इनमें से ४४७ प्रकारों का ही विवेचन किया गया। इस कृति की विशेषता यह है कि औषधियों के उत्पत्ति स्थान का विवरण विस्तार से दिया गया। एट्रैकटाइलिस ओवेटा (Atractylis ovata) को उत्पत्ति भेद से चो-मु और शो-मु कहा गया। प्रथम की उत्पत्ति चे-कियांग में और द्वितीय की अनहवाई में होती है। इसी प्रकार कोनियो सेलिनम यूनी विटेटम (Conioselinum univittatum) को या हिंसिंग चुंग को चिंग-हिंहिसग, फु हिंसिंग, और टई हिंसिंग में विभिन्न किया गया। इन तीनों की उत्पत्ति क्रमशः कुआनचांग, फुचुन और टाइचु में होती है। भौतिक गुण धर्म के आधार पर भी कुछ द्रव्यों का विवेचन इस लेखक ने किया। स्कूटेलेरिया वाइ कैलेन्सिस (Scutellaria baicalensis) को घन और श्लथ कला कहा गया। इस लेखक ने इन्हें क्रमशः टीज फेंग और सु-चिन कहा।

आहारीय द्रव्य गुण विज्ञान--इस वर्ग की उल्लेखनीय कृति जीह-युंग-पेन-टासो (दैनिकोपयोगी द्रव्यगुण विज्ञान) है। १३२९ में वु-जुई ने इसका निर्माण किया। इसने भक्ष्य पदार्थों को नौ वर्गों में विभक्त किया। यथा चावल, धान्य, वनस्पति, फल, पक्षी, पशु, मछली, कृमि और मसाले। इस लेखक का उद्देश्य भक्ष्य पदार्थोंमें से ऐसेद्रव्यों का यहाँ चयन करना था जो स्वास्थ्य का संरक्षण और रोग का निवारण कर सके। १६ वीं शताब्दी में लु-हो ने भी अपनी कृति सिह्-वु-पेन टासो (भोजन सम्बन्धी द्रव्यगुण विज्ञान) में भी इसी वर्गीकरण का प्रयोग किया पर इन्होंने चावल और धान्य को संयुक्त कर एक वर्ग कर दिया और जल का एक नया वर्ग जोड़ दिया। इस प्रकार संयुक्त संख्या ९ अपरिवर्तित रही। दैनिकोपयोगी द्रव्यगुण विज्ञान में उत्तरकालीन कृति की अपेक्षा द्विगुण द्रव्यों का विवेचन किया गया है, पर भोजन सम्बन्धी द्रव्यगुण विज्ञान में पूर्व कृति की अपेक्षा रोग निवारक योगों का बाहुल्य पाया जाता है। भोजन सम्बन्धी द्रव्यगुण विज्ञान के लेखक ने प्रत्येक वर्ग पर अपनी टिप्पणियाँ दी है जो वस्तुतः अत्यन्त महत्वपूर्ण है। उदाहरणार्थ चावल और धान्य वर्ग के सम्बन्ध में विवेचन करते हुए लु-हो ने कहा [illegible] में पौष्टिक तत्त्व अधिक होता है, अतः इनका

उत्पादन बढाना चाहिये। वनस्पतियों के मृदु विरेचक और रसायन प्रभाव का भी उल्लेख इस लेखक ने किया। मांसाहारी देश के इस ऐतिहासिक लेखक ने निरामिष या शाकाहार को ही स्वास्थ्यप्रद बतलाया है और यदाकदा ही मांस सेवन करने की सिफारिश की है। एतदर्थ १४ वीं शताब्दी के महान चिकित्सक चु-चेन-हेंग का आधार इसने प्रस्तुत किया कि धान्य का ही प्रयोग स्थायी खाद्य पदार्थ के रूपमें करना चाहिए क्योंकि मांस सेवन से अत्यधिक ऊष्मा उत्पन्न होती हैं। मिंग राज्यकाल के अधिकांश चिकित्सक इस सिद्धान्त का समादर करते थे।

चेंग-टेह (१५०६-१५२१) के राज्यकाल में वांग-चिंग ने लु-हो की मौलिक पाण्डुलिपि को खोज निकाला और किंचित संशोधन के साथ इसे अपने नाम से प्रकाशित करवाया। कोई विशेष परिवर्तन इस लेखक ने नहीं किया केवल वनस्पति और मांसवर्ग में कुछ नये द्रव्यों का संयोजन किया गया—साथ ही जलवर्ग से दश द्रव्यों को निकाल दिया। वस्तुतः इस संस्कर्ता ने कोई अपना महत्त्वपूर्ण योगदान नहीं किया। कालान्तर में इसी कृति में कुछ और परिवर्तन कर ली-टंग-यान ने अपने नाम से प्रकाशित कराया। इस प्रकार १६ वीं शताब्दी में शु-हो, वांग-यंग, ली-टंग-यान और हुसेह्-की के नाम से चार ग्रन्थों का प्रकाशन हुआ, पर यह सभी 'दैनिकोपयोगी द्रव्यगुण विज्ञान' के रूपान्तर मात्र थे।

इस वर्ग की एक अन्य कृति 'शि-चियन-पेन टासो' (आहारीय द्रव्यगुण विज्ञान) है। इसका सृजन निंग-यान ने किया। १५९२ का संस्करण आज भी चीन में उपलब्ध है। इसके वर्गीकरण की पद्धति पूर्ववर्ती ग्रन्थों की अपेक्षा भिन्न है, साथ ही द्रव्यों का वर्णन क्रम भी बदला हुआ है। इसमें सामान्य भोज्य द्रव्यों का ही संग्रह किया गया है। द्रव्यों का वर्णन संक्षिप्त और स्पष्ट है। वर्गोपवर्गों का सुव्यवस्थित वर्णन दिया गया है। हरिण का वर्णन बे-सनं, रक्त, वृक्क, शृंग मांस और शृंग में विभक्त कर किया है। ली-शी चिन की कृतियों पर इस कृति का प्रभाव पड़ा प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त चीनी चिकित्सकों ने नवीन भोज्य पदार्थ खोजने की दिशा में भी उल्लेखनीय प्रयास किये। इन्हें भी कालान्तर में लिपिबद्ध किया गया। १४०६ में चाऊ-हसिन-वांग ने चिऊ हवांग पेन टासो (दुर्भिक्ष निवारक द्रव्यगुण विज्ञान) का निर्माण किया। भूमिका के अनुसार इस प्रकार की कृतियों के लेखक इन वनस्पतियों को अपने गृहोद्यानों में उगाते थे और बाद में चित्रकार की सहायता से इनके फल-पुष्प, मूल, तना, वल्कल और पत्र आदि का विस्तृत विवरण प्रस्तुति करते थे। औषधि का नाम, उद्भव, भौतिक गुणधर्म और उसे पकाने की पद्धति का भी उल्लेख उसमें किया गया है। इस कृति में ४१४ वनस्पतियों का उल्लेख पाया जाता है। इस में से १३८ का तो उल्लेख पूर्ववर्ती चिकित्सा ग्रन्थों में मिल जाता है, केवल २७६ का वर्णन ऐसा है जिसे नवीन कहा जा सकता है। वनस्पति विज्ञान की दृष्टि से यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति हैं।

मिंग राज्यकाल में अनेक पद्यबद्ध रचनाओं का भी संग्रह पाया जाता है। विषय गाम्भीर्य की दृष्टि से इनका विशेष महत्त्व तो नहीं हैं पर इन पद्यबद्ध कृतियों ने द्रव्यगुण सम्बन्धी ज्ञान में को जन सामान्य प्रचलित होने में सहायता प्रदान की। इस वर्ग की सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति, जिसका विस्तृत प्रचार हुआ चु-चिआह-या-हिंसिग-फु (औषधि सम्बन्धी पद्यावली) है।

ली-सी-चिन का काल——

'वर्गीकृत द्रव्यगुण विज्ञान' प्रकाशित होने के ४०० वर्ष बाद तक या मिंग राज्य के मध्य तक कोई अन्य महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रकाशित न हुआ। साथ ही इस काल में अनुभवपूर्ण प्रचुर सामग्री एकत्र हो गयी। इन वृद्ध परम्परानुभव प्रयोगों, प्रभावों और अनुभवों को क्रमवद्ध करने की एक महती आवश्यकता थी। १५०५ में ल्यु-वेन-नई एवं अन्यों ने, प्रशासकीय संरक्षण में, पेन-टासो-पिन-हुई-चिंग या द्रव्यगुण का प्रकाशन सम्भव न हो सका। साथ ही केवल ४६ नये द्रव्यों का समावेश इसमें किया जा सका।

मिंग राज्यकाल सर्वाधिक महत्वपूर्ण ऐतिहासिक प्रकाशन पेन-टासो कांग-मु (कम्पेन्डियम आफ मैटेरिया मेडिका) है। इसका लेखन इस काल के मनीषी विद्वान ली-शी-चुन ने किया। ली-सी-चुन (१५१८-१५९३) का जन्म हृयपेह प्रान्त के ची चुन नामक स्थान पर हुआ। इनके परिवार में परम्परा से ही चिकित्सा व्यवसाय होता चला आ रहा था। इन्होंने १४ वर्ष की वय में ही काउन्टी परीक्षा उत्तीर्ण कर ली। युवावस्था में इसे क्षय हो गया पर ३० वर्ष की वय में यह क्रियाकुशल चिकित्सक बन गया। चिकित्सा व्यवसाय आरम्भ करते ही इन्होंने द्रव्य गुण विज्ञान

सम्बन्धी एक उपयोगी पुस्तक की आवश्यकता अनुभव की। १५५२ में उन्होंने इस कार्य को स्वयं करने का संकल्प किया और एतदर्थ विस्तृत अध्ययन प्रारम्भ कर दिया। वांग-शी-चिन ने इस प्रतिभाशाली विज्ञान चिकित्सक की कृति की भूंमिका लिखते हुए कहा कि ली-शी-चिन ने अपनी कृति को सर्वांगपूर्ण बनाने के लिए समग्र चीनी साहित्य का (चिकित्सा या अन्य) गम्भीर मन्थन किया, और जो भी उपयुक्त सामग्री उन्होंने जहाँ से मिली उसे क्रमवद्ध कर वैज्ञानिक रूपमें इसे प्रस्तुत किया। इस कार्य को सम्पन्न करने में ली-शी-चिन को ३० वर्ष लगे और ८०० से अधिक विद्वानों की कृतियों का सन्दर्भ इसमें समाविष्ट किया गया। लेखक ने स्वयं अपनी भूमिका में ७५८ ऐसी कृतियों का उल्लेख किया है, जिनमें २१ प्राचीन प्रव्यगुण विज्ञान की, २७७ चिकित्सा शास्त्र विशेषत: योगपत्रों की और ४४० दर्शन और इतिहास की पुस्तकें हैं।

ली-शी-चिन की कृति पर सर्वाधिक प्रभाव चेंग-हु-चिग-शियाह्-चेंग-पेन-टासो नामक कृति का पड़ा। इस अमूल्य कृति में १७६४ द्रव्यों का उल्लेख किया गया है जिसमें से अनेकों की पुनरावृत्ति भी की गयी है। यी-ह्वेसेह्-कांग-यु- (संक्षिप्त चिकित्सा) और शिह्-चेन-पेन-टासो (आहारीय द्रव्यगुण विज्ञान) का भी पर्यालोचन सूक्ष्मता से किया गया। इनउभय कृतियों में एक ही द्रव्य विभिन्न नामों से विभिन्न स्थानों पर या विभिन्न द्रव्यों को एक ही नाम से सम्बोधित कर दिया गया है। इन सभी त्रुटियों का परिमार्जन करते हुए ली-शी-चिन ने १८९२ द्रव्यों का समावेश अपने पेन-टासो कुंग-यु (संक्षिप्त द्रव्यगुण विज्ञान) में किया। इनमें से १४७९ द्रव्य चेंग-हु-चिग-शियाह्-चेंग-पेन-टासो से, ३४३४ द्रव्य यान और मिंग राज्यकाल में प्रस्तुत चिन नामक विद्वान की कृति पेनटासो (द्रव्यगुण विज्ञान) से और ३७४ नये द्रव्यों का समावेश ली-शी-चिन ने स्वयं किया। इस लेखक ने निम्न वर्गीकरण प्रस्तुत किया—

पशुवर्ग (कृमि, मछली, मोलुस्कं, शंख आदि, पक्षी, चतुष्पाद और मनुष्य) औषधि	४४४
वनस्पति वर्ग (हर्व्स ६१० और धान्य, वनस्पति फल और वृक्ष ४८४)	१०९४
धातु एवं खनिज वर्ग	२७५
दैनिक उपयोग की वस्तुएँ	७९
कुलयोग	१८९२

शुंग राज्यकाल में निर्मित चेंग-ली-पेन-टासो (वर्गीकृत द्रव्यगुण-विज्ञान) में द्रव्यों को १२ वर्गों में विभक्त कर वर्णित किया गया है यथा (१) जेड्स और पाषाण (२) हर्व्स (३) वृक्ष (४) मनुष्य (५) पशु (६) पक्षी (७) कृमि (८) मछली ९ फल (१०) चावल एवं अन्य धान्य (११) वनस्पति और (१२) चिकित्सा में अप्रयुक्त पर ज्ञात द्रव्य। इस वर्गीकरण को अस्वीकार करते हुए ली-शी चिन ने अपना षोडश पर्याय वर्गीकरण प्रस्तुत किया, जैसा कि उन्होंने अपनी भूमिका में कहा कि जेड्स-पाषाड, जल और मृत्तिका को एक ही में मिला दिया गया है। कृमि-मछली और कोलुस का भी केन्द्र ठीक से नहीं किया गया है। इस समय एक महत्वपूर्ण बात यह थी कि चिकित्सकों में पंचतत्त्वों का भी बोलवाला था। अत: ह्वां-ची-चिग-शियाह्-शु-का अनुसरण करते हुए ली-शी-चिन ने जल-पृथिवी-अग्नि नामक तीन और वर्गों को जोड़ दिया। चेडस और पाषानों का समावेश धातु और खनिजों में कर दिया गया। कृमि और मछली के वर्ग को एकत्र कर इसे कृमि-मछली और कोलूस में परिवर्तित कर दिया। दैनिक प्रयोग की वस्तुओं का एक नया वर्गीकरण जोड़ दिया और चिकित्सा में अप्रयुक्त पर ज्ञात वर्ग को हटा दिया।

पेन-टासो-कांग-मु (ली-शी-चिन लिखित) में ६१० हर्व्स और १८० वृक्षों को औषधि द्रव्य के रूप में वर्णित किया गया है। हर्व्स को पुनः उत्पत्ति एवं गुणों के आधार पर १० उपवर्गों में विभक्त कर दिया गया है। यथा (१) पर्वतीय, (२) सुगन्धित (३) मैदानी, (४) विषैली (५) आरोही (६) कृषि विनाशक वीह्स (७) चट्टानों की सन्धि में होनेवाली (८) लघु Moss (९) विविध और और (१०) ज्ञात पर अप्रयुक्त हर्व्स। वृक्षों को भी उनके गुणों के आधार पर ६ ९ उपवगों में नियुक्त कर दिया गया है। यथा (१) सुगन्धित (२) दीव (३) क्षय (४) पराश्रयी (५) वसन्त में वर्धनशील और (६) विर्ध। अन्य वर्गों के भी इसी प्रकार उपविभाग किये गये हैं। इस प्रकार कुल मिला कर इस पुस्तक में ६० उपविभाग हैं।

इससे पूर्व की पुस्तकों में वनस्पति वर्ग की औषधियों का वर्णन काफी संदिग्ध है। कभी-कभी एक ही वृक्ष को दो नामों से वर्णित होने कारण दो समझ लिया गया। के-पो के राज्यकाल में निर्मित द्रव्य गुण विज्ञान में इसका एक महत्व-पूर्ण उदाहरण पाया जाता है। अरीसीमिया जापानिकम

(Arisaemia japohicum) को कुछ स्थानों में त्यिन-नान-हिंसग और कुछ स्थानों में हु-चांग कहा जाता था इस लिये उस समय के लोगों ने उसे पृथक्-पृथक् वनस्पति समझा। इसी प्रकार दो पृथक्-पृथक २ गुण धमवाली वनस्पतियों को भी एक समझनी की भ्रान्ति विद्वानों को हुई। निर्गुण्डी (मान-चिंग) और पालक (टीस-अह को एक ही समझ लिया गया।

सु-सुंग ने अपनी कृति टु-चिंग-पेन-टासो (चित्रमय द्रव्यगुण-विज्ञान) की रचना तत्तत्स्थानों में रहनेवाले व्यक्तियों द्वारा भेजी गयी सूचना या वनस्पतियों के आधार पर किया। इस विद्वान लेखक ने भ्रमण कर प्रत्यक्ष ज्ञान करने की चेष्टा नहीं की। ली-शी-चिन ने इस विधि को अनुपयुक्त वतलाया। ली-शी-चिन ने स्वयं अनेक स्थानों का भ्रमण किया। अनेक स्थान से नमूनों का संग्रह कर उनका मिलान किया और उनके फल, पुष्प, मूल, तना, पत्ती, गंध, स्वाद आदि का विस्तृत वर्णन किया। उसने अनेक वनस्पतियों को एकत्र कर उनका विश्लेषणात्मक अध्ययन किया। इसने कहा कि चु-काउ-टासो का तना श्वेत, चित्रित और इसकी पत्तियों अरिष्टक की पत्तियाँ से कुछ बड़ी और हुकुमदाज (Carpensium abrotanoides) से कुछ पतली होती है। इसके वृन्त सूक्ष्मलोमों से आहत होते हैं आदि-आदि।

इस संक्षिप्त विवरण में ली-शी-चिन की इस कृति के साथ न्याय करना सम्भव नहीं फिर भी चिकित्सा और द्रव्य गुण-विज्ञान पर इसके प्रभाव का यहाँ संक्षिप्त विवरण न देना भी अनुपयुक्त ही होगा।

सर्वप्रथम तो इस लेखक ने चीन में १६ वीं शताब्दी तक द्रव्यगुण-विज्ञान सम्बन्धीप्रगति का विस्तृत अवगाहन किया। प्रस्तुत साहित्य का सर्वांगीण अध्ययन कर प्रत्येक औषधि का ऐतिहासिक और रोगोपशामक महाव का विवेचन किया। उस समय तक उपलब्ध समग्र साहित्य का सन्दर्भ प्रस्तुत किया गया। इस प्रकार २७७ पुस्तकों से ११००० औषधियों का सचित्र प्रयोगात्मक निर्देश के साथ वर्णन किया गया।

पेन-टासो-कुंग-मु में वर्णित १८९२ औषधियों में से ३१४ तो इसी विद्वान लेखक की खोज की हुई है। इनमें से ८६ हर्व्स प्राचीन योगपत्रों या उस समय अनसामान्य में प्रचलित योगों से ली गयी। ये औषधियाँ लेखक को दक्षिण-पूर्व प्रान्तों से या दक्षिण समुद्र से मिली। इस का प्रथम कारण तो यह था कि ली-शी-चिन स्वयं मध्य चीन का निवासी था और उसे इन क्षेत्रों में अनुसन्धान कार्य आसान था दूसरे दक्षिण में सुंग राज्यकाल के बाद विदेशी वनस्पतियों के सम्बन्ध में पर्याप्त जानकारी बढ़ी इस से भी लेखक को सहायता मिली। नवीन औषधियों में से कुछ के नाम इस प्रकार हैं :—यथा-टु-लो-(धुस्तूर), या-पियेन (अहिफेन) शा-चिचु (सुषव) पु-टाओ-चिपु (द्राक्षा सुरा), चांग नाऊ (कर्पूर) आदि-आदि। इसी काल से औषधियाँ प्रधानरूप से चीन में प्रयुक्त होती चली आ रही हैं। १० वीं शताब्दी के बाद से चीन में प्रयुक्त कुछधान्यों और वनस्पतियों का भी समावेश उसने अपनी कृति में किया। यथा-मवका, सेम, शकर कन्द, सीताफल आदि-आदि।

रासायनिकों को उसने कड़ी फटकार दी। टाओस्टि रासायनिकों के प्रति ली-शी - चिन के काल तक यह प्रवृत्ति थी कि अधिक काल तक कुछ विशिष्ट औषधियों को लेने से आयु का वर्धन होता है। पेन-टासो-मेंग-चुआन (द्रव्यगुण विज्ञान एक परिचय) में अनेक ऐसे उद्धरण हैं कि जिनमें औषधियों के चमत्कारिक प्रभाव का वर्णन किया गया है। ली-शी-चिन के ने इसकी तीव्र भर्त्सना की। पारद की आयुष्य क्रिया का वर्णन चीनी चिकित्सा साहित्य में पाया जाता है। टा-मिंग द्वारा निर्मित जिद दुआ-चु-चिया-पेन-टासो के अनुसार पारद एक निर्विष औषधि है। चेन-चुआन ने अपनी कृति या-ह्सिंग-मेन टासो में इसके औषधीय गुणों की चर्चा करते हुए पारद को जीवनीय औषधियों का मूल माना है। कु-हुंग ने भी अपनी कृति या-पु-टेज में इसे आयुष्य कहा है। ली-शी-चिन ने इसके सम्बन्ध में कहा कि गत ६ राज्यों में आजतक यह भ्रान्त धारणायें प्रचलित है पर जिन लोगों ने भी आयु-वर्धन के लिए पारद का प्रयोग किया वे सभी रोगग्रस्त हुए और कालान्तर में वे विष-प्रभाव से कालकवलित हुए। द्रव्यगुण-विज्ञान जैसे वैज्ञानिक विषय में इस प्रकार के वर्णनों को ली-शी-चिन घातक बतलाया। पारद के अतिरिक्त हुआंग लियन (मसीस) युआन हुआ (Daphne genkwa) और (Alisma platago) का भी आयुवर्धन के लिये किया जाता था इन सभी इस लेखक निन्दा की। इसने कहा कि ये सभी विषैली औषधियाँ हैं। अतः दीर्घकाल तक इनका प्रयोग नहीं करना चाहिये। सोमल की चर्चा करते हुए उन्होंने इसे तीव्र विष बतलाया और का कि सुंग राज्यकाल

में इसकी विषाक्तता का उचित मूल्यांकन नहीं किया जा सका। अपने इस कथन की पुष्टि के लिये उदाहरण भी इसने प्रस्तुत किये।

अपने समय में चलित इस सिद्धान्त का भी उसने प्रतिवाद किया की सभी संजीव प्राणियों की उत्पत्ति एक साथ हुई है। जैसा कि चीन में उस समय प्रचालित था कि मछलियों की उत्पत्ति वाटरवीड्स के बीजों और सो-यांग (Cymomorium coccineum) की उत्पत्ति अश्वी-शुक्र से होती है, ली-सी-चिन ने अपने प्रयोगात्मक अनुभवों के आधार पर बतलाया कि मत्स्यडिम्बों का वाटरवीड्स पर पोषण मात्र होता है जिससे कालान्तर में मछलियों की उत्पत्ति होती है। सो-यांग को इसने एक वनस्पति बतलाया।

'परोपजीवी जीवाणु शरीरस्थ पाचन की क्रिया में सहायता पहुँचाते हैं। इस विश्वास को इस विश्रुत और लोकप्रिय विद्वान ने विज्ञ चिकित्सकों की विज्ञ सम्मति कहा। अपने प्रयोगात्मक अनुभव के आधार पर एक रोगी का उदाहरण देते हुए कहा है कि टंग-हुआ (दग्धवर्तिका) के भक्षण से रोगी में कृमि की उत्पत्ति हुई और कृमिहर द्रव्यों के प्रयोग से इसे लाभ हुआ।

ली-शी-चिन के निष्ठापूर्ण निरन्तर कर्माभ्यास ने औषधियों के विवेचन की दिशा में नये मानदण्डों का सृजन किया, इससे पूर्ववर्ती ग्रन्थों के लगभग २००० औषधियों का वर्णन किया गया है, पर उनके वर्णनक्रम से ऐसा प्रतीत होता है कि सभी द्रव्य सभी रोगों पर प्रशस्त प्रभाव करनेवाले हैं। पर ली-शी-चिन ने औषधियों की औपशयिक प्रभाव सरणि का अध्ययन करने की दृष्टि से विस्तृत परीक्षण किये। परिमाणतः अब तक की अनेक भ्रान्त धारणाओं को निर्मूल करने का श्रेय इस विद्वान लेखक को ही प्राप्त हुआ है, इतना ही नहीं प्रत्युत इन निष्ठापूर्ण प्रयासों से अनेक लोक कल्याणकारी आविष्कारों का भी जन्म हुआ। यथा येन-दु-सुआ (Copydalis Ambigua) वेदनाहर, चांग-शान (Dichroa Febrifuga) विषमज्वर, चियन नियु (कालादाना विरेचक, हुआंग चिन (Scutta Laria Baicalen) ज्वरहर, शी-मु-तित्सु (गूदा Leonurus sibiricus) रजःस्रावपर करने वाली, साल-ची (gynurapinnetifida) रक्तस्राव निरोधक, हि सिग-जु (Elbholtria Cristata) मूत्रल और जेन-शेन (Ginsemg) समुत्तेजक जिसे इस से पूर्व सभी रोगों कोऔषधि माना जाता था आदि-आदि।

अनुसन्धान कार्य में संलग्न औषधिक्रियावेत्ताओं के लिये पेन-टासो-कुंग-यु (ली-शी-चिन का संक्षिप्त द्रव्यगुण-विज्ञान) आज भी एक निधि है। वानस्पतिक औषधियों की दृष्टि से यह और भी विशद है इस में सहस्रों कुलों की औषधियों का उल्लेख मिलता है। आधुनिक चिकित्सा पर अनुसन्धान कार्य करनेवालों को भी इस कृति ने प्रचुर सामग्री प्रदान की है। श्वास की विश्वविख्यात औषधि इफेड्रीन की मूल वनस्पति इथेड्रावल्गरिस का उल्लेख इसीने सर्वप्रथम किया था। आज अनेक अन्य औषधियों पर अनुसन्धान कार्य चल रहा है।

१५९६ में पेनटासो-कुंग-मु का प्रकाशन हुआ। इसी समय से इसका इतना अधिक प्रचार हुआ कि इसे अनेक वार प्रकाशित करना पड़ा। लगभग ३०० वर्ष तक यह अमूल्य ग्रन्थ चीनी चिकित्सकों का अनन्य सखा बना रहा और इसने अन्तर्राष्ट्रीय ख्याति भी प्राप्त की है। १६०३ में इस कृति ने जापान में प्रवेश किया और लोकप्रियता प्राप्त की। १७८३ और १८२९ में दो बार इसका जापानी भाषा में अनूदित कर प्रकाशित किया गया। अन्य भी अनेक विश्वविख्यात चिकित्सकों या विद्वानों ने भी अंशतः इसे विभिन्न भाषाओं में अनूदित किया या चीनी-चिकित्सा के सम्बन्ध में लिखते समय इसे विशेष रूप से आधार के रुप में प्रस्तुत किया। यथा माइकेल वोयम ने फ्लोरा आफ चाइना (चीन देश की वनस्पतियाँ), जिसका प्रकाशन लैटिन में १६५९ हुआ, इसका आधार लिया। हाल्डे नामक एक फ्रांसीसी विद्वान ने 'चीनी राज्यों का विवरण' लिखते समय चीनी औषधि क्रिया-विज्ञान पर दो अध्याय लिखे जिसमें इसे मुख्याधार माना इसका प्रकाशन १७३५ में हुआ। टाटरी नोव नामक रसियन विद्वान ने भी १८५७ में "मैनुअल आफ चाइनीज मैटेरिया मेडिका" में इसे आधार माना। १९२८ में इसे जर्मन भाषा में अनूदित किया गया। पेन-टासो-कुंग-यु के १० से अधिक अंग्रेजी अनुवाद आज मिलते हैं, इनमें से एक श्री वी० इ० रीड का किया हुआ है, इसके सात खण्ड १९२८ से १९४१ के मध्य प्रकाशित हुए। यदि वैज्ञानिक रूप से इसका अनुशीलन किया जाये तो अभी और सामग्री इससे उपलब्ध की जा सकती है।

ली-शी-चिन—से परवर्ती साहित्य—से

'पेन-टासो-कुंग-मु' के प्रकाशन से चीनी-चिकित्सा-जगत में एक विशेष उत्साह उत्पन्न हो गया। इसने

औषधिक्रिया-विज्ञान के सम्बन्ध में चिकित्सकों की रुचि को ही परिमार्जित नहीं किया प्रत्युत अनुशीलन की दिशा में एक नया सरणि का प्रदर्शन किया। परिणामतः १७ वीं शताब्दी के पूर्वार्ध में औषधि क्रिया-विज्ञान या द्रव्यगुण-विज्ञान के सम्बन्ध में अनेक ग्रन्थ इसकाल में लिखे गये। इनके ली-चुंग-ली द्वारा सम्पादित पेन-टासो-यान-सिह् (द्रव्यगुण-विज्ञान का मूल) विशेष रूप से उल्लेखनीय है। प्रस्तुत कृति के विद्वान लेखक ने वर्णित औषधि द्रव्यों को स्वयं ही रेखाबद्ध भी किया। संग्रहकाल, प्रयुक्तांश (यथा मूल पत्र, पुष्प आदि) और निर्माण-विधि के सम्बन्ध में भी विस्तृत निर्देश पेन टासो-यान-सिह् में पाये जाते हैं। वर्णन की शैली परिमार्जित एवं भाषा सरल और स्पष्ट है। औषधि-निर्माण की व्यावहारिक विधियों का आदर्श निरूपम यहाँ हमें देखने को मिला है।

मिंग राज्यकाल में औषधि-निर्माण के सम्बन्ध में भी विशेष कार्य हुआ। अन्वेषकों ने जिस विशदता से इसका पर्यालोचन किया इसकी तुलना में, ली-कुंग-पाओ-चिन-लुन (औषधि-निर्माण की एक प्रामाणिक कृति) कि जो अभी तक एक प्रमाणिक कृति के रूप में व्यवहृत होती थी, अपर्याप्ति प्रतीत होने लगी। अतः इसकाल में औषधि-निर्माण की अनेक कृतियों का अभ्युदय इस काल में हुआ। जिसमें से 'पा-चिह्-टा-चुआ ने (औषधि-निर्माण-विज्ञान) और 'चुन-पु-ली-कुंग-चिह्-या-हिंसिग-चियाह्' (ली की पद्धति से निर्मित औषधियों का संशोधित विवरण) विशेष रूप से उल्लेखनीय है, प्रथम में ४३९ और द्वितीय में ३३३ योगों का निर्माण-विधि वर्णित है।

इस काल के चिकित्सकों ने औषधोपचार के सिद्धान्तों के विवेचन में विशेष अभिरुचि प्रदर्शित की। अनेक विवरणात्मक विवेचन सामने आये। इस वर्ग की प्रतिनिधि रचना को 'पेन-टासो-कांग-मु-हुई-येन' (द्रव्यगुण-विज्ञान सम्बन्धी निवन्धों का संग्रह) कही जा सकती है। इसके लेखक 'श्री नी-जु-मो' हैं, इसमें तीस से अधिक विश्रुत विद्वानों की रचनाओं का संग्रह है, 'पेन-टासो-फा-हुई' (द्रव्यगुण-विज्ञान एक विवेचन) को आदर्श मान कर ही इसकी रचना की गयी है।

आहारीय विज्ञान के सम्बन्ध में भी लु-हो की कृति शिह्-वु-पेन-टासो (आहारीय द्रव्य गुण-विज्ञान) के आधार पर शिह्-वु-ची-या (आहार के मुख्य द्रव्य) की रचना हुई। 'शांग-यी-पेन-टासो' और शिह्-वु पेनटासो, आहारीय द्रव्यगुण सम्ब्रन्धी ये दो कृतियाँ ली-शिह्-चेन की लिखी बतलायी जाती है और पेन-टासो-कुंग-मु में कहे गये आहार द्रव्यों का ही वर्णन पाया जाता है। 'ये-टासी-यो-लु' (वन्य-वनस्पतियों का अभिलेख) भी उस वर्ग की महत्वपूर्ण कृति है इसका संपादन 'चिऊ-हुआंग-वेन टासो' (दुर्भिक्ष कालीन द्रव्यगुण-विज्ञान) के आधार पर किया गया है। इसमें ४३५ वनस्पतियों का वर्णन है और सभी प्रायः ह्वांग-सान जिले के आस-पास पायी जाती है। इसमें प्रत्येक वनस्पति का चित्र दिया गया है। चित्र भी सभी स्पष्ट और सुन्दर हैं।

संक्षेप में १६ वीं शताब्दी चीनी-चिकित्सा के इतिसहा में अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी जाती है। पूर्व शताब्दी की आर्थिक समृद्धि, शान्ति एवं सुदूर व्यापार जैसी प्रवृत्तियों ने भी इस विकास को और भी पुष्ट किया। चु-हिस के दर्शन "अनुसन्धान और ज्ञान विस्तार" ने भी चीनी-चिकित्सा को विशेष रूप से प्रभावित किया। ली-शी-चिन इस युग का सब से बड़ा द्रव्य-गुण वेत्ता हुआ है, इसने अपनी कृति पेन-टासो-कुंग-मु में १८९२ से अधिक प्रकार के चिकित्सा द्रव्यों का उल्लेख किया है। इसने चीनी-चिकित्सा को ही नहीं अपितु आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान को भी प्रभावित किया है। औषधि-निर्माण की व्यावहारिक विधियों पर भी विस्तृत अनुसन्धान कार्य इस काल में हुआ। दुर्भिक्ष की प्रवृत्तियों ने नवीन खाद्य द्रव्यों को ढूढने में भी सहायता की। परिणामतः दुर्भिक्षकालीन द्रव्यगुण-विज्ञान आदि पुस्तकों की रचना हुई।

चीनी-चिकित्सा-विज्ञान की प्रगति अनेक अंशों में भारतीय चिकित्सा-विज्ञान की ऐतिहासिक प्रगति से मिलती-जुलती है। विस्तृत तुलनात्मक विवेचन किसी अन्य समय में पाठकों के समक्ष उपस्थित किया जा सकेगा पर एक दो शब्द यहाँ भी कहना अनुपयुवत न होगा। 'कोई भी वस्तु औषधि रहित नहीं है' इस चरकोवित का खण्डन भारतीय चिकित्सा के इतिहास में नहीं मिलता। चीन के चिकित्सकों में से कुछ ने एक औषधि वर्ग भी रखा है, यद्यपि कालान्तर के चिकित्सकों ने इसे उचित नहीं माना। चीनी चिकित्सा की सबसे बड़ी विशेषता सचित्र वर्णन शैली है। यदि आयुर्वेद में भी इस प्रकार की परम्परा होती तो संदिग्ध वनस्पतियों का क्षेत्र आज की अपेक्षा कम होता।

श्री ली-कु ने १३ वीं शताब्दी में यह कहा कि 'पाचन ही स्वास्थ्य का मूल है' आयुर्वेद में चरकादि मूल संहिताओं में भी इसके समर्थन में प्रचुरवाक्य मिलते हैं, भारतीय चिकित्सा शास्त्र ऐतिहासिक परम्परा में किसी ने उसका खण्डन नहीं किया है।

अन्त में श्री ली-टो के प्रति विनम्र आभार प्रदर्शित करता हुआ उल्लख का संवरण करता हूँ।

उपप्रधाचिकित्सक दी सेण्ट्रल इन्स्टीच्यूट ऑफ रिसर्च
इन इण्डिजिनस सिस्टम ऑफमेडिसीन—जामनगर }

भ्रम

कविराज पं० रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, आयुर्वेदवाचस्पति

रजः पित्तानिलाद्भ्रमः—माधव निदान १७।१९

रजोगुण, पित्त और वायु इन तीनों के एक साथ प्रकुपित होने से भ्रम की उत्पत्ति होती है। रजोगुण यह सम्पूर्ण चराचर-जगत् के प्राणियों में क्रिया का प्रवर्तक है, पित्त पाक कर्म एवं अग्नि का धर्मी है तथा वात यह "सर्वेन्द्रियाणां उद्योजकः सर्वेन्द्रियार्थानां अभिवोढा, नियन्ता प्रणेता च मनसः" आदि कहा जाता है। अस्तु, शारीरिक दोषद्वय वात एवं पित्त तथा मानसिक दोष रजोगुण दोनों के कारण भ्रम की उत्पत्ति होती है। चरकसंहिता में इसका समावेश सूत्रस्थान के २० वें अध्याय में उल्लिखित ८० वातविकारों के अन्तर्गत "दण्डकश्च, तमश्च, **भ्रमश्च,** वेपथुश्च" के क्रम में किया गया है।

इसके स्वरूप का वर्णन करते हुए लिखा गया है—

चक्रवद् भ्रमतो गात्रं भूमौ पतति सर्वदा।
भ्रमरोग इति ज्ञेयो रजःपित्तानिलात्मकः॥

मा० नि०

इसके अनुसार रोगी यह अनुभव करता है कि उसका शरीर चक्र की तरह घूम रहा है। इस घुमाई के कारण वह देर तक अपने शरीर को सन्तुलित नहीं रख सकता तथा शीघ्र ही भूमि पर गिर पड़ता है। सारे शरीर का घूमना और धरती पर सर्वदा गिरते रहना यह रोगरूप **भ्रम** का लक्षण है। किन्तु साधारणतया सिर में चक्कर आना अनेक रोगों में पाया जाता है, जिसको भी भ्रम कहते हैं। इस आधार पर सर्वशरीर का घूमना और फिर गिर पड़ना यह भ्रमरोग माना जा सकता है तथा केवल सिर में बराबर चक्कर आना किन्तु भूमि पर गिरने जैसी विकट स्थिति न उत्पन्न होना यह लक्षणरूप भ्रम स्वीकार किया जा सकता है।

भ्रम के लिये आधुनिक चिकित्साविद् 'वर्टीगो' (Vertigo) शब्द का प्रयोग करते हैं। 'वर्टीगो' का शाब्दिक अर्थ 'घूमना' (turning round) होता है। इसके दो पर्याय डिझिनेस (dizziness) या गिडीनेस (giddiness) कहे जाते हैं।

भ्रम में रोगी दो प्रकार के चक्करों में से किसी को अनुभव करता है। एक तो यह कि उसका शरीर घूम रहा हो। और दूसरा यह कि आस पास के पदार्थ घूमते प्रतीत होते हों। इन्हीं दोनों प्रकारों की आत्ययिक अवस्था में रोगी गिर पड़ता है।

ह० फ्रेंच ने निम्नलिखित शब्दों में यही कहा है —

Vertigo popularly known as dizziness or giddiness, depends upon a disturbance of the sense of equilibrium. In slight cases the trouble is perceptible to the sufferer either as the apparent movement of motionless objects (objective vertigo) or his own body may appear to be moving in relation to surrounding fixed structures (subjective vertigo). In more severe cases it may lead to reeling or staggering and unless the patient can grasp some fixed support he may fall.

हमारे शरीर के संतुलन का नियमन मस्तिष्क के सैरीबेलम नामक भाग में होता है। सैरीबेलम में शरीर के विविध भागों से जो संज्ञाएँ प्राप्त होती हैं उनके अनुसार सैरीब्रम के मोटर या संचालक-केन्द्रों को सूचनाएँ जाती हैं जिसके कारण किसी भी स्थिति में शरीर के सन्तुलन को कायम रखने के लिए विविध मांसपेशियों में संकोच-विकास किया जाता है। इस कारण संतुलन में विघ्न के दो प्रमुख कारण हो सकते हैं। एक तो सैरीबेलम का रोगग्रस्त होना और दूसरे सैरीबेलम को समाचार पहुँचाने वाले वातपथों में विकृति होना। इस विकृति के कारण सन्तुलन कायम रखने के लिए मस्तिष्क को न उचित ज्ञान हो पाता है और न वह उस दिशा में पेशियों का उचित संकोच-विकास कर पाता है। यह स्मरणीय है कि भ्रम की उत्पत्ति में कान की सेमीसर्क्युलर केनाल्स या नेत्र द्वारा संज्ञाओं की प्राप्ति में सेरीबेलम का समर्थ न होना (अपनी गड़बड़ी से या वातपथों में विकार होने से) बहुत बड़ा कारण है।

कान की सैमीसर्क्यूलर केनाल्स में विकृति होने से विशेष प्रकार का भ्रम होता है। बाह्य केनाल का भ्रम होने पर अनुदीर्घ

तल (हौरीजंटल प्लेन) में वस्तुएँ घूमती हैं। रोगी उसी ओर गिरता है जिधर के कान में विकृति हो। ऊपर की केनाल की विकृति में वस्तुएँ अनुलम्बतल (वर्टीकल प्लेन) में घूमती हैं और रोगी आगे की ओर गिरता है।

कभी-कभी किसी व्यक्ति को चरख या किसी झूले में लगातार घुमाया जाय तो विभिन्न कनालों के अन्तर्द्रव (एण्डोलिम्फ) के प्रैसर में फर्क होने से भी चक्कर आ जाते हैं। ऊँची पहाड़ी या कुतुबमीनार से नीचे देखने पर होने वाले भ्रम का कारण नेत्रों के द्वारा भेजे जाने वाले ज्ञान का सहसा अवरुद्ध होना होता है। पर्वतीय प्रदशों में बस से यात्रा करने पर भी भ्रम होता है। वह व्यक्तियों की वातिक प्रकृति की अत्ययावस्था का परिचायक है।

यह न भूलना होगा कि भ्रम अन्तःकर्ण (Internal ear) का एक प्रमुख रोग है। अतः यदि कोई रोगी भ्रम की शिकायत करता है तो उसके कानों की अच्छी तरह परीक्षा करनी चाहिए। वह सुन सकता है कि नहीं, इसकी भी जाँच की जानी आवश्यक है। कान में रोग न मिलने पर नेत्रों की परीक्षा करना उचित है। नेत्र संचालिनी पेशियों का परीक्षण, रोगी के गिरते समय तिर्यक्दृष्टि (Nystagmus) का होना दशा दशा में अवलोकनीय हैं।

आयुर्वेदीय साहित्य पर दृष्टिपात करने पर भ्रम का लक्षण अनेक रोगों में मिलता है। इनमें कुछ नीचे दिये जाते हैं :––

१. **अजीर्ण**––साधारणजतया सभी अजीर्णों में सिर में थोड़ा बहुत चक्कर आना या सिर की भारी होना अथवा सिर में शूल होना मिलता है। अजीर्ण के उपद्रव के[१] रूप में भी यह पाया जाता है। विदग्धाजीर्ण[२] में भ्रम एक मुख्य लक्षण के रूप में पाया जाता है। अजीर्ण के कारण भ्रम की उत्पत्ति दो प्रकार की होती है। एक तो यह कि अधिक दिन अजीर्ण रहने से शरीर के पोषण में कमी हो गई हो और मस्तिष्क का उचित पोषन न हुआ हो। दूसरे यह कि अजीर्ण से विषता (toxaemia) की उत्पत्ति हो गई हो। अजीर्ण से विसूचिका, अलसक एवं विलम्बिका उत्पन्न होते हैं। तीनों में विषता के लक्षण मिलते हैं और भ्रम की उत्पत्ति कर सकते हैं।

२. **अम्लपित्त**––शास्त्र में अधोग अम्लपित्तमें भ्रममिलता है। ––"तृड्दाहमूर्च्छाभ्रममोहकारि प्रयात्यधो वा विविध प्रकारम्।" (मा०नि००५१)। कफपित्तज अम्लपित्त में–

भ्रमो मूर्च्छारुचिश्छर्दिरालस्यं च शिरोरुजा।
प्रसेको मुखमाधुर्यश्लेष्मपित्तस्य लक्षणम्॥
मा० नि० ५१।१२

तथा वातिक अम्लपित्त में––"तमसो दर्शनविभ्रमविमोहहर्षण्यनिलकोपात्।"–भ्रम मिलता हुआ कहा गया है।

यह भ्रम की उत्पत्ति में रजोगुण, वातदोष एवं पित्तदोष को कारण माना है। अतः अम्लपित्त में पित्त का प्रधानतया कोप होने से एवं अधोग के विशेष पित्तोपसृष्ट होने से तथा वातिक में वातदोष भी सम्मिलित होने से भ्रम की उपस्थिति स्वाभाविक है। कफपित्तज अम्लपित्त में अरुचि, वमन, शिरःशूलादि के प्रमुखतया मिलने के कारण स्वरूप भ्रम मिलना कठिन नहीं है। अम्लपित्त में भी न्यूट्रीशन (पोषण) की कमी प्रधानतया कार्य करती है।

३. **अर्श**––केवल वातार्श में भ्रम का उल्लेख है। रक्तार्श में रक्तक्षय के कारण के निरन्तर उपस्थित रहने से यहाँ भी भ्रम मिलना असम्भव नहीं है।

४. **असृग्दर**––आर्तवस्यातिप्रवृत्तिमें स्त्रियों को भ्रम रूप लक्षण वहुधा मिला करता है। सुश्रुत (शारीर अ०) लिखताहै––

तस्यातिवृत्तौ दौर्बल्यं **भ्रमो** मूर्च्छा मदस्तृषा।
दाहः प्रलापः पाण्डुत्वं तन्द्रा रोगाश्च वातजाः॥

यहाँ आयुर्वेद दृष्टचा वात का प्रकोप होकर भ्रम की उत्पत्ति होती है। आधुनिक मत से रक्त के अतिस्राव से ब्लडप्रेशर घट जाता है जो मस्तिष्क में रक्त की कमी का कारण बन कर भ्रमोत्पत्ति करता है।

५. **आमवात**––आमवात के उपद्रवों में भ्रम मिलता है––तृट्छर्दि**भ्रम**मूर्च्छाश्च हृद्ग्रहं विड्विबद्धताम्।

६. **उदररोग**––केवल पित्तोदर में भ्रम का उल्लेख है–

पित्तोदरे ज्वरो मूर्च्छा दाहस्तृट् कटुकास्यता।
भ्रमोऽतिसारः पीतत्वं त्वगादावुदरं हरित्॥
(अष्टाङ्गहृ० नि. १२)

यहाँ पित्त का प्रकोप, मूर्च्छा की उपस्थिति, एवं अतीसार की प्रवृत्ति से पोषण में बाधा, ये सभी कारण भ्रमकारक है।

७. **उदान वातका आवरण**––जब उदानवात पित्तावृत हो जाती है उस समय भी भ्रम का उल्लेख सुश्रुत में मिलताहै–

---

[१] –मूर्च्छा प्रलापो वमथुः प्रसेकः सदनं भ्रमः।
उपद्रवा भवन्त्येते मरणं चाप्यजीर्णतः॥सु.सू.अ.४६

[२] –विदग्धे भ्रमतृण्मूर्च्छा––मा० नि ६

उदाने पित्तयुक्ते तु दाहो मूर्च्छा भ्रमः क्लमः ।।

उदान वायु के स्थान नाभि, उरः, कण्ठ बतलाये गये हैं तथा उसके कार्यों में वाक्प्रवृत्ति, भाषण गीतादि बतलाये गये हैं। अस्तु उदानवात का स्वरयन्त्र (Larynx) से स्पष्ट सम्बन्ध शास्त्रकारों ने स्वीकार किया है। आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में लेरिंजियल वर्टीगो मिलता भी है--

Laryngeal vertigo is a very rare condition; spasm of the glottis is accompanied by severe giddiness which causes the patient to fall down and he may lose consciousness for a few seconds. Complete recovery ensues in a short time, but the attacks are likely to recur. This trouble may be of an epileptic nature—E. Farquhar Buzzard.

बुझार्ड के इस विवरण में पित्तावृत्त उदानके प्रमुख लक्षण भ्रम और मूर्च्छा दोनों मिलते हैं। सम्भव है उदान वायु का आवरण ही Spasm of glottis का कारण हो। भ्रमरोग का मुख्य स्वरूप **भूमौ पतति सर्वदा** बराबर पाया जाता है।

८. **उदावर्त**--विशेषकर क्षुधा के वेग का निग्रह करने से उत्पन्न उदावर्त में भ्रम मिलता है। चरक संहिता में--कार्श्यदौर्बल्यवैवर्ण्यमङ्गमर्दोऽरुचि**भ्रमः** । क्षुद्वेगनिग्रहात्....। लिखा गया है। अनशन की अत्ययावस्था में भ्रम मिलता है।

९. **उन्माद**--इस रोग में धीविभ्रम मिलता है। यह रजोगुण विकृति का चिह्न है।

१०. **कास**--पैत्तिक कास में भ्रम का उल्लेख सुश्रुत ने नहीं किया पर चरक ने उल्लेख किया है--

पीतनिष्ठीवनाक्षित्वं तिक्तास्यत्वं स्वरामयः ।
उरोधूमायनं तृष्णा दाहो मोहोऽरुचि**भ्रमः** ।
प्रततं कासमानश्च ज्योतींषीव च पश्यति ।
श्लेष्माणं पित्तसंसृष्टं निष्ठीवति च पैत्तिके ।।

चरक ने इन लक्षणों के साथ जिस पैत्तिक कास का वर्णन किया है वह साधारण अवस्था नहीं है। पीतनिष्ठीवन दाह मोह एवं सुश्रुतीय ज्वर, उरोविदाह मिलाने से यह आधुनिक की एक ऐसी अवस्था हो जाती है जिसमें विषमता (toxaemia) की उपस्थिति हो। विषता को आधुनिकों ने भ्रम का कारण स्वीकार किया है। अथवा निरन्तर खाँसते रहने से सेमीसर्क्युलर केन्टाल्स के इण्डोलिम्फ के प्रैशर में विशेष फर्क होना सम्भव है जो भ्रम का कारण हो।

११. **कुष्ठ**--कुष्ठ के पूर्वरूपों में भ्रम का उल्लेख वाग्भट (नि० १४) ने किया है--

दाहः कण्डूस्त्वचि स्वापस्तोदः कोठोन्नति**र्भ्रमः** ।

कुष्ठ में पित्त का संसर्ग एक भीषण स्थिति की ओर संकेत है। क्योंकि वातश्लेष्माधिक कुष्ठ ही साध्य हैं। पित्तोपसृष्ट नहीं। अतः पित्तोपसृष्ट कुष्ठों में भ्रम पूर्वरूपेण मिल सकता है।

१२. **कृमिरोग**--आभ्यन्तर क्रिमिरोग में आयुर्वेद और आधुनिक दोनों ही भ्रम स्वीकार करते हैं।

ज्वरोविवर्णता शूलं हृद्रोगः सदनं **भ्रमः** ।
भक्तद्वेषोऽतिसारश्च संजातक्रिमिलक्षणम् ।।

सुश्रुत उत्तरतन्त्र ५४

यह reflex irritation के कारण उदरगत कृमियों से उत्पन्न हो सकता है।

१३. **क्षत**--विशेषकर मर्म क्षतज भ्रमोत्पादक होता है--मांससिरास्नायुअस्थि सन्धिगत क्षतों में **भ्रम** प्रलापः पतनं प्रमोहो विचेष्टनं ग्लानिरथोष्णताच मिलता है। आधुनिक भी इसे स्वीकार करते हैं। बुझार्ड लिखता है--Vertigo may be traumatic in origin e.g. after a fracture of the base of the skull.

१४. **क्षीरालसक**--रोग में भ्रम मिल सकता है। यह प्रदुष्टस्तन्यजरोग है। इसमें अङ्गभङ्गोऽङ्ग विक्षेपः कूजनं **वेपथुर्भ्रमः** (अ. हृ. उ. २) जैसे वातिक लक्षण पोषण की कमी एवं विषता से वातप्रकोप करके भ्रम करते हैं।

१५. **ज्वर**--ज्वर के ९रूपों में भ्रम का उल्लेख है--

१--अन्तर्वेगज्वर, २--कामज्वर, ३--पच्यमान ज्वर, ४--पित्तज्वर, ५--ज्वरमोक्ष, ६--रक्तस्थ ज्वर, ७--वात ज्वर, ८--वातपित्तज्वर, ९--सन्निपात ज्वर, १०--लाघरक,

इनमें अन्तवगज्वर, पच्यमान ज्वर और पित्तज्वर पित्त प्रकोप और अन्तर्विषता की उत्पत्ति के कारण तथा कामज्वर में वात का प्रकोप और रजोगुण का मन पर विशेष प्रभाव होने से तथा ज्वरमोक्ष (Convalescent period of fever) में मस्तिष्क के त्रिविध केन्द्रों का ठीक-ठीक पोषण न होने के कारण भ्रम उत्पन्न होता है। रक्तस्थज्वर पित्त का कोप करके एवं विषता उत्पन्न होने से [illegible] है। [illegible] एवं [illegible]तिक ज्वरों में भ्रमोत्पादक

दोष बाहुल्य रहता ही है। इससे तथा सन्निपात ज्वर तो रक्त में विशेष विषोत्पत्ति उपस्थित होने का परिणाम होने से निस्सन्देह भ्रम को उत्पन्न कर देता है। लाघरक में अत्यन्त कार्श्य भ्रम का कारण बनता है।

१६. **पाण्डु**––वातिकपाण्डु में भ्रम का उल्लेख मिलता है। वातपाण्ड्वामये तोदकम्पानाहभ्रमादयः। पाण्डु के पाँचों प्रकारों में केवल वातिकपाण्डु में भ्रम की उपस्थिति का उल्लेख केवल एनीमिया मात्र ही भ्रमोत्पादक नहीं ऐसा प्रकट हो जाता है। रक्त की कमी के साथ वात का प्रकोप भी आवश्यक है।

१७. **पारिगर्भिक**––यह बालरोग है जो गर्भिणी माता के दूध पीने से बच्चे को होता है मातुःकुमारो गर्भिण्याः स्तन्यं प्रायः पिबन्नपि। कायाग्निसादवमथुतन्द्राकार्श्या-रुचि**भ्रमैः**।। युज्यते कोष्ठवृद्धया च तमाहुः पारिगर्भिकम्।। यहाँ कार्श्य-वमन-कोष्ठवृद्धि पोषण का अभाव एवं विषता की उत्पत्ति कर भ्रम करते हैं।

१८. **मदात्यय**––मदात्यय मदिरा के अत्यय से उत्पन्न रोग होता है। इसमें उपद्रवस्वरूप भ्रम मिलता है तथा पैत्तिक मदात्यय में लक्षण स्वरूप भ्रम पाया जाता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार मदिरा और तम्बाकू दोनों के कारण विषता की उत्पत्ति (Toxic origin) के कारण भ्रम मिलता है।

१९. **मसूरिका**––में भ्रम का उल्लेख मिलता है जो विषता की उत्पत्ति का द्योतक है।

२०. **वमन**––विशेषकर पैत्तिकछर्दि में भ्रम का वणन मिलता है।––

मूर्च्छापिपासामुखशोषमूर्धताल्वक्षि सन्तापतमो**भ्रमार्तः**।
च. चि. २०)

यहाँ reflex activity से भ्रम हो सकता है। पित्त का प्रकोप विशष विचारणीय है। टेबर ने gastric-disturbances को भ्रम का कारण माना है।

२१. **वातरक्त**––इसे आधुनिक गाउट मानते हैं। इसमें उपद्रवस्वरूप भ्रम[1] मिल सकता है—Gout and gouty dyspepsia with or without evidence of asteriosclerosis may also be the cause of vertigo.—Buzzard.

6

२२. **विष**––दूषीविष में भ्रम की उपस्थिति मानी गई है।––आधुनिक विज्ञानवेत्ताओं ptomainepoisoning के कारण भी Toxic origin से भ्रम की उत्पत्ति मानते हैं।

२३. **विसर्प**––अग्नि, कर्दम और ग्रन्थि तीनों प्रकार के विसर्पों में भ्रम मिलता है। विसर्प का आधुनिक पर्याय erysepalous दिया जाता है। यह पूति या sepsis के कारण होता है। sepsis में भ्रम मिल सकता है। अग्निविसर्प वातपैत्तिक होने से, ग्रन्थि विसर्प म तीव्रज्वर श्वासशोष हिक्का वमि की उपस्थिति होने से तथा कर्दम विसर्प में गम्भीरपाक ज्वर और पित्त का प्रकोप क्रम के साथ मिलने से भ्रमोत्पादक कारण विषतावात-पित्त प्रकोप मिल जाते हैं।

२४. **विसूची**––अजीर्णजन्य कारणों के साथ इसका विचार किया जा चुका है। विसूची में भ्रम की उपस्थिति सहसा बलहानि के कारण उत्पन्न वायु से एवं ब्लडप्रैशर के कम हो जाने से मस्तिष्क केन्द्रों में पोषण की कमी से मिल सकती है।

२५. **शिरोरोग**––शिरोरोग में भ्रम बहुधा पाया जाता है। विशेषकर जब शिर में प्रैशर की वृद्धि किसी टयूमर या विद्रधि के कारण हो जाती है। अर्धावभेदक (migraine) में भ्रम प्रायः मिलता है। रक्तस्राव यदि किसी रक्त वाहिनी में हो जाता है तो भी भ्रम मिलता है। वात का प्रकोप और रजोगुण वृद्धि इसमें सहायक होते हैं। शिरःशूल का एक कारण ब्लडप्रैशर की वृद्धि है उसमें भ्रम बराबर मिलता है।

२६. **शूल**––विशेष कर पैत्तिकशूल में भ्रम मिलता है। शूल का कारण वात तथा पैत्तिक होने से पित्त दोनों ही भ्रमकारक कारण उपस्थित रहने से यह होता है।

२७. **शोथ**––पैत्तिक शोथ[1] में भ्रम का उल्लेख आता है। शोथ में प्राकृतिक कार्य में विघ्न होना, सोतोदुष्टि एवं आवश्यक पोषकतत्वों का स्थान विशेष में न पहुँचना, उसकेकार धातुक्षय और वायुवृद्धि होना तथा कहीं-कहीं जैसे नैफ्राइटिश में ब्लडप्रैशर वृद्धि अथवा विषता की उपस्थिति भ्रम की उपस्थिति आधुनिकों को भी मान्य है।

---

[1] –संमूर्च्छामदरुक्तृष्णा ज्वरमोह प्रवेपकाः।
हिक्का पांगुल्यवीसर्प [illegible] चि. २९

[1] –मृदुः सगन्धोऽसितपीत रागवान्भ्रमज्वरस्वेदतृषामदान्वि
[illegible] रागकृत् सपित्तशोथोभृशदाहपाक

२८. **गर्भिणी एवं सूतिका रोग**––काश्यप ने भ्रमली नाम से दुष्प्रजाता के रोगों में इसका समावेश किया है। गर्भिणी स्त्री में जिस कारण से कभी-कभी वमन होता है उसी कारण से reflex stimulation of uterus से भ्रम भी होता है। गर्भावस्था के बाद यदि विषोत्पत्ति बराबर बनी रही तो सूतिका में भ्रम मिल सकता है। प्रसवकाल में अधिक रक्तस्राव के कारण भी यह हो सकता है।

२९. **हलीमक**––इस रोग में भ्रम का वर्णन चरक ने किया है––स्त्रीष्वहर्षोऽङ्गमर्दश्च दाहस्तृष्णाऽरुचि**र्भ्रमः**।

३०. **हृद्रोग**––हृद्रोगों में उपद्रव स्वरूप भ्रम मिलता है।––क्लमः सादो **भ्रमः** शोषो ज्ञेयास्तेषामुपद्रवाः।

हृदय की व्याधियों में जिनमें आमवातज हृद्रोग एवं हृदय के कपाटों के रोग, ब्लडप्रैशर की कमी या वृद्धि, आर्टीरियोस्कैरोसिस इन हृदय, रक्त, सर्क्यूलिटरी सिस्टम के विविध विकारों में भ्रम मिलता है।

इनके अतिरिक्त अधोलिखित अन्य अवस्थाओं में भी भ्रम लक्षण रूप में पाया जाता है।

१. किसी बहुत ऊँचे स्थान पर खड़े होकर नीचे देखना।

२. दांतों में पूति (denta lsepsis)

३. तुण्डिकाग्रन्थिपाक (tonsillitis)

४. पैट्रोल की गन्ध सूँघना

५. अर्धावभेदक

६. अपस्मार के दौरे के पूर्व

७. आर्टीरियोस्क्लैरोसिस होने पर

८. मस्तिष्क में अर्बुद होने पर

९. मैनीयर का सिण्ड्रोम (Meniere's syndrome)

१०. द्विधा दृष्टि (diplopnja) या अन्य नेत्ररोगोंमें

११. सिफलिस का उपसर्ग जब अन्तकर्ण में पहुँच जाता है।

१२. कान के अन्य रोगों में भी मिल सकता है।

स्टैनले डैविडसन ने भ्रमके ५ कारण स्वीकार किये हैं––

(१) नेत्रजन्य (Ocular)

(२) धमिल्लकजन्य (Cerebellar)

(३) मस्तिष्कमूलीय (brain sten lesions)

(४) वेष्टीव्यूलर नाडीकेरोग (Lesionsof vestibular nerves)

(५) कर्ण जन्य (aural lesion.)

भ्रम की चिकित्सा में अधोलिखित ओषधियों का प्रयोग द्रव्यगुणवेत्ताओं ने बतलाये है

(१) पर्पट––(fumoria parviflora) पर्पटो हन्ति पित्तास्रभ्रमतृष्णाकफज्वरान्।

(२) महानिम्ब––(Melia azadarach) कफपित्तभ्रमच्छर्दि कुष्ठहृल्लासरक्तजित्।

(३) गुञ्जाद्वय––(Abrus precatorius) मुखशोष-भ्रमश्वासतृष्णामदविनाशिनी ।।

(४) श्यामात्रिवृत्––(Operculina terpethum) मूर्च्छादाहमदभ्रान्तिकण्ठोत्कर्षणकारिणी।

(५) यवास––दुरावभा––(Alhagi maurorum) कफमेदोमदभ्रान्तिपित्तास्रकुष्ठकासजित्।

(६) त्रायमाण––(Gentianax kurro) ज्वरहृद्रोग-गुल्म र्शोभिभ्रमशूलविषप्रणात्।

(७) राजादन––(Mimusops hexadra) तृष्णा-मूर्च्छामदभ्रान्तिक्षयदोषचयास्रचित्।

(८) बीजपूरभेद––(Citrus decumana) रक्त-पित्तक्षयश्वासकासहिक्काभ्रमापहा। (मधुकर्कटी)

(९) शमी (खीजडी)––(Prosopis spicigera) कफकासभ्रमश्वासकुष्ठार्शः क्रिमिजित्स्मृताः।

(१०) बड़वाघृत––(Marels butter) निहन्ति पित्तदाहास्रमदमूर्च्छाभ्रमानिलान्।

भ्रम रोग की चिकित्सा के सम्बन्ध में जो सामग्री आयुर्वेद में मिलती है वह नीचे दीजाती है––

१. भावमिश्र ने भ्रम की चिकित्सा के लिए ३ योग लिखे हैं––

(क) दुरालभाक्वाथ घृत के साथ पीना,

(ख) हरीतकीक्वाथ से सिद्धघृत सेवन,

(ग) आमलकी स्वरस से सिद्धघृत लेना,

(घ) शुण्ठी, पिप्पली, शतावरी, हरीतकी एक एक पलले कर चूर्ण कर ६ पल गुड के साथ गोली बना प्रयोग करना।

(ङ) दुरालभाक्वाथ के साथ ताम्रभस्म और घी का सेवन करना।

२. **शार्ङ्गधर** ने भ्रमनाश के लिए अधोलिखित प्रयोग बतलाये हैं:––

क––मधूकपुष्पादिफाण्ट––

मधूकपुष्पकम्भरी चन्दनोशीरधान्यकैः।।
द्राक्षया च कृतः फाण्टः शीतः शर्करयायुतः।
तृष्णापित्तहरः प्रोक्तो दाहमूर्च्छाभ्रमाञ्जयेत् ।।

ख—बृहन्मधूकफाण्ट या हिम—

महुआ के फूल, मुलहठी, चन्दन, फालसे, कमलनाल, कमलपुष्प, लोध्र, कम्भारी, नागकेसर, त्रिफला, सारिवा, द्राक्षा, लाजा समभाग फाण्ट या हिम बना कर मिश्री मधु के साथ देने से वातपित्तज्वर, दाह, तृष्णा, मूर्च्छा, अरति, भ्रम, रक्तपित्त, मद दूर होता है।

ग—**कूष्माण्डकावलेह**—इसके गुणों के सम्बन्ध में लिखा है—

शोषतृष्णाभ्रमच्छर्दिश्वासकासक्षतातुरः।
कूष्माण्डकावलेहोऽयं बालवृद्धेषु युज्यते॥

घ—**अभयादिमोदक**—यह दुर्नामकुष्ठगुल्मार्शोगलगण्डभ्रमोदरान् को दूर करता है।

३. भैषज्यरत्नावलीकार ने भ्रम के सम्बन्ध में चिकित्सा का निम्न विधान बतलाया है—

क—दुरालभा क्वाथ घी से पिलाना।

ख—त्रिफला क्वाथ घी के साथ।

ग—गोदुग्ध पान।

घ—रसायनद्रव्यों का प्रयोजन।

उ—कौम्भघृत (१०० वर्ष पुराना घृत) का प्रयोग।

४. रसयोगसार में भ्रम पर कार्य करनेवाले जिन प्रयोगों का उल्लेख हुआ है वे नीचे दिये जा रहे हैं।

(१) अमृतसंजीवनी रसायन—रक्तस्रावजन्य भ्रम रोगों में।

(२) अम्लपित्तान्तक मोदक—अम्लपित्तजन्य भ्रम में।

(३) कनकाम्बुदरस—राजयक्ष्मा में अतिरक्तष्ठीवन के बाद होनेवाले भ्रम में।

(४) कामदुधारस—पाण्डु (एनीमिया) जनित भ्रम में।

(५) बृहद्गगनसुन्दररस स—अतीसार या ग्रहणी के बाद होनेवाले भ्रम में।

(६) गन्धकद्रुति (राजवीटिका) कुष्ठ या फिरंगजन्य भ्रम में।

(७) चन्द्रसूर्यात्मक रस—जीर्णज्वर या वमिजन्य भ्रम में।

(८) चन्द्रामृतलोह—विषदोषज भ्रम में।

(९) चन्द्रामृतवटी—वातपैत्तिक कास के साथ होने वाले भ्रम में।

(१०) चिन्तामणि रस (नवम)—कर्णरोग (विशेषकर बाधिर्य) के कारण होनेवाले भ्रम में।

(११) ज्वरगणविध्वंसन रस—ज्वर या टौक्जीमिया जन्य भ्रम में।

(१२) ज्वरनागमयूर चूर्ण—ज्वर जन्य भ्रम में।

(१३) डामरेश्वराभ्र—श्वासकास हिक्का में उपद्रव स्वरूप भ्रम में।

(१४) ताम्रपर्पटी (चतुर्थी)—मूर्च्छा और तृष्णा के साथ होने वाले भ्रम में।

(१५) ताम्रयोग (सप्तदश)—किसी भी कारण से होनेवाले भ्रम में।

(१६) तालकेश्वर रस (चतुर्विंशः)—वातव्याधि के साथ होनेवाले भ्रम में।

(१७) त्रिकटुकादि नस्य—अपस्मार जन्य भ्रम में

(१८) त्र्यूषणादिवटी—नेत्र विकार जन्य भ्रम में।

(१९) नागसिन्दूर रस (द्वि)—कृमिजन्य भ्रम में।

(२०) नृपतिवल्लभ रस (प्र०)—किसी भी प्रकार से होनेवाले भ्रम में।

(२१) पित्तान्तक रस (प्र०)—पाण्डुजन्य भ्रम में।

(२२) पिप्पलीखण्ड—मूर्च्छा जय भ्रम में।

(२३) पिप्पलीपाक (द्वि)—दौर्बल्य जनित भ्रम में।

(२४) पूर्णकलावटी—वमन के साथ भ्रम होने पर

(२५) प्लीहार्णव रस—प्लीहोदर के साथ होनेवाले भ्रम में।

(२६) बालसूर्योदय रस (प्र०)—वातप्रकोपजन्य भ्रम में।

(२७) बिल्वादिलेह—वमन के साथ या कारण होने वाले भ्रम में।

(२८) भास्करामृताभ्र—उदरशूल अथवा वमिजन्य भ्रम में।

(२९) भ्रमविनाशिनी बटी—

(१) पारा, गन्धक, वत्सनाभ, नाग, ११ भाग मरिच ३ भाग, अदरकस्वरस से गोली बनावे।

(२) पिप्पली, सोंफ, सोंठ, हरड़, जयासा १-१ भाग गुड़ ६ भाग ले गोली बनावें।

(२) ब्राह्मी वचा पिप्पली कुष्ठ शुण्ठी नीलोत्पल सब मिलाकर एक भाग मक्खन ४ भाग और ब्राह्मी स्वरस ८ भाग से घृत सिद्ध करें उसके साथ ये बटियाँ देने से मस्तिष्क विकारजभ्रम दूर होता है।

(३) [illegible]—उन्माद जन्य भ्रम में।

(३१) मृगाङ्करस (चतुर्दश)--यक्ष्मा के साथ होने वाले भ्रम में।

(३२) महामृगाङ्क रस (षोडश)--स्वरभेदज यक्ष्मा के कारण होनेवाले भ्रम में।

(३३) मृतसंजीवन रस (द्वि०)--उन्माद या मूर्च्छा-जन्य भ्रम में।

(३४) मृतसंजीवनी बटी (सप्तमी)--तृष्णा के साथ होनेवाले भ्रम में।

(३५) मेथी पाक--शिरोरोग के साथ होनेवाले भ्रम में।

(३६) रसचन्द्रोदय--फिरंगोपद्रुत अन्तःकर्ण जन्य भ्रम में।

(३७) लोकनाथ रस (अष्टम)--वृक्कों में रोग होने कारण उत्पन्न भ्रम में।

(३८) वसन्तमालती रस (षष्ठ)--मधुमेह के साथ होने वाले भ्रम में।

(३९) विजयपर्पटी (द्वि०)--मधुमेह या जलोदर के साथ होने वाले भ्रम में।

(४०) वीरभद्राभ्रक--नेत्ररोग या फिरो रोग जन्य भ्रम में।।

(४१) शम्बूकादि वटी--अर्द्धावभेदक (migraine) के साथ होनेवाले भ्रम में।

(४२) शीतांशु रस--विषजन्य भ्रम में--

(४३) सर्वज्वरहर लोह (प्र०)--ज्वर के साथ भ्रम होने पर।

(४४) सर्वेश्वर रस (षोडश)--स्त्रियोंके प्रजनन-संस्थान के विकारों में प्राप्त भ्रम में।

(४५) सूतशेखर रस द्वि)--अम्लपित्तजन्य भ्रम में।

(४६) सौभाग्यशुण्ठी पाक (प्र०)--हृदय या बस्ति-जन्य विकारों में होनेवाले भ्रम में।

(४७) क्षीरसागर रस--पित्तोपद्रव जन्य भ्रम में।

(४८) सुवर्णसूर्यावर्त रस--चित्त भ्रम में।

(४९) प्लीहारि बटी--यकृत् या प्लीहा के विकार के साथ होनेवाले भ्रम में।

(५०) मृगाङ्क बटिका--कृमि, रक्तनिष्ठीवन, प्रमेह, कण्डू, आदि में से किसी के साथ होनेवाले भ्रम में।

उपर्युक्त उद्धरणों से यह निश्चित हो जाता है कि भ्रमोत्पादक जितने कारणों का विचार किया जा सकता है उन सभी पर आयुर्वेद का एक-दो योग अवश्य उपलब्ध है। जो लोग आयुर्वेद की रिसर्च करते हैं उन्हें अकेले भ्रम की शांति के लिए उपर्युक्त ५० प्रकार के योगों को बना कर रखने की आवश्यकता है। कोई एक योग दूसरे की पूर्ति नहीं कर सकता।

यही नहीं प्रत्येक रोग में भ्रम के उपद्रव को दूर करने के लिए भी अलग-अलग योग हैं। उदाहरण के लिए ज्वर की विभिन्न अवस्थाओं में भ्रम होने पर नीचे लिखे योग (भैषज्य रत्नावली में वर्णित) आवश्यक हैं--

१. गुडूच्यादि क्वाथ--पैत्तिक ज्वर में भ्रम होने पर चलता है।

२. ज्वरनागमयूरचूर्ण--किसी भी ज्वर में प्रयोक्तव्य है।

३. द्राक्षादिक्वाथ--पित्तज्वर में गुडूच्यादिक्वाथ के व्यर्थ होने पर दे सकते हैं।

४. प्रचेतनावटी--इसे आ जाने से चित्तभ्रम सन्निपात जन्य भ्रम मिट जाता है।

५. मधुकादिशीतकषाय--वातपैत्तिक ज्वर जन्य भ्रम भ्रम की ओषधि हैं।

६. महाद्राक्षादिक्वाथ--द्राक्षादिक्वाथ के बाद दे पित्तज्वरों में। विशेषकर पैत्तिक सन्निपात में भ्रम नष्ट करता है।

७. वचादिक्वाथ--सधिक सन्निपात में भ्रम होने पर अच्छा काम करता है।

इसी प्रकार प्रत्येक रोग में इसका विचार करना पड़ेगा।

भ्रम की कारण भिन्नता में द्रव्यभिन्नता या योग भिन्नता किस आधार पर कार्य करती है इस पर भी विद्वानों का विचार करना अतीव आवश्यक है।

आधुनिक चिकित्सकों ने मैनियर डिजीज (एक अन्तः-कर्ण रोग) के सम्बन्धमें होनेवाले भ्रम का पर्याप्त विचार किया है। उसी सन्दर्भ में उन्होंने भ्रम की अधोलिखित चिकित्सा स्वीकार की है:--

१--रोगी को नमक देना बन्द कर दिया जावे--नमक का सोडियम भाग भ्रम को उत्पन्न करनेवाला है। इसी प्रकार सोडियम जिन-जिन क्षारों पर लवणों में मिलता है उन्हें भी न दें। वे सभी पदार्थ जिनमें नमक पड़ता है जैसे चटनी, अचार, पापड़, नमकीन मक्खन रोक देना चाहिए।

लवण रस को तोयाग्निगुण बहुल माना है। उसके अत्यर्थ सेवन से गात्रकण्डूकोठशोधवैवर्ण पुंस्त्वोपघात इन्द्रियोपताव मुखाक्षिदाक रक्तपित्तवातशोणित 'अम्लिका आदि की उत्पत्ति करता है। परन्तु जिस सोद्रियम के व्यवहार का निषेध किया गया है। वह नमक का एक घटक है तथा रस में तीक्ष्ण या कटु है। कटुरस के अत्यधिक सेवन से उत्पत्ति सुश्रुत स्वीकार करता है——अत्यर्थमुपसेव्यमानो भ्रममदगलताल्वोष्ठशोषदाहसन्तापबलविघातकम्पतोदभेद - कृत्——सु० अ० ४२।अस्तु कटुरस प्रधान तीक्ष्ण द्रव्योंका प्रयोग भ्रमकारक स्वीकार किया गाया है।

गडाख्य सांभर नमक को तीक्ष्ण एवं पित्तल माना गया है। विडलवण भी तीक्ष्ण है। सैन्धव लवण सौम्य माना गया है। तिक्तरस प्रधान त्र द्रव्यों के अतिसेवन से भी भ्रमोत्पत्ति मानी गई है।

२——**नौसादर का उपयोग**——नौसादर (अमोनियम क्लोराइट) की ऐसी गोलियाँ जो आमाशय को क्षुब्ध न कलरें (ऐंटटिक कोटेड गोलियाँ) १।२ ग्राम या ७-$\frac{१}{२}$ ग्रेन आरम्भ में तीन बार प्रतिदिन ३ दिन तक देते हैं। फिर २ दन बन्द करके पुनः चालू कर देते हैं। इन गोलियों को भोजन के साथ या बाद में लेना अच्छा रहता है। इन गोलियों की संख्या धीरे-धीरे बढ़ा कर ६ तक एक बार में कर देनी चाहिए। इससे क्लोराइड की कभी की पूर्ति हो जाती है तथा सोरिज्म भी नहीं मिलता।

यदि भ्रम भी बढ़ता जाय तो आधे ग्राम की नौसादर की ऐंटरिक कोटेड गोलियाँ १८ तक बढ़ाई जा सकता है।

३. **निकोटिनिक एसिड**——५० से १०० मिलीग्राम निकोटिनिक एसिड दिनरात में ४ बार देने से भ्रम या भ्रमाभास का परिहार हो जाता है। कभी-कभी इससे Vadodilation.

तथा वातिक लक्षण उत्पन्न होते हैं उनको चिकित्सक समय-समय पर संशामक दुध देकर दूर करते हैं।

कम से कम ३ मास तक यह चिकित्सा चालू रखनी चाहिए यदि फिर भी भ्रम उपस्थित हो तो बराबर आगे चलाना चाहिए।

४. **शस्त्रोपचार**——यदि भ्रम किसी प्रकार न जाय तो कौथोर्न औपरेशन द्वारा ले बीरिन्थोरो की जाती है। इसमें श्रवणकार्य सदव के लिए समाप्त होता है जो मैनियर के रोग में वैसे भी नष्ट होती जाती है।

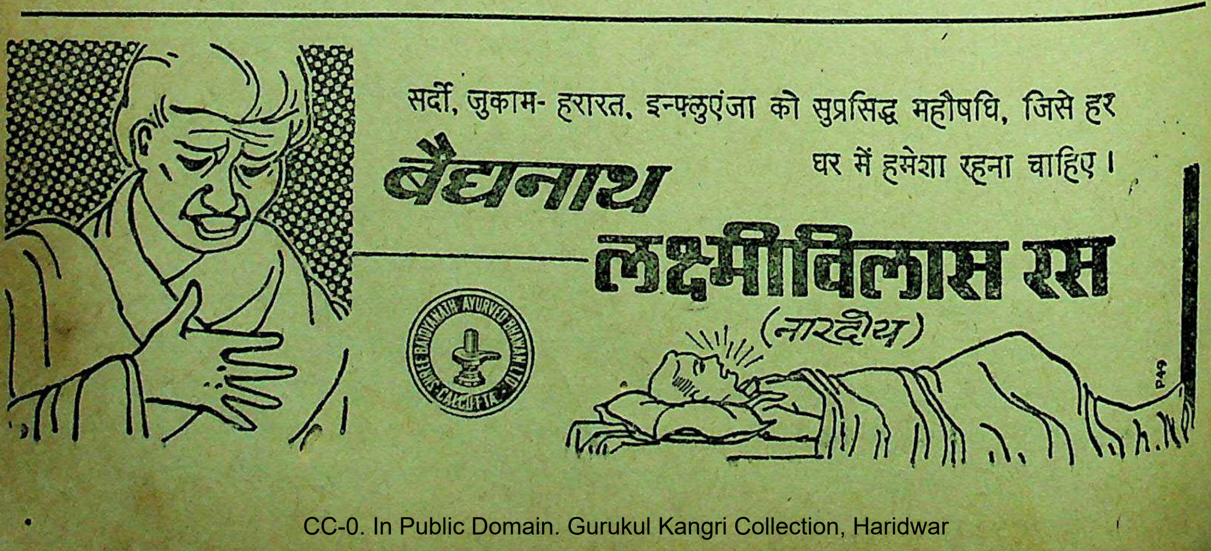

सर्दी, जुकाम- हरारत, इन्फ्लुएंजा को सुप्रसिद्ध महौषधि, जिसे हर घर में हमेशा रहना चाहिए।
बैद्यनाथ
लक्ष्मीविलास रस
(नारदीय)
SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

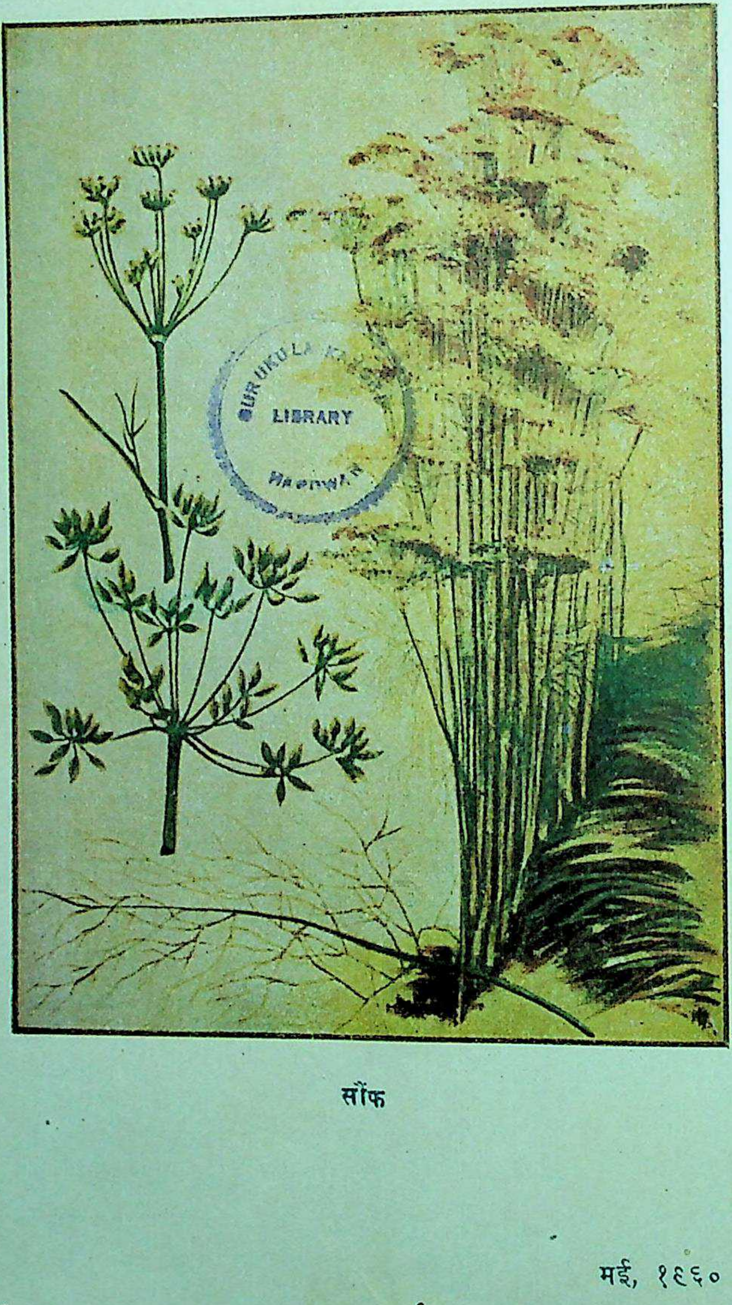

GURUKULA KANGRI LIBRARY HARDWAR

सौंफ

सौंफ

वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा

वर्ग—N. O. Umbelliferae (गर्जरादिवर्ग)

नाम

हिं०, पं०—बड़ी सौंफ; सं०—माधुरिका; बं०—मौरी; म०—बड़ी शोफ; गु०—वरियाली; अ०—राजियानज; फा०—बादियान, राजियाना; ता०—सोहीकिरै; ते०—पेद्दजिल करमु; अं—फेनेल (Fennel) ले०—फिनिक्युलम वल्गेरि (Feomiculum vulgere)। जड़को—हिं०—सौंफ की जड़; अ०—अस्लुर्राजियानज; फा०—बेखेबादियान।

उत्पत्ति स्थान—समस्त भारतवर्ष में इसकी खेती की जाती है।

वर्णन—वर्षायु मूलवाला सुगन्धयुक्त सोए की तरह का क्षुप। ऊँचाई २ से ३ फीट। तना—चिकना, खड़ा, शाखाओं वाला। पान ३ से ४ विभाग युक्त, आधा से डेढ़ इंच लम्बा। विभाग-रेशाकार बालसदृश। छत्र में १५ से २५ शाखाएँ, १ से १।।। इंच लम्बी। फूल-पीले। पंखड़ी ५। पुंकेसर ५, पंखड़ी से लम्बे इसके फूलों में बीज होते हैं। बीज के दो विभाग होते हैं। प्रत्येक बीज पर ५ लकीरें उभरी हुई होती हैं। इन बीजों को सौंफ कहते हैं। इनकी रंगत हरी पीलापन लिये हुए होती है। ये सुगन्ध में प्रिय और स्वाद में मधुर होते हैं। सौंफ की जड़ का रंग पीलापन लिए हुए सफेद होता है।

भेद—इसका एक भेद और है उसका लेटिन नाम—Pimenella anisum Linn है। सं०—शतपुष्पा; हिं०—सौंफ; बं०—मुहरी; बो०—सौंफ; म०—शोम्बु; फा०—अनिसून; अं०—Anise seeds कहते हैं।

इस जाति की भी कृषि पश्चिमोत्तर भारत, उत्तर प्रदेश, पंजाब और उड़ीसा में होती है। इस जाति की सौंफ में सुन्गिधत तैल विशेष होता है। यह गुण और आकृति में बड़ी सौंफ के तुल्य है। यह भारतीय सौंफ के समान गुणवाली ईरान की बादियान है। इसमें से तैल निकलता है उसे आॅयल आॅफ एनिसी (Oil of anise) कहते हैं। सौंफ के तैल को (Oil of anethe) कहते हैं और इनको एक दूसरे के स्थान में प्रयोग किया जाता है।

रासायनिक संगठन

सौंफ में हलके पीले रंग का, सुगन्धित, उड़नशील तैल ३ से ५% रहता है। उसके भीतर प्राभाविक द्रव्य एनेथोल (Anethals) ८०% और फेंकोन (Fenchone) मिलता है।

उपयुक्त की अङ्ग

बीज वा फल और मूल।

सौंफ की प्रकृति

सौंफ दूसरे दर्जे में गरम और पहले में खुश्क है।

सौंफ की जड़ की प्रकृति

दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क है।

गुण-कर्म

सौंफ रस में मधुर, विपाक में चरपरी, सारक, लघु, हृद्य, स्निग्ध, रुचिकर, वृष्य, अग्निप्रदीपक, गर्भप्रद, मूत्रार्तवाजनन और बल्य है तथा वात रोग, ज्वर, उदरशूल, दाह, अर्श, क्षय, नेत्ररोग, कफ रोग, रक्तपित्त, तृषा, व्रण, वमन, अतिसार और आम के प्रकोप को दूर करती है। (वै० नि०)

सौंफ का कार्य मुख्यतः श्लैष्मिक कला और पचन-संस्थान पर होता है। यह महास्रोत में दीपन-पाचन, शामक, अनुलोमन और ग्राही असर दर्शाती है। फुफ्फुस और वृक्कों पर लाभ पहुँचाती है, जिससे शुष्क कास का दमन होता है तथा विष मूत्र-मार्ग से बाहर निकलने पर उष्णता शान्त होती है। सौंफ के पान—सुगन्धित और मूत्रल है। मूल में—सारक गुण विद्यमान है।

यूनानी गुण-कर्म

सौंफ शुद्दों (गांठों) को तोड़ने वाली है और पेट की वायु को मिटाती है, इससे डकारें खूब आती है। आमाशयोत्पन्न चिकने और दूषित पदार्थों को नष्ट करती है।

आमाशय की गरमी के वास्ते हितावह है। किसी दवा में शामिल करने से उसका अनुपान बन जाती है। इसमें कब्ज पैदा करने की शक्ति भी है। दस्तों को बन्द करती है जबकि इसको भून लिया गया हो। पेट पर लेप करने से भी वायु को निकालती है। ब्रिटिश फार्मेकोपिया सन् १९३२ में भी इसका वर्णन है। प्रसूताओं का दूध बढ़ाने के लिए भी इसका प्रयोग करते हैं। इसको बेस्वाद दवाओं के स्वाद का सुधार करने में भी प्रयोग किया जाता है।

मात्रा—सौंफ ५ से ९ माशे तक। जड़ ६ माशा से १ तोला तक।

उपयोग—सौंफ का उपयोग प्राचीन काल से मुख-शुद्धि और घरेलू औषधि के रूप में रहा है। ज्वरों में जब वमन होती है और उदर में आम उत्पन्न होता है, तब सौंफ के अर्क का उपयोग किया जाता है। सौंफ जैसा उपयोगी पदार्थ हर गृहस्थ के घर में सदा रहना चाहिए।

रोगों पर होनेवाला प्रभाव

सिर के रोग

(१) सौंफ की गिरी निकाल कर एक हथेली भर कर पानी के साथ लिया करें। इससे मस्तिष्क बलवान हो जाता है, कब्ज की शिकायत दूर हो जाती है। आमाशय अपनी क्रिया में सबल बन जाता है।

(२) सौंफ १ तोला, पानी ४० तोला को मंद आग पर औंटाते हुए १० तोला शेष रहने पर पीने से सिर के दर्द को लाभ हो जाता है।

सिर चकराना

(३) सौंफ चूर्ण ६ माशा में समान खांड मिलाकर लेने से कुछ समय में सिर के चक्कर बन्द हो जाते हैं।

अनिद्रा

(४) सौंफ ६ माशा, पानी ४० तोला लेकर क्वाथ करें, चतुर्थांश रहने पर उसमें एक पाव गाय का दूध और १ तोला गायका घी मिलाकर पिलाया करें। लाभकारी है।

अधिक निद्रा

(५) सौंफ यवकुट ६ माशा, पानी ४० तोला, शेष १० तोला रहने पर कुछ नमक मिलाकर सुबह, शाम पीना चाहिए।

उन्माद

(६) सौंफ १ तोला, १२ छटांक जल में जोश देकर आधा भाग रहने पर छानकर १ तोला मिश्री मिलाकर पिलावें। इससे वायु और कफज उन्माद मिट जाते हैं।

(७) सौंफ १ तोला ४ छटांक (२० तोला) पानी में घोटकर १ तोला खांड मिलाकर पिलावें। यह पित्तज उन्माद को मिटाता है।

(८) सौंफ यवकूट १ तोला, खांड २ तोला, आधा सेर पानी में क्वाथ करें, चतुर्थांश रहने पर छानकर निवाया २ बार पिलावें। नजला और जुकाम के लिए लाभकारी है।

नेत्ररोग

(९) सौंफ १ पाव २ सेर पानी में तांबे की डेगची में रात भर भिगोवें, सुबह उबालें। आधा सेर जल रहने पर ठण्डा कर हाथों से मले और वस्त्र पूत कर धीमी आग पर पकावें जब—अवलेह (रस क्रिया) जैसा हो जाय सुरक्षित रखें। रात को सोते वक्त २-२ सलाई आँखों में डालना मुफीद है।

(१०) सौंफ ६ माशा कूटकर पोटली बनावें और गुलाब जल या पानी में भिगोकर आंखों पर फिरावें। लाभकारी है।

(११) सौंफ के हरे पत्तों का रस निकालें और खरल में घोटतें रहें यहां तक कि चूर्ण बन जाय। रात को सोते वक्त ३ सलाई आंखों में डालें। लाभकारी है।

कम दिखाई देना

(१२) सौंफ की गिरी १ तोला की मात्रा में खांड मिलाकर गाय के दूध के साथ लेना लाभकर है।

(१३) सौंफ की गिरी २ तोला सोते वक्त और १ तोला सुबह के समय पानी या दूध के साथ कम-से-कम ४० दिन लेने से दृष्टि की कमी को दूर कर नज़रको तेज करती है।

कान के रोग

(१४) सौंफ २ तोला यवकूट कर १ सेर पानी में औटावें, कान में उसकी भाप देने से वायु से उत्पन्न कर्ण रोग आराम होगा।

बहरापन

(१५) सौंफ ६ माशा को यवकूट कर १ पाव पानी में औटावें, चौथाई भाग रहने पर गाय का दूध १ पाव, घी १

तोला और कुछ खांड मिलाकर चाय की तरह सुबह-शाम पीने से दिमाग में ताकत आकर बहरापन जाता रहेगा।

मुख और जिह्वा के रोग

(१६) सौंफ यवकूट १ तोला को १ सेर पानी में औटावें, ६ छटांक रहने पर कुछ फिटकरी मिला कुल्ले करने से मुख के छालों में फायदा होता है।

मुख की दुर्गंध

सौंफ ३ माशा मुँह में चबाते रहें। कुछ दिनों में ठीक हो जायगा।

हकलाना

(१७) यवकूट सौंफ आधा तोला, १।। पाव पानी में औटावें, शेष आधा पाव रहने पर १ तोला मिश्री और १ पाव गाय का दूध मिलाकर पिलाया करें।

छाती और गले के रोग

(१८) सौंफ यवकूट १ तोला, आधा सेर पानी में औटावें जब आधा पाव रह जाय छान के मिश्री मिलाकर गरम-गरम पिलावें। इससे स्वरभंग (बैठी हुई आवाज़) खुल जाता है।

खाँसी

(१९) यवकूट सौंफ १ तोला, पानी आधा सेर; शेष १ पाव रहने पर १ तोला मधु मिला प्रातः-सायं खाँसी में पिलाना मुफीद है।

दमा और खाँसी

(२०) सौंफ ५ तोला को मिट्टी के बरतन में रख के उसमें आक का दूध इतना डाले कि वो तर हो जाय फिर छाया में सुखावें। इस तरह ३ भावनायें दें फिर संपुट कर १२ सेर उपलों में आग दें। यदि सफेद भस्म तैयार हो तो ठीक है वरना फिर इसी तरह आंच दें और खरल कर शीशी में रखें।

कफ आता हो तो खाँड में वरना मलाई में देवें।

मात्रा—आधा से १ रत्ती।

(२१) सौंफ १ तोला, पानी आधा सेर, शेष चतुर्थांश रहने पर १ तोला घी मिलाकर पिलावें। गुण उपरोक्त है। इस योग में घी के स्थान पर नमक १ माशा मिलाकर पिलाने से छाती के रोग मिटते हैं।

आमाशय का भारीपन

(२२) सौंफ यवकूट १ हथेली भर सुबह और शाम पानी से लें।

(२३) सौंफ का चूर्ण ५ तोला, गुलाब का गुलकन्द १५ तोला में मिलाकर रख लें। दोनों वक्त ५-५ तोला सेवन करें। आमाशय के भारीपन को दूर करने के साथ कब्ज को भी लाभ पहुँचाता है।

आध्मान

(२४) सौंफ २ तोला, को पानी १ सेर में औटावें, चतुर्थांश रहने पर छान लें, उसमें सैंधव और काला नमक २ माशा मिलाकर पिलावें। कुछ दिनों के सेवन से अफरा दूर हो जायगा।

अतिसार

(२५) सौंफ को कच्ची-पक्की करके बराबर मिश्री मिलाकर रख लें। इसमें से ५ माशा दिन में ३ वक्त गाय के तक्र से लें।

(२६) सौंफ आधा तोला को एक पाव पानी में घोट-छान के मिश्री मिलाकर पिलावें। २-३ वक्त लेने से ज्यादे दस्त होना बन्द हो जायगा।

पेशाब की रुकावट

(२७) सौंफ १ तोला, पानी ४० तोला, ठण्डाई की तरह घोंटकर मिश्री मिलालें। शोरा १ माशा बारीक पीसे हुए की फंकी लेकर ऊपर से यह ठण्डाई पिलावें। पेशाब साफ आएगा।

नये सोजाक में

(२८) यवकूट सौंफ १ तोला, पानी आधा सेर में फाण्ट तैयार करें। यवक्षार बारीक पीसा हुआ १ माशा खिलाकर ऊपर से यह फाण्ट पिलावें। नये सूजाक में मुफीद है। इससे बन्द पेशाब भी जारी होगा।

(२९) सौंफ ५ तोला, १० सेर पानी में औटावें, जब उबाल आ जाय तो टब में डाल उसमें निवाये रहने की हालत में रोगी को बैठावें, पेशाब आ जावेगा।

स्त्री रोग—ऋतुधर्म (हैज़) जारी करना

(३०) यवकूट सौंफ २ तोला, गुड़ २ तोला, एक सेर पानी में काढ़ा बनावें, चतुर्थांश रहने पर छान कर मंदोष्ण पिलावें।

(३१) सौंफ-चूर्ण आधा सेर में खांड आधा सेर मिलावें। १ तोला की मात्रा में प्रातः-सायं गरम दूध के साथ ४० दिन लें। हैज़ जरूर खुल जावेगा। परीक्षित है।

बांझपन

(३२) सौंफ-चूर्ण १ तोला, गुलकन्द ५ तोला, रात को गाय के गरम दूध के साथ लिया करें। ४० दिन के प्रयोग से बांझपन दूर हो जाता है।

अत्यार्त्तव

(३३) १ सेर सौंफ को सात भाग करें। एक भाग को रात के समय मिट्टी के कुल्हड़ में भिगो दें, प्रातः घोट-छान मिश्री मिलाकर पिलावें। शाम के लिए फिर एक भाग को भिगो दें और शाम को घोट-छान के पिला दें। नमक कम खावें, खटाई, बादी और गर्म चीजों से परहेज करें। पथ्य सात दिन पालन करें। अनुभूत है।

प्रसव में विलंब होना

(३४) सौंफ यवकूट २ तोला का १ सेर पानी में क्वाथ करें, जब आधा पानी बाकी रह जाय तब उसमें २तोला मिश्री और १ तोला गाय का घी मिलाकर मंदोष्ण पिलावें। दो-तीन बार प्रयोग करने से सुख से प्रसव हो जाता है।

प्रसवोत्तर स्राव की कमी

(३५) सौंफ यवकूट २ तोला को १ सेर पानी में क्वाथ करें, चतुर्थांश रहने पर खांड २ तोला, दूध १ पाव मिलाकर सुबह-शाम पिलावें। तीन-चार बार लेने से स्राव कम हो गया हो या बन्द हो गया हो तो जारी हो जायगा।

दूध की कमी

(३६) सौंफ १ पाव, मिश्री १ पाव का चूर्ण बना लें। १।। तोला की मात्रा में सुबह और शाम को दूध के साथ सेवन करें।

गर्भवती का कब्ज़

(३७) सौंफ १० तोला को बारीक पीसकर गुलकन्द २० तोला में मिलाकर रख लें। १।। तोला गरम दूध से कब्ज के वक्त सेवन करावें।

गर्भवती की उल्टी

(३८) सौंफ ६ माशा की पोटली बना के आधा सेर दूध में औटावें, ३ उबाल आने पर नीचे उतार थोड़ी मिश्री मिलाकर पिलावें।

ज्वर

(३९) सौंफ २ तोला को कड़ाही में कच्ची-पक्की भून लें फिर १ तोला खांड मिला चूर्ण बनावें और उसी वक्त रोगी को सेवन कराके गरम पानी पिलाकर कपड़ा ओढ़ा दें। पसीना आकर ज्वर उतर जायगा।

शीतज्वर

(४०) सौंफ यवकूट १ तोला को, पानी १ सेर में औटावें, अर्धांश रहे तब छान, मिश्री १ तोला मिलाकर दिन में ३ वक्त पिलावें। ज्वर के समय देने से ज्वर को उतारेगा और विरामावस्था में देने से ज्वर को रोकेगा। इससे प्यास और पेट का दर्द भी मिटता है।

गरमी के मोसम की फुंसियाँ

(४१) सौंफ यवकूट ५ तोला को रात के वक्त पानी के घड़े में भिगो दें, सुबह स्नान करें।

मस्तिष्क के लिए

(४२) सौंफ ६ माशा, मिश्री ६ माशा, बादाम मग्ज ७, बारीक पीसकर सोते वक्त लेकर दूध पीने से दिमाग के बल की वृद्धि होती है।

पेचिश

(४३) सौंफ ५ तोला, छोटी हरड़ भूनी ५ तोला, दोनों का चूर्ण तैयार कर उसमें १० तोला खांड मिला के १।। तोले की मात्रा में पानी या चावल के मांड के साथ लेने से पेचिश मिटती है।

गर्भस्थापनार्थ

(४४) सौंफ २० तोला, पीपल जटा २० तोला, खांड २० तोला का बारीक चूर्ण बना लें। शुरू हैज़ से स्त्री-पुरुष १।। तोले की मात्रा में दोनों वक्त दूध से लें। ११ वें दिन स्त्री-सेवन करे। गर्भ रहेगा।

खुजली

(४५) सौंफ १ पाव, धनियां १ पाव दोनों को बारीक पीसकर [illegible] और १ सेर मिश्री मिलाकर रखें।

सुबह और शाम ५-५ तोला की मात्रा में सेवन करें। प्रत्येक प्रकार की खारीश और खुजली में मुफीद है।

प्रवाहिका

(४६) सौंफ ५ तोला, बेलगिरी २।। तोला, धाय के फूल २।। तोला का चूर्ण बनाकर १ सेर पानी में भिगोकर सुबह चतुर्थांश काढ़ा कर आधा सेर मिश्री डाल शरबत बनावें। मात्रा १ से २ तोला दिन में ३ वक्त पिलावें।

बच्चों का पाचन विकार

(४७) सौंफ १ तोला को आधा सेर पानी में औटावें आधा रहने पर भुना सोहागा ३ माशा, खांड १ पाव मिला शरबत बनावें। मात्रा १ से ३ माशा तक। बच्चों के हाजमे के वास्ते मुफीद है।

माजून सौंफ

(४८) सौंफ चूर्ण ५ तोला को १० तोले गुलाब के गुलकन्द में मिला लें। रात को सोते वक्त ४ तोला गरम दूध के साथ प्रयोग करें। यह कब्जकुशा है।

स्वरभेद

(४९) सौंफ यवकूट १।। पाव १ सेर पानी में औटावें, १/३ भाग रहने पर मल-छान कर उसमें आधा सेर बूरा मिलाकर शरबत की एकतारी चाशनी ले लें। मात्रा-६ माशा। दिन में ३ वक्त दें।

(५०) सौंफ ६ माशा, मीठे बादाम का मग्ज़ ७, छोटी इलायची ३ के दाने, पानी आधा सेर में घोट-छान कर पिलावें। दिमाग को तरावट देती है।

हैजे पर क्वाथ

(५१) सौंफ १ तोला, पौदीना ६ माशा, लौंग ४, गुलकन्द २ तोला, डेढ़ पाव पानी में औटावें, १/३ भाग रहने पर थोड़ा-थोड़ा हैजे के रोगी को पिलावें।

अर्क सौंफ

(५२) सौंफ यवकूट आधा सेर को ८ सेर जल में २४ घण्टे भिगोकर नलिका यन्त्र द्वारा ४ सेर अर्क खींच लें। मात्रा–२ से ४ औंस। गुण—यकृत्, आमाशय, वृक्क, मूत्राशय के रोगों में लाभप्रद है। दोषों को बाहर निकालता है, विशेषतया वात-दोष में उत्तम है।

स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण

(५३) सौंफ-चूर्ण, मुलहठी चूर्ण, शुद्ध आमला सार गंधक ५ तोले, चूर्ण सनाय १५ तोले और मिश्री पीसी २० तोले लेकर मिला लें। मात्रा-३ से ६ माशे तक, रात को सोते समय निवाए जल के साथ दें।

यह चूर्ण सुबह १ या २ दस्त साफ लाता है। अन्त्र में उग्रता नहीं दर्शाता। मलावरोध, आम-वृद्धि, शिर-दर्द, अर्श, रक्त-विकार, पामा, कण्डू आदि रोगों में उदर शुद्धि के लिए इसका सेवन कराया जाता है। अपचन और आमातिसार में लेना हो, तब इस चूर्ण के साथ हरड़ और सोंठ का चूर्ण मिला लेने पर विशेष लाभ पहुँचता है।

सौंफ की चाय अग्निमांद्य में

(५४) सौंफ ४ माशा, जीरा ३ माशा, धनियां, काली मिर्च, सोंठ और दालचीनी १-१ माशा, छोटी इलायची के दाने ४ रत्ती को यवकूट कर १० तोले उबलते हुए जल में डाल के २ मिनट तक उबाल कर ढक दें। २० मिनट बाद छानकर पिला दें। चाहे तो उसमें थोड़ी शक्कर मिला दें और पीने के समय थोड़ा नींबू का रस निचोड़ लें। भोजन के बाद भी थोड़ी-थोड़ी सौंफ चबाते रहें, तो एकाध मास में पाचन-क्रिया सुधर जाती है।

सौंफ का तैल-उदर क्रमि पर

(५५) सूत सदृश छोटे क्रमि (Hvov worm) जो जो विशेषतः मध्यान्त्रक (Jejunnm) में श्लष्मिक कला में चिपक कर रहते हैं और रक्त पीते रहते हैं इनसे अफरा, पाण्डुता, निर्बलता, पैरों पर शोथ, मलावरोध (कभी अतिसार) आदि लक्षण उपस्थित होते हैं। इन क्रमियों के उपद्रवों पर सौंफ के तैल को श्रेष्ठ औषधि माना है। मात्रा ५ से १० बूंद तक शिशु को और ६० बूंद तक बड़े मनुष्यों को ३-४ दिन शक्कर के साथ दें। फिर एरण्ड तैल का जुलाब देने से सब क्रमि जीवित और मृत निकल जाते हैं। (गांवों में औ० रत्न)

सौंफ का तैल निकालने की विधि

(५६) सौंफ यवकूट २ सेर के तीन भाग बना लें। एक भाग को २४ घण्टे तक २० सेर पानी में भिगोकर अर्क खींच लें। इस खींचे हुए अर्क में दूसरा भाग मिलाकर फिर अर्क खींच लें। बाद में तीसरा भाग उस अर्क में मिलाकर अर्क खींच लें। फिर किसी खुले हुए बरतन में डाल कर देखें। अर्क पर सौंफ का तैल तैरता हुआ नजर आयगा, उसको रुई के फाये से धीरे-धीरे अलग बरतन में एकत्रित कर लें। यह असली सौंफ का तैल है। यदि

इस तैल की ३-४ बूंद १ बोतल जल में डाल दें तो अच्छा अर्क सौंफ बन जायगा। इस तैल की २-३ बूंद बतासे में डालकर खाने से हाजमा बढ़ जाता है। वायु और पेट के दर्दों को मिटाता है। घी में मिलाकर सिर पर मालिश करना मस्तिष्क के दर्द के वास्ते भी लाभकारी है।

सौंफ का घी

(५७) सौंफ के ताजे, हरे पौधों को मिट्टी से साफ करके कुचल लें और उनका रस निचोड़ कर इससे आधा गाय का घी मिलाकर कलईदार डेगची में नरम आग पर पकावें। जब पानी जल कर घी मात्र रह जावे उतार कर छान लें। गुण एवं प्रयोग—१-१ तोला प्रातः-सायं गाय के दूध में मिलाकर पिलावें और सिर पर मालिश करें। अजहद बलकारी दिमाग है और बहुत-से रोगों में सेवन किया जाता है।

अमृत अर्क

(५८) तैल सौंफ, पीपरमींट (मेंथोल), अजवाइन के फूल (थायमोल), कपूर प्रत्येक १-१ भाग, नैसादर के फूल १/४ भाग, सौंफ के तैल के सिवाय सबको अलग-अलग बारीक करके एक शीशी में मिला कर धूप में रख दें। जब तरल हो जावे तब सौंफ का तैल शामिल कर सुरक्षित रखें।

गुण और सेवन विधि—अमृतधारा के अनुसार रोगों में प्रयोग करें।

देवगढ़, (राजस्थान)

यूनानी योग

ज्वरश ऊद मुलैयन, सौंफ-चूर्ण, शर्बत इस्तिस्का, शर्बत उसूल, शर्बत मुदिर्र हैज़।

एलोपैथिक योग—

(५९) (Pulv glycyrrhizaco) (पल्वग्लिसिर हाइजाको)।

मात्रा—६० से १२० ग्रेन।

द्रव्य—सनाय ८ भाग, मुलहठी ८ भाग, सौंफ ४ भाग, शुद्ध गन्धक ४ भाग, चीनी २६ भाग लेकर वस्त्रपूत चूर्ण बना लें। इसमें १६%सनाय रहती है। इससे आयुर्वेद का स्वादिष्ट विरेचन चूर्ण विशेष कार्य करने वाला है। क्योंकि उसमें सनाय ३० प्र० श० रहती है।

ऐक्वा ऐनिसि (Aqua anise)—

(६०) ऑयल ऐनिसि ७ बूंद, स्पिरीट रैक्टीफाइड चन्द बूंद, एक्वा (वाटर) २० औंस। पहले ऑयल को स्पिरिट में घोल लें तत्पश्चात् धीरे-धीरे जल मिला लें। इसी प्रकार ऑयल ऐनिथि से ऐक्वाऐनिथि बनाया जाता है, परन्तु आयुर्वेद-पद्धति से निकाला हुआ अर्क सौंफ इससे श्रेष्ठ और अधिक लाभकारी है। तत्काल बनाने के लिये यह पद्धति उत्तम है।

अहितकर—गर्म मिजाज वालों को। हानि निवारक—धनियां और सफेद चन्दन। प्रतिनिधि—तुख्म करफस।

सौंफ की जड़—

इसका उपयोग कफ जन्य रोगों में, आम के पाचन में और मूत्रार्त्तव जनन के लिए किया जाता है।

बैद्यनाथ च्यवनप्राश
सदा, सबके लिए सेवनीय पौष्टिक रसायन

अष्टांगहृदयम्—शारीरस्थानम्

डा० शंकरलाल भेड़ा, एम. बी. बी. एस., आयुर्वेदाचार्य

(गतांक से आगे)

वातघ्नपत्रभङ्गाम्भः—वातघ्न,[1] विल्व, कार्पास, फम्फणा—पाटली, पिचुमन्द, अग्निमन्थ, जटामांसी, एरण्ड इनके पत्तों को कूटकर बनाया हुआ शीतलक्वाथ जल। अरुणदत्त के मत में भङ्ग-समूह[2]। इन द्रव्यों के क्वाथ-जल से प्रतिदिन स्नान करने से वायु का प्रशमन होता है।

निःस्नेहाङ्गीनं नवमान्मासात् प्रभृति वासयेत्।

नवम मास से लेकर गर्भिणी को सदैव स्नेह से अभ्यङ्ग करते रहना चाहिये। अर्थात् तैलादि से शरीर के सभी अङ्गों को स्निग्ध रखने चाहिये। इस अवस्था में वात की वृद्धि होती है। यह सभी उपाय वायु के प्रशमनार्थ हैं।

वक्तव्य—न निःस्नेहाङ्गी[3] सस्नेहाङ्गी। नवम मास से लेकर जबतक मुक्त गर्भशल्या न हो, तबतक प्रतिदिन होने वाले कुपित वायु के रक्षार्थ सदैव तैल की मालिश करनी चाहिए।

प्राग्दक्षिणस्तनस्तन्या पूर्वं तत्पार्श्वचेष्टिनी ॥६९॥
पुन्नामदौर्हृदप्रश्नरता पुंस्वप्नदर्शिनी।
उन्नते दक्षिणे कुक्षौ गर्भे च परिमण्डले ॥७०॥
पुत्रं सूतेऽन्यथा कन्यां याचेच्छति नृसंगतिम्।
नृत्यवादित्रगान्धर्वे गन्धमाल्यप्रियाच या ॥७१॥

जिस सगर्भा के प्रथम दक्षिण स्तन में दुग्ध आता है, तथा दक्षिण पार्श्व से ही कार्य करती है। पुलिङ्ग नाम वाले दौर्हृदों के पूछने में रुचि हो, तथा पुरुष लिङ्ग के ही स्वप्नों को देखे, दक्षिण की तरफ का उदर भारी हो, गर्भ भी परिमण्डल (गोलाकार) हो, ऐसी स्त्री पुत्र को उत्पन्न करती है। इस के विपरीत लक्षणों वाली कन्या को उत्पन्न करती है। जो पुरुष की अभिलाषा करती है, तथा नाचना, गाना, बाजा बजाना, गन्ध-माल्य आदि से प्रेम करती हो, उसको कन्या उत्पन्न होती है।

वक्तव्य—इन श्लोकों में गर्भिणी के अव्यभिचारि पुत्र-कन्या-प्रसव के लक्षणों का अनुमान किया गया है। तत्पार्श्वचेष्टिनी—दक्षिण पार्श्व से गमन, स्वप्न, दक्षिण पादगमन, दक्षिणबाहु चेष्टा आदि सभी लिये गये हैं। पुन्नाम—आम्र, दाडिम, अशोक, कमल आदि। दौर्हृद-सगर्भावस्था में गर्भिणी की जो अभिलाषा होती है, उसको दौर्हृद कहते हैं। पुंस्वप्नदर्शिनी—पुरुष वाचक स्वप्न—पुरुष गजवाजिवराहादि। परिमण्डल-वर्तुल। चरक, सुश्रुत, वृ. वाग्भट्ट ने भी यही वर्णन किया है[1]। किन्तु चरक ने प्रथम पुत्रोत्पत्ति का वर्णन न करके कन्योत्पत्ति का वर्णन किया है और सब प्रायः समझा नहीं है। अष्टांग संग्रह में क्षुधा का अधिक लगना, नाभि से नीचे रोमराजी ऊर्ध्वमुखवाली हो यह अधिक है।

क्लीवं तत्संकरे तत्र मध्यकुक्षेः समुन्नतम्।
यमौ पार्श्वद्वयोन्नामात् कुक्षौ द्रोण्यामिवस्थिते ॥७२॥

जिस गर्भिणी के संकर लक्षण न हो। अर्थात् पुत्र और कन्या इन दोनों के लक्षण हो, उदर का मध्यभाग उन्नत

---

[1] बिल्वकार्पासीफम्फणापाटलीपिचुमन्दाग्निमन्थमांसीवर्धमानकपत्रभङ्गक्वाथेन शीतेन सर्वगन्धोदकेनवा गर्भिण्याः प्रत्यहं स्नानमुपदिशेत्। (अ. सं. शा. ३)।

[2] वातघ्नानां द्रव्याणां पत्राणि, तेषां भङ्गः समूहः (अ. द.)। पत्राद् भङ्गानि पत्रभङ्गानि (इन्दु)।

[3] निःशेषेण निरस्तः स्नेहो यस्मादङ्गात्तदेवं निःस्नेमंगं यस्याः सा निःस्नेहाङ्गी। तां न वासयेत्, अपितु सस्नेहाङ्गीं स्थापयेत्। (अ. दत्त)।

[1] सव्याङ्गचेष्टा पुरुषार्थिनीस्त्री स्त्रीस्वप्नपानाशनशीलचेष्टा।

सव्यात्तगर्भा न च वृत्तगर्भा सव्यप्रदुग्धा स्त्रियमेव सूते ॥२४॥

पुत्रंत्वतोलिङ्गविपर्ययेण (च० शा. २)

तत्र यस्या दक्षिणे स्तने प्राक पयोदर्शनं भवति दक्षिणाक्षि महत्वंच, पूर्वंच दक्षिणं सक्थ्युत्कर्षति बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति स्वप्नेषु चोपलभते पद्मोत्पलकुमुदाम्रातकादीनि पुन्नामान्येव प्रसन्नमुखवर्णाच भवति तां ब्रूयात् पुत्रमियं जनयिष्यतीति, तद् विपर्यये कन्याम्। (सु. शा. ३)।

तत्र या दक्षिणं पादं . . तीक्ष्णक्षुदूर्ध्वरोमराजिः पुरुषानमिलाषिणी च सा पुत्रं प्रसूते, तद्विपर्ययेकन्याम् (अ. सं. शा.) [illegible]

हो, उसके नपुंसक गर्भ[1] उत्पन्न होगा जिस सगर्भा के दोनों कुक्षियाँ अलग-अलग उन्नत मालूम हो और मध्य भाग द्रोणी की तरह हो––उसके दो गर्भ उत्पन्न होते हैं[2]।

वक्तव्य––जिसके कुक्षि का मध्यभाग उन्नत हो। चरक में केवल व्यामिश्रलिङ्ग––अर्थात् कन्या और पुत्र दोनों की गर्भस्थिति के लक्षण मिलते हों वह स्त्री तृतीय प्रकृति (नपुंसक) को उत्पन्न करती है। वहां कुक्षि का उन्नत होना नहीं लिखा है। सुश्रुत ने पार्श्वद्वय का उन्नत होना, उदर का अगाड़ी निकलना क्लीव के लक्षणों में लिखा है। यमके लक्षण में केवल उदर मध्य में दबा हुआ द्रोणी के आकार का बतलाया है, यह हृदय तथा सुश्रुत में भेद है। वृ. वाग्भट्ट ने केवल संकर लक्षणों से ही क्लीव का वर्णन किया है। द्रोणी––जल भरने के लिये पत्थर या लकड़ी का जो बड़ा पात्र होता है, उसको द्रोणी कहते हैं[3]। इसप्रकरण में द्रोणीशब्द से उदर का अधिकबड़ा होना अभिप्रेत है। यह देखने में आता है कि जब पेट में दो गर्भ होते हैं, तब नाभि के समीप उदर की परिधि एक गर्भ की अपेक्षा दो से चार इञ्च तक अधिक बढ़ जाती है।

सूतिकागृह

प्राक्चैव नवमान्मासात् सा सूतिगृहमाश्रयेत्।
देशे प्रशस्ते सम्भारैः सम्पन्नं साध्रकेऽहनि ॥३॥

नवम मास से पूर्व ही गर्भिणीस्त्री को सूतिका गृह में आश्रय लेना चाहिये। यह गृह उत्तम स्थान में समस्त साधनों से सज्जित रहना चाहिये, तथा शुभ पुरुष वाचक नक्षत्र वाले दिन में इस घर में प्रवेश करना चाहिये।

वक्तव्य––सूतिकागार जहां पर गर्भवती प्रसव करती है तथा प्रसव के बाद कुछ दिनों तक रहती है, उसको सूतिकागार[4] कहते हैं। नवम मास से पूर्व ही गर्भिणी के लिये सूतिकागृह तैयार हो जाना चाहिये––अर्थात् नवम मास में सगर्भा सूतिकागार में आश्रय लेती है, इसलिये सूतिकागृह अष्टम मास के अन्त तक अच्छी तरह बन जाना चाहिये[1]। प्रशस्ते देशे यह––गृह ऐसे स्थान पर होना चाहिये जहां पर अस्थि, रेती तथा कपाल (मिट्टी के टुकड़े) न हों तथा प्रशस्त अर्थात्-श्रेष्ठ रूप-रसगन्ध युक्त भूमि[2] में विल्व के काष्ठों से बनाना चाहिये। इसका द्वार पूर्व या उत्तर की तरफ होना चाहिये।[3] सम्भार––प्रसवोपयोगी साधन-सामग्री अर्थात् अग्रोपहरणीय द्रव्य। चरक[4] में इनका निर्देश इस तरह किया है "सूतिकागार में घृत, तैल, मधु, सैन्धा नमक, सौवर्चल, विडलवण, वायविडंग, कुष्ठ, देवदारु, सोंठ, पिप्पली, पिप्पलीमूल, हस्तिपिप्पली, मण्डूकपर्णी, एला, कलिहारी, वचा, चव्य, चित्रक, करञ्ज, हिंगु, सरसो, लशुन, जीरक, अग्निमन्थ, कदम्ब, अतसी, कालीमिर्च, सुरा, आसव आदि औषधियाँ।

यह सूतिकागृह[5] शुभ्र वस्त्र, शुभ्र आलेपन, शुभ्र विधान और श्रेष्ठ गुण युक्त गवाक्ष (खिड़की, रोशनदान, अथवा धूआँ आदि बाहर निकलने की जगह) से युक्त होना चाहिये। वास्तुविद्याकुशलों के सिद्धान्तानुसार अग्निस्थान, जलस्थान, उलूखलस्थान, पुरीषस्थान, स्नानागार, महानस आदि यथास्थान बनाना चाहिये। यह सूतिकागृह ऋतु के अनुसार सुखकारी बनाना चाहिये। सूतिकागृह काफी विस्तृत होना चाहिये, जिसमें उपरोक्त साधनों के साथ आवश्यक सभी साधन सामग्री रखने के लिये तथा जाने-आने में किसी तरह की कठिनाई नहीं हो।

चरक ने बहुत विस्तार से सूतिकागार का वर्णन हुआ है। सुश्रुत में भी सूतिगृह का वर्णन के साथ "आठ हाथ लम्बा और चार हाथ चौड़ा" प्रसवागार[6] लिखा है। इन

---

[1] व्यामिश्र लिङ्गा प्रकृति तृतीयाम्। (च. शा. २)

[2] यस्याः पार्श्वद्वयमुन्नतं पुरस्तान्निर्गतमुदरं प्रागाभिहित लक्षणं च तस्या नपुंसकमितिविद्यात्। यस्यामध्ये निम्नं द्रोणीभूतमुदरं सा युग्मं प्रसूयत इति।

[3] दारुरचिता नौसदृशी। 'टव' इत्याख्याते (सु. शा. ३) पात्र विशेषे।" "द्रोणी काष्ठाम्बुवाहिनी––" इत्यमरः।

[4] यत्र गर्भिणी प्रसूता यत्र च तिष्ठति तत् सूतिकागारम् (चक्रपाणि)।

[1] प्राक्चैवास्या नवमान्मासात् सूतिगाकारं कारयेत् (चरक)

[2] अपहृतास्थिशर्कराकपालेदेशे प्रशस्त रूप रसगन्धायां भूमौ वैल्वानांकाष्ठानामागारं कारयेत् (चरक)।

[3] प्राग् द्वारमुदम्द्वारं वा (वृ० वा०) चरकश्च।

[4] तत्र सर्पिस्तैलमधुसैन्धवसौवर्चलकालबिड्लवणविडङ्गकुष्ठकिलिमनागरपिप्पलीपिप्पलीमूलहस्तिपिप्पली मण्डूकपार्ण्येला..सुरासवाः सन्निहिताःस्युः (चरक शा. ८)।

[5] सूतिकागारं कारयेत्। वास्तुविद्याहृदययोगाग्निसलिलोदूखलवर्चःस्थानस्नानभूमिमहानसमृतु सुखञ्च। (चरक शा. ८)

[6] अष्टहस्तायतं चतुर्हस्तायतं वा। (सुश्रुत)।

दोनों आचार्यों ने लिखा है कि सूतिकागृह बनाने चाहिये। इससे ज्ञात होता है कि प्राचीन काल में अस्थायी रूप से झोपड़ी की तरह यह बनाने की प्रथा थी। चरक[1] ने स्थान की मर्यादा नहीं बताई है किन्तु उन्होंने निवात प्रवातैक देश, सुख प्रविचार आदि गृह में होने चाहिये, ऐसा निर्देश किया है इससे तो यह स्पष्ट होता है--कि जैसे आधुनिक प्रसूतिगृह सब सामग्रियों से सुसज्जित-सुप्रकाश एवं हवा वाले होते हैं, वैसे प्राचीन काल में भी था। किन्तु नवीनों की प्रथा के अनुसार अत्यधिक हवा भी नहीं होनी चाहिये, तथा प्राचीन काल की तरह अत्यन्त अन्धेरा और बिल्कुल हवा बन्द भी नहीं होनी चाहिये। प्रसूतिगृह में हवा का प्रबन्ध तथा प्रकाश अत्यन्त आवश्यक है, किन्तु इनका अतियोग होना हानिकारक है।

आचार्यों ने स्थान के लिये ऐसा आदेश दिया है कि "निवातप्रवातैक देश, आतपवर्जित तथा अन्धकार रहित" होना चाहिये[2]। सामान्यत: सूतिकागृह में एक द्वार से वायु का आगमन होता रहे, जिससे मकान में अच्छी हवा भी मिलती रहे किन्तु इस वायु के आवागमन से प्रसूता तथा बालक को सर्वथा बचाना चाहिये तथा नवजात शिशु एवं प्रसूता के लिये अत्यधिक असह्य प्रकाश तथा बिल्कुल अन्धेरा भी नहीं होना चाहिये। क्योंकि काश्यप[3] संहिता कार ने प्रकाश के लिये अनभ्यस्त शिशु को प्रकाश सहन करने की बहुत उत्तम विधि बतलाई है। प्रसूता स्त्री प्रसववेदना, तथा रक्तस्राव के कारण अत्यन्त परिश्रान्त होती है क्योंकि "गर्भ के गर्भाशय में बढ़ने के कारण, शरीर की धातुओं के क्षीण और शिथिल हो जाने से तथा कुन्थन, प्रसव वेदना, क्लेद, रक्तस्राव के कारण शरीर शून्य[1] हो जाती है" इस अवस्था में वायु की अत्यधिक विकृति हो जाने से प्रसूतिका के रोग असाध्य हो जाते हैं, इन कारणों से यह हानिकर होता है।

यद्यपि शुद्ध वायु स्वास्थ्यकर है। शुद्ध वायु जीवन के लिये अत्यन्त आवश्यक है। शुद्ध वायु से दूषित रक्त की शुद्धि होती है, शुद्ध रक्त शरीर के जीवन में धारण-पोषणकर्म द्वारा सहायता करता है। शुद्ध वायु के न मिलने से स्वास्थ्य में हानि होती है किन्तु प्रसूता तथा नवजात शिशु के लिये अत्यधिक वायु विकार कारक होता है, इसीलिये आचार्यों ने "निवात" शब्द देकर अर्थात् जिस स्थान में प्रवाहरहित वायु हो; कहा है। अतएव वायु के स्वतंत्र कार्य प्रजापालन की दृष्टि से बहुत ही महत्व[2] के होते हैं।

निष्कर्ष—सूतिकागृह स्वच्छ और समस्त साधन-सामग्रियों से सुसज्जित, सम्पूर्ण सामग्री रखने पर भी उसमें संचार करने के लिये किसी प्रकार की असुविधा न हो, प्रशस्त-स्नान: वर्च: स्थानादि सुविधा युक्त, ऋतु के अनुसार सुखप्रद, प्रचण्डवातातपरहित, प्रवातैक देश, अतमस्क, असंकीर्ण होना चाहिये।

तत्रोदीक्षेत सासूतिं सूतिका परिवारिता।

वहां पर सूतिकाओं से युक्त गर्भिणी स्त्री प्रसव की प्रतीक्षा करे।

वक्तव्य—सूतिकागार में एकवार प्रवेश करने के बाद स्त्री वहीं पर प्रसवकाल तक रहती है, तथा उसके पास हमेशा प्रजननकार्य कुशल स्त्रियाँ भी रहा करती हैं। अर्थात् जिन्हें अनेक वार प्रसव हो चुका हो या प्रसव कराया हो, जो मैत्री भाव रखने वाली हो, जो प्रसूता के अनुकूल आचरण करने वाली हो तथा कार्य में दक्ष हो, जो युक्ति, कुशल, ईशारे को समझने वाली तथा कर्मानुष्ठान में कुशल हो, स्वभाव से क्लेशसहिष्णु हो, विवाद रहित और प्रियवादिनी हो, ऐसी स्त्रियों को रखना चाहिये।[3]

---

[1] दृढं निवातं प्रवातैकदेशं सुखप्रविचारमनुपत्यकं धूमातपजलरजसामभिगमनीयमनिष्टानां च शब्दस्पर्शरूप रसगन्धनां सोदपानोदूखल मूसलवर्च:स्थानस्नानभूमिमहानसोपेतंवास्तुविद्याकुशल: प्रशस्तं गृहमेव तावत्पूर्वमुपकल्पयेत् (चरक. सू. १५)।

[2] प्रशस्तवास्तुनिगृहे शुचावातपवर्जिते।
निवाते नच रोगा: स्यु: शारीरागन्तुमानसा:॥
(सु. सू. १९)।

[3] अथ खलु शिशोर्जातस्य तत्कर्मण्यभिनिवृत्ते प्रथम एव मासि कृतरक्षाहोममङ्गलस्वस्त्ययनस्य सूर्योदयदर्शनावस्थानं, प्रदोषे चन्द्रमस:। (का. सं.)।

[1] सूतिकाया यो व्याधिर्भवति स कृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा।

गर्भवृद्धिक्षयित शिथिल सर्वधातुत्वात्, प्रवाहणवेदना-क्लेदनरक्तनि:स्रुति विशेषशून्यशरीरत्वाच्च। (च. शा. ८)।

[2] वायु:पालयतिप्रजा:। वायु के विशेषज्ञानार्थ "वायुस्तंत्रयंत्रधर:—आदि वातकलाकलीय प्रकरण का म. म. स्व. श्री गणनाथसेन सरस्वतीकृत नव्य व्याख्यान प्रत्यक्ष शारीर तृतीय भाग में देखना चाहिये।

[3] स्त्रियश्चबह्वो बहुश: प्रजाता: सौहार्दयुक्ता सततमनुरक्ता: प्रदक्षिणाचारा: प्रतिपत्तिकुशला: (चरक शा. ८)।

ऋतुकाल चर्या

डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाहा 'पथिक' बी० ए०, एच० एम० डी० एस०

'आर्तव' स्त्रियों के शरीर में एक उपधातु है जो प्रायः १२ वर्ष की अवस्था से ५० वर्ष की अवस्था तक आहार रस[1] धातु से उत्पन्न होकर प्रतिमास में अपानवायु द्वारा गर्भाशय में योनि पथसे होता हुआ बाहर निकला करता है। 'आर्तव' को पुष्प, रज, ऋतु, शोणित भी कहते हैं। यद्यपि एक मास[2] की अवधि से पहिले ही आर्तव, रस में बन जाता है तथापि यहाँ लगभग एक मास में प्रायः आर्तव बन जाता है।

अधिकांश महिलाओं को २७ वें दिन आर्तव प्रतिमास दिखायी पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सक इसे 'मन्थली-कोर्स', मेन्स्यूरेशन भी कहते हैं। आर्तवका वर्ण सधारण-तया कुछ काला होता है।[3] जब आर्तव स्वभाविक से अधिक निकलता है तब यह खरगोश के रक्त, लाख, गुंजा के रंग के समान शुद्ध लाल होता है। यथा—

"शशासृक् प्रतिमं यत्तु यद्वालाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरंजयेत्।"

महर्षि चरक, वाग्भट, सुश्रुत ने जो प्रशस्त आर्तव का स्वरूप लाख, गुंजा, बीरबहूटी तथा खरहे के रक्त के सदृश माना है, वह आदर्शस्वरूप है। यथा—

"आर्त्तवं पुनःशशरुधिरलाक्षारसोपमं शुद्धमाहुः"
(अष्टांगसंग्रह)

"गुंजाफलसवर्णं च पद्मामालक्तक सन्निभम्
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥"
(चरक० चिकि० अ० ३०।२२६)

ऋतुस्राव का रक्त शुद्ध रक्त नहीं होता, अपितु मैला व दूषित रक्त होता है। इसका पड़ा हुआ दाग जल से धोने से स्वच्छ हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि—

"यद्वासो नविरंजयेत्"|जिससे वस्त्र रंगता नहीं वह आर्त्तव शुद्ध है। केवल रक्त या लाल रंग देखने से इसे 'रक्त' कहते हैं। इसमें रक्त का कुछ अंश, श्लैष्मिक झिल्लियाँ, कुछ क्षार होते हैं। यह रक्त स्वयं ही तीन-चार दिन के बाद रुक जाता है। इस रक्त से स्त्री में कृशता आने के अतिरक्त और कोई हानि नहीं होती। इस कृशता से भी उसमें प्रसन्नता रहती है। साधारण रक्त की अपेक्षा आर्तव के रक्त में खटिक चूना (Calcium) विशेष होता है।

आर्तव प्रायः चार-पाँच दिनों तक निकलता रहता है। दो दिन से न्यून और आठ दिन से अधिक समय तक यदि निकलता रहे, तो किसी रोग की उपस्थिति समझनी चाहिए।

स्त्रियों के स्वास्थ्य, भोजन, प्रकृति आदि के प्रभाव से आर्तव की अवधि में अन्तर पाया जाता है। सामान्यतः ३ दिन से लेकर ७ दिन तक आर्तवस्राव होता है, प्राचीन एवं अर्वाचीन सब इससे सहमत हैं। यथा—

"रक्तमेव स्त्रीणां मासे-मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य त्र्यहं प्रवर्त्तमानमाहुः।" (अष्टांग संग्रह शा० अ० १)

"मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवतित्र्यहम्।"
(अष्टाङ्ग हृदय० शा०)

"रजः सप्तदिनं यावत्। (हारीत संहिता),

"दित्रत्रयं प्रवृत्तिश्च कुरुते शोणितं स्त्रियाः। पञ्चरात्रानुबन्धिच।"
(चरक)

आर्तव की मात्रा—सामान्यतः दो से चार-पाँच छटांक तक होती है। यह सब स्त्रियों में एक परिमाण में नहीं होता है।

ऋतुकाल एवं ऋतुमतीः—रुधिर निकलने के दिन से १६ रात्रि तक 'ऋतुकाल' कहते हैं और उस स्त्री को 'ऋतुम कहते हैं। यथा—

"षोडश दिवसा ऋतुकालः" (हारीत)

"ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्" (चक्रपाणिदत्त)

जैसे अन्न ऋतुकाल में ही बोने से उत्पन्न होता है उ प्रकार गर्भ की स्थिति भी इसी काल में होती है।

गर्भधारणयोग्य ऋतुकाल—ऋतुकाल के १६ दिन में से ३ दिन और अन्तिम १६ वाँ दिन छोड़ कर शेष १२ रात्रि ही गर्भधारण के योग्य होती हैं। यथा—

"ऋतुस्तुदृष्टार्त्तवो द्वादशरात्रं भवति। षोडशरा त्रमित्यन्ये।" (अष्टांग संग्रह शारी० अ० ३।

---

[1] १—सुश्रुत. सू. अ. १४।१६
[2] २—सु, सू. अ. १४।१४
[3] ३—सु. शारी० अ० ३।१०

"ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति ।"
(सुश्रुत, शारी० अ० १।६) ।

वेद में भी लिखा है--

आस्यैब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः ।
अर्यम्णो अग्नि पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वसुरोदेवरश्च ।
(अथर्व० १४।१।३९

अर्थ--"(अस्यै) इस वधू के लिए (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण अर्थात् वेदों के विद्वान् वैद्यलोग (स्नपनीः) स्नान के योग्य (आपः) जलों को (आहरन्तु) लावें, (अवीरघ्नीः) और वीर पुत्रों का नाशन करने वाले जलों को (उदजन्तु) उत्कृष्ट बनाकर लावें। (अर्यम्णः) आर्य मन वाले पति के (अग्निम्) तेज को अर्थात् वीर्याग्नि को (पर्येतु) यह वधू प्राप्त करे। (पूषन्) हे पुष्टपति ! (श्वशुरः देवरः च) वधू के श्वशुर देवर आदि (प्रतीक्षन्ते) इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'ब्राह्मण वैद्य गर्भाधान के दिन अर्थात् ऋतुमती होने के चौथे दिन वधू के लिए स्नान योग्य जलों को लावें। यह जल नानाविध औषधियों के द्वारा उत्कृष्ट बनाकर वधू के स्नान के निमित्त लाना चाहिए। गर्भाधान के समय तथा पश्चात् भी वधू यदि ऐसे उत्कृष्ट जलों के द्वारा स्नान करती रहे तो गर्भस्थापन हो जाता है, तथा गर्भस्थ बच्चे का नाश नहीं होता। इस स्नान द्वारा बच्चे पुष्ट और स्वस्थ होकर संसार में आते हैं।

चरक में "गर्भस्थापनौषध प्रकरण" में लिखा है कि "गर्भवती स्त्री इन्द्रायण, ब्राह्मी, सफेद दूब, नीली दूब, पाटल, गिलोय, हरड़, नीम, खरेटी, शतमूली-इन सब औषधियों के साथ सिद्ध किए हुए दुग्ध और घृत का पान करे तथा इन औषधियों के साथ सिद्ध किए गए जल से स्नान, करे। (चरक, शारीर स्थान अ० ८)

स्नान के पश्चात् वधू, पति के तेज को, अपने गर्भाशय में धारण करे। इस समय पति को अर्यमा का रूप धारण करना चाहिए। अर्यमा का अर्थ है श्रेष्ठ मनवाला। यह इसलिए चूंकि गर्भाधान के समय के विचारों का प्रभाव बच्चे पर अत्यधिक पड़ता है। उस समय पति को अपने विचार अवश्य श्रेष्ठ बनाने चाहिए, अपने को आर्यमन वाला बनाना चाहिए।[१]

"आर्त्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः ।
गर्भग्रहण योग्यस्तु स एव समयः स्मृतः ।"
(भावप्रकाश)

अर्थ--आर्त्तव निकलने के दिन से १६ रात्रि तक ऋतु कहलाता है, और यही समय गर्भधारण करने के योग्य कहा गया है।

"मासे मासे ऋतुः स्त्रीणां दृष्ट्वा ऋतुमतीस्त्रियः ।
रजः सप्तदिनं यावत् ऋतुश्च भिषजांवर ।।
सप्तरात्राद्योनिशुद्धिस्तस्मादृतु मतीभवेत् ।
दृश्यते च रजः स्त्रीणां विना योगेन पुत्रक ।।
(हारीतः शा० अ० १)

अर्थ--प्रतिमास स्त्रियों को आर्तव होता है उसको देखकर ही स्त्री ऋतुमती होती है। हे श्रेष्ठ भिषक् ! सात दिन तक स्त्रियों को रज रहता है, तब तक ऋतुसमय कहलाता है। और सात दिन के बाद योनि की शुद्धि होती है. तब वह 'ऋतुमती' कहलाती है। स्त्रियों को रज बिना योग से ही होता है।

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम् ।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्द्धजाम् ।।
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम् ।
हर्षोत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति ।।
(सुश्रुत० शा० अ० ३)

अर्थ--जिसका मुख पुष्ट और प्रसन्न हो तथा सारे शरीर और चन्द्र-वदन पर पसीना आ रहा हो, जिसे नर की कामना हो, तथा जो मीठी, प्यारी बातें करे, जिसकी कुक्षि, नेत्र और बाल ढीले से हो जायें, तथा भुजाएँ, कुच, कटि, नाभि, जानु, जंघा, और नितम्ब फड़कने लगजायें, एवं जो हर्ष और आनन्द में तत्पर हो, ऐसी स्त्री को 'ऋतु मती' जानना चाहिए।

"नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यंबुजो यथा ।
ऋतौ व्यतीतेनार्यस्तु योनिः संवृयते तथा ।।
(सुश्रुत० शा० अ० ३)

अर्थ--'जैसे दिन व्यतीत होने पर कमल संकुचित हो जाता है, उसी तरह ऋतु व्यतीत हो जाने पर स्त्री-योनि (गर्भाशय मुख) बन्द हो जाता है।

आर्तव किस प्रकार निकलता है ?

इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं--

प्रथमावस्था--(Premenstrual Corgestion)--आर्तव निकलने के चार-पांच दिवस पूर्व से गर्भाशय की

---

[१] पं० विश्वनाथ विद्यालङ्कार, "वैदिक गृहस्थाश्रम" प्रथम-संस्करण, पृष्ठ ६८, ६९)

ऋतुकाल चर्या

डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाहा 'पथिक' बी० ए०, एच० एम० डी० एस०

'आर्तव' स्त्रियों के शरीर में एक उपधातु है जो प्रायः १२ वर्ष की अवस्था से ५० वर्ष की अवस्था तक आहार रस[1] धातु से उत्पन्न होकर प्रतिमास में अपानवायु द्वारा गर्भाशय में योनि पथसे होता हुआ बाहर निकला करता है। 'आर्तव' को पुष्प, रज, ऋतु, शोणित भी कहते हैं। यद्यपि एक मास[2] की अवधि से पहिले ही आर्तव, रस में बन जाता है तथापि यहाँ लगभग एक मास में प्रायः आर्तव बन जाता है।

अधिकांश महिलाओं को २७ वें दिन आर्तव प्रतिमास दिखायी पड़ता है। पाश्चात्य चिकित्सक इसे 'मन्थली-कोर्स', मेन्स्यूरेशन भी कहते हैं। आर्तवका वर्ण सधारणतया कुछ काला होता है।[3] जब आर्तव स्वभाविक से अधिक निकलता है तब यह खरगोश के रक्त, लाख, गुंजा के रंग के समान शुद्ध लाल होता है। यथा--

"शशासृक् प्रतिमं यत्तु यद्वालाक्षारसोपमम्।
तदार्तवं प्रशंसन्ति यद्वासो न विरंजयेत्।"

महर्षि चरक, वाग्भट, सुश्रुत ने जो प्रशस्त आर्तव का स्वरूप लाख, गुंजा, बीरबहूटी तथा खरहे के रक्त के सदृश माना है, वह आदर्शस्वरूप है। यथा—

"आर्त्तवं पुनःशशरुधिरलाक्षारसोपमं शुद्धमाहुः"
(अष्टांगसंग्रह)

"गुंजाफलसवर्णं च पद्मामालक्तक सन्निभम्
इन्द्रगोपकसंकाशमार्त्तवं शुद्धमादिशेत्॥"
(चरक० चिकि० अ० ३०।२२६)

ऋतुस्राव का रक्त शुद्ध रक्त नहीं होता, अपितु मैला व दूषित रक्त होता है। इसका पड़ा हुआ दाग जल से धोने से स्वच्छ हो जाता है। इसीलिए कहा गया है कि—

"यद्वासो नविरंजयेत्"। जिससे वस्त्र रंगता नहीं वह आर्त्तव शुद्ध है। केवल रक्त या लाल रंग देखने से इसे 'रक्त' कहते हैं। इसमें रक्त का कुछ अंश, श्लैष्मिक झिल्लियाँ, कुछ क्षार होते-हैं। यह रक्त स्वयं ही तीन-चार दिन के बाद रुक जाता है। इस रक्त से स्त्री में कृशता आने के अतिरक्त और कोई हानि नहीं होती। इस कृशता से भी उसमें प्रसन्नता रहती है। साधारण रक्त की अपेक्षा आर्तव के रक्त में खटिक चूना (Calcium) विशेष होता है।

आर्तव प्रायः चार-पाँच दिनों तक निकलता रहता है। दो दिन से न्यून और आठ दिन से अधिक समय तक यदि निकलता रहे, तो किसी रोग की उपस्थिति समझनी चाहिए।

स्त्रियों के स्वास्थ्य, भोजन, प्रकृति आदि के प्रभाव से आर्तव की अवधि में अन्तर पाया जाता है। सामान्यतः ३ दिन से लेकर ७ दिन तक आर्तवस्राव होता है, प्राचीन एवं अर्वाचीन सब इससे सहमत हैं। यथा—

"रक्तमेव स्त्रीणां मासे-मासे गर्भकोष्ठमनुप्राप्य अह प्रवर्त्तमानमाहुः।" (अष्टांग संग्रह शा० अ० १)

"मासि मासि रजः स्त्रीणां रसजं स्रवतित्र्यहम्।"
(अष्टाङ्ग हृदय० शा०)

"रजः सप्तदिनं यावत्। (हारीत संहिता),

"दित्रत्रयं प्रवृत्तिश्च कुरुते शोणितं स्त्रियाः। पञ्चरात्रा नुबन्धिच।"
(चरक

आर्तव की मात्रा—सामान्यतः दो से चार-पाँच छटां तक होती है। यह सब स्त्रियों में एक परिमाण में नहीं होता है।

ऋतुकाल एवं ऋतुमतीः—रुधिर निकलने के दिन १६ रात्रि तक 'ऋतुकाल' कहते हैं और उस स्त्री को 'ऋतुम कहते हैं। यथा—

"षोडश दिवसा ऋतुकालः" (हारीत)

"ऋतुकालं तु षोडशरात्रं यावत्" (चक्रपाणिदत्त)

जैसे अन्न ऋतुकाल में ही बोने से उत्पन्न होता है उ प्रकार गर्भ की स्थिति भी इसी काल में होती है।

गर्भधारणयोग्य ऋतुकाल—ऋतुकाल के १६ दिन ३ दिन और अन्तिम १६ वाँ दिन छोड़ कर शेष १२ रात्रि ही गर्भधारण के योग्य होती हैं। यथा—

"ऋतुस्तुदृष्टार्त्तवो द्वादशरात्रं भवति। षोडश मित्यन्ये।
(अष्टांग संग्रह शारी० अ० १

---

[1] सुश्रुत. सू. अ. १४।१६
[2] सु, सू. अ. १४।१४
[3] सु. शारी० अ० ३।१०

"ऋतुस्तु द्वादशरात्रं भवति।"
(सुश्रुत, शारी० अ० २।६)।

वेद में भी लिखा है—

आस्यैब्राह्मणाः स्नपनीर्हरन्त्ववीरघ्नीरुदजन्त्वापः।
अर्यम्णो अग्नि पर्येतु पूषन् प्रतीक्षन्ते श्वसुरोदेवरश्च।
(अथर्व० १४।१।३६

अर्थ—"(अस्यै) इस वधू के लिए (ब्राह्मणाः) ब्राह्मण अर्थात् वेदों के विद्वान् वैद्यलोग (स्नपनीः) स्नान के योग्य (आपः) जलों को (आहरन्तु) लावें, (अवीरघ्नीः) और वीर पुत्रों का नाशन करने वाले जलों को (उदजन्तु) उत्कृष्ट बनाकर लावें। (अर्यम्णः) आर्य मन वाले पति के (अग्निम्) तेज को अर्थात् वीर्याग्नि को (पर्येतु) यह वधू प्राप्त करे। (पूषन्) हे पुष्टपति! (श्वशुरः देवरः च) वधू के श्वशुर देवर आदि (प्रतीक्षन्ते) इसकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।

'ब्राह्मण वैद्य गर्भाधान के दिन अर्थात् ऋतुमती होने के चौथे दिन वधू के लिए स्नान योग्य जलों को लावें। यह जल नानाविध औषधियों के द्वारा उत्कृष्ट बनाकर वधू के स्नान के निमित्त लाना चाहिए। गर्भाधान के समय तथा पश्चात् भी वधू यदि ऐसे उत्कृष्ट जलों के द्वारा स्नान करती रहे तो गर्भस्थापन हो जाता है, तथा गर्भस्थ बच्चे का नाश नहीं होता। इस स्नान द्वारा बच्चे पुष्ट और स्वस्थ होकर संसार में आते हैं।

चरक में "गर्भस्थापनौषध प्रकरण" में लिखा है कि "गर्भवती स्त्री इन्द्रायण, ब्राह्मी, सफेद दूब, नीली दूब, पाटल, गिलोय, हरड़, नीम, खरेटी, शतमूली-इन सब औषधियों के साथ सिद्ध किए हुए दुग्ध और घृत का पान करे तथा इन औषधियों के साथ सिद्ध किए गए जल से स्नान, करे। ("चरक, शारीर स्थान अ० ८)

स्नान के पश्चात् वधू, पति के तेज को, अपने गर्भाशय में धारण करे। इस समय पति को अर्यमा का रूप धारण करना चाहिए। अर्यमा का अर्थ है श्रेष्ठ मनवाला। यह इसलिए चूँकि गर्भाधान के समय के विचारों का प्रभाव बच्चे पर अत्यधिक पड़ता है। उस समय पति को अपने विचार अवश्य श्रेष्ठ बनाने चाहिए, अपने को आर्यमन वाला बनाना चाहिए।[1]

"आर्त्तवस्रावदिवसादृतुः षोडशरात्रयः।
गर्भग्रहण योग्यस्तु स एव समयः स्मृतः।"
(भावप्रकाश)

अर्थ—आर्तव निकलने के दिन से १६ रात्रि तक ऋतु कहलाता है, और यही समय गर्भधारण करने के योग्य कहा गया है।

"मासे मासे ऋतुः स्त्रीणां दृष्ट्वा ऋतुमतीस्त्रियः।
रजः सप्तदिनं यावत् ऋतुश्च भिषजांवर॥
सप्तरात्राद्योनिशुद्धिस्तस्मादृतु मतीभवेत्।
दृश्यते च रजः स्त्रीणां विना योगेन पुत्रक॥
(हारीतः शा० अ० १)

अर्थ—प्रतिमास स्त्रियोंको आर्तव होता है उसको देखकर ही स्त्री ऋतुमती होती है। हे श्रेष्ठ भिषक्! सात दिन तक स्त्रियों को रज रहता है, तब तक ऋतुसमय कहलाता है। और सात दिन के बाद योनि की शुद्धि होती है. तब वह 'ऋतुमती' कहलाती है। स्त्रियों को रज बिना योग से ही होता है।

पीनप्रसन्नवदनां प्रक्लिन्नात्ममुखद्विजाम्।
नरकामां प्रियकथां स्रस्तकुक्ष्यक्षिमूर्द्धजाम्॥
स्फुरद्भुजकुचश्रोणिनाभ्यूरुजघनस्फिचम्।
हर्षोत्सुक्यपरां चापि विद्यादृतुमतीमिति॥
(सुश्रुत० शा० अ० ३)

अर्थ—जिसका मुख पुष्ट और प्रसन्न हो तथा सारे शरीर और चन्द्र-वदन पर पसीना आ रहा हो, जिसे नर की कामना हो, तथा जो मीठी, प्यारी बातें करे, जिसकी कुक्षि, नेत्र और बाल ढीले से हो जायें, तथा भुजाएँ, कुच, कटि, नाभि, जानु, जंघा, और नितम्ब फड़कने लगजायँ, एवं जो हर्ष और आनन्द में तत्पर हो, ऐसी स्त्री को 'ऋतु मती' जानना चाहिए।

"नियतं दिवसेऽतीते संकुचत्यंबुजो यथा।
ऋतौ व्यतीतेनार्यस्तु योनिः संवृयते तथा॥
(सुश्रुत० शा० अ० ३)

अर्थ—'जैसे दिन व्यतीत होने पर कमल संकुचित हो जाता है, उसी तरह ऋतु व्यतीत हो जाने पर स्त्री-योनि (गर्भाशय मुख) बन्द हो जाता है।

आर्तव किस प्रकार निकलता है ?

इसकी चार अवस्थाएँ होती हैं—

प्रथमावस्था—(Premenstrual Corgestion)—आर्तव निकलने के चार-पांच दिवस पूर्व से गर्भाशय की

---

[1] पं० विश्वनाथ विद्यालङ्कार, "वैदिक गृहस्थाश्रम" प्रथम-संस्करण, पृष्ठ ६८, ६९)

श्लैष्मिक कला विशेष रक्तमय होने के कारण पूर्व से विशेष मोटी तथा मुलायम हो जाती है।

द्वितीय अवस्था (Actual menstruation)—यह भी चार पाँच दिन रहती है। इसके प्रारम्भ में केशिकाएँ (Capillaries) और भी विशेष रक्तपूर्ण हो जाती हैं और उनमें से रक्त बह कर श्लैष्मिककला के नीचे कई स्थानों में एकत्रित हो जाता है। अन्त में यह कला फट जाती है और रक्त बह कर गर्भाशय में आ जाता है। इस रक्त में अनेक 'सेलें' भी मिली रहती हैं। आर्तव के रक्त में श्लेष्मा मिली रहने से खटिक (Calcium) अधिक होने पर भी 'रक्तस्कन्दक' (Fibriaferment) की अनुपस्थिति के कारण, रक्त जम नहीं सकता। आर्तव का रंग गहरा लाल होता है और प्रतिक्रिया क्षारीय (Alkaline) होती है। इसमें एक विशेष तरह की गन्ध आती है।

तृतीयावस्था Postmenstruas involution);—यह अवस्था प्रायः सात दिन तक रहती है और इसमें गर्भाशय की श्लैष्मिककला, केशिकाएँ, ग्रन्थियाँ आदि अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त होती हैं।

चतुर्थावस्था (Duiescence)—यह वह समय है जो एक आर्तव की तृतीयावस्था के अन्त से अगले आर्तव की प्रथमावस्था के प्रारंभ तक होता है। यह गर्भाशय के विश्राम की अवस्था है।

उपयुक्त परिवर्तन केवल गर्भाशय के गात्र में ही होते हैं। ग्रीवा, डिम्ब प्रणाली, डिम्ब ग्रन्थि प्रभृति में कोई परिवर्तन नहीं होता, सिवा इसके कि ये भी इस समय विशेष रक्तमय हो जाते हैं। कई नारियों में ऋतुकाल में स्तन की भी कुछ वृद्धि अनुभव होती है। आर्तव के आरम्भ होने से पूर्व कई स्त्रियों की मानसिक तथा शारीरिक दशा में भी कुछ परिवर्तन दिखाई देते हैं—यथा। अरुचि, आलस्य, कमर, नितम्ब, पेडू में भारीपन अथवा वेदना और चिड़चिड़ापन प्रभृति, परन्तु इन से यदि विशेष कष्ट हो तो यथोचित उपचार करना आवश्यक है।

आर्तवका डिम्ब के परिपक्व होने से सम्बन्ध

आर्तव प्रारम्भ होने के प्रायः ५ से १४ दिन बाद डिम्बग्रन्थि से परिपक्व डिम्ब छूटता है और शुक्रकीट (spermatozoon) से इसका संयोग डिम्ब-प्रणाली में ही हो जाता है। इसीलिए गर्भ-स्थिति की इच्छा से स्त्री-सहवास के लिए मासिक स्राव होने के बाद के दश-पन्द्रह दिन उत्तम कहे जाते हैं, क्योंकि इसके उपरान्त डिम्ब जीवित नहीं रहता। आर्तव के समय गर्भाशय की श्लैष्मिक कला इसलिए नरम हो जाती है, जिससे उसमें गर्भ चिपक सके। प्रति मास स्त्री के रक्त में केलशियम की मात्रा बढ़ जाती है, क्योंकि गर्भ की पुष्टि के लिए इस पदार्थ की आवश्यकता होती है। यदि गर्भ-संचार नहीं हो, तो इस केलशियम का विशेष अंश आर्तव के द्वारा निकल जाता है। वास्तव में आर्तव इसी को निकालने के लिए होता है। यदि गर्भ रह जाय तो इस केलशियम को निकालने की आवश्यकता नहीं होती। इसीलिए गर्भ-स्थिति के बाद आर्तव आना बन्द हो जाता है।

आर्तव की उपयोगिता :—

महिलाओं को सर्व प्रथम होनेवाला आर्तव का स्राव 'आर्तव दर्शन' या 'रजोदर्शन' नाम से कहा जाता है। यह प्रायः १२ वें वर्ष से ५० वर्ष तक होता है। देश, प्रकृति, भोजन, काल प्रभृति के भेद से यह समय कम या अधिक होता है—यथा। यूरोप के शीत प्रधान देशों में १८ वर्ष की अवस्था में आर्तव-दर्शन होना पाया जाता है।

यह आर्तव-दर्शन, कौमारावस्था की समाप्ति और युवावस्था के प्रारम्भ का सूचक है। इसके साथ कुचवृद्धि प्रभृति युवावस्था के आगमन सूचक अन्य चिह्न भी स्त्री में दिखलाई देते हैं जिससे ज्ञात होता है कि यह स्त्री अब गर्भधारण के योग्य हो रही है। उसके गर्भाशय में परिवर्तन होने प्रारम्भ हो जाते हैं।

प्रतिमास आर्तव का स्राव ठीक-ठीक न होने से स्त्री के शरीर के दोष वढ़ जाते हैं और स्त्री का स्वास्थ्य ठीक रहता है।

आर्तवस्राव के कम होने या न होने से उस स्त्री के रुग्ण होने का पता चल जाता है।

आर्तवस्राव के बन्द हो जाने पर गर्भाधान हो जाने का ज्ञान हो जाता है और उससे 'प्रसव' होने के समय का अनुमान करने में सहायता मिलती है।

यह आर्तव गर्भाशय की दाहिनी और बायीं ओर स्थित दो डिम्बग्रन्थियों में स्थित डिम्बकोषों में रहते हैं और डिम्बकोष के पक कर फटने पर बाहर आकर डिम्बप्रणाली द्वारा गर्भाशय में पहुँचते हैं। प्रायः एक मास में एक ही स्त्रीबीज पक कर डिम्बकोष में से बाहर निकल कर डिम्बप्रणाली में [illegible] होता है और उसी डिम्बप्रणाली में पुरुष

के शुक्राणु से मिश्रित होकर गर्भधारण क्रिया में सहयोग देता है।

पुरुषों की जननेन्द्रिय लिङ्ग और अण्डकोषों तक ही सीमित रहती है। किन्तु स्त्रियों की जननेन्द्रिय में योनि, भग, गर्भाशय, डिम्बग्रन्थि, डिम्ब-प्रणालियाँ प्रभृति हैं। नारियों की जननेन्द्रिय की रचना जितनी सूक्ष्म है, उतनी पुरुषों की जननेन्द्रिय की नहीं। नौ मास तक गर्भधारण पुरुष नहीं करते, स्त्रियाँ ही करती हैं। गर्भाशय को गर्भ-स्थिति के योग्य बनाने के लिए ही प्रतिमास स्त्रियों की योनि से दूषित रज का स्राव होता है। गर्भाशय की श्लैष्मिक कला को गर्भ के चिपकने योग्य बनाना ही मासिक धर्म का वास्तविक उद्देश्य है।

मासिकधर्म में जो इतनी नियमितता है, वह यह भी बतलाता है कि प्रतिमास मासिक धर्म हो जाने से स्त्रियों के शरीर में कोई संक्रामक रोग उत्पन्न नहीं होता। प्रमेह पुरुषों को ही होता है। महिलाओं में नहीं होता, क्योंकि प्रतिमास उनके शरीर का शोधन हो जाता है।

आजकल रज को 'डिम्ब' नाम से कहा जाता है। और डिम्ब तथा शुक्रकीट के संयोग से गर्भ-रचना होती है। डिम्ब प्रायः एक मास में पकता है और उसी समय डिम्बग्रन्थियों से निकलकर डिम्ब-प्रणाली में आता है। इधर डिम्ब के परिपक्व होनेका समय आ जाता है। उधर एक महीने में शुक्रकीट भी तैयार हो जाता है, किन्तु गर्भाशय की श्लैष्मिककला गर्भधारण के योग्य नहीं रहती और गर्भाशय भी संकुचित रहता है। गर्भाशय की श्लैष्मिक कला को गर्भ पकड़ने योग्य बनाना और गर्भाशय को विकसित करना ही मासिकधर्म का उद्देश्य है।

रजस्वला के कर्त्तव्य :

रजोधर्म के दिनों में सहवास सर्वथा ही निषिद्ध माना गया है। रजोधर्म के अन्तिम दिनों में प्रायः स्त्रियों को सहवास की तीव्र लालसा होती है। मासिकधर्म से शुद्ध होकर स्नान करने पर स्त्री के पास पुरुष को न जाने से पाप लगता है ऐसा माना जाता है।

ऋतुमती स्त्री यदि परवल साग के खेत में चली जाय तो सब पत्ते जल जाते हैं, यदि किसी फल के पेड़ से छू जाय, तो फल पेड़ परसे गिर पड़े। दर्पण में मुँह देखे तो शीशा धुँधला पड़जाय। यदि आर्तव को कुत्ता चाट ले तो पागल हो जाय। ऋतुमती के साथ [illegible] करने से कुष्ठ हो जाता है, पूयमेह, आतशक प्रभृति बीमारियों के होने की आशंका रहती है। आयुर्वेद ग्रन्थ में 'ऋतुमती' को अशुद्ध माना गया है। यथा—

"रजस्वलां गतवतो नरस्यासंयतात्मनः।
दृस्टयायुस्तेजसांहानिरधर्मश्च ततो भवेत् ॥

(भावप्रकाश)

अर्थ—'रजस्वला स्त्री से सहवास करने से मनुष्य की दृष्टि, आयु, तेज इनकी हानि होती है, और धर्मशास्त्र के मत से अधर्म होता है, अतएव पुरुष के लिए रजस्वला स्त्री सर्वथा त्याज्य है।"

"ऋतौ प्रथमदिवसात्प्रभृति ब्रह्मचारिणी दिवास्वप्नाञ्जनाश्रुपातस्नानानुलेपनाभ्यंगनखच्छेदनप्रधावनहसनकथनातिशब्दश्रवणावलेखनानिलायासान् परिहरेत् ॥२३॥

(सुश्रुत शा० अ० २)

अर्थ—"स्त्री को चाहिए कि रजस्वला होने के प्रथम दिवस से रजस्वला की अवधि तक ब्रह्मचारिणी रहे, और दिन में सोना, अञ्जन लगाना, अश्रुपात करना, स्नान करना, उबटन लगाना, तैलाभ्यंग करना, नाखून काटना, दौड़ के चलना, हँसना, बहुत बोलना, तीक्ष्ण शब्द श्रवण करना, अवलेखन-कंघी से बाल-पट्टी बनाना, तीव्र हवा खाना, परिश्रम करना इन सब को न करे, प्रत्युत त्याग दे।"

"किं कारणम्। दिवास्वपंत्या स्वापशीलोऽञ्जनादंधो रोदनाद्विकृतदृष्टिः स्नानानुलेपनाद्दुःखशीलस्तैलाभ्यंगात्कुष्ठी नखापकर्तनात् कुनखी प्रधावनाच्चंचलो हसनात्श्यावदंतौष्ठतालुजिह्वः प्रलापीचातिकथनादतिशब्द श्रवणाद्बधिरोऽवलेखनात्खलतिर्मारुतायाससेवनान्मत्तो गर्भो भतीवत्येवमेतान् परिहरेत् ॥२४॥ (सुश्रुत शा० अ० २)

अर्थ—"उपर्युक्त पथ्याचरण का कारण यह है कि यदि रजस्वला अवस्था के तीन दिनों में दिन में सोवे और जो कहीं उसी ऋतु में गर्भ रहे, तो बालक बहुत सोने वाला उत्पन्न हो, अंञ्चन लगाने से अन्धा, रोने से विकृत दृष्टि वाला, स्नान तथा अनुलेपन करने से दुःखशील, तैलाभ्यंग करने से कुष्ठी, नाखून कतरने से खराबनाखून वाला, दौड़कर चलने से चंचल, हँसने से काले दाँतवाला, काले होठ और तालु तथा जीभवाला होता है। बहुत बोलने से प्रलापी, अति शब्द सुनने से बहरा और अवलेखन-शिरके बालों में कंघी करने से गंजा तथा हवा अधिक खाने और कष्ट करने से [illegible] होता है। इससे इन कामों को त्यागदे।"

"दर्भसंस्तरशायनीं करतलशरावपर्णान्यतमभोजिनीं हविष्यं त्र्यहं भर्तुः संरक्षेत् ततः शुद्धस्नातां चतुर्थेऽह्नि हितवाससमलंकृतां कृतमंगलस्वतिवाचनां भर्त्तारं दर्शयेत् तत् कस्य हेतोः। (सुश्रुत शा० अ० २)

अर्थ--"रजस्वला स्त्री को तीन दिन कुशा की शय्या पर सोना और हथेली या मिट्टी के पात्र में या पत्तों के पत्तल में से किसी में रखकर जौ, चावल आदि हविष्यान्न खाना चाहिए और भर्त्ता से बहुत ही बची रहना चाहिए, यहाँ तक कि दर्शन तक भी नहीं करना चाहिए। फिर चौथे दिन स्नान करके हितकर वस्त्र और आभूषण धारण करके, मंगल, स्वस्तिवाचन करने के बाद स्त्री को भर्त्ता के दर्शन करावे। इसका कारण क्या हैं ?"

"पूर्वंपश्येश्येदृतुस्नाता यादृशं नरसंगना।
तादृशं जनयेत्पुत्रं भर्त्तारं दर्शयेदतः ॥
(सुश्रुत शा० अ० २)

अर्थ--"ऋतु-स्नान करते ही पुरुष के दर्शन करने का कारण यह है कि ऋतु से शुद्ध, स्नान करके स्त्री जैसे पुरुष का पहले दर्शन करे, उसको यदि उस ऋतु में गर्भ रहे, तो वैसा ही उसका पुत्र उत्पन्न होगा।"

"तत्र प्रथमे दिवसे ऋतुमत्यां मैथुनगमनादनायुष्यं पुसां भवति यच्च तत्राधीयते गर्भः स प्रसवमानो विमुच्यत द्वितीयेऽप्येवं सूतिकागुहे वा तृतीयेऽप्येवमसंपूर्णांगोऽल्पायुर्वा भवति चतुर्थे तु संपूर्णांगो दीर्घायुश्च भवति

न च प्रवर्त्तमाने रक्ते बीजप्रविष्टं गुणकरं भवति, यथा नद्यां प्रति स्रोतः प्लाविद्रव्यं प्रक्षिप्तं प्रति निवर्ततेनोर्ध्वं गच्छति तद्वदेव द्रष्टव्यं तस्मान्नियमवतीं त्रिरात्रं परिहरेत् अतः परं मासादुपेयात्। .(सुश्रुत० शा० अ० २)

अर्थ--"जिस दिन स्त्री रजस्वला हो उसी प्रथम दिन उससे मैथुन करने से पुरुषों की आयुका नाश होता है और यदि उस दिन गर्भ रह जाय, तो जन्मते ही शिशु प्राण छोड़ देता है। दूसरे दिन भी रजस्वला के साथ प्रसंग करने से या तो पूर्वोक्त हानि होती है, अथवा सूतिकागृह में शिशु मर जाता है। तीसरे दिन रजस्वला-गमन से या तो उपर्युक्त ही हानि होती है या अधूरे अङ्ग का और अल्प आयुवाला शिशु उत्पन्न होना है।

--रजस्वला-समय में रक्त का प्रवाह होता है और रक्त के प्रवृत्त होने में प्रविष्ट हुआ बीज गुणकारक नहीं होता, जैसे नदी के बहते हुए जल में पड़ा हुआ द्रव्य बह जाता तथा व्याघुटित हो जाता है ऊपर को नहीं आता, इसी तरह रजस्वला में भी जानना चाहिए। इसलिए नियमित तीन रात्रि तक रजस्वला को परित्याग कर दे, इससे पीछे एक मास तक यथोचित रात्रियों में गमन करे।

इन उपर्युक्त-प्रमाणों से स्पष्ट प्रकट होता है कि रजस्वला से कदापि संभोग नहीं करना चाहिए। ऐसी परिस्थिति में संभोग करने से पूयमेह (सोज़ाक), आतशक जैसे भयंकर रोगों से सामना करना पड़ेगा।

रजोधर्म के समय शीतल जल से बचना चाहिए। इसी लिए उसका स्नान करना नितान्त वर्जित है।

आर्तव के समय शरीर तथा जननेन्द्रियों को स्वच्छ रखना चाहिए।

आर्तव-सम्बन्धी व्याधियाँ

आर्तव के सम्बन्ध में निम्नाङ्कित रोग पाए जाते हैं :-
नष्टार्तव ; कष्टार्तव ; अल्पस्राव ; अनुकल्प रज।

कष्टार्तव--(आर्तव का सर्वथा बन्द हो जाना)--इसे 'आर्त्तवादर्शन', मासिकस्राव का रुकना, कहते हैं। अति मैथुन, मासिकधर्म के समय ठंढी चीजों का लगना, मासिक के समय शीतल जल से स्नान करना, एकाएक शोक आ पड़ना आदि कारण हैं।

गर्भ संचार के समय तथा जब शिशु दुग्धपान करता है तब भी रजोरोध पर औषधि नहीं देनी चाहिए। ऐसा होना नैसर्गिक है।

आयुर्वेदिक प्रयोग

(१) मूली बीज १ छटाँक, गाजरबीज १ छटांक, मेथी बीज १ छटाँक इनका चूर्ण कर कपड़छान करे। मात्रा-३ माशा, गरमजल से प्रातःसायं तीन चार दिनों तक।

(२) राई १ तोला, मालकांगनी १ तोला, दूधियावाच १ तोला, विजयसार (लकड़ी) १ तोला इनका चूर्ण कपड़छान कर रखे। मात्रा--३ माशा, शीतल जल अथवा कच्चेदूध से प्रातः तथा सायं।

(३) इन्द्रायण की जड़ जल के साथ पीस बत्ती बना छाया में सुखा कर रखे। योनि में कई दिनों तक रखे तो नष्टार्तव पुनः प्रारम्भ होता है।

कष्टार्तव--आर्तवकाल में पेडूं, कमर, जाँघ, प्रभृति में अत्यन्त दर्द होता है। अति मैथुन, उत्तेजना, जरायु की स्थान-च्युति, कोष्ठ बद्धता इस रोग के प्रमुख कारण हैं।

आयुर्वैदिक प्रयोग--(१) पुष्यानुग चूर्ण (शा० सं०) ३ माशा, शहद ६ माशा, चावल के धोवन के साथ प्रातः-सायं।

(२) योगराजगुग्गुल खिलावे।

(३) रजः प्रवर्तिनी बटी (भै०र०) को गर्मजल से खिलावे।

(४) प्रदरादि लौह ५ रत्ती जल में, कुशमूल पीसकर उस के साथ, प्रातः सायं दें।

(५) मालकांगनी के पत्तों की राख ४ माशा, शीतल जल में घोलकर पिलावे।

(६) ताड़वृक्ष के बाल जलाकर उनका भस्म १ तोला गुड़ १ तोला मिलाकर पानी के साथ देने से बहुत दिनों का बन्द मासिक धर्म भी चालू हो जाता है।

(७) अपामार्ग (ओंगा) की जड़ ५ माशा, पानी में पीस कर बत्ती बनाकर योनि में रखे तो रजः आना प्रारम्भ हो जाता है।

जनस्वास्थ्य और सरकार का दायित्व

वैद्य श्री सभाकान्त झा, आयुर्वेद-शास्त्री

प्रतिवर्ष की भाँति इस वर्ष भी विगत ७ अप्रैल १९६० को समस्त विश्व में स्वास्थ्य-दिवस मनाया गया। भारत के अनेक नगर-उपनगरों में भी इस दिवस का आयोजन किया गया, जिसमें भारत सरकार के स्वास्थ्याधिकारियों ने प्रमुखतया भाग लिया एवं स्वास्थ्य दिवस की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए भारतीय स्वास्थ्य-रक्षा के लिए भारतीय सरकार क्या रह रही है इस पर प्रकाश डाला। कहा जाता है कि स्वास्थ्य संघ का प्रादुर्भाव ७ अप्रैल १९४८ ई० में हुआ, अतएव ७ अप्रैल को यह दिवस सम्पूर्ण विश्व में मनाया जाता है। यह भी कहा जाता है कि १९४८ में में जब विश्वस्वास्थ्य संगठन का प्रादुर्भाव हुआ तो उसने सबसे पहले मलेरिया (विषम ज्वर) से विश्व को मुक्त करने के लिए अन्य कार्यक्रमों की अपेक्षा इसे ही प्राथमिकता दी और उसने ही समस्त विश्व के राष्ट्रों से प्रार्थना की कि अपने-अपने देश में मलेरिया उन्मूलन के लिए मच्छरों को मारने के वास्ते डी० डी० टी० का उपयोग करें। भारत को भी विदेशी सहायता और बालसहायक निधि से दान स्वरूप बहुत-सा दान और सामान प्राप्त हुआ। इसके बाद तो इन्हीं की सहायता से दिल्ली में डी० डी० टी० के निर्माणार्थ बहुत बड़ा कारखाना खुल गया। १९५५ में विश्वस्वास्थ्य संगठन की बैठक जो मैक्सिको में हुई थी, उसमें प्रयोगकर्त्ताओं ने बतलाया कि यदि कुछ दिनों तक मच्छरों को हल्के डी० डी० टी० के स्पर्श में रखा जाए तो इसके प्रतिप्रतिरोधक शक्ति उत्पन्न हो जाती है। अत: यह निश्चय किया गया कि यह प्रतिरोधकशक्ति उत्पन्न होने से पूर्व ही मच्छरों को नष्ट कर देना चाहिए। अस्तु,

जैसा कि पहले कहा जा चुका कि ७ अप्रैल को यह स्वास्थ्य दिवस समस्त विश्व में मनाया जाता है और इस अवसर पर मलेरिया उन्मूलन सम्बन्धी प्रश्न को बराबर दुहराया जाता है। जनस्वास्थ्य-रक्षा की दृष्टि से भारत सरकार भी इस पर करोड़ों रुपये व्यय करती है। इसका स्पष्टीकरण निम्नलिखित उद्धरण से हो जायगा।

"भारत में नेशनल मलेरिया कण्ट्रोल प्रोग्राम का अभियान १९५३ के अप्रैल महीने से प्रारम्भ हुआ था। इस नियन्त्रण कार्यक्रम के परिणामस्वरूप १९५३-५४ में जो मलेरिया रोगियों की संख्या ६३ लाख थी वह १९५६-५७ में घटकर २१ लाख रह गयी; अर्थात् लगभग ६६ प्र० श० मलेरिया रोगियों की संख्या कम हो गई। इसके लिए केन्द्रीय सरकार को १९५३—५८ तक में २९७.३० लाख रुपये खर्च करना पड़ा था और इस वर्ष तथा अगले आयोजन में ६३.२४ करोड़ रु० अनुमान व्यय होंगे। द्वितीय पंचवर्षीय योजना में मलेरिया उन्मूलन के लिए ५५.७२ करोड़ रुपये खर्च किए गये।"

उपरोक्त आँकड़ों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि भारत सरकार मलेरिया उन्मूलन के लिए कितना व्यय कर रही है। स्वास्थ्य विभाग के उच्चाधिकारियों द्वारा भी अत्यन्त ओज पूर्ण शब्दों में इसका विश्लेषण किया जाता है। किन्तु वास्तविकता इससे कुछ भिन्न ही दृष्टिगोचर हो रही है। भारतीयों की स्वास्थ्य-समस्या आज भी ज्यों की त्यों एक समस्या ही बनी हुई है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन और भारतीय जनस्वास्थ्य

विश्व स्वास्थ्य संगठन की स्थापना जिस उद्देश्य से की गई थी, उसकी पूर्णत: कौन कहे, आंशिक पूर्ति भी फिलहाल सुदूर भविष्य की बात प्रतीत होती है। उल्लेखनीय है कि १९४८ में इस अन्ताराष्ट्रीय संगठन की नींव डाली गई थी और ऐसी आशा की गई थी कि इसके सदस्य एक दूसरे के साथ सहयोग करते हुए रोग और अकाल मृत्यु के विरुद्ध एक व्यापक और शक्तिशाली अभियान चलायेंगे। किन्तु अभीतक इस अभियान का कोई चिह्न नहीं दिखाई दे रहा है। विश्व स्वास्थ्य संगठन का मुख्य कार्य रोगों तथा चिकित्सा की सुविधाओं के सम्बन्ध में विभिन्न प्रकार की जानकारी का संलग्न करने तक ही सीमित रहा है। उल्लेखनीय है कि १९४५ में जिस समय राष्ट्रसंघ के घोषणा पत्र को संसार के सम्मुख प्रस्तुत किया गया था, उस समय कुछ अञ्चलों से यह सुझाव आया था कि स्वास्थ्य को भी

इस घोषणा पत्र में स्थान दिया जाय। उस समय यह दलील दी गई थी कि विश्व शान्ति के लिए अन्य बातों के अतिरिक्त यह भी आवश्यक है कि रोगों और अकाल मृत्यु की समस्याओं का यथासम्भव समाधान प्राप्त किया जाय। किन्तु न जाने क्यों स्वास्थ्य के प्रश्न को उतना महत्त्व न प्राप्त हुआ जितना कि होना चाहिये था।

जो भी हो, सम्प्रति इस संगठन का अन्ताराष्ट्रीय आधार पर विस्तार हो रहा है और सदस्य-संख्या भी बढ़ रही है। प्रारम्भ में इस संगठन की सदस्यता केवल २६ देशों तक ही सीमित थी, किन्तु इस समय ६० प्रतिनिधि इसमें हैं। इसके कार्य क्षेत्र के अन्तर्गत इस समय १२० देश आते हैं और इसके कर्मचारियों में लगभग १,००० विशेषज्ञ, चिकित्सक, परिचारिकाएँ तथा अन्य व्यक्ति हैं। इस वर्ष इसने पुनः घोषणा की है कि मलेरिया उन्मूलन के लिए विशेष अभियान चलाया जाय। यह समयोचित एवं सुन्दर घोषणा है। इस बात में कोई सन्देह नहीं कि विज्ञान ने मलेरिया पर पूर्ण विजय प्राप्त कर ली है, और तदनुसार इसका उन्मूलन भी किया जा सकता है।

यदि आज भी एशिया तथा अफ्रीका के अधिकांश देशों में इस रोग का उत्पात कायम है तो इसका प्रधान कारण यही है कि इन देशों की सरकारें इस समस्या के प्रति उदासीनता का दृष्टिकोण अपनाये हुई हैं। यह बात विशेष उल्लेखनीय है कि इस संगठन ने आज से ५ वर्ष पूर्व मलेरिया के विरुद्ध अभियान चलाया था और इसमें कई देशों ने भाग लिया था। इनमें से कई देश मलेरिया से उन्मुक्त भी हो गए और आज भी वहाँ मलेरिया पर नियन्त्रण है। किन्तु इस संगठन के कथनानुसार इस समय भी समस्त विश्व में लगभग एक अरब व्यक्ति इस खतरे से बाहर नहीं हो सके हैं।

मलेरिया के फलस्वरूप केवल भारत को ही प्रतिवर्ष लगभग २॥ अरब की हानी होती है। कहना न होगा कि यदि केवल आर्थिक दृष्टिकोण से ही विचार किया जाय तो भी भारत के लिए यह आवश्यक है कि वह इस विभीषिका का सामना करे। यह संतोष की बात है कि १६५८, अप्रैल से भारत में एक मलेरिया विरोधी अभियान चल रहा है और एतदर्थ विश्वस्वास्थ्य संगठन से काफी आर्थिक और औपचारिक सहायता भी मिली है। किन्तु यह बात नि:संकोच कही जा सकती है कि इसके लिए जिस उत्साह और तत्परता की आवश्यकता है उसका एक दम अभाव है। ध्यान देने की बात है कि गत महायुद्ध के समय भारत के जिन अन्चलों में अमरीकी तथा बृटिश सेनाओं के पड़ाव पड़े थे उन अन्चलों को प्रायः मलेरिया से उन्मुक्त कर दिया गया था, इसका कारण यह था कि सैनिकों ने बड़ी मुस्तैदी से कार्य किया था। किन्तु विदेशी सैनिकों के जाने के बाद उन अन्चलों में पुनः मलेरिया का प्रकोप आरम्भ हो गया। सम्भवतः भारत में लोग इतने अभ्यस्त हो गये हैं कि महामारियाँ आतंक की सृष्टि नहीं कर पातीं। यह बात केवल मलेरियातक ही सीमित नहीं है, यक्ष्मा, चेचक, हैजा आदि आदि भयानक बीमारियाँ भी भारत में स्वच्छन्दतापूर्वक विचरण कर रही हैं।

पहले यूरोप के देशों में भी यही स्थिति थी। सुविदित है कि लन्दन में रानी एलिजाबेथ प्रथम के समय में प्लेग के रूप में महामारी फैली थी उसमें नगर के एक तिहाई भाग के लोगों का सफाया हो गया था। मध्य युग में भी प्रायः यही हालत रही, समय-समय पर महामारी का प्रकोप हो होता था और लाखों व्यक्तियों का संहार हो जाता था, किन्तु आज यूरोप के किसी भी देश में प्लेग, हैजा, चेचक आदि का प्रकोप एक असाधाणि बात हो गई है। कारण यह है कि उन देशों में जनता के स्वास्थ्य की रक्षा सरकार के कर्तव्य के रूप में मानी जाती है। बृटेन में प्रत्येक नागरिक को स्वास्थ्य-कर के रूप में एक साधारण रकम सरकार को देनीपड़ती है। इस रकम को चुकाने के बाद पूरे एक वर्ष के लिए उसके स्वास्थ्य तथा चिकित्सा का सम्पूर्ण दायित्व सरकार का हो जाता है। भारतीयों को यह जानकर आश्चर्य होगा कि बृटेन के नागरिकों को अपनी चिकित्सा के लिए प्रयुक्त औषधों का मूल्य नहीं देना पड़ता है। रोगी का कार्य सिर्फ इतना ही रहता है कि वह सरकारी चिकित्सा धिकारी को सूचनामात्र दे दें। भारत में इसके विपरीत स्थिति है। यहाँ आधुनिक चिकित्सा का व्ययभार केवल धनीवर्ग ही सह सकते हैं। गरीबों के लिए तो नामुमकिन ही है।

इस बात में कोई सन्देह नहीं कि भारत सरकार के सामने कई औपचारिक कठिनाइयाँ हैं, जिनके कारण यहाँ बृटेन की तरह चिकित्सा-व्यवस्था करना कठिन है। एक तो यहाँ सुयोग्य परिश्रमी और लगनशील डाक्टरों की संख्या इतनी कम है कि भारत के सभी भागों में समुचित चिकित्सा व्यवस्था करना दुष्कर कार्य है। दूसरी बात ग्रामीण

अञ्चलों में जहाँ अस्वास्थ्यकर वातावरण के कारण जनस्वास्थ्य अरक्षित है——वहाँ डाक्टर वर्ग जाने के लिए तैयार नहीं होते फिर भी सरकार एलोपैथी चिकित्सा को ही प्रोत्साहन देकर भारतीयजनस्वास्थ्य की रक्षा करने का प्रयास कर रही है। निकट भविष्य में सरकार का यह प्रयास सफल होता नहीं दीख पड़ता। क्या विश्वस्वास्थ्य संगठन ने कभी इस बात पर भी विचार किया है कि भारत जैसे गरीब देश के जनस्वास्थ्य की रक्षा सरलतया कैसे हो सकती है? जब कि आज इस बात की आवश्यकता है कि ग्रामीण अञ्चलों के निवासियों के लिए चिकित्सा सुविधार्थ अधिकाधिक चिकित्सालय, समस्त उपकरण के साथ स्थापित किये जायँ। कम-से-कम इतना तो किया ही जा सकता है कि जिन महामारियों को अपेक्षाकृत सरलतया कम व्यय साध्य उपायों द्वारा रोका जा सकता है उनको नियन्त्रण में लाने के लिए एक संगठित प्रयत्न किया जाय।

स्वास्थ्य मन्त्रालय और आयुर्वेद

भारत के ३९ करोड़ लोगों के स्वास्थ्य की रक्षा का दायित्व केन्द्रीय सरकार पर है और इसके लिए पृथक् एक स्वास्थ्यमन्त्रालय बना हुआ है; जिसका संचालन केन्द्रीयस्वास्थ्यमन्त्री द्वारा होता है। इसके वर्तमान स्वास्थ्यमन्त्री श्री डी० पी० करमार हैं, अभी कुछ दिन पूर्व स्वास्थ्यमन्त्रालय के खर्च की माँग का बजट पेश करने पर लोकसभा के सदस्यों द्वारा राष्ट्रीय स्वास्थ्य तथा आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा पद्धति पर काफी चर्चा की गई थी उसके बारे में दैनिक 'हिन्दुस्तान'-देहली के सम्पादक ने अपने मन्तव्यों के साथ जो प्रकाश डाला है उसका सारभाग, वाचकों की जानकारी के लिए नीचे दे रहा हूँ।

"सदस्यों ने जहाँ स्वास्थ्य विषयक अभावों का उल्लेख किया वहाँ स्वास्थ्य मन्त्री ने सरकारी प्रयत्नों की सफलताओं का दिग्दर्शन कराया। स्वास्थ्य के बारे में जब भी चर्चा होती है तो विभिन्न चिकित्सा-प्रणालियों का जिक्र आये विना नहीं रहता। यह पुरानी शिकायत है कि देशीचिकित्सा पद्धतियों के प्रति सरकार सौतेला व्यवहार करती है। अनेक सदस्यों ने इस शिकायत को पुनः दुहराया। एक सदस्य ने कहा कि–स्वतन्त्रता के पूर्व जो आयुर्वेदिक-यूनानी कालेज चल रहे थे; आज उनमें से कुछ के सामने बन्द होने की नौबत आ गई है। यदि सरकार गाँव-गाँव में चिकित्सा की सुविधा करना चाहती है तो वह एलोपैथी से नहीं—आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा के सहारे ही कर सकती है। यदि सरकार आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा को प्रोत्साहन दे तो ग्रामीण अंचलों में चिकित्सकों का अभाव नहीं रहेगा, वैद्यों और डाक्टरों की योग्यता तथा वेतनादि में सरकार जो द्वैविध्य भावना रखती है, उसे बदल कर दोनों के प्रति समान भाव रखें क्योंकि आज भी देशी चिकित्सा द्वारा ८० प्रतिशत जनता को लाभ हो रहा है। स्वास्थ्यमन्त्री का कहना है कि सरकार देशी-विदेशी के आधार पर चिकित्सा-पद्धतियों में कोई भेद नहीं रखती, उपयोगिता की कसौटी पर ही उन्हें परखती है। किन्तु इसका अर्थ यह तो नहीं होता कि देशी चिकित्सा-प्रणाली होने के कारण आयुर्वेद की उपेक्षा की जाय सरकार को देशी चिकित्सा प्रणाली के प्रति अपने दृष्टिकोण में अनिवार्यरूपेण परिवर्त्तन करना ही चाहिए।

भारतीय स्वास्थ्य और केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्रालय

यह सुविदित है कि भारतीय जनस्वास्थ्य का स्तर अन्य देशों की अपेक्षा अत्यधिक न्यून है। जहाँ बृटेन, अमेरिका, रूस प्रभृति देश में लोगों के स्वास्थ्य का स्तर भारत की अपेक्षा उन्नत होते हुए भी राष्ट्रीय बजट का ९-१० प्रतिशत स्वास्थ्य पर खर्च किया जाता है, वहाँ भारत में मुश्किल से ५ प्रतिशत खर्च नहीं होता। भारत में लोग गरीबी के कारण पौष्टिक आहार नहीं खा सकते। गरीबी के कारण ही लोगों के रहन-सहन तथा खान-पान आदि में स्वच्छता नहीं रहती और इस गन्दगी के कारण ही जनपदोध्वंसक अनेक भयानक रोग फैल जाते हैं। वास्तव में यदि जनस्वास्थ्य की दृष्टि से इसमें सुधार किया जाय तो अवश्य ही भारतीय जनता स्वस्थ और सबल हो सकती है और यदा-कदा महामारियाँ फैल कर जो नरसंहारक रूप धारण करती हैं——अपने-आप बन्द हो जायेंगी।

यदि गाँवों में स्वच्छता और शुद्धता की समुचित व्यवस्था सरकार की ओर से हो जाय तो निश्चय है कि ७५ प्रतिशत बीमारियों का नाश हो जायगा। आवश्यकता इस बात की है कि इसके लिए सरकार की ओर से जोरदार आन्दोलन चलाया जाय जिससे सर्वसाधारण लोगों में गन्दे रहन-सहन की धारणा दूर होकर स्वच्छ रहने की धारणा उत्पन्न हो। जैसा कि स्वास्थ्य मन्त्री ने बताया, देहातों में शुद्ध जल उपलब्ध करने के लिए द्वितीयपञ्चवर्षीय योजना में २८ करोड़ रुपया रखा गया था, जिसमें से १८ करोड़ रुपये खर्च हुए। स्वास्थ्य [illegible] मतानुसार अवश्य सफलतासूचक

हो सकता है। किन्तु जबतक भारत के ७ लाख गाँवों में से प्रत्येक गाँव के लिए शुद्धजल-प्राप्ति की सुविधा नहीं हो जाती तब तक हम इसे सफल प्रयास नहीं कह सकते। शुद्धजल-पूर्ति के साथ स्वच्छता की दृष्टि से गाँवों में गन्दे पानी के निकास की भी व्यवस्था होनी चाहिए। परन्तु देखा जाता है कि बड़े-बड़े नगरों को साफ-सुन्दर बनाने में ही अधिकतर ध्यान दिया जाता है। किन्तु देहातों में बसनेवाली जनता की बराबर उपेक्षा ही की जाती है। अतः इस ओर भी ध्यान देने की आवश्यकता है।

केन्द्रीयस्वास्थ्यमन्त्रीद्वारा घोषणा की गई है कि "सरकार समस्त देश का पूरा स्वास्थ्य सर्वेक्षण करना चाहती है और यह सर्वेक्षण सर्वप्रथम सीमित आबादी तक ही रहेगा। बाद म इसका विस्तार राजधानी तक कर दिया जायगा तथा उसक बाद राज्यों के सहयोग से सभी राज्यों में उसे प्रसारित कर दिया जायगा। यह इसलिए किया जायगा कि देश में व्याप्त बीमारियों का पता लग सके, साथ ही यह भी ज्ञात हो सके कि सरकार ने उन बीमारियों के उन्मूलन के लिए कौन-सा कदम उठाया है।" स्वास्थ्य मन्त्रीजी की घोषणा स्तुत्य है, क्योंकि राष्ट्र की स्वास्थ्यसम्बन्धी स्थिति की ठीक-ठीक जानकारी सरकार को अवश्य होनी ही चाहिए ताकि तत्सम्बन्धी त्रुटियों को दूर करने का सुनियोजित कार्य किया जा सके। किन्तु यह सर्वेक्षण कार्य कबतक पूरा होगा—यह अभी नहीं कहा जा सकता, यदि कदाचित् स्वास्थ्य सर्वेक्षण कार्य पूरा भी हो जायगा तो उसके बाद स्वास्थ्य-सुधार-कार्य को क्रियान्वित करने में सरकार आर्थिक कठिनाई की समस्या जनता के सामने लाकर इसे कहीं स्थगित या विचाराधीन ही न रख दे। फिर भी इतनी तो आशा अवश्य की जा सकती है कि माननीय स्वास्थ्यमन्त्री जी के सत्प्रयास से भारतीय जन स्वास्थ्य में अवश्य सुधार होगा तथा स्वतन्त्र भारत के नागरिक स्वस्थ-सबल हो कर राष्ट्र को भी स्वस्थ-सबल बनाने में सहयोग देंगे।

शरीर को स्वस्थ एवं बलवान
बनाये रखने के लिये
बैद्यनाथ रस-रसायनों
का सेवन करें।
बैद्यनाथ-औषधियाँ अपनी गुणकारिता एवं सर्वाङ्ग पूर्णता के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

मयूरशिखा

ठाकुर बलवन्त सिंह, एम० एस-सी०

उत्तरकालीन आयुर्वेदीय साहित्य में 'मयूरशिखा' नामक वनस्पति का उल्लेख मिलता है जो अभीतक संदिग्ध है और कई भिन्न-भिन्न वनस्पतियों को 'मयूरशिखा' नाम दिया गया है। इनमें Celosia cristata, Asplenium radiata (Actinopteris radiata) तथा Polycarpoea corynbosa उल्लेखनीय हैं। प्रस्तुत लेख में इनसे भिन्न एक अन्य वनस्पति का परिचय कराया गया है जिसे 'मयूरशिखा' मानना अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। लोकप्रचलित नाम तथा उपयोग हमारे मत के मुख्य आधार हैं। इस वनस्पति से आधुनिक ग्रंथकार भी अपरिचित नहीं हैं परन्तु इस का अधिकतर उन्होंने गोजिह्वा, गोजी तथा खरपर्णी शास्त्रीय नामों से परिचय कराया है। यह भृंगराज कुल (Compositae) की Elephantopus नामक वनस्पति है। गोजिह्वा एक स्वतः संदिग्ध वनौषधि है और अधिक से अधिक हम यही कह सकते ह कि उपर्युक्त वनस्पति हमारे विचार से मयूरशिखा पहले है, बाद में इसे गोजिह्वा या अन्य नाम देने पर विचार किया जा सकता है।

Elephantopus को मयूरशिखा मानने का हमारे पास सबसे सबल प्रमाण उसके लोकप्रचलित नाम हैं। श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा आयोजित विहार-वन-भ्रमण और वनौषधि अध्ययन के समय इस वनस्पति के नामों और औषधीय उपयोग के सम्बन्ध में जानकारी प्राप्त करने का अवसर हमें प्राप्त हुआ था। यद्यपि इसके पहले भी मिर्जापुर (यू० पी०) के जंगलों में इन बातों की कुछ जानकारी हो चुकी थी परन्तु उस समय इसे मयूरशिखा मानने का विचार नहीं हुआ था——परन्तु जब यह पता चला कि विहार-प्रान्त की प्रायः सभी आदिवासी जातियों की अलग-अलग भाषाओं में प्रचलित परम्परागत नाम मयूरशिखा के ही समानार्थक हैं तो पहलीबार इसे शास्त्रीय मयूरशिखा कहने का विचार हुआ। इसे सिंगभूमि में पाई जाने वाली 'हों' नामक आदिवासी जाति में 'माराचूड़ा', राँची के संस्थालों में 'मयूरजूरी', पलामू के 'लाट' जंगली इलाके में खरवार नामक आदिवासी जाति में 'मयूर चुरिया' कहा जाता है। इन सभी शब्दों का अर्थ मयूरशिखा है।

यहाँ हमें स्मरण रखना चाहिए कि बिहार में बसनेवाली आदिवासी जातियाँ अनेक हैं और प्रायः उनकी भाषायें, तथा वस्तुओं के भाषानाम भी भिन्न-भिन्न होते हैं। और दूसरी बात यह है कि वनस्पतियों आदि के उनके नाम प्रायः परामपरागत होने से बहुत प्राचीन और अपरिवर्तनीय होते हैं। यही कारण है कि हमने प्राचीनों के संदिग्धवनस्पतियों के विनिश्चय में परम्परागत लोक प्रचलित नामों को सब से अधिक महत्त्व दिया है।——मयूरशिखा के निश्चय में लोकप्रचलित नाम के द्वारा समर्थन एक अन्य दिशा से भी मिलता है। ऊपर कहा गया है कि इस वनस्पति को पहले मैंने मिर्जापुर के जंगलों में देखा था। उस समय वहाँ के लोगों ने हमें इसका नाम 'सहसमूली' बतलाया था और यह भी कहा कि शुक्रदोषों में एवं मूत्रविकारों में इसका उपयोग किया जाता है। मदनपाल निघण्टु में इसका एक पर्याय 'साहस्री' आया है, सम्भव है सहसमूली की तरह साहस्री भी इसके कन्दसदृश मलगुच्छ के ही लिये प्रयुक्त हुआ हो। आजकल जो वनस्पतियाँ मयूरशिखा के नाम से ग्रहण की जा रही हैं उनके लोकप्रचलित नामों को देखने से उपर्युक्त प्रकार का समर्थन जहाँ तक मैं जानता हूँ नहीं मिलता। celosia जाति के पौधों को प्रायः 'मुरा' (cock) से सम्बोधित किया जाता है जो कुक्कुट का नाम है न कि मयूर का। पर्ण (fem) वर्गीय वनस्पति (Actano pleris) के आकार को देखकर उसे 'मयूरपक्ष' कहा जाता है न कि मयूरशिखा। Polycorpoea को कई स्थानों में पर्पट के नाम से ग्रहण किया जाता है और उसके आकार को देख कर पर्पट भले ही कहा जा सकता है, मयूरशिखा कहने का कोई कारण नहीं दिखाई देता।

जहाँ तक गुणों और औषधीय प्रयोगों का सम्बन्ध है इतना तो अवश्य मालूम होता है कि शास्त्रीय गोजिह्वा तथा मयूरशिखा बहुत अंशों में समान गुणधर्मवाले द्रव्य

प्रतीत होते हैं अतः एक के स्थान में दूसरे का प्रयोग भी होने लगा हो, ऐसा सम्भव हो सकता है। शास्त्रीय गोजिह्वा खरपर्णी अर्थात् खरपर्णवाली वनस्पति है यह तो निश्चित है है और जिस वनस्पति को हम मयूरशिखा सिद्ध करने का प्रयत्न कर रहे हैं वह भी खरपर्णा है यह उसके वैज्ञानिक नाम (E. scabre) तथा स्वरूप से स्पष्ट ही है। इसीलिये यह भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता कि सम्भव है भ्रम से मयूरशिखा को गोजिह्वा मान लिया गया हो।

आयुर्वेदीय साहित्य में मयूरशिखा का वर्णन एवं उपयोग इस प्रकार है :—चरक, सुश्रुत, तथा धन्वन्तरी निघण्टु में इस का उल्लेख नहीं है। वाग्भट्ट (अष्टांग हृदय) में 'वर्हिशिखा' के नाम से चि० स्थान ११।३५ में 'क्षीरान्नभुग्वर्हिशिखाशिखामूलं वा तण्डुलाम्बुना' योग अश्मरी तथा मूत्राघात चिकित्सा में आया है। कहीं-कहीं 'शिखावर्हि' नामक द्रव्य का भी उपयोग हुआ है। सम्भव है इससे भी मयूरशिखा ही अभिप्रेत हो। गदनिग्रह (शोढलवृत) में मयूरशिखा के तीन प्रयोग आये हैं (१) पुत्रप्रसवार्थम्—मूलं भुजंगारि शिखासमुत्थं दुग्धेन संयुक्तमृतौ निपीतम्। गर्भस्य हेतुः प्रमदाजनस्यस्यात्मणामूलमपीत्थमेव ॥ (२) सर्पविषे—साज्या मयूरचूड़ा तु पीता वब्बलवारिणा। सर्व सर्पविषं हन्यात् काकजंघाऽथवा ध्रुवम्। (३) **गर्भधारणार्थम्**—शिखां वर्हिशिखायास्तु क्षीरेण परिपेषिताम्। पिवेदृतुमतीनारी गर्भधारणहेतवे।

धन्वन्तरि निघण्टु के अतिरिक्त अन्य निघण्टुओं में नीलकण्ठशिखा, वर्हिचूड़ा तथा मयूरशिखा आदि नामों से इसका वर्णन मिलता है।

राजनि० :—वर्हिचूड़ा रसे स्वादुर्मूत्रकृच्छ्रविनाशिनी।
वालग्रहानिदिदोष ध्नीवश्यकर्मणिशस्यते ॥
भावप्र० :—मयूराह्व शिखा प्रोक्ता सहस्राहिर्मधुच्छदा।
नीलकण्ठशिखालघ्वीपित्तश्लेष्मातिसारजित् ॥
मदनपाल :—मयूराह्वाशिखा ज्ञेया साहस्रीमधुकच्छदा।
मयूराह्वाशिखा लघ्वी पित्तश्लेष्मातिसराजित् ॥
कैयदेव :—मयूराह्वाशिखा शीता कषायाऽम्लाऽम्ल -
पाकिनी। लघ्वीपित्तकफौ पक्वापक्वातिसार नाशयेत् ॥
नि० र० :—मयूराह्वाशिखाशीता कषायाम्लाम्लपाकिनी।
लघ्वीपित्तकफं पित्तमतिसारं विनाशयेत् ॥

यदि उपर्युक्त सभी ग्रंथकारों ने किसी एक ही वनस्पति को 'मयूरशिखा' मान कर उसके ही गुणों और उपयोगों का वर्णन किया है तो मयूरशिखा को मूत्रल, विषघ्न, शीतल, लघु गर्भद तथा कफ, पित्त, अतिसार, अश्मरी एवं मूत्राघातनाशक होना चाहिये। पहले ही बतलाया गया है जंगली क्षेत्रों में अतिसार तथा मूत्रविकारों में इसका उपयोग किया जाता है। इसके सम्बन्ध में यह भी उल्लेख मिलता है। (Kirtikar & Basn) कि हिन्दचीन में इस का मूत्रल रूप में और मडागास्कर में मूत्रल तथा ज्वरघ्न रूप में प्रचुर उपयोग होता है। ट्रावनकोर में इसके मूल तथा पत्र का क्वाथ मूत्रकृच्छ्र में दिया जाता है। नीचे इस वनस्पति का स्वरूप परिचय दिया गया है उसे तथा साक्षात इस वनस्पति को देखने से भी इस वनस्पति के लिये 'मयूरशिखा' नाम उपयुक्त मालूम होता है। भूमिलग्न मूलीय पत्रगुच्छ (rosette of radical leaves) के बीच से निकलने वाले काण्ड तथा उसकी शाखाओं के अग्रपर जो गुच्छीकृत पुष्पमुण्डक पाये जाते हैं उनकी तुलना मयूर की शिखा से की जा सकती है।

उपर्युक्त वनस्पति के स्वरूप निर्णय के लिये निम्नांकित विवरण आवश्यक होगा :—

यह वनस्पति प्रायः समस्त भारत में मिलती है और प्रायः खुली हुई और किंचित् छायादार जगहों में पाई जाती है। यह दृढ़ परन्तु शाकीय (Herb) वनस्पति आधे से डेढ़ फुट तक ऊँची होती है परन्तु सामान्य बड़े पत्र मूलीयगुच्छ में आधार से निकलकर जमीन पर चक्राकार फैले रहते हैं और हस्तिपदकी तरह गोलाकार होने से ही स्वभावतः इसको कहीं-कहीं हस्तिपत (द) या Elephantopus कहते हैं। नीचे छोटे मूलस्तम्भ (Root Stock) से निकलनेवाले मूलों का गुच्छा होता है। मूलपत्र ४-६ इंच बड़े, अभि लट्वाकार या अभिमालाकार (Oblanceolate or ob-orate) परन्तु किनारेवाले, दोनों पृष्ठों पर रोमश होने के कारण खरस्पर्श आधारपृष्ठ पर सूक्ष्म शिरायें उभरी हुई और उनका क्रमशः संकुचित आधार किंचित् कोषमय होता है। बीच से निकलनेवाले काण्ड प्रायः द्विशाखक्रम में से शाखायित, पृष्ठ लग श्वेत रोमों से युक्त और उसके काण्डपत्र छोटे एवं विनाल होते हैं। मुख्यकाण्ड तथा शाखाओं के अग्र पर प्रायः या चार-चार पुष्पों के मुण्डक एकत्र होकर मुण्डक गुच्छ बनाते हैं जो तीन पत्राभ रचनाओं (Bracts) से घिरे रहने पर त्रिकोणाकार होते हैं।

(शेषांश १०४९ पृष्ठ पर)

मलेरिया के विरुद्ध अभियान

(संकलित)

मलेरिया एक ऐसी व्याधि है, जो सदियों से मनुष्य का भयानक शत्रु रही है। गर्म देशों में तो इस व्याधि का प्रकोप और भी अधिक होता है। भारत सरीखे उष्ण प्रधान देश में, प्राप्त आंकड़ों के अनुसार १९४७ के पहले तक यह हाल था कि मलेरिया से लगभग १० लाख लोग प्रतिवर्ष मरते थे। लाखों की संख्या में लोग तो मरते ही थे——इस रोग के कारण राष्ट्रीय उत्पादन को भी भारी धक्का पहुँचता था, क्योंकि खेतों तथा कल-कारखानों में काम करनेवाले किसानों-मजदूरों तथा विभिन्न पेशों में लगे हुए लोगों को यह व्याधि अपने चपेट में लेती है। सरकार द्वारा प्रकाशित आंकड़ों के अनुसार १९४७ में इस रोग के फलस्वरूप ११ अरब रुपये की आर्थिक क्षति पहुँची थी।

१९४८ ई० में विश्व-खाद्य संघ के संगठित होने से विश्वव्यापी आधार पर मलेरिया रोग को दूर करने का कार्यक्रम बनाया गया और इसके विरुद्ध विश्वव्यापी अभियान शुरु हुआ। जन स्वास्थ्य की प्रमुख समस्या समझकर मलेरिया को दूर करने का लक्ष्य रखा गया और इस उद्देश्य से विश्व स्स्वथ्य संघ का आरंभ से ही ऐसा विश्वास रहा है कि घर-घर जाकर डी० डी० टी० छिड़का जाय। डी० डी० टी० को तैयार करने तथा छिड़कने के कार्यक्रम को समझने के लिए उन देशों में लोगों को भेजा गया, जहाँ-जहाँ से माँग की गयी थी। दक्षिण पूर्व एशिया में भारत तथा थाइलेण्ड ने पहले-पहल विश्व स्वास्थ्य संघ से डी० डी०टी० छिड़कने के काम की सहायता के लिए निवेदन भेजा। १९४९ ई० में भारत सरकार ने चार प्रदर्शन और प्रशिक्षण-केन्द्र स्थापित किया। इससे उत्तरप्रदेश के तराई के जिलों को बहुत लाभ पहुँचा। डी० डी० टी० छिड़कने-सम्बन्धी कार्यक्रम को क्रियान्वित करने के फलस्वरूप न केवल मलेरिया जनित समस्या कम हो गयी, बल्कि रोग का प्रकोप भी रुक गया।

मलेरिया विरोधी इस अन्तरराष्ट्रीय अभियान में संयुक्तराष्ट्र अमेरिका ने पूरी तरह हाथ बँटाया और कई देशों को सहयोग दिया। भारत के मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिए अमेरिका से पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई। भारत सरकार और अमेरिका के टेक्नीकल सहयोग मिशन के मध्य एक समझौता हुआ है, जिसके अनुसार मलेरिया उन्मूलन कार्यक्रम के लिए ८ करोड़ रुपये का नया अनुदान दिया गया है। इस राशि को मलेरिया-सम्बन्धी सामान, उपकरण, डी० डी० टी० और बी० एच० सी० खरीदने तथा कर्मचारियों के वेतन और भत्ते आदि पर खर्च किया जायगा।

भारत में मलेरिया-नियन्त्रण

भारत में मलेरिया-नियन्त्रण तथा उन्मूलन-सम्बन्धी कार्यक्रम आज से ७ वर्ष पूर्व १९५३ में प्रारंभ हुआ। अमरीका का शिल्प सहयोग प्रशासन, संयुक्त राष्ट्र संघ का बाल आयात कोष, विश्व स्वास्थ्य संगठन और राकफेलर फाउन्डेशन प्रभृति संस्थाएँ इस कार्य में सहायता देती हैं।

१९५५-५६ में तीन साल के लिए १५ करोड़ रुपये का कार्यक्रम बनाया गया, जिसके जरिए १२-१.२ करोड़ लोगों को मलेरिया से बचाने की व्यवस्था की गयी। प्रत्येक वर्ष मलेरिया नियंत्रण-केन्द्रों की संख्या बढ़ती गयी और १९५६-५७ में इन केन्द्रों की संख्या १६९ हो गई तथा १४ करोड़ ५२ लाख ५० हजार व्यक्तियों की मलेरिया से रक्षा की व्यवस्था की गयी। इस कार्यक्रम के कारण पहली योजना के अंत तक मलेरिया के रोगियों की संख्या आधी हो गई। देश के मलेरिया पीड़ित दलदली भागों को उपजाऊ बनाया गया। मलेरिया के नियंत्रण से किसानों के स्वास्थ्य में काफी सुधार हुआ। दिल्ली में डी० टी० टी० का एक कारखाना खोला गया। दवा छिड़कने के औजार देश में बनने लगे और बाहर से उनका मँगाना बन्द कर दिया गया। ८० डाक्टरों, १३ कृमिशास्त्र-विशेषज्ञों, ४३० मलेरिया इन्सपेक्टरों और ३० कारीगरों को मलेरिया की रोकथाम की ट्रेनिंग दी गई।

१९५५ में मलेरिया रोकने के काम को और तेजी से करने तथा उसे दूसरी योजना में भी जारी रखने का निश्चय किया गया। पाँच वर्ष में इस काम के लिए २७ करोड़ रु० की व्यवस्था की गयी। १२० करोड़ की आबादी की

देखभाल के लिए २०० केन्द्र खोलने का निश्चय हुआ। संसार के अन्य भागों में मलेरिया-निरोध के जो अनुभव हुए उनकी दृष्टि में देश में इस काम पर नए सिरे से विचार किया गया। देखा गया कि जिन क्षेत्रों में तीन वर्षों से लगातार रोकथाम का काम किया जा रहा था, मलेरिया के कीटाणु मनुष्यों के शरीर में नहीं पाए गए। इसके साथ यह भी देखा गया कि मलेरिया के मच्छरों में दवा सहने की शक्ति भी बढ़ती जा रही है। इसका अर्थ यह है कि जल्दी-से-जल्दी मलेरिया को जड़ से मिटाने की कोशिश करनी चाहिए।

१९४२ में मलेरिया और गर्म देशों की बीमारी के के चिकित्सकों के चौथे अन्तर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इस कार्यक्रम पर विचार किया गया। १९५४ में विश्व स्वास्थ्य संगठन के दूसरे एशियाई सम्मेलन में इस कार्यक्रम पर विचार किया गया। १९५५ में विश्व स्वास्थ्य संघ ने सभी सदस्य राष्ट्रों से मलेरिया उन्मूलन का काम जोरों से चलाने को कहा। भारत में अप्रैल १९५८ में राष्ट्रीय मलेरिया उन्मूलन कार्य-क्रम शुरु हुआ। तीसरी योजना के अंत तक मलेरिया के मच्छरों को खत्म कर देने का लक्ष्य रखा गया।

१९५९-६० में कुछ राज्यों में उन्मूलन का पहला अध्याय अर्थात् मच्छड़ों को मारने के लिए घरों की दीवारों, छतों आदि पर बार-बार दवा छिड़कने का काम समाप्त हो गया है।

मलेरिया इनस्टीटूयूट के काय

भारत की मलेरिया इनस्टीटयूट ने मलेरिया-सम्बन्धी अनुसंधान के लिए महत्वपूर्ण कार्य करके भारत को इस क्षेत्र में प्रमुखता प्रदान कर दी है। इस संस्था की स्थापना १९०९ में में हुई थी—और इस समय वह पूर्वीय देशों में अपने ढंग की अकेली संस्था है। इनस्टीटयूट के अनुसंधान और ज्वरनिरोधक कार्यों के द्वारा जीवन-रक्षा के महान लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में संतोषजनक कार्य हो रहे हैं। इनस्टीटयूट के निष्कर्षों से भारत की केन्द्रीय तथा राज्य सरकारें लाभ उठाकर अपने मलेरिया विरोधी कार्यक्रम तैयार करती हैं। मलेरिया इनस्टीटयूट में भारत के समस्त भागों के अलावा दक्षिण-पूर्वी एशिया के पड़ोसी देशों से प्रशिक्षणार्थी आते हैं। पिछले अध्ययन-सत्र में ईराक औ चीन से एक-एक, बर्मा से २ और थाइलेण्ड से ४ अधिकारि ने यहाँ आकर प्रशिक्षण प्राप्त किया था।

मलेरिया का उन्मूलन और शिशु कल्याण

जैसा कि बताया जा चुका है, मलेरिया की गणना संसार के सब से कष्टकारी रोगों में की जाती है। अतीत में इस रोग ने भारत के लाखों निवासियों की जीवन-शक्ति को चूसा है। डी० डी० टी० और अन्य कीटाणुनाशक औषधियाँ मलेरिया रोग फैलाने वाले मच्छड़ों को नष्ट करने में बहुत प्रभावशाली सिद्ध हुई हैं। इन की खोज से जन-स्वास्थ्य अधिकारियों को मलेरिया रोग से संघर्ष करने के लिए प्रभावशाली शस्त्र सुलभ हो गया है। विश्व स्वास्थ्य संघटन ने मलेरिया रोग उन्मूलन के लिए एक पंचवर्षीय कार्यक्रम चालू किया है। इस कार्यक्रम की सफलता का पता इसी बात से चलता है कि एक वर्ष के अन्दर मलेरिया से बुरी तरह पीड़ित हिमालय तराई क्षेत्र में मलेरिया से काल-कवलित होने वाले शिशुओं की संख्या ५३·७ प्रतिशत से घटते-घटते शून्य रह गयी है।

मानव कष्ट और पीड़ा को दूर करने के लिए प्रयत्नशील एक अन्य अन्तर्राष्ट्रीय संस्था "बाल संकट कोष" अवतक ४ करोड़ ५० लाख माताओं और बालकों की सहायता कर चुका है। इसने अब तक लगभग ८ करोड़ १० लाख शिशुओं और माताओं के लिए भोजन और चिकित्सा की व्यवस्था भी की है। बाल संकट-कोष के बजट का ५० प्रतिशत भाग अमेरिका से प्राप्त हुआ है।

इस वर्ष गत ७ अप्रैल को विश्व स्वास्थ्य-दिवस विश्व व्यापी आधार पर मनाया गया और मलेरिया को एक चुनौती के रूप में स्वीकार कर इस रोग के उन्मूलनार्थ बहुविध प्रयास करने की अपील सरकारी तथा गैर सरकारी स्तर पर की गयी। यों तो सरकारी स्तर पर मलेरिया को दूर करने की दिशा में सर्वाङ्गीण प्रयास हो रहे हैं, किन्तु मलेरिया-उन्मूलन के काम में जनता के सहयोग की बड़ी जरूरत है। लोगों को चाहिए कि अपने घरों में डी० डी० टी० छिड़कवाएँ। और मलेरिया होते ही सूचना दें तथा रक्त की परीक्षा कराएं। ऐसा भयानक रोग जनता के सहयोग के बिना समाप्त नहीं किया जा सकता।

मकरध्वज पर विश्लेषणात्मक प्रयोग

(सङ्कलित)

रसवाद के प्राचीन ग्रन्थों में मकरध्वज नाम से तो कोई ऐसा योग या रस नहीं मिलता जो कूपीपक्व बनता हो। किन्तु इस समय मकरध्वज, सिद्धमकरध्वज आदि नाम से अनेकों फार्मेसियां जिसे बेचती हैं उसका शास्त्रीय नाम चन्द्रोदय है। जिसका ग्रन्थकारों ने उल्लेख किया है, उसे ही फार्मेसियां मकरध्वज, सिद्ध मकरध्वज आदि के नाम से बेचती हैं। यह योग निम्न प्रकार है :—

एक भाग सुवर्ण, ८ भाग पारा, १६ भाग गंधक। सुवर्ण को शुद्ध कर लेते हैं। पारे का भी शोधन विधान वास्तव में महत्व का विधान है। पारद के विशेष विधियों से आठ संस्कार करते हैं–१-स्वेदन, २-मर्दन, ३-मूर्छन, ४-उत्थापन, ५-तापन, ६-बोधन, ७-नियमन, ८ दीपन। इन आठ संस्कारों को बहुत कम वैद्य करते हैं। किन्तु यह आठ संस्कार तो पारद के अवश्य होने चाहिएं। गंधक भी इसी तरह शास्त्र-विधि से शुद्ध कर लेना चाहिए, फिर इनमें से पहले पारद और सुवर्ण को जब एकत्र करते हैं, तो पारा शुद्ध होने के कारण सोने को आसानी से अपने में तल्लीन कर लेता है और पारा सोने का मिश्रण (अमलगम) बन जाता है।

बहुत-से रस-शास्त्रियों का कथन है कि अष्ट संस्कार पूर्ण होने पर पारद बुभुक्षित हो जाता है अर्थात् पारद सुवर्ण को भक्षण कर लेता है। भक्षण का कई अर्थ यह लगाते हैं कि फिर वह सुवर्ण पारे के साथ ही रहता है, अग्नि पर जब पारा उड़ता है तो उसके साथ सुवर्ण भी उड़ कर ऊपर लगता है। कृष्ण गोपालजी एक रसायनी अभी १० वर्ष पूर्व थे, कहते हैं, उन्होंने ऐसा पारा तैयार कर लिया था जो सुवर्ण को साथ लेकर उड़ता था। उन्होंने यह अपना करतब कई वैद्यों को दिखाया भी था। किन्तु उनका बनाया हुआ चन्द्रोदय किसी आधुनिक रसायन शास्त्री के पास विश्लेषणार्थ गया होता और वहाँ उनके विश्लेषण में स्वर्ण विद्यमान होता तो उसे सही माना जाता। वैद्यों के पास कोई ऐसा साधन नहीं जिससे वह यह जान सकें कि पारद सोने के साथ विद्यमान है और वह अमुक मात्रा में है। इसीलिये वैद्य कृष्ण गोपाल जी के उस पारद को जांच नहीं सके थे। चूंकि इस समय मकरध्वज की ख्याति बहुत ही फैली हुई है, इसलिए आधुनिक रसायन-शास्त्रियों को यह जानने की उत्कण्ठा हुई कि यह वास्तव में क्या उत्तम योग है। इसे जानना और समझना चाहिये। इसीलिए हैनवाल्ट, रिन और फ्रेवेल नामक वैज्ञानिकों ने भारत की अनेकों फार्मेसियों से मकरध्वज, चन्द्रोदय, सिद्ध मकरध्वज आदि के बीसों नमूने मंगवाये और अनेकों विधियों से यह जानने का प्रयत्न करने लगे कि इसमें कौन-कौन से तत्त्वों के अणु विद्यमान हैं।

देखा गया है कि रासायनिक विश्लेषण विधियों में क्ष-रश्मि-किरणीय प्रभाव द्वारा मणिभाणुओं की रचना, रूप को देखने-समझने की एक विशेष पद्धति ज्ञात की गई है। ज्ञात हुआ है कि किसी मूल तत्त्व के मेल से जब कोई नया यौगिक निर्मित हो कर मणिभ रूप धारण करता है तो उसके रवे की आकृति विशिष्ट रूप की होती है और उसमें यदि कोई तीसरा तत्त्व और आकर मिल जाय तो उस दशा में उसके मणिभ रूप की आकृति बदल जाती है। इसके इस रूप का सूक्ष्म ज्ञान क्ष-रश्मि-किरण प्रभाव से लग जाता है। यह विधि क्ष-रश्मि-किरण द्वारा प्रतिबिम्ब (फोटो) लेने की है जिसे एक्सरे-पावडर डेटाफाइल कहते हैं। इस विधि से जांचने पर जिसके रवे चाहे कितने ही मूल तत्वों के योग से मिल कर बने हों उसमें कौन-कौन से तत्व विद्यमान हैं—इसको ठीक-ठीक पहचाना जा सकता है।

मान लो पारा गंधक के साथ हमने जो सोना डाल कर चन्द्रोदय तैयार किया यदि इस पारद गंधक के साथ उसकी कण-रचना में सोना एक लाखवें भाग के बराबर भी विद्यमान हो तो यह क्ष-रश्मि-किरण प्रभाव से ज्ञात हो जाता है।

देखा गया है जैसे ही किसी यौगिक का नमूना क्ष-किरण के प्रभाव में लाया जाता है, उसके रवे अपनी विशेषता को प्रतिबिम्ब में बना देते हैं। जो भी तत्व अपनी विशेषता रखते हैं वह रवे में भी प्रदर्शित करते हैं। उससे मूल तत्वों

की उसमें उपस्थिति का ज्ञान हो जाता है। यह मात्रा चाहे कितनी सूक्ष्मातिसूक्ष्म क्यों न हो इसका पता इस विधि से अवश्य लग जाता है।

१९३६ में क्लार्क रेनाल्ड्स और उनके सहयोगियों ने उक्त क्ष-रश्मि-किरण विधि में कुछ और सुधार किये और उसके साथ रश्मि मात्रा-प्रग्राही (गाइगर कौंटर) को भी उपयोजित कर रवों के रूप और प्रतिफलन शक्ति द्वारा तत्त्वों की स्थिति को समझने की और गम्भीर अध्ययन की विधि का आविष्कार किया। इस तरह रवा-विश्लेषण की नव्य व विश्वस्त विधि का जब ज्ञान हुआ यह विधि छिपाई नहीं गई। इसका साहित्य, प्रयोग-विधि सभी संसार के प्रत्येक कर्त्ता को ज्ञात हो गई। तब हिन्दू विश्वविद्यालय में भौतिक विभाग के प्रोफेसर श्री शक्ति प्रसाद दे ने १३ जुलाई १९५९ को शक्ति औषधालय ढाका व वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन और आयुर्वेद अनुसन्धान विभाग, हिन्दू विश्वविद्यालय आदि से मकरध्वज, चन्द्रोदय, सिद्ध मकरध्वज आदि के कई नमूने तथा हिन्दू विश्वविद्यालय के भौतिक विभाग से खनिज हिंगुल का व रस सिन्दूर का नमूना लेकर फिलिप्स कम्पनी के एक्सरे जिनेटर पर उक्त द्रव्यों के सूक्ष्माति सूक्ष्म रवे बना कर फिलिप्स पावडर कैमरा से स्पर्शज्या की स्थिति में ३५ किलोवाट और १५ मिला एम्पेयर पर ४-६ घंटे तक एक्सपोजर देकर प्रतिविम्ब लिये गये और उन प्रतिबिम्बों की जाँच हिलगर एक्सरे कम्पेयरेटर पर की गई जो दशमलव तीसरे स्थान तक सही माप ले सकता है।

इस प्रकार डी मानों का मूल्यांकन किया गया और प्रतिबिम्ब पर आई रेखाओं का वर्गीकरण किया गया। रश्मि-रेखाओं की पहचान के लिये अमेरिकन सोसायटी द्वारा तैयार की गई सारणियों का उसमें उपयोग किया गया। उनमें कई एक कार्ड हैं। जिनमें विभिन्न वस्तुओं पर लिये गये विभिन्नता के परिणाम दिये हुए हैं। उसके आधार पर किसी भी अज्ञात वस्तु के नमूनों की शृंखलाबद्ध तुलना द्वारा डी के विस्तार और रेखाओं की तीव्रता के आधार पर उस वस्तु की ठीक-ठीक पहचान हो जाती है कि इसमें अमुक-तत्व विद्यमान हैं।

जितने भी प्रकार के मकरध्वज, चन्द्रोदय आदि इस परीक्षा में रखकर देखे गये किसी में भी सुवर्ण की रेखा के चिह्न नहीं पाये गये। जैसी रेखाएँ खनिज हिंगुल ने दीं जैसी रेखाएँ रससिन्दूर ने दीं वैसी ही रेखाएँ मकरध्वज औ चन्द्रोदय ने दी। सवों का रासायनिक सूत्र पाव (Hg ही निकला। किसी में यत्किंचित् भी स्वर्ण की रेखा न देखी गई। चार्ट के अनुसार रवों का रूप भी सिंगरफ के रवे से ही सवों के रवे के रूप मिले अर्थात् सभी रवे षटकोणा कृति थे। यदि इनके रवों में लक्षांश भी स्वर्ण का भा उड़कर उन में विद्यमान होता तो इसका क्ष-रश्मि-किर परीक्षा में अवश्य अस्तित्व मिलता।

दूसरे हम सब जब भी चन्द्रोदय, मकरध्वज आ बनाते हैं, कूपी में जो स्वर्ण रह जाता है जब उसे निकाल क तोलते हैं तो उसकी मात्रा पूरी की पूरी ही मिलती है। य स्वर्ण कुछ भी उड़े तो नीचे रहे हुए भाग में कुछ-न-कुछ क आनी ही चाहिए। तब चन्द्रोदय के गुणों में जो विशेष आती है वह कैसे आती है? यह एक विचारणीय समस्या है

हमारा प्रायोगिक अनुभव

हम आज ४० वर्ष से औषध-निर्माण के काम में ल हैं, वर्ष में दो-तीन बार चन्द्रोदय, मकरध्वज और १५- बार रस सिन्दूर बनाते रहते हैं। यह देखा है कि एक ब रस सिन्दूर बना कर उसे फिर दूसरी बार दो तीन मा यलि (गंधक) और देकर उसे फिर उड़ा लिया जाय इसी तरह तीन-चार बार पुनः-पुनः उड़ाते रहें तो वह सिन्दूर अधिक तीक्ष्ण व अधिक प्रभावशाली बन जाता है यह तीव्र उत्तेजक होता है और कामोद्दीपक बनता है। ह स्वर्ण भस्म बनाते समय कूपी में ही छः-सात बार स्वर्णपार गंधक मिलाकर कांचनारकली के रस में घोट-घोट कर अ बार जब पाक करते हैं ऊपर लगे चन्द्रोदय और नीचे सुवर्ण को जो ७-८ कूपी में पाक करने पर वह सुवर्ण भी भ बन जाता है। इस तरह एक साथ दोनों को बना लेते हैं।

हमारे विचार में तो एक ही महत्व की चीज सिन्दूर है यदि उसे कई बार पुनः-पुनः पाक करलें तो उ गुण-प्रभाव मकरध्वज के जैसा ही हो जाता है, कोई अ नहीं मिलता। जिसको जांचना हो इसकी सत्यता परख सकता है।

स्वर्ण पारे के साथ क्यों नहीं उड़ता

इतना तो आप जानते ही होंगे कि पारा, गंधक, स्व चाँदी, तांबा, कली आदि सब एक ही उत्ताप पर नहीं उड़ कोई कम उत्ताप पर उड़ता है कोई अधिक उत्ताप पर।

१५५ शतांश के उत्ताप पर द्रव होता है और ४४४.५ शतांश के उत्ताप पर वाष्पीभूत होता है। इसी तरह पारा तो स्वतः द्रव है किन्तु यह ६५७ शतांश के उत्ताप पर वाष्पशील होता है। सोना १०६३ शतांश के उत्ताप पर द्रवीभूत होता है और १५६० शतांश के उत्ताप पर वाष्पशील बनता है। जब इन तीनों को मिला कर कूपी में चढ़ाकर आंच देते हैं तब पारे के वाष्पीभूत होने की मात्रा घट जाती है और गंधक की बढ़ जाती है अर्थात् दोनों ही ५०० शतांश के उत्ताप पर उड़ने लग जाते हैं। यदि ५५० शतांश तक इसे उत्ताप दे दें तो इस उत्ताप पर रससिन्दूर तीव्रता से उड़ कर ऊपर लगने लग जाता है और जो गंधक का भाग मात्रा से अधिक होता है वह तीव्र ज्वाला देकर जलने लगता है। इस तरह से फालतू गंधक जल जाता है और चन्द्रोदय (पाव Hgs) कूपी के गले पर आकर लग जाता है। इतने उत्ताप पर तो सोना पिघलता भी नहीं, जब तक सोना न पिघले और द्रवांश से ऊपर क्वाथ नाक तक न जाय, तब तक सोना उड़ ही नहीं सकता। सोना तो तभी उड़ेगा जब उत्ताप की मात्रा १५३० शतांश के ऊपर होगी। मकरध्वज बनाने में कभी भी ६०० शतांश से ऊपर उत्ताप नहीं बढ़ता। तब सोने से उड़ने का प्रश्न ही नहीं उठता। हाँ, जो व्यक्ति कहते हैं कि पारद बुभुक्षित होकर सोने को खा लेता है तो वह अपने साथ सोने को ले उड़ता है उन्हें पहले किसी को ऐसा पारा बना कर दिखाना चाहिए। फिर पीछे सोने को उस के साथ उड़ा कर दिखाना चाहिये। तभी इस युग में इस पर विश्वास किया जा सकता है। "सुखमस्ति तुवक्तव्यं दश हस्ताहरीतकी" कहने से दश हाथ की हरड़ का होना कौन मान लेगा?

(आ० विज्ञान से)

शेषांश]

मयूरशिखा

[पृष्ठ १०४४ का

पुष्पों के दल वनथफशई (Violet) रंग के होते हैं टेन्सकृत Botany of Bihar & Orissa में इसका निम्नाङ्कित वर्णन दिया हुआ है।

"An erect regid herb 8—18″ high with rosulate & clustered and erect ob-ovate or ob-lanceolate radical leaves 4—6′ long and slender chichotomously branched strigosely hairy stems 8—18″ high with few alternate sessile amplexicaul leaves 1—3″ long. Clusteres of partial head easily recognisable from the Conspicuous cordate leafy tracts, usually 6 in number and giving the cluster a three cornered appearance Fruit 15″ long, brown, rebbed, hairy, with an oblique callus at the base, pappus of 4—5 rigid scabrid hairs 2″ long."

आशा है उपर्युक्त वर्णनों की सहायता से इस वनस्पति का पता लगाया जा सकता है और इसके औषधीय गुणों का और भी पता लगाया जा सकता है। आशा है कि इस वनस्पति के सम्बन्ध में जो कुछ भी जानकारी किसी को होगी अथवा भविष्य में प्राप्त की जा सकेगी उसे प्रकाश में लाने का प्रयत्न किया जायगा।

हमारा मानसिक स्वास्थ्य

श्री पी० एन० रंगिया

मनुष्य सामाजिक प्राणी है, वह अपनी प्रसन्नावस्था में हँसता है, तो पीड़ा अनुभव होने पर रोता-चिल्लाता भी है। हर्ष और विषाद, क्रोध और स्नेह प्रभृति भावों का उद्रेक मनुष्य के अन्दर होता रहता है, जो अत्यन्त स्वाभाविक है। भावात्मक आवेगों-संवेगों की अभिव्यक्तियाँ जो समय-समय पर मनुष्य में देखी जाती हैं, उनके प्रति समाज कोई विशेष इसलिए ध्यान नहीं देता, क्योंकि मनुष्य का हँसना-रोना आदि व्यापार कोई विलक्षणता नहीं रखते और समाज द्वारा ये स्वीकृत भी होते हैं।

किन्तु कभी-कभी ऐसा भी होता है, जब कि मनुष्य परम्परागत ढंग से आचरण नहीं करता और उसके व्यवहारों में विलक्षणताएँ आ जाती हैं। उसके संवेगों में या तो विकृति आ जाती है, अथवा उनका अतिरेक इस हद तक हो जाता है कि उन्माद जैसी अवस्था उत्पन्न हो जाती है। उन्मादग्रस्त व्यक्तियों में कभी-कभी संवेगात्मक परिवर्तन बिल्कुल ही नहीं होते। मानसिक विकृतियों के अतिरेक की अवस्था में जिनका मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है, उन व्यक्तियों में विलक्षणताएँ देखी जाती हैं।

मन क्या है, शरीर में यह किस स्थान पर स्थित होता है तथा इसके क्या कार्य हैं, प्रभृति प्रश्नों का उठना स्वाभाविक है। इन प्रश्नों का उत्तर पाने के लिए वैज्ञानिकों, दार्शनिकों तथा चिकित्सा-शास्त्रियों ने वर्षों साधना की है, फिर भी अभीतक आंशिक सफलता ही उनलोगों को मिल सकी है। प्रोफेसर हाल्डेन ने अभी हाल ही में मस्तिष्क के विभिन्न अंगों के बारे में विवेचन करते हुए मन के अधिष्ठान (Seat of psyche) के संबंध में प्रकाश डाला था और अब यह धारणा निश्चित-सी हो चली है कि मन (Mind) का, मनुष्य की स्मृति (Memory) उसकी निर्णयात्मक बुद्धि (Judgements), उसके व्यक्तित्व (Personality) तथा उसके द्वारा किए जाने वाले व्यवहारों (चेष्टाओं) के साथ घनिष्ठ संबंध होता है। अतएव, यह स्पष्ट है कि मनुष्य के उपर्युक्त व्यवहारों में किसी भी प्रकार की विलक्षणता (Abnormality) दिखायी दे, तो समझना चाहिए कि उसका मानसिक स्वास्थ्य ठीक नहीं है।

हालाँकि जिन मानस रोगियों की चेष्टाओं में विलक्षणता या विचित्रता दिखायी देती है, उनके मस्तिष्क की संरचना में नाड़ी-तंत्र विशेषज्ञों को कतिपय मानसिक परिवर्तन होते दिखायी दिए हैं, उन मानस-रोगियों में भी मस्तिष्क-रचना-विषयक परिवर्तन होते दिखायी दिए, जिनके व्यवहारों (चेष्टाओं) तथा नाड़ी-तंत्र में अपेक्षाकृत बहुत कम विलक्षणताएँ (Abnormalities) थीं। मानस-रोगियों के सौषुम्नीय द्रव्य पदार्थ (Spinal fluid) तथा रक्तज रासायनिक द्रव्यों में कुछ अंशों में परिवर्तन हो सकते हैं। मस्तिष्क-व्यापार-दर्शक यंत्र (Encephalograms) के सहारे मानस रोगियों के अन्दर पायी जाने वाली अनेक विलक्षणताओं का रहस्य, कुछ हदतक मालूम किया जा सकता है, क्योंकि मनुष्य के मस्तिष्क से गुजरनेवाले विद्युत् प्रवाहों का अंकन आधुनिक लोग करते हैं।

मानसिक व्याधियों को आङ्गिक (अ) (Organic जबकि आंगिक परिवर्तन होते हैं; तथा कार्यकारी (Functional—जबकि आंगिक परिवर्तन नहीं होते) दो विभागों में विभाजित किया जाता है। जिनमें आंगिक परिवर्तन नहीं होते, (अर्थात् Functional mental illness) ऐसी व्याधियों को चित्त-विकृति या उन्माद (Psychoses & Neuroses) की संज्ञा आधुनिक लोग देते हैं।

प्रारम्भ में जैसा कि बताया गया, Organic Psychoses वैसी मानसिक व्याधियां हैं, जो मुख्यतया किसी शारीरिक व्याधि के साथ प्रकट होती हैं। निम्नलिखित दृष्टांत Organic Psychosis की प्रकृति या स्वरूप को विशद रूप से प्रस्तुत कर सकने में पर्याप्त सहायक होगा।

(१) द्वितीय महायुद्ध के समय कुछ युद्ध-बंदियों में एक विचित्र प्रकार की मानसिक व्याधि का भीषण प्रकोप हो गया था। इस व्याधि को आधुनिक चिकित्सा-शा के विख्यात जर्मन चिकित्सक वर्निक के नाम पर Wernick encephalopathy की संज्ञा दी गयी है। कहते हैं कि युद्ध के बंदियों को इस व्याधि का शिकार इसलिए बनना पड़ा कि उन्हें जो भोजन दिया जाता था उसमें विटामिन 'बी' का सर्वथा अभाव था--विटामिन की कमी के कारण मृत हुए बंदियों के मस्तिष्कों (Brains) के अध्ययन के बाद यह ज्ञात हुआ कि उनके मस्तिष्क की संरचना (Structure) में विशिष्ट परिवर्तन हो गए थे।

(२) पौष्टिक भोजन के अभाव के कारण उत्पन्न होनेवाली दूसरी मानसिक व्याधि Pellagra (चमड़ा काटने का एक प्रकार का चर्मरोग) से सम्बन्धित बतायी जाती है। यह व्याधि हमारे देश के एक हिस्से में, जहां पौष्टिक भोजन लोगों को नहीं मिल पाता, अपना उग्ररूप दिखाती है।

(३) जन्मगत असंगतियों (Birth anomalies) अथवा जन्म के समय या जन्म के बाद कपाल (Skull) के भीतरी तत्वों को क्षति पहुँचने के फलस्वरूप भी मानसिक संतुलन यदि तत्काल नहीं, तो कुछ दिनों के पश्चात् बिगड़ जाता है--और इसके साथ-साथ उसमें अपस्मार (Epilepsy) के भी लक्षण प्रकट होने लगते हैं।

(४) वार्धक्य के कारण भी कुछ लोगों का मानसिक संतुलन बिगड़ जाता है। वृद्धावस्था के फलस्वरूप रक्त-सिरा (Blood vessel) जहाँ से एक पतला तरल पदार्थ निकलता है--कभी-कभी भीषण रक्तस्राव (Haemorrhages) का कारण बन जाती है।

(५) वृद्धावस्था आने के बहुत पहले भी कतिपय व्यक्तियों में नसों में परिवर्तन (Vascular changes) होने के साथ-साथ मानसिक असंतुलन होते देखा गया है।

जहरीले पदार्थों के सेवन से भी कुछ लोगों का मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ जाता है। इसके अतिरिक्त इसके फलस्वरूप शारीरिक व्याधियाँ भी होती हैं। कुछ लोगों के मतानुसार शराब का सेवन करने, रांगा (सीसा) तथा पारा खाने से भी मानसिक स्वास्थ्य नष्ट होता है। इसके अतिरिक्त प्रमेह (Diabetes), रक्तविष (Uraemia) और गर्भावस्था में जहरवाद का रोग आदि के कारण भी मानसिक स्वास्थ्य में कभी-कभी विकृतियाँ उत्पन्न होती हैं।

संक्रामक कारणों के सम्बन्ध में बहुत कुछ लिखा जा चुका है कि किस प्रकार विषैले तत्वों (Virus) के संक्रमण से मानसिक अवयवों में विकृतियां उत्पन्न होती हैं।

यक्ष्मा से भी कुछ लोगों का मानसिक स्वास्थ्य बिगड़ते देखा गया है।

मानसिक व्याधियों की उत्पत्ति के अन्यान्य कारणों में उपदंश एक प्रमुख कारण है। उपदंश के कारण भी मानसिक विक्षिप्तता होती देखी गयी है। आनुवंशिक उपदंश के फलस्वरूप मूर्खता, अशक्तता या जड़ता (Imbecility) चित्तवृत्तियों की अस्थिरता (Feeblemindedness) तथा बाल-पक्षाघात सरीखी व्याधियाँ बचपन से ही उत्पन्न होती हैं। आनुवंशिक संस्कारों का संक्रमण केवल स्त्री-बीज और पुं-बीज के भौतिक संयोग का ही परिणाम नहीं होता, प्रत्युत माता-पिता के मानसिक संस्कारों का नव-निर्मित देह में में आकर बसी हुई आत्मा के मानसिक संस्कारों के साथ मिलने का भी परिणाम होता है। उपर्युक्त व्याधियों में अंतिम व्याधि जिसे बालपक्षाघात कहते हैं, आनुवंशिक उपदंश के फलस्वरूप दूसरे दशक में प्रकट होता है।

प्रमुखरूप से प्रारंभिक अवस्था में विक्षिप्तों में आमतौर पर अर्द्धपक्षाघात की स्थिति पायी जाती है। हिसाब लगाकर देखा गया है कि एक भारतीय ४० या ५० वर्ष की अवस्था तक पहुँचते न पहुँचते मानसिक स्वास्थ्य खो देता है और अपने परिवार को विपत्ति के सागर में डुबा देता है। अस्पतालों से प्राप्त आंकड़ों के आधार पर ऐसा ज्ञात हुआ है कि चिकित्सार्थ अस्पतालों में भर्ती होने वाले मानस-रोगियों में ५ प्रतिशत रोगी उपदंश से पीड़ित रहते हैं और जिनमें वंशानुगत की बजाय अन्यान्य कारणों से उपदंश के जीवाणु संक्रमित हुए होते हैं।

मानस रोग से पीड़ित एक ऐसे रोगी का विवरण यहाँ प्रस्तुत किया जाता है, जो मानसिक विकारों का शिकार, किशोरावस्था में संक्रमित उपदंश (जिसका उपचार नहीं किया गया था) के फलस्वरूप हुआ था। बाह्य तौर पर वह स्वस्थ तथा सुगठित शरीर वाला व्यक्ति मालूम देता था। वह विवाहित था और कई बच्चों का पिता भी। वह व्यवसायी था और व्यवसाय में में उसे एक बार घाटा लगा। निराश होकर उसने एक छोटी-सी पान की दूकान खोली। विपत्ति ने उसका पिण्ड इतने पर नहीं छोड़ा। बन्धु-विग्रह के फलस्वरूप उसकी पैतृक सम्पत्ति का बँटवारा हो गया। उसे अपने हिस्से का भाग मिला और उसने अधिक दाम देकर एक पुरानी साइकिल खरीदी। वह निरुद्देश्य विभिन्न स्थानों की यात्रा बिना

टिकट किया करता। उसने ७००) रु० की लागत के कपड़ा का आर्डर भेज दिया किन्तु बिल चुकाने के लिए रकम उसके पास थी नहीं—क्योंकि सब रुपए उसने खर्च कर डाले थे। वह इस प्रकार के दावे किया करता कि उसे ऐसी शक्तियाँ प्राप्त है, जिन के सहा वह दिवंगत व्यक्तियों को देख सकता है तथा उनसे बातचीत भी कर सकता है। वह अत्यधिक बोलता था और उसे नीन्द भी नहीं आती थी—उसकी विक्षिप्तता बड़ी उग्र और आक्रामक थी। उसका पागलपन इस हद तक बढ़ गया कि सामाजिक शान्ति के लिए वह एक बड़ा खतरा बन गया—अन्ततः उसे उपचारार्थ अस्पताल में भर्ती कर दिया गया।

निश्चय ही उस व्यक्ति का पागलपन रोका जा सकता था; यदि आरंभ में ही उसके उपदंश का उचित उपचार किया गया होता। अतः कार्यकारण के आधार पर सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है कि यदि शारीरिक उपदंश (Somatic Syphilis) न हो, तो मानसिक उपदंश (Mental Syphilis) होने की संभावना भी नहीं हो। रोग धक चिकित्सा तथा प्रारंभिक अवस्था में ही उपदंश का समुचित उपचार किए जाने पर पुरुष अथवा गर्भिणी स्त्री को वंशगत उपदंश के दुष्प्रभावों से बचाया जा सकता है—तथा उनके जीवन को सुखमय भी बनाया जा सकता है।

जहाँ तक उन्माद तथा मनोविकृतियों (Psychotics neuroses) का संबन्ध है, इन से प्रत्येक देश में भारी संख्या में लोग पीड़ित होते हैं, किन्तु उसकी जानकारी हमें प्रायः नहीं होती। किसी समय में दुनिया के एक हिस्से में रहनेवाले निवासियों का यह हाल था कि २० व्यक्तियों में १ व्यक्ति अनिवार्यरूपेण मानस व्याधि से पीड़ित होता था। हमारे देश में मानस रोगियों की क्या संख्या होगी, इसका अनुमान लगाना कठिन है। मेडिकल कालेजों में मानस व्याधि के प्राध्यापक प्रायः ही अण्डरग्रेजुएटों (उप-स्नातकों) को ऐसा बताते हैं कि अनेक बार अस्पताल की सीमा के बाहर मानस रोगी जनता के उपहास के पात्र बनते देखे जाते हैं। यह सत्य है कि सामान्य रूप से मानसिक विकारों से ग्रस्त लोगों के लिए उपचार की कोई आवश्यकता नहीं होती। और धड़ल्ले से वे लोग बाहर विचरण करते रह सकते हैं और नागरिक जीवन के लिए ऐसे लोग कोई समस्या भी नहीं बनते। •किन्तु उन व्यक्तियों का उपचार आवश्यक होता है, जो [illegible] ही खो बैठते हैं तथा अनेक प्रकार के मानसिक उन्माद जैसे मनोविकृति (Psychotiec), मस्तिष्क में विकार न रहने पर भी एक प्रकार का उन्माद (Schizophrenia), सनक जैसी मनोविकृतियों (Manic Psychoses) के शिकार हो जाते हैं।

प्रायः ऐसा तर्क प्रस्तुत किया जाता है कि युद्ध की स्थिति नहीं रहने पर किसी प्रकार का युद्धोन्माद (War neuroses) नहीं रहना चाहिए। यह एक विवादास्पद बात हो सकती है, क्योंकि यह हमें दिखायी देता है कि प्रतिदिन के जीवन में हमारे अन्दर संवेगात्मक संघर्ष (Emotional battle) अहर्निश चलता ही रहता है। हमारे जीवन में सभी प्रकार का अभाव एवं गरीबी है—और हमारे अगल-बगल व्याधियों, हड़तालों एवं आर्थिक उलझनों का ऐसा मनहूस क्रम चलता रहता है कि उसका लाजिमी तौर पर दुष्प्रभाव हमारे स्नायु-मण्डल पर पड़ता रहता है—इस कारण स्नायविक तनाव की स्थिति में मानसिक स्वास्थ्य नष्ट हो जाता है। मनुष्य के मानसिक सन्तुलन को नष्ट करने में उसकी आनुवंशिकता (Heredity) तथा जिस सामाजिक परिपार्श्व में उसके सम्पूर्ण व्यक्तित्व का निर्माण होता है—इन दोनों ही कारणों का महत्वपूर्ण हाथ होता है।

जिन सामाजिक परिस्थितियों में हमारी जीवन-यात्रा चलती है, उनके अन्तर्गत निश्चित तौर पर हमारे बीच मानसिक व्याधिग्रस्त लोगों का प्राचुर्य होगा—और यदि हम ऐसे लोगों का लेखा-जोखा लें तो मानसिक व्याधियों की व्यापकता का सहज ही अनुमान लगा सकते हैं—इस समस्या की विकरालता को तभी हम अनुभव कर सकेंगे।

इंगलेण्ड में "ब्रिटिश कौंसिल आँफ मेण्टल हायजिन के तत्वावधान में वर्षों पूर्व मानसिक स्वास्थ्य-सुधार-सम्बन्धी कार्य प्रारंभ किया गाया था और सारे देश में इसकी शाखाओं का एक जाल-सा बुन दिया गया। इसके सदस्यों में मानस-रोग चिकित्सकों (Psychiatrists), प्रशिक्षित नर्सों तथा हेल्थ विजीटरों के अतिरिक्त व्यक्तिगत रूप से चिकित्सा करने वाले चिकित्सक हैं।

इन संस्थाओं का उद्देश्य प्रारंभिक अवस्था में ही मानसिक स्वास्थ्य के बिगड़ने पर उसको पहचान कर समुचित उपचार की व्यवस्था करना तथा परिवार के अन्य सदस्य भी कहीं अपना मानसिक स्वास्थ्य खो न बैठें, इसके लिए रोग [illegible] चिकित्सा (Prophylaxis) का अवलंबन करना

हुए वैसे मानसिक रोगियों को स्वास्थ्य की दृष्टि से "पुनर्वास" प्रदान करना है, जो अस्पतालों से निराश होकर घर लौट आते हैं। इस दिशा में ग्रेट ब्रिटेन में बड़ा प्रशंसनीय कार्य हुआ है।

हमलोग भी शक्ति भर इस दिशा में प्रयत्न करें। मानसिक व्याधि से ग्रस्त एक व्यक्ति, जो शहर की मुख्य सड़कों पर उन्माद में दौड़ता हुआ अकारण ही सर्व सामान्य जनता में से किसी भी व्यक्ति को आघात पहुँचा सकता है, वह अवश्य ही एक सामाजिक समस्या के रूप में हमारे सामने आता है। यह तो मानसिक व्याधि का एक दृष्टान्त मात्र है। सनकी या पागल कोई पिशाचग्रस्त व्यक्ति नहीं होता। मानसिक व्याधि से ग्रस्त होना कोई लज्जा या अपमानजनक बात नहीं है। शारीरिक व्याधियों की ही तरह मानसिक व्याधियों के प्रति हमें सचेत एवं सचेष्ट रहने की आवश्यकता है। मानसिक व्याधियों के शिकार व्यक्तियों को पुजारियों तथा मंदिर के पुरोहितों के हाथ में सौंपा देना श्रेयस्कर नहीं कहा जा सकता।

मानसिक विकारों से ग्रस्त व्यक्तियों की पहचान कोई मुश्किल कार्य नहीं है। अधोलिखित लक्षणों के आधार पर मानसरोगियों का निदान करने में सौकर्य हो सकता है--

(१) अपनी समस्याओं को भुलाकर व्यक्ति स्वनिर्मित संसार में ही विचरण करना चाहता है।

(२) उसको ऐसा विश्वास होता है कि लोग उसे पीड़ा पहुँचा रहे हैं।

(३) वह कोई निर्णय नहीं ले पाता-संदिग्धावस्था में ही पड़ा रहता है।

(४) उसकी मनस्थिति प्रसन्नता और अवसाद के बीच झूलती रहती है।

(५) वह सदैव अपने को बीमार महसूस करता है, हालाँकि मेडिकल परीक्षा करने पर ऐसा प्रमाणित नहीं होता।

(६) औषधि का सहारा लिए वगैर उसे नींद नहीं आती।

(७) वह स्वभाव से चिड़चिड़ा हो जाता है और सदैव विषादपूर्ण रहता है।

(८) वह अपने प्रति तथा अपनी जीविका और परिवार के प्रति भी कोई स्वारस्य नहीं रखता।

(९) वह अविराम गति से बातें करता रहता है--और रुकना जानता ही नहीं।

(१०) उसके विचार सदैव चंचल रहते हैं और बातें करते समय वह एक विषय को अधूरा ही छोड़ कर दूसरे विषय पर बात करना प्रारंभ कर देता है।

(११) वह अकारण ही भयभीत बना रहता है।

(१२) वह काल्पनिक वस्तुओं के पीछे दौड़ता रहता है।

उपर्युक्त १२ लक्षणों को प्रयुक्त करने के अनन्तर ज्योंही कोई व्यक्ति मानसिक विकारों से ग्रस्त दिखे, तत्काल किसी मानसरोग-विशेषज्ञ से (मनोवैज्ञानिक नहीं) सलाह लेनी चाहिए; वही मानसरोगी के उपचार के सम्बन्ध में यह निर्णय करेगा कि उसको किसी अस्पताल में अथवा बाहर ही रखकर औषधोपचार करना उचित रहेगा। शॉक उपचार (Shock therapy अथवा अन्य विशेष टेक्नीक की सहायता से भी मानस-व्याधियों का उपचार विशेषज्ञ की सलाह से ही करना चाहिए। चाहे किसी भी प्रकार की मानस-व्याधि क्यों न हो, प्रारंभिक अवस्था में रोग की पहचान होते ही सुदक्ष विशेषज्ञों की सहायता से उपचार कराने पर हमारे देशवासियों के स्वास्थ्य और सुख-सम्पदा में अभिवृद्धि होगी--उसमें कोई संदेह नहीं है।

(एण्टीसेप्टिक से साभार)

पाठकों के विचार

स्वास्थ्यसमस्या का समाधान कैसे हो ?

लोकसभामें स्वास्थ्यमंत्रालय के खर्च की मांगोंपर विचार करते हुए अनेक सुझाव रखे गये हैं। स्वास्थ्य मंत्रालय के अन्दर दो विभाग अलग-अलग हैं एक स्वस्थवृत्त है और दूसरा चिकित्सा विभाग है। स्वस्थवृत्त वह विभाग है जिसके द्वारा जीवन नियमों, जिन आचरणों का और जिन खाने-पीने की चीजों के द्वारा मनुष्य स्वस्थ रह सकता है उसका प्रचार करना और लोगों के अन्दर उसका समावेश करना है और चिकित्सा विभाग वह विभाग है कि जब वह किसी तरह से बीमार हो जाय, रोगासक्त हो जाय तो उसका उपचार करके रोग से मुक्त किया जाय। इन अनुदानों को देखते हुए मैं समझता हूँ कि स्वस्थ वृत्त पर अपेक्षाकृत कम धन रखा गया है। वैसे मैं समझता हूँ कि जहाँ तक पूरे स्वास्थ्य विभाग का सम्बन्ध है, उसपर भी कम ही धनराशि रक्खी गयी है। इसकी चर्चा तो बहुत लोगों ने की है लेकिन वह चर्चा एक बड़ी लम्बी चर्चा है। जहाँ तक तक स्वस्थवृत्त और चिकित्सा विभाग का ताल्लुक है ये दोनों स्वास्थ्य मंत्रालय से सम्बन्धित हैं और उसको विशेष स्थान देना चाहिए कि जिस से मनुष्य स्वस्थ रह सकें। मनुष्यको जिन उपायोंसे स्वस्थ रक्खा जा सके, उनपर अधिक धन खर्च किया जाय और इसीलिए मैं चाहता हूँ कि स्वस्थ वृत्त पर अधिक धनराशि सरकार खर्च करे और उसके बाद चिकित्सा को स्थान देना चाहिए।

जहाँ तक स्वस्थ रहने की बात है इस सम्बन्ध में दिनचर्या, रात्रिचर्या और ऋतुचर्या आदि बातों का ज्ञान मनुष्य में होना आवश्यक है। इस बात की भी आवश्यकता है कि प्रारम्भ से ही लेकर जब हमारे विद्यार्थी पढ़ाये जाते हैं तो उन विद्यार्थियों के पाठ्यक्रम में एक स्वास्थ्य और आरोग्य का पाठ्यक्रम भी अवश्य होना चाहिए और प्रारंभिक शिक्षा से लेकर अन्तिम कक्षा तक योग्यतानुसार उनका ज्ञान स्वास्थ्य के सम्बन्ध में बढ़ाना आवश्यक है। यदि स्वास्थ्य सम्बन्ध में इस प्रकार का ज्ञान हमारे देशवासियों को कराया जाय तो मैं समझता हूँ कि ५० प्रतिशत यहाँ के रहनेवाले लोग उससे लाभान्वित होंगे और वे अपने जीवन को ठीक ढंग से व्यतीत करने लगेंगे और अपने खाने-पीने में और अपने रहन-सहन में भी वे उचित परिवर्तन कर लेंगे। मैं समझता हूँ कि इस तरह लोगों को उसके सम्बन्ध में शिक्षित करके यह स्वास्थ्यका प्रश्न बहुत कुछ हल किया जा सकता है।

इसके साथ ही मैं चाहता हूँ कि इस स्वस्थ वृत्त के सम्बन्ध में इस तरह की छोटी-छोटी पुस्तकें भी निकलें कि किन ऋतुओं में कोन-कौन-सी चीजें खाने में हानिकर और कौन-कौन-सी लाभकर हो सकती हैं। रात्रि में किस तरह से हमको रहना चाहिए और दिन में हम को किस तरह से रहना चाहिए, मुख धावन और दन्त धावन किस तरह से करना चाहिए—ये सब बताने की चीज है औरलोगोंकोप्रारम्भ से ही इनकी शिक्षा दी जानी चाहिए। उदाहरणार्थ मैं यह कह सकता हूँ कि हमारे भारतवर्ष में आज यह टूथेपस्ट और टूथब्रश का प्रचार लोगों में बहुत अधिक हो चला है और जिसे देखो टूथपेस्ट करता हुआ नजर आयेगा। हमारे देश में नयी ताजी दातुनें मिल सकती हैं और मैं दावे के साथ यह कह सकता हूँ कि अगर दातुन का प्रयोग किया जाय तो आज यह ५०और ६०प्रतिशत देशवासी जो पायोरिया के रोग में फँसे हुए हैं, उससे मुक्ति पा सकते हैं और यह पायोरिया की बीमारी रुक सकती है, अगर ताजी बबूल व नीम की दातुन रोज इस्तेमाल में लायी जाय। लेकिन हम देखते हैं कि आज लोग दातुन न करके टुथपेस्ट और टूथब्रश पर आ गये हैं और शहरों को तो कहना ही क्या, गांवों तक में इनका प्रचार हो गया है। इसलिए आवश्यक है कि इन चीजों की तरफ ध्यान दिया जाय।

देशी चिकित्सा-पद्धति के सम्बन्ध में मुझ से पूर्व वक्ता बहुत कुछ कह चुके हैं और मैं उसकी पुनरावृत्ति करना आवश्यक नहीं समझता। लेकिन इतना अवश्य कहना चाहता हूँ कि हमारी गवर्नमेंट का जो दृष्टिकोण है वह इस तरफ मन्द गति से गया है और इस सम्बन्ध म एक भाई ने यह उचित ही कहा था :—

"यस्य देशस्य यो जन्तु:तज्जन्यतस्औषधं हितम्"

जामनगर रिसर्च इंस्टीच्यूट का जिक्र हर जगह आता है लेकिन मेरा विचार तो यह है कि अगर आप चाहते हैं कि

देशी चिकित्सा-पद्धति इस नये युग में नये-नये रिसर्च और नये-नये प्रयोगों के बारे में जानकारी प्राप्त कर दुनिया में अधिकाधिक सफल हो सके और खास कर हमारे देश में सफल हो सके तो आवश्यक है कि जामनगर सरीखे इंस्टीच्युट्स देश के हर एक सूबे में कम से कम एक-एक खोल दिया जाय। और एक केन्द्रीय कमेटी होनी चाहिए जिसके तत्त्वावधान में भिन्न-भिन्न रोग निर्धारित किये जायें और वह सूबों को अलग-अलग बांट दिये जाएं ताकि एक ही रोग का सब जगह अन्वेषण न हो। अगर ऐसा अन्वेषण किया जाय तो में समझता हूँ कि बहुत-से रोगों का अच्छा अनुभवपूर्ण उपाय मिल सकता है और उसके द्वारा कम खर्च में चिकित्सा करके लोगों को आरोग्य बनाया जा सकता है। देखने की बात यह है कि १२ वर्ष व्यतीत होने के बाद भी हमारे मंत्रालय का ध्यान इस ओर नहीं गया है, और जो तरीका वह अपना रहा है और जिस शिक्षा-पद्धति द्वारा वह डाक्टर तैयार कर रहा है, उसके द्वारा तो देशके देहातों में रोगों का उपचार करना सम्भव नहीं है। में जांच के तौर पर आप से पूछना चाहता हूँ कि देहातों में जो ऐलोपैथीके दवाखाने खोले गये हैं उनमें से कितनों में डाक्टर मौजूद हैं। मैं आपसे कहूँगा कि डाक्टर लोग कोशिश करते हैं कि किसी उपाय से वहाँ जाने से बच जाएँ। इसमें उनका दोष नहीं है। उनका रहन-सहन का तरीका, उनकी पाठ्यप्रणाली और उनपर जो खर्च किया जाता है, वह सब देखते हुए वह देहात में रहना अपने अनुकूल नहीं समझते। अगर वह किसी तरह वहाँ रहने के लिए राजी हो भी जाएँ तो उनकी श्रीमती और उनके बच्चे उनको परेशान करते हैं और वह संचालकों से कोशिश करके यह चाहते हैं कि किसी तरह से शहर में रहने का मौका मिल जाए। तो इन अस्पतालों को खोलते समय आपको विचार करना चाहिए कि जब डाक्टर वहाँ जाना पसन्द नहीं करता तो वह किस तरह से सहानुभूति के साथ काम कर सकेंगे और लोगों को आरोग्य बना सकेंगे और उनके साथ सहानुभूति का व्यवहार कर सकेंगे। आयुर्वेद में तो यह कहा गया है कि वैद्य का काम घृणित है अगर इसको जीविका का साधन बनाया जाय, लेकिन अगर इस काम को सेवा भाव से किया जाय तो यह सर्वोत्तम काम है। इसलिए जरूरत इस बात की है कि चाहे वह आयुर्वेद के विद्यार्थी हों या एलोपैथी के विद्यार्थी हों, उनकी परीक्षा में सबसे पहले यह बात देखनी चाहिए कि उनमें सेवा का भाव है या नहीं। जिसमें सेवा भाव हो उसी को इस विभाग में लिया जाए तो मैं समझता हूँ कि उनके द्वारा अधिक से अधिक लाभ हो सकता है।

मैं भी एक छोटा-सा वैद्य हूँ। मैंने देखा है कि केवल वैद्य की सहानुभूति से और अच्छे विचारों से ५० प्रतिशत रोगी स्वास्थ्य लाभ कर लेते हैं। लेकिन अगर वैद्य अच्छा (सदाचारी एवं शिष्ट) न हो तो किसी प्रकार से भी वह ज्यादा लाभ नहीं पहुँचा सकता।

इसके साथ मैं यह भी कहना चाहूँगा कि आयुर्वेदिक चिकित्सा की जो पंचकर्म विधि और बस्ति विधि है, जो कल्प विधियाँ हैं उनपर कोई खास ध्यान अभी तक नहीं दिया गया है। ये विधियाँ बहुत प्राकृतिक ढंग से शरीर को स्वस्थ बना सकती हैं। कुछ सदस्यों ने कहा कि एलोपैथी चिकित्सा पद्धति रोगों को दवा देती है और आयुर्वेदिक पद्धति रोगों को निर्मूल कर देती है। उसका कारण यह है कि पहले आयुर्वेद पंच कर्म या बस्ति विधियों के द्वारा शरीर का संस्कार करके औषध के प्रयोग करते हैं और उस औषधि से स्थायी लाभ होता है।

एक बात मैं और कहना चाहता हूँ कि जिस तरह से आप धात्री शिक्षा दे कर मिडवाइव्स को और हेल्थ विजिटर्स को तैयार कर रहे हैं, उससे तो सौ बरस में भी देश के कोने कोने में ये नवीन मिडवाइव्स नहीं पहुँच सकेंगी और लाभ नहीं पहुँचा सकेंगी। मैं समझता हूँ कि जो धात्रियाँ इस समय देहातों में काम कर रही हैं, उनको साधारण देशी चिकित्सा पद्धति के अनुसार नालोच्छेदन करना और शुद्ध मिट्टी का प्रयोग करना अगर सिखा दिया जाए तो देश के कोने-कोने में इस सुविधा का पूरा लाभ छोटे और बड़े सभी को मिल सकता है।

—वैद्य भगवानदीन मिश्र, एम० पी० केसरगंज, बहराइच।

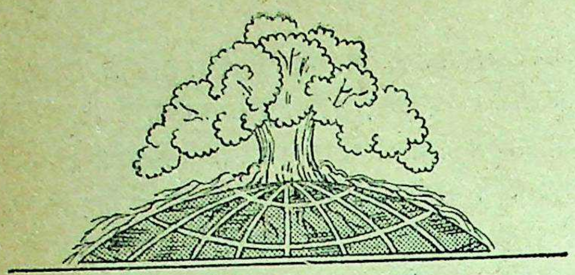

आयुर्वेद-जगत्

आयुर्वेद ही जनता की एकमात्र आशा

पंजाब के राज्यपाल श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने कन्या गुरुकुल, हरद्वार में दीक्षान्त भाषण देते हुए कहा कि अस्सी प्रतिशत शहरों में आयुर्वेद भले ही न हो, किन्तु गाँवों में रहनेवाली बहुसंख्यक जनता आज भी आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति पर ही भरोसा करती है और उसी से रोग दूर करती है। वैसे सम्पूर्ण देश इस बात से सहमत है कि जो जहाँ का निवासी है, उसे वहीं की औषध फायदा पहुँचाती है। किन्तु इस प्रकार की सफल चिकित्सा के द्वारा आयुर्वेदज्ञों को अभी और अधिक विश्वास जमाना होगा––फिर तो सरकार स्वयं ही उन्हें बुलाकर उनके अधिकार उन्हें सौंप देगी। अधिकार तो कर्त्तव्य-परायणता पर स्वयं मिल जाता है। जनता के कार्य ऐसे ही आगे बढ़ा करते हैं। फिर आयुर्वेद जैसी विद्या के हित में कार्य करना तो धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों फलों को देनेवाला है।

देश भर में एक ही आयुर्वेदीय कोर्स निर्धारित हो

भारत सरकार के आयुर्वेदीय सलाहकार श्री सी० द्वारकानाथन् ने पटना में बिहार राज्य आयुर्वेदिक एवं यूनानी सम्मेलन में भाषण देते हुए कहा कि चिकित्सा की आयुर्वेदिक प्रणाली युगों से इसलिए बनी रही, क्योंकि इसके सिद्धान्त बड़े ही व्यापक और वैज्ञानिक थे। इसका दृष्टिकोण रूढ़िवादी नहीं रहा बल्कि परिवर्तित स्थिति के अनुसार अपने को ढालने की क्षमता इसके अन्दर बराबर रही। उन्होंने बतलाया कि अगर आयुर्वेद के विभिन्न पहलुओं का वैज्ञानिक अनुसन्धान नहीं किया जायगा तो आयुर्वेद की शिक्षा अधूरी ही रहेगी। अगर आयुर्वेद-शास्त्रों में निहित महान विचारों की उचित ढंग से शिक्षा देनी है तो अब तक के समाधान की अपेक्षा कोई भिन्न समाधान निकालना पड़ेगा। यह समाधान न केवल संहिता के बारे में सुलभ टीका को सम्बद्ध करेगा, बल्कि आधुनिक प्रणाली के भी अनुसार लाभ पहुँचायेगा।

प्रो० द्वारकानाथन् ने आगे कहा कि संहिता के सूत्रों के अध्ययन का सर्वोत्तम तरीका चरक के वैज्ञानिक ढंग का अनुसरण करना है (क) प्रत्यक्ष, (ख) अनुमान और (ग) आत्मोपदेश। इन तीनों तरीकों के बाद जो परिणाम निकले उसका बार-बार परीक्षण किया जाना चाहिए। आपने चिकित्सा की समस्त प्रणालियों का एक सामान्य आदर्श उपस्थित करने का सुझाव दिया। आपने आगे कहा कि भारत के चिकित्सक चाहे वे जिस भी प्रणाली को अपनायें, उन्हें राष्ट्रीय स्वास्थ्य को सुधारने की दिशा में प्रयत्नशील होना चाहिए। आयुर्वेदीय शिक्षा-सम्बन्धी समस्याओं के सम्बन्ध में अपना विचार प्रकट करते हुए आपने कहा कि समय आ गया है, जब कि आयुर्वेद की शिक्षा से सम्बन्ध रखनेवाली समस्याओं का नए सिरे से अध्ययन किया जाना चाहिए। देश भर के लिए एक ही आयुर्वेदीय कोर्स निर्धारित करने पर आपने जोर दिया।

दिल्ली निगम द्वारा आयुर्वेद की उपेक्षा

दिल्ली नगर निगम की स्थायी समिति की बैठक में सदस्यों ने इस बात पर विशेष नाराजगी प्रकट की कि निगम ने अपने दो साल के कार्यक्रम में एक भी नया आयुर्वेदिक औषधालय नहीं खोला जब कि एलोपैथी पर उसका खर्च निरन्तर बढ़ता जा रहा है। सदस्यों ने जोर दे कर कहा कि अधिकांश जनता आयुर्वेद चिकित्सा-पद्धति को पसन्द करती है और वह सस्ती भी है। निगम के वार्षिक बजट में देशी चिकित्सा के लिए रकम निर्धारित की जाती है; किन्तु यह बड़े दुःख की बात है कि चिकित्सा की सुविधाएँ न होते हुए भी उस रकम को खर्च नहीं किया जाता।

विभिन्न चि० प्रणालियों का समन्वय जरूरी

केन्द्रीय रेलवे मन्त्री श्री जगजीवन राम ने उत्तरप्रदेश इण्डियन मेडिकल बोर्ड के समावर्तन समारोह में दीक्षान्त भाषण करते हुए कहा कि आयुर्वेदिक तथा यूनानी चिकित्सा पद्धतियाँ भी वैज्ञानिक हैं, और आयुर्वेदिक, यूनानी और एलोपैथिक चिकित्सा-पद्धतियों में वैज्ञानिक अनुसन्धान करते हुए उनमें समन्वय स्थापित कर और उन्हें एक दूसरे का पूरक बना करके एक एकीकृत चिकित्सा-पद्धति का सृजन और विकास करना चाहिए। उन्होंने आगे कहा

कि हम एक नयी चिकित्सा-प्रणाली के विकास की बात आज इसलिए नहीं कहते कि एलोपैथी अपेक्षाकृत अत्यधिक विकसित तथा वैज्ञानिक प्रणाली है, बल्कि चिकित्सा-प्रणालियों के पारस्परिक मेल एवं समन्वय के आधार पर एक नयी प्रणाली को विकसित करना हमारा प्रयोजन होना चाहिए।

रेलवे मन्त्री ने आगे कहा कि मानव जाति की भलाई के लिए प्रत्येक चिकित्सा-प्रणाली को दूसरी चिकित्सा-प्रणाली के गुण को ग्रहण कर लेना चाहिए। आपने जोर दे कर कहा कि आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा-प्रणालियों को अवैज्ञानिक बतलाना चिकित्सा-विज्ञान के लिए हितकर नहीं है। आयुर्वेद तथा यूनानी प्रणालियों को शताब्दियों से राजकीय समर्थन नहीं मिला, फिर भी इन प्रणालियों ने प्रगति की है। इससे स्पष्ट है कि इन प्रणालियों की निजी मौलिक विशेषताएँ हैं। आपने आयुर्वेद तथा यूनानी चिकित्सा-प्रणालियों में शोध सम्बन्धी कार्यों की आवश्यकता पर बल दिया और कहा कि चिकित्सकों को चाहिए कि उन घरेलू औषधियों को वैज्ञानिक अनुसन्धानों द्वारा विश्लेषण करके विश्वसनीय और स्पष्ट करें, जो असाध्य रोगों के लिए रामबाण की तरह हैं। जड़ी-बूटियों के रासायनिक विश्लेषण एवं परीक्षण पर रेल मन्त्री ने अत्यधिक जोर डाला।

विद्युत् अणु का चिकित्सा में स्थान

एलेक्ट्रानिक्स (अथवा विद्युत् अणु विद्या) का उल्लेख आजकल बहुधा हुआ करता है। वैज्ञानिक तथा अनुसन्धान-कर्ता के लिए नयी खोजबीन एवं अध्ययन-अनुसन्धान का विशाल क्षेत्र यह प्रदान करता है।

औषधिशास्त्र तथा चिकित्साकला में विद्युत् अणु विद्या के स्थान पर विचार-विमर्श एक अन्ताराष्ट्रीय सम्मेलन के समय लन्दन में जुलाई २१ से ले कर १७ तक होने वाला है।

इस तीसरे अन्तराष्ट्रीय सम्मेलन में भाग लेने के लिए कई समुद्रपारीण देशों के प्रतिनिधि आनेवाले हैं, जिनमें बंगलोर की अखिल भारतीय मानसिक स्वास्थ्य के डा० के० वी० गुंडुराव भी होंगे।

अन्य बहुतेरे विचारणीय विषयों में हम अन्तरिक्ष अन्वेषण की समस्याओं को भी सम्मिलित पायेंगे। संसार भर के अनुसन्धान-संगठन, अस्पताल, विश्वविद्यालय तथा उद्योग-धन्धे नवीनतम विधियों और साधनों का प्रदर्श करेंगे।

राजस्थान में वैद्यों का पंजीकरण

राजस्थान इण्डियन मेडिसिन बोर्ड, जयपुर के अधिवेशन से लौटने पर आचार्य नित्यानन्द जी ने एक वक्तव्य में बताया कि राजस्थान में अनुभव के आधार पर वैद्यों और हकीमों के पंजीकरण को दो मास के लिए खोलने का निर्णय हुआ है। निश्चित तिथि की घोषणा राज-पत्र में की जायगी। राजस्थान के जागरूक वैद्यों और वैद्य सभाओं का कर्त्तव्य है कि वे सुयोग्य एवं अनुभवी वैद्यों का पंजीकरण इसी अवधि में करा देवें—इसके बाद अनुभव के आधार पर पंजीकरण नहीं हो सकेगा।

भारत में तपेदिक की स्थिति

राष्ट्रीय तपेदिक पड़ताल विभाग की जाँच से पता चलता है कि देश के ५० लाख व्यक्ति अर्थात् कुल जन-संख्या का १.३ प्रतिशत फेफड़े के तपेदिक के रोगी हैं। इनमें लगभग १५ लाख (०.४ प्रतिशत) रोगी ऐसे हैं, जिनकी छूत से दूसरों को रोग लग सकता है।

यह भी पता चला है कि तपेदिक छोटी उम्र के लोगों में कम और बड़ी उम्र के लोगों में अधिक है। यह रोग पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में कम पाया गया है। खास तौर से बड़ी उम्र के रोगियों में स्त्रियों की संख्या पुरुषों से कम है।

कच्चे मकानों में रहनेवालों को, पक्के मकानों की अपेक्षा अधिक तपेदिक होती है।

शहरों और कस्बों की तुलना में गाँवों में तपेदिक कुछ कम है, पर खास अन्तर नहीं है।

यह पड़ताल भारतीय चिकित्सा अनुसन्धान परिषद् की उप समिति ने कराई। भारत सरकार के तपेदिक सलाहकार डा० पी० वी० बेन्जामिन इसके अध्यक्ष थे। यह पड़ताल केवल फेफड़ों के तपेदिक के बारे में की गयी, क्योंकि यह ज्यादा छूत की और खतरनाक होती है।

पश्चिम बंगाल, बिहार, उत्तरप्रदेश, दिल्ली, पंजाब, आन्ध्रप्रदेश, मैसूर, मद्रास, बम्बई और केरल के चुने हुए गाँवों और शहरों में विभिन्न श्रेणियों के लोगों की जाँच की गयी। इसमें ६ शहरों, ३० कस्बों और १५१ गाँवों के लगभग ३ लाख लोगों की परीक्षा की गयी।

सब का काम नयी दिल्ली, पटना, हैदराबाद और तिरु-

अनन्तपुर के तपेदिक केन्द्रों, कलकत्ते की हाइजिन एण्ड पब्लिक हेल्थ इंस्टीटयूट और यू० एम० टी० सेनोटेरियम मदनपल्ली (आन्ध्रप्रदेश) को सौंपा गया था। इस पड़ताल में ५ साल से छोटे बच्चों को छोड़ कर बाकी सभी लोगों का एक्स-रे किया गया और जिनमें रोग होने की शंका थी, उनके रक्त, थूक आदि की भी जाँच की गयी।

औषधियों के किस्म में सुधार का प्रयास

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री श्री डी० पी० करमरकर ने लोक सभा में एक प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि आयुर्वेदिक तथा यूनानी औषधियों के किस्म की जाँच करने के प्रश्न पर भी सरकार गम्भीरता से विचार कर रही है। आपने बताया कि भारत सरकार औषधि कानून के अन्तर्गत अधिकार प्राप्त कर सरकारी इन्स्पेक्टर नियुक्त करना चाहती है, जो औषधि कानून को लागू करने में राज्य सरकारों की सहायता करेंगे।

श्री एच० सी० माथुर के प्रश्न का उत्तर देते हुए केंन्द्रीय मंत्री ने कहा कि सरकार काफी हद तक देश में निर्मित औषधियों के किस्म से सन्तुष्ट है। इसमें सुधार की गुंजायश अवश्य है और राज्य सरकारों की सहायता के लिए विशेष कानूनी अधिकार केन्द्रीय सरकार प्राप्त कर रही है।

रा० आ० चिकित्सालय में शल्य-चिकित्सा

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय गौचर चेमाली (गढ़वाल) में शल्य-चिकित्सा द्वारा निम्नलिखित रोगियों की चिकित्सा की गई, एक ऐसे रोगी जिसके हाथ की अंगुलियाँ एकदम सटी हुई थीं। शल्य चिकित्सा द्वारा पृथक्-पृथक कर दी गयीं। एक रोगी के नितम्ब पर गम्भीर व्रण था इसे भी शल्य-चिकित्सा द्वारा अच्छा किया गया। इसके अतिरिक्त अस्थिभग्न आदि की भी सफल चिकित्सा शल्य-क्रिया द्वारा की गई, इस प्रकार १९५९ में कुल ३९९८ रोगी की शल्य चिकित्सा की गई।

आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा, बाँदा में पिछले दिनों सम्पन्न हुए समारोहों का विवरण :—

नेत्र चिकित्सा-शिविर का उद्घाटन

गत १७-३-६० को आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा के अस्पताल में कालेज की ओर से आयोजित "नेत्र-चिकित्सा शिविर" का उद्घाटन जिलाधीश महोदय बाँदा के कर-कमलों द्वारा सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इस शिविर में ता० १७-३-६० से लगायत ३१-३-६० तक सैकड़ों रोगियों की चिकित्सा दक्ष डाक्टरों द्वारा की गई। जिनमें मोतियाबिन्द, रोहे तथा परबाल आदि के शस्त्रकर्म किये गये। प्रान्त की जनता को इस आयोजन के द्वारा आशातीत लाभ हुआ।

शवच्छेद भवन का शिलान्यास

गत २७-३-६० को आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा के शवच्छेद भवन का शिलान्यास माननीय श्री बलदेव सिंहजी आर्य, उप-मन्त्री, स्वास्थ्य विभाग, उत्तर प्रदेश के द्वारा सम्पन्न हुआ। शिलान्यास के सुअवसर पर उप-मन्त्री महोदय ने कालेज-भवन तथा अस्पताल के निरीक्षण के बाद अपने भाषण में पाँचवें वर्ष में पदार्पण करने वाला शिशु कालेज के प्रति जो उद्गार प्रकट किया है, वह निम्नलिखित है।

उन्होंने कहा कि—"अल्प अवधि के अन्तर्गत ही इस कालेज की प्रगति को देखते हुए यह कहना पड़ेगा कि यह कालेज कुछ ही वर्षों में प्रान्त के सर्वांगपूर्ण कालेजों में अग्रगण्य हो जायगा। कालेज के अस्पताल के बहिरङ्ग विभाग (शल्य, शालाक्य, काय-चिकित्सा विभाग) प्रतिदिन ढाई-तीन सौ रोगियों की संख्या तथा अन्तरङ्ग विभाग में २० (बीस) रोगी शय्याओं को चालू देख कर बड़ी प्रसन्नता हुई। यहाँ की जनता इस संस्था द्वारा पूर्ण लाभ उठा रही है। साथ ही इस संस्था के चतुर्दिक आयुर्वेद के विकास का समुचित वातावरण फैल रहा है। अन्त में उन्होंने यह आश्वासन दिया कि इस संस्था की उन्नति के लिए सरकार से पूरी सहायता मिलेगी।

बाँदा जिला वैद्य-सम्मेलन

गत २७-३-६०, रविवार की रात में आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा में पञ्चम बाँदा जिवला वैद्य सम्मेलन सफलतापूर्वक सम्पन्न हुआ। इस सम्मेलन का सभापतित्व माननीय श्री धर्मदत्तजी वैद्य, सभासचिव, परिवहन विभाग उत्तर प्रदेश ने किया और सम्मेलन का उद्घाटन आयुर्वेद-पञ्चानन पं० श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्लजी ने किया। इस सम्मेलन में जिला के प्रायः सभी वैद्यों ने सक्रिय भाग लिये और आयुर्वेद के विकास एवं वैद्यों के सामने उपस्थित अनेकानेक

बाधाओं को दूर करने के लिए बहुतेरे प्रस्ताव पारित किये गये।

जनाना अस्पताल का शिलान्यास

स्थानीय तथा आस-पास की जनता की असुविधा को देखते हुए आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा ने अपने अस्पातल में गत ३०-३-६० को जनाना अस्पताल का शिलान्यास, जिलाधीश वाँदा महोदय की धर्मपत्नी श्रीमती श्यामला देवी कल्याणकृष्णन् के द्वारा सायं ५ बजे सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर स्थानीय तथा वाँदा के गण्यमान्य आफिसर तथा प्रतिष्ठित अन्यान्य सज्जन उपस्थित थे। शिलान्यास सम्पन्न होने के बाद समुपस्थित महानुभाव प्रीतिभोज में सम्मिलित हुए और इस जिले में ऐसे अस्पताल की कमी की पूर्ति का अनुभव करते हुए काफी सन्तोष प्रकट किये।

कूर्माञ्चल औषधालय

आप व आपके लब्धप्रतिष्ठित आयुर्वेद मासिक पत्रिका 'सचित्र आयुर्वेद' के द्वारा मैं अपने "कूर्माञ्चल औषधालय-दिगोलीखाल: गुजड़ू, जिला गढ़वाल की रामकहानी सम्पूर्ण आयुर्वेद-जगत्, सम्बन्धित अधिकारी-वर्ग एवं राज्य सरकार की सेवा में पहुँचाना आवश्यक व अपना प्रमुख कर्त्तव्य समझ रहा हूँ। ताकि मेरी परमावधि से की गई प्रार्थनाएं अरण्यरोदन में परिवर्तन की पुनरावृत्ति न हो कर सम्भवतः अपनी लोकप्रिय सरकार व सम्बन्धित अधिकारी वर्ग का हृदय पसीज सके।

महोदय! मैं आयुर्वेद विशारद रजिस्टर्ड (पंजीकृत) प्रथम श्रेणी ('ए' क्लास) का वैद्य हूँ। सन् १९४३ ई० से अपने इस औषधालय द्वारा क्षेत्रीय दीन जनता की निरन्तर ही स्वास्थ्य-सेवा करते आ रहा हूँ। मेरे इस पैतृक धन्धे व मेरी योग्यता कार्यकुशलतानुसार इस सेवा-कार्य के निमित्त, जिला बोर्ड गढ़वाल द्वारा कुछ वर्षों तक वार्षिक अनुदान उपलब्ध होता रहा अर्थात् सन् १९४३ ई० से सन् ५०-५१ ई० तक। पश्चात् सन् ५१-५२ ई० में इन दो वर्षों का ७२० रु० वार्षिक अनुदान, राज्य सरकार द्वारा प्राप्त होने पर भी बोर्ड के माध्यम होने के कारण अभी तक भी नहीं मिल पाया है।

उपर्युक्त अप्राप्य अनुदान के प्राप्त्यार्थ सन् ५३-५४ से आज तक निरन्तर ही अनुनय-विनय करता आ रहा हूँ, किन्तु कोई सुनवाई नहीं हुई।

उपर्युक्त दो वर्षों के पश्चात् सन् ५३-५४, ५४-५५ व ५५-५६ ई० का १०२० रु० अनुदान भी जब मुझे दिया गया तो-मध्य इन दो वर्षों का अनुदान तो अवश्य ही मिल जाना चाहिए था।

इस जिले के इस अन्तिम भू-भाग के एकमात्र इस औषधालय के सुचारुरूप से संचालनार्थ, उपर्युक्त उल्लिखित विवरणानुसार पुनः मैं अपनी लोकप्रिय सरकार व सम्बन्धित समस्त अधिकारी वर्ग की सेवा में आवश्यक नम्र निवेदन करना परमावश्यक समझता हूँ कि इस औषधालय को प्रथम श्रेणी के वैद्यों को प्राप्त होने वाला वार्षिक अनुदान शीघ्र प्रदान कर मुझे क्षेत्रीय जनता की पूर्ववत् स्वास्थ्य-सेवा करने का सुअवसर प्रदान कर कृतकृत्य कर दिया जाय।

--देवानन्द पोखरियाल 'वैद्य'

एलोपैथी चिकित्सा को चुनौती

लश्कर (ग्वालियर) हाल में यहाँ के एक आयुर्वेदिक प्रणाली के चिकित्सक ने मध्यप्रदेश की स्वास्थ्य मंत्राणी को एक पत्र लिखा है जिसमें उन्होंने दावा किया है कि बवासीर की बीमारी को बिना चीरफाड़ के जड़ से दूर करने के सम्बन्ध में वह आयुर्वेद चिकित्सा प्रणाली की ओर से संसार के एलोपैथी चिकित्सकों को चुनौती देने को तैयार हैं। उक्त रोग के अनेक रोगियों को सरकारी एलोपैथिक डाक्टरों की उपस्थिति में पूर्ण स्वस्थ कर चुके हैं और अपने उक्त आयुर्वेदिक आविष्कार की सफलता का प्रदर्शन ग्वालियर, मध्यप्रदेश भारत या संसार के किसी भी एलोपैथिक मेडिकल कालेज में करके दिखाने को तैयार हैं।

पञ्जाब के वैद्यों की गोष्ठी

पंजाब के विभिन्न क्षेत्रों के वैद्यों की एक गोष्ठी श्री आयुर्वेद विद्यालय बरनाला में २४-३-६० को वैद्य शाकम्भरी दत्त जी मानसावालों की अध्यक्षता में अपूर्व समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। जिसमें में लगभग ३०० प्रतिष्ठित महानुभावों ने भाग लिया आयुर्वेद विषयक बहुत-सी कविताएँ, भाषण हुए उसके पश्चात् निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मिति से पारित हुए।

(१) छै मास से निखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ की आयुर्वेदभिषक तथा विशारद परीक्षा का रजिस्ट्रेशन बन्द कर दिया गया है। इससेपूर्व इन परीक्षाओं का रजिस्ट्रेशन प्रथम श्रेणी में होता था। जो कि अब इसको बिल्कुल

अमान्य घोषित कर दिया गया है। इसका घोर विरोध किया गया। और माँग की गई कि इसका पहले की भाँति रजिस्ट्रेशन किया जावे।

(२) पंजाब सरकार ने आयुर्वेद का शिक्षा विभाग पृथक् बना कर और उसका निर्देशक आयुर्वेद विज्ञान से अनिभिज्ञ बना कर आयुर्वेद पर वज्रपात किया है। आज का वैद्य सम्मेलन माँग करता है कि पहले की भाँति इसको आयुर्वेद विभाग के निर्देशक को सौंपा जावे।

—वैद्य बालमुकुन्द मिश्र, बरनाला।

केन्द्रीय शिक्षा मन्त्री द्वारा संग्रहालय का उद्घाटन

हरिद्वार में गत मास गुरुकुल ज्वालापुर आयुर्वेद महाविद्यालय के अन्तर्गत स्थापित एक विशाल आयुर्वेदीय संग्रहालय का उद्घाटन भारत सरकार के शिक्षा मन्त्री माननीय श्री डा० के० एल० श्रीमाली जी द्वारा सम्पन्न हुआ। इस संग्रहालय में अनेकों विभिन्न प्रकार की वनस्पतियाँ चित्र आदि संग्रहीत हैं, इनको श्री स्वामी विद्यानन्द जी, डाक्टर रमेशचन्द्र पुष्पपति जी एवंवैद्य श्री ज्ञानेन्द्र पाण्डेय जी (गुरुकुल के स्नातक) ने अत्यन्त परिश्रम एवं लगनपूर्वक संकलित किया है। मान्य शिक्षा मन्त्री जी ने सम्पूर्ण संग्रहालय को ध्यानपूर्वक देखा, सुश्रुतोक्त कंकमुख यन्त्र के अवलोकन में विशेष तल्लीनता प्रगट की।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, झाँसी

श्री बैद्यनाथ आ० भ० प्रा० लि० झाँसी द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा केन्द्र में मास मार्च सन् १९६० में २५४६ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई; जिनमें नये रोगी ६६० आये हैं, तथा प्रत्येक रोगानुसार नये रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है—

वात श्लैष्मिक ज्वर (इन्फ्युलुएंजा) १६५, अतिसार ४९, कास ४१, प्रवाहिका ६, पाण्डु १, यकृत् ७, प्रतिश्याय ६, उदर ६, प्रमेह ७, श्वास १४, अग्निमान्द्य ५, कर्णपूय १०, शोथ ५, प्रसूत १, बालातिसार १८, कण्डू १६, आमवात ११, रजःकृच्छ्र २, मूत्रकृच्छ्र ४, अर्श ४, कोष्ठबद्धता २, राजयक्ष्मा २, वमन १, हृदयरोग १, कृमिरोग ३, विषमज्वर ११६, पार्श्वशूल ६, वातरक्त ४, उदरशूल ४, शिर:शूल १२, शीतपित्त ४, सन्निपातज्वर ४, दन्तशूल ४, मुखपाक ६, गर्भस्राव ९, कफज्वर ३, पीडिका १, आतशक १, दद्रू २, मन्थरज्वर २, मधुमेह १, संग्रहणी १, अण्डवृद्धि १, पूयमेह २।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, पटना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा संचालित बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय में गत मास कुल १०६१ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई। इसमें ६२४ नये और ४२९ पुराने रोगी थे। इसमें पुरुष रोगियों की संख्या २९०, स्त्री रोगियों की संख्या १६० तथा बालक रोगियों की संख्या १७४ थी। इस मास की दैनिक उपस्थिति का औसत ३४–२ रहा। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार रोगानुसार नीचे लिखे मुताबिक है:—

ज्वर ६१, अतिसार ५५, कृमि ५४, पाण्डु ३०, अर्श १८, कामला २५, अजीर्ण ७७, शोथ १५, जलोदर १, बालशोष २८, प्रदर ३७, मसूरिका २८, कास ४७, गलारोग २२, दाँत के रोग ४३, आँख के रोग ४३, कान के रोग ३१, मुख रोग ९।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, नागपुर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लिमिटेड, नागपुर द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य-रक्षा-केन्द्र में गत मास मार्च १९६० में १८४३ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई, जिनमें ३२२ रोगी नये आये तथा प्रत्येक रोगानुसार विवरण निम्न प्रकार है—

ज्वरातिसार ८, बालज्वर २, कास ३३, जीर्णज्वर ६, उष्णता २, पार्श्वशूल २, हृदयरोग २, कृमिरोग ७, पित्त-विकार ३, मन्दाग्नि ९, प्रतिश्याय १८, रक्तविकार ३, गलग्रन्थि १, वातज्वर ४, वातज्वर ४, वातविकार २, श्लेष्मज्वर २, उदरशूल १५, ज्वर ७१, आमातिसार २, मलेरिया २, दन्तोद्गम १, आमवात २, वमन ३, श्वेतप्रदर ३, प्रदर २, अतिसार ६, शीतज्वर १, प्रसूतरोग २, दाह २, बालातिसार ५, श्वास ३, कर्णरोग ३, नेत्ररोग ५, वातरोग २, धातुविकार ४, संग्रहणी २, अजीर्ण १, यकृतविकार १, शिर:शूल ७, मुखपाक ३, शिरोभ्रम ३, दौर्बल्य ९, व्रण ४, कोष्ठबद्धता ४, चोट १, वातव्यधि ४, कण्डू ५, श्लीपद २, शोथ ४, प्रमेह ७, विद्रधि २, चर्मरोग २, धातुदौर्बल्यता २, कुष्ठ १, एक्जीमा १, ओष्ठरोग १, अम्लपित्त ४, अर्श २, मलबद्धता २, रज:कृच्छ्र २, हृदयदौर्बल्य ३, मसूरिका १, [illegible] ४।

आयुर्वेदिक औषधालय का उद्घाटन

राजस्थान के आयुर्वेद मन्त्री, श्री भीखा भाई ने भीलवाड़ा जिलान्तर्गत बड़ी कुण्डिया नामक ग्राम में एक आयुर्वेदिक औषधालय के नवीन भवन का उद्घाटन किया। इस अवसर पर आयुर्वेद-विज्ञान के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए श्री भीखा भाई ने कहा कि यह नहीं समझना चाहिए कि मामूली जड़ी-बूटियों से इलाज नहीं किया जा सकता। आज भी जंगल में रहनेवाली भील आदि जातियाँ ऐसी जड़ी-बूटियों का प्रयोग करती हैं, जो थोड़े समय में ही घाव भरने और बच्चों की नाना प्रकार की बीमारियों में अच्छा लाभ पहुँचाती हैं। आपने कहा कि शरीर को सब प्रकार से नीरोग करने और हड्डी जोड़ने तक का इन्हीं से काम लिया जाता है। गाँव-गाँव में आयुर्वेदिक औषधियों के प्रचार की आवश्यकता पर बल देते हुए आयुर्वेद मन्त्री ने कहा कि देश की आर्थिक स्थिति को देखते हुए यह सम्भव नहीं है कि गाँव की ९० प्रतिशत जनता को एलोपैथी की महँगी दवाइयाँ उपलब्ध हो सकें—अतः हमें इस प्राचीन विज्ञान को अपना कर इसकी निरन्तर उन्नति करनी होगी।

आयुर्वेद-यूनानी बोर्ड का चुनाव

आयुर्वेदिक एण्ड यूनानी सिस्टम ऑफ मेडिसीन नयी दिल्ली, के निर्वाचित पदों के लिए चुनाव में वैद्यों में श्री बी० एन० सरकार को तथा हकीम में श्री इलियास खाँ को सर्वाधिक मत प्राप्त हुए। श्री सरकार ८६९ तथा श्री इलियास को १०९८ मत मिले। बोर्ड के नव-निर्वाचित सदस्यों के नाम इस प्रकार हैं। (कोष्ठकों में प्राप्त मत दिए गए हैं)—वैद्य सर्वश्री बी० एन० सरकार (८३९), खजानचन्द्र ओंकार प्रसाद शर्मा (६७७)। हकीम सर्वश्री इलियास खाँ (१०९८), मदनस्वरूप (१०४४), हरिकिशनलाल (१०४१)। इनमें श्री ओंकार प्रसाद शर्मा व श्री मदनस्वरूप गुप्त नए सदस्य हैं—शेष पुनः निर्वाचित हुए हैं।

बोर्ड के ४ सदस्य चीफ कमिश्नर द्वारा नामजद किए जायेंगे तथा बाद में यह ११ सदस्य बोर्ड के अध्यक्ष का चुनाव करेंगे। बोर्ड का कार्यकाल ५ वर्षों का है। वर्त्तमान बोर्ड का काल २५ अप्रेल को समाप्त हो गया। चुनाव में कुल १८ उम्मीदवार खड़े हुए थे। वैद्यों के ४ स्थानों के लिए १२ और हकीमों के ३ स्थानों के लिए ६।

गुप्त रोगों की रोकथाम

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने एसोसिएशन फॉर मॉरल एण्ड सोशल हाइजीन को इस आशय का आदेश दिया है कि १९६०-६१ में भारत में ४ नए गुप्त रोग चिकित्सालय खोले जाँय। गुप्त रोगों के बारे में की गयी जाँच से पता लगता है कि बड़े शहरों तथा औद्योगिक क्षेत्रों में अनुमानतः ५ से ७ प्रतिशत लोग उपदंश (सिफलिस) के रोगी हैं। देहाती क्षेत्रों में गुप्त रोगों के बारे में अभी पूरी जानकारी नहीं मिल सकी है। हाल ही के कुछ वर्षों में जो पड़ताल की गयी है, उनसे पता चलता है कि काश्मीर से आसाम तक, हिमालय तराई के क्षेत्र में उपदंश (सिफलिस) के रोगी बहुत हैं।

अधिकांशतः १५ से ३५ तक की आयु के लोगों में सिफलिस के बहुत रोगी हैं और ८० प्रतिशत रोग इसी आयु वर्ग के लोगों द्वारा फैलता है। दूसरी योजना में गुप्त रोगों की रोकथाम के लिए एक योजना रखी गयी है और इसके लिए ८४ लाख २८ हजार रुपए की व्यवस्था है, जिसमें ५८ लाख ६७ हजार रुपए केन्द्रीय सरकार देगी।

देशव्यापी स्वास्थ्य सर्वेक्षण की योजना

केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री डी० पी० करमरकर ने आज लोक सभा में कहा कि सरकार ने देश भर में स्वास्थ्य सर्वेक्षण करने का प्रस्ताव किया है। आपने आगे कहा कि यह सर्वेक्षण सर्वप्रथम सीमित जनसंख्या पर होगा फिर इसे राजधानी तक विस्तृत किया जायगा तथा बाद में राज्य सरकारों के सहयोग से विभिन्न राज्यों में भी किया जायगा। इस सर्वेक्षण से देश में विद्यमान रोगों का सही चित्र तथा उनके उपचार के लिए औषधियों का भी पता लग जायगा। साथ ही यह भी पता लग जायगा कि सरकार ने उक्त बीमारियों के उन्मूलन के लिए आखिर कौन-सा कदम उठाया है।

आयुर्वेद को प्रोत्साहन

पंजाब राज्य आयुर्वेदिक सम्मेलन के १८ वें वार्षिक अधिवेशन का अम्बाला में उद्घाटन करते हुए उप-स्वास्थ्य मन्त्री डाक्टर प्रकाश कौर ने कहा कि राज्य सरकार आयुर्वेद का प्रचार करने के लिए उत्सुक है। उन्होंने घोषणा की कि पंजाब सरकार इस दिशा में सभी सम्भव सहायता प्रदान करेगी। आपने आयुर्वेदीय औषधियों की गुणवत्ता पर भी [illegible]

बिहार में आयुर्वेद-विकास अधिनियम्

परिषद् के अभिलेखों की सिद्धि की रीति

४९। परिषद् या अधिकाय के कब्जे में की किसी कार्यवाही, रसीद, आवेदन-पत्र, उपक्रम, सूचना, आदेश, पंजी में प्रविष्टि या अन्य दस्तावेज की प्रतिलिपि, यदि वह निबन्धक या परिषद् द्वारा इसके लिये प्राधिकृत अन्य व्यक्ति द्वारा यथारीति प्रमाणित हो, प्रत्येक दशा में जहाँ और उसी मात्रा तक जिसमें मूल प्रविष्टि या दस्तावेज ऐसे विषयों को सिद्ध करने के लिये, पेश की जाने पर स्वीकार्य होतो, प्रविष्टि या दस्तावेज के अस्तित्व अथवा उनमें अभिलिखित विषयों के आपाततः साक्ष्य के रूप में गृहीत होगी।

दस्तावेज पेश करने के लिये परिषद् के कर्मचारियों के आह्वान (बुलाने) पर निबन्धन

५०। परिषद् के किसी सदस्य या पदाधिकारी या कर्मचारी से किसीवैधिककार्यवाही में, जिसमेंपरिषद्का कोई पक्ष नहीं है, कोई पंजी या दस्तावेज पेश करने या उसमें अभिलिखित विषयों को सिद्ध करने के लिये साक्षी के रूप में उपस्थित होने के लिए अपेक्षा न की जायगी, जब तक कि विशेष कारणों से दिया गया न्यायालय का आदेश न हो।

अपराधों का संज्ञान

५१। (१) द्वितीय श्रेणी के मजिस्ट्रेट के न्यायालय से अवर (inferior) और कोई न्यायालय इस अधिनियम अथवा उसके अधीन बनाए नियमों या विनियमों के अधीन अपराध का संज्ञान या परीक्षण न करेगा।

(२) कोई न्यायालय इस अधिनियम अथवा इसके अधीन बनाये नियमों या विनियमों के अधीन किसी अपराध का संज्ञान न करेगा, जब तक कि इसके लिए बनाये गये नियमों द्वारा शक्ति प्रदत्त किसी पदाधिकारी की लिखित फरियाद न हो।

अप्राधिकृत व्यक्ति या संस्था द्वारा स्नातक-पत्र (Diploma) अनुज्ञप्ति (licence) आदि का प्रदान या स्वीकृत आदि किया जाना

५२। (१) इस अधिनियम के अधीन अधिकाय द्वारा अभिज्ञात या प्राधिकृत संस्था (Association) या संस्था से भिन्न कोई व्यक्ति, कोई उपाधि, स्नातक-पत्र (diploma) अनुज्ञप्ति (licence) प्रमाण-पत्र या अन्य दस्तावेज, जिससे यह प्रदर्शित या ध्वनित हो विधारक ग्रहीता या प्रापक आयुर्वेदिक या यूनानी-पद्धति से चिकित्सा व्यवसाय करने के योग्य है, प्रदान या स्वीकृत न करेगा और न यह दिखावेगा कि वह इन्हें प्रदान या स्वीकृत करने का हक्कदार है।

(२) जो कोई इस धारा के उपबन्धों का उल्लंघन करेगा, वह दोषी ठहराए जाने पर, जुरमाने से जो पाँच सौ रुपयों तक का ही हो सकता है, दंडनीय होगा और यदि इस प्रकार उल्लंघन करने वाला व्यक्ति कोई संस्था (Association) हो, तो ऐसी संस्था का प्रत्येक सदस्य जो जानते हुए या बुद्धिपूर्वक इस उल्लंघन को प्राधिकृत या अनुमत करता है, दोषी ठहराए जाने पर जुरमाने से जो दो सौ रुपयों तक का हो सकता है, दंडनीय होगा।

उपाधि, स्नातक-पत्र या प्रमाण-पत्र का मिथ्या धारण अपराध होगा

५३। जो कोई स्वेच्छापूर्वक या मिथ्या, कोई ऐसी उपाधि या वर्णना या अपने नाम के आगे कोई शब्द धारण या व्यवहृत करता है, जिससे ध्वनित हो कि वह इस अधिनियम के अधीन परिषद् द्वारा प्रदत्त या प्राधिकृत उपाधि स्नातक-पत्र अनुज्ञप्ति या प्रमाण-पत्र धारण करता है अथवा वह इस अधिनियम के उपबन्धों के अधीन आयुर्वेदिक यूनानी-पद्धति से चिकित्सा का व्यवसाय करने योग्य है, वह, दोषी ठहराए जाने पर प्रथम अपराध के लिए, जुरमाने से जो पचास रुपयों तक हो सकता है तथा बाद के प्रत्येक अपराध के लिये जुरमाने से जो दो सौ रुपयों तक हो सकता है, दंडनीय होगा।

विनियम बनाने की शक्ति

५४। (१) इस अधिनियम के उपबन्धों तथा इस अधीन राज्य-सरकार द्वारा बनाए नियमों के अधीन हुए परिषद् निम्नलिखित विषयों के विनियमन के विनियम बना सकती है ; अर्थात् :—

(क-१) (क) शर्तें जिन पर संस्थायें धारा २३ के निबन्धन के प्रयोजनार्थ सम्बद्ध या [illegible] हो सकती है ;

(ख) अधिकाय से सम्बद्ध शैक्षिक या आनुदैशिक (instructional) संस्थाओं में छात्रों का प्रवेश ;

(ग) शर्तें, जिनके अधीन छात्र उपाधि या स्नातक-पत्र या प्रमाण-पत्र की पाठचर्या (course) में अपने अधिकाय की परीक्षाओं में प्रवेशित होंगे तथा उपाधियों, स्नातक-पत्रों और प्रमाण-पत्रों के पात्र होंगे ;

(घ) अधिकाय से सम्बद्ध शैक्षिक या आनुदैशिक संस्थाओं में छात्रों के आवास की शर्तें और ऐसे आवास के लिए फीसों का उद्ग्रहण

(ङ) अधिकाय से सम्बद्ध शैक्षिक या आनुदैशिक संस्थाओं के शिक्षकों की संस्था, अर्हताएँ और उपलब्धियाँ ;

(च) ऐसी संस्थाओं के पाठचर्याओं (courses of study) के लिए तथा अधिकाय की परीक्षाओं, उपाधियों, स्नातक-पत्रों, प्रमाण-पत्रों में प्रवेशन के लिए ली जानेवाली फीसें

(छ) परीक्षकों की नियुक्ति की शर्तें और रीति, एवं उनके कर्तव्य तथा परीक्षाओं का संचालन ;

परन्तु विनियम बनाने में परिषद् सामान्यतया संस्थाओं की वैत्तिक एवं अन्य विद्यमान अवस्थाओं पर विचार करेगी।

(क-२) (क) समय और स्थान जिन पर तथा रीति जिससे परिषद् के अधिवेशन बुलाए जायँगे ;

(ख) ऐसे अधिवेशनों के संयोजन की सूचानाएँ निकालना ;

(ग) उनमें कार्य का संचालन :

(घ) निबन्धक से भिन्न परिषद् के पदाधिकारियों और कर्मचारियों के वेतन, भत्ते और सेवा की अन्य शर्तें ; तथा

(ङ) अन्य सारे विषय, जो इस अधिनियम के उद्देश्यों को क्रियान्वित करने के प्रयोजनार्थ आवश्यक हों।

(२) ऐसे विनियम पूर्व प्रकाशन के बाद बनाए जायेंगे और तब तक लागू न होंगे, जब तक राज्य-सरकार, उन्हें अनुमोदित और संपुष्ट नहीं कर देती।

(क्रमशः)

खोपड़ी की हड्डी के बिना भी जीवित

लन्दन के पत्रों में प्रकाशित एक समाचार में बताया गया है कि सेंट बारथोलो म्युनिसपल अस्पताल में करीब दो वर्ष पूर्व पैदा हुए दो जुड़वाँ बच्चों में से एकमात्र जीवित बच्चा अपने माता-पिता के पास चला गया है।

इस तिमोथी थैकरे नामक बच्चे को करीब १२ मास पूर्व आपरेशन द्वारा दूसरे बच्चे से अलग किया गया था। तिमोथी और जैरिमी दोनों की खोपड़ियाँ जुड़ी हुई थी। ऑपरेशन के बाद दोनों को अलग कर दिया गया। बाद में जैरिमी भर गया, परन्तु तिमोथी जीवित रहा। तिमोथी की खोपड़ी की ऊपरी हड्डी नहीं है, उसका सिर एक प्लास्टिक के टोप से ढका हुआ है। बाद में जब वह बड़ा हो जायगा, तो वह प्लास्टिक का टोप हटा दिया जाएगा। तथा उस पर हड्डी या स्टेनलेस स्टील की प्लेट लगा दी जाएगी।

धन्वन्तरि परिषद् द्वारा स्वागत

श्री धन्वन्तरि परिषद्, कलकत्ता की ओर से सुप्रसिद्ध समाज-सेवी पण्डित रामनाथ शर्मा जे० पी० और 'चन्द्रमहीपति' नामक संस्कृत उपन्यास के लेखक कविराज श्री श्रीनिवास शास्त्री का स्वागत श्री अनन्त मिश्र की अध्यक्षता में किया गया। सभा में धन्वन्तरि परिषद् के सदस्यों के अतिरिक्त बड़ाबाजार अंचल के प्रमुख वैद्य, आयुर्वेदीय विद्वान् एवं व्यवसायी उपस्थित थे।

मंगलाचरण के साथ स्वागत-समारोह की कार्यवाही प्रारम्भ हुई। तदुपरान्त अनेक विद्वानों के भाषण हुए। वक्ताओं ने श्री शर्मा की सार्वजनिक सेवाओं का उल्लेख करते हुए उनके सार्वजनिक जीवन पर समुचित प्रकाश डाला। 'चन्द्रमहीपति' के लेखक वैद्य श्री श्रीनिवास शास्त्री की विद्वत्ता एवं लेखन सम्बन्धी कुशलता का उल्लेख करते हुए वक्ताओं ने कहा कि उक्त पुस्तक संस्कृत-साहित्य की अमूल्य देन है।

समारोह के प्रधान अतिथि श्री ब्रह्मदत्त झुनझुनवाला ने शर्मा जी एवं कविराज जी का अभिनन्दन करते हुए कहा कि जब तक लोगों को संस्कृत का ज्ञान न होगा, तब तक अपनी संस्कृति का भी ज्ञान नहीं हो सकता। हमें अनिवार्य रूप से अपने बालकों को संस्कृत का ज्ञान कराना चाहिए ताकि वे भारतीय संस्कृति की रक्षा कर सकें।

स्वागत का उत्तर देते हुए कविराज श्रीनिवास शास्त्री ने कहा कि उपर्युक्त साधन मिलने पर वे और भी अच्छा-से-

अच्छा ग्रन्थ लिख कर संस्कृत-साहित्य को समृद्ध करने की इच्छा रखते हैं। आपने स्वागत-कर्त्ताओं के प्रति आभार व्यक्त किया। श्री शर्मा ने भी आयोजकों के प्रति आभार प्रकट किया।

अध्यक्षीय भाषण के बाद परिषद् के मन्त्री श्री शिवप्रसाद गोस्वामी ने सब को धन्यवाद दिया।

एलोपैथिक औषधियों पर वैद्य-हकीमों के लिए प्रतिबन्ध

पंजाब राज्य तिब्बी कांग्रेस ने सरकार से इस आशय की माँग की है कि वह हकीमों और वैद्यों द्वारा एलोपैथिक औषधियों के प्रयोग पर प्रतिबन्ध लगाने का प्रस्ताव वापिस ले। इस प्रतिबन्ध के फलस्वरूप पंजाब के ग्रामीणों के लिए चिकित्सा दुर्लभ हो जायगी। तिब्बी कांग्रेस के महामंत्री हकीम बिहारीलाल खार ने कहा कि यदि सरकार इस प्रतिबन्ध में अडिग रही, तो पंजाब के वैद्य और हकीम अपने अधिकारों और व्यवसाय के हित संघर्ष करने का प्रयत्न करेंगे।

कसर का नया उपचार

योकोहामा सिटी विश्वविद्यालय के चिकित्सा-विज्ञान विभाग के एक जापानी प्रोफेसर ने इस आशय का दावा किया है कि चेचक के टीके के प्रयोग के द्वारा चमड़ी के कैंसर का इलाज करने की एक नयी प्रणाली का अनुसन्धान उसने किया है। उक्त प्रोफेसर का ऐसा दावा है कि उन केसों में जिन पर सर्जिकल एवं रेडियोलॉजीकल तरीके से किया गया उपचार विफल हो गया हो, चेचक के टीके की प्रणाली को अपना कर पर्याप्त सफलता प्राप्त की जा सकती है।

'निदान-चिकित्सा-हस्तामलक' (प्रथम खण्ड) पर

कतिपय आयुर्वेद-मनीषियों एवं सहयोगियों के विचार

श्री धर्मदत्त वैद्य, एम. एल. ए. की सम्मति

'निदान चिकित्सा हस्तामलक' नामक ग्रन्थ प्राप्त हुआ। 'सामान्य निदान' पर प्रकाश डालनेवाला इतना उत्तम ग्रन्थ अभी तक देखने में नहीं आया। कितने अध्ययन और कितने दिन के श्रम के बाद आपने इसे लिखा होगा इसका अनुमान मैं अपने मन में करता हूँ इससे पहले प्रकाशित आपके ग्रन्थ मैंने पढ़े हैं। आप जैसे व्यक्ति जिन्होंने अपना सारा जीवन ही एकमात्र आयुर्वेद साहित्य के निर्माण में अर्पित किया हुआ हो बहुत कम मिलते हैं। आयुर्वेद को वैज्ञानिक प्रकाश में प्रस्तुत करने की मेरी जो प्रबल इच्छा सदा से रही है उसको आपने मूर्त्तरूप दिया है इसलिये मैं अपा का बड़ा अभिमान करता हूँ। अपने अध्यापन-काल में मैं छात्रों को सदा कहता रहा हूँ कि वे आयुर्वेद को वैज्ञानिक प्रकाश में समझने और समझाने का यत्न करें। आयुर्वेद वैज्ञानिकयुग से पहले का है। पर तो भी उसके लिखनेवाले इतने यथार्थ-दर्शी थे कि उसमें लिखा सम्पूर्ण विषय विज्ञान द्वारा भी परिपुष्ट होता है। चरक मैंने बार-बार पढ़ा उसमें कोई लिखा विषय विज्ञान विपरीत हो मुझे नहीं मिला। हाँ, बहुत-सा विषय ऐसा है जिसकी पुष्टि हजारों वर्ष बाद विज्ञान ने की है।

ईश्वर आपको चिरायु करे, आपको स्वस्थ प्रसन्न रखे। और आपके द्वारा आयुर्वेद विज्ञान की बहुत सेवा कराये।

आपने अपनी उदारता और कृतज्ञता के कारण ग्रन्थ की भूमिका में जो मेरा स्मरण किया है उसके मैं योग्य नहीं। मुझे इतने दीर्घकाल में आप जैसे शिष्य मिले हैं इसका मुझे बड़ा अभिमान है।

हृदय से आपकी मंगल-कामना करता हूँ।

—धर्मदत्त वैद्य

अध्यापक रवीन्द्र चौधरी की सम्मति

मुझे श्री रणजितराय देशाई कृत तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा प्रकाशित "निदान-चिकित्सा हस्तामलक" पढ़ने का सुअवसर मिला। रोग निदान करने के लिये आयुर्वेदिक दृष्टि से यह ग्रन्थ विद्यार्थी तथा अध्यापक—दोनों के लिये लाभकारी है। देशाई जी ने जो प्रसंगवश रोगों का आधुनिक रोगों से संगति करने का प्रयास किया—यह स्तुत्य है। यह सर्वत्र समर्थनीय नहीं होते हुए भी कम-से-कम इस विषय में जितनी आलोचना हो जाय, वह लाभकारी है।

दार्शनिक दृष्टि भी कभी-कभी शास्त्र-सम्मत नहीं है। जैसे वात, पित्त, कफ को उन्होंने असमवायिकारण कहा है। असमवाय कारण गुण वा कर्म होता है, द्रव्य नहीं होता है। परन्तु वात, पित्त, कफ द्रव्य है, इन सब त्रुटि को अन्य संशोधन करने का प्रयास होना चाहिए। शेष कुशल है।

—रवीन्द्रचन्द्र चौधुरी, आयुर्वेद-यूनानी तिब्बिया कालेज, करौलबाग, दिल्ली।

१,२८,००० से अधिक....

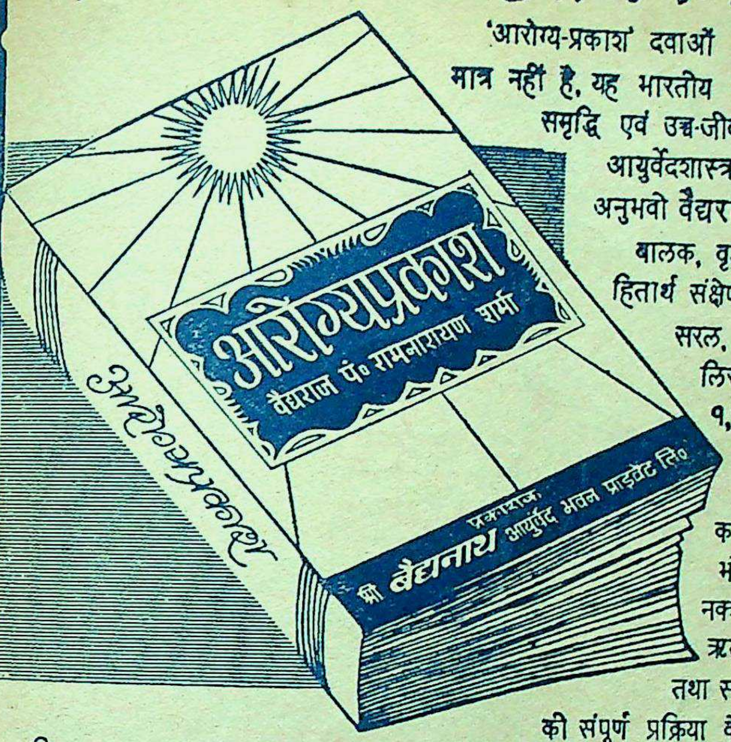
आरोग्यप्रकाश
वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा
प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
आरोग्यप्रकाश

'आरोग्य-प्रकाश' दवाओं के नुस्खों की एक किताब मात्र नहीं है, यह भारतीय जीवन-दर्शन है: आरोग्य, सुख, समृद्धि एवं उच्च-जीवन की उपलब्धि के उपायों को, आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ और जीवन-जगत् के अनुभवी वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा ने बालक, वृद्ध, युवा--स्त्री, पुरुष सभी के हितार्थ संक्षेप व विस्तार के समन्वय से सरल, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखा है। बारह संस्करणों में १,२५,००० से अधिक प्रतियों का बिक जाना इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है; रेखाचित्रों, भोज्य-वस्तुओं के गुण-परिमाण-नक्शों, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, ऋतुचर्या आदि विषयों से युक्त तथा स्वानुभूत औषधियों के निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया के साथ-साथ रोगों के कारण, निदान, लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि का सहज विवेचन किया गया है। ४६० से अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य भारतीय जीवन-दर्शन और आयुर्वेदीय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के हेतु मात्र २·२५ न·पै· रखा गया है।

बैद्यनाथ ने जहाँ आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण के लिये ५ बड़ी-बड़ी रसायनशालाएँ स्थापित की हैं, तदनुरूप ही आयुर्वेदीय वाङ्मय की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा के लिये प्राचीन और अर्वाचीन विविध आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है तथा 'सचित्र आयुर्वेद' पत्रिका के द्वारा प्रतिमास उच्चकोटि के मौलिक साहित्य के सृजन का कार्य भी अबाधगति से होता आ रहा है।

बैद्यनाथ के कतिपय विशिष्ट प्रकाशन

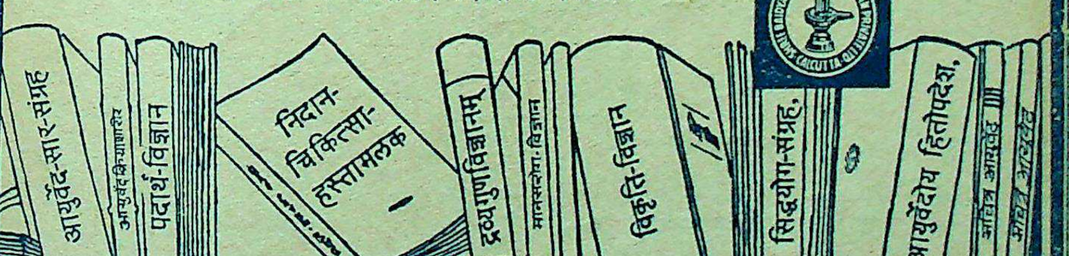
आयुर्वेद-सार-संग्रह
आयुर्वेद क्रियाशारीर
पदार्थ-विज्ञान
निदान-चिकित्सा-हस्तामलक
द्रव्यगुणविज्ञानम्
मानसरोग-विज्ञान
विकृति-विज्ञान
सिद्धयोग-संग्रह,
आयुर्वेदीय हितोपदेश,
सचित्र आयुर्वेद
सचित्र आयुर्वेद

देशी दवाओं का
सब से बड़ा और
विश्वासी कारखाना

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

सदा-सबके लिये गुणकारी

बैद्यनाथ दवाएँ

शुद्ध और सर्वांगपूर्ण
रस रसायन भस्में

आसव अरिष्ट
पुराना और पारदर्शी

ताजा और तुरत फलदायक
अवलेह मोदक पाक

पेटेन्ट दवाएँ
हजारों--लाखों द्वारा परीक्षित

पूर्ण शास्त्रीय विधि से प्रस्तुत
औषधि तैल

देशी दवाओं का सब से बड़ा
और विश्वासी कारखाना

श्री
बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० की ओर से पं० रामकान्त झा द्वारा जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स

जून 1960

सचित्र आयुर्वेद के प्रेमी पाठकों से

भारत की निजस्व चिकित्सा-पद्धति—आयुर्वेद के विकास और प्रतिसंस्कार के साथ-साथ राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के सम्मानपूर्ण आसन पर आयुर्वेद को पुनः प्रतिष्ठित कराने की दिशा में "सचित्र आयुर्वेद" विगत १२ वर्षों से पूरी सचाई, ईमानदारी तथा लगन के साथ संलग्न है। "सचित्र आयुर्वेद" का एकमात्र लक्ष्य आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति को राष्ट्रीय चिकित्सा के रूप में मान्य कराना एवं वैद्य समुदाय को संगठित कर उनके सामाजिक और आर्थिक स्तर को समुन्नत बनाना है। इस लक्ष्य की पूर्ति की दिशा में "सचित्र आयुर्वेद" अपने जन्मकाल से ही प्रयत्न करता आ रहा है और अपने पथ पर अविचलित रहने के लिए कृतसंकल्प है।

आवश्यक सूचना

सचित्र आयुर्वेद के १२ वें वर्ष का १२ वाँ अंक प्रेमी पाठकों की सेवा में भेजते हुए हमें प्रसन्नता हो रही है। इस अंक के साथ "सचित्र आयुर्वेद" १२ वाँ वर्ष पूराकर आगामी जुलाई १९६० से १३ वें वर्ष (नये वर्ष) में पदार्पण करेगा। अतः इस अंक के साथ-साथ जिन ग्राहकों का चन्दा जुलाई ५९ से जून ६० तक के लिए जमा था, पूरा हो जायगा। यद्यपि चन्दा पूरा होने की सूचना "सचित्र आयुर्वेद" के मई ६० के अंक में प्रकाशित हो चुकी है, फिर भी पुनः स्मरणार्थ यह सूचना प्रकाशित है। चन्दा समाप्ति का सूचना-कार्ड पृथक् से भी आपको प्राप्त होगा ही। जिन ग्राहकों का चन्दा जून ६० में पूरा हो गया, है, उनकी सुविधा के लिए इस अंक में छपा हुआ मनिआर्डर फार्म भी संलग्न है। वे इस मनिआर्डर फार्म को भरकर ५) मनिआर्डर से शीघ्रातिशीघ्र भेजने की कृपा करें, जिससे १३ वें वर्ष का प्रथम अंक, जो अति आकर्षक एवं वैद्योपयोगी अनेक लेखों एवं चित्रों के साथ जुलाई के प्रथम सप्ताह में प्रकाशित होगा, यथासमय सुरक्षित मिल जाय।

नोट कर लें

बिना सूचना के वी० पी० द्वारा जुलाई ६० का प्रथम अंक प्राप्त करने की प्रतीक्षा करनेवाले सभी ग्राहकों को समय पर अंक मिल ही जायगा, यह कहना कठिन है, क्योंकि पोस्ट आफिस के नियमानुसार बिना सूचना के किसी भी ग्राहक को वी० पी० नहीं भेज सकेंगे। दूसरी बात—जिनके ५) रुपये या वी० पी० भेजने की सूचना प्राप्त होगी उन्हें अंक भेजने के बाद यदि जुलाई अंक की प्रतियाँ बचेंगी (तो देर से भी ५) या वी० पी० भेजने की सूचना मिलने पर—भेज दी जायगी, अन्यथा नहीं। अतः अपनी प्रति सुरक्षित कराने के लिए ५) या वी० पी० भेजने की सूचना आगामी १० जुलाई के पूर्व अवश्य भेज दें।

वी० पी मंगवाने या रुपये भेजते समय पत्र और मनिआर्डर के कूपन पर अपना नाम, पता, ग्राम, मुहल्ला, पोस्ट आफिस, जिला, प्रान्त आदि सब हिन्दी या अंग्रेजी अक्षरों में स्पष्ट लिखना चाहिये। यदि आप पुराने ग्राहक हैं तो, मनिआर्डर कूपन पर अपना पुराना ग्राहक नम्बर अवश्य लिखने की कृपा करें। यदि स्यात् ग्राहक नम्बर याद न हो तो "पुराना ग्राहक" या नये ग्राहक हों तो "नया ग्राहक" लिखना कदापि न भूलें।

जिन महानुभावों को किसी कारणवश ग्राहक न रहना हो, वे कृपया अस्वीकृति कार्ड लिखकर भेज दें। इस तरह आपके सिर्फ ५ नये पैसे खर्च होंगे परन्तु 'सचित्र आयुर्वेद' व्यर्थ के अर्थव्यय और समय के व्यय से बच जायेगा।

—व्यवस्थापक

औषध जगत में क्रान्ति..

बैद्यनाथ-दवाएँ आयुर्वेदशास्त्र
के प्रवीण विद्वानों के द्वारा ५ बड़े
बड़े कारखानों में बनती हैं और सारे
देश भर में अपने प्रभावकारी गुणों के
लिये वैद्यों और हकीमों से विश्वास
और प्रशंसा प्राप्त हैं।
आयुर्वेदीय औषध विज्ञान के
पुनरुद्धार में
बैद्यनाथ-दवाएँ
क्रांति की प्रतीक हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN PRIVATE LTD. CALCUTTA

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

कलकत्ता
पटना
झाँसी
नागपुर
इलाहाबाद

आयुर्वेदीय औषधों के निर्माण, गुण-धर्म, उपयोग आदि पर
विशद विवेचनपूर्ण महान् ग्रन्थ

आयुर्वेद सारसंग्रह

(चतुर्थ संस्करण)

सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र का मंथन कर यह महान् ग्रन्थ—**आयुर्वेद सारसंग्रह**—अनेक वर्षों के घोर परिश्रम से तैयार किया गया है। इसमें रोगों के अवस्थानुसार औषधों का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औषध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा में समझा कर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियों द्वारा अतिप्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगों का चिकित्सकों द्वारा सफल परीक्षण असंख्य बार कर लिया जा चुका है, ऐसे ही सफल प्रयोगों का संग्रह इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में परिभाषा प्रकरण के अन्तर्गत औषध-निर्माण-परिभाषा, मान-परिभाषा, सांकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभाषा, यन्त्र-पुट-खरल-परिभाषा, औषध-प्रयोग-विधान, पथ्यापथ्य, पारद-गंधक-हिंगुल का विशद विवेचन; शोधन-मारण प्रकरण के अन्तर्गत धातुओं का शोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन; कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-बटी, पर्पटी, लौह मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), मलहम आदि प्रकरणों में विविध प्रकार की औषधियों की निर्माण-विधि, प्रयोग, गुण-धर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिए गये हैं, जिनसे औषधि-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षों में इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। सर्वसाधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र—७·०० रु० है।

प्रकाशक
श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६

सम्पादक—कामेश्वर शर्मा 'कमल'

विषय-सूची

विषय		लेखक		पृष्ठ
वैद्य-हकीम ध्यान दें	..	श्री पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल	..	१०६९
सम्पादकीय	..		..	१०७१
काश्यप-संहिता : एक अनुशीलनीय ग्रंथ (४)	..	वैद्य रणजितराय	..	१०७७
संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते	..	वैद्य दामोदर जोशी, शास्त्री	..	१०८५
मधुमक्खी-दंश का चिकित्सा में उपयोग	..	वैद्य चन्द्रप्रकाश दीक्षित	..	१०९०
व्याधि-विमर्श	..	वैद्य शिवचरण ध्यानी	..	१०९२
वैद्य तथा वैद्यक के विषय में दो बातें	..	पं० सत्यनारायण शास्त्री, वैद्य	..	१०९३
आयुर्वेद-प्रेमी धोखे में न पड़ें	..	कविराज ब्रजमोहन दीक्षित	..	१०९४
रजोरोध	..	वैद्य श्री अमरनाथ शर्मा	..	१०९६
शीताङ्गता	..	वैद्य श्री ज्ञानेन्द्रनाथ शुक्ल	..	१०९९
लज्जालु	..	वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा	..	११०१
ग्रीष्मऋतु-रक्तपित्त	..	आयुर्वेदाचार्य डा० एस. एन. खरे	..	११०४
दूध	..	वैद्य गोपाललाल मेहता	..	११०६
आयुर्वेद पर प्रहार	..	कविराज इन्दुमाधव भट्टाचार्य	..	१११५
मुगल-काल में भारत में विदेशी चिकित्सकों का प्रवेश	..	श्री प्रतापकुमार वैद्य	..	१११७
अष्टाङ्ग हृदयम्-शारीरस्थानम्	..	आयुर्वेदाचार्य शङ्करलाल भेड़ा	..	११२२
रक्ताल्पता	..	वैद्य रबीन्द्र शास्त्री	..	११३५
आयुर्वेद-गजत्	..		..	११३८

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित सभी रचनाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। हमारी पूर्व अनुमति के बिना इसमें प्रकाशित किसी रचना का कोई अंश किसी पत्र-पत्रिका में उद्धृत नहीं किया जाना चाहिए।
—सम्पादक।

वार्षिक मूल्य ५)   एक प्रति ५० नये पैसे

श्री वैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
पटना निरीक्षण केन्द्र

भारत सरकार के स्वास्थ्य मंत्रालय के देशी चिकित्सा-पद्धति विषयक परामर्शदाता डॉ० सी० द्वारकानाथ का श्रभिनन्दन श्री वैद्यनाथ श्रायुर्वेद भवन प्राइवेट लि० के पटना कार्यालय में किया गया। ऊपर श्री द्वारकानाथ श्रभिनन्दन का उत्तर दे रहे हैं श्रौर नीचे वैद्यनाथ-प्रतिष्ठान की श्रोर से मानपत्र दिया जा रहा है।

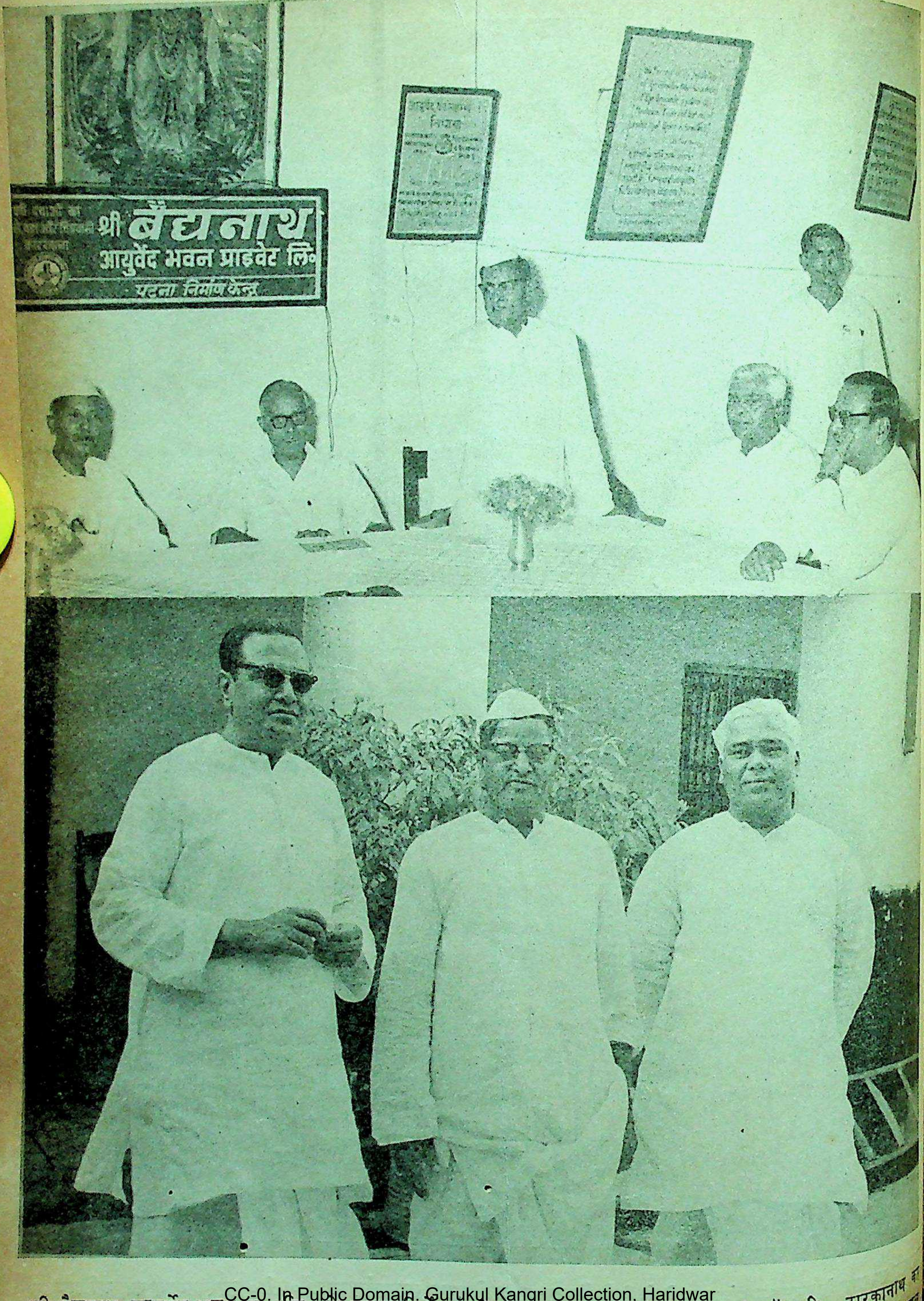
श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
पटना निर्माणकेन्द्र

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० के प्रबन्ध-निदेशक श्री पं० रामदयालजी जोशी (ऊपर) डॉ० सी० द्वारकानाथ
स्वागत करते दिखाई दे रहे हैं। नीचे पटना कारपोरेशन के कौंसिलर श्री काशीप्रसाद कटारुका, श्री पं० रामदया

आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेदविज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

श्री धन्वन्तरये नमः

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष १२ | कलकत्ता, जून, १९६० | अंक १२

वैद्य-हकीम ध्यान दें !

वैद्य-समाज को यह तथ्य हृदयंगम कर लेना चाहिये कि वर्तमान समय में राज्य की आयुर्वेद-विरोधी-नीति के कारण आयुर्वेद का जो ह्रास हो रहा है, उससे रक्षा का एकमात्र साधन यही है कि सार्वजनिक जनता का ध्यान आयुर्वेद की वस्तु स्थिति के प्रति आकर्षित किया जाय और आयुर्वेद के पक्ष में जनमत जाग्रत करके जनता के द्वारा राज्याधिकारियों को इस बात के लिये विवश किया जाय कि वे अपनी पाश्चात्य के अन्धानुकरण पर आधारित स्वास्थ्य चिकित्सा-नीति को परिवर्तित करें और भारत के अपने मौलिक प्राचीन स्वास्थ्य विज्ञान-आयुर्वेद को शनैः-शनैः समाप्त होने से बचावें। यही नहीं, उसको ही भारत का राष्ट्रीय चिकित्सा-विज्ञान घोषित करें। आयुर्वेद के हित में ऐसे ही प्रभावकारी प्रयत्नों से कुछ सफलता मिल सकती है।

यह सर्व विदित है कि भारत सरकार पर आयुर्वेद के पक्ष में जनमत प्रकट करने के विचार से सुख्यात आयुर्वेद-सेवी पंडित रामनारायण वैद्य ने अखिल भारतीय स्तर पर एक सार्वजनिक हस्ताक्षर आन्दोलन संचालित किया है। यह आन्दोलन आयुर्वेद हित के विचार से बहुत ही महत्वपूर्ण एवं सामयिक है। सभी दूरदर्शी आयुर्वेदज्ञों ने इसका प्रबल समर्थन किया है। देश के विभिन्न भागों से लाखों भारतीय नागरिकों के हस्ताक्षर कराये जा चुके हैं। पिछले महीने यह विचार किया गया था कि संग्रहीत हस्ताक्षर-पत्र एक विशेष ज्ञापन सहित आयुर्वेद-विद्वानों के अखिल भारतीय शिष्ट मण्डल द्वारा महामहिम राष्ट्रपति महोदय की सेवा में समर्पित कर दिये जावें। एतदर्थ हर प्रदेश से एक-एक, दो-दो शीर्षस्थ विद्वान् चुन कर शिष्ट मण्डल का निर्धारण कर लिया गया था। परन्तु इस आन्दोलन के सूत्रधार वैद्यराज पण्डित रामनारायण जी शर्मा के यकायक अधिक अस्वस्थ हो जाने के कारण निर्धारित कार्यक्रम को रोक देना पड़ा। पण्डित रामनारायण जी वैद्य विगत एक माह से अधिक काल से बहुत अस्वस्थ हैं और उनके चिकित्सकों का यह आदेश है कि कम-से-कम दो माह तक वे पूर्ण विश्राम करें। ऐसी स्थिति में हस्ताक्षर आन्दोलन,

सम्पादन और हस्ताक्षर-पत्रों का महामहिम राष्ट्रपति महोदय को समर्पण करने के आयोजन का भार पण्डित रामनारायण जी वैद्य ने मुझको सौंपा है। आयुर्वेद के लिये इस वृद्धावस्था में जो कुछ कर सकूँ, वह मेरे लिये सौभाग्य की बात है। वैद्य रामनारायण जी की इच्छा है कि इस कार्य को मैं शीघ्र ही कर दूँ। परन्तु यह कुछ अच्छा प्रतीत नहीं होता है कि आन्दोलन के मूल संचालक की अनुपस्थिति में हस्ताक्षर-पत्र राष्ट्रपति महोदय को अर्पित किये जावें। इससे तो यह अधिक उचित प्रतीत होता है कि आगामी दो माह के समय में हस्ताक्षर आन्दोलन को कुछ और तीव्रगति से चलाया जावे और देश के सम्पूर्ण वैद्य-हकीम तथा आयुर्वेद से प्रेम रखनेवाले भारतीय इसमें अपना भरपूर सहयोग देवें। मेरी ऐसी ही मान्यता है और अनेक आयुर्वेद-हितैषियों का यही परामर्श है कि आन्दोलन को अभी और भी व्यापक बनाया जावे। वर्तमान स्थितियों में सरकार को आयुर्वेद के प्रति न्याय करने हेतु आकृष्ट एवं बाध्य करने का एक मात्र प्रभावशाली तरीका यही है कि आयुर्वेद के विषय में भारतीय जनता का वास्तविक अभिमत प्रकट किया जावे। हस्ताक्षर आन्दोलन उसका उचित साधन है। इसलिये प्रत्येक वैद्य-हकीम का यह अनिवार्य कर्तव्य है कि वह पूरी रुचि के साथ इस आन्दोलन में भाग ले। यह कार्य वैद्यनाथ प्रतिष्ठान अथवा किसी के व्यक्तिगत हित, श्रेय या प्रतिष्ठा से सम्बन्धित नहीं है। आयुर्वेद और वैद्य-हकीमों के ही सामूहिक हित का आवश्यक कार्य है। यदि इसमें भी वैद्य-हकीम सक्रियता नहीं दिखा सकते तो इसका अर्थ यही है कि स्वयं ही अपनी ह्रासपूर्ण स्थिति के लिये जिम्मेवार बनना चाहते हैं। करोड़ों की आबादी वाले देश से कुछ लाख नागरिकों के हस्ताक्षर एकत्र कर लेना सन्तोषजनक नहीं है, जब कि हम दिन-रात कहते हैं कि भारत की ८५ प्रतिशत जनता आयुर्वेद से लाभान्वित है और आयुर्वेद को चाहती है। और दूसरी ओर सरकार को यह भ्रम है कि जनता आयुर्वेद को नहीं चाहती तो हमारे लिये यह आवश्यक है कि हम सरकार को यह दिखायें कि देश का कितना बड़ा जनमत हमारे साथ है।

ऐसी दशा में प्रत्येक वैद्य-हकीम को हस्ताक्षर-संग्रह का कार्य अपना आवश्यक कर्तव्य समझ कर करना चाहिये। जो हस्ताक्षर पत्र वैद्य बन्धुओं को भेजे गये हैं या भेजे जा रहे हैं उन पर वैद्यों के नहीं वस्तुतः सार्वजनिक जनता के हस्ताक्षर कराने हैं। वैद्य-हकीम अपने चिकित्सालय में बैठे ही अपने यहाँ नित्य आनेवाले रोगियों और नागरिकों से उन पर हस्ताक्षर करा सकते हैं। हस्ताक्षरित पत्रों को भेजने में डाक व्यय का भी संकोच यदि कुछ वैद्य-हकीम करते हैं तो यह शोभनीय नहीं है। राज्य की उपेक्षा और विनाशक नीति के कारण आयुर्वेद एवं वैद्य-हकीमों के सामने जीवन-मरण का प्रश्न आज उपस्थित है। ऐसे संकट-काल में वैद्य-हकीमों को अधिक सतर्कता, अधिक संगठन और सक्रियता से काम लेना चाहिये। जिन सज्जनों ने अब तक हस्ताक्षर-पत्रों पर जनता के हस्ताक्षर कराके नहीं भेजे हैं, उनसे मेरा साग्रह निवेदन है कि वे शीघ्र अपने यहाँ की जनता के अधिक-से-अधिक हस्ताक्षर कराके मेरे पास अथवा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० झाँसी के पते पर यथाशीघ्र भिजवायें। इस पत्र के साथ भी एक-एक हस्ताक्षर-पत्र पृथक से भेजा गया है। हस्ताक्षर-पत्र के साथ अधिक हस्ताक्षरों के लिये सादा कागज भी जोड़ा जा सकता है, तथापि जो सज्जन अधिक मात्रा में हस्ताक्षर-पत्र चाहें वे मुझे पत्र द्वारा आदेश करें, अपेक्षित मात्रा में हस्ताक्षर-पत्र उन्हें भेजे जावेंगे।

इस हस्ताक्षर आन्दोलन को आगे दो माह और निरन्तर रखने के विचार में, मेरा एक अन्य उद्देश्य भी है। पण्डित रामनारायण जी वैद्य के निर्देशन में वैद्यनाथ प्रतिष्ठान ने एक दूसरा महत्वपूर्ण आयोजन और किया है। वैद्य समाज को विदित है कि गोलोकवासी आचार्य श्री यादव जी महाराज की सेवा में उत्कृष्टतम अभिनन्दन ग्रन्थ भेंट करने का आयोजन किया गया था। श्री यादव जी महाराज ने इस आश्वासन पर उसकी स्वीकृति प्रदान की थी कि यह ग्रन्थ आयुर्वेद वाङ्मय की अपूर्व और सर्वोत्कृष्ट रचना के रूप में प्रस्तुत किया जावेगा। आयुर्वेद के दुर्भाग्य से आचार्य श्री यादव जी महाराज असमय ही गोलोकवासी हो गये और उनके जीवन काल में उक्त ग्रन्थ पूर्ण न हो सका। प्रारम्भ में ही ग्रन्थ के निमित्त मौलिक सामग्री एकत्र करने में पर्याप्त समय लगा। उन दिनों कागज की महंगाई थी अतः ग्रन्थ के लिये विशेष रूप से कागज बनवाने में बहुत समय बीत गया। दूसरी ओर यह अनिवार्य था कि आ

(शेषांश १०७६ पृष्ठ पर)

काशी का विद्यालय और शुद्ध आयुर्वेद

काशी-हिन्दू-विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विद्यालय को समाप्त करके उसके स्थान पर मेडिकल कालिज बनाये जाने की दुर्योजना का समाचार वैद्य-समाज सुन चुका है। इस दुःखद घटना से एकबारगी सम्पूर्ण वैद्य-समाज क्षुब्ध और उद्वेलित हो गया। प्रायः सर्वत्र ही अनेक सभा-सम्मेलनों में इस अनर्थकारी निश्चय के विरोध में प्रस्ताव स्वीकृत किये गये। काशी मण्डल वैद्य सभा ने एक विशेष सम्मेलन करके इसका प्रबल विरोध किया; और महामान्य राष्ट्रपति के चिकित्सक वयोवृद्ध आयुर्वेद नेता श्रद्धेय पण्डित सत्यनारायण जी शास्त्री ने इस प्रसंग पर एक हृदय-स्पर्शी वक्तव्य प्रकाशित करके अधिकारियों से न्याय करने का आग्रह किया; परन्तु खेद है कि विश्वविद्यालय की प्रबन्धकारिणी के सदस्यों पर, इन समग्र प्रयत्नों का कोई प्रभाव नहीं पड़ा। कदाचित् अधिकार के मद में डूबे हुए अधिकारी अपने हठ पर अडिग हैं। महामना मालवीय जी के साधना-केन्द्र में वे आयुर्वेद का उपहास करके ही मानेंगे, एसा लगता है। वैद्यों की पुकार उनके बहरे कानों पर कोई प्रभाव करने में समर्थ नहीं हो रही। आगामी जुलाई मास से आरम्भ होनेवाले सत्र में ही विश्वविद्यालय में मेडिकल कालिज का आरम्भ हो जायगा, ऐसा कहा जाता है।

आश्चर्य तो यह है कि विश्वविद्यालय के वर्तमान आयुर्वेद विद्यालय का उन्मूलन करते हुए भी अधिकारीवर्ग प्रकारान्तर से वैद्य-समाज को मूर्ख बनाने में संकोच नहीं कर रहे। वैद्यों को ऐसा समझाने का असफल उपक्रम किया जा रहा है कि उनका विरोध अनुचित है और जो कुछ हो रहा है, वह सर्वथा उचित है। विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार महोदय ने एक वक्तव्य प्रकाशित करके यह घोषणा की है कि "विश्वविद्यालय आयुर्वेद की उन्नति के लिए निरन्तर यत्नशील है। विश्वविद्यालय की आयुर्वेद विषयक गतिविधियों में होनेवाले परिवर्तन का [illegible] बताते हुए, वक्तव्य में यह सिद्ध करने का प्रयास किया गया है कि वर्तमान आयुर्वेद विद्यालय का उन्मूलन भी आयुर्वेद के हित में है। जिन कारणों से आयुर्वेद विद्यालय को समाप्त करके मेडिकल कालिज बनाने का निश्चय किया गया है, उन पर प्रकाश डालते हुए मुख्य बात यह कही गई है कि विश्वविद्यालय में जो प्रयोग (पाठ्यक्रम विषयक) १९२९ से अब तक किया गया, वह सफल नहीं हुआ, और आयुर्वेद विद्यालय से निकलनेवाले छात्रों की दशा पर विश्वविद्यालय को प्रसन्नता नहीं होती थी। रजिस्ट्रार महोदय ने अपने वक्तव्य में परिवर्तन के औचित्य पर बल देते हुए अन्त में यह भी कहा है कि वस्तुतः एक मिश्रित पाठ्यक्रम के स्थान पर विश्वविद्यालय दो भिन्न संस्थाओं की स्थापना कर रहा है। एक में आयुर्वेद के प्रधान तत्त्व के साथ एम० बी० बी० एस० के सर्वांगपूर्ण पाठ्यक्रम की व्यवस्था होगी और दूसरी वर्तमान आयुर्वेद कालिज की स्थिति विकसित रूप में होगी जिसमें 'शुद्ध आयुर्वेद' की स्नातकोत्तर शिक्षा तथा गवेषणा की व्यवस्था रहेगी। वक्तव्य में यह संकेत दिया गया है कि एम० बी० बी० एस० कोर्सवाले अन्य मेडिकल कालिज भी अपने पाठ्यक्रम में आयुर्वेद के प्रधान तत्त्व को स्थान देंगे और वर्तमान मिश्रित पाठ्यक्रम स्वभावतः कालान्तर में समाप्त हो जायगा। विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तावित एम० बी० बी० एस० के नये पाठ्यक्रम में आयुर्वेद का भी प्रधान तत्त्व रहने से नये मेडिकल साइन्स कालेज के एम० बी० बी० एस० डिग्री प्राप्त स्नातक अन्य विश्वविद्यालयों के मेडिकल कालिजों के स्नातकों के समकक्ष होंगे तथा साथ ही वे निष्ठापूर्वक यथासम्भव आयुर्वेद की उन्नति कर सकेंगे।

विश्वविद्यालय के एक उच्चाधिकारी के उपर्युक्त वक्तव्य से एक क्षण को तो ऐसा लगता है, जैसे यह एक अच्छा आयोजन किया जा रहा है। जान पड़ता है कि क्षुब्ध वैद्य-समाज को भुलावे में डाल कर तात्कालिक रूप से शान्त और सन्तुष्ट करने के लक्ष्य से ही यह वक्तव्य दिया गया है जिससे वैद्यवर्ग फिलहाल इस भुलावे में ही शान्त हो जावे कि वस्तुतः विश्वविद्यालय से आयुर्वेद विद्यालय समाप्त नहीं किया जा रहा, प्रत्युत् उन्नत किया जा रहा है और इस आयोजन से जगत में शुद्ध आयुर्वेद की पताका फहरनेवाली है, एवं आयुर्वेद का भविष्य बहुत उज्ज्वल होनेवाला है।

एक क्षण के लिए हम यही माने लेते हैं कि रजिस्ट्रार महोदय या इस परिवर्तन का समर्थन करने वाले अन्य महाशयों का कहना ही ठीक है। हम इस बात में सन्देह नहीं करना चाहते कि विश्वविद्यालय के अधिकारी आयुर्वेद की चरम उन्नति चाहते हैं। किन्हीं परिस्थितियोंवश या यों कहिए कि आयुर्वेद विद्यालयों से निकलनेवाले छात्रों की 'डाक्टर' 'आंग्ल शब्दावली की उपाधियाँ' या 'एलोपैथी औषध' प्रियता और आयुर्वेदानुराग की कमी के कारणों से विवश होकर विश्वविद्यालय के अधिकारियों को इस बात के लिए बाध्य होना पड़ा कि कुछ परिवर्तन करें; और आयुर्वेद की उन्नति के लिए (?) उन्हें यही परिवर्तन श्रेयष्कर दिखाई दिया कि विश्वविद्यालय में आयुर्वेद विद्यालय को समाप्त करके उसके स्थान पर मेडिकल कालिज की स्थापना करें तथा आयुर्वेद का नाम रखने के लिए एक स्नातकोत्तर शिक्षण भी चलावें और एम० बी० बी० एस० के स्नातकों को भी आयुर्वेद के प्रधान तत्त्व पढ़ावें। स्थितिवश और वास्तविक आयुर्वेद-हित की भावना से यदि यह परिवर्तन किया जा रहा है तो भी दूरदर्शितापूर्वक इतना विवेक करना ही चाहिए कि यह परिवर्तन किस सीमा तक आयुर्वेद के लिए श्रेयष्कर है? या भुलावा मात्र है?

विश्वविद्यालय-अधिकारियों की सद्भावना पर विश्वास करके भी हम यह समझने में सर्वथा असमर्थ हो रहे हैं कि आयुर्वेद विद्यालय के इस रूप-परिवर्तन से आयुर्वेद का, वैद्यों का या भावी स्नातकों का कोई भी हित हो सकेगा। विश्वविद्यालय-अधिकारियों के कथनानुसार जब पूर्व पाठ्य-क्रम से पढ़नेवाले 'आयुर्वेद स्नातक' ही आयुर्वेद भक्त न हो सके तो फिर इस नये मेडिकल साइन्स कालिज के एम० बी० बी० एस० स्नातकों में 'निष्ठापूर्वक आयुर्वेदोन्नति' की भावना के लिए विश्वविद्यालय वाले कौन-सा जादू करेंगे? 'शुद्ध आयुर्वेद' के स्नातकोत्तर शिक्षण और गवेषणा की व्यवस्था वाली बात भी ऊपर से प्रभावकर ज़रूर है परन्तु तत्वतः उसमें कोई हित दृष्टिगोचर नहीं होता। यह स्नातकोत्तर शिक्षण दिया किन को जायगा? गवेषणा कौन करेंगे? आयुर्वेद महाविद्यालय समाप्त करके जब आयुर्वेद स्नातकों का निर्माण ही समाप्त कर दिया जायगा, फिर गवेषणा करने और स्नातकोत्तर शिक्षण लेने कौन आयेगा? क्या मेडिकल साइन्स कालिज से निकलने वाले स्नातक ही वह स्नातकोत्तर शिक्षण लेंगे? और क्या वे ही मेडिकल स्नातक गवेषणा करेंगे? फिर उनकी वह गवेषणा क्या आयुर्वेद के लिए होगी? स्पष्ट है कि नहीं होगी! डाक्टरों की छत्रछाया में अब तक जितने आयुर्वेदानुसन्धान हुए उनका एक ही परिणाम निकला कि आयुर्वेद औषधें एलोपैथी के फार्माकोपिया में विलीन होती गईं और आयुर्वेद का अंग-भंग किया गया! काशी-विश्वविद्यालय की उक्त स्नातकोत्तर और गवेषणा-व्यवस्था से क्या इससे कुछ भिन्न परिणाम निकलने की संभावना हो सकती है? इन सब बातों को विचार में रखते हुए कैसे यह मान लिया जावे कि विश्वविद्यालय की यह परिवर्तन-योजना आयुर्वेदोन्नति में सहायक होगी? कुछ लोगों को यह भ्रम है, और वह कुछ जँचता भी है कि वास्तव में विश्व-विद्यालय में जो यह परिवर्तन किया जा रहा है, वह धीरे-धीरे आयुर्वेद को पिछड़ा बनाने और एलोपैथी को आगे लाने की सरकारी नीति का ही एक अंग है। आयुर्वेद को मीठा ज़हर दे कर समाप्त करने का एक योजनाबद्ध षड्यन्त्र आयुर्वेद-विरोधियों द्वारा किया जा रहा है। यदि काशी-विश्वविद्यालय के कर्णधार उससे प्रभावित हो गये हों तो कोई आश्चर्य नहीं। सरकार का स्वास्थ्य मन्त्रालय आयुर्वेद को अंग-भंग करने वाले जो कार्य करता है, वह यही कह कर करता है कि हम तो आयुर्वेद की उन्नति के लिए प्रयत्न कर रहे हैं। काशी-विश्वविद्यालय भी यदि उसी प्रकार की आयुर्वेदोन्नति करने जा रहा है तो यह दुर्भाग्य की ही बात है।

हम यह आवश्यक समझते हैं कि वैद्य-जगत् किसी प्रकार के भुलावे में न आवे और काशी-विश्वविद्यालय के आयुर्वेद विद्यालय की समाप्ति के विरुद्ध अपना संघर्ष अधिक तीव्रतर बनावे। यह वैद्यों और आयुर्वेद की प्रतिष्ठा का प्रश्न है। संघर्ष के लिए सन्नद्ध होने के साथ-साथ, एक बार इस प्रकार की घटनाओं और संभावनाओं के मूल कारणों पर भी बहुत गम्भीरतापूर्वक विचार कर लेना आवश्यक है। समस्या और स्थिति कुछ ऐसी विषम है कि आयुर्वेद-हित के लिए उन कुछ बातों का अन्तिम निर्णय कर दिया जाना चाहिए जो आयुर्वेद-विकास के मार्ग में बाधायें उपस्थित कर रही हैं। व्यक्तिगत मान्यताओं को न तो महत्त्व देना चाहिए और न ही उन पर अड़कर ऐं जाना चाहिए। किसी का भी यह दुराग्रह करना कि उसकी मान्यता ही यथार्थ है, और युग की परिस्थितियों के

ताल-मेल न बिठा कर, हठधर्मीपूर्वक भ्रान्त दिशा में बढ़ते जाने का परिणाम आयुर्वेद के लिए और वैद्यों की भावी पीढ़ी के लिए नितान्त विनाशकर होगा।

कहा जाता है कि काशी-विश्वविद्यालय में यह परिवर्तन उन परिस्थितियों के कारण किया जा रहा है जो आयुर्वेद छात्रों के अन्दोलन से उत्पन्न हुई थीं। छात्रों ने जिन माँगों को ले कर आन्दोलन किया था, उनसे यह अर्थ निकाला गया कि छात्र आयुर्वेद-भक्त नहीं रहे। आयुर्वेद विद्यालयों से निकले स्नातकों द्वारा चिकित्सा में एलोपैथी दवाओं के प्रयोग एवं अंग्रेजी उपाधियों सहित अपने नाम के साथ 'डाक्टर' शब्द जोड़ने के कारण यह मान लिया गया कि वे स्नातक बिलकुल आयुर्वेदानुरागी नहीं हैं और आयुर्वेद के ह्रास का कारण बन रहे हैं। आयुर्वेद स्नातकों की तथाकथित विपरीत गति का कारण उस पाठ्यक्रम को माना गया जो आयुर्वेद विद्यालयों में मिश्रित पाठ्यक्रम के नाम से चलाया गया था। वैद्य-समाज के ही कुछ लोगों ने इस निष्कर्ष की न केवल पुष्टि की, प्रत्युत् दो क़दम आगे बढ़ कर नये स्नातकों को वैद्य-समाज में अग्राह्य बना दिया। प्रकट में इन सब बातों का परिणाम यह हुआ कि यत्र-तत्र पाठ्यक्रम का नाम बदल कर 'शुद्ध आयुर्वेद' के नाम से नया पाठ्यक्रम सामने आया। काशी-विश्वविद्यालय में जो आयुर्वेद महाविद्यालय की समाप्ति की जा रही है वह भी शुद्ध आयुर्वेद की स्थापना के लिए की जा रही है, जैसा कि विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार के वक्तव्य से प्रकट होता है। इस प्रकार आयुर्वेद की इस ह्रासलीला के गर्भ में 'शुद्ध आयुर्वेद' का भ्रामक नारा भी उतना ही काम कर रहा है जितना कि सरकार का आयुर्वेद-विनाशक दृष्टिकोण। कभी-कभी तो ऐसा लगता है, जैसे शुद्ध आयुर्वेद का नारा ही सरकार की दुर्नीति और कुछ महत्वाकांक्षी आयुर्वेद-जीवियों के बीच हुए किसी गुप्त और षड्यन्त्रकारी समझौते का परिणाम है! आयुर्वेद-विकास की योजनाओं, पाठ्यक्रम की एकरूपता, आयुर्वेद-पद्धति की मान्यता, वैद्यों की उन्नति इत्यादि हर दिशा में ही 'शुद्ध आयुर्वेद' का अस्त्र सरकारी अधिकारियों के लिए ढाल का काम कर रहा है। सरकारी लोग बड़े मज़े से यह बहाना ले कर आयुर्वेद के प्रश्न को टाल देते हैं कि 'वैद्यों में ही आयुर्वेद के रूप के प्रश्न पर एकता नहीं। कुछ शुद्ध आयुर्वेद को चाहते हैं, कुछ मिश्र आयुर्वेद को!' हर वर्ग आयुर्वेद के अपनी [illegible] रूप को चाहता है। यद्यपि तथ्य यह है कि वैद्य-समाज वस्तुतः आयुर्वेद को चाहता है; अपने आयुर्वेद को! शुद्ध और मिश्र की कोई भी संज्ञा आयुर्वेद के साथ, वैद्य-समाज को वांछनीय नहीं। फिर भी कुछ लोग अपनी वाहवाही के लिए और सरकार को बहाना बनाने का मौका देने के लिए आयुर्वेद में शुद्ध और मिश्र का व्यवधान खड़ा किये हुए हैं जो कि विभिन्न रूप में आयुर्वेद-विकास के मार्ग में भारी रोड़ा बना हुआ है।

काशी के आयुर्वेद महाविद्यालय को समाप्त कर जो रूप परिवर्तन किया जा रहा है और अन्यत्र भी राजकीय आयुर्वेद विद्यालयों में जो हेर-फेर हो रहे हैं तथा शुद्ध आयुर्वेदवादी जिन हेतुओं से शुद्ध आयुर्वेद की स्थापना पर बल देते हैं उनमें सब से प्रधान यह है कि वर्तमान कालिजों से निकलने वाले छात्र आयुर्वेदानुरागी नहीं होते, क्यों कि वे अपने को डाक्टर कहते हैं और पेटेण्ट दवाओं का प्रयोग करते हैं। छात्रों की इस गति का कारण पाठ्यक्रम को बताया जाता है? परन्तु एक बार गम्भीरतापूर्वक सविवेक यह विचार करना आवश्यक है कि आधुनिक आयुर्वेद छात्रों द्वारा अपने को डाक्टर कहलाने की इच्छा का कारण क्या वास्तव में एकमात्र पाठ्यक्रम ही है? हमारे विचार में आयुर्वेद स्नातकों की उक्त गतिविधि का कारण पाठ्यक्रम नहीं है। कम-से-कम केवल पाठ्यक्रम नहीं है। यह कहना बिलकुल भ्रममूलक है कि कालिजों की उस पढ़ाई के कारण ही आयुर्वेद छात्र समाज में अपने को डाक्टर कहलाना पसन्द करते हैं। इस विषय में हम एक विचारणीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। वैद्य-जगत् में कुछ लोगों ने यह धन्धा कर रक्खा है कि वैद्यों को इन्जेक्शन लगाने की ट्रेनिंग देते हैं, सुन्दर-सा प्रमाण-पत्र देते हैं और फीस के रूप में कम-से-कम पचास रुपया प्रति वैद्य की जेब से ठग लेते हैं। वैद्यों को इन्जेक्शन की ट्रेनिंग देने वाले निरन्तर जगह-जगह कैम्प लगा कर अपना काम करते हैं और जहाँ तक हमें पता चला है सैकड़ों व्यक्ति उन कैम्पों में ट्रेनिंग लेने इकट्ठे होते रहते हैं। इस ट्रेनिंग के बाद वैद्यों को आंग्ल अक्षरों वाली बोगस उपाधि दी जाती है और वे उसको नाम के साथ लगा कर अपने को बड़े रौब से 'डाक्टर साब' कहलाते हैं। धुआँधार सुइयाँ दे कर पैसा कमाते हैं, और सुइयाँ भी विशुद्ध एलोपैथी की। यह उल्लेखनीय है कि इस प्रकार का धन्धा करने वालों में कुछ वे लोग भी हैं जो रात-दिन शुद्ध आयुर्वेद का डंका पीटते रहते हैं और

शुद्ध संप्रदाय के मठाधीशों में गिने जाते हैं। यह भी उल्लेखनीय है कि इन्जेक्शन लगाने की इस प्रकार की ट्रेनिंग नब्बे प्रतिशत वे लोग प्राप्त करते हैं, जो कालिजों के स्नातक नहीं होते, बल्कि गुरु-परम्परा के या आयुर्वेद विद्यापीठ के उत्तीर्ण वैद्य होते हैं। हम ऐसे अनेकों वैद्यों के नाम जानते हैं जो शुद्ध आयुर्वेद के मुसाहिब हैं और जिन्होंने उक्त प्रकार के इन्जेक्शन प्रमाण-पत्र प्राप्त किये हैं, और अपने नाम के साथ उसकी नाममात्र की उपाधियों को जोड़े हुए हैं।

अब, यह मान लिया जावे कि नये कालिजों के निकले स्नातकों को तो मिश्रित पाठचक्रम ने 'डाक्टर' कहलाना और एलोपैथी दवा प्रयोग करना सिखा दिया, परन्तु प्रश्न उठता है कि गुरुपरम्परा के वैद्यों को विद्यापीठ के स्नातकों को और शुद्ध आयुर्वेद के दीक्षितों को किसने वाध्य किया कि वे उपरोक्त प्रकार से इन्जेक्शन लगाना सीखें और अपने को अंग्रेजी उपाधि सहित 'डाक्टर' कहलावें? आप गाँवों में, कस्बों में और छोटे नगरों में जाकर देखिए—जगह-जगह आपकी दृष्टि में ऐसे साइनबोर्ड आवेंगे जिसमें लिखा होगा 'डाक्टर' अमुक, ए० एस० बी० या ए० एस० ए० अथवा आई० बी० इत्यादि।' यह सब उन्हीं विश्वविद्यालयों के स्नातक होंगे, जिनके रजिस्ट्रार कार्यालय शुद्धायुर्वेद के मठाधीशों की कोठरियों में हैं और जिनके शिक्षासत्र आज यहाँ तो कल वहाँ दिखाई देते हैं! जब इस प्रकार का बोगस प्रमाणपत्र लेकर लोग अपने को डाक्टर कहलाने में गर्व अनुभव करते हैं तो पाँच वर्ष तक विद्यालयों में पढ़ने वाले छात्र यदि स्नातक होकर अपने को डाक्टर कहलाते हैं तो वे कौन-सा ऐसा अपराध करते हैं जिसके आधार पर शुद्ध आयुर्वेद के मठाधीश उन्हें त्याज्य मानते हैं?

यद्यपि सिद्धान्त रूप में हमारी मान्यता है कि किसी भी वैद्य के लिए अपने को डाक्टर कहलाना उसकी मानसिक हीनता का परिचायक है; फिर भी एक तथ्य पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि कुछ अनिवार्य कारण ऐसे हैं जो आधुनिक कालिजों के स्नातकों को और गुरु परम्परा के वैद्यों को भी इस बात के लिए वाध्य करते हैं कि वे अपने को डाक्टर कहलावें—और वह अनिवार्य कारण हैं युग की प्रगति, सरकारी दृष्टिकोण, और जनरुचि! क्या कालिन का स्नातक और क्या गुरु परम्परा या विद्यापीठ का आचार्य—हर कोई के लिए अध्ययन का लक्ष्य एकमात्र उदर पोषण होता है। आज के अर्थ प्रधान युग में तो शिक्षा सर्वथा द्रव्योपार्जन का हेतु बन गई है। जब कोई युवक वैद्यक पढ़कर कार्य क्षेत्र में उतरता है तो वह देखता है कि केवल वैद्य कहलाने पर न तो उसको सरकारी क्षेत्र में उचित आर्थिक लाभ मिलने वाला है और न चिकित्सा में! सरकार द्वारा एलोपैथी को अन्धाधुन्ध प्रश्रय दिये जाने के परिणामस्वरूप सार्वजनिक क्षेत्र में भी लोग आधुनिक साधनों से चिकित्सा कराने के अभ्यासी हो चले हैं। आयुर्वेद विरोधियों ने या स्थितियों ने जनता के मन पर यह प्रभाव डाल रक्खा है कि वैद्यक से देर में लाभ होता है और डाक्टरी से जल्दी; यद्यपि लोग जानते और मानते हैं कि डाक्टरी दवाओं से स्थायी लाभ नहीं होता प्रत्युत्तर कालान्तर में प्रकट होने वाले हानिकर परिणाम होते हैं, फिर भी जल्दी अच्छा होने के मोहवश लोग डाक्टरी चिकित्सा को अपनाने के लिए विवश हो जाते हैं। क्योंकि आज का जीवन इतना कठिन और व्यस्त हो गया है कि किसी के लिए भी कई दिनों तक बीमार रहकर बेकाम बना रहना साध्य नहीं। इसलिए हर आदमी इस उद्योग में रहता है कि आज बीमार हुआ तो कल ठीक हो जाऊँ। और डाक्टरों ने यह प्रसिद्ध कर रक्खा है कि आनन फानन में आराम इन्जेक्शनों या एलोपैथी दवाओं से होता है। जनता के मन पर यह प्रभाव जमाया गया है कि तुरन्त लाभ के लिए डाक्टर सबसे अच्छा! जनता केवल डाक्टर शब्द जानती है; इसलिए जिसके नाम के साथ डाक्टर शब्द लगा हो उसके पास चिकित्सा को पहुँचने लगती है। चाहे चिकित्सा वह किसी पद्धति से करे। अगर नाम के साथ डाक्टर शब्द नहीं तो लोगों की दृष्टि में उसका उतना उपयोग नहीं। दूसरी बात डाक्टर शब्द द्रव्योपार्जन का साधन है जब कि वैद्य शब्द केवल सेवा का। सर्वसाधारण जानते हैं कि डाक्टर अधिक पैसे लेते हैं, इस मान्यता के आधार पर वे डाक्टर नामधारी किसी भी व्यक्ति को अधिक पैसे दे सकते हैं। परन्तु वैद्य को तो सरकार ने ही सस्ता कर रक्खा है इसलिए जनता भी वैद्य के नाम से उतने पैसे देने को तैयार नहीं होती, जितने कि डाक्टर के नाम से! यद्यपि इसके अपवाद भी हैं, किन्तु बहुत कम।

तो, वस्तुतः आधुनिक आयुर्वेद स्नातकों द्वारा नाम के साथ डाक्टर शब्द लगाने की इच्छा का यह अर्थ नहीं किया जाना चाहिए कि वह आयुर्वेदानुरागी नहीं हैं, प्रत्युत स्थिति की विवशता ही उसको डाक्टर नाम धारण करने के लिए बाध्य करती है। नागरिक-क्षेत्रों में जनभावना में एक

भी विचित्रता देखने में आई है कि कोई व्यक्ति चिकित्सा करता हो, केवल आयुर्वेदीय वैद्य हो, मगर यदि वह कोट-पैंट पहनकर अपटूडेट ढंग से रहता है या देखने के लिए स्टेथिस्कोप लेता है, तो वह चाहे न चाहे, लोग उसको जबर्दस्ती डाक्टर साहब कहेंगे।

ऐसी स्थिति में यह कहना कहाँ तक न्यायसंगत हो सकता है कि कालिजों से निकलने वाले छात्र डाक्टर कहलाने के कारण आयुर्वेद भक्त नहीं होते और इसका मूल कारण पाठ्यक्रम का दोष है? हम यह मानने को तैयार नहीं हैं कि सरकारी क्षेत्र के कुछ लोग जो पाठ्यक्रम को बदल कर केवल आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम बनाने की हिमायत करने लगे हैं, उनके विचार आयुर्वेदहित से प्रेरित हैं! ऐसा प्रकट करके वे एक प्रवञ्चना करते हैं। पाठ्यक्रम बदलना उन्हें इसलिए ज़रूरी प्रतीत नहीं हुआ कि आयुर्वेदके छात्रआयुर्वेदानुरागी नहीं होते; बल्कि उसके मूल में यह हो सकता है कि एलोपैथी के पोषकों की प्रेरणा हो, क्योंकि अनेक क्षेत्रों में एलोपैथी के पोषकों को यह भय होने लगा था कि आधुनिक कालिजों से निकलने वाले छात्र सार्वजनिक क्षेत्र में प्रवेश करते जा रहे हैं और ऐसा ही रहा तो धीरे-धीरे सार्वजनिक क्षेत्र में वे डाक्टरों का स्थान ले लेंगे। इस भय ने ही कदाचित् इस विचार को जन्म दिया है कि आयुर्वेद कालिजों को या तो धीरे-धीरे समाप्त कर दिया जाय या फिर पाठ्यक्रम को कोरा आयुर्वेदीय रक्खा जावे। शुद्ध आयुर्वेद के नारे ने ऐसा करने का मार्ग बना रक्खा ही है।

जनरुचि को ध्यान में रखकर अपना चिकित्सा-कार्य चलाने के लिए या तो नव्य स्नातक को ही वाध्य होकर अपने नाम के साथ डाक्टर लगालेना पड़ता है या फिर मरीज ही उसको डाक्टर बना डालते हैं। पाठ्यक्रम का इसमें दोष नहीं और निश्चित रूप से आधुनिक आयुर्वेद स्नातकों की इन गतिविधियों को बदलने के लिए पाठ्यक्रम में परिवर्तन या शुद्ध आयुर्वेद कदापि कोई हल नहीं है। इसका हल एकमात्र इस उपाय से हो सकता है कि आयुर्वेदीय संस्थायें व्यापक रूप से जनता में आयुर्वेद की विशेषताओं का प्रचार करें और एलोपैथी द्वारा त्वरित लाभ एवं चिकित्सा में डाक्टर शब्द मात्र से प्रभावित होने की प्रवृत्ति की बुराइयां जनता को समझावें तथा प्रभावपूर्ण उपायों से जनरुचि में परिवर्तन करें। यदि ऐसा नहीं किया जा सकता तो केवल शुद्ध आयुर्वेद पढ़ाने का परिणाम अन्ततः यही होगा कि वैद्य निरुपाय, निरुद्योगी और जन चिकित्सा से विमुख होता चला जायगा। क्योंकि जनता युग के साथ आगे बढ़ रही है, वैद्यों के लिए पीछे नहीं हटेगी।

वैद्य-समाज को बहुत गंभीरता के साथ विभिन्न दिशाओं से चल रहे उस आयुर्वेद विरोधी षड्यंत्र पर ध्यान देना चाहिए जो क्रमशः आयुर्वेद और वैद्यों को समाप्त करने के लिए चल रहा है। यदि आज भी वस्तु स्थिति पर विचार किया जावे तो यह बात आसानी से समझी जा सकती है कि शुद्ध आयुर्वेद का नाम लेकर जो प्रपंच चल रहा है वह आत्मघाती है। निश्चित रूप से हम उस पाठ्यक्रम के प्रबल विरोधी हैं जिसमें पचहत्तर प्रतिशत एलोपैथी भरी हो और नाम को २५ प्रतिशत आयुर्वेद का हो। हम उसको आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम नहीं मानते। मिश्रित आयुर्वेद भी नहीं। इसके साथ ही हम कोरे आयुर्वेद के पाठ्यक्रम को भी हितकर नहीं समझते। शुद्ध आयुर्वेद तो अपने-आप में एक दूषित प्रवंचना है। हम केवल उस पाठ्यक्रम के पोषक हैं जो सर्वथा आयुर्वेद प्रधान हो, आयुर्वेद पर आधारित हो। जो शिक्षार्थी को आयुर्वेदज्ञ बनाने के साथ-साथ वांछित मात्रा में आधुनिक-ज्ञान सम्पन्न भी बना सके। ऐसे स्नातक आयुर्वेद के बनने चाहिए जो आज के युग की आवश्यकताओं में खप सकें। यदि ऐसा न किया गया और शुद्ध आयुर्वेद की रट ही लगाई गई तो निश्चित रूप से कालान्तर में वैद्यों और आयुर्वेद का भविष्य बड़ा अन्धकारमय हो जायगा।

इस प्रसंग में भारत सरकार की रीति-नीति पर ध्यान रखकर विचार करना चाहिए। भारत सरकार पाश्चात्य दवाओं के निर्माणार्थ विदेशी मदद से अनेकों बड़े-बड़े कारखाने खोल रही है। गाँव गाँव में विकास कार्यक्रमों के साथ चिकित्सा प्रसार के लिए डाक्टरों को बढ़ा रही है। एक ओर आयुर्वेद की उत्तम दवाओं को एलोपैथी में मिलाकर उन्हें 'ड्रग्स' बना रही है दूसरी ओर वैद्यों पर प्रतिबन्ध बढ़ाती जा रही है। क्या वह सब गतिविधियाँ आयुर्वेद-व्यवसाय को क्रमशः समाप्त करने के उपक्रम नहीं हैं? इधर सरकारी पक्ष ही अब यह चाहने लगा है कि वैद्यों को आधुनिक ज्ञान से शून्य बनाया जाय उधर जनता को आधुनिक विज्ञान से ही चिकित्सा का अभ्यासी बनाने के लिए वाध्य किया जाय। शुद्ध आयुर्वेद का नारा इस विषय में भी सरकार का सहायक है। सरकार को उससे ही यह बल मिल रहा है कि आयुर्वेद का शिक्षण सर्वथा पृथक केवल आयुर्वेद का ही रक्खा

जावे और वैद्यों को आधुनिक ज्ञान न दिया जाय क्योंकि फिर वे आयुर्वेदानुरागी नहीं रहते। इसीलिए आधुनिक दवाओं के प्रयोग हेतु वैद्यों पर प्रतिबन्ध लगाया जाता है। एक प्रकार से डाक्टरों के मार्ग की प्रतिद्वन्द्विता को हटाने का प्रयास किया जा रहा है। ऐसी दशा में विचार करने की बात है कि आधुनिक आवश्यक ज्ञान से शून्य केवल काय चिकित्सा वाला आयुर्वेदज्ञ कितने दिनों समाज में टिका रह सकेगा? स्पष्ट है कि नहीं टिक पायगा। हम चाहते हैं कि वे भाई जो शुद्ध आयुर्वेद का दम्भ करते हैं, युग की प्रगति को समझें और आयुर्वेद की भावी पीढ़ी के भविष्य को ध्यान में रखकर अपना दुराग्रह छोड़ दें। आधुनिक युग के अनुरूप बनाने के लिए न्यूनांश में आधुनिक ज्ञान लेकर आयुर्वेद को केवल आयुर्वेद ही रहने दें तो कल्याण कर होगा और काशी विश्वविद्यालय जैसी घटनाओं की पुनरावृत्ति न हो पायगी।

विश्वविद्यालय-अधिकारियों के इस भुलावे का वैद्यों को कड़ा प्रतिरोध करना चाहिए कि वहाँ के आयुर्वेद विद्यालय को मिटाकर शुद्ध आयुर्वेद का स्नातकोत्तर केन्द्र बनाया जा रहा है। हमें वह स्नातकोत्तर केन्द्र नहीं चाहिए। हम तो चाहते हैं कि महामना मालवीय जी की भावना के अनुरूप हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद का सगोपांग महाविद्यालय ही रहे और उसका पाठ्यक्रम आधुनिक ज्ञान-सम्पन्न आयुर्वेद के आधार पर निश्चित किया जाय।

शेषांश] **वैद्य-हकीम ध्यान दें** [१०७० पृष्ठ का

श्री यादव जी की वांछानुसार ग्रन्थ को इतनी उच्चकोटि का बनाया जावे कि उसे अद्वितीय कहा जा सके। इसी प्रयत्न में ग्रन्थ के आयोजक संलग्न रहे। उत्कृष्ट रचनाओं में अधिक समय लगना स्वाभाविक होता है। आयुर्वेद-शास्त्र चर्चा आचार्य जी का सर्वोपरि प्रिय विषय था, यह सभी जानते हैं। दो विवेचन परिषदें तो आचार्य जी स्वयं सम्पन्न कर चुके थे। आयुर्वेद शारीर शब्दार्थ विनिश्चय का कार्य आचार्य जी अपूर्ण छोड़ गये थे। उसको पूरा करना आवश्यक कर्तव्य था। आचार्य जी के उक्त अभिनन्दन ग्रन्थ में उनके इस प्रिय विषय को पूर्ण करके सम्मिलित करना वांछनीय समझा गया। उसमें बहुत समय लगा, जो कि विषय की गम्भीरता के अनुसार स्वाभाविक ही था। ग्रन्थ के प्रकाशन में विलम्ब का यह भी एक कारण है। निश्चय ही बैद्यनाथ प्रतिष्ठान ने लगभग तीस हजार रुपया व्यय और अन्य बौद्धिक परिश्रम करके यह बड़ा महत्वपूर्ण कार्य किया है। अब उक्त ग्रन्थ तैयार है। वैद्य रामनारायण जी की इच्छा है कि अब यह ग्रन्थ आचार्य जी के उत्तराधिकारी को एक विशिष्ट समारोह में समर्पित किया जावे। जुलाई मास में इसके लिये वे एक अखिल भारतीय विद्वतसम्मेलन करना चाहते हैं। मैं समझता हूँ उस अवसर पर ही हस्ताक्षर-पत्र महामहिम राष्ट्रपति महोदय को अर्पित करने का आयोजन अधिक प्रभावकर होगा। एक पंथ दो काज हो जावेंगे। इसलिये हस्ताक्षर आन्दोलन को दो महीने और बढ़ाने का मेरा विचार है।

मैं इस आयुर्वेद हित के महत्वपूर्ण कार्य में सम्पूर्ण वैद्यहकीम समाज से सक्रिय और रुचिपूर्ण सहयोग की अपील करते हुए आग्रह करता हूँ कि वैद्य-हकीम कृपा कर आयुर्वेद पक्ष में अधिक से अधिक जनता के हस्ताक्षर करावें। इस आयोजन से आयुर्वेद की जनप्रियता प्रकट होगी और सार्वजनिक क्षेत्र में आयुर्वेद का प्रचार होगा।

सुधानिधि-कार्यालय
३, सम्मेलन मार्ग, प्रयाग, इलाहाबाद।

भवदीय हितेच्छु
जगन्नाथप्रसाद शुक्ल वैद्य

काश्यप-संहिता : : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ (४)

वैद्य रणजितराय

संप्राप्ति से योगविनिश्चय : एक शेष प्रश्न

निदान (हेतु), पूर्वरूप, रूप (लक्षण), संप्राप्ति तथा उपशयानुपशय—इन पाँच को निदान कहा जाता है। इन्हें निदान कहने का व्युत्पत्ति-सिद्ध कारण यह है कि इन पाँच में प्रत्येक के द्वारा रोग की निश्चिति होती है। इन पाँचमें चौथे प्रकार संप्राप्ति के विषय में शङ्का उठाई जाती है कि, यह तो एक कल्पना का विषय है। रोग का विनिश्चय होने पर आगम प्रमाण के अनुसार मान लिया जाता है कि इस रोग में इस दोष के द्वारा इस-इस प्रकार की विकृति होने से रोग की उत्पत्ति हुई है। पहले से संप्राप्ति दृष्टिगत होती नहीं जिसके आधार पर रोग-विनिश्चय में कुछ सौकर्य हो।

एक उदाहरण से इस बात को स्पष्ट करें।

माधव निदान में जो सम्प्राप्ति का लक्षण दिया गया है वह वाग्भट से लिया गया है। यह श्लोक सु-प्रसिद्ध है। परन्तु मूल ग्रन्थ के एक टीकाकार अरुणदत्त ने लक्षण को विशद करने के लिए ज्वर की संप्राप्ति को जो दृष्टान्ततया प्रस्तुत किया है, वह अतिनिदर्शक होने पर भी उस पर ध्यान प्रायः नहीं दिया गया है। अरुणदत्त के मूल वचन ये हैं :

यथा ज्वरस्य 'मलास्तत्र' (अ. हृ. नि. २।३) इत्यादि लक्षणलक्षिता। तत्र मलानामामाशय प्रवेशनेन, तथा ऽऽमानुगमनेन, तथा स्रोतोरोधेन, तथा पक्तिस्थानाज्ज्वलननिरसनेन, तथा तेनैव जाठरेण वह्निना तेषामभिसर्पणेन, तथा सकलदेहतापेन, गात्रं चात्युष्णं कुर्वता, एवं विधया संप्राप्त्या ज्वरोऽयमिति निश्चीयते। एवं रक्तपित्तादिष्वपि चिन्त्या संप्राप्तिः ।।

तात्पर्य:—अरुणदत्त कहते हैं—संप्राप्ति से रोग विनिश्चय कैसे होता है, इस की स्पष्टता के लिए ज्वर को लिया जा सकता है। 'मलास्तत्र' इत्यादि पद्यों में वाग्भट ने ज्वर की संप्राप्ति बतायी है। इसे सामने रखकर ज्वर की उत्पत्ति का विचार इस प्रकार किया जा सकता है। (१) कुपित हुए दोषों का आमाशय (आम[illegible]) में प्रवेश ; (२) आम के साथ दोषों का संसर्ग ; (३) आमयुक्त दोषों द्वारा रसवह तथा स्वेदवह स्रोतों का अवरोध ; (४) दोषों द्वारा पक्तिस्थान (आमपच्यमानाशय) से जाठराग्नि का बहिर्निरसन—बाह्य अवयवों में विक्षेपण ; (५) जाठराग्नि के साथ दोषों का सर्वाङ्ग में प्रसर ; (६) (रस-स्वेदवह स्रोतों के रोध तथा जाठराग्नि के ऊष्मा के बहिर्विक्षेपण के कारण) संपूर्ण शरीर में ताप का आधिक्य ; उसके कारण (७) शरीर में उष्णता की अधिकता—इस संप्राप्ति-क्रम से ज्वर का विचार करें तो निश्चित होता है कि प्रस्तुत रोगी में यह संप्राप्ति होने से वह ज्वर-पीड़ित है। इसी पद्धति से अन्य रक्तपित्त प्रभृति रोगों की भी निश्चिति संप्राप्ति के आधार पर करनी चाहिए।

यह सत्य है कि, अरुणदत्त ने ज्वर का जो उदाहरण दिया है वह निदान के प्रारम्भिक विद्यार्थी को संप्राप्ति का स्वरूप समझाने की दृष्टि से अतीव उपयोगी है। परन्तु कितनी भी सूक्ष्म दृष्टि हमारी हो, हम इस बात का अनुसरण नहीं कर सकते कि, दोषों ने पक्तिस्थान में प्रवेश किया है, उन्हों ने स्थानीय उष्णता को बाहर फेंक दिया है. . इत्यादि। इन विवरणों का हमारा ज्ञान आप्तोपदेशाश्रित ही है। अथ च, उपचार-क्रम में इस संप्राप्ति को भङ्ग करने के प्रति लक्ष्य दिया जाए तो रोग की निवृत्ति भी होती है, जिससे यह संप्राप्ति सत्य होगी, यह धारणा होती है। तद्यथा लङ्घन, उष्णोदक पान, त्रिभुवनकीर्ति आदि के योग से आम का पचन होने से ज्वर में लाघव होता है। उष्णोदक पान, निवातगृह सेवन, वस्त्र ओढ कर रहना इत्यादि के रूपमें स्वेदवह स्रोतों का रोध दूर करने से संप्राप्ति के एक अङ्ग का भङ्ग होकर रोग का वेग न्यूनबल होता है। जिस-जिस दोष के कोप के लक्षण हों उस-उस दोष का बल अधिक हो और रोगी बलवान् भी हो तो यथादोष वमन, विरेचन या बस्ति देने से भी ज्वर में मार्दव आता है। किं बहुना, संप्राप्तिभङ्ग से शास्त्रोक्त संप्राप्ति सत्य होगी यह धारणा होती है, तथापि संप्राप्ति को हम 'फॉलो' नहीं कर सकते।

अतः प्रायः शङ्का रहा करती है कि, संप्राप्ति से रोगविनिश्चय क्यों कर होना संभव है ?

अम्लपित्त की संप्राप्ति निदान में सहायक

गत लेख में हमने कहा है कि, सामान्यतया अम्लपित्त में ऋतुरूप काल का कर्तृत्व मुख्य होता है और इसी को दृष्टि में रखकर माधवकर ने (अथवा जिस ग्रन्थ से उन्होंने पद्य लिए ह उसके रचयिता ने) अम्लपित्त की संप्राप्ति का निर्देश किया है। काश्यप ने देश को लक्ष्य में रखकर उसके महत्त्व का प्रतिपादन किया है।

संक्षेप में, अम्लपित्त की ऋतुमूलक संप्राप्ति का स्वरूप यह है कि : ऋतुस्वभाववश वर्षा में शरीर में पित्त का संचय होता है और अगली ऋतु में पुरुष अम्लगुणाधिक पित्त की वृद्धि करनेवाले अन्नपान का अति सेवन करे तो वह अम्लपित्त रोग से पीड़ित होता है।

इस विषय का प्रतिपादक माधव का पद्य प्रसिद्ध ही है। इसके प्रथम स्मरणीय शब्दों में पित्त के संचय की संप्राप्ति बताते आचार्य कहते हैं--**पित्तं स्वहेतूपचितं पुरा यत्।** 'पुरा' का अर्थ टीकाकार ने वर्षाकाल दिया है। आगे 'स्वहेतूपचितम्' (अपने संचय के कारणों के योग से संचित) शब्द का अर्थ विशद करते चरक के वचन को उद्धृत कर विजयरक्षित कहते हैं--वर्षा में ओषधि (धान्य) और जल में भूमि तथा वायुगत क्लेद का प्रवेश हो जाने से वे विदाह (अम्लपाक) के स्वभाववाले हो जाते हैं। वर्षा में धान्य तथा जल में विदाहशीलता की उत्पत्ति का स्वरूप समझने के लिए इस प्रकरण में सु० सू० ६।११ तथा च. चि. ३-४३-४४ ये स्वस्थवृत्तोक्त वचन तथा इनकी टीकाएँ विद्यार्थी को पुनः देख लेनी चाहिए।

इस प्रकरण में एक अन्य स्पष्टता भी आवश्यक हुआ करती है। अम्लपाक संज्ञा आयुर्वेद में दो स्थानों पर आई है। इनमें प्रथम पचन की प्राकृत क्रिया की निदर्शक है। ग्रहणी चिकित्साध्याय (च० चि० १५) में तीन अवस्थापाकों के निर्देश के प्रकरण में **'विदग्धस्य अम्लभावतः'** तथा **'आशयात् च्यवमानस्य'** इन शब्दों द्वारा इस प्राकृत अम्लपाक का निरूपण किया है। इन शब्दों की टीका करते हुए 'अम्लभावत इति जाताम्ल स्वरूपतः। आशयात् आमाशयात्' इत्यादि शब्दों द्वारा चक्रपाणि ने इस बात को विशद किया है। इस प्रकरण का तात्पर्य यह है कि, आगे [illegible] पच्यमानाशय में पहुँचने के पूर्व अन्नपान आमाशय में रहता है और यहाँ छहों रसोंवाला अन्नपान (मुख्यतया) अम्लर हो जाता है। नवीनों का कथन है कि, यह क्रिया लवणाम् के योग से होती है। इस अम्लीभाव के कारण इस अवस्था पाक को अम्ल अवस्थापाक कहा जाता है। यद्यपि इस लिए अम्लपाक यह संक्षिप्त संज्ञा प्रसिद्ध नहीं है तथापि अम्लपित्त के प्रकरण में इस की भ्रमणा न हो जाय अतः इतनी विशदता करना उचित रहता है।

आयुर्वेद में पित्त या जाठराग्नि का मुख्य स्थान तो पच्यमानाशय ही कहा है। तथापि जैसे बाह्य अग्नि का ऊर्ध्वगमन प्रसिद्ध है वैसे जाठराग्नि की भी ऊर्ध्वदिशा में गति और क्रिया हुआ करती है। आयुर्वेद की दृष्टि से पाक की प्रतिक्रिया का अनुशीलन करते हुए आयुर्वेद का मन्तव्य स्पष्ट जान लेना चाहिए। अस्तु। जठराग्नि के इस ऊर्ध्वगमन के कारण ही पूर्ववर्ती वचनों में इसे पच्य मान होते हुए विदग्ध कहा है। इस विदग्ध शब्द का अर्थ चक्रपाणि ने पक्वापक्व=कुछ पका, कुछ अधपका दिया है।

'अम्लपाक' शब्द का द्वितीय प्रयोग विकृति सूचक हुआ करता है। इसी को शुक्तपाक भी कहते हैं। शुक्त शब्द (अर्थ सिरका) का व्यवहार चरकाचार्य ने ग्रहणी अधिकार में किया है। ग्रहणी की संप्राप्ति बताते वे कहते हैं : अग्नि को दुष्ट करनेवाले तत्-तत् कारण से, अग्नि दुष्ट (मन्) होता है। परिणामतया, लघु भी अन्न को पचाने की उसमें शक्ति नहीं रहती है। **अपच्यमानं शुक्तत्वं याति** **विषरूपताम्** (च० चि० १५।४४) अन्नपान पक्व नहीं होता तो वह शुक्तरूप को प्राप्त--सिर के के समान अम्लीभाव पन्न--होता है। इस स्वरूप में यह विषवत् होता है।

इस अवस्था में होनेवाली अन्नपान की अम्लता का स्पष्टीकरण आधुनिक रसायनशास्त्र के पदों में इस प्रकार दिया जा सकता है। बाहर दूध से दही, मधुर द्रव्यों से सिरका आदि बनने की प्रक्रिया भिन्न-भिन्न सूक्ष्म जीवाणु की क्रिया से होती है। इसे 'फर्मेण्टेशन' कहा जाता है। अन्नपान अपक्व रह जाए तो इसमें भी इसी प्रकार फर्मे शन हो कर विविध सेन्द्रिय अम्ल (ऑर्गेनिक एसिड) बन हैं। इन में शुक्ताम्ल (एसिटिक एसिड) भी एक है सो प्राचीनों ने 'शुक्तत्वं याति' कह कर विकृति जो प्रतिपादन किया है वह नव्यमत से सर्वथा सं रहता है।

अम्लपित्त-विषयक समन्वय में एक भ्रमणा : महास्रोत में उपलब्ध होनेवाले उपरिनिर्दिष्ट दो प्रकार के अम्लों के ज्ञान के अनन्तर अम्लपित्त-संबन्धी एक भ्रमणा को समझना सुगम हो सकता है। इस भ्रमणा का निरसन चिकित्सा-व्यवसाय की दृष्टि से अतीव आवश्यक है।

जैसा कि ऊपर कहा, महास्रोत में प्राकृत पचनकाल में आमाशय में एक अम्ल क्षरित होता है। इसे लवणाम्ल कहते हैं। यह निरिन्द्रिय (इनॉर्गेनिक) अम्ल होता है। अग्निमान्द्य के कारण शुक्ताम्ल, तक्राम्ल आदि जो अम्ल अपक्व अन्नपान के संधान (फर्मेण्टेशन) के परिणामस्वरूप उत्पन्न होते हैं वे सेन्द्रिय होते हैं। अजीर्ण के प्रकारों में भी ये अम्ल उत्पन्न हुआ करते हैं। इन अम्लों के कारण ही अजीर्ण के इस भेद को विदग्धाजीर्ण नाम दिया गया है। विदाह शब्द का अर्थ होता है—विकृत अम्लपाक। एवं विदग्ध शब्द अम्लपाक को प्राप्त हुए अन्नपान के लिए प्रयुक्त होता है। विदग्धाजीर्ण शब्द में 'विदग्ध' शब्द का प्रयोग इसी अर्थ में हुआ है। इस विकृति का वाचक अंग्रेजी शब्द 'एसिड डिस्पेप्सिया' ठीक यही भाव रखता है।

उक्त अम्लों में किसी भी अम्ल की अधिकता के लिए, 'हायपर एसिडिटी' यह अस्पष्ट शब्द लोक-व्यवहार में प्रसिद्ध है। 'अस्पष्ट' इसलिए कि, इससे यह नहीं विदित होता कि रुग्ण-विशेष में सेन्द्रिय अम्ल की अधिकता है या निरिन्द्रिय अम्ल की। व्यवसाय में चिकित्सक को अम्लाधिक पित्त के प्रकोप की चिकित्सा आरम्भ करने के पूर्व सम्यक् विनिश्चय करना चाहिए कि, प्रकुपित हुआ पित्त सेन्द्रिय है अथवा निरिन्द्रिय? इस विषय में मार्गभ्रष्ट होने का अवसर उपस्थित होना सर्वथा संभव है। विशेषतया आधुनिक चिकित्साशास्त्र के ग्रन्थों में जितना स्थान निरिन्द्रिय अम्ल का प्रकोप या 'हायपर क्लोरहाइड्रिआ' घेरता है, एवं अध्यापकों के भाषण में जितना समय यह लेता है उस से कोमलमति विद्यार्थी और नव्य चिकित्सक को कुक्षिहृत्कण्ठदाह, अम्लोद्गार आदि लक्षणों से पीड़ित व्यक्ति उपस्थित होने पर प्रथम और अन्तिम धारणा 'हायपर क्लोरहाइड्रिया' की ही होती है परन्तु इन लक्षणों से पीड़ित रोगियों में इस रोग के रोगियों का अनुपात ग्रन्थ और भाषण में आए इस के अनुपात से सर्वथा विपरीत रहा करता है। उधर, अम्लपित्त किंवा विदग्धाजीर्ण के विषय में आधुनिक विज्ञान में विशेष वक्तव्य न होने से ग्रन्थ में तथा भाषण में इस को अति अल्प ही स्थान दिया जाता है। परन्तु कुक्षिदाहादि लक्षणों से पीड़ित व्यक्तियों में इस रोग से पीड़ित रुग्णों का अनुपात इस से उलटा हुआ करता है। व्यवसाय करते हुए पर्याप्त समय हो चुकने पर भी कितने ही व्यक्ति इस सत्य के प्रति लक्ष्य देने में चूक जाते हैं। किं बहुना, अम्लपित्त के प्रति शास्त्र और व्यवसाय दोनों दृष्टियों से उक्त सत्य का महत्व समझाना प्रथम स्थान इस अध्याय में रखता है।

अम्लगुणाधिक पित्त के प्रकोप में अधिकांश रुग्णों में अग्नि-विकृतिवश आमावस्था में रहे अन्नपान का शुक्तपाक या अम्लपाक हुआ करता है। 'गेस्ट्रिक एनेलिसिस' से इस बात अन्तिम निश्चय किया जा सकता है।

ऋतुस्वभाववश वर्षाकाल में पूर्वकथित क्रम से पित्त का संचय होता है। आगामी ऋतु शरद् में स्वस्थवृत्तोक्त क्रमानुसार बाह्य ताप से उन स्रोतों का उद्घाटन होता है, जिनमें पित्त संचित होकर रहा होता है। इन स्रोतों के उद्घाटन का अर्थ यह है कि उनमें पित्त की गति यथावत् नहीं होती—एक तरह से पित्त इन स्रोतों के समुदायरूप प्रधानावयवों—यकृत्, प्लीहा और पच्यमानाशय—में ही निभृत (शान्त) हो कर पड़ा रहता है। बाह्यताप के संपर्क से इन स्रोतों में पित्त की गति का वेग बढ़ता है। इसी स्थिति को वह द्रवित और विलीन होता है, इन शब्दों के प्रयोग द्वारा व्यक्त किया जाता है। संचय-काल में जो व्यक्ति संचय-स्वभावी दोष के विरुद्ध गुणवाले आहार के सेवन इत्यादि द्वारा उसे (दोष-विशेष को) समावस्था में रखने का प्रयत्न करते हैं, उन में उसका संचय उतना नहीं हो पाता। न ही अगली ऋतु में उसका विशेष प्रकोप तथा लक्षणों का व्यक्तीभाव होता है।

अम्लपित्त के प्रकोप की बात करें। संचयकाल में तथा आगे प्रकोपकाल की ऋतु में कोई संयमी पुरुष पित्त की वृद्धि न होने दे तो ऋतु-भेद का उस पर कहने योग्य कोई प्रभाव नहीं होता। परन्तु जो व्यक्ति भविष्य में अम्लपित्त से पीड़ित होने वाला है, वह विशेषतया ऐसे आहार का अतियोग करने वाला हुआ करता है जो अपने गुणों से पित्त के गुणों की वृद्धि करें। यथा, माधवोक्त पदों का प्रयोग करना हो तो, यह व्यक्ति विरुद्ध, दुष्ट (सड़ा, गला, बासी), अम्ल, विदाही (स्वरूप से दाह करनेवाला किंवा पचनोत्तर दाह स्वभावी) एवं अन्य प्रकार से पित्त के प्रकोपक अन्नपान का अतियोग भावी अम्लपित्त से पीड़ित रोगी करता है।

इनके सेवनाधिक्य से पित्त की वृद्धि और भी अधिक होकर कुक्षिहृत्कण्ठदाहादि अम्ल-पित्त के लक्षणों का आविर्भाव होता है।

दोषों की वृद्धि तथा प्रकोप के कारणों का अधिक स्पष्टतया निर्देश करना हो तो कहा जा सकता है कि : दोषों की वृद्धि तथा प्रकोप के जो कारण कहे गए हैं उनके प्राथमिक भेद दो हैं—काल, विशेषतया तत्-तत् ऋतु तथा आहार-विहार। देश की भी दोषों के प्रकोप में कारणता है, तथापि दोष-प्रकोप के जो कारण शास्त्र में कहे हैं, उनमें देश का नामोल्लेख नहीं है, अतः इन प्राथमिक कारणों में उसे हमने स्थान नहीं दिया है।

दोष-प्रकोप के आहारादि कारण—ऋतु स्वभाववश तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष के प्रकोपादि होते हैं। और जैसा कि चरकाचार्य ने प्रकृतियों के वर्णन के प्रकरण में कहा है, मानव प्रायः विषमाहारादि करने के स्वभाव वाले होते हैं[1], अतः ऋतुस्वभाव तथा विषमाहारविहार मिलकर तत्-तत् ऋतु में तत्-तत् दोष की प्रायः वृद्धि किया करते है। अतएव देखते हैं, सामान्यतया नियमित जीवन व्यतीत करने वाले जन भी ऋतु परिवर्तन-काल में कुछ न कुछ व्याधित होते ही हैं।

ऊपर प्रकोप के जो दो प्राथमिक विभाग कहे हैं, उनको तन्त्रकारों ने चयपूर्वक प्रकोप (ऋतुस्वभावज) तथा अचय पूर्वक प्रकोप (अहिताहार विहारज) नाम दिए हैं[2]। गत लेख में अम्लपित्त की माधवोक्त तथा काश्यपोक्त संप्राप्ति का भेद दर्शाते कहा है कि : माधव ने ऋतु को प्रधानतया दृष्टि में रखते हुए संप्राप्ति का विस्तार किया है, जब कि काश्यप ने देश को दृष्टि में रखकर अम्लपित्त की संप्राप्ति बताई है। अहित आहार के विचार को दोनों ने समान महत्व दिया है।

माधवोक्त संप्राप्ति का रहस्य यह है कि : ऋतुस्वभाववश वर्षा में पित्त का संचय होता है। विदाही, विरुद्ध-पित्तप्रकोपक आहार के अतियोग से (उसी ऋतु में किंवा ऋतु स्वभाववश विशेषतया अगली ऋतु-शरद् ऋतु में) उसका प्रयोग होता है। यह प्रकोप अम्लपित्त का उत्पादक होता है। काश्यप के मत को इस संप्राप्ति के साथ जोड़ दें तो कहना होगा कि, यह परिस्थिति आनूपदेशों विशेष संभावित होती है। अतः वहीं यह रोग प्राय पाया जाता है।

तात्पर्य : अम्लपित्त की संप्राप्ति में तीन कारणों योग हुआ करता है[1]—**पित्त के संचय और प्रकोप की ऋतु; २–पित्त का (पित्त के अम्ल गुण का) प्रकोपक आहार** तथा **३–आनूप देश**। तीनों ही कारणों का पृथक् महत्त्व है। अनुभवी चिकित्सक जानते हैं कि, अम्लपित्त का सूत्रपा वर्षा या शरद्ऋतु में हुआ करता है। अर्थात् इन कालों कुक्षिहृत्कण्ठदाहादि लक्षण आरम्भ हो जाते हैं। इसके पश्चात् प्रकोपक आहारादि कारणों का योग रहा तो रोग अनुबन्धी हो जाता है। अन्यथा, देखा जाता है, कि रोग लक्षण केवल वर्षा या शरद् में या दोनों में उभरते हैं। वर्षों से इस स्थिति की विद्यमानता प्रश्न-परीक्षा में पा जाती है। इस द्वितीय प्रकार में सातत्य न रहने से रोग प्रथमारम्भ हुए कई वर्ष व्यतीत होने पर भी अम्लपित्त साध्यासाध्यता की शर्तों के विचार में इसे जीर्ण नहीं समझा जाता।

अम्लपित्त की परीक्षा करते हुए प्रश्न-परीक्षा द्वारा ऋतु-विशेष के साथ उसके सबन्ध का परिज्ञान रोग के निदा में अतीव सहायक हुआ करता है। कोई भी अनुभ चिकित्सक इस सत्य का समर्थन करेंगे। अतएव, इ लेख के आरम्भ में हमने जो स्थापना की थी कि, निदा पञ्चकान्तर्गत संप्राप्ति भी रोग विनिश्चय में सहायक होती है इस का उत्तम निदर्शन अम्लपित्त की संप्राप्ति है इस बात की प्रतीति इस विवेचन से वाचकों को हो चु होगी।

अम्लपित्त की संप्राप्ति के प्रकरण में ऋतुस्वभाव यह निर्देश अविस्मृत रहता है। परन्तु संप्राप्ति के प्रसंग केवल ऋतुस्वभाववश संचय-प्रकोप का उल्लेख प्रायः लेख तथा अध्यापक करते हैं। वह चिन्तनीय है। कार जैसा कि ऊपर कहा, दोषों के प्रकोप में चयपूर्वक प्रकोप आरम्भक ऋतुओं के अतिरिक्त अन्वयपूर्वक प्रकोप हेतुभूत अहिताहार-विहार भी कारण रूपेण शास्त्र में निर्दि है। दोषभेदीय अध्याय (अ० हृ० सू० १२) में तत् ऋतु में तत्तत्कारणवश तत्तत् दोष के संचय, प्रकोप प्रशम के स्वभाव का निरूपण कर हृदयकार ने कहा है:

---

[1] १–न समवातपित्तश्लेष्माणो जन्तवः सन्ति, विषमाहारोपयोगित्वान्मनुष्याणाम्—च. वि. ६।१३।

[2] २–इस विषय में अधिक विचार 'आयुर्वेदीय क्रियाशारीर' के प्रथम अध्याय में देखिए।

इति कालस्वभावोऽयमाहारादिवशात्[1] पुनः ।
चयादीन् यान्ति सद्योऽपि दोषाः कालेऽपि वा ननु ।।

अ. हृ. सू. १२।२८

तात्पर्य : ऋतु स्वभाववश होनेवाले दोषों के संचय, प्रकोप और प्रशम के अतिरिक्त यह भी ध्यान में रखना चाहिए कि दोषों की संचयादि अवस्था आहार आदि कारणों से भी हुआ करती हैं। पुरुष यदि दोष-विशेष की वृद्धि करनेवाले आहार, विहार और देश का सेवन करे तो किसी भी काल में (**सद्योऽपि--तत्क्षणादेव, कालमनपेक्ष्यैव--अरुणदत्त**) दोष की वृद्धि होकर प्रकोप हो सकता है। इसके विपरीत पुरुष दोष-विशेष को क्षीण करनेवाले आहार, विहार या देश का उपयोग करे, किंवा उन्हें शोधनादि द्वारा सम रखनेवाले वमन, विरेचन, रसायन, वाजीकरण आदि का सेवन करे तो प्रकोप के काल में भी दोष का संचय और प्रकोप नहीं होता--वह समावस्था में रहता है। अतएव, अरुणदत्त की स्थापना है कि : **तस्मात् कालादाहारादीनां प्राधान्यमिति**। अर्थात् काल की अपेक्षया दोषों के साम्य और वैषम्य में आहारादि की कारणता ही अधिक महत्त्व रखती है।

दोषों के साम्य और वैषम्य के हेतुभूत इन आहारादि में भी आहार प्रधान है। चरक ने कहा है कि, पुरुष यदि अपनी प्रकृति, ऋतु, देश आदि को लक्ष्य में रखकर उपयुक्त आहार का सेवन करे तो उसे देश-स्वभाववश दोष वैषम्य की भीति नहीं रहती--**उचिते वर्तमानस्य नास्ति देशकृतं भयम्।**

अन्यत्र चरक ने आहार की शरीर पर सर्वातिशायी क्रिया निम्न प्रसिद्ध शब्दों में दर्शायी है--**हिताहारोपयोग एक एव पुरुषवृद्धिकरो भवति, अहिताहारोपयोगः पुनर्व्याधिनिमित्त इति--**च. सू. २५।३१। तात्पर्य: प्रकृति, देश आदि को लक्ष्य में रखते हुए जो अपने लिए हितकर हो ऐसा आहार ही एकमात्र पुरुष की वृद्धि करनेवाला तथा आरोग्य को स्थिर रखनेवाला है। इसके विपरीत अहिताहार का उपयोग पुरुष की वृद्धि (विकास, डिवेलपमेण्ट) का प्रतिबन्धक तथा रोगों का मूल हुआ करता है।[2]

इस वचन में 'हिताहारोपयोगः' इस एकवचनान्त प्रयोग से केवल हिताहारोपयोग का ग्रहण होने पर भी 'एकः' यह विशेषण तन्त्रकार ने दिया है। इसके पश्चात् भी 'एव' इस अवधारणार्थक अव्यय का उपयोग किया है। रोग और आरोग्य के साथ आहार का अनन्य महत्त्व आचार्य की दृष्टि में कितना अधिक है यह इस वाक्य रचना से समझ में आ सकता है। काश्यप ने भी ऋतुस्वभावज दोष-प्रकोप की अपेक्षया आहारादि अन्य कारणों से होनेवाले दोष-वैषम्य को नीचे दिए वचन में विशेष रूप से स्मरण किया है।

न हि हेत्वीरितो दोषः कञ्चित्कालमुदीक्षते ।
औचित्यादार्तवो दोषप्रकोपो न तथा भृशः ।।
यथा हेतुकृतस्तस्मात् क्षिप्रमेनमुपक्रमेत् ।।

काश्यप संहिता पृ० २३५

अर्थात्--आहारादि हेतुओं से होनेवाले दोष-प्रकोप में किसी काल-विशेष की अपेक्षा नहीं रहती। ऋतुकालज दोष-वैषम्य शनैः-शनैः होता है, अतः उसका अभ्यास (औचित्य, सहिष्णुता, टॉलरेन्स) शरीर को हो जाता है, जिससे वह उतना उग्र नहीं होता, जितना हेतुकृत। अतः हेतुकृत दोष-प्रकोप का उपाय तत्काल करना आवश्यक है।

अगले पद्य में वमन, विरेचन, निरूह तथा आस्थापन बस्तियों को हेतुकृत दोष-प्रकोप एवं तज्जन्य रोगों के उपचार में प्रधानतया स्मरण किया है।

इस प्रकरण से सिद्ध है कि, जैसे अहिताहार रोगोत्पत्ति का महत्तम कारण है वैसे रोग की अनुत्पत्ति (प्रिवेन्शन) तथा निवृत्ति (उपचार) के लिए निदान-परिवर्जन के रूप में अहिताहार का परित्याग ही श्रेष्ठ उपचार है। अनुभवी चिकित्सक जानते हैं कि अम्लपित्त तथा अन्य ग्रहणी रोगों पर (आधुनिक संज्ञा में कहना हो तो पाचन-संस्थान की विकृतियों पर) अहिताहार का परित्याग और हिताहार का सेवन किया जाए तो कोई औषध अपेक्षित कार्यसिद्धि नहीं करती।

अम्लपित्त का हेतुकृत निदान--चरक-मत से

हेतुकृत निदान के इस महत्त्व के प्रसंग को दृष्टि में रखें तो चरक एवं काश्यप ने अम्ल पित्त के निदान में

---

[1] आहारादीत्यत्र आदिशब्देन रसायनवाजीकरणवमनविरेचनादयो गृह्यन्ते।--**अरुणदत्त**। आदिशब्देन विहारो देशश्च--**हेमाद्रि**।

[2] सारे वचन को एक साथ दृष्टि में रखें तभी अर्थ की परिपूर्णता होगी। हिताहार को पुरुषवृद्धिकर विशेषण दिया है। अर्थापत्ति से अहिताहार पुरुष की वृद्धि का प्रतिबन्धक है, यह प्राप्त होता है। उधर, अहिताहार को रोगों का कारण कहा है, तो हिताहार आरोग्य का हेतु है यह आपतित होता है।

अहिताहार-विहार को जो विशिष्ट स्थान दिया है उसका कारण समझा जा सकता है। जैसा कि ऊपर कहा, चरक ने अम्ल पित्त को प्रधान रोग के रूप में अपने तन्त्र में स्थान नहीं दिया है। तथापि ग्रहणी रोग के परिणामों के निर्देश के प्रकरण में उनने पित्त के अन्वय से होनेवाले रोगों में अम्ल-पित्त को स्मरण किया है। ग्रहणी रोग की कारणभूत ग्रहणी-कला की दुष्टि के जो कारण इस प्रकरण में चरक ने कहे हैं वे अम्ल पित्त पर भी घटित होते हैं। आगे काश्यपोक्त अम्ल पित्त-निदान का निर्देश करेंगे। उस पर दृष्टिपात करने से दोनों निदानों में अपूर्व साम्य स्पष्ट देखा जा सकेगा।

> अभोजनादजीर्णाति भोजनाद्विषमाशनात्।
> असात्म्यगुरुशीताति रूक्षसंदुष्ट भोजनात्॥
> विरेकवमन स्नेह विभ्रमाद् व्याधिकर्षणात्।
> देशकालर्तुवैषम्याद् वेगानां च विधारणात्॥
> दुष्यत्यग्नि:, स दुष्टोऽन्नं न तत् पचति लघ्वपि।
> अपच्यमानं शुक्तत्वं यात्यन्नं विषरूपताम्॥
>
> ——च० चि० १५।४२-४४

अभोजन आदि इन कारणों से अग्नि दुष्ट (मन्द) हो जाता है। परिणामतया, वह प्रकृतिलघु, मात्रालघु तथा संस्कारलघु भी अन्न का पचन करने में असमर्थ होता है। अपक्वावस्था में रहा यह अन्न शुक्त रूप को प्राप्त हो विषमय हो जाता है। जैसा कि आगे कहा है—**दुर्बलो विदहत्यम्**—अग्नि के इस दौर्बल्य के कारण ही अन्न का विदाह या अम्लपाक होता है। अग्निदौर्बल्यजनित अ-जीर्ण अन्न पित्त के साथ संसर्ग में आता है (**संसृज्यमानं पित्तेन**) तो इतर रोगों के अतिरिक्त अम्ल पित्त को भी उत्पन्न करता है—(जनयत्यम्ल पित्तं च)। (इसी प्रकार इतर दोषों के संसर्ग से इतर रोगों को उत्पन्न करता है)।

अम्लपित्त-निदान : काश्यप के पदों में

काश्यप ने अम्लपित्त का निदान बताते हुए इन्हीं कारणों का अधिक विस्तार से उल्लेख किया है, एवं संप्राप्ति का निरूपण भी अधिक विशद शब्दों में किया है।

इन पद्यों में एक रोचक सत्य का निर्देश काश्यप ने किया है। काश्यप संहिता की विशिष्टताओं के उल्लेख में इसका भी समावेश किया जा सकता है। वह सत्य यह है कि, यहाँ काश्यप ने स्पष्ट शब्दों में वात, पित्त और कफ तीनों में प्रत्येक दोष के प्रकोप से अग्नि के मन्द होने का निर्देश किया है। सामान्य ख्याति के अनुसार अग्नि की मन्दता का कारण कफ का प्रकोप होता है। तथापि तन्त्रकारों ने विभिन्न प्रकरणों में वात और पित्त को भी अग्नि के मन्द होने में हेतु कहा ही है। यथा, चरकाचार्य ने ज्वर, अतिसार तथा ग्रहणी का निदान वात, पित्त और कफ तीनों दोषों के प्रकोपानुसार पृथक्-पृथक् बताते हुए प्रत्येक दोष से अग्नि की मन्दता किस-किस प्रकार हुआ करती है यह प्रतिपादित किया है[1]। उसका समन्वय कर यह सिद्धान्त स्थापित करना सुगम हो सकता है कि, तीनों हीं दोष अपने-अपने ढंग से अग्नि को मन्द किया करते हैं। तथापि काश्यप ने कण्ठरव से प्रत्येक दोष द्वारा अग्नि के मन्द होने का उल्लेख किया है।

अम्ल पित्त के विषय में अब तक जो विवेचन इस लेखमाला में किया गया है उसके प्रकाश में काश्यप का अम्ल-पित्त-चिकित्सताध्याय (खिलस्थान, अ० १६, पृ० ३०५-३०८) को समझने का मार्ग प्रशस्त हो गया कहा जा सकता है।

आरम्भ में अम्लपित्त के हेतुभूत अग्निमान्द्य के भी मूलभूत वातादि दोषों के प्रकोप के कारणों का उपन्यास करते महर्षि काश्यप कहते हैं :

> विरुद्धाध्यशनाजीर्णादामे चामे च पूरणात्।
> पिष्टान्नानामपक्वानां मद्यानां गोरसस्य च॥
> गुर्वभिष्यन्दि भोज्यानां वेगानां धारणस्य च।
> अत्युष्णस्निग्धरूक्षाम्लद्रवाणामति सेवनात्[2]॥
> फाणितेक्षुविकाराणां कुलत्थानां च शीलनात्।
> भृष्टधान्यपुलाकानां पृथुकानां तथैव च॥
> भुक्त्वा भुक्त्वा दिवास्वप्नादतिस्नानावगाहनात्।
> अन्तरोदकपानाच्च भुक्तपर्युषिताशनात्॥

१—अभोजन शब्द से सर्वथा अनशन किंवा अल्प भोजन अर्थ व्याकरणानुसार ग्राह्य है। इन कारणों से अग्नि अथवा पित्त के पोषक (घटक) द्रव्य उपलब्ध न होने से अग्नि मन्द होता है।

[1] तीनों प्रकरणों में आई यह स्थापना, विशेष ध्यान खेंचने-वाली है कि, पित्त का स्वभाव पाचक होते हुए भी वह अग्नि को मन्द किस प्रकार करता है।

[2] 'अतिसेवनात्' का संबन्ध 'पिष्टान्नानाम्' से 'द्रवाणाम्' पर्यन्त प्रत्येक साथ है।

विरुद्ध भोजन, अध्यशन, अजीर्ण, आम, आमावस्था में भोजन ; पिष्टान्न (आटे के बने कल्प), अपक्व (कच्चे) अन्नपान, मद्य, दूध, गुरु, अभिष्यन्दी भोजन, वेगावरोध, अति उष्ण, स्निग्ध, रूक्ष, अम्ल और द्रव द्रव्यों का अतियोग ; फाणित (ढीला गुड़), गन्ने के रस के बने पदार्थ और कुलत्थ इनका निरन्तर सेवन, भूँजे धान्य, पुलाक (भाफ से पकाए धान्य), पृथुक (चिवड़ा), दिन में खाने के पश्चात् सोने का स्वभाव, अति परिषेक (शरीर पर पानी उंडेल कर स्नान), अवगाहन (जलाशय आदि में डुबकी लगा कर स्नान), मध्य में (?) जलपान और वासी भोजन—इन कारणों से,

वातादयः प्रकुप्यन्ति, तेषामन्यतमो यदा ।
मन्दीकरोति कायाग्निमग्नौ मार्दवमागते ।।

वातादि दोषों का प्रकोप होता है। इनमें से किसी भी दोष के कारण जठराग्नि मन्द हो जाए और इस प्रकार अग्नि के मन्द होने पर भी—

एतान्येव तथा भूयः सेवमानस्य दुर्मतेः ।
यत्किञ्चिदशितं पीतं देहिनस्तद्धि दह्यति ।।
विदग्धं शुक्ततां याति शुक्तमामाशये स्थितम् ।
तदम्लपित्तमित्याहुर्भूयिष्ठं पित्तदूषणात् ।।

दुर्बुद्धि (प्रज्ञापराधशील) पुरुष इन्हीं प्रकार के दोष-प्रकोपक आहार-विहार का सेवन चालू ही रखे तो परिणाम यह होता है कि, वह जो भी अन्नपान ग्रहण करता है उसका विदाह (अम्लीभाव) ही हो जाता है। अम्लीभूत यह अन्नपान शुक्त रूप को प्राप्त होता है। शुक्तभाव को प्राप्त यह अन्नपान आम-पच्यमानाशय में स्थित हो अम्लपित्त नाम धारण करता है। इस विकृति में पित्त की अत्यधिक दुष्टि होती है, अतः इसे अम्लपित्त नाम दिया गया है।

जन्तोर्यदनुबध्नाति लौल्यादनियतात्मनः ।।

यह रोग अजितेन्द्रिय पुरुषों को जिह्वालौल्य के कारण पीड़ित किया करता है।

ऊपर 'सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते' इस चरक-वचनानुसार कहा है कि, शुक्तपाक एक बार आरम्भ हुआ कि रोगी जो कुछ भी खाता है उसका विदाह ही हो जाता है। ऊपर 'यत्किञ्चिदशितं पीतं देहिनस्तद्धि दह्यति' इस वचन द्वारा काश्यप ने भी यही कहा है। परिस्थिति यह होने के कारण ही अम्लपित्त का श्रेष्ठ उपचार वमन और विरेचन द्वारा पूर्वसंचित दोष की प्रथम शुद्धि करता है। आगे इस विषय को अधिक [illegible] हैं।

अविशुष्के यथा क्षीरं प्रक्षिप्तं दधिभाजने ।
क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्चीभावं च गच्छति ।।
रसधातौ तथा व्यम्ले भुक्तं भुक्तं विदह्यते ।

जैसे दही का पात्र भीना हो और उसमें दूध छोड़ा जाए तो वह तत्काल अम्ल हो कर कूर्चरूप (?) को प्राप्त होता है, वैसे अम्लपित्तपीड़ित पुरुष का रसधातु भी अति अम्ल होने के कारण वह जो कुछ भी खानपान करता है उसका विदाह ही हो जाता है।

यहाँ जिस रसधातु का निर्देश किया है वह भुक्त अन्नपान को विदग्ध करनेवाला होने से अन्नरस ही है। तथापि, इस अन्नरस की अम्लता से स्वयं पोष्य रसधातु की भी दुष्टि हो कर उसमें अम्लत्व आता है। इस अम्लत्व के कारण क्लम यह सार्वदेहिक लक्षण अम्लपित्त में विशेष होता है।[1] आधुनिकों ने भी श्रम-क्लम (फटीग) का कारण अम्ल-विशेष (लेक्टिक एसिड) को बताया है। विदग्धाजीर्ण या अम्लपित्त में जो सेन्द्रिय अम्ल द्रव्य शुक्तपाक हो कर उत्पन्न होते हैं उनमें एक लेक्टिक एसिड (तक्राम्ल) भी है।

व्यवसाय की दृष्टि से श्रम-क्लम की यह संप्राप्ति अतीव स्मरणीय है। इस विकृति से पीड़ित व्यक्ति चिकित्सक के पास दौर्बल्य (अशक्ति, कमजोरी) की व्यथा ले कर आता है। ऐसे व्यक्ति को बल्य आहारौषध देने से विशेष परिणाम नहीं आता। अम्लपित्त को लक्ष्य में रख अम्ल का वमन-विरेचन द्वारा शोधन, एवं विशेषतया शङ्ख, कपर्द, सर्जक्षार आदि अम्ल को मधुर (न्यूट्रल) कर शान्त करनेवाले द्रव्यों का उपयोग किया जाए तो नियत कार्य-सिद्धि होती है।

---

[1] १—**क्लम** और **श्रम** ये दो संज्ञाएँ विद्यार्थी को व्यामोह में डालनेवाली हैं। निश्चेष्टावस्था में भी थकावट प्रतीत होना क्लम (एग्ज़ोशन) कहाता है, जब कि शरीर चेष्टा करने से जो थकावट होती है उसे श्रम कहते हैं। यों तो शारीरिक चेष्टा से सभी को श्रम की प्रतीति होती है, तथापि रोग-वाचक श्रम शब्द से यह समझना चाहिए कि, कोई पुरुष पहले जितनी चेष्टा (मेहनत) करने पर थकावट अनुभव करता था, वही अब पूर्वापेक्षया अल्पतर चेष्टा करने से थकावट का अनुभव करे तो इसे श्रम कहा जाता है।

किं बहुना, अम्लपित्त के निदान और संप्राप्ति का निर्देश कर प्राकृत अवस्था में अग्नि किस प्रकार क्रिया करता है इस बात का निर्देश उचित मान कर तन्त्रकार आगे कहते हैं—

अव्यापन्ने त्वधिष्ठाने जाग्रतः स्वपतोऽपि वा ।
प्रेर्यमाणः समानेन प्रश्वासोच्छ्वासयोगतः ।।
धम्यमान उदानेन सम्यक् पचति पावकः ।

अग्नि का अधिष्ठान अविकृत हो—दोषों से आवृत न हो—तो पुरुष जागता हो या सोता, समान वायु अग्नि को उद्दीप्त (प्रेरित, संधुक्षित) करता रहता है तथा प्रश्वास और उच्छ्वास के द्वारा उदान वायु भी अग्नि का प्रधमन (धौंकनी से जैसे अग्नि को प्रदीप्त किया जाता है उस प्रकार प्रदीपन) करता है। परिणामतया, अग्नि अन्नपान का सम्यक् पचन करता है।

इत्युद्दिष्टं समुत्थानं, लिङ्गं वक्ष्याम्यतः परम् ।।

इस प्रकार अम्लपित्त के कारणों तथा उत्पत्ति-क्रम का उल्लेख हुआ। अब उसके लक्षणों का निर्देश करते हैं। लक्षणों के निर्देश के क्रम में प्रथम सामान्य लक्षण तन्त्रकार ने दिए हैं, पश्चात् दोष-भेद से पृथक् लक्षणों का उल्लेख किया है।

विड्भेदो गुरुकोष्ठत्वमम्लोत्क्लेशः शिरोरुजा ।
हृच्छूलमुदराध्मानमङ्गसादोऽन्त्र कूजनम् ।।
कण्ठोरसी विदह्येते रोमहर्षश्च जायते ।
सामान्यलक्षणं त्वेतद्विशेषश्चोपदेक्ष्यते ।।

द्रवमल प्रवृत्ति, कोष्ठ की गुरुता (पेट में भारीपन), अम्लोद्गार, शिरोरुजा, हृच्छूल, उदर में आध्मान, अङ्गसाद, अन्त्रकूजन (पेट में गुड़गुड़ी), छाती तथा कण्ठ में दाह और रोमहर्ष ये अम्लपित्त के सामान्य लक्षण हैं।

दोष-भेद से अम्लपित्त के विशिष्ट लक्षण अधोलिखित हैं-

वाताच्छूलाङ्गसादौ च जृम्भा स्निग्धोपशायिता ।
पित्ताद् भ्रमो विदाहश्च स्वादुशीतोपशायिता ।।
कफाद् गुरुत्वं छर्दिश्च स्याद् रूक्षोष्णोपशायिता ।।

वात के कारण (वात प्रधान अम्लपित्त में) शूल, अङ्गसाद, जृम्भा तथा स्निग्ध भोजन से लक्षणों की शान्ति (उपशय) ये विशिष्ट लक्षण होते हैं। पित्त के कारण (अम्लपित्त में पित्त का इतर दोषाधिक परिमाण होने पर) भ्रम, कुक्षिहृत्कण्ठदाह एवं मधुर तथा शीत द्रव्यों का उपशय होना—ये लक्षण होते हैं। कफ के कारण (उदर और शरीर में) गौरव, छर्दि तथा रूक्ष और उष्ण पदार्थ उपशय होना —ये विशिष्ट लक्षण होते हैं।

सत्य है कि, इन लक्षणों में वैसी नवीनता नहीं तथापि अम्लपित्त के प्रकरण में इन पद्यों को भी दृष्टिगत रखना चाहिए।

सचित्र आयुर्वेद के लेखकों को सूचना

सचित्र आयुर्वेद के लेखकों को सूचित किया जाता है कि वे अपनी रचनाएं हमेशा स्पष्ट अक्षरों में स्याही से लिखकर भेजें। पेन्सिल से लिखी रचनाओं को स्थान नहीं दिया जायगा। रचनाएं हमेशा कागज के एक ही ओर लिखी जायं। दोनों ओर लिखित रचनाओं को हम स्वीकार नहीं करेंगे। 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशनार्थ स्वीकृत रचनाओं पर उचित पारिश्रमिक दिया जाता है। ऐसी किसी रचना को हम प्रकाशित नहीं कर सकेंगे, जो अन्यत्र किसी पत्र-पत्रिका में छप गयी हों या प्रकाशनार्थ भेजी गयी हों। लेखकों को चाहिए कि वे अपनी रचनाएं वापस मंगाने के लिए डाक-टिकट अवश्य भेजें।

—सम्पादक।

संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते

वैद्य दामोदर जोशी शास्त्री

आयुर्वेद और उसमें भी भैषज्य कल्पना में 'संस्कार' शब्द का प्रयोग बहुत किया जाता है तथा किसी भी प्रश्न के उत्तर में संस्कार शब्द बहुधा प्रयुक्त हुआ देखा जाता है। अतः प्रस्तुत लेख में संस्कार शब्द का वास्तविक अर्थ, उसके विभिन्न अर्थ, उसका भैषज्य कल्पनाओं के साथ सम्बन्ध आदि बहुत-से प्रश्नों या विषयों पर प्रकाश डालने की चेष्टा की जायगी।

संस्कार शब्द का सामान्य अर्थ

चरक विमानस्थान-१ के अनुसार संस्कार शब्द की सामान्य परिभाषा इस प्रकार है—'संस्कारो हि गुणान्तराधानमुच्यते' अर्थात् गुणान्तराधान ही संस्कार शब्द से कहा जाता है। इसका तात्पर्य यह है कि किसी भी वस्तु पर कोई भी या कैसा भी संस्कार करने से उसमें किसी न किसी प्रकार का विशिष्ट (जो पहले नहीं था) गुण का आधान या उत्पत्ति हो जाती है। और यही (विशिष्ट गुणों का आधान करना) संस्कार का उद्देश्य भी कहा जा सकता है। हमारे आयुर्वेद-शास्त्र में इसी अर्थ में संस्कार शब्द का प्रयोग किया जाता है।

इसके अतिरिक्त लोक-व्यवहार में भी संस्कार शब्द का प्रयोग मिलता है, यथा—यज्ञोपवीत संस्कार, चूड़ाकर्म संस्कार आदि। परन्तु वहाँ भी इसका अर्थ किसी विशिष्ट गुण को उत्पन्न करना ही होता है।

व्युत्पत्ति

संस्क्रियतेऽनेनेति संस्कारः, संस्करणं वा संस्कारः। अर्थात् जिन क्रियाओं द्वारा संस्कार किया जाता है उन सब का संस्कार में समावेश होता है।

संस्कार द्वारा गुणों के आधान का प्रकार

चरक विमान के अनुसार संस्कार द्वारा जो गुणाधान होता है वह इस प्रकार है—

ते गुणास्तोयाग्निसन्निकर्षशौचमन्थनदेशकालवासनभाजनादिभिः काल प्रकर्ष भावनादिभिश्चाधीयन्ते।

(च० वि० १।२२)

संस्कार द्वारा वस्तु या कल्प में जो गुण आते हैं उनके मूल में निम्नाङ्कित भाव तथा क्रियाएँ होती हैं। अर्थात् इन क्रियाओं या भावों द्वारा ही उस वस्तु में नवीन गुणों की उत्पत्ति होती है। वे भाव तथा क्रियाएँ निम्न हैं—

तोयसन्निकर्ष, अग्निसन्निकर्ष, शौच, मन्थन, देश, काल, वासन, भाजन, कालप्रकर्ष और भावना आदि। यहाँ पर आदि शब्द से चक्रपाणि ने पेषण, अभिमन्त्रण आदि क्रियाओं का समावेश किया है।

इन क्रियाओं द्वारा होने वाला गुणाधान उस द्रव्य के प्राकृतिक गुण, जो उस वस्तु की उत्पत्ति के साथ ही उत्पन्न होते हैं, के उपमर्दन या नाश होने पर होता है। यह चक्रपाणि का मत है। यथा—

द्रव्याणामिति वक्तव्ये स्वाभाविकानामितियत्करोति तेनोत्पत्तिकाले जनकभूतैः स्वगुणारोपणं, संस्कारस्तूत्पन्नस्यैव तोयादिना गुणान्तराधानमिति दर्शयति। तच्च प्राकृतगुणोपमर्देनैव क्रियते। (च० वि० १। चक्रपाणि की टीका)।

चरक विमान-१ में एक स्थान पर 'स्वाभाविकानां द्रव्याणामभिसंस्कारः' ऐसा वाक्य लिखा है। वहाँ पर केवल 'द्रव्याणामभिसंस्कारः' ऐसा नहीं लिखा है। इसका तात्पर्य यह है कि उत्पत्ति के समय द्रव्यों में जनक कारणों द्वारा अपने-अपने गुणों का आरोपण किया जाता है और संस्कार द्वारा उत्पत्ति के समय उत्पन्न हुए प्राकृतिक गुणों के उपमर्दन या अभिभव के फलस्वरूप उस द्रव्य में अन्य विशिष्ट गुणों का आधान कराया जाता है। जैसे गुरु द्रव्यों में लघुत्व का और लघु द्रव्यों में गुरुत्व का आधान।

इस प्रकार द्रव्यों के प्राकृतिक गुणों में जो परिवर्तन होता है उसके लिए उपर्युक्त एक, दो, तीन या अधिक क्रियाओं या भावों का होना आवश्यक होता है, जो निम्न उदाहरणों से स्पष्ट हो जायगा। यथा—

(१) तोयाग्निसन्निकर्षशौचैस्तण्डुलस्थं गौरवमुपहृत्य लाघवमन्ने क्रियते—सुधौतः प्रस्रुतः स्विन्नः संतप्तश्चोदनो

लघुः। च० सू० २६। तथा रक्तशाल्यादेर्लघोरपि अग्नि संयोगादिना लाघवं बर्धते।

(२) मन्थनाद्गुणाधानं यथा—शोथकृद्दधिशोथघ्नंस-स्नेहमपिमन्थनात्।

(३) देशेन गुणाधानं यथा—भस्मराशेरधः स्थापयेत्।

(४) वासनेन गुणाधानं यथा—अपामुत्पलादि वासनेन सुगन्धानुकरणम्।

(५) स्वरसादिकृतया भावनया च आमलकादेर्गुणोत्कर्षो भवति।

(६) कालप्रकर्षाद्गुणाधानं यथा—पक्षाज्जात रसं पिवेत्।

(७) भाजनेन गुणाधानं यथा—त्रैफलेनायसीं पात्रीं कल्केनालेपयेत्पुनः। इति

इन सब को देखने से यह ज्ञात होता है कि औषध द्रव्यों को शरीरोपयोगी बनाने के लिए जो विभिन्न प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं तथा आदिकाल से लेकर आज तक जिन विभिन्न प्रकार की कल्पनाओं का विकास हुआ है उसका मूलभूत सूत्र यही 'संस्कार द्वारा गुणान्तराधान' मालूम होता है।

संस्कार के उपर्युक्त गुणाधान उद्देश्य के अतिरिक्त एक दूसरा भी उद्देश्य है। वह है 'दोषों का दूर करना'। इसी उद्देश्य को सामने रख कर पारद के संस्कारों की कल्पना की गई होगी। यद्यपि संस्कार से पारद के दोष ही दूर नहीं होते प्रत्युत् उसमें गुणाधान भी होते हैं। यथा—दीपन संस्कार द्वारा पारद का बुभुक्षित या ग्रासार्थी बनना यह बात संस्कार शब्द से स्वतः सिद्ध होती है।

संस्कार और कल्पनाओं का सम्बन्ध

ऊपर यह कहा गया है कि संस्कार द्वारा वस्तु में अन्य विशिष्ट गुणों का आधान होता है। और कल्पनाएँ भी विशिष्ट गुणों की उत्पत्ति के लिए ही की जाती हैं। अतएव ये परस्पर एक दूसरे से सम्बद्ध हैं? या इनका परस्पर कोई सम्बन्ध ही नहीं है? इस प्रश्न पर हमारा मत यह है कि कल्पना और संस्कार एक दूसरे से पूर्णतया सम्बद्ध और अन्योन्याश्रित हैं, क्योंकि द्रव्यों की विभिन्न कल्पना करते समय जो क्रियाएँ की जाती हैं या जिन भावों की उपस्थिति प्रभाव डालती है—वे ही क्रियाएँ और भाव 'संस्कार' द्वारा उत्पन्न गुणों के लिए भी उत्तरदायी या कारणभूत माने गए हैं। अर्थात् दोनों का मूल कारण एक ही है। केवल व्यवहार में कल्पना और संस्कार-इन दो अलग-अलग शब्दों का प्रयोग किया जाता है।

विविध कल्पनाओं की आवश्यकता

जहाँ तक औषध-द्रव्यों की विविध कल्पनाओं का प्रश्न है, उसका समाधान भी संस्कार के प्रथम उद्देश्य 'गुणान्तराधान' से हो जाता है। अर्थात् एक ही द्रव्य की विविध प्रकार की कल्पनाएँ करने से एक ही द्रव्य का हम भिन्न-भिन्न प्रकार के रोगों तथा रोगियों में कल्पना द्वारा विशिष्ट गुण की उत्पत्ति के कारण प्रयोग कर सकते हैं। उदाहरण के लिए हम किसी एक ही द्रव्य का स्वरस और चूर्ण दोनों रूप में प्रयोग भिन्न-भिन्न रोगों तथा रोगियों में कर सकते हैं। क्योंकि स्वरस कल्पना चूर्ण की अपेक्षा अधिक सारवान होने से गुरु बताई गई है। अतएव, जहाँ शीघ्रता या तीव्रता होगी वहाँ उस द्रव्य का स्वरस कल्पना के रूप में प्रयोग अधिक लाभकर सिद्ध होगा तथा जहाँ उस द्रव्य की सामान्य क्रिया ही अपेक्षित होगी वहाँ उस द्रव्य का चूर्ण कल्पना के रूप में किया गया उपयोग अधिक लाभकर सिद्ध होगा।

(२) विविध प्रकार की कल्पनाओं का दूसरा कारण 'भिन्न-भिन्न प्रकार के द्रव्यों में से उनमें रहनेवाला क्रियाशील घटक या तत्व प्राप्त करना' है। यथा—कुछ द्रव्य जल विलेय, कुछ स्नेह विलेय और कुछ मद्य विलेय होते हैं। अतएव, जल विलेय द्रव्यों की क्वाथ, शीतकषाय, मन्थ या फाण्ट कल्पनाएँ, स्नेह विलेय द्रव्यों की तैलपाक, घृतपाक आदि कल्पनाएँ तथा मद्यविलेय द्रव्यों की आसव, अरिष्ट या सन्धानवर्ग की अन्य किसी प्रकार की कल्पना करना आवश्यक होता है, क्योंकि विना इनके इन द्रव्यों से क्रियाशील तत्व प्राप्त नहीं किया जा सकता।

(३) कल्पनाओं की विविधता का तीसरा कारण 'द्रव्यों के क्रियाशील अंश को अधिक काल तक अविकृत रूप में स्थिर रखना' है। यथा—बहुत-से द्रव्यों का उपयोगी कार्यकर तत्व क्वाथ में आ जाता है, परन्तु यह क्वाथ २४ घण्टे से अधिक काल तक रखने से विकृत हो जाता है। अतएव, इस क्वाथ की रसक्रिया-घनवटी-अवलेह आदि कल्पनाओं की आवश्यकता होती है और इसी प्रकार हिम, फाण्ट आदि की शार्कर (सर्बत) कल्पना बनाना आवश्यक

होता है, जिससे कि वे कल्प बहुत काल तक बिना किसी प्रकार की विकृति के सुरक्षित रह सकें।

(४) विविधता का चौथा कारण 'उस द्रव्य का कम-से-कम मात्रा में उपयोग करने पर भी अधिक-से-अधिक लाभ प्राप्त करना, तथा रोगी को सेवन करते समय उससे किसी प्रकार की अरुचि या ग्लानि का अनुभव न होना है। यथा—आसव-अरिष्ट-अवलेह-रसयोग तथा भस्में।

कल्पनाओं की विविधता के इन प्रधान कारणों के अतिरिक्त और भी छोटे-मोटे बहुत-से कारण हैं जिनका वर्णन निम्न है, यथा—

मात्रावल्लघुपाकं च हृद्यं दोषप्रवाहणम्।
अल्पपेयं महावीर्यं प्रीणनं बलरक्षणम्॥
व्यापत्तावल्पदोषं च मन्दग्लापनमेव च।
संस्कारगुणसम्पन्नं राजार्हं भेषजं मतम्॥
—का० सं० खि० ३

अर्थात् उपर्युक्त गुणोंवाली औषध (औषधकल्क) उत्तम या राजार्ह मानी जाती है। या यों भी कहा जा सकता है कि उपर्युक्त सभी गुणों की प्राप्ति के लिए ही औषध द्रव्यों की भिन्न-भिन्न प्रकार की कल्पनाएँ की जाती हैं।

मूलभूत कल्पनाएँ

जहाँ तक इन विविध कल्पनाओं की मूलभूत कल्पनाओं का प्रश्न है—वैदिक साहित्य और आ० संहिताओं के देखने से यह कहा जा सकता है कि सर्वप्रथम आचार्यों ने पञ्चविध कषाय कल्पनाओं का ही आविष्कार किया तथा समय, आवश्यकता और उपयोगिता के अनुसार एवं पूर्वोक्त उद्देश्यों की पूर्त्ति के लिए इन्हीं से अन्य विविध कल्पनाओं का विकास किया या हुआ।

चरकानुसार पञ्चविध कषाय कल्पनाएँ स्वरस-कल्क-शृत-शीत और फाण्ट मानी जाती है। इनमें संस्कार द्वारा किस प्रकार गुणाधान होता है? और एक के रहते हुए दूसरी की क्या आवश्यकता थी? आदि पर हम अपने विचार प्रस्तुत करेंगे।

प्रत्येक का विचार करने के पूर्व आचार्यों ने इनकी संख्या ५ ही क्यों रखी; ४ या ६ क्यों नहीं की, इस पर कुछ प्रकाश डाला जायगा।

चरक संहिता में जहाँ इनका उपदेश किया गया है वहाँ पर केवल 'पञ्चविध कल्पना' न कह कर 'पञ्चविध कषाय कल्पना' इस शब्द का प्रयोग किया गया है। अतएव यहाँ का कषाय शब्द विशिष्ट अर्थ का सूचक मालूम होता है।

कषाय शब्द के सामान्य अर्थ

सामान्य रूप से कषाय शब्द से निम्न अर्थों का बोध होता है यथा—

(१) कषाय रस
(२) क्वाथ या शृत
(३) सामान्य औषध द्रव्य और
(४) सभी औषधयोग यथा—

कण्ठस्य कषणात् प्रायो रोगाणां चापि कर्षणात्।
कषाय शब्दः प्राधान्यात् सर्वयोगेषु कल्प्यते॥
—का० सं० खि० ३

परन्तु यहाँ पर कषाय शब्द इन उपर्युक्त अर्थों में से किसी भी अर्थ में प्रयुक्त नहीं हुआ है, प्रत्युत् विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कषाय शब्द के विशिष्ट अर्थ को बताने से पूर्व यहाँ का 'पञ्चविध' शब्द 'पञ्चकषाययोनयः' इस पर आधारित है। और इसीलिए यहाँ कषाय शब्द के स्थान पर इसके पर्यायवाची औषध या द्रव्य शब्द का प्रयोग न करके गूढ़ार्थ के सूचनार्थ कषाय शब्द का ही प्रयोग किया गया है। चरक में इसके पूर्व के वाक्य में कषाय (अर्थात् औषधार्थ व्यवहृत होनेवाली औषधियों) की योनियाँ ५ ही होती हैं ऐसा उनमें रहनेवाले रसों के आधार पर बताया गया है। अर्थात् रसों के ६ होने पर भी और रसानुसार औषध द्रव्यों के ६ वर्ग होने पर भी औषध कल्पना की दृष्टि से ५ ही रस औषध द्रव्यों के उत्पादक माने जाते हैं यथा—'पंच कषाय योनयः' इति। यद्यपि यह स्वतः के वाक्यों के भी विरुद्ध है, फिर भी शास्त्रकार ने इस प्रकार का जो वाक्य इस प्रकरण में लिखा है वह भूल से नहीं प्रत्युत् पूर्ण विचार के साथ लिखा है। जिससे यह सिद्ध है कि यहाँ का कषाय शब्द भेषजत्वेन प्रयुक्त किए जाने वाले रसों के लिए ही प्रयुक्त किया गया है।

भेषजत्वेन लवण को छोड़ कर शेष ५ रसों का ही शास्त्र में प्रयोग देखा जाता है, स्वतन्त्र लवण रस का भेषजत्वेन कहीं प्रयोग नहीं मिलता—प्रत्युत् सर्वत्र ही इसका अन्य रसों या द्रव्यों के साथ ही प्रयोग उपलब्ध होता है। इसका कारण यह है कि केवल लवण की न कोई स्वरस-कल्क-चूर्णादि स्वतन्त्र कल्पना ही की जा सकती और न किसी भी

वनस्पति में प्रधान रूप में केवल लवण रस ही मिलता। उसके अन्तरिक्त मधरादि रसों की स्वतन्त्र कल्पनाएं भी की जा सकती हैं तथा द्रव्यों में भी वे केवल एवं प्रधान रूप में मिलते हैं। इसीलिए इन शेष (लवणवर्ज्य) ५ रसों को ही 'कषाययोनि' यह संज्ञा दी गई-लवण को नहीं।

यह सब सत्य होने पर भी कुछ लोगों का ऐसा मन्तव्य है कि लवण रस की अन्य कल्पानाएँ न बन सकने पर भी लवण का चूर्ण तो बनाया ही जा सकता है और चूर्ण को कल्क का एक भेद माना जाता है अतएव, यह कहना कि लवण की पंचविध कषाय कल्पनाओं में से कोई कल्पना नहीं बन सकती ठीक नहीं है।

इस पर हमारा ऐसा मन्तव्य है कि जब हम किसी द्रव्य की कोई कल्पना करते हैं तो हमारा उद्देश्य उस द्रव्य में किसी विशिष्ट गुण की उत्पत्ति या आधान करना होता है। यह सत्य है कि लवण का चूर्ण बनाया जा सकता है, परन्तु उस चूर्ण के बनाने से लवण में कोई विशेषता नहीं आती। बल्कि वह जैसा चूर्ण बनाने के पूर्व था वैसा ही बाद में भी रहता है। इसी प्रकार लवण की शृत-शीत और फाण्ट कल्पनाएँ करने का भी कोई अर्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि जब द्रव्य के सभी भागों का उपयोग न करना हो तब इनमें से आवश्यकतानुसार किसी भी कल्पना का प्रयोग किया जाता है। परन्तु लवण की ये कल्पनाएँ करने पर सम्पूर्ण लवण का घोल बन कर वह पूर्णतया द्रव बन जाता है बिना किसी विशिष्ट गुण की उत्पत्ति के। अतएव, लवण को छोड़ कर शेष ५ रसों के आधार पर जो ५ कषाय योनियाँ और ५ कषाय कल्पनाएँ की गई हैं वे पूर्णतया सार्थक हैं तथा लवण का उनमें सम्मिलित न किया जाना उचित प्रतीत होता है।

मूलभूत कषाय कल्पनाओं का विवेचन

(१) **स्वरस कल्पना** में पेषण और पीड़न द्वारा द्रव्य का सार भाग (मय अंश) पृथक् किया जाता है। यह कल्पना उन द्रव्यों की जाती है जिनका क्रियाशील तत्व उस द्रव्य के अन्य अङ्गों की अपेक्षा स्वरस में ही अधिक मात्रा में मिलता है। या जिनके काष्ठमय भाग का उपयोग करना हमें अभीष्ट नहीं होता। इसके अतिरिक्त जब हमें द्रव्य के क्रियाशील तत्व की द्रव रूप में आवश्यकता होती है या जब हमें शास्त्र में अमुक द्रव्य के स्वरस का ही अमुक कार्य के लिए ग्रहण करने का निर्देश मिलता है तब हम उ द्रव्य की स्वरस कल्पना करते हैं। यथा—रसायनार्थ मण्डूकपर्णी का स्वरस ही प्रयुक्त किया जाना चाहिए, ऐसा शास्त्र का निर्देश है यथा—'मण्डूकपर्ण्याः स्वरस: प्रयोज्यः' इति। (च० चि० १)

(२) **कल्क कल्पना** में उस द्रव्य को पीस कर ज मिला कर उसकी चटनी जैसी बनाते हैं। यह कल्पना उन द्रव्यों की की जाती हैं जिन द्रव्यों के सभी क्रियाशील तत्व स्वरस में उपस्थित नहीं रहते या नहीं आ सकते, किन्तु कल्क के रूप में प्राप्त हो सकते हैं। अतएव, स्वरस के पश्चात् इस कल्पना का आविष्कार किया गया। इस कल्पना द्वारा हमें द्रव्य के सारमय और काष्ठमय दोनों अंशों की प्राप्ति होती है। फलतः यह कल्पना स्वरस की अपेक्षा लघु और कम शक्तिशाली होती है। इसके अतिरिक्त जब शास्त्र में किसी द्रव्य के कल्क के प्रयोग का निर्देश मिलता है तब भी हम उस द्रव्य की कल्क कल्पना बनाते हैं। यथा-शंखपुष्पी का रसायनार्थ कल्क के रूप में ही प्रयोग करना चाहिए ऐसा शास्त्र का वचन है यथा—

कल्कः प्रयोज्यः खलु शंखपुष्प्याः। च०चि० १(३-४-५)

शृत-शीत और फाण्ट कल्पना—इनमें द्रव्य क यवकुट चूर्ण बना उसमें निश्चित प्रमाण में ज डाल कर निश्चित जल के अवशेष रहने तक या निश्चि समय तक रख कर द्रव्य का सार भाग (क्रियाशील तत्व) प्राप्त किया जाता है। ये कल्पनाएँ उन द्रव्यों की की जा हैं जिनका केवल सारमय भाग ही हमें अपेक्षित होता है किन्तु जिनका स्वरस प्राप्त नहीं किया जा सकता। इ अतिरिक्त ऐसे द्रव्य जिनका क्रियाशील तत्व जल में वि होता है साथ ही उष्णता से नष्ट भी नहीं होता प्रत्युत अ मात्रा में और शीघ्रतया प्राप्त किया जा सकता है अ Thermostable होता है, उनकी क्वाथ (शृत) क की जाती है। इसमें गुणान्तराधान के लिए तोया सन्निकर्ष और काल का विशेष महत्व है। प्रथम क के लिए द्रव्य का स्थूल चूर्ण बनाना चाहिए। ताकि द्रव्य के अधिकतम भाग या तन्तुओं का जल के साथ हो सके, जिससे उनमें रहने वाला क्रियाशील तत्व अ से अधिक मात्रा में जल में अनुप्रविष्ट हो सके। के पश्चात् उस द्रव्य में निश्चित प्रमाण में जल डाल कर उबलता रहे, इतनी अग्नि निश्चित काल तक या निश्चि

जल राशि शेष रहने तक दे कर मसल कर छान लिया जाता है और शेष काष्ठ भाग फेंक दिया जाता है। इसमें द्रव्य के मृदु-मध्य और कठिन होने के अनुसार क्रमशः चतुर्गुण, अष्टगुण या षोडश गुण जल डाल कर चतुर्थांश या अष्टमांश शेष रखा जाता है। ताकि कठिन द्रव्य अधिक काल तक जल और अग्नि के सम्पर्क का लाभ उठा सकें।

फाण्ट और शीत कषाय कल्पनाओं में क्वाथ की अपेक्षा भेद केवल इतना है कि फाण्ट में अग्नि सन्निकर्ष बहुत कम समय तक कराया जाता है, ताकि द्रव्य के गन्धवाले अंश (उड़नशील तैल) आदि ताप से उड़ कर नष्ट न हो जायँ। साथ ही इसमें जल का प्रमाण भी क्वाथ की अपेक्षा अल्प होता है, अतः तोयसन्निकर्ष भी अल्प काल के लिए ही होता है। शीत कषाय में अग्निसन्निकर्ष कराया ही नहीं जाता। इसमें केवल द्रव्य का मोटा-मोटा चूर्ण बना कर निश्चित प्रमाण में जल डाल कर निश्चित समय तक रख कर मसल कर छान लिया जाता है। इसके आविष्कार का प्रधान हेतु यह है कि जिन द्रव्यों के क्रियाशील तत्व जल विलेय होते हुए भी उड़नशील होते हैं, अर्थात् उन्हें यदि अग्नि पर कुछ समय तक रखा गया तो वे उड़ कर नष्ट हो जाते हैं। अतः उन्हें नष्ट न होने देने के लिए यह कल्पना की जाती है।

फाण्ट और शीत कषाय में भेद यह है कि फाण्ट की अपेक्षा शीतकषाय शीतवीर्य होने से जहाँ शीत गुण की अधिक आवश्यकता होती है वहाँ इस प्रकार के कषाय का प्रयोग अधिक लाभकर होता है। अतएव, उड़नशील तत्ववाले द्रव्यों के लिए इन दोनों कल्पनाओं का आविष्कार किया गया है।

इन उपर्युक्त पाँचों कल्पनाओं में तोयसन्निकर्ष प्रधान है अर्थात् ये पाँचों कल्प जल के माध्यम से बनाए जाते हैं। किन्तु बहुत-से द्रव्यों के क्रियाशील तत्व स्नेहविलेय और बहुत से द्रव्यों के मद्यविलेय होते हैं। अतएव, उनके लिए हमारे यहाँ तैलपाक-घृतपाक और आसव-अरिष्ट आदि कल्पनाएँ बनाई गई हैं या आविष्कृत की गई हैं। इन कल्पनाओं के दो प्रधान लाभ हमें दिखाई देते हैं। यथा—(१) उनके क्रियाशील तत्वों का प्राप्त करना और (२) अधिक काल तक रखने पर भी विकृत न होना।

इनके अतिरिक्त और भी बहुत-सी कल्पनाएँ हमारे यहाँ मिलती हैं। जिन सभी का आविष्कार पूर्वोक्त किसी-न-किसी उद्देश्य को ले कर तथा उनमें विशिष्ट प्रकार के गुणों का आधान कराने के लिए ही किया गया है यह निर्विवाद सत्य है। जिनका आगे के लेखों में क्रमशः विवेचन किया जायगा। (सावशेष)

बैद्यनाथ बंग भस्म

असंयम से पैदा होनेवाले रोगों तथा दुर्बलता को दूर कर शरीर को ताकत देती है। विशेष जानकारी के लिए वैद्य से सलाह लें।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

मधुमक्खी-दंश का चिकित्सा में उपयोग

वैद्य चन्द्रप्रकाश दीक्षित, बी० ए० बी० आई० एम० एस०

बहुत प्राचीन काल से ही मधु का उपयोग चिकित्सा में हो रहा है। किन्तु इस बात को कम व्यक्ति जानते हैं कि मधुमक्खी के विष का प्रयोग भी चिकित्सा-क्षेत्र में उतना ही प्राचीन है। यद्यपि अभी कोई निश्चित सिद्धान्त खोज कर नहीं निकाला गया है जो मधुमक्खी विष के चिकित्सा में लाभ पहुँचानेवाले गुणों का स्पष्टीकरण कर सके; फिर भी इस ओर प्रयत्न हो रहे हैं और पर्याप्त रूप से चिकित्सा में मधुमक्खी-विष का प्रयोग होने लगा है।

परिचय——मधुमक्खी-विष एक पारदर्शक, मधु सदृश गन्धयुक्त स्वाद में तिक्त पदार्थ है। नीले लिटमस पर यदि इसकी बूँद डालें तो उसका रंग लाल हो जायेगा जिससे यह सिद्ध होता है कि इसकी प्रतिक्रिया अम्ल है। यह तीव्र स्वरूप का विसंक्रामक (एन्टीसेप्टिक) माना गया है।

साधारणतया ५ से १० तक दंश मनुष्य सहन कर सकता है। केवल स्थानिक शोथ, लालिमा, दाह होते हैं जो धीरे-धीरे कम हो कर २४ घण्टे में समाप्त हो जाते हैं। २००, ३०० दंश यदि एक साथ हों तो तत्स्थानीय अंगों की विशेष क्षति, पक्षाघात तक, हो सकती है। ५०० दंश एक साथ होने पर घातक होते हैं। कुछ व्यक्तियों को एक दंश से ही पर्याप्त उपद्रव होने लगते हैं जैसे शिरःशूल, मधुमक्खी पालने वाले व्यक्ति धीरे-धीरे सात्म्य कर लेते हैं।

प्रयोग——मधुमक्खी विष का सर्वोत्तम प्रयोग आमवात (Rheumatic Fever) में किया जाता है। वर्षों की चिकित्सा करने पर भी जिन व्यक्तियों को लाभ नहीं हुआ उन्हें इस विष चिकित्सा से लाभ पहुँचा है। इसके अतिरिक्त नाड़ी संस्थानगत रोग जैसे गृध्रसी, Trigeminal neuralgia नाड़ी अग्र शोथ में भी यह लाभप्रद सिद्ध हुआ है। त्वचा के रोगों विशेष कर मुख पर होने वाली झाँईं या रूसी आदि आदि में विशेष लाभ हुआ है। मलेरिया नेत्र के कुछ रोग, ब्लडप्रेशर पर भी सफल प्रयोग किये गये हैं।

विधि——मधुमक्खी दंश का प्रयोग कराने के लिए किसी विशेष चतुराई की आवश्यकता नहीं है। मधुमक्खी को एक विशेष प्रकार की चिमटी से पकड़ कर शरीर के निश्चित स्थान पर दंश कराया जाता है। दंश स्थान को पहले गरम पानी व साबुन से स्वच्छ कर लेना चाहिये, स्प्रिट का प्रयोग नहीं करना चाहिये। दंश के बाद मधुमक्खी उड़ जाती है और दंश स्थान पर अपना दंश यन्त्र छोड़ जाती है। यह दंश यन्त्र कई बार संकुचित हो कर सम्पूर्ण विष को शरीर में प्रवेश कर देता है। यह प्रक्रिया बिल्कुल स्पष्ट दिखाई देती है। इसके बाद दंशयन्त्र को निकाल कर फेंक देना चाहिये। रोगी को पहले दिन एक, दूसरे दिन दो, तीसरे दिन तीन इस तरह मक्खियों की संख्या १० तक बढ़ानी चाहिये। इस प्रकार १० वें दिन रोगी को १० मक्खी दंश करानी चाहिये। कुल मिला कर ५५ दंश हुए। इसके बाद ५ दिन आराम करने देना चाहिये। और दुबारा ३ मक्खी नित्यप्रति के हिसाब से १५० तक दंश कराने चाहिये। यह पूरा एक क्रम है। यदि इससे बिल्कुल लाभ न दिखाई पड़े तो चिकित्सा बन्द कर देनी चाहिये और यदि लाभ हो रहा हो कुछ कमी रह गयी हो तो रोगी की शक्ति देख कर २०० तक दंश बढ़ा सकते हैं। जो रोगी इस चिकित्सा के लिए उपयोगी होते हैं उन्हें प्रारम्भ में दंश के परिणाम नहीं होते, किन्तु जैसे-जैसे लाभ होने लगता है वैसे ही दंश स्थान पर लालिमा, शोथ आदि विष के लक्षण प्रकट होने लगते हैं। दंश कहाँ कराना चाहिये इसकी जानकारी प्रत्यक्ष कर्माभ्यास से ही हो सकती है जिसके लिए किसी अभ्यस्त विज्ञ व्यक्ति की सहायता आवश्यक है।

एक विशेष प्रकार के बक्स बने-बनाये मिलते हैं। इनमें १०० मक्खियाँ एक साथ रह सकती हैं, जिनके पोषण का प्रबन्ध भी इस डिब्बे में किया जाता है। इस डिब्बे के द्वार से एक बार में केवल एक मक्खी ही बाहर निकल सकती है। उस निकलनेवाली मक्खी को बड़ी आसानी से चिमटी से पकड़ कर दंश कराया जा सकता है। फिर भी कभी-कभी मक्खी पकड़ते समय ही अपना दंश चला देती है और सम्पूर्ण विष निकाल देती है। इसलिए सावधानी से पकड़ने का अभ्यास होना चाहिये।

अति आधुनिक प्रक्रिया द्वारा मधुमक्खी विष का प्रयोग इंजेक्शन के माध्यम से भी किया जाने लगा है। त्वचागत इंजेक्शन अधिक लाभप्रद होता है यद्यपि त्वचा के नीचे भी तथा मांस में भी इंजेक्शन लगाया जाता है। अधस्त्वक् इंजेक्शन लगाने के लिए विष को परिस्रुत जल अथवा सैलाइन मिला कर हल्का करना पड़ता है और मात्रा भी कम करनी पड़ती है। इंजेक्शन के लिए विशेष प्रकार की सूई काम में आती है।

मुख द्वारा लेने पर मधुमक्खी विष उतना कार्यकर नहीं होता क्योंकि आमाशय में उपस्थित अम्लों के सम्पर्क से इसका प्रभाव नष्ट हो जाता है। मलहम बना कर भी प्रयोग किया जाता है, यद्यपि उतना लाभकर नहीं। विद्युत् की सहायता से सीधे रक्त प्रवाह में प्रवेश करके, एवं नासिका द्वारा वाष्प ग्रहण के माध्यम से भी विष प्रयोग पर तरह-तरह के प्रयोग किये जा रहे हैं।

विष-संचय विधि—विष-संचय करने की अनेक विधि हैं। सब का सूक्ष्म वर्णन यहाँ किया जा सकता है। पहली विधि में मक्खी को चिमटी के द्वारा पंखों अथवा अग्रभाग से पकड़ कर थोड़ी देर में ही दंशयन्त्र पर विष की एक बूँद प्रकट होती है। इस बूँद को किसी शीशे पर अथवा परिस्रुत जल से भरी परीक्षा-नलिका में डुबा देना चाहिये। परिस्रुत जल में विष तुरन्त घुल जाता है। दूसरी विधि में काँच के चौड़े मुँह के पात्र में परिस्रुत जल भरा जाता है, पात्र के मुँह पर पतली झिल्ली जैसा पदार्थ बाँधा जाता है। जब मक्खी इस झिल्ली में काटती है तो उसका दंशयन्त्र पात्र के जल में पहुँच जायेगा और वहाँ अपना सम्पूर्ण विष रिक्त कर देगा। बाद में जल को सुखा कर विष एकत्र कर लिया जाता है। तीसरी विधि यह है कि एक काँच के पात्र में मक्खियाँ एकत्र करके उसके ऊपर ईथर से भीगा हुआ फिल्टर पेपर रख देने से मक्खियाँ उत्तेजित हो जायेंगी और विष त्याग करने लगेंगी। जब सब मक्खी पूरी तरह बेहोश हो जायें तो पात्र को जल से धो कर उस जल को सुखा कर विष एकत्र कर लेते हैं। इस विधि में यह लाभ है कि मक्खी मरती नहीं किन्तु साथ ही साथ कभी-कभी मक्खी पहले ही बेहोश हो जाती हैं और विष कम मात्रा में निकल पाता है। सब से श्रेष्ठ और नवीन विधि के लिए एक बक्स बनाया गया है। इस बक्स में कम-से-कम एक हजार मक्खी एक साथ बन्द की जा सकती हैं। निकलने के लिए जो स्थान बनाया गया है वह इतना संकुचित और ऐसी विशेषता से बनाया गया है कि बिना विष त्याग किए मक्खी निकल नहीं सकती। यह त्यागा हुआ विष वहीं एक प्लेट पर एकत्र होता रहता है। अन्त में विष-संचय कर लिया जाता है। इस प्रकार मक्खी भी नहीं मरती बल्कि १०-१५ दिन बाद फिर विष देने के योग्य हो जाती है और विष भी अधिक मात्रा में नया शुद्ध मिल सकता है।

विष के बुरे प्रभाव की रोकथाम—विष अन्त में विष ही है, अतः उसका प्रबन्ध हर समय रखना चाहिये। मक्खी काट कर भाग जाती है, दंशयन्त्र त्वचा में छोड़ जाती है जो विष को उगलता रहता है अतः तुरन्त दंशयन्त्र को निकाल फेंकना चाहिये। उस स्थान को दबा दबा कर विष निकाल देना चाहिये। दंश स्थान पर ठण्डा जल अथवा प्याज का रस लगाना चाहिये। चूने का पानी, सिरका मिला हुआ पानी अथवा फिनायल, लाइसोल लगाने से भी लाभ होता है। यदि अन्य लक्षण प्रकट हों तो हृदय की उत्तेजना के लिए प्रबन्ध करना चाहिये। दंश स्थान पर बोरिक लोशन लगाना भी हितकर होता है। यदि आँख में दंश किया हो तो बहुत शीघ्र नेत्र विशेषज्ञ की सहायता लेनी चाहिये। मधुमक्खी विष की चिकित्सा प्रारम्भ करने से पहले रोगी पर एक-दो मक्खी के दंश का प्रभाव देख लेना आवश्यक है।

राजकीय आयुर्वेदिक चिकित्सालय,
बड़ागाँव, भिक्खी, कानपुर।

व्याधि विमर्श

वैद्य शिवचरण ध्यानी, बी० आई० एम० एस० आयुर्वेदाचार्य

ज्वर, विकार, रोग, व्याधि और आतंक—ये सब पर्यायवाची शब्द हैं जिनसे शारीरिक या मानसिक वेदना अभिप्रेत होती है। वेदना शरीर या मन के प्राकृत कर्मों में क्षय या वृद्धिरूपक (Hypoactivity or hyperactivity) वैषम्य–लक्षणों—के रूप में व्यक्त की जाती है। संसार के भौतिक सत्ता रखनेवाले प्रत्येक पदार्थ की विकृति क्षयरूपा या वृद्धिरूपा होगी—तीसरे प्रकार की कोई विकृति नहीं हो सकती है। यतः शरीर निर्मापक दोष, धातु और मल की भी भौतिक सत्ता है, अतः उनका वैषम्य भी उपर्युक्त दो ही प्रकार का होता है। आप्त वचन भी इस सर्व सम्मत सिद्धान्त के समर्थक हैं। द्रव्यगत विकृति का ज्ञान उसके गुणकर्मों के वैषम्य से किया जाता है। यतः किसी द्रव्य या पदार्थ की केवल दो प्रकार की विकृति हो सकती है, अतः तद्गत एवं तद्व्यक्त गुण-कर्मों की भी क्षयरूपा या वृद्धिरूपा व्यक्ति होती है। इस प्रकार दोष, धातु और मलों के क्षय या वृद्धि रूपक वैषम्य से शरीर के प्राकृत कर्मों में भी वृद्धि या न्यूनता आ जाती है। इस वृद्धि या न्यूनता से रोगी को जो अनुभूति होती है उसे जिन शब्दों में व्यक्त किया जाता है—उसे लक्षण कहते हैं। चिकित्सक लक्षण समुच्चय से व्याधि का ज्ञान करता है। यह स्मरणीय है कि लक्षण समुच्चय व्याधि नहीं है। व्याधि तो शारीरिक या मानसिक उस विकृति का नाम है जिससे लक्षणों की उत्पत्ति होती है। विकृति द्रव्य में होती है, लक्षणों में नहीं, अर्थात् शिरःशूल के रोगी में विकृति या विकृति-प्रभाव शिर में है शूल में नहीं।

उपर्युक्त विवरण को स्मरण करते हुए 'व्याधि क्या है?' के उत्तर में 'लक्षण समुच्चयो व्याधिः' नहीं कहा जा सकता है। क्या दोष, धातु और मलों के वैषम्य को व्याधि कहें! नहीं, ऐसा मानने पर सम्प्राप्ति की छै अवस्थायें क्यों मानी जाँय', कारण कि दोष और दूष्यों में वैषम्य तो चयावस्था में ही आने लगता है। दोषादि के वैषम्य से भी अवश्य कुछ लक्षणों की उत्पत्ति होती है, लेकिन उनसे किसी निश्चित रोग का ज्ञान नहीं होता है।

'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनितो व्याधिः' यही मानना उचित है। दोष और दूष्य की सम्मूर्च्छना से व्याधि की उत्पत्ति होती है। 'दोष, धातु, मल मूलं हि शरीरम्' से शरीर निर्मापक द्रव्यों को दोष, धातु और मलों में विभक्त किया गया है, जिनमें से धातु और मल दूष्यों की श्रेणी में आते हैं और दोषों की एक पृथक् श्रेणी बन जाती है। सम्प्राप्ति की चयादि अवस्थाओं में से स्थान-संश्रय की अवस्था में दोषो दूष्य सम्मूर्च्छना होती है और तदनन्तर लक्षणों की उत्पत्ति के साथ 'व्यक्ति' की अवस्था आती है। यहाँ पर यह एक स्वाभाविक जिज्ञासा होगी कि 'दोष दूष्य सम्मूर्च्छना जनित' क्या द्रव्य बनता है? दोष और दूष्य के मिलने को सम्मूर्च्छना कहते हैं। यह दो प्रकार की हो सकती है—

१. दोष और दूष्य सम्मूर्च्छित हो जाँय, लेकिन उनसे काई तीसरा द्रव्य-विशेष न बने।, इस प्रकार की मूर्च्छना को भौतिक मिश्रण कह सकते हैं (Physical solution)।

२. दोष और दूष्य सम्मूर्च्छित हो जाँय और उनसे किसी तीसरे विशेष द्रव्य की उत्पत्ति हा। इसे रासायनिक मिश्रण (Chemical compound) कह सकते हैं।

उपर्युक्त कल्पना का आधार यह है कि लक्षणों का दो भागों में बाँटा गया है—

(१) प्रकृति सम समवेत लक्षण।
(२) विकृति विषम समवेत लक्षण।

इनमें से प्रस्तुत प्रकरण में हमारा ध्यान इस बात पर जाता है कि विकृति विषम समवेत लक्षणों की उत्पत्ति में क्या हेतु है? किसी विशिष्ट रोग में जो दोष है तथा जो दूष्य है, उन्हीं के क्षय या वृद्धि के लक्षणों को मिला कर ही यदि उस व्याधि का लक्षण समुच्चय बनता हो तो उन लक्षणों को प्रकृति-सम-समवेत लक्षण कहते हैं और यदि दोष और दूष्य के लक्षणों से भिन्न लक्षण मिलें तो उन्हें विकृति-विषम-समवेत लक्षण कहते हैं। दोष और दूष्य के लक्षणों से भिन्न लक्षण मिलने से इस बात का अनुमान होता है कि उस रोग में दोष और दूष्य के अतिरिक्त तीसरा द्रव्य भी बन गया है—ऐसा दोषों के रासायनिक मिश्रण (Chemical Combination) के फलस्वरूप ही सम्भव है। जिस रोग में लक्षण प्रकृति सम समवेत हों उसमें दोष दूष्य सम्मूर्च्छना भौतिक मिश्रण (Physical solution) के रूप में हुई है।

चिकित्सा के दृष्टिकोण से विचार करने पर उपर्युक्त ऊहापोह का सब से बड़ा महत्व है। जिन व्याधियों में प्रकृति-सम-समवेत लक्षण मिलें, दूसरे शब्दों में—जिनमें दोष-दूष्य सम्मूर्च्छना भौतिक मिश्रण के रूप में हुई हो, उनमें दोष प्रत्यनीक चिकित्सा की जानी चाहिए। उसीसे लाभ हो जायगा। जिन व्याधियों में विकृति विषम समवेत लक्षण मिलें—रासायनिक सम्मिश्रण बने—उनमे व्याधि प्रत्यनीक चिकित्सा अधिक लाभप्रद होती है।

दोष और दूष्यों का भौतिक या रासायनिक सम्मिश्रण को वैज्ञानिक दृष्टया—पित्तातिसार, रक्तपित्त, ज्वर, कामला, पाण्डु, पैत्तिक प्रमेह, अग्निमांद्य आदि व्याधियों में—सरलतया समझा जा सकता है।

वैद्य तथा वैद्यक के विषय में दो बातें

पं० सत्यनारायण शास्त्री, वैद्य

आयुर्वेद के अध्ययनाध्यापन के रूपान्तर (मिश्रित पाठ्यक्रम) के पूर्व जब स्वर्गीय महामना मालवीयजी ने एक कमेटी बुलायी थी जिसमें प्रायः देशके प्रतिष्ठित डाक्टर, वैद्य तथा हकीम आहूत थे, पण्डित गोकर्णनाथ मिश्रजी भारत सरकार के प्रतिनिधि के रूप में उपस्थित थे। उस समय मैंने इस मिश्रित पाठ्यक्रम का विरोध किया था। तब मालवीयजी ने प्रतिज्ञा की कि आयुर्वेद के आठों अंगों में शल्य-शालाक्य जो लुप्त-सा हो गया है, नवीन पाठ्यरूप से केवल उतनी मात्रा का सन्निवेश किया जायगा। उस पर मैंने कहा कि यदि ऐसा ही है तो सुश्रुत-शारीरके अनुसार शरीर रचना-विज्ञान तथा चरक-शारीर के अनुसार क्रियाविज्ञान को पाश्चात्य चिकित्सक (डाक्टर) पढ़ावें तथा अनुसंधान करायें तो इसे हम स्वीकार कर सकते हैं, तथापि इस प्रकार की व्यवस्था का भविष्य उज्ज्वल नहीं प्रतीत होता।

तदनन्तर जब रसायन, जीवविज्ञान, वनस्पतिविज्ञान प्रभृति विषयोंके अध्यापन के लिए अध्यापक लोग आये तो उस समय भी मैंने बाबू बलवन्त सिंहजी से कहा था कि आप अंग्रेजी ढंग के पुं-स्त्री-नपुंसक क्रम से तथा वर्गीकरण क्रमसे चाहे जितना पढ़ायें परन्तु द्रव्य गुणका आप स्वयं अध्ययन करें एवं जितनी आयुर्वेदिक औषधियां है उनके गुण, रस, वीर्य, विपाकप्रभावादि का भी ज्ञान आयुर्वेदमतानुसार यथासाध्य अवश्य कराते रहें।

उस समय तथा वर्तमान अध्ययनाध्यापन की स्थिति किसी से भी छिपी नहीं है। अर्थात् मिश्रित पाठ्यक्रम के अध्ययनाध्यापनके फलस्वरूप आज काशी हिन्दू विश्वविद्यालयीय आयुर्वेद महाविद्यालय की समाप्ति तथा उसके स्थानपर मेडिकल कालेज का प्रादुर्भाव स्पष्ट हो रहा है।

एक बार जब वर्तमान उपराष्ट्रपति डाक्टर सर राधाकृष्णन् (भूतपूर्व कुलपति, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,महोदय आयुर्वेद महाविद्यालय की जाँच करने के लिये काशी आये थे, जिनके साथ समागत सदस्यों में एक अंग्रेज भी थे,उस समय उपराष्ट्रपति महोदय ने मुझसे कहा कि प्रत्येक एम० बी० बी०एस० विद्यालय के पाठ्यक्रम में एक-दो पत्र आयुर्वेद के रख दिये जायं, पृथक् आयुर्वेद महाविद्यालय न रखा जाय तो इसमें आप क्या आपत्ति समझते हैं? इसके उत्तरस्वरूप मैंने कहा कि तुल्ययुक्त्या आयुर्वेद महाविद्यालय ही सब जगह चलाये जायं उनके पाठ्यक्रम में एक-दो पत्र केवल शल्यशालाक्य (डाक्टरी) के कर दिये जायं तो क्या अनुचित होगा? इस पर वे बहुत जोर से हंसे एवं मौन हो गये।

इस बात का स्पष्ट रूप स्थानीय दैनिक पत्रों में 'काशी हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वेदिक कालेज के स्थान पर एम० बी० एस० कालेज की घोषणा' पढ़कर बुद्धि में आया कि आधुनिक महर्षिका सत्यसंकल्प आज साकार हुआ।

एक बार श्रीमान् रामस्वामी अय्यर महोदय ने अपने कुलपतित्वकाल में कहा था कि हम आयुर्वेद-महाविद्यालय का स्पर्श न कर यदि एम० बी० बी० एस० क्लास चलाना होगा तो पृथक् मेडिकल कालेज खोलेंगे। यह बात मुझे उत्तम प्रतीत हुई।

हमारे उत्तरप्रदेश के वर्तमान शिक्षामन्त्री पण्डित कमलापति त्रिपाठीजी ने हमसे कई बार कहा था कि यदि प्राचीन क्रमसे एक आयुर्वेद महाविद्यालय जैसा कि पहले काशी-हिन्दू विश्वविद्यालय मध्यमा, शास्त्री तथा आयुर्वेदाचार्य का पाठ्यक्रम चलाता था वैसा चलाने के लिए खोला जाय तो बड़ा ही अच्छा हो। परन्तु मैं अपनी मनःप्रवृत्ति एवम् स्वास्थ्य की दृष्टि से तदर्थ कोई भी स्वतंत्र चेष्टा न कर सका। यदि सरकार को उस तरह भी आयुर्वेदशास्त्र की रक्षा करना उचित जान पड़े एवं वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में ही उसकी व्यवस्था करे तो भी सन्तोष हो। अन्यथा आज इस परिस्थिति में मेरी दृष्टि में सरकार इतना और कर दे कि जो विशुद्ध आयुर्वेद के चिकित्सक हैं वे कहीं चिकित्सा न कर सकें, यदि वे करें तो आजीवन कारावास के भागी हों। साथ ही आयुर्वेद इन चारों अक्षरों का नामग्राही भी दण्डित क्यिा जाय तो वस्तुतः अंग्रेजों का आयुर्वेद-विनाशार्थ लगाया हुआ बीज सफल हो जाय। इससे अधिक कुछ वक्तव्य मेरी बुद्धि में शेष नहीं मालूम होता। •

(शेषांश १०६५ पृष्ठ पर)

आयुर्वेद-प्रेमी धोखे में न पड़ें

कविराज व्रजमोहन दीक्षित

आज किसी से छिपा नहीं है कि आयुर्वेद की प्रगति सर्वथा रुद्ध कर उसे पंगु बनाकर समाप्त कर देने का कुचक्र किस कौशल के साथ चलाया जा रहा है। ऐसी योजनाएँ प्रस्तुत की जाती है कि इनको संवादपत्र में पढ़कर पाठक ही नहीं, विचारशील व्यक्ति भी भ्रम में पड़ जाते हैं। उन्हें यह विश्वास हो जाता है वस्तुतः आयुर्वेद की उन्नति हो रही है और सरकार सब प्रकार उन्हें आगे बढ़ाने का प्रयास कर रही है। ऐसी दशा में यदि कोई आन्दोलन या विरोध सामने आए तो जनसाधारण की सहानुभूति भी प्राप्त न हो सके और ऐसा वर्ग जनता की दृष्टि में सहसा ही निन्दा का भाजन बन जाय।

केन्द्रीय सरकार के कुछ कानून जिनके अनुसार औषधियों के अश्लील विज्ञापन, नामकरण आदि वर्जित हैं, ऐलोपैथिक औषध द्रव्यों की सूची जिसमें पारद, गन्धक, स्फटिका, कपूर आदि बहुसंख्यक आयुर्वेदीय द्रव्य सम्मिलित है, हेल्थ यूनिट की स्थापना (किसी हेल्थ यूनिट के चार मील तक कोई राजकीय या जिलाबोर्ड का औषधालय न रह सकेगा) यह सब क्या है? तनिक ध्यान तो दें।

१—अश्लीलता के नाम पर प्रदर-प्रमेह जैसे शब्दों पर भी आपत्ति होगी और प्रदरादि लौह, प्रमेहादि चूर्ण जैसी सुप्रसिद्ध औषधियाँ भी कानून के दायरे में आ जायंगी। वाजीकरण प्रकरण का तो नाम लेना भी अपराध माना जायगा, फलतः आयुर्वेद का वह सफल अंश जिस पर वैद्यों को गर्व है जिन कठिन रोगों की चिकित्सा आज भी आधुनिक विज्ञान ने प्रस्तुत नहीं की एक झटके में समाप्त कर दिया जायगा।

२—**द्रव्य सूची**—एलोपैथिक के जन्म से भी पहले प्रयुक्त होनेवाले आयुर्वेदीय द्रव्यों को एलोपैथी द्रव्य की गणना में रखना कुचक्र है। इस प्रकार आयुर्वेदीय चिकित्सा को समाप्त कर उसकी लोकप्रियता तथा उपयोगिता ही समाप्त करना है। आज का प्राणी सौन्दर्य चाहता है, सुविधा चाहता है। केवल काष्ठौषध के प्रयोग से इस युग में हम सफल नहीं हो सकते।

हेल्थ यूनिट—यह तो अबतक के किये पर पानी देना है। केन्द्रीय नहीं तो प्रान्तीय सरकारें ही सही, अने आयुर्वेदीय औषधालय चला रही थीं, जिला बोर्ड भी दिशा में बहुत कुछ कर रहे थे, किन्तु यह सब भी सह्य और इस हेल्थ यूनिट की स्थापना द्वारा इन सबको कराा देने का भयानक षडयन्त्र है।

यह तो हुई आक्रमण की एक दिशा, अब दूसरी ओर देखें तो स्तब्ध रह जाना पड़ेगा। वह है हमारी शिक्षा आक्रमण। अनेक कमेटियाँ बनीं। विचार और निष्कर्ष निकला कि नवीन शैली के स्थापित आयुर्वेद विद्यालयों स्नातक ही मान्य चिकित्सक हो सकेंगे। फलतः प्रा ढंग के आयुर्वेद विद्यालय बन्द हो गये, गुरु परम्परा सम हो गयी। सामने रह गये आधुनिक आयुर्वेद विद्याल जिनपर आयुर्वेद का भविष्य निर्भर था। वहाँ भी कुचक्र तीव्र गति से चला। यह बड़ा लम्बा इतिहास है लिखकर आपका अमूल्य समय नष्ट करना उचित नहीं

आज हमारे सामने हिन्दू विश्वविद्यालय के आयुर्वे विद्यालय को मेडिकल कालेज में परिवर्तित करने का के अधिकारियों का निर्णय विचार का विषय है।

भारतीय संस्कृति के उन्नायक, राष्ट्र के प्राण, स्वात संग्राम के सेनानी, स्वर्गीय महामना मालवीयजी महाराज समुद्र-मन्थन कर अमृतप्राप्ति के समान भारत के कोने से सुप्रसिद्ध चिकित्सा-शास्त्रियों को एकत्र कर पाठ्य निर्धारित करा आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना उस समय वे कितने प्रसन्न हुए थे, उन्हें कितना आत्मतोष उन्हों ने कहा था—'आज मै सबसे अधिक प्रसन्न हूँ, अब देश में प्रायः अष्टांग आयुर्वेद का प्रसार होगा। देशके चिकित्सा विज्ञान की उपेक्षा मुझे सह्य नहीं, सब मिल कर आयुर्वेद की उन्नति करो। इससे देश का हित होगा'। अनेक आयुर्वेद प्रेमियों ने इस का लिए मुक्त- हस्त दान दिया था।

आज वही विद्यालय, महामना का वही स्मारक, [illegible] का वही प्रतीक युक्तप्रान्तीय ही

सारे भारत का सम्मानित आयुर्वेद प्रेमियों का आशा केन्द्र, भगवान धन्वन्तरि की जन्मभूमि का यह विशाल आयुर्वेदीय वटवृक्ष किस प्रकार विश्वविद्यालय के मुट्ठीभर अधिकारियों द्वारा देशवासियों की भावना का तनिक भी विचार किये बिना समाप्त किया जा रहा है।

और यह कहकर कि आयुर्वेद का गौरव अब बढ़ेगा। मेडिकल कालेज में आयुर्वेद की भी कुछ पढ़ाई होगी। जो आयुर्वेद का स्वर्णिम युग होगा, जले पर नमक छिड़कने के समान है। यह भी प्रचारित किया गया है कि यहाँ आयुर्वेद पर अनुसन्धान होगा, स्नातकोत्तर शिक्षा का प्रबन्ध होगा जो सर्वथा निस्सार है। जब स्नातक ही न बनेंगे तो स्नातकोत्तर शिक्षा किसे दी जायगी ? आयुर्वेद पर अनुसन्धान करेंगे कौन ? यह तो बालू पर भित्ति-निर्माण की कल्पना है।

वस्तुतः इस समय आयुर्वेद के संबंध में एक सुनिश्चित दृष्टिकोण अपनाया जा रहा है। देश के कर्णधारों के मस्तिष्क में एक भ्रान्त धारणा है कि आयुर्वेद न तो वैज्ञानिक है न इसमें कोई ठोस सम्पत्ति ही है। इसके पीछे पड़ना समय एवं पैसे की बर्बादी ही है, किन्तु किसी भी प्राचीन वस्तु से लोगों का सहज प्रेम हो जाता है, इसीलिए देशके अधिकांश लोग आयुर्वेद के लिए हल्ला मचाते हैं। इनका मुंह बन्द करने के लिए कुछ आकर्षक योजनाएँ बनाकर सविधि समाप्त कर दिया जाय। उनका प्रयास है कि केवल कुछ औषधियों को लेकर उन पर अनुसन्धान हो। एक पेपर आयुर्वेद का प्रत्येक मेडिकल कालेज में रख दिया जाय और कुछ दिनों के अनन्तर जो गुणकारी औषध है उन्हें ग्रहण कर सब को समाप्त कर दिया जाय।

इसलिए अनुसन्धान का भी यह नाटक अस्थायी है। जब एक भावना को लेकर स्थापित विद्यालय को ही बिना संस्थापक का ध्यान किये समाप्त किया जा सकता है तब त्रिदोष सिद्धान्त, आत्मा, मन, शरीर आदि का दार्शनिक विवेचन, द्रव्य-गुण-रस-वीर्य-विपाक-प्रभाव की मीमांसा, दोष एवं रसों की द्विषष्ठि तथा त्रिषष्ठि अंशांश कल्पना, दोष, दूष्य, सम्प्राप्ति आदि बिना जाने क्या अनुसन्धान होगा एवं किस प्रकार औषधियों का ज्ञान एवं प्रयोग होगा ? सहज ही स्पष्ट है। एलोपैथिक के दृष्टिकोण से ही इनका प्रयोग होने लगेगा और तब आयुर्वेद की आवश्यकता अपने-आप ही समाप्त हो जायगी।

इसलिए अब हमारे सामने 'उत्थातव्यम्' 'जागृतव्यम्' का उद्घोष होना चाहिए। हमारा तनिक भी आलस्य हमारी परम्परा एवं हमें समाप्त कर देगा। अब हमारा विघटन और मनोमालिन्य घातक होगा। सारे भेदभाव भूल इसे राष्ट्रीय संहार समझ आयुर्वेद के संरक्षण के लिए हमें एक साथ मिलकर काम करना चाहिये, जिससे हमारी कोई उपेक्षा न कर सके।

शेषांश]

वैद्य तथा वैद्यक के विषय में दो बातें

[१०६३ पृष्ठ का

हाँ, यह अवश्य ध्यान में आता है कि जितने विशुद्ध या मिश्रितपद्धति के आयुर्वेदाभिमानी (वैद्य) चिकित्सक हैं वे केवल भगवच्चरणों में अब्रह्मण्यम्-अब्रह्मण्यम् का आर्त्तनाद करें। तब भगवान् की जो इच्छा होगी वैसा होगा।

मेरी तो समझ में नहीं आता कि आज संस्कृत वाङ्मय की रक्षा के लिए उभय न्याय, उभय व्याकरण, सांख्ययोग, मीमांसा, वेदान्त, साहित्य, पुराण, इतिहास, नाटक, प्रहसन-प्रभृति विषयों का अध्ययनाध्यापन, जिनमें अधिकांश शुद्धादृष्ट तथा दृष्टफलक है, को चलाया जाता है तो क्या आयुर्वेदशास्त्र दोनों प्रकार के फलों से शून्य समझा गया ? सभी शासक एवम् अधिकारी वर्ग अपने हृदयस्थल पर हाथ रखकर क्या इसे व्यक्त करने के लिए सन्नद्ध है ? यदि हैं तो हिन्दू विश्वविद्यालयीय एम० बी० बी० एस० पाठ्यक्रम में जो भी कुछ आयुर्वेद का अंश रखना चाहते हैं उसे भी सर्वथा निकाल दें। इससे वैद्यों एवम् वैद्यकशास्त्र पर उनका बड़ा ही अनुग्रह होगा, यह मेरी साग्रह सानुरोध प्रार्थना है।

वस्तुतः आरम्भ से ही जो मेरा सिद्धांत रहा है कि धर्म तथा तद्रूप सांगवेद अनादि है यह शास्त्रीय मर्यादा यदि सत्य है तो कथमपि ऊर्ध्वश्वास लेता हुआ भी वह रहेगा ही, इसमें अणुमात्र संशय नहीं। इस तरह आयुर्वेद भी विनष्ट नहीं हो सकता।

रजोरोध

वैद्य श्री अमरनाथ शर्मा

रज अर्थात् मासिक का रक्त वास्तव में मलमूत्र की भाँति एक निकृष्ट पदार्थ है जिसका रुक जाना बहुत-सी शारीरिक व्याधियों का कारण बनता है। यह रक्त स्वास्थ्य की दशा में १२ से १६ वर्ष की आयु के मध्य स्त्रियों को प्रारम्भ हो कर प्रतिमाह ४-५ दिन आया करता है। गर्भकाल में यह बन्द रहता है, क्योंकि वह रुका अंश गर्भ के पोषण में सहायक होता और जो अंश गर्भ के पोषण से अवशेष रहता है वह प्रसवकाल में नफास (शुल्क) के रूप में बह जाता है। इसी प्रकार जब तक बच्चा दूध पीता है तब तक यह प्रायः बन्द रहता है। परन्तु, किन्हीं-किन्हीं स्त्रियों को यदा-कदा दूसरे-तीसरे माह हो भी जाता है। इन दोनों अवस्थाओं (अर्थात् गर्भकाल, दूध पिलाने के समय) के अतिरिक्त यह मासिक धर्म होना बन्द हो जाय तो 'रजोरोध' रोग कहलाता है। ऐसी दशा में मासिक खोलने की चिकित्सा अवश्य करनी चाहिए अन्यथा यह रुका हुआ रक्त निम्न प्रकार के रोग उत्पन्न कर सकता है।

१—शिरःशूल, अपस्मार, संन्यास, उन्माद आदि मस्तिष्क विकृतियाँ।

२—दृष्टिमान्द्य (अर्थात् दृष्टि शक्ति कमजोर हो जाती है, प्रत्युत् नष्ट तक हो जाती है)।

३—फोड़ा, फुन्सी, चकत्ते, शीतपित्त, कुष्ठ, उपदंश आदि रक्तविकार।

४—पक्षाघात, धनुष्टंकार, हनुस्तम्भ, अंसशोष, गठिया इत्यादि वायु रोग।

५—सर्वप्रकार के शोथ (अर्थात् बाह्य, आन्तरिक अवयवों व गुप्ताङ्गों की सूजन)।

६—यक्ष्मा, क्षय, श्वास-कास आदि वक्षगत रोग।

७—पाचन-सम्बन्धी विकार यथा—अजीर्ण, मन्दाग्नि, यकृत, पाण्डु, जलोदर इत्यादि।

८—आँख, कान, नाक, मुंह, मल-मूत्रद्वार आदि अङ्गों से रक्तस्राव।

९—मूत्रकृच्छ्र, उष्णवात, सुजाक, मूत्रावरोध इत्यादि मूत्र-सम्बन्धी रोग।

१०—रिजा (झूठा गर्भ) या रक्त गुल्म।

इसके अतिरिक्त रक्त में ऊष्मा बढ़ जाती है। फल हाथ-पाँव-शिर आदि अंगों में जलन रहती है, हड़फूटन रहती है। जरा से परिश्रम से ही साँस फूलने लगती है दिल की धड़कन बढ़ जाती है। मतलब यह कि शरी नाना प्रकार की व्याधियों का केन्द्र बन जाता है और सब विशिष्ट बात यह है कि जो स्त्री रजोवती नहीं होती है सन्तानोत्पत्ति के सर्वथा अयोग्य होती है, अर्थात् कदा गर्भ-धारण नहीं कर सकती।

कारण—यद्यपि कई ग्रन्थकर्त्ताओं ने इस रोग के बहु से कारण लिखे हैं तथापि विशेष कारण निम्न ही हैं। सब कारण इन्हीं के अन्तर्गत आ जाते हैं।

(१) **रक्त न्यूनता**—शरीर में जब किसी जीर्ण दुष्ट व्याधि (यथा—दीर्घकालीन अजीर्ण, यकृत् अथ श्वेतप्रदरादि) से शरीर का रक्तांश कम हो जाता है माहवारी नहीं होती।

(२) **मोटापा**—जब शरीर पर मेद बढ़ जाता है फलस्वरूप गर्भाशय का मार्ग भी चर्बी से अवरुद्ध हो जाता और मासिक धर्म बन्द हो जाता है।

(३) **गर्भाशय विकार**—गर्भाशय में शोथ, रसौ व मस्सा आदि होने से भी रजोरोध रोग हो जाता है अथ यदि गर्भाशय अपने स्थान से हट जाय, ऊपर नीचे इधर-उधर उलट जाय तब भी बहुधा रजस्राव बन्द जाता है।

चिकित्सा—जिस रोग के कारण निर्बलता हुई प्रथम उसकी चिकित्सा करें, फिर रक्तवर्धक यथा स्वर्ण लौह भस्म, अभ्रक भस्म, रौप्य भस्म, मुरब्बा सेब, मु आमला आदि औषधियाँ तथा घृत, दुग्ध, मक्खन पौष्टिक भोजन देना चाहिए। जब शरीर पुष्ट हो जा रक्त न्यूनता दूर हो जायगी तब मासिक धर्म भी स्व होने लगेगा। अति श्रम, क्रोध, शोक, चिन्ता व से बचना जरूरी है। नीचे दो रक्तवर्धक अनुभूत दिये जा रहे हैं—

(१) **स्वर्ण जल**—वैद्य लोग रक्तवृद्धि करने के लिए स्वर्ण भस्म का प्रयोग करते ही हैं परन्तु जरा इस स्वर्ण जल का तो परीक्षण करके देखें। यह औषधियाँ कंठ से नीचे उतरते ही रक्त में आकृष्ट हो कर इन्जेक्शन की भाँति अपना कार्य आरम्भ कर देती हैं।

स्वर्णपत्र ६ माशा, नमक का तेजाब ६ माशा, शोरा ४ माशा। किसी शीशी में डाल कर हिलाएँ। पड़े-पड़े कई दिन में समस्त स्वर्ण घुल जायगा। फिर इसमें १० तोला अर्क गुलाब मिला लें और ७ से ले कर १० बूँद तक प्रतिदिन अर्क गाजवाँ में डाल कर पिलाया करें।

गुण—दिल, दिमाग, मेदा, जिगर को शक्ति देता है और विपुल मात्रा में रक्तोत्पत्ति करके हर प्रकार की शारीरिक दुर्बलता को नष्ट कर देता है। यक्ष्मा के रोगियों के लिए यह अत्युत्तम है।

(२) **रौप्य जल**—क्योंकि स्वर्ण एक अत्यन्त मँहगी वस्तु है, अतः उक्त प्रयोग धनवान लोग ही कर सकते हैं। सर्वसाधारण के लिए यह प्रयोग लाभकारी सिद्ध होगा।

रौप्यपत्र (बरक चाँदी) ३ माशा, तेजाब शोरा ६ तोला दोनों को मिला कर शर्बती रंग की शीशी में डाल कर रख दें। कुछ समय में हल हो जायगा। फिर इसमें १२ छटाँक अर्क गुलाब मिला लें। मात्रा—१० बूँद १ तोला जल या अर्क गाजवाँ में डाल कर दें। अतिशीघ्र निर्बलता दूर करके शरीर को हृष्ट-पुष्ट कर देगा।

इन दोनों प्रयोगों से रक्त न्यूनता दूर हो कर मासिक-स्राव चालू हो जाता है तथा जिन लड़कियों को शारीरिक निर्बलता के कारण योग्य अवस्था में रज होना प्रारम्भ ही न हुआ हो उनके लिए भी यह लाभदायक है। गुप्ताङ्गों को परिपुष्ट कर रजस्वला होने के योग्य बना देते हैं।

(२) **मोटापा (मेदवृद्धि)**—प्रथम लिखा जा चुका है कि रजोरोध का कारण मोटापा भी है। यह तो सर्वविदित है कि मोटापा होता है अच्छे-अच्छे पौष्टिक पदार्थ अधिक खाने, परिश्रम न करने तथा बेफिकरी से। इसलिए निम्न नियमों का पालन आवश्यक है ताकि अनुचित रूप से बढ़ी हुई मेद कम हो।

१—दूध, घी, मक्खन आदि चरबी बढ़ानेवाले पदार्थ न खावें।

२—शारीरिक परिश्रम खूब करें। आरामतलबी का त्याग कर समस्त गृहकार्य स्वयमेव करने चाहिए। चक्की पीसें, दिन में न सोयें प्रत्युत् कोई न कोई शारीरिक व मानसिक कार्य करते ही रहें। यदि हो सके तो आध-आध मील प्रतिदिन प्रातः-सायं भ्रमण किया करें।

३—सप्ताह में दो दिन पूर्ण उपवास किया करें।

४—दिन में २-३ बार ऽ। गर्म जल में २ तोला मधु डाल कर पियें।

५—प्रातः-सायं एक गिलास जल में एक निम्बू निचोड़ कर पिया करें। सर्दियों में पानी सुखोष्ण लेना चाहिए।

६—त्रिवृत्तादि क्वाथ के साथ दशांग गूगल अथवा रास्नादि क्वाथ के साथ में योगराज गूगल (वृहद् वा लघु) का कुछ समय निरन्तर प्रयोग करने से मेदवृद्धि व तद्जन्य रजोरोध दूर हो जाता है। (परन्तु उक्त नियमों का पालन अपेक्षित है)।

(३) **गर्भाशय विकार**—स्त्रियों को प्रायः मासिक स्राव के दिनों में अनियमितता बरतने से गर्भाशय में भाँति-भाँति के विकार आ जाते हैं और मासिक स्राव रुक जाता है अथवा मासिक धर्म अत्यन्त कष्ट के साथ थोड़ा-थोड़ा आने लगता है। ऐसे विकारों में निम्न प्रयोग लाभप्रद हैं, परन्तु खाने की दवा के साथ-साथ गर्भाशय में दवाएँ रखना उत्तम है।

रजशोधक औषधियाँ

(१) कपास की जड़ और पुराना गुड़ ४-४ तोला, पीपल की दाढ़ी २ तोला, गाजर के बीज, सोया के बीज १-१ तोला, जल ऽ।। सेर में चतुर्थांश क्वाथ करें और मासिक काल से २-३ दिन पूर्व से प्रातः-सायं पिलाते रहें तथा मासिक काल में भी पिलाएँ।

(२) वायविडंग १ तोला, अजवायन १ तोला, सौंफ १ तोला, सोया के बीज ७ माशा, कपास के खोखड़ २ छटाँक, जल १ सेर में औंटावें। जब २ छटाँक (आधा पाव) रहे तब २ तोला घी और पुराना गुड़ १ छटाँक डाल कर चाय की तरह सुखोष्ण पिलावें। इससे भी रजोरोध अति शीघ्र दूर हो जाता है।

(३) अमलतास का छिलका, बाँस की गाँठ या पत्ते, अखरोट की छाल, वायविडंग प्रत्येक ७ माशा, मूली के बीज, गाजर के बीज प्रत्येक ३।। माशा, तिल २ तोला, पुराना गुड़ ५ तोला, १ सेर जल में अष्टावशेष क्वाथ कर पिलावें। यह प्रयोग भी अत्युत्तम है। बन्द मासिक स्राव को समय पर चालू कर देता है।

(४) मासिक दर्शन के दिनों में सौंफ २॥ तोला, गुड़ ४ साल पुराना ४ तोला को तीन पाव पानी में उबालें। जब १ पाव रहे तब पुनः छान कर २ तोला घृत डाल कर गर्म-गर्म पिलावें और लिहाफ उढ़ा कर रोगिणी को लिटावें। २-३ बार के प्रयोग से लाभ होगा।

(५) एलुवा, नागकेशर, सुहागा, समभाग ले कर पुराने गुड़ के साथ चना प्रमाण बटी बनावें।

मात्रा—१-२ बटी सुखोष्ण जल से ८-१० दिन तक सेवन करें।

(६) काली भेड़ की ऊन की भस्म १ माशे से ३ माशे तक गर्म जल से दिन में ३ बार लेते रहने से समय पर मासिक स्राव चालू हो जायगा।

(७) **हमारा विशेष प्रयोग**—कलमी शोरा २ माशा तथा केशर शुद्ध ६ रत्ती गुलाब जल ५ तोला में घोल कर गर्म करके पिलाएँ। मासिक काल में रोज प्रातः-सायं दें। तीन रोज में मासिक स्राव चालू हो जायगा।

योनि में रखने के दो स्वानुभूत प्रयोग

(८) पुराने गुड़ को आग पर रख कर गर्म करें। जब खूब गर्म हो कर पकने लगे तो इसमें गन्धाबिरोजा मिला कर थोड़ा ठण्डा होने पर लम्बी-लम्बी बत्तियाँ बना लें और धात्री द्वारा १-१ बत्ती प्रातः-सायं गर्भाशय में रखवाया करें। इससे रुका हुआ स्राव खूब खुल कर आने लगता है।

(९) एलुवा, काली जीरी, सोंठ, अण्डी की मींग प्रत्येक ३ माशे ले कर पीस लें तथा गर्म करके पेड़ू और योनि में ३-४ दिन लगावें।

(१०) बीज कुसुम्बा (अथवा जीरा श्वेत, अलसी, वायविडंग इनमें से कोई) ९ माशा, मुनक्का ६ अदद, पीपलामूल ६ माशा, नागरमोथा ६ माशा, केशर ३ रत्ती, गुड़ पुराना ५ तोला, इन सब को ऽ॥ जल में औंटावें। ३ छटाँक शेष रहे तब घी २ तोला डाल कर मासिक काल में पिलावें। अवश्य मासिक चालू होगा। यदि गर्भाशय में शोथ चर्बी आदि का विकार हो तो निम्न बर्तिका योनि में रखवायें।

जनहितकारी औषधालय,
चमरौआ (रामपुर)

(११) साबुन ६ माशा, गूगल ६ माशा, छोटी पीपल ३ अदद, केशर ६ रत्ती, ज़िन्दवेदस्तर ३ रत्ती की बत्ती लगावें।

(१२) **खाद्य योग**—कपास मूलत्वक् ५ तोला को १ सेर जल में चतुर्थांश क्वाथ करें और ४ तोला पुराना गुड़ मिला कर मन्दोष्ण ३-४ रोज़ पिलावें। अति शीघ्र मासिक स्राव प्रारम्भ होगा।

(१३) **वर्तिका**—इन्द्रायण मूल (सूखी) को पीस-छान कर थूहर के दूध और गुड़ में सान कर बत्ती बनायें और योनि को गर्म जल से धो कर नित्य स्वच्छ रखा करें। इन बर्तिकाओं से शोथ चर्बी आदि का विकार दूर हो कर यथासमय मासिक धर्म आने लगता है।

(१४) शृंग भस्म १ माशा, गुलकन्द ५ तोला को आध सेर दूध के साथ पिला दें। दूध सुखोष्ण ही होना चाहिये। तीन दिन में हैज (मासिक धर्म) जारी होगा।

नोट—यदि गर्भाशय स्थानभ्रष्ट हो गया हो तो निम्न प्रयोग गर्भाशय को यथा स्थान ले आते हैं।

लक्षण—मैथुनोपरान्त स्त्री की जाँघों में दर्द हो तो समझो कि गर्भाशय उलट गया है।

(१५) गर्भाशय को यथास्थान लाने का प्रथम प्रयोग—सब्ज माजू पिसा हुआ १ माशा जल के साथ सेवन करने से टेढ़ा गर्भाशय ठीक हो जाता है। कुछ चूर्ण घी में मिला कर रुई में लगा कर गर्भाशय में रखें।

(१६) **द्वितीय प्रयोग**—केशर १ माशा, कस्तूरी २ रत्ती पीस कर मधु में गोली बना लो और योनि में रखो। इस प्रयोग से गर्भाशय यथास्थान पर हो कर मासिक स्राव चालू हो जाता है। निरन्तर ३-४ दिन रखें।

पथ्यापथ्य व आवश्यक नियम

पथ्य—लघु आहार यथा गर्म दूध चावल-चाय बिस्कुट, बैंगन-करेला-दही-तोरी-मूँग-मसूर की दाल आदि।

अपथ्य—खट्टी, तेल की काबिज वस्तुएँ तथा ठण्डी व वादी वस्तुओं का परहेज है।

शीताङ्गता

(Hypothermia)

वैद्य श्री ज्ञानेन्द्रनाथ शुक्ला, बी० ए० ए० एम० एस०

चिकित्सा शास्त्र के शल्य विभाग ने आज जिस तीव्र गति से अपनी प्रगति की है और करता जा रहा है कि उससे संसार आश्चर्यचकित हो रहा है । अभी कल तक शरीर के निम्न तापक्रम (low temperature) कीअवस्था एक असाध्य लक्षण माना जाता था ! किन्तु आज शरीर के इसी निम्न तापक्रम की अवस्था ने शल्य-शास्त्र (Surgery) के लिये पुनः एक विस्तृत कार्य क्षेत्र प्रदान किया है, जिससे कि अब हृदय (Heart) नाड़ियों (Nerves) आदि पर भी शल्य कर्म सुगमतापूर्वक संपादित किया जाना संभव हो सकता है ।

सृष्टि में स्तनपायी (Mammals) प्राणी ऊष्ण रक्तीय (Hot Blooded) माने जाते हैं ! इन प्राणियों के प्रत्येक वर्ग में जीव का अपना एक विशिष्ट एवं निश्चित तापक्रम रहता है । यथा मानव का तापक्रम सामान्यतः ९८.४° डिगरी माना गया है । इनमें अधिक से अधिक १००° डिगरी तक तथा कम-से-कम ९६.६° डिगरी तक स्वस्थावस्था में मनुष्यों में देखा जाता है। इस सीमा से तापक्रम की अधिकता एवं कमी शरीर की अस्वाभाविक अवस्था की सूचक मानी जाती है ।

(Shock) मधुमेह जन्य संन्यास (Diabetic Coma)) अवटुका विकृति (Myxedema) हृद् धमनी मार्गावरोध (Coronary Occlusion) तापनाश (Heat exhaution) संक्रामक रोग (Infectious Diseases) आदि रोगों में सामान्यतः कुछ तापक्रम गिरता है। इन रोगों में यह तापक्रम का गिराव उन विभिन्न रोगों की विकृतावस्था (Pathological)) के कारण होता है ।

अनुसन्धानों द्वारा ज्ञात किया गया है कि शरीर के ताप का नियंत्रण केन्द्र मस्तिष्क के Hypothalamus भाग के क्षेत्र में स्थित है जहाँ से ताप उत्पादन तथा शीत जन्य कंपन का नाश ((Anti Shivering) स्थिति की उत्पत्ति मानी जाती है। यदि किसी प्रकार से इस भाग में क्षति होती है तब शीतजन्य कंपन नाश (Anti Shivering) की स्थिति नष्ट हो जाती है तथा शीताङ्गता की वृद्धि होती है। संमोहन अथवा संज्ञानाश (Ouesthesia), सुसुप्तावस्था, Hypnosi तथा शारीरिक परिश्रम की अवस्था में भी तापक्रम में भेद पैदा हो सकता है ।

शारीरक्रिया (Physiological) की दृष्टि से भी यदि देखा जाय तो शीताङ्गता (Hypothermia) की अवस्था में शरीर की संश्लेष्णात्मङ्गक (Anabobs) एवं विश्लेष्णात्मक (Katabolic) क्रियाओं के क्रम में भी कमी हो जाती है। प्रयोगों द्वारा अनुभव किया गया है कि यदि शरीर का तापक्रम ७७° डिगरी तक आ जाय तो शरीर को प्राणवायु (Oxygen) की केवल २०% आवश्यकता रह जाती है। शरीर की संश्लेष्णात्मक एवं विश्लेष्णात्मक क्रियाओं के मन्द पड़ जाने पर साथ ही साथ हृदय की गति (Heart vati) में भी कमी होने लगती है, क्योंकि रक्त का परिभ्रमण (Blood circulation) भी मन्द पड़ जाता है। रक्त भार (Blood Pressure) भी गिरता है। इस अवस्था में रक्त संगठन में भी परिवर्त्तन होता है। लाल रक्त कणों (Rpoc) की संख्या बढ़ती है। उनमें Hemoglobin की मात्रा भी बढ़ जाती है। श्वेत रक्त कणों (W.Bc) तथा रक्त कणिकाओं (Platelets) की संख्या भी कम पड़ जाती है। इन परिवर्त्तनों के फलस्वरूप रक्त के जमने का काल भी बढ़ जाता है। शीताङ्गता के बढ़ने से श्वास-प्रश्वास क्रिया (Respiration) में भी कमी होती है। केन्द्रीय नाड़ी मण्डल (Central Nervous System) का कार्य क्रमशः क्षीण होता जाता है तथा ८२° डिगरी तापक्रम पर शरीर पर मादक प्रभाव (Narcotic) देखा जाता है। इस तापक्रम पर Hypothalamus भाग का ताप नियंत्रण केन्द्र का कार्य नष्ट हो जाता है।

शारीरिक तापक्रम को कम करने के लिये अनेकों प्रकार के प्रयोगों का विद्वानों द्वारा उपयोग किया गया।

रोगी को शीत जल में रखना, Refrigator में रोगी को रखना, कुछ लोगों ने रक्तवाहिनियों (Ortenis) को शीत करने का प्रयोग किया तथा मस्तिष्क के तापोत्पादक अंगों के तापोत्पादक कार्य को भी रोकने का प्रयत्न किया गया है।

शारीरिक तापक्रम के कम करने की क्रिया आरम्भ करने के पूर्व आवश्यकता इस बात की होती है कि तापोत्पादक केन्द्रों को संज्ञाहीन कर दिया जाय। इससे बाद में होने वाले उपद्रवों से बचाव हो जाता है। तापक्रम के गिरने पर सब से बड़ा उपद्रव यह होता है कि हृदय के क्षेपक कोष्ठों (Ventricles) में फड़कन (Fibrillation) प्रारम्भ हो जाता है। क्योंकि तापक्रम के कम हो जाने की अवस्था में स्वतन्त्र नाड़ी मण्डल की Para sympathetic नाड़ियों का कार्य नष्ट हो जाता है। इस उपद्रव को रोकने के लिये alkalosis की अवस्था उत्पन्न की जाय अथवा Vagus नाड़ी को उत्तेजित किया जाय। क्रिमोटो आदि अन्य कार्यकर्ता इस स्थिति को दूर करने के लिये Carotid धमनी को शीतकर के मस्तिष्क का तापक्रम ६० डिगरी तक लाते हैं और तब महाधमनी को दाब देकर (clamp) रक्त परिभ्रमण ((Blood Circulation) ५० या ६० मिनट तक अवरुद्ध कर देते हैं। इस प्रकार की स्थिति उत्पन्न करके अब हृदय (Heart) धमनी (Arteries) मस्तिष्क आदि अंगों में पर शल्य कर्म करना संभव हो गया है जब कि सामान्य अवस्था में किसी प्रकार भी ऐसा करने का स्वप्न तक नहीं देख सकते थे। अभी तक रक्त परिभ्रमण (Blood Circulation) के अवरुद्ध हो जाने पर मस्तिष्क में रक्त की अल्पता के कारण वहाँ पर स्थित केन्द्रों का नाश हो जाता था। किन्तु अब इस शीताङ्गता की अवस्था उत्पन्न करके यह स्थिति पैदा करने में सफलता मिल सकी है कि महाधमनी (Aorta) में रक्त प्रवाह को ९० मिनट तक रोका जा सकता है और इस प्रकार हृदय, बड़ी धमनियों आदि पर शल्य कर्म किया जा सकता है। नाड़ियों पर भी अभी तक शल्य कर्म आसान नहीं था। किन्तु इस अवस्था ने उसे भी सरल बना दिया है। अब रक्त के बिना नष्ट किये ही शल्य कर्म सम्भव हो सकता है। कुछ सर्जनों ने इस शीताङ्गता का उपयोग मस्तिष्कगत धमनियों के anusism, Tumoms तथा ऐसी ही अनेकों अवस्थाओं पर शल्य कर्म में सफलता प्राप्त की है। यकृत् ((Liver) एक ऐसा अंग है कि उस पर अभी तक शल्य-कर्म करना सम्भव नहीं था। किन्तु अब इस शीताङ्गतावस्था में यकृत् धमनी (Hepatic Artery) तथा यकृतीय शिरा (Portal Vein) के मार्ग को अवरुद्ध करके शल्य-कर्म किया जाने लगा है। इसी प्रकार मस्तिष्क एवं वृक्क (Renal) की अनेक विकृतियों की चिकित्सा में अब इसका उपयोग किया जाने लगा है।

शीताङ्गता के प्रयोग में अभी कुछ उपद्रवों की उत्पत्ति होने की सम्भावना रहती है। उस पर अनुसन्धान चल रहे हैं तथा उन उपद्रवों के निराकरण का मार्ग भी खोजा जा रहा है। फिर भी शीताङ्गता ने एक नवीन क्षेत्र का प्रादुर्भाव किया है। भविष्य में प्राप्त होनेवाले अनुभव इस क्षेत्र को और भी प्रशस्त करेंगे।

प्राचीन काल में भारतवर्ष में यौगिक क्रियाओं का बड़ा प्रचार था। योगी लोग समाधि की अवस्था में काफी समय तक रहते हुए बताये जाते हैं। समाधि की अवस्था में व्यक्ति में क्या शारीरिक परिवर्तन होते हैं जिनके कारण समाधिस्थ व्यक्ति सप्ताहों तक उसी स्थिति में रह सकता है तथा इस स्थिति में शरीर की क्रियाओं में कितनी कमी अथवा ज्यादती होती है इसका कोई ज्ञान प्राप्य नहीं है। किन्तु अनुमान यह किया जाता है कि सम्भवतः समाधि की स्थिति Hybernation की अवस्था हो सकती है। तब इसके भी कुछ-न-कुछ शीताङ्गता की तथा शारीरिक क्रियाओं की मन्दता की स्थिति होती होगी। यदि यह ठीक है तो निश्चय ही हमारे ऋषियों का अनुभव और ज्ञान अपार उसका उपयोग भी ऐहिक सुख के लिये न करके उन लोगों ने परलोक प्राप्ति का साधन बनाया।

पिछले काफी समय से हम लोग अपने पूर्वजों के ज्ञान को विस्मृत करके अब नवीन विज्ञान की चकाचौंध में पड़ गये हैं। अब इस सब के सम्बन्ध में कुछ साहित्य तो उपलब्ध होता अवश्य है, किन्तु उसके व्यावहारिक (Practical) भाग का बिल्कुल ही अभाव है। जिन सज्जन को इन विषयों पर कुछ जानकारी हो तो वे लोग कुछ प्रकाश डालने का कष्ट करें। सम्भव है कि इसमें कुछ महत्वपूर्ण प्राचीन भारतीय विज्ञान पर प्रकाश पड़ सके।

लज्जालु

वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा

प्रकृति देवी की अद्भुत माया है कि उसने वानस्पतिक वर्ग में भी किस-किस प्रकार के वृक्ष, झाड़, पौधे और लताएँ पैदा की हैं। कोई वृक्ष पास आने वाले जीवों को झपट कर उनका शिकार कर, आचूषण कर फेंक देता है, ऐसे वृक्ष अफ्रीका में हैं।

सूर्यमुखी सूर्य की ओर ही घूमता रहता है। वनस्पति में जीव है इसको जैन धर्म प्राचीन समय से स्वीकार करता आया है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण जीवित बीज का उगना और मृत का नहीं। वनस्पतियों में स्पर्श-शक्ति, दृष्टि और श्रवण का ज्ञान है। इसकी परीक्षा कोई भी करना चाहें तो 'लज्जालु बूटी' को स्पर्श और अवलोकन कर हरएक व्यक्ति कर सकता है। छूने मात्र से वनस्पति के तमाम पत्ते संकुचित हो कर आपस में मिल जाते हैं और नरम टहनियाँ झट से झुक जाती हैं। किन्तु स्त्रियाँ चाहें जिस प्रकार इसको हाथ लगावें या जो कुछ भी करें इस पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

इससे सिद्ध है कि इस बूटी के नेत्र हैं और उनमें देखने की शक्ति भी। असली लज्जालु को यदि मनुष्य के पैरों की आहट भी इसके पौधे तक पहुँच जावे तो वह मुर्झा जाती है और यही प्रकार सब से उत्तम है। यह किस्म बिहार के रांची जिले के पहाड़ी स्थानों में बहुत ज्यादा होती है।

उक्त वर्णन से प्रमाणित है कि इस बूटी में श्रवण शक्ति भी है। प्रातःस्मरणीय जगदीशचन्द्र जी बसु ने वर्षों पूर्व यह सिद्ध कर दिया था कि वनस्पतियाँ आपस में बात-चीत भी करती हैं। हमें (आयुर्वेदज्ञों को) इस ओर भी निरन्तर शोध जारी रखनी है जिससे वनस्पतियों के वानस्पतिक गुणों की ओर अधिक प्रगति हो। पहले सुना जाता है कि हकीम लुकमान से वनस्पतियाँ स्वयं अपने गुण प्रकट करती थीं। हमें अपनी प्रतिभा-शक्ति को विकसित करना चाहिए।

वर्ग—नैसर्गिक वर्ग, बब्बूलादि (कीकर) वर्ग।

नाम—सं०–लज्जालु, हिं०–लाजवन्ती, लज्जालु, छुईमुई। बं०–लज्जावती। म०–लाजालु। गु०–रीसामणी, लज्जामणी। पं०–लजवन्ती। मला०–तितरमणी, तोक्तावती। कना०–लज्जा। ता०–तोत्तलवादी। ने०–पेद्दनिद्रकान्ति। अ०–शजरतुलहया। अं०–Sensitive plant ले०–Mimoka pudica linu कहते हैं।

उत्पत्ति स्थान—यह भारतवर्ष के समस्त उष्ण प्रदेशों में न्यूनाधिक परिमाण में नैसर्गिक रूप में उत्पन्न होती है। यह विशेष कर काली और पानी से तर रहनेवाली चिकनी मिट्टी की जगहों में मिलती है।

परीक्षा—यह बूटी पुरुष के हाथ लगाने से मुरझाने लगती है और पकड़ने से मुरझा जाती है। फिर इससे हाथ उठा लिया जावे तो वह फिर अपनी असली दशा में आ जाती है। इसी वास्ते इसको लज्जालु, छुईमुई कहते हैं। इस वनस्पति की खास यही परीक्षा है।

वानस्पतिक वर्णन—यह चारों ओर फैलने वाला छोटा क्षुप है। ऊँचाई १॥ से ३ फीट। काण्ड और शाखाएँ नीचे झुकी हुई, काँटेदार और लम्बी, रोएँ से आच्छादित, सारी लता तथा क्षुप की शाखें पत्तों के किनारे ललाई लिए हुए होती हैं। मूल आध से दो फुट तक गहराई में गया हुआ रक्ताभ, सुगन्धित, दृढ़ तन्तुमय–त्वचायुक्त। पान स्पर्शासहिष्णु २ से ३ इंच लम्बे, द्विपक्षाकार, ४ द्वितीय वृन्तयुक्त। पत्र वृन्त १ से २ इंच लम्बा, रोएँदार, विषमवर्ती आधार स्थान में स्फीत। उपपान छोटा, रेखाकार–भल्लाकार, २ से ३ इंच लम्बा, लगभग वृन्त रहित। पत्रदल १२ से २० जोड़ी वृन्तरहित, चिमड़े (जो खिंचने या मोड़ने से नहीं टूटे।)। रेखाकार–लम्बेगोल, नोकदार, ऊपर चिकना, नीचे रोएँदार।

फूल—गुलाबी लगभग आधा इंच चौड़ा, गोलाकार गुण्डी। इन पुष्पों में कतिपय नर और कुछ स्त्री-पुष्प होते हैं। पुष्प बाह्यकोष घंटाकार और किंचित् दाँतेदार, अन्तरकोष की पंखड़ियाँ आधार स्थान की ओर संयुक्त-युग्म अथवा निम्न तरफ तिहाई लगभग विभक्त, गुलाबी (गुजरात, सौराष्ट्र और राजस्थान में पीली), पुंकेसर ४ (सौराष्ट्र में १०)। पुष्पदण्ड लगभग १ इंच लम्बा, काँटेदार शाखाओं

पर पत्र कोण में से जोड़े रूप से निकले हुए। पुष्पपत्र एकाकी, रेखाकार, नोकदार। फली—आधा से पौन इंच लम्बी, चिपटी, किंचित् मुड़ी हुई। पुष्पफल काल वर्षा ऋतु से शीत काल तक। किसी-किसी स्थान पर बसन्त में भी फली मिलती है। बीज इसके बादामी रंग के और मूंग से कुछ छोटे होते हैं। स्वाद इसका तिक्त-कषाय होता है।

भेद—इसके दो भेद और हैं—

(१) यह प्रायः खेतों में वर्षा के मौसम में उत्पन्न होती है। पौधा जमीन पर बिछा या थोड़ा (बित्ता भर) उठा हुआ होता है। पत्र भुईआँवले की तरह, पत्र विन्यास स्तवकाकार होता है। बीच से पतला और लम्बा पुष्प-दण्ड निकलता है। उस पर पीले रंग के छोटे फूल लगते हैं। फली लम्बी और चपटी; बीज लाल रंग के होते हैं। यह समस्त भारतवर्ष में होती है। इसको लेटिन में बायोफिटम सेन्सिटिवम (Bioplytum Sensitivum) संस्कृत में रक्तपादी, हिंदी में छोटा लज्जालु कहते हैं। इसके पत्र भी छूने से सिकुड़ जाते हैं। यह चांगेरियादि वर्ग (Geraniacese) वर्ग की औषधि है।

(२) यह भूमि पर पथराई हुई होती है। शेष बातों में प्रथम भेद की तरह और उसी वर्ग की किन्तु कंटक रहित होती है। यह समस्त भारतवर्ष और लङ्का साधारणतः उष्ण कटिबन्ध पर स्थित प्रदेशों में होती है। इसे संस्कृत में 'अलम्बुषा' हिन्दी में 'जल लज्जालु' और लेटिन में नेप्टचुनिया ओलिरेसिआ (Neptumia Oleraccae) या (Mimoca netaus) कहते हैं।

इन तीनों के पत्र छूने से सिकुड़ जाते हैं, इसलिए इनको 'छुईमुई' और 'लज्जालु' कहते हैं।

रासायनिक संगठन—जड़ में कषाय द्रव्य (Tanin) होता है।

उपयुक्तअङ्ग—जड़ और पत्र।

प्रकृति—दूसरे दर्जे में शीतल एवं रूक्ष।

गुण कर्म—शीतल, कड़वी, कषैली, कफ-पित्तहर, ग्राही, रक्तस्तम्भन, रक्त-प्रसादन, पित्त और रक्त संशमन तथा योनि रोगों को दूर करती है।

आयुर्वेदीय गुण-धर्म—यह रस में तिक्त, कषाय। वीर्य में शीत। विपाक में कटु। गुण में संधानीय और पुरीष संग्रहणीय एवं कफ-पित्त दोषों की नाशक है। इसका खास प्रभाव प्रजनन अवयवों पर है और इसमें रक्त-संग्राहक गुण सर्वोत्तम है।

विशेष—लज्जालु ग्राही होने के कारण अहिफेन के समान प्रवाहिका, अतिसार, रक्तस्रावहर है। यह शीतलता तथा तिक्तता होने के कारण पित्तशामक तथा कषाय होने के कारण कफनाशक भी है। आमातिसार में जब पक्वावस्था आ जावे तब इसका उपयोग चमत्कारी गुण दिखाता है और जो ग्राही गुण है उसके द्वारा शीघ्र ही अतिसार को रोकती है तथा उदरशूलादि सभी उपद्रव आप ही आप नष्ट हो जाते हैं। डॉक्टरी के इमेटीन हाइड्रो क्लोराइड इंजेक्शन से भी अधिक हितकर इस रोग में लज्जालु है तथा हानिरहित है। (धन्वन्तरि)

विज्ञ वैद्यवर्य्य अनुसन्धानात्मक दृष्टि से उक्त रोग में प्रयोग करा फलाफल प्रकाशित करावें और जिनके आस-पास यह बूटी अधिक हो वे संग्रह करा वैद्यों में वितरण की भी व्यवस्था करावें, तो उत्तम होगा।

यूनानी गुण-धर्म—हवा को निकालनेवाली, सुद्दों (आँत के अन्दर मल की गाँठों) को तोड़नेवाली, खून साफ करनेवाली, हैज़ जारी करने वाली, नासूर, पुराने व्रण और वात से उत्पन्न विकारों को तथा बवासीर, भगंदर, पीलिया, दस्त, खून थूकना, रक्त दूषित ज्वर, रक्तप्रदर तथा संतति-निग्रह में उपयोगी है।

मात्रा—पत्र वा मूल का चूर्ण ५ से ७ माशे तक, बीज १ से ३ माशे तक।

उपयोग—(१) जियनि (शुक्रमेह) में—इमली के बीज, लज्जालु के बीज, तालमखाना १-१ तोला ले कर सब को बारीक कूट कर बड़ के दूध में भिगोकर घोट के चने के समान गोलियाँ बना कर छाया में सुखा लें।

मात्रा—३-३ गोली सुबह और शाम को गाय के दूध के साथ देवें।

(२) शीघ्रपतन पर योग १—बड़ की दाढ़ी (वटजटा) लज्जालु के बीज, सफेद मूसली, सालम मिश्री, सत्यानाशी की छाल, सिंघाड़े का आटा, इमली के बीज, भूसी इसबगोल, बंग भस्म, प्रवाल भस्म प्रत्येक बराबर-बराबर सब के समान मिश्री मिला कर चूर्ण बनावें। ६ माशा की मात्रा में दूध के साथ सेवन करें।

(३) शीघ्रपतन पर योग २—लज्जालु के बीज २ माशा मिश्री ६ माशा। यह एक मात्रा है। इस प्र

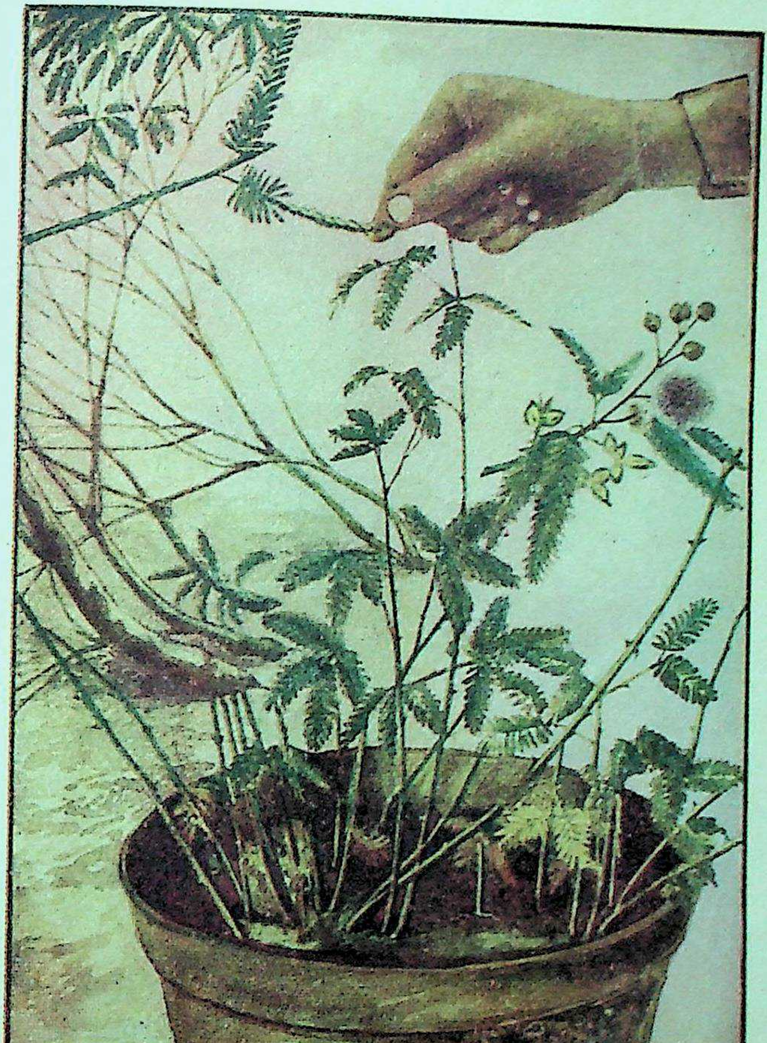

पौधा लज्जालु—पत्र, पुष्प, फलयुक्त।

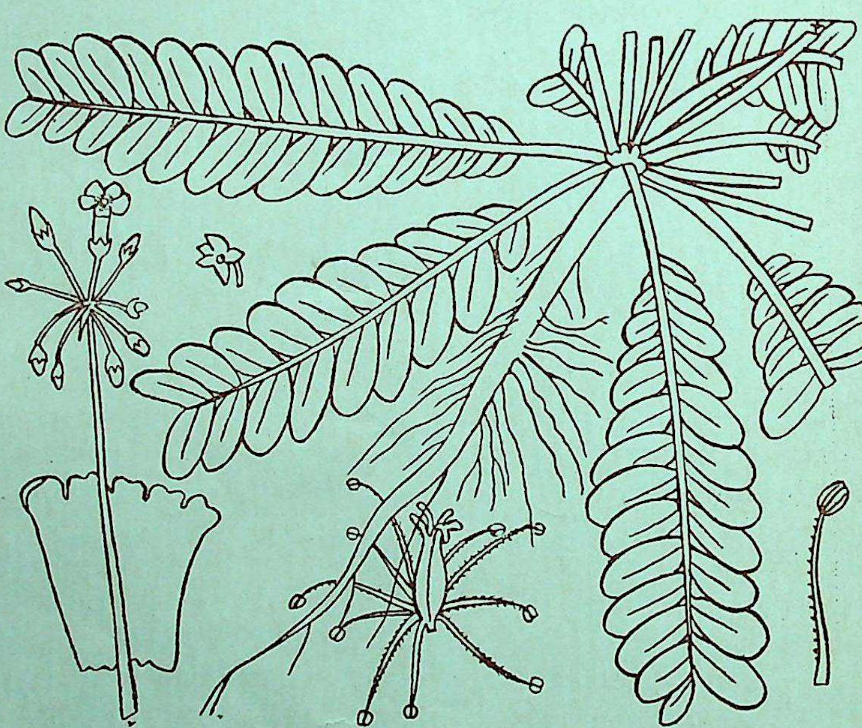

छोटा लज्जालु (लज्जालु भेद नं० १)

प्रातः-सायं लगातार १५ दिन सेवन करने से कुदरती रुकावट पैदा होती है।

(४) स्वप्नदोष पर—सिंघाड़े का आटा, बब्बूल की फलियों का चूर्ण, बड़ के फूल, असगन्ध, कौंच की जड़, बौफली, मोचरस—प्रत्येक २-२ तोला कपासियों की मिंगी ३ तोला, सालम मिश्री छोटी १ तोला, कमरकस, उटंगण के बीज १-१ तोला, बड़ा गोखरू २।। तोला, तालमखाना बड़ के दूध में शोधे हुए २।। तोला, इमली के बीज ३ तोला, लज्जालु के बीज १।। तोला, चाँदी के वर्क २५, चारों मग्ज़ ४ तोला। इन तमाम दवाइयों को कूट-छान कर चूर्ण बना लें। यह चूर्ण ६ माशा की मात्रा में प्रातः ५ तोला ताजा मक्खन में मिला कर सेवन करें।

(५) बाजीकरण बटी—लौंग, जायफल, जावित्री, केसर, गोंदी के वृक्ष की अन्तर छाल, दालचीनी—प्रत्येक ६ माशा, कुलींजन, तोदरी सफेद व लाल, हरमूल मौलश्री के फल, बीज लज्जालु —प्रत्येक ६ माशा, चाँदी के वर्क अगर प्रत्येक ३ माशा, कस्तूरी १।। माशा, अर्क माउल रहम अम्बरी १ बोतल, हिंगलू भस्म ३ माशा। सब को बारीक कर अर्क माउल रहम में पीस कर गोलियां मटर बराबर बनावें।

मात्रा—२-२ गोली सुबह और शाम। दूध के साथ।

(६) अनियमितार्तव में—मूसली काली और सफेद कमरकस (पलाश गोंद) मोचरस, सालम मिश्री, बोझीदान, कड़ के बीज, लज्जालु के बीज, मुनक्का, प्रबाल भस्म, मोती भस्म, मुक्ता शुक्ति भस्म, धाय के फूल, बब्बूल की की फली, पिश्ते का छिलका, गोखरू, समुद्र शोख, बीज बन्द प्रत्येक १-१ तोला। पनीर मायाशुत्तर एराबी ६ माशा, चाँदी के वर्क ४ माशा, सोने के वर्क १ माशा। सब को बारीक करके—अवलह की तरह बनाव।

मात्रा—१ तोला। प्रातः-सायं।

अनुपान—शरबत कड़ ४ तोला, अर्क बिरंजाशफ़ २ तोला के साथ।

गुण—अगर बदन में ख़ून की उत्पत्ति कम हो और शरीर के अंग कमजोर हो गये हों या ख़ून नहीं बनने से नहीं आता हो उस हालत में यह प्रयोग बहुत लाभकारी है।

(७) रक्तप्रदर पर—अकाकिया, वट-जटा का सत, माजूफल, माई, भूनी फिटकरी, अनार के फूलों का सत, गन्दना के पत्ते, चूका के बीज—ये सब १-१ तोला, प्रबाल भस्म, मुक्ताशुक्ति भस्म, अकीक भस्म धाय के फूल, कमरकस, मोचरस, सफेद मूसली, लज्जालु बीज, सालम मिश्री प्रत्येक ६ माशा। चूर्ण बनावें।

मात्रा—३ माशा प्रातः-सायं।

अनुपान—सत्त अनार या शर्बत खस के साथ।

(८) समंगादि कल्क : (हा० सं० स्था० ३ अ० ११) रक्तप्रदरे—लज्जालु मूल, सेंमल का फूल, लाल चन्दन, अर्जुन छाल और निलोत्पल समान भाग मिश्रित (१ तोला) लेकर बकरी के दूध में पीस कर पीने से रक्तप्रदर नष्ट होता है।

(९) स्तनों के ढीले पड़ने पर— लज्जालु, असगन्ध दोनों को पीस कर लेप करें।

(१०) योनि भ्रंश—योनि-मार्ग से कमल (गर्भाशय) बाहर आ जाने पर लज्जालु के पानों का रस या मूल घिसकर कमल पर लेप लगावें और हाथों पर लेप कर ऊपर चढ़ा, लगोट बँधवा कर आराम कराने से कमल ऊपर रह जाता है। नये रोग में लाभ होता है।

(११) प्लेग पर—लज्जालु-पत्र ५ तोला, अर्क बेद-मुश्क १२ तोला, अर्क गावजवाँ डेढ़ पाव में पीस-छान कर रख लें।

इसको १ या २ घण्टे के फासले से प्यास के समय थोड़ी २ मात्रा में पिलावें। प्लेग के वास्ते यह एक उम्दा योग है।

(१२) आयुर्वेदीय योग—संखिया सफेद १ तोला ले कर लज्जालु पत्र १ छटाँक को कूट कर बनाय हुए कल्क म रख और गोले को दो मिट्टी के प्यालों के संपुट में रख कपड़मिट्टी करें। सूखने पर एक सेर उपलों की आँच दें। इस प्रकार सात वक्त करें। प्रत्येक वक्त कल्क और कपड़मिट्टी नयी हो।

सेवन-विधि और गुण—कमजोर और नपुंसक को १ चावल ६ माशा मक्खन में प्रातः सेवन करावें और घी-दूध का अच्छा सेवन कराने से बहुत ताकत देता है।

(१३) समंगादि क्वाथ : (यो० र० अति०) लज्जालुमूल, अतीस, नागरमोथा, सोंठ, सुगन्धवाला, धाय के फूल, कूड़े की छाल और बेलगिरी। इनका क्वाथ समस्त प्रकार के अतिसारों को नष्ट करता है।

(१४) समगादि क्वाथ : (२) (वृ० नि० र० अति०)—लज्जालुमूल, धाय के फूल, बेलगिरी, आम की गुठली कमल , केसर, मोचरस, लोध्र, कुड़े की छाल और इन्द्रजौ। इन्हें चावलों के धोवन (तण्डुलोदक) में पका कर अथवा पीस कर कल्क बना कर पीने से कफ-पित्तातिसार तथा रक्तातिसार का नाश होता है।

(१५) लज्जालु चूर्ण—लज्जालुमूल का चूर्ण ३ माशा दही के साथ पिलान से रक्तातिसार में तुरन्त फायदा होता है। (जा० व० व० प्रयोग से)

अहितकर—वृक्क और प्लीहा को।

निवारण—कालीमिर्च और मधु।

प्रतिनिधि—नीम-पत्र।

ग्रीष्म ऋतु—रक्त पित्त

आयुर्वेदाचार्य डा० एस० एन० खरे, ए० एम० बी० एस०

भारतवर्ष एक समशीतोष्ण देश है, परन्तु फिर भी इस देश के अधिकतर भागों में वर्ष के आठ महीनों में गर्मी पड़ती है। इसलिए विशेष रूप से मई-जून के महीने में, जब कि ग्रीष्म ऋतु का समय होता है, अधिक ध्यान देने की आवश्यकता है। इस ऋतु में भारतीय जनता को अधिक कष्ट एवं कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। विशेष रूप से उस जनता को जो कि ग्रामीण क्षेत्रों में निवास करती है। ग्रीष्म ऋतु में सूर्य उत्तरायण होने के कारण वह तीव्र प्रज्वलित प्रकाश की किरणों से मनुष्य, पशु, पक्षी व वनस्पति आदि प्राणिमात्र की शक्ति को क्षीण कर देता है। क्योंकि जो शरीर का ७५ प्रतिशत जल भाग होता है वह स्वेद और वाष्प के द्वारा नष्ट हो जाता है और शरीर का स्नेह भी पिघल कर जल के साथ नष्ट हो जाता है। इसलिये शरीर की शक्ति भी नष्ट हो जाती है और मनुष्य शक्तिहीन और आलसी हो जाते हैं जब कि शीतल प्रदेशों में रहनेवाले व्यक्ति अपेक्षाकृत अधिक बलवान होते हैं।

अस्तु, इस प्राकृतिक बाधा को तो दूर करना मनुष्य की शक्ति के बाहर है, परन्तु फिर भी आयुर्वेदोक्त ग्रीष्म ऋतुचर्या के अनुसार चलने पर उसके बहुत अनिष्टकर परिणामों से वंचित रहा जा सकता है। इस ऋतु में प्रत्येक छोटी-से-छोटी रक्तवाहिनी विस्फारित हो जाती है और उनमें रक्त की मात्रा भी ज्यादा रहती है, क्योंकि ताप ज्यादा होने के कारण शरीर का स्नेह भाग (Fat) पिघल जाता है इसके कारण रक्त अत्यन्त पतला हो जाता है। इसलिये रक्त-दाब (Blood pressure) ज्यादा बढ़ने के कारण किसी भी समय रक्तवाहिनी फट जाती है और भयंकर रक्तस्राव होने लगता है जिसके फलस्वरूप मनुष्य अपने प्राणों से हाथ धो बैठते हैं। कई बार देखा गया है कि लू लगने पर स्वेद (पसीना) का निकलना बन्द हो जाता है और शरीर का ताप अधिक हो जाने के फलस्वरूप रक्त-दाव भी बढ़ता जाता है। विशेषरूपेण मस्तिष्कगत दबाव ज्यादा बढ़ जाता है; इसके कारण तीव्र शिर:शूल स्वेदावरोध व तापक्रमाधिक्यता ज्यादा प्रतीत होती है। इन उपर्युक्त लक्षणों के कारण मस्तिष्कगत रक्तवाहिनी का दबाव बढ़ जाता है और कभी-कभी कोई रक्तवाहिनी फट जाती है और रक्तस्राव होने से प्राणदा नाड़ी के केन्द्र पर दबाव पड़ने से हृदयगति अचानक रुक जाती है।

इसलिए क्यों न पहले से ही इन उपर्युक्त भयंकर परिणामों से वंचित रहने के लिये ग्रीष्म ऋतु में आयुर्वेदोक्त ग्रीष्म ऋतुचर्या के नियमों पर चला जाय।

ग्रीष्म ऋतुचर्या के नियम निम्नोक्त हैं—

"तीक्ष्णांशरति तीक्ष्णांशुर्ग्रीष्मे संक्षिपतीव यत्।
प्रत्यहं क्षीयते श्लेष्मा तेन वायुश्च वर्धते॥"

ग्रीष्म ऋतु में सूर्य की किरणें अत्यन्त क्षीण होती हैं इसलिये यह प्राणिमात्र के स्नेह को नष्ट कर श्लेष्मा को क्षीण कर देता है। साथ ही साथ मनुष्य की शक्ति घटती जाती है और वायु की वृद्धि हो जाती है। इसलिये—

"अतोऽस्मिन पटु कट्वम्ल व्यायामार्क करास्त्यजेत।"

इस ऋतु में नमक (लवण), कटु, अम्ल रस, व्यायाम और सूर्य की किरणों का त्याग करना चाहिये, क्योंकि यह स्वयं श्लेष्मा को घटाने और रूक्षता उत्पन्न करनेवाले साधन हैं। इनसे वात एवं पित्त की वृद्धि होती है।

"भजेन मधुर मेवान्नं लघु स्निग्धं हिमं द्रवम्।"

ग्रीष्म ऋतु में मधुर, हल्के, स्निग्ध एवं शीतल द्रव्यों के सेवन करने से वायु एवं पित्त की वृद्धि नहीं होती है। और-

"सुशीततोयसिक्तांगो लिह्यात्सक्तून् सशर्करान्।"

शीतल जल से स्नान करना चाहिये। जौ या च का सत्तू लेकर उसको शीतल जल में घोल कर शक्कर मि कर सेवन करना चाहिये। यह केवल प्रातः काल के लि है। शक्कर के स्थान पर नमक भी डालने से लाभ होता है।

"ससितं माहिषं क्षीरचन्द्र नक्षत्र शीतलम्।"

चन्द्रमा और नक्षत्र से शीतल (रात्रि में आकाश स्थि भैंस का दूध शक्कर डाल कर पीना चाहिये।

"मद्यं न पेयं पेयं वा स्वल्पं सुबहु वारि वा।
अन्यथा शोफ शैथिल्यं दाह मोहान करोति तत्॥"

इस ऋतु में मद्य (शराब) नहीं पीना चाहिये

यदि पीना आवश्यक भी हो तो थोड़ी-सी, उसमें भी अधिक जल मिला कर पीना चाहिये नहीं तो शोथ (सूजन), शिथिलता दाह (जलन) एवं मोह आदि रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

इस ऋतु में व्यायाम (दंड-बैठक) करना मना है, क्योंकि इस समय शक्ति क्षीण हो जाती है। केवल बलवान व्यक्ति को ही शीत एवं बसन्त ऋतु में व्यायाम करना चाहिये। इस ऋतु में केवल प्रातः और सायं काल में ही घूमने-फिरने और जल में तैरने का हल्का व्यायाम करना चाहिये।

जीवनोपयोगी दैनिक कार्य को सुबह जल्दी से जल्दी दस-ग्यारह बजे तक कर लेना चाहिये और फिर पाँच-छै घण्टे मकान के अन्दर विश्राम या अन्य घरेलू कार्य करना चाहिये। सायं काल में पाँच बजे के पहले मकान से बाहर नहीं निकलना चाहिये।

ग्रीष्म ऋतु में इमली का शरबत, आम का पना बहुत लाभ करता है। इसके सेवन से लू लगने का डर कम रहता है।

अपने देश के कार्यालयों का समय इस ऋतु में प्रातः काल में सात से ग्यारह बजे और सायं काल में पाँच से सात बजे तक होना चाहिये। परन्तु आजकल हमारे इस स्वतन्त्र देश में कार्यालयों का समय सन् १९४७ के पहले जैसा ही है।

हमारे देश में जो प्रत्येक कार्य आधुनिक पद्धति के अनुसार चल रहा है वह भारतीय जलवायु के प्रतिकूल है; जैसे खाना, पीना, कपड़े पहनना, आहार-विहारादि कार्य उचित ढंग से नहीं होते हैं। कार्यालय आज कल दस बजे दिन से चार बजे दिन तक रहते हैं, जिस समय कि सूर्य अपनी प्रचण्ड किरणों से सारे देश को प्रतप्त कर देता है। इसी समय बेचारे कर्मचारियों को कार्यालय में कार्य करने के लिये भागना पड़ता है। परन्तु इस समय वास्तविक रूप से देखा जाये तो दो हानियाँ अधिक होती हैं—

अ—गर्मी से पीड़ित हो कर व्यक्तियों के जीवन की हानि।

ब—कार्य की हानि की दृष्टि के साथ भारतीय सरकार के धन का व्यर्थ व्यय। क्योंकि इस ऋतु में काम मनुष्य वैसे ही कम करता है और फिर दोपहर के समय मनुष्य तीव्र किरणों के ताप से बहुत ही व्याकुल और बेचैन रहता है। अब देखिये कि ऐसी अवस्था में कार्य करना तो दूर की चीज़ रही। मनुष्यों को जीवन का धारण करना कठिन प्रतीत होता है। कठिनाइयों का पता उन्हीं लोगों को नहीं है जो कि ग्रीष्म ऋतु में शिमला में निवास करते हैं या २४ घण्टे खस की टट्टियों और बिजली के पंखों से युक्त मकान में निवास करते हैं। परन्तु भारत सरकार को चाहिये कि यह परिस्थिति चूँकि हर जगह उपलब्ध नहीं है, इसलिये कार्यालयों को उपर्युक्त समयानुसार चलाने की दिशा में ध्यान दें, जिससे कि मनुष्य अधिक-से-अधिक लगन के साथ कार्य करें और अपने देश की उन्नति हो सके।

ग्रीष्म ऋतु का यह साधारण नियम है कि मनुष्य बलहीन और आलसी तो हो ही जाता है साथ-साथ शारीरिक-मानसिक शक्ति भी कमजोर हो जाती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य को अधिक निद्रा सताती है। प्रातः काल जो लोग ठण्डाई, दूध या दही की लस्सी पी सकें, वह पी सकते हैं। जो लोग केवल शरबत पीने के आदी हों वह खस, चन्दन, केवड़े या अन्य फलों के रसों का शरबत सेवन करें। सब से अच्छा खस या चन्दन का शरबत होता है। इनकी सुगन्धि भी अच्छी है और लाभप्रद भी होता है।

इस शरबत के बनाने की विधि निम्नोक्त है::—

आधा पाव खस या चन्दन का चूर्ण एक सेर जल में बारह घण्टे रात्रि में भीगने दें इसके बाद प्रातः काल में उस बुरादे को खूब मसलना चाहिये फिर किसी महीन वस्त्र को ले कर स्वच्छ काँच या चीनी मिट्टी के बर्तन में छान कर तीन सेर मिश्री बाँट कर मिला देवें इसके बाद चार बोतल साफ़ करके भर लेना चाहिये। यह शरबत ग्रीष्म ऋतु में अत्यन्त लाभप्रद होता है।

इस ऋतु में अत्यन्त परिश्रम करने के उपरान्त शीघ्र ही स्नान नहीं करना चाहिए, क्योंकि शरीर में गर्मी ज्यादा होती है, फिर ठण्डे पानी से स्नान करने से कभी-कभी प्राणान्त होते देखा गया है। इसलिए कुछ देर ठहर कर बन्द कमरे में स्नान करना चाहिये।

जो लोग इस ऋतु में चाय-काफी का सेवन करते हैं उन लोगों का यह दुर्भाग्य है वह अपनी आयु को कम कर रहे हैं, क्योंकि इस ऋतु में वैसे ही शक्ति क्षीण हो जाती है और साथ-साथ गर्म चाय के सेवन करने से रसरक्तादि सप्त धातुएँ भी जल कर नष्ट होने लगती हैं। कुछ लोग “बेड टी (Bed tea) का सेवन करते हैं। इससे कोई स्टैन्डर्ड या शोभा या प्रतिष्ठा थोड़ी बढ़ती है। शोभा या प्रतिष्ठा तो बढ़ती है स्वास्थ्य और विद्वत्ता (विद्या) से। इसलिए इस ऋतु में चाय काफी का प्रयोग वर्जित है।

इस ऋतु में अधिक भोजन नहीं करना चाहिये और शाक, तरकारी, कढ़ी और चावल का प्रयोग ज्यादा करना चाहिए। इस ऋतु में मांस का प्रयोग कम या बिल्कुल नहीं करना चाहिए। प्याज, पुदीना और धनियाँ की चटनी का प्रयोग ज्यादा करना चाहिए। छोटे आमों को खूब चूसना चाहिए। यह हाजमा को बढ़ाता है और शरीर को पुष्ट करता है। परन्तु कलमी आम ज्यादा लाभ नहीं करते हैं।

इस ऋतु में दूध उबाल कर जब ठण्डा हो जावे तब मिश्री डाल कर पीना चाहिए।

इस ऋतु में दिन में दो-तीन घण्टे सोना आवश्यक है, क्योंकि इससे क्षीण हुए श्लेष्मा की पूर्ति होती है और स्वास्थ्य की दृष्टि से अच्छा है।

इस ऋतु में स्त्री-प्रसंग या किसी भी प्रकार का मैथुन करना निषिद्ध है, क्योंकि गर्मी के कारण शरीर और स्नायु-मण्डल बहुत ही कमजोर हो जाता है। और फिर इस अवस्था में स्त्री-प्रसंग करने से और ज्यादा शारीरिक-मानसिक क्षीणता उत्पन्न हो जाती है, किन्तु यदि आवश्यकता हो तो पन्द्रह दिन के अन्तर से स्त्री-प्रसंग करना चाहिए।

आज कल लोग बर्फ का ज्यादा प्रयोग इस ऋतु में करते हैं, परन्तु यह बहुत हानिकर वस्तु है। यह जितनी ठण्डी प्रतीत होती है उतनी ही गर्म शरीर में जा कर हो जाती है। इससे तो अच्छा यही है कि किसी हवादार शीतल स्थान पर एक मिट्टी के घड़े को तिपाई पर रख दिया जावे और उसका पानी सेवन किया जावे यह बर्फ से कहीं ज्यादा ठण्डा होता है। बर्फ के सेवन करने से पाचन-क्रिया विकृत हो जाती है, दाँतों के रोग भी इससे होते हैं, दन्तमूल भी कमजोर हो जाते हैं। कभी-कभी तो हमने बर्फ के सेवन करने से मनुष्य के प्राणान्त तक होते देखे हैं। निम्न-लिखित दृष्टांत पर्याप्त होगा।

मैं सन् १९५८ में झाँसी शहर में रहता था। पड़ोस में एक बाबू जी रहते थे। वैसे उनका नाम तो दीनदयाल था, परन्तु वह बाबू जी के नाम से पुकारे जाते थे। वह रेलवे वर्क शॉप में काम करते थे। एक दिन वह अपनी ड्यूटी से दिन को बारह बजे घर लौटे तो धूप ज्यादा थी। जून का महीना था। इसलिये गर्मी के कारण पसीना से तर थे और अन्दर से वाष्प रूपी ज्वालाएँ उठ रही थीं, क्योंकि साइकिल से यात्रा करके आये थे। घर आते ही उन्होंने अपने नौकर से कहा कि आधा सेर दही और एक सेर बर्फ बाजार से ले आओ, क्योंकि आज बहुत गर्मी है; इसलिए जल्दी लस्सी तैयार करो। नौकर एक रुपया ले कर बाजार गया और शीघ्र ही नौकर ने सामान ला कर दही की लस्सी तैयार कर दी और आधा सेर का काँच का गिलास ले कर उसमें लस्सी भर बाबू जी को दे दी; जिसमें बर्फ की मात्रा कुछ ज्यादा थी। बाबू जी ने वह लस्सी कुछ ही क्षण में पी ली और शेष बची हुई लस्सी को घरवाले पीने लगे। पाँच मिनट के बाद ही बाबू जी को तीव्र वमन हुई और बेहोश हो कर वह चारपाई पर गिर पड़े। घरवाले यह आवाज सुनते ही उनकी चारपाई के पास दौड़े और उनका एक भाई जिसका नाम प्रभूदयाल था जल्दी से डाक्टर को बुलाने दौड़ा। किन्तु डाक्टर के पहुँचने के पहले ही बाबू जी अपने दो नादान बच्चे और धर्मपत्नी से हमेशा के लिये बन्धन तोड़ चुके थे। डाक्टर साहब जैसे ही ताँगा से उतर कर घर के अन्दर पहुँचे और अपने स्टैथिस्कोप से उनके हृदय की ध्वनि सुनी तो वह बन्द हो चुकी थी।

अस्तु, बर्फ का प्रयोग या अन्य किसी ठण्डी वस्तु का प्रयोग कहीं बाहर से गर्मी में आने पर उसी समय नहीं करना चाहिये और न ही ऐसे समय में स्नानादि करना चाहिये जब तक कि रक्त की गर्मी शान्त न हो जावे, नहीं तो बहुत भयंकर परिणाम हो जाता है।

इस ऋतु में दोपहर होते ही गर्म हवा (लू) चलने लगती है। ऐसी अवस्था में घर के बाहर नहीं निकलना चाहिये, यदि बाहर जाना ही पड़े तो निम्न उपाय करें:—

(अ) मोटे सफेद खादी के कपड़े पहन कर और छाता लगा कर बाहर निकलना चाहिये। लू से बचने का उत्तम उपाय यह है कि शरीर के पसीने को हवा से बचाना चाहिये अथवा हवा नहीं लगनी चाहिये। कानों के ऊपर कपड़ा रहना चाहिये। आजकल जो मलमल जैसे पतले कपड़े लोग पहनते हैं वह ठीक नहीं है, क्योंकि उन कपड़ों से हवा की कोई बचत नहीं होती है। यदि इन कपड़ों के पहनने का शौक भी हो तो ज्यादा धूप में न पहन कर प्रातः व सायं काल में अवश्य पतला और ढीला वस्त्र पहनना चाहिये और बस्ती से बाहर शुद्ध जलवायु में भ्रमण करना चाहिये।

(आ) लू हमेशा कान, वक्ष (छाती) और पैरों में लगती है इसलिये इन्हें बाहर जाते समय बन्द रखना चाहिये। गरम धूल में बिना जूतों के नहीं चलना चाहिये।

(इ) यदि बाहर जाने का अवसर भी प्राप्त हो जावे तो इस ऋतु में शीतल जल के सेवन करने के बाद छाता लगा कर जाना चाहिये। हो सके तो प्याज भी साथ में रखना चाहिये।

(ई) यदि इतना करने पर भी लू लग जावे तो निम्न उपाय करना चाहिये :—

(१) रोगी को शीतल स्थान पर चारपाई डाल कर आराम से लिटा देना चाहिये।

(२) बढ़ी हुई गर्मी तथा दाह की शान्ति के लिये रोगी के समस्त शरीर को शीतल जल से गीले किये हुए वस्त्रों से ढँक देना चाहिये। मस्तिष्क पर शीतल जल या बर्फ का परिषेक (ढालना) करना चाहिये।

(३) यदि रोगी को मलबद्धता हुई हो तो उसकी नाभि पर दन्ती तेल की एक बूंद की मालिश कर देने से सुखपूर्वक विरेचन हो जाता है।

(४) यदि उपरोक्त विधियों से रोगी का शरीर शीतल होने लगे और जीवन साक्षिणी नाड़ी (pulse) की गति में व्यतिक्रम हो जावे या अस्पष्ट प्रतीत होने लगे तो रोगी को उष्ण वस्त्रों से आवेष्ठित कर देना चाहिये और चारपाई के चारों ओर प्रज्वलित अंगारों से भरी अँगीठियाँ रख कर शरीर को पुनः उष्ण करे। साथ ही साथ "मृतसञ्जीवनी सुरा" का पान करावें। यदि मूर्च्छा हो तो इसका भी उपचार करना चाहिये।

(५) यदि रोगी अत्यन्त तृषा से पीड़ित हो तो शीतल जल नहीं पीना चाहिये, अपितु, इस जल को चन्दन से सिद्ध करके या पीपल वृक्ष की छाल को जला कर उबले हुए जल में बुझावें और किञ्चित उष्ण जल पिलावें। इससे रोगी को पसीना आ जाता है और तापक्रम भी घट जाता है।

(६) यदि तापक्रम ज्यादा हो तो चने की सूखी भाजी (पत्ते या सकसा) पानी में भिगो कर बाँट कर हाथ-पैर पर मालिश करने से तापक्रम घट जाता है।

(७) यदि ज्यादा वमन (उल्टी) या दस्त लगते हों तो अर्क कपूर की २-३ बूंद बताशा के साथ अथवा अर्क पुदीना को बताशा के साथ प्रयोग करना चाहिये, नहीं तो हैजा का रूप धारण कर लेता है।

(८) इस रोग में जल, लवण तथा क्षार की मात्रा कम हो जाती है, इसलिये रोगी को लवण घोल अथवा थोड़ा-थोड़ा नमक मुख में डाल कर ऊपर से पानी पिलाना चाहिये। साथ में आम का पना भी दिया जा सकता है।

(९) यदि रोगी बेहोश है और जल नहीं पी सकता है तो सिरा मार्ग द्वारा समबल लवण (Salt) देना चाहिये। सोडा-बाई-कार्ब, ३० ग्रेन ग्लूकोज में मिला कर मुख द्वारा देना चाहिये। इससे अम्लोत्कर्ष (Acidity) की सम्भावना नहीं रहती है।

(१०) रोगी जितना पानी पिये उतना ही पिलाना चाहिये, क्योंकि प्यास लगने पर पानी न पिलाने से प्राणों का नाश हो जाता है।

(११) यदि शरीर में ऐंठन ज्यादा हो तो वह लवण और जल की कमी से हो जाती है, इसलिये आधा या एक घण्टे के अन्तर से लवण जल के साथ देना चाहिये।

(१२) यदि श्वसन का निपात हो रहा हो तो कृत्रिम श्वसन करना चाहिये। चेहरे तथा वक्ष पर जल छिड़कना एवं जिह्वा को बार-बार अन्दर-बाहर खींचना चाहिये।

(१३) लू लगने की मुख्य चिकित्सा यह है कि बढ़े हुए तापक्रम को शीघ्र ही कम करना चाहिये, क्योंकि इसमें पसीना (स्वेद) बन्द हो जाता है और तापक्रम बढ़ कर १०४° से ११०° फा० तक पहुँच जाता है।

(१४) यदि कोई चिकित्सक किसी लू लगने वाले रोगी में निम्न लक्षण पावे तो उसकी चिकित्सा न करे, क्योंकि इसमें अपयश मिलता है :—

"करद्वयेऽङ्घ्रिद्वितये च नीलिमा तथा धमन्याः क्षणलुप्तता च।
विक्षेपणं चाव यवस्य रोगिणों ऽशुघातिनो मृत्यु कृते भवन्ति ॥"

यदि किसी रोगी के हाथ, पैर और मुख में नीलापन हो, नाड़ी क्षण-क्षण में लुप्त हो रही हो तथा शरीर में आक्षेप उत्पन्न हो जाते हों। यदि यह लक्षण अंशुघात रोग में हो, तो बिना मृत्यु के निवारण उस रोगी का नहीं होता है। इसलिये चिकित्सा सोच-समझ कर करनी चाहिये।

इसी प्रकार ग्रीष्म ऋतु में धूप, व्यायाम, शोक, रास्ता चलना और ज्यादा मैथुन करने से एवं तीक्ष्ण, उष्ण, क्षार (नमकीन), खट्टे तथा चरपरे पदार्थों के अधिक सेवन करने से पित्त दूषित हो कर रक्त को दूषित कर देता है और शरीर के विभिन्न भागों में रक्त निकलने लगता है। मुख, नासिका आदि द्वारा ऊपरी मार्गों से जब रक्त निकलता है, तो ऊर्ध्व रक्त पित्त कहते हैं। और गुदा, योनि द्वारा व मूत्र-नलिका द्वारा अधो मार्ग से जब रक्त निकलता है तो

उसे ऊर्ध्व रक्त-पित्त कहते हैं। जब रक्त दूषित हो कर शरीर के रोम-रोम से निकलने लगता है, तब इसे असाध्य रक्त-पित्त समझना चाहिये।

रक्त-पित्त की चिकित्सा

यह रोग अत्यन्त भयंकर है इसलिये इसकी चिकित्सा शीघ्रातिशीघ्र करनी चाहिये। अतः मैं कुछ स्वयं अनुभव के योग भारतीय जनता की सेवा में उपस्थित कर रहा हूँ।

"प्रति मार्गं च हरणं रक्त पित्ते विधीयते।"

रक्त पित्त की चिकित्सा में दोषों का शमन करना चाहिये। ऊर्ध्व मार्ग द्वारा रक्त आता हो तो विरेचन और अधोमार्ग द्वारा रक्त आता हो, तो वमन कराना चाहिये, परन्तु केवल यह कर्म बलवान पुरुषों को करना चाहिये।

(२) अडूसे के हरे पत्तों का स्वरस निकाल कर एक तोला से दो तोला की मात्रा में ले कर एक तोला शहद तथा एक तोला चीनी (शक्कर) मिला कर प्रतिदिन पीने से भयंकर रक्त-पित्त नष्ट हो जाता है।

(३) पिसे हुए पत्तों (अडूसे या वासा के) का पुटपाक द्वारा निकाला हुआ स्वरस मधु मिला कर पीने से अथवा अडूसे के पत्तों का हिम बना कर मधु मिला कर पीने से रक्त-पित्त, कास, ज्वर तथा राजयक्ष्मा रोग दूर हो जाते हैं।

(४) उदुम्बर (ऊमर या गूलर) के हरे अथवा अर्धपक्व फलों को पत्थर पर पीस कर कपड़े में रख कर पोटली बना कर हाथों से दबा कर स्वरस निकाल लेना चाहिये, फिर एक तोले से दो तोले तक स्वरस में शहद मिला कर पीने से रक्त-पित्त रोग नष्ट हो जाता है।

(५) अडूसा, मुनक्का, हरड़ का क्वाथ बना कर इसमें मिश्री व मधु मिला कर पीने से सब प्रकार के श्वास और रक्त-पित्त रोग नष्ट हो जाते हैं।

(६) फिटकरी का चूर्ण एक माशा ले कर दूध में मिला कर पीने से खून का गिरना बन्द हो जाता है।

(७) सूखे आँवलों के चूर्ण को एक माशा लेकर इसमें शक्कर मिला कर घी के साथ पीने से सब प्रकार के रक्त-पित्त में लाभ होता है।

(८) सूखे आँवलों को घी में तल कर पीने के बाद मस्तक पर लेप कर देने से नाक का खून गिरना बन्द हो जाता है।

(९) ठण्डे जल में चीनी मिला कर शरबत तैया करके नाक द्वारा चढ़ाने या नाक से दूध पीने या गु के साथ मुनक्के का रस पीने से अथवा ईख के रस में शक्क मिला कर पीने से नाक द्वारा गिरता हुआ रक्त बन्द हो जाता है।

(१०) मुनक्के के रस अथवा आम की गुठली रस अथवा प्याज के रस का नस्य लेने से भी नाक से खून गिरना रुक जाता है।

(११) दो माशे हरड़ का चूर्ण ले कर इसको शहद साथ मिला कर प्रतिदिन सेवन करना चाहिये। इ रक्त-पित्त में लाभ होता है।

(१२) "वासायां विद्यमानायामाशायां जीवितस्य च।
रक्तपित्ती क्षयीकासी किमर्थंमय सीदति॥"

जब तक संसार में अडूसा विद्यमान है तब तक जीवन आशा करने वाले रक्तपित्त, क्षय, कास के रोगी व्यर्थ दुःख उठाते हैं। वास्तव में अडूसा इस रोग की परमौष है। जिसमें कि धन भी खर्च नहीं होता है।

(१३) जो पुरुष धनी पुरुषों से धन प्राप्त कर चाहता हो वह "कैल्शियम सैन्डोज" विद विटामिन सी ५ मि० ग्रा० (Calcium with Vitamin C) इन्जेक्शन सिरागत मार्ग द्वारा देवें। इसमें अधिक सावधा वरतनी चाहिये।

(१४) मुख द्वारा विटामिन के (K), सी (C) औ कैल्शियम लेम्टर्ट (Calcium) की एक-एक गो तीन गोली एक साथ पानी के साथ देना चाहि इस प्रकार दिन में ३ बार खिलाना चाहिये जब तक रक्त का निकलना पूर्णतः बन्द न हो जावे।

(१५) इस रोगी को परिश्रम नहीं करना चाहि और पूर्ण शैया विश्राम (Complete rest) क चाहिये।

अस्तु, भारतीय जनता से निवेदन है कि ग्रीष्म ऋ कालीन उपर्युक्त भयंकर परिणामों से बचने के लिये उ लिखित नियमों और औषधियों का सेवन कर अपने वंचित कर आरोग्यता प्राप्त करे और भारत सरकार निवेदन है कि वह कार्यालयों का समय ग्रीष्म ऋतु में प्रा काल का करने की कृपा करें जिससे कि कुछ कार्य भी सके और जनहानि की सम्भावना कम रहे।

दूध

वैद्य गोपाललाल मेहता, आयुर्वेदाचार्य, बी० आई० एम० एस०, काव्यतीर्थ

व्याधियाँ तो अति पुरातन काल से ही चली आ रही हैं, परन्तु आधुनिक नवीन वैज्ञानिक युग में रोगों की उत्पत्ति विशेष दृष्टिगोचर होती है। शायद ही कोई परिवार उसके पूर्व संचित पुण्यों के फल स्वरूप इस युग में अपने को स्वस्थ परिवार कहने का अधिकारी हो? आजकल नानाविध व्याधियों में नवीन विज्ञान की एक नवीन व्याधि "डिफीशियन्सी डिसीज़—हीनताजन्य रोग" का विश्वव्याप्त साम्राज्य है। वैज्ञानिक इसकी चिकित्सा में भी कोई कमी अनुभव नहीं कर रहे हैं तथा "जिस पदार्थ की कमी–उसकी पूर्ति" के सिद्धान्त के आधार पर आधारित इन्सुलिन, प्रोटीन्स व नाना भाँति के विटामिन्स की रचना कर दी है। सफलता कहाँ तक प्राप्त हुई है, यह प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है।

'शरीरमाद्यंखलु धर्मसाधनम्' के सिद्धान्त को भूल कर आज का मानव अर्थमाद्यं खलु धर्म साधनम् की ओर विशेष ध्यान रख कर दिन रात कठोर परिश्रम कर रहा है। न उसे शरीर की, न इह लोक की और न परलोक की चिन्ता है। शरीर-क्रिया विज्ञान के नियमानसार उसका पुष्ट शरीर उचित पौष्टिक आहार प्राप्त नहीं करता। परिणामस्वरूप रोगों के चक्रव्यूह में वह फँसा रहता है व विटामिन्स आदि से उसका पीछा कभी नहीं छूटता है।

नवीन चाक्यचक्ययुक्त युग का प्राणी उस वस्तु को भूल चुका है जिसके उपयोग से १०० वर्ष तक वह केवल स्वस्थ नहीं रहता प्रत्यत् बलवान व नीरोग भी रहता है, रोग उसके पास आने की हिम्मत भी नहीं करते। जिस वस्तु का सम्बन्ध इस मायामोहमयन्जगत् में अवतीर्ण होने के साथ-साथ सर्वप्रथम माता से प्राप्त कर प्रत्येक मनुष्य जीवित रहता है, परन्तु दुर्भाग्यवश या रोगों में फँसने के भविव्तय रूप उसी अमृतमय दूध को वह भूल गया है। "यथा सुराणाममृतम् हि उक्त तथा नराणां दुग्ध माहुः।"

१—दूध के पर्यायवाची शब्द—क्षीरम्, पयः, स्तन्यम्, पीयूषम्, बालजीवनम्, उधस्य, अमृतम्, दोहज, अवदोह, दोहापनय तथा दूध। भाषा व प्रान्तों में इसे दूध, हालु, पालु, शीरे, लवनुल, मिल्क एवं लेक्टस नामों से जाना जाता है।

२—दुध के भेद—आयर्वेदीय वैज्ञानिकों ने इसके ८ भेद उत्पत्ति को ध्यान में रखते हुए किये हैं–(१) गाय का, (२) भैंस का, (३) बकरी का, (४) भेड़ का, (५) घोड़ी का, (६) हथिनी का, (७) गदही का और (८) स्त्री का। साथ ही कुछ ऐसे वृक्ष भी बताये हैं जिनका दूध औषध स्वरूप कार्य में लिया जाता है। उनमें वट, सेहुण्ड, अर्क आदि प्रधान हैं।

नवीन वैज्ञानिकों ने इनके अतिरिक्त कुछ नवीन दूध का आविष्कार किया है—जैसे, (१) माल्टेड मिल्क, (२) कन्डेन्स्ड मिल्क, (३) ड्राइड मिल्क आदि। इस लेख का विषय केवल गो-दुग्ध ही है।

३—गो-दुग्ध की उत्पत्ति का इतिहास—(१) परम पूजनीय श्री प्रजापति ने अपने विज्ञान व कर्म के बल से सात अन्नों की उत्पत्ति की। उसमें से उन्होंने दो प्रकार के अन्न देवताओं को दे दिये, तीन प्रकार के अन्न स्वयं के उपयोग हेतु रख लिये, एक प्रकार का दूध मनुष्यों को दिया तथा सात वाँ अन्न पशुओं को दुग्ध स्वरूप दिया। वह पशुओं का अन्न स्वरूप दूध जीवन है, उसमें प्राण रक्षक सत्व तत्त्व विद्यमान हैं। उसे सर्वदा मुख द्वारा खानेवाला देवताओं के समान स्वस्थ व सुन्दर बना रहता है। जीवन को धारण करनेवाले सब हवि उस गो-दुग्ध में प्रतिष्ठित हैं। (वृहदारण्यकोपनिषद् पंचम ब्राह्मण)

(२) पृथ्वी पर अन्न व खेती का व्यापार जब नहीं था, भूमि भी समतल न थी तब महापराक्रमी महाराज श्री पृथु ने गो-रूपी पृथ्वी के प्रार्थना करने पर अपने लाखों बाणों द्वारा पर्वतों के शिखरों को उखाड़-उखाड़ कर एकत्रित कर पृथ्वी को समतल किया व प्राणी बसने लगे। परन्तु उनका आहार केवल फल-फूल मात्र था। पुनः गो-रूपी पृथ्वी के प्रार्थना करने पर उन्होंने गो-रूपी कामधेनु से दुग्ध दुहा जिसका स्पष्ट वर्णन निम्नानुसार है।

श्री पथु ने स्वायम्भुव मनु को बछड़ा बनाया, स्वयं दोग्धा बने, हाथ रूपी पात्र में समस्त धान्य-रूपी दुध की प्राप्ति की। इसके बाद ऋषि, देवता, पितर, असुर, यम, राक्षस, गन्धर्व, पर्वत व वृक्षों ने गो-रूपी पृथ्वी को दुहा व अपने-अपने अनुकूल दुग्ध की प्राप्ति की। यथा :

जाति या वर्ग	दोग्धा	वत्स	पात्र	दुग्ध का रूप
ऋषि	बृहस्पत्ति	चन्द्रमा	वेद	तपोमय ब्रह्म
देवता	सूर्य	इन्द्र	सुवर्णमय	पुष्टिकारक दूध
पितर	अनन्तक	यम	रजतमय	स्वधा
असुर	मधु	विरोचन	तुम्बी	विष
यम	ऐरावत	तक्षक	कच्चापात्र	अन्तर्ध्य निविद्या
राक्षस	रजतनाभ	सुमानी	कपाल	शोणित
गन्धर्व	सुरुचि	चित्ररथ	कमल	पवित्र सुगन्ध
पर्वत	स्वयम्	हिमालय	शिवामय	औषधी
वृक्ष	शालमली	श्लक्ष	पलाश	पुनः अंकुरित होना

(ब्रह्मपुराण पृथु चरित्र से)

(३) इसके बाद त्रेता में महाराजाधिराज श्री दशरथ ने पुत्रेष्टि यज्ञ किया व साक्षात् हव्यवाट् दुग्ध का स्वरूप चरु में ले कर उपस्थित हुए—

शांताभक्तार मानीय ऋष्य श्रृंग तपोधनम्।
अस्माभिः सहितः पुत्रकामेष्टिं शीघ्रमाचर॥
श्रद्धयाहूयमानेऽग्नौ तप्त जम्बू नद प्रभः।
पायसं स्वर्ण पात्रस्थं गृहीत्वोवाच हव्यवाट्॥

(अध्यात्म रामायण बालकाण्ड)

(४) इसी प्रकार द्वापर युग में योगीराज श्री कृष्ण ने अर्जुन को वत्स बना कर दुग्ध दोहन किया।

सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपाल नन्दनः।
पार्थो वत्स सुधीर्भोक्ता, दुग्धं गीतामृतम् महत्॥

उपर्युक्त वर्णन को इसी दृष्टि से सामने रखा गया है कि प्रत्येक स्थान पर गो-दुग्ध की ही विशेषता बताई गई है।

मानव को गो-दुग्ध की आवश्यकता क्यों ?

आयुर्वेद में उपर्युक्त कई प्रकार के दूध वर्णित हैं, परन्तु मनुष्य को तो खास तौर पर गो-दुग्ध की ही आवश्यकता है—क्योंकि जब मनुष्य जन्म लेता है तब से वह माता के दूध पर निर्भर रह कर पलता व पुष्ट होता है, परन्तु माता का दूध सदैव सुलभ नहीं होता है, अतः उसकी पूर्ति करने की समता रखनेवाला उपर्युक्त वर्णित दुग्धों में से कोई है तो केवल "गो-दुग्ध"।

दूसरी बात यह है कि गो के दूध में प्रोटीन व लवण अधिक तथा कार्बोहाइड्रेट माता के दूध से कम प्रमाण में मिलता हैं। यही कारण है कि बच्चों को गो का दूध पिलाते समय पानी व शर्करा ऊपर से मिलाई जाती है।

साथ ही साथ गो के दूध में "केरोटिन" नामक एक पदार्थ विशेष रहता है जिसमें विटामिन ए व डी सब जानवरों के दूध से अधिक रहते हैं। यही कारण है कि गाय का दूध सब से अधिक पौष्टिक है।

यूनानी चिकित्सा की पुस्तक "खवसु अदविआ" में लिखा है कि गाय का दूध किसी क़दर मीठा और सफेद मशहूर होता है, सिला, तपेदिक, फेफड़े के जख़्म में मुफीद है। गम को दूर करता है और खफकान में फायदेमन्द है, चमड़े पर रंगत लाता, दिल व दिमाग को मजबूत बनाता है, मनी को पैदा करता है व जल्द हजम हो जाता है।

गाय के दूध के इन्हीं कारणों से गाय को माता के समान गो-माता कहा जाता है।

गो-दुग्ध का वैज्ञानिक विश्लेषण—नवीन आविष्कारों के जनकों ने भी दूध खासकर गो-दूध की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा करते हुए कहा है कि गाय के दूध में वे सब वस्तुएँ हैं जो मनुष्य के जीवन यापन के लिये जीवन पर्यन्त आवश्यक है। गाय का दूध ही एक ऐसा दूध है जो प्राणी के शरीर में पूर्ण रूप में या ९० प्रतिशत शोषण होता है। इसमें केलसियम पोटेसियम, सोडियम, आयोडीन, विटामिन ए० बी० सी० डी० ई० तथा क्षार पाये जाते हैं।

डाक्टर श्री ज़बिन्दन के कथनानुसार गाय के दूध में एल्युमिनयम, क्रोमियम, ताँबा, शीशा, अबरक, टिन टिटेनियम कांसा, वैनिडियम व कभी-कभी सोना व चाँदी भी प्राप्त होते हैं।

वर्णन की दृष्टि से इन्हें १—जल, २—वसा, ३—शर्करा ४—प्रोटीन, ५—क्षार में विभक्त करते हैं।

(१) जल—गाय के दूध में जल की मात्रा लगभग ८७ प्रतिशत रहती है। यही दूध में रहनेवाले सब तत्वों को प्रवाही रूप में बना कर रखता है।

(२) वसा का भाग गाय के दूध में ३ प्रतिशत तक घृतांश के सूक्ष्म कणों में मिला रहता है। यही वह वस्तु है

शरीर के पोषण में विशेष सहायक है। गाय के दूध में प्राप्त होनेवाली वसा कई प्रकार की होती है जो अवस्थानुसार घट-बढ़ भी सकती है।

(३) शर्करा—दूध में ४ प्रतिशत तक मिलती है इसे लेक्टोज़ कहते हैं। गन्ने की शर्करा व दुग्धशर्करा में बड़ा अन्तर होता है। यह गन्ने की शक्कर से कम मीठी व घुलने के लिये उससे अधिक पानी की अपेक्षा रखती है। यह दूध के जलीयांश में ही घुली रहती है।

(४) प्रोटीन—गाय के दूध में ३ प्रतिशत तक प्राप्त होता है। दूध का यही उत्तेजनयुक्त भाग शरीर की मांस-वृद्धि, शक्ति-वृद्धि करता है। यह २ प्रकार का होता है—१-अल्बुमिन, २-केसिन।

(१) अल्बुमिन गाय के दूध में १८ प्रतिशत तक प्राप्त होता है व प्रत्येक बात में शरीर के रुधिर के अल्बुमिन भाग से मिलता है। दूध के गरम करने पर यह मलाई के रूप में दूध के ऊपर आ जाता है।

(२) केसिन—यह प्रोटीन हमेशा दूध में घुला रहता है, परन्तु कभी रेनेन्ट आदि डाल कर उसे फाड़ दिया जावे तो यह भी जम जाता है, व करीब ८०% पाया जाता है।

इसी प्रकार एक तीसरा प्रोटीन फाइब्रिन नामक भी सूक्ष्म मात्रा में २% तक पाया जाता है जो दूध को चौड़े बरतन में खुला छोड़ देने पर मकड़ी के जाले सदृश रेशे-रेशे के रूप में दिखाई देता है।

(५) क्षार—यह दूध में अत्यल्प मात्रा में प्राप्त होता है। यही गो-दुग्ध की वस्तु क्षय आदि रोगों की रोकथाम में बड़ी सहायक है। गाय के दूध में यह कई प्रकार का पाया जाता है, जिनके नाम ये हैं—

१-फास्फेट आफ लाइम, २- फास्फेट आफ पोटास, ३-सोडियम क्लोराइड, ४-पोटेसियम क्लोराइड, ५-फास्फेट आफ आयरन, ६-फास्फेट आफ मेगनेसियम।

इनमें प्रथम दो दूध के केसिनवाले भाग में ही मिले रहते हैं।

विटामिन्स—गाय के दूध में जीवनीय तत्त्व भी खूब रहते हैं इनमें विटामिन ए० व डी० सब से अधिक व सी० बी०, भी कुछ मात्रा में पाये जाते हैं। दूध को गरम करने से उसके विटामिन्स प्रायः नष्ट हो जाते हैं, अतः गो का दूध ताजा पीने का विशेष महत्त्व है—

ताजा गाय के दूध में वैज्ञानिकों के मतानुसार एक जीवाणु-नाशक शक्ति होती है। श्री फीडेल व मीनिक के मतानुसार ताजा दूध में हैजे के जीवाणु तत्काल मर जाते हैं—इसीलिये तो आयुर्वेद में "धारोष्णमतोपमम्" कहा है।

(वाग्भट)

आयुर्वेद में जांगल देश की गायों से आनूप देश की व आनूप देश की गायों से पर्वत देश की गायों का दूध भारी बताया है।

(८) दूध की अशुद्धियाँ—स्वस्थ गाय का स्वच्छ दूध स्वास्थ्यवर्धक व रुग्ण गाय या अन्य मिलावटों या कारणों द्वारा अशुद्ध दूध अस्वास्थ्यकर होता है—"स्वास्थ्यं ताभ्या-मदुष्टाभ्यां दुष्टाभ्यां रोग संभवैः" (अ० स० उ० २) (यहाँ गो व माता दोनों के लिये कहा जाने से द्विवचन प्रयुक्त है) प्रायः दूध बेचनेवाले कई प्रकार की अशुद्धियाँ मिला कर दूध को अशुद्ध बना देते हैं। कुछ मुख्य इस प्रकार हैं-१-पानी, स्वच्छ पानी से गन्दे से गन्दे पानी तक, २-शुद्ध दूध में माखन निकला हुआ दूध मिला देना, ३-एक गाय के दूध में बकरी आदि के दूध का मिश्रण, ४-अरारोट, ५-चावल का आटा, ६-इक्षु शर्करा।

(९) दूध की परीक्षा—दूध की साधारण जांच के कुछ तरीके निम्नलिखित व वास्तविक सत्य हैं—

१—दूध की कुछ बूंदें जमीन, जो मिट्टी की हो, पर डाल दें यदि दूध में पानी मिला होगा तो जमीन सोख लेगी शुद्ध होगा तो डाला गया बूंद जैसा का तैसा रहेगा।

२—दूध की बूंद नाखून पर रखो। शुद्ध होने पर जैसा का तैसा जमा रहेगा पानी मिला होने पर फैल जावेगा।

३—ब्लाटिंग पेपर पर बूंद डालो तत्काल न शोषण हो तो शुद्ध समझो।

४—राख को जमीन पर दबा दो दूध की कुछ बूंदें डालो शीघ्र सूखने पर पानी अन्यथा शुद्ध समझो।

५—लेक्टोमीटर द्वारा भी इसकी परीक्षा की जाती है।

६—कुछ लोग खोवा (मावा) बना कर भी परीक्षा करते हैं।

७—किसी भी चौड़े सफेद बर्तन में रख कर देखो। किनारे नीलाभ होने पर पानी मिला समझो।

विश्लेषण पद्धति द्वारा वसा ३.५० व ठोस भाग ८०५ भाग होने पर शुद्ध समझा जाता है।

(१०) कुछ जीवाणु भी दूध को अशुद्ध कर देते हैं।

(११) इसके अतिरिक्त भी वृद्धा गाय, तीन माह से गर्भवती गाय, अधिक दिन की ब्यायी गाय का दूध पीना मना किया है, क्योंकि वृद्धा गाय के दूध में वसा कम हो जाती है, तथा गर्भवती का दूध दूषित हो जाता है, एवं पुरानी गाय का दूध नमकीन हो जाता है।

(१२) नवीन ब्यायी हुई गाय का दूध भी पीने के अयोग्य है, क्योंकि इसके दूध में "कॉलस्ट्रम" नामक जीवाणु बहुत होते हैं व चीनी व पानी का अंश बहुत ही कम तथा प्रोटीन व क्षार का अंश अत्यधिक होता है। इसमें अल्बुमिन तो इतना होता है कि गरम करते-करते ही थक्के के रूप में परिणत हो जाता है। जबतक यह थक्का जमना बन्द नहीं होता, तब तक दूध नहीं पिया जाता। इसीलिये भारतीय हिन्दुओं में १५ दिन तक ब्यायी गाय का दूध नहीं पिया जाता है।

(१३) कैसी गाय का दूध पीवे—जो गाय तरुणी हो व स्वस्थ हो, जिसके बछड़े व गाय का रंग एक समान हो काली या सफेद हो, जो हमेशा माषपर्णी आदि या ईख के खेतों में चरती हो, अन्न खानेवाली हो व जिसे घास व बिनोले खली आदि खिलाये जाते हों ऐसी गाय का दूध 'धारोष्ण' पीना चाहिये।

(१४) समयानुसार दुग्धपान के विशेष गुण—शास्त्रकारों ने दिन के कालानुसार भी दुग्धपान का महत्त्व बतलाया है।

१—दिन के पूर्वाह्न में पिया गया दूध वृष्य, बृंहण व अग्निदीपक है।

२—मध्याह्न में पिया गया दूध—बलदायक, कफनाशक, पित्तहर, अग्निदीपक, बलवर्धक, क्षय-नाशक, व वीर्यवर्धक है।

३—रात्रि का पिया गया दूध—अनेक दोषों को नष्ट करता व पथ्य होता है।

इसी प्रकार दूध के ऊपर आनेवाले झागों की विशेषता वर्णन करते हुए बताया है कि झाग त्रिदोषनाशक, रुचिकारक, बलवर्धक, अग्निवर्धक, वीर्यवर्धक, तत्काल तृप्तिदायक, शान्तिदायक, अतिसार, मन्दाग्नि व ज्वर में हितकर हैं।

(१५) उबाला हुआ दूध—शहरों में धारोष्ण दूध का प्राप्त होना कठिन प्रायः है, व दूध के देर से प्राप्त होने के कारण उसमें नाना प्रकार के हैजा, अतिसार, प्रवाहिका, आन्त्रिक ज्वर, टायफस, क्षय, माल्टा ज्वर, कण्ठप्रदाह, डिप्थीरिया, संग्रहणी आदि के रोगों के जीवाणु आश्रय पा जाते हैं, इसलिये दूध को इन दोषों से मुक्त करना ही श्रेयस्कर है। दूध को उबालने या गरम करने के लिये कम-से-कम ७५ सेंटिग्रेट अधिक से अधिक ८० सेंटिग्रेट की गरमी काफी होती है इसी उष्णता में भी विटामिन नष्ट होने लग जाते हैं। या तो दूध को तेज गरमी दे कर उतार देना चाहिये, या मन्द-मन्द आँच पर ५।७ मिनट तक रखना चाहिये।

(१६) दूध पीने की रीति—दूध एक पेय वस्तु है। इसका अर्थ यह नहीं कि इसे पानी के समान गिलास में भर कर तत्काल पी लिया जावे। दूध पेय होते हुए भी एक आहार है। अतः इसका पान भोजन के समान होना ही चाहिये।

एक वार में कम-से-कम आधा सेर दूध एक २५ वर्षीय मानव को अवश्य पीना चाहिये।

केवल दुग्धाहार पर रहनेवालों को जब कभी भूख लगे या १-१ घण्टे के परिमाण से आधा सेर दूध पी लेना चाहिये।

गरम दूध को शुद्ध रखने के लिये उस पर गीला कपड़ा ढंक कर रख देना चाहिये, व बरतन को पानी में रखना चाहिये। यदि रेफरीजेरेटर उपलब्ध हो तो उसमें रखना चाहिये।

(१७) दुग्धाजीर्ण चिकित्सा—इस प्रकार दुग्धाहारी को कदाचित् अजीर्ण हो जावे तो सोंठ का चूर्ण १ माशा डाल कर २-४ वक्त पी लेना चाहिये।

(१८) दूध का पाचन—जैसे ही दूध मुख द्वारा गले में हो कर आमाशय में पहुँचता है, उस पर आमाशयिक र की क्रिया प्रारम्भ हो जाती है, जिसके परिणाम स्वरूप दू फट जाता है व उसमें २ प्रकार का परिवर्तन होता है १—छेना, २—कूर्चिका, १—छेना के अन्दर प्रोटीन ३४. वसा २.०५, लवण १.०१, तथा २—कूर्चिका में शर्करा वि व सूक्ष्म मात्रा में वसा एवं प्रोटीन पाई जाती है।

यह छेना दूध में पाये जानेवाले केसिन व केलसियम मात्रा पर निर्भर रहता है। उनकी मात्रानुसार घट-बढ़ है। बाद में यह अल्बुमोज के रूप में परिणत हो कर में उतार दिया जाता है। आँतों द्वारा इसका अब प्रारम्भ होता है, व पूर्ण मात्रा में शोषित हो जाता है।

गाय-दूध के पाचन में दूसरे दूध व अन्य वस्तुओं के में होनेवाली शरीर की शक्ति के व्यय से बहुत कम खर्च होती है। इससे शक्ति का दुरुपयोग होने से बच है जो शरीर के अन्य उपयोग में आ सकती है।

(१९) दुग्ध विरुद्ध—दूध के आहार के साथ कुछ वस्तुओं का खान-पान वर्जित है ।

(२०) दूध का शोधन में उपयोग—आयुर्वेद में कितनी ही धातुओं का शोधन दूध से किया जाता है। रत्नों की परीक्षा करनेवाले गो-दूध में ही रत्नों की परीक्षा करते हैं। रत्नों की प्रतिभा चमकाने के लिये भी रत्नों को दूध से धोया जाता है।

(२१) गो-दुग्ध का चिकित्सा में उपयोग—आयुर्वेद में गो-दुग्ध से करीब-करीब सभी रोगों की चिकित्सा की जाती है। नव्य चिकित्सा विज्ञान के प्रसिद्ध दुग्ध चिकित्सक श्री एला ह्वीलर बिल्काक्स का कथन आयुर्वेद से बिलकुल मिलता है। देखिये—

"केवल हृदय के कुछ स्थानीय रोगों को छोड़ कर शेष ऐसा कोई भी रोग नहीं है जो दूध पिला कर अच्छा नहीं किया जा सके, यहाँ तक कि टी० बी० व कैन्सर भी दुग्धपान से अच्छे किये जा सकते हैं।"

आयुर्वेद ग्रन्थों में चिकित्सा में गो-दुग्ध का प्रयोग निम्नांकित रोगों में प्राप्त है १—ज्वर, रक्तपित्त, वमन, गुल्म, राजयक्ष्मा, उरःक्षत, श्वयथु, उदर रोग, अर्श, अस्मक, पांडु, वातपित्तज श्वास, हलीमक, हिक्का, कास, तृष्णा, प्रवाहिका, मदात्यय, हृद्रोग, मूत्रविकार, अन्त्रवृद्धि, अश्मरी, अतिस्त्रीसंभोगजन्य क्षीणता। २—स्त्री रोगों में—योनि रोग, स्तन्यनाश, सूतिका रोग, गृहबाधा आदि।

दूध का गुदबस्ति में प्रयोग—अर्श-मदात्यय व वातरक्त।

३—दूध का योनिबस्ति में प्रयोग—मदात्यय, पित्तला योनि।

४—दूध का अभ्यंग व सेचन में प्रयोग—तृष्णा, मदात्यय, अस्थिभग्न, पक्ष्मरोध, नेत्ररोग, अन्त्रच्युति।

५—दूध का वमनार्थ प्रयोग—उदररोग, पक्ष्मशात् राजयक्ष्मा रोग।

६—दूध का नस्यार्थ प्रयोग—शिरोगत वात, यक्ष व गृहबाधा, हिक्कारोग।

७—दूध का लेपन में प्रयोग—न्यच्छ व व्यंग रोग।

८—पथ्य रूप में दूध का प्रयोग—उदर रोग, पांडु, प्रवाहिका, रक्तातिसार, भग्न-चिकित्सा, रक्तपित्त, उरःक्षत, गर्भिणी व रसायन-सेवी।

९—आहार रूप में दूध का प्रयोग—ग्रहणी चिकित्सा नागबला रसायन का काल।

१०—दूध का रसायन व वाजीकरण में प्रयोग—१—दीर्घायुष्य की कामना वाला १ माह तक पचत्रक सिद्ध दूध या १ वर्ष तक नागबला सिद्ध गो-दुग्ध बिना अन्न खा-कर याने दुग्धाहार रह कर प्रयोग करे। १०० वर्ष तक स्वस्थ सुन्दर नरोग शरीर की प्राप्ति करता है।

(२२) वैज्ञानिक दुग्ध चिकित्सा—नव्य चिकित्सा शास्त्रियों के यहाँ तो "दुग्ध चिकित्सा, नान स्पेसिफिक थेरेपी" के नाम से एक पद्धति ही अलग है जिसके अनुसार रिकेट्स, स्कर्वी, श्वास में दुर्गन्ध, पेलेग्रा, बेरी-बेरी, ज़ेरे-प्थाल्मिया, डिफीशियन्सी डिसीज़, नेत्र व्रण, नेत्र-शल्य चिकित्सा, पूयमेह व पूयमेह जनित विद्रधि, सन्धिवात, शिशु दुग्धवमन तथा स्तन्य की कमी में दुग्ध चिकित्सा ही की जाती है। स्केबीज, बाइल, कार्बंकल, फ्लेक्चुला, एक्झीमा, प्रूराइटिस, ल्यूकोरिया में भी प्रयुक्त है—

गोनोकाक्कस-स्टेफिलाकाकस, स्ट्रेप्टोकोकाय, न्यूमोकोकाय जीवाणुजन्य रोगी पर इसका अच्छा प्रभाव होता है।

(२५) गो-दुग्ध चिकित्सा के कुछ अनुभूत योग—

(१) रोगी को तीव्र ज्वर होने पर ताजा धारोष्ण गो-दुग्ध को गिलास में भर कर अत्यन्त ठण्डे जल या बरफ में रख दो। उसमें कपड़े की पट्टी भिगो-भिगो कर रोगी के ललाट पर से कनपटी तक रखो। एक पट्टी गरम होनेपर दूध अलग निचोड दो दूसरे बर्तन में, व दूसरी पट्टी फिर लगा दो इस प्रकार १५।२० मिनट में रोगी का तीव्र ज्वर २-३ डिग्री नीचे उतर आता है। ऐसा १-१ घण्टे में करना चाहिये।

(२) वात श्लेष्म ज्वर—१ पाव दूध में २ पाव पानी मिला १ माशा सोंठ, ५ काली मिर्च, ५।१० तुलसी के पत्ते डाल कर उबालों। १।। पाव शेष रहने पर गरम-गरम पी कर ओढ़ कर सो जाओ, (पसीना पोंछने में हवा नहीं लगे)

(३) कोष्ठ शुद्धि के लिये तथा निद्रानाश में रात को गरम-गरम दूध पिला कर सुलाने से प्रातः दस्त साफ होता व निद्रा अच्छी आती है।

(४) फक्क रोग में दूध में चूने का पानी मिला कर देना चाहिये।

(५) विष पीने व कोई भी तेजाब आदि पीनेवाले रोगी को दुग्ध पान से पूर्ण लाभ होता है।

(६) सूतिका रोग में पिप्पलामूल के साथ उबाल कर पिलाने से लाभ होता है।

(७) मूत्रकृच्छ्र व उष्णवात में रोगी को दूध में जव मिला कर मिश्री डाल कर पिलाने से लाभ होता है।

(८) दूध के ऊपर आनेवाले झागों का लेप मुख पर निरन्तर करने पर झाँई (न्यच्छ) मुख दूषितका आदि पर लाभ होता है।

(९) निरन्तर दुग्ध पान करनेवाले का शरीर स्वस्थ व सुन्दर रहता तथा रोग उससे दूर रहते हैं, ।

(२४) अपथ्य रूप में दूध—कुछ ऐसे भी रोग हैं जिनमें गो-दुग्ध भी अपथ्य होता है, जैसे—कुष्ठ रोग तथा कृमि रोग।

पूययुक्त व्रण में भी दुग्ध पान पूयवर्धक होता है, अ आज भी विद्वान् शल्य-चिकित्सक व्रण में पूय बनने के बा दुग्धपान बन्द करवा देते हैं।

आज के युग में प्राणियों को विरुद्धाविरुद्ध वस्तुओं का ज्ञानाभाव होने से वे सब प्रकार का आहार एक साथ करते रहते हैं, जिससे उनके शरीर में दाह आदि उत्पन्न हो जाते हैं, ऐसे लोगों को भोजन के बाद अवश्य दूध पीना चाहिये।

(२५) उपसंहार——संसार में गो-दुग्ध की विशेषता सबने एक और से स्वीकार की है इसे प्रत्येक जानता है, अब मेरी उस मंगलमय भगवान से यही कामना है कि वे प्रत्ये परिवार को गो-दुग्ध पान की सद्बुद्धि दे।

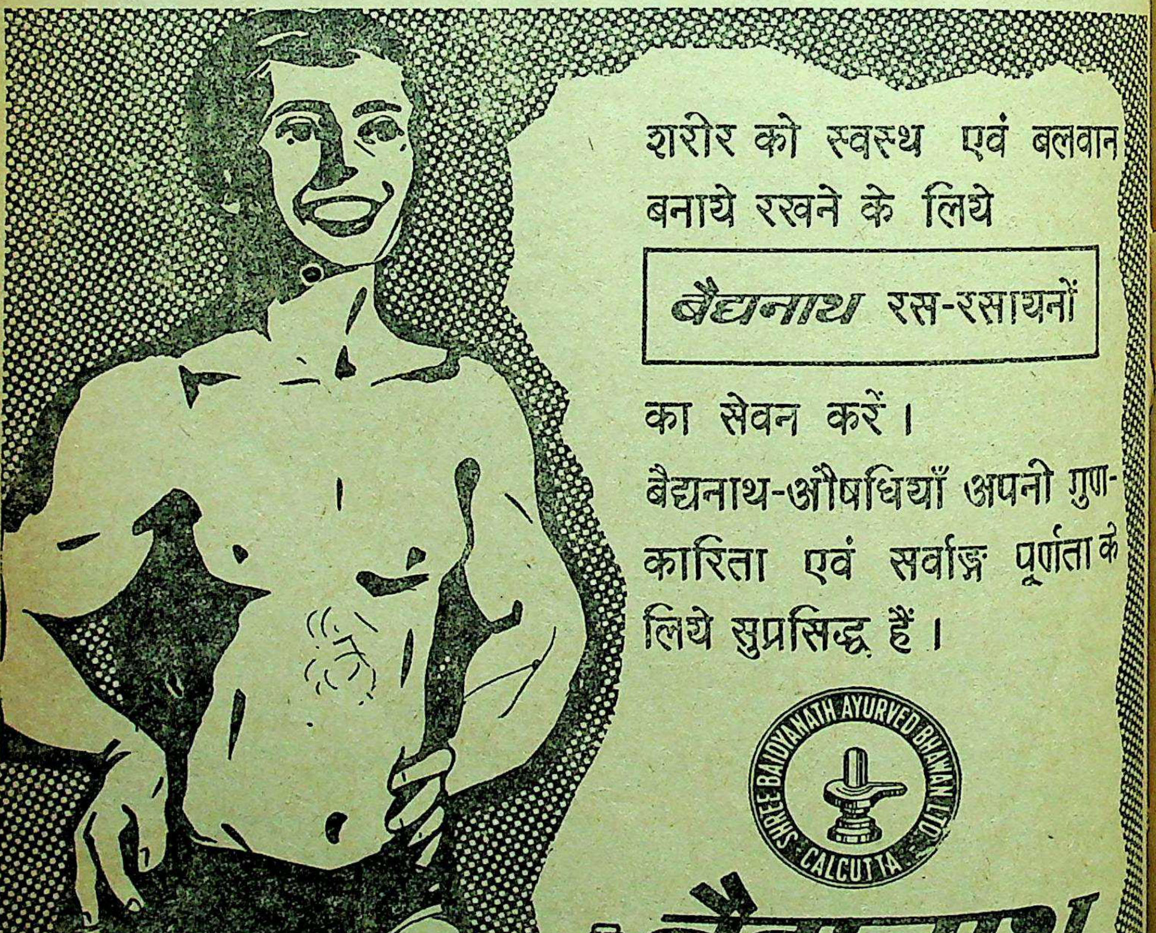

शरीर को स्वस्थ एवं बलवान बनाये रखने के लिये

बैद्यनाथ रस-रसायनों

का सेवन करें।

बैद्यनाथ-औषधियाँ अपनी गुण-कारिता एवं सर्वाङ्ग पूर्णता के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

श्री **बैद्यनाथ**

आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

आयुर्वेद पर प्रहार

कविराज इन्दुमाधव भट्टाचार्य

सभी को मालूम है कि आयुर्वेद कोई नया शास्त्र नहीं है, वह तो वेद है, अनादि है ।

ईसा से ६०० वर्ष पूर्व हमारे पूर्वजों ने उसी आयुर्वेद से संकलित चिकित्सा-संबंधी ग्रन्थों को एक अमूल्य सम्पत्ति के रूप में हमें दिया है । उन ग्रन्थों में केवल चिकित्सा-प्रणाली ही नहीं किन्तु स्वस्थवृत्त, शरीर विज्ञान, अस्त्रोपचार, आशुमृतक परीक्षा, शवच्छेद आदि का भी विवरण मिलता है ।

पाश्चात्य विज्ञान के अतिरिक्त अरब, यूनान, चीन आदि सभ्य जातियों की चिकित्सा-पद्धतियाँ आयुर्वेद की ही ऋणी हैं। इत्सिग रेकर्ड आफ बुद्धिस्ट प्रैक्टिसेस पढ़ने से मालूम होता है कि एक चीनी परिव्राजक ने चीनी चिकित्सा विज्ञान का सामान भारत में चीन से पहुँचाया है ।

अब प्रश्न उपस्थित होता है कि ऐसे प्राचीन और अमूल्य विज्ञान की दशा क्यों ऐसी दयनीय हो गयी है । सामाजिक, राजनीतिक और धार्मिक परिस्थितियों की विषमता से इस अत्युपयोगी विज्ञान पर बहुत ही धक्का लगा । इस अमूल्य आयुर्वेद रत्न को अन्यायी तरंगे न जाने कहाँ-कहाँ बहा ले गयी और ले जायंगी । जो जातियां इस अमूल्य रत्न का संग्रह करके अपना प्रसाधन बना सकी उन्हीं के गले का आभूषण बनकर वह उन्हें भूषित कर रहा है ।

असंख्य अत्याचारियों की निर्मम चक्कियों द्वारा आयुर्वेद का अस्थि-पंजर पीसा गया और उसका जो कुछ ध्वंसावशेष हमारे पास है उसको भी हमारे स्वाधीन देशके कर्णधार लुप्त करने की योजना बना रहे हैं ।

हम लोगों को बहुत आशा थी कि देश स्वतन्त्र हो जानेके बाद आयुर्वेदीय चिकित्सा प्रणाली की अत्यधिक उन्नति होगी और देशीय औषधि द्वारा ही जनता की चिकित्सा करने का प्रोत्साहन गणराज्य से मिलेगा । हमें आशा थी कि हमारी सरकार आयुर्वेदीय औषधि पर हर प्रदेश में अनुसंधानशाला खोलेगी, लुप्तांश का उद्धार करेगी और सारे संसार में आयुर्वेदीय औषध की चमत्कारिता का प्रचार करेगी। पर अब स्पष्ट देखने में आता है कि हमारी सरकार ने किसी राष्ट्रीय चिकित्सा नीति की घोषणा अबतक नहीं की और न तो केन्द्रीय सरकार ने आयुर्वेदीय शिक्षा-प्रसार के लिए कोई नवीन शिक्षा संस्था खोली है । हाँ, जामनगर स्थित रानी गुलाबकुंवर द्वारा स्थापित ट्रस्ट के आयुर्वेद विद्यालय को कुछ प्रोत्साहन अवश्य मिल रहा है । सच्चे अर्थमें आयुर्वेद विषयक योजना और नीति-निर्धारण का कार्य केन्द्रीय सरकार ने आगे अपने हाथ में तो लिया ही नहीं, परन्तु उसके विपरीत महामना मालवीयजी की प्रचेष्टा, योजना और घोषणा के फलस्वरूप आयुर्वेद प्रेमी जनता द्वारा आयुर्वेदीय कालेज के लिए दिये गये अर्थ से 'आयुर्वेदिक कालेज' बना है, उसको भी लुप्त करने की योजना बन गयी । इसी प्रकार पंजाब के विशाल आयुर्वेद कालेज को भी 'मेडिकल कालेज' के रूप में करने का निर्णय हुआ । केवल इतना ही नहीं अभी भी पाश्चात्य चिकित्सा से विफल रोगी जिस आयुर्वेदीय चिकित्सा से नीरोग हो रहे हैं अधिक से अधिक गरीब जनता जिस आयुर्वेद से लाभ उठाती है, अधिकांश ग्रामीण जनता स्वल्प व्ययमें जिस आयुर्वेद की कृपा से नीरोग होती है उस पर भी अप्रत्यक्ष रूप में आघात पहुँचाया जा रहा है ।

'सेण्ट्रल मेडिसिनल टायलेट' प्रिपरेशन एक्ट में आयुर्वेदीय आसव-अरिष्टों को भी 'सुरा' के रूप में मान लिया गया और उन पर इसी दृष्टिकोण से तरह-तरह के नियन्त्रण आ रहे हैं । साधारण जनता भी जानती है कि किसी भी आयुर्वेदीय आसव-अरिष्टों में मादकता नहीं रहती । तो फिर उन्हें सुरा मानना वैद्यों को परेशान करने के ध्येय से उन पर प्रहार करने के अतिरिक्त और क्या हो सकता है ?

आयुर्वेद में वनस्पति, रस, (पारद) उपरस, धातु, उपधातु और आयुर्वेदोक्त विष वर्ग द्वारा चिकित्सा की रीति २६०० वर्ष से चली आ रही है । अब हमारी सरकार उन सबोंके व्यवहार पर भी प्रतिबन्ध लगा कर परोक्ष रूप से आयुर्वेद पर प्रहार करने जा रही है और आयुर्वेदीय चिकित्सकों के अधिकार में बाधा पहुँचा कर जनता को जहाँ सुलभ चिकित्सा मिलती थी उस पर प्रहार कर रही है ।

यदि पूछा जाय कि अब से एलोपैथी दवा का प्रचलन भारत में हुआ है तब से आज तक अथवा स्वतन्त्रताप्राप्ति के

बाद से आज तक हमारे देश के डाक्टरों ने ऐसी कौन-सी नवीन खोज, नयी औषधि, नयी व्यवस्था पाश्चात्य के अनुकरण न करके प्रस्तुत की जिसका प्रसार देश-विदेशों में हुआ? हाँ, ब्रिटिश सरकार के शासनकाल में बंगाल के प्रसिद्ध डाक्टर यू० एन० ब्रह्मचारी ने, कालाजार रोग के लिए जो आविष्कार किया था उसका मूल सूत्र आयुर्वेदोक्त प्लीहा-यकृत रोगाधिकार में गोमूत्र का व्यवहार-विधि से ही प्राप्त हुआ था और आपने 'यूरिया स्टवामिन' नामक अचूक औषधि का आविष्कार किया था।

जन्म से मृत्यु तक जिस मधु का हम प्रयोग करते है, वेद से लेकर धर्मशास्त्र तक में जिस मधु की प्रशंसा और प्रयोग है यहाँ तक कि आयुर्वेद के अनुपान में जिस मधु का अधिकतर प्रयोग होता है उस पर भी आजतक तथाकथित भारतीय वैज्ञानिक ने खोज नहीं की, उसे केवल मात्र व्यापार के दृष्टि से देखा, परन्तु क्यूरेटिव प्रोपर्टीज आफ कहनी एण्ड वी-वेनम' शीर्षक पुस्तक में अपनी खोज का वर्णन अति सुन्दर ढंग से किया है। इस तरह आयुर्वेदोक्त में कमी मा होती है उन पर अनुसन्धान करके आयुर्वेदीय चिकित्सा चिकित्सकों को प्रोत्साहन देकर उनकी उन्नति का पथ प्र करना उचित है अथवा उस पर प्रहार।

इस प्रकार का रहस्य सही बात में यह है कि सदियों पोषित विदेशी चिकित्सा-पद्धति के समर्थक ही शासन में हुए हैं। जो सरकार के सामने तरह-तरह का कुचक्र रच हर प्रकार से प्रहार करने के मूल कारण हो रहे हैं। ओर आयुर्वेद को अधिकार न देना और दूसरी ओर कार की मांग होने पर संस्था को ही समाप्त कर देना कहां न्याय है? जरा गम्भीरतापूर्वक सोचिये हिन्दू वि विद्यालय में आयुर्वेद महाविद्यालय को मेडिकल का बनाने का परिणाम आयुर्वेद और वाराणसी के लिए कितना घातक होगा? इसलिए इन सब बातों विश्वविद्यालय एवं सरकार को अपनी नीति बदलने आवश्यकता है।

मोटापन कम करने के उपाय

लेखक—श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी

इस पुस्तक में मोटापन को दूर कर स्वस्थ, सबल बने रहने के उपायों पर सुन्दर ढंग से प्रकाश डाला गया है। मूल्य—सजिल्द २), अजिल्द रु० १.५०.

प्रकाशक—

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

मुगल-काल में भारत में विदेशी चिकित्सकों का प्रवेश

श्री प्रतापकुमार वैद्य

वैद्यों में यह आह्लादक मान्यता सदा से चली आई है कि मुस्लिमों के आगमन के पूर्व आयुर्वेद भारत भर में रोग-निवारण के कार्य में योग दे रहा था। हकीम भी यही मनवाना चाहते हैं कि अंग्रेजों के पदार्पण के पूर्व हिकमत और आयुर्वेद का ठीक प्रसार था और ये पद्धतियाँ जनता के रोगों के प्रतिकार में सबल भाग अदा करती थीं।

पाश्चात्य पुस्तकों में प्राप्य उल्लेखों से सिद्ध होता है कि मुगलों का पतन होने लगा उससे पहले ही पाश्चात्य चिकित्सकों का प्रवेश भारत में हो चुका था। राजदरबारों में पाश्चात्य चिकित्सकों को स्थान मिलता था।

फ्रेन्च चिकित्सक **फ्रांको बर्नियर** शाहजहाँ के ज्येष्ठ पुत्र दारा शिकोह के वैयक्तिक चिकित्सक के रूप में अधिष्ठित था। राजगद्दी को हथियाने के लिए औरंगजेब ने २९-८-१६५९ को दारा की हत्या करवाई और उसके अनन्तर बर्नियर ने औरंगजेब की नौकरी स्वीकार की। तब से वह दो वर्ष नौकरी करने के पश्चात् मुक्त हुआ था।

इटली का **निकोलास मानुची** १६५६ में सूरत आया। वह भी दारा की नौकरी में गोलंदाज के रूप में रहा था। दारा के देहान्त के पश्चात् उसने चिकित्सक का व्यवसाय चालू किया था, यद्यपि इस विषय का उसने लेशमात्र अध्ययन नहीं किया था। उसके पश्चात् १६६५ में वह जयपुर-नरेश जयसिंह के यहाँ तोपची के रूप में रहा था। पुनः लाहौर में वह चिकित्सक बना और औरंगजेब के ज्येष्ठ पुत्र शाहआलम का निजी चिकित्सक नियुक्त हुआ था। वहाँ से पृथक् होने के पश्चात् भी उसने चिकित्सक का व्यवसाय चालू रखा था। उसका देहान्त १७०९ के आसपास हुआ माना जाता है।

इस मानुची ने अपने संस्मरण Storia do Mogor (मुगलों की बात) नाम से लिखे थे। उसमें उसने लिखा है कि दारा के ज्येष्ठ पुत्र सुलेमान का चिकित्सक **सिकन्दर खान** नामक एक आरमीनीयन था। शाहजहाँ का अपना चिकित्सक ईरान का था—**मकर्रम खान**। १६६३ में आगरा में वह एक डच चिकित्सक-**जकूब मिन्युस** के सम्पर्क में आया था। अन्य चिकित्सक उस काल में थे—आसाम में डच चिकित्सक **जल्मर फोर्बर्ग** दक्षिण के राजा जयसिंह के यहाँ लुई बीचाओ, औरंगाबाद के शाह आलम की नौकरी में इटली का **एन्जेलो लग्रेस्झी**, गोलकुण्डा के राजा के पास ड, **एस्टरमन** और बंगाल में फ्रांस का काट्रम।

ये चिकित्सक अपने शास्त्रीय कार्य के अतिरिक्त राज-काज में भी थोड़ा-बहुत भाग लेते ही होंगे, यह स्वाभाविक है। यथा, गोलकुण्डा के चिकित्सक ड' एस्टरमन के नाम पत्र लिख कर कम्पनी की सरकार ने राजा से सिक्के ढलवाने की अनुज्ञा लेने की विनती की थी। कर्णाटक के नवाब के आरमीनीयन चिकित्सक को मध्यस्थ बनाकर कम्पनी सरकार ने वाणिज्य के लिए अनुज्ञा लेने की कार्यवाही की थी।

हैदरअली और टीपू सुलतान के दरबार में बहुत-से यूरोपियन चिकित्सक थे। अंग्रेजों के साथ हुए युद्ध में पकड़े गए कई अंग्रेज कैदियों ने लिखा है कि उनकी चिकित्सा **डॉ० लोइड** नामक अंग्रेज डाक्टर करते थे और वे हैदरअली की नौकरी में थे। श्रीरंगपट्टन में कई अन्य कैदियों की सुश्रुषा एक फ्रेंच डाक्टर ने की थी। कर्णाटक के नवाब के यहाँ **एलकजेण्जर बोसवेल** नामक सर्जन कम्पनी सरकार की सिफारिश से रहा था (१७७६)। उक्त नवाब के दो शाहजादों के लिए दो युरोपियन डाक्टर रखे गये थे। नवाब की सेवा में सब मिलकर दो कायचिकित्सक और ६ सर्जन रहते थे। सन् १८०१ में नवाबी का अस्त हुआ और कम्पनी सरकार का प्रभुत्व कर्णाटक पर हुआ, तब इनमें से अनेक डाक्टर कम्पनी सरकार की सेवा में आ गए।

पंजाब केसरी रणजित सिंहके दरबार में **जॉन होनिनबर्ग** नामक यूरोपियन चिकित्सक था (१८३०) और रणजित सिंह के अवसान के पश्चात् भी १० वर्ष तक इसने सिख राज्यों में नौकरी की थी।

विदेशी चिकित्सकों के प्रति आदर

अनेक बार ऐसा भी होता था, कि तत्कालीन राज्यों की ओर से पाश्चात्य चिकित्सकों की मांग कम्पनी सरकार से

की जाती थी। सन् १६९४ में किसी नवाब करीमखान के अपने व्रण के उपचार के लिए डाक्टर की याचना करने पर कम्पनी की सरकार ने (मद्रास) **डॉ० सेम्युएल ब्राऊन** को भेजा था। डॉ० ब्राऊन अपना कार्य पूर्ण करके वापस लौटते हुए कम्पनी सरकार के अध्यक्ष के लिए, नवाब का भेजा हुआ एक तुर्की अश्व (मूल्य १०००रु०) भी साथ लाया था। सन् १७३७ में बेलोर के नवाब बाकरअली खान की चिकित्सा के लिए मद्रास से एन्डु मनरो नामक डाक्टर भेजा गया था। सन् १७४५ में बाजीराव पेशवा की खास विनती पर कम्पनी की सरकार ने (मुंबई) डॉ० ट्रोटर को भेजा था, जिसका व्यय रु६८१०) सरकार ने मान्य किया था।

सन् १७५० में भारत में ग्रो नामक यात्री आया था। उसका यात्रा वर्णन '**बोयेज टूरि ईस्ट ईन्डीज** १७७२ में प्रकाशित हुआ था। एक स्थान पर वे लिखते हैं कि "(विदेशी) मिशन के डाक्टरों का (यहाँ) जितना सम्मान है, उतना सम्मान उनके अपने (देशी) चिकित्सकों का नहीं है। भारत के बड़े आदमियों को जब-जब युरोपियन चिकित्सक प्राप्य होते हैं तब-तब वे अपने चिकित्सक के स्थान पर उनको (यूरोपियन) पसन्द करना भूलते नहीं। मुगल राजगृह में भी एक यूरोपियन सर्जन है (१७५०) जिसका आगमन ईस्ट इण्डिया कम्पनी के दूत-समूह के साथ हुआ है।" इस स्थापना में प्रथम वाक्य का महत्व है। उस काल केवल मुगल राजगृहों में ही नहीं, अपितु, बड़े घरानों में भी, सुलभ हो तो, देशी चिकित्सक से, विदेशी चिकित्सक को बुलाने की उत्कण्ठा अधिक रहती थी, यह इससे फलित होता है।

शाहजादी जहानआराकी चिकित्सा की बात सत्य है

अंग्रेजों के भारत में पदार्पण से सम्बद्ध एक अत्यन्त रोमांचक और सुविदित घटना यह है कि मुगल सम्राट् शाहजहाँ की पुत्री जहानआरा जल गई तो उसकी सफल चिकित्सा यूरोपियन चिकित्सक द्वारा होने पर उक्त चिकित्सक की चिकित्सा से सम्राट् को ऐसा संतोष हुआ कि ईस्ट इण्डिया कम्पनी को मुगल सरकार की ओर से अनेक सुविधाएँ मिली।

स्व० श्री फरदुन जी मर्झबान अपने सर्व प्रथम गुजराती वैद्यकीय पुस्तक शरीर-शान्ति (१८४१) में लिखते हैं कि—"शाहजहाँ की एक पुत्री थी। उसको ऐसा ही कोई कष्टसाध्य रोग हुआ था। इस पुत्री पर शाहजहाँ को विशेष स्नेह था। साम्राज्य में मुगल हकीम तथा भारतीय वैद्यों की कोई कमी न थी। वे सब लोक उस लड़की की चिकित्सा कर थक गए, परन्तु लड़की को आराम न हुआ। इसलिए बादशाह बहुत ही खिन्न थे। अंग्रेजों के भाग्य ने जोर किया। परिणामतया किसी ने आकर सम्राट् को कहा कि सूरत में अंग्रेजों की कोठी में बॉटन नामक एक डाक्टर है। वह बहुत ही निपुण है। वह इस लड़की की चिकित्सा करे तो अवश्य लाभ होगा। यह सुनते ही सम्राट् ने उस डाक्टर को बुलाकर अपनी पुत्री की परीक्षा कराई। पश्चात् डाक्टर ने इस लड़की की चिकित्सा की। इससे शीघ्र स्वास्थ्य लाभ हुआ। यह देख सम्राट् अत्यन्त खुश हुआ और डॉ० बॉटन को बहुत पुरस्कार दिया। अंग्रेजों का भाग्य खुलनेवाला होगा, इसलिए डाक्टर को एक बादशाही फरमान लिख कर दिया कि डॉ० बॉटन को भारत में किसी भी प्रदेश या बन्दरगाह में व्यापार करने पर कोई प्रतिबन्ध न हो और उनके आते-जाते माल पर एक भी पाई कर कोई अधिकारी न ले।" यह घटना फरदुनजी ने अपने गुरु मुल्लां फीरोज की फारसी पुस्तक ज्योर्जनामेह में से ली थी।

इस डॉ० बॉटन का पूरा नाम डॉ० गेब्रीअल बॉटन था। उपर्युक्त स्थापना में शाहजादी जहानआरा को कोई दाह रोग होने का उल्लेख है, जब कि विशेष प्रचलित वर्णन के अनुसार शाहजादी जल गई थी। कहते हैं कि शाहजादी को नृत्य का शौक था। एक बार अपनी प्रिय दासी नृत्य कर रही थी तब उनके कपड़े सुलग उठे। शाहजादी स्वयं उसको बचाने के प्रयत्न में स्वयं भी जल गई। वह दासी तो अन्त में गुजर गई।

परन्तु, रसप्रद बात इस घटना के विषय में यह है कि अंग्रेज अनुसंधानकर्त्ता इस समग्र बात को, घटनाओं और तारीखों का विचार करते मिथ्या मानते हैं। एनल्स ऑफ धी इंग्लिश इन बेंगाल (१८९५.१९००) के लेखक विल्सन तो यहाँ तक कहता है कि शाहजादी की सेवा किसी भी विदेशी डॉक्टर ने नहीं की। सत्य यह है कि उसकी सेवा लाहौर से विशेषतया बुलाए गए हकीम अ तुल्ला ने की थी। अंग्रेजों को सुविधाएँ देनेवाला शाहजहाँ का मूल फरमान भी किसी के देखने में नहीं आया।

कई अनुसंधानों में यह सिद्ध करने का प्रयत्न हुआ है कि बंगाल के शासक शाहज़ादा शुजा के पास सूरत से आगरा होकर राजमहल (बंगाल) में ग्रेवीअल बॉटन आया था। उस समय अन्त:पुर में एक बेगम को (वा एकाध रखात को) पार्श्वशूल हुआ था और बॉटन द्वारा की गई चिकित्सा से उसको शीघ्र आराम हुआ था। परिणाम रूप में शाहशुजा ने बॉटन द्वारा अंग्रेजों को प्रचुर सुविधाएँ दी थी।

सब मिलाकर, अंग्रेज अनुसंधानकर्ता ऐसा मानते हैं कि बॉटन नामक चिकित्सक ने आगरा में शाहजादी की चिकित्सा की थी यह सिद्ध करने के लिए पर्याप्त प्रमाण नहीं। यद्यपि राजमहल में शाहशुजा को संतुष्ट करनेवाला विदेशी चिकित्सक यह अंग्रेज बॉटन ही था। यह बॉटन किसी मुगल लड़की से ही ब्याहा था। उसके देहान्त के पश्चात् उसकी विधवा किसी विलियम पार्टर्स से ब्याही थी। इतना ही नहीं, दूसरी बार विधवा होने के पश्चात् भी उस स्त्री एक तीसरे अंग्रेज के साथ विवाह किया था। (सन् १६०३)

सम्राट् फर्रुखशीयर की बीमारी

जहानआरा जली थी १६४२ में। उसके ७० वर्ष पश्चात् सन् १७१२ में शाहजहाँ के पौत्र शाहआलम का पौत्र फर्रुखशीयर (मुगलों में प्रसिद्ध स्वजनों की हत्या और परस्पर युद्धों के पश्चात्) दिल्ली की गद्दी पर आया। इसके पूर्व, अंग्रेज कलकत्ता और सूरत में स्थायी हो चुके थे, और १७१४ में ही दिल्ली सम्राट् के पास अंग्रेजों ने दूतमंडल (एम्बेसी) भेजने का निर्णय किया। उस दूतमंडल में एक सर्जन **विलियम हेमिल्टन** का भी समावेश किया गया।

दिल्ली में वह दूतमंडल ७-७-१७१५ को पहुँचा। थोड़े ही दिनों में शाही फरमान आया कि सम्राट् के खानसामा तुकरमखान की चिकित्सा के लिए हेमिल्टन जाए। संगृहीत विवरणों से सिद्ध होता है कि हेमिल्टन को तुकरमखान का रोग असाध्य प्रतीत हुआ था। उसके एक पक्ष के पश्चात् स्वयं सम्राट् की परीक्षा के लिए हेमिल्टन को बुलाया गया। उसने देखा कि सम्राट् की जाँघ में दो ग्रन्थियाँ थीं। सम्राट् के आदेश से, अनिष्ट परिणाम की आशंका होने पर भी हेमिल्टन ने चिकित्सा करने का साहस किया— साहस इसलिए कि चिकित्सा निष्फल होती तो अंग्रेजों का प्रभाव राजगृह में से नष्ट हो जाता।

परन्तु हेमिल्टन की चिकित्सा सफल हुई। एक मान्यता यह है कि उसने शस्त्र-कर्म किया था। २५-९-१७१५ को औषध इत्यादि के लिए रु० ४८६-१२ (अथवा पाउण्ड ४८६ शिलिंग १२) का बिल कम्पनी सरकार पर भेजा। इस बीच तुकरमखान ने हेमिल्टन की चिकित्सा बन्द कर अपने हकीमों की चिकित्सा आरम्भ की। यह भी उल्लेखनीय है कि सम्राट् की चिकित्सा के समय दरबार में फ्रेंच **डाक्टर मार्टिन** उपस्थित था। परन्तु सम्राट् उसका विशेष लाभ नहीं लेता था। हेमिल्टन के मन में उसके प्रति ईर्ष्या भी थी। यहाँ तक कि चिकित्सा सफल होने पर पारितोषिक-वितरण हो तब डॉ० मार्टिन को मिलने वाला पारितोषिक हेमिल्टन को प्राप्त होनेवाले पारितोषिक से अल्प ही होगा, ऐसा विश्वास सम्राट् के निजी प्रतिनिधि ने अंग्रेजों को दिलाया था। इसलिए अंग्रेज अपने को अद्वितीय सम्मान मिला ऐसा समझे थे। चिकित्साकाल में हेमिल्टन का प्रवेश जनानखाने में हो चुका था। एक बार तो सम्राट् की माता के के साथ भी सम्राट् के रोग की चर्चा करने के लिए उपस्थित होने का फरमान हेमिल्टन को दिया गया था।

सर्वथा स्वस्थ होने से पूर्व सम्राट् के रोग का एकबार पुनरावर्तन हुआ और एकबार तो ऐसा प्रतीत होता था कि सम्राट् को भगन्दर होगा। परन्तु, हेमिल्टन की चिकित्सा इस उपद्रव के समय भी सफल हुई और वर्तमान रोग के कारण रुका हुआ उनका विवाह जोधपुर के राजा अजीत सिंह की कुंवरी के साथ ७-१२-१७१५ को हुआ।

शाही भेंट और शाही हठ

और फिर सम्राट् खुश हुए तो उन्होंने हेमिल्टन को निम्न पारितोषिक दिए : एक हाथी, एक अश्व, परिधान, और रत्नजड़ित कलगी, बड़े हीरेवाली दो अंगूठियाँ, ५०००) नकद, सुवर्ण के रत्नखचित बटन और अन्त में हेमिल्टन के शस्त्र पकड़ने के सुवर्णमय हाथे (हेंडल)। (इससे प्रतीत होता है कि हेमिल्टन ने शस्त्रकर्म किया ही होगा) तदुपरांत आए हुए दूत-मंडल के सर्व सदस्यों को थोड़े-बहुत कपड़े और अन्यान्य भेंटें दी गयी थीं। यह भी कहा जाता है कि हेमिल्टन के सर्व शस्त्रों जैसे ही अन्य सुवर्ण के शस्त्र बनवाकर सम्राट् ने दिए थे। यह हुआ ३०-११-१७१५ को। सम्राट् की माता ने भी पुत्र स्वस्थ

होने के आनन्द में हेमिल्टन को परिधान, एक अश्व और १०००) नकद दिए थे। सम्राट् के आनन्द की कोई सीमा ही न थी। १९-४-१७१६ को हेमिल्टन के शस्त्र रखने के पृथक्-पृथक् कोशों (डब्बे) समा सके ऐसा शुद्ध सुवर्ण का एक बड़ा कोश बनवाकर पारितोषिक रूप में दिया था।

परन्तु हेमिल्टन के प्रति खुश हुए सम्राट् ने हेमिल्टन को वापस लौटने की अनुज्ञा न दी। दूत मंडल ने दिल्ली आकर सम्राट् की ओर से जो लाभ संपादन करने की आशा रखी थी उसमें भी विलम्ब हुआ। कारण, अपने बढ़ते हुए प्रभाव का पूरा उपयोग अंग्रेज न कर पाए। अंग्रेजों की मूल आशाओं को फलित करने के लिए डॉ० हेमिल्टन ने अपनी यशस्विता का उपयोग किया भी हो तो उसका विवरण मिलता नहीं। यद्यपि प्रसंग प्राप्त होने पर दो-चार शब्द कहने का अवसर हेमिल्टन जाने न देता, यह मानने में कोई अति नहीं।

हेमिल्टन को जाने की अनुमति न देने में सम्राट् को यह आशङ्का थी कि वर्ष बीतने पर, अपने को गत वर्ष हुआ रोग पुनः उसी ऋतु में उभड़ न उठे। मई मास के आरम्भ में सम्राट् को एक पिटिका हुई और १३-५-१७१६ को पिटिका फूटने पर उसमें से बहुत 'रक्त और पानी' निकला। दो दिन पश्चात् अन्य चिकित्सकों को भी शुश्रूषार्थ उपस्थित करने की सूचना हेमिल्टन की, परन्तु सम्राट् ने निषेध किया और अपनी वर्तमान व्याधि को भी संपूर्ण गुप्त रखने का आदेश हेमिल्टन को दिया। सम्राट् पुनः प्रकृतिस्थ हुए और दूत मंडल ने अन्य एक वर्ष दिल्ली में ही व्यतीत किया। १७१७ के अप्रैल में सम्राट् के आदेशानुसार हेमिल्टन ने शाही मन्त्री के चाचा सैयद खान जहान की बेगम की चिकित्सा फरीदाबाद में की थी।

हेमिल्टन की विदाई और उसका देहान्त

इस बीच, नवम्बर १७१६ में, दूत मंडल ने अंग्रेजों की अभ्यर्थना सम्राट् के समक्ष उपस्थित की थी। परिणामतया सर्व अभ्यर्थनाओं को स्वीकार करता शाही फरमान ३०-५-१७१७ को दूतमंडल को मिला। सम्राट् फरूखशीयर की इच्छा थी कि दूतमंडल हेमिल्टन को छोड़कर वापस जाए, परन्तु हेमिल्टन वहाँ रहने को उद्यत न था। अपनी मातृभूमि जाकर वह पुनः दिल्ली लौट आएगा, ऐसा वचन हेमिल्टन के देने पर दूतमंडल को दिल्ली छोड़ने की अनुज्ञा मिली। वास्तव में सम्राट् का दृढ़ हठ था कि हेमिल्टन रहे, परन्तु हेमिल्टन ने शान्त सत्याग्रह करने का भय दर्शाया। सम्राट् को कहा गया कि, सम्राट् को हठ हो तो हेमिल्टन को हथकड़ी-बेड़ी पहनाकर दिल्ली में रखा जा सकेगा। परन्तु इस स्थिति में भी हेमिल्टन, शाही भोजन या शाही आहार को स्वीकार न करेगा। अन्त में, सम्राट् ने अनुमति देते हुए कहा कि: "हेमिल्टन हमारी नग्नावस्था का साथी है और अपना कार्य यथावत् समझता है। अतः हम अति हर्ष से उसे रखते और वह जो मांगता वह हम देते। परन्तु किसी भी प्रकार से उसे संतोष हो ऐसा न होने से, उसकी विदा के लिए हम सहमत होते हैं। प्रयोजन यह है, वह विलायत जाकर अपने पुत्र-कलत्र से मिलकर तथा वहाँ की अप्राप्य औषधियाँ साथ लेकर यहाँ पुनः लौटेगा और हमको मिलेगा। उसको जाने दो।" (वस्तु स्थिति यह थी कि हेमिल्टन अपरिणीत था, और पुत्र-कलत्र की बात उसने प्रार्थना को विशेष करूण बनाने की धारणा से बतायी होगी ऐसी कल्पना होती है।) विदा होते समय शाही वजीर ने डाक्टर को फरमाया कि पुनरागमन के समय वह अपने बीबी-बच्चों को भी साथ ले आवे।

१८-७-१७१७ को दूतमंडल ने (ठीक दो वर्ष पश्चात् और अभीष्ट कार्य पूरा करके) दिल्ली छोड़ा। कारण यह था कि हेमिल्टन आप ही रोगी था और वह रोग इतना बढ़ चुका था कि २७-१०-१७१७को उसने एक वसीयतनामा करके, अपनी पूँजी और प्राप्त पारितोषिकों का कुछ भाग अपने सहकारियों को देने के पश्चात् शेष संपत्ति में से ५०० पाउण्ड अपनी सखी मिस आन्ना हेमिल्टन को दिये (कहते हैं कि उसके साथ हेमिल्टन को विवाह करने की आकांक्षा थी) शेष पूँजी अपने पिता को या वे जीवित न हों तो अपने स्वजनों को देने को लिखा। यह वसीयतनामा उसने मुंगेर के दक्षिण में स्थित सूरतपुर नामक छोटे से गाँव में लिखा। दूतमंडल २० नवम्बर को कलकत्ता पहुँचे और ४-१२-१७१७ को हेमिल्टन का अवसान हुआ।

कलकत्ता में सेण्ट जॉन्स चर्च के प्राङ्गण में उनको दफनाया गया। उसका मृत्युलेख ६ फुट ऊँची और ३ फुट चौड़ी शिला पर उत्कीर्ण है। ऊपर के भाग में अंग्रेजी और नीचे के भाग में फारसी लेख है।

लिखा है कि : "इस शिला के नीचे सर्जन विलियम हेमिल्टन जिसने ४-१२-१७१७ को देह छोड़ी थी, उसका शरीर स्थापित है। उसकी स्मृति इस राष्ट्र को प्रिय होनी चाहिए। कारण, भारत के वर्तमान सम्राट् फरुखशीयर को एक दुष्ट रोग से मुक्त करने में प्राप्त सफलता के परिणामस्वरूप उसने अपना नाम इस महान् सम्राट् के दरबार में प्रसिद्ध किया था। निःशङ्क ग्रेटब्रिटेन तथा यूरोप के अन्य राष्ट्रों में भी उसकी शाश्वत स्मृति रहेगी।"

फारसी मृत्यु लेख बताता है कि : अंग्रेज कम्पनी का कर्मचारी, विलियम हेमिल्टन, चिकित्सक जो अंग्रेज राजदूत के साथ सम्राट् की सेवा में उपस्थित हुआ था और सम्राटों के सम्राट्, जहाँपनाह महम्मद फरुखशीयर बहादुर की सफल चिकित्सा करके जिसने अपना नाम विश्व की चारों दिशाओं में प्रसारित किया है और हजारों कठिनाइयों के पश्चात् जिसे जहाँपनाह के दरबार से मातृभूमि जाने की अनुज्ञा मिली थी, खुदा के आदेश से कलकत्ता में ४-१२-१७१७ को इसका अवसान होने पर उसे यहाँ दफनाया गया है।

उपर्युक्त विवरण में लाहौर के हकीम अमीतुल्ला के अतिरिक्त किसी भी अन्य हकीम का निर्देश नहीं है और वैद्यों का तो नामोनिशान भी नहीं है, यह घटना विचारणीय है। तुकरमखान ने अपने चिकित्सकों की सेवा को फिर से स्वीकार किया, परन्तु उनके नाम निर्दिष्ट नहीं हुए हैं। सम्राट् ने अन्य चिकित्सकों को बुलाने की हेमिल्टन की मांग को स्वीकार नहीं किया, उसका कारण यह भी हो सकता है कि नग्नावस्था में अपनी चिकित्सा वे अन्य हकीमों से कराने को उद्यत न थे। शाही दरबार में आयुर्वेद का कोई स्थान हो ऐसा प्रतीत नहीं होता और यूनानी हिकमत शाही दरबार में विशेष प्रतिष्ठित भी न था। शस्त्रकर्म के लिए, हकीमों पर विश्वास करने की सम्राट् को उत्कण्ठा न हुई थी। प्रसिद्ध यात्री टेवर्नीयर ने तो यहाँ तक कहा है, मुगलकाल में जनता के लिए वैद्यकीय सहायता की कोई सुविधा न थी। संपन्न लोग अपने-अपने हकीम रखते थे। परन्तु उनसे चिकित्सा के अतिरिक्त अन्य प्रतिष्ठित कार्य—जैसे धर्म-शिक्षा, उपयोगी पत्र लेखन, राजकीय दाव-पेंच इत्यादि भी कराए जाते होंगे ऐसा इस लेखक का अभिमत है।

किंबहुना, उपर्युक्त विवरणों से निष्कर्ष निकालने और विशेष जानकारी प्राप्त कर उस समय का अधिक सत्य विवरण तैयार करने का कार्य विद्वान अनुसन्धानकर्ताओं का है। (संकलन—तिथि : २७-१२-५६)

यह लेख तैयार करने में मुख्य सहायता हिस्टरी ऑफ दी इण्डियन मेडीकल सर्विस' (१९१४) से ली गयी है जिसका लेखक है—लेफ्टनंट कर्नल डी० जी० क्रॉफर्ड।

अनुवादक—वैद्य शरत्कुमार व्यास

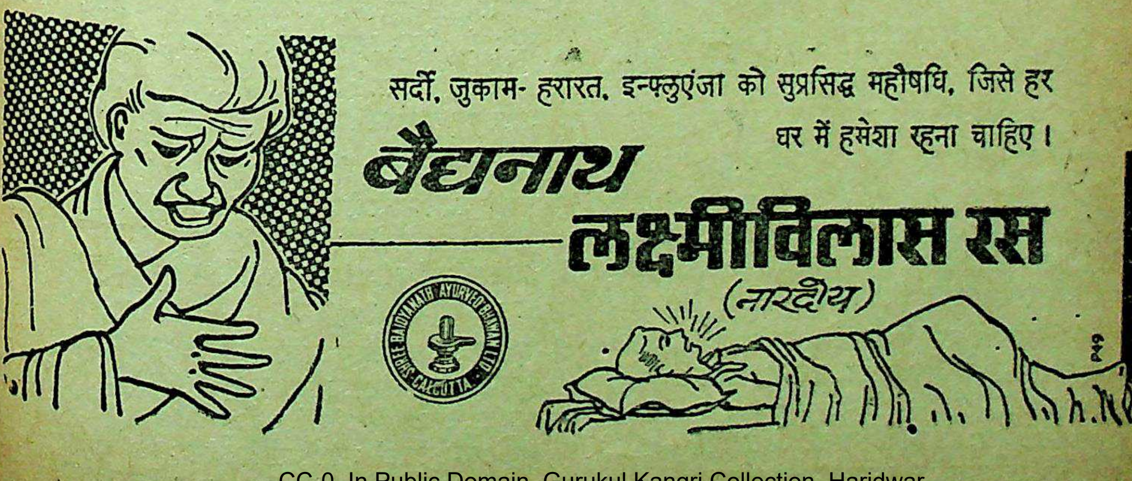

सर्दी, जुकाम- हरारत, इन्फ्लुएंजा को सुप्रसिद्ध महौषधि, जिसे हर घर में हमेशा रहना चाहिए।
वैद्यनाथ
लक्ष्मीविलास रस
(नारदीय)
SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

अष्टाङ्गहृदयम्-शारीरस्थानम्

आयुर्वेदाचार्य शङ्करलाल भेड़ा,

(क्रमशोऽनुवृत्तः)

आसन्न प्रसवा के लक्षण--

अद्य:श्वः प्रसवेग्लानिः कुक्ष्यक्षिश्लथता क्लमः ।।७४।।
अधोगुरुत्वमरुचिः प्रसेको बहुमूत्रता ।
वेदनोरूदरकटीपृष्ठहृद्बस्ति वङ्क्षणे ।।७५।।
योनिभेदरुजातोदस्फुरणस्रवणानि च ।

आज अथवा कल प्रसव होनेवाला हो तो ग्लानि, कुक्षि तथा नेत्रों में ढीलापन, क्लम (थकावट), नीचे के भाग में भारीपन, अरुचि, मुख से पानी का गिरना, बहुमूत्रता, उदर, उरु, कटि, पृष्ठ, हृदय तथा वङ्क्षण प्रदेश में वेदना और योनि में भेदादि तथा स्राव होना।

वक्तव्य--प्रसव[1] वह कर्म है, जिसके द्वारा गर्भ स्थिति के सभी घटक गर्भ, गर्भोदक अपरा-जरायु-गर्भाशय को छोड़ कर बाहर निकलते हैं। प्रसव को दो प्रधान वर्गों में विभक्त किया गया है। १-प्राकृत प्रसव (Normal or physiological labour) २-वैकृत प्रसव (abnormal or pathological labour)

इनमें प्राकृत प्रसव उसे कहते हैं[2]--जिसमें गर्भ अवाक् शिर हो कर मध्य शीर्षका उदय ले कर निरुपद्रव रहते हुए स्वाभाविक रूप से अर्थात् किसी प्रकार की चिकित्सक की सहायता के विना, चौबीस घण्टे के भीतर बालक उत्पन्न होता है। इससे भिन्न अवस्था को वैकृत प्रसव कहते हैं। इस श्लोक में आसन्न प्रसव या प्रसव के पूर्वरूप का वर्णन हुआ है। यह अनिश्चित काल की अवस्था है।

चरक न--थकावट, शरीर का दुखना, मुख तथा आँखों की शिथिलता, कुक्षि का ढीला पड़ना, उदर के नीचे के भाग की गुरुता, छाती के बन्धन का ढीला होना, वंक्षण बस्ति, कटि, कुक्षि, पार्श्व, पृष्ठ में पीड़ा का अनुभव होना, योनि स्राव, अन्न में अरुचि होना आदि[1]। कुक्षि की शिथिलता, हृदय बन्धन (भार) युक्त होना, जघन प्रदेश में पीड़ा का अनुभव प्रजायिनी में होता है। प्रसव की उपस्थिति में कटी पृष्ठ के चारों तरफ वेदना तथा बार-बार मल और मूत्र की प्रवृत्ति होना एवं योनिमुख से श्लेष्मा का स्राव होना पाया जाता है। (सुश्रुत[2]) इस वर्णन में प्रथम प्रसव सामीप्य के लक्षण अर्थात् प्रसव काल समीप आ रहा है, इस बात को बतलाया है। प्रत्यक्ष प्रसव प्रारम्भ के लक्षणों का निर्देश नहीं किया है। इस अवस्था को प्रसव पूर्व लक्षण कहते हैं।

यह लक्षण प्रसव के लगभग दो सप्ताह के पूर्व पैदा होते हैं। काश्यपसंहिता में अन्य समस्त लक्षण तो समान ही हैं, किन्तु गर्भाशय नीचे की तरफ आ जाता है, यह स्पष्ट लिखा है[3]। यद्यपि यह अर्थ चरक-सुश्रुत से रूपान्तर से निकलता है, किन्तु यहाँ स्पष्ट कर दिया है। इस समय गर्भाशय कुछ नीचे आ जाने से उसका इस समय उदर में स्थान बराबर हो जाता है, इसमें स्त्री को श्वास-प्रश्वास

---

[1] प्रसवो नाम कर्म विशेषः, येन गर्भो गर्भोदकं अपरा जरायुश्चेति सर्वं गर्भाशयाद् विमुच्य बहिर्भवति। (अ.प्र.तं.)

[2] सचोपस्थिंतकाले जन्मनि प्रसूतिमारुतयोगात् परिवृत्यावाक्शिरा निष्कामत्यपत्यपथेन, एषा प्रकृतिः। विकृतिः पुनरतोऽन्यथा इति (च. शा. ८)
आभुग्नोऽभिमुखः शेते गर्भोगर्भाशये स्त्रियाः।
स योनिं शिरसा याति स्वभावात् प्रसवं प्रति।

[1] क्लमोगात्राणाम्, ग्लानिराननस्य, म्लानता, अक्ष्णोः शैथिल्यं, विमुक्तबन्धनत्वमिव वक्षसः, कुक्षेरवस्रंसनं अधोगुरुत्वम्, वंक्षणबस्तिकटीकुक्षिपार्श्वपृष्ठ निस्तोदो, योनेः प्रस्रवणम्, अनन्नाभिलाषश्च (च. शा. ८)

[2] जातहि शिथिले कुक्षौ मुक्त हृदयबन्धने।
सशूले जघने नारी ज्ञेया सा तु प्रजायिनी।
तत्रोपस्थितप्रसवायाः कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदना
भवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यते योनिमुखाच्छ्लेष्मा
च। (सु.शा. १०)

[3] मुखग्लानिः क्लमोऽङ्गानामाक्षिबन्धन मुक्तता।
कुक्षश्चस्यादवस्रंसस्त्वधोभागस्य गौरवम्।
पृष्ठपाश्चकटीबस्तिवंक्षणं चातितुद्यति।
योनिप्रस्रवणौदार्यं भक्तद्वेषारतिक्लमाः।
(का. सं. जातीय सूत्रीय)

लेने में सुभीता हो जाता है। चरकीय "विमुक्त बन्धनत्व" का यही भाव है।

वृ० वाग्भट्ट ने भी यही उपस्थित प्रसवा के लक्षण लिखे हैं[1]। सुश्रुतने दूसरे लक्षण आसन्न प्रसवा के लिखे हैं। **ग्लानि——** यह पचन संस्थान की विकृति का लक्षण है। "वक्त्रे मधुरता तन्द्रा हृदयोद्वेष्टनं भ्रमः। न चान्नमभिकाङ्क्षेत ग्लानि तस्य विनिर्दिशेत्" (सु० शा० ४।५३) Depression या languar——एक तरह की दुर्बलता।

क्लम——"योऽनायासः श्रमो देहे प्रवृद्धः श्वास वर्जितः। क्लमः स इति विज्ञेयः इन्द्रियार्थ प्रवाधकः" (सु० शा० ४) Asthenia अरुचि-अरोचक। जिस अवस्था में अन्न सेवन करने में रुचि नहीं होती है। इस अरोचक के अवस्था-भेद से विभिन्न नाम हैं——जैसे "प्रक्षिप्तं तु मुखे चान्नं जन्तोर्न स्वदते मुहुः। अरोचकः स विज्ञेयो, भक्त द्वेषमतः शृणु। चिन्तयित्वा तु मनसा दृष्ट्वा श्रुत्वाऽपि भोजनम्। द्वेषमायाति यज्जन्तुर्भक्तद्वेषः स उच्यत्ते। कुपितस्य भयार्तस्य अभिचार हतस्यच। यस्यनान्ने भवेच्छ्रद्धा सोऽभक्तच्छन्द उच्यते"। (वृद्धभोज) "सत्यामपि वुभुक्षायामभ्यव हारार्थसामर्थ्यमरुचिः, अभिलषितमप्यन्नं दीयमानं नाभ्यवहरतीत्यन्नानभिनन्दनम्, अन्नस्य श्रवण, स्मरण, दर्शन, गन्धन, स्पर्शैर्यत्रोद् विजते स भक्त द्वेषः। एवं त्रिविधोऽपि रोगश्चरक सुश्रुताभ्यामरोचक शब्देन संगृहीतः। (मधुकोष) Anorexia वेदना——उरु-उदरादि में वेदना तथा योनि में भेद रुजादि होते हैं।

"उदरादीनां वेदनया सम्बन्धः। तोदादीनि योन्याम्" (इन्दु)

आवीनामनु जन्मातस्ततो गर्भोदकस्रुतिः ॥७६॥

इसके बाद आवियों की उत्पत्ति होती हैं तथा उत्तर में गर्भोदक का स्राव होता है।

वक्तव्य——प्रसव क्रम या अवस्था वर्णन की दृष्टि से घटना क्रम के अनुसार प्रसव को तीन भागों में विभक्त करते हैं[2]। १-प्रथमावस्था इसी को प्रसरणावस्था Dilatation कहते हैं[1]। गर्भ बाहर निकलने के लिये गर्भाशय मुख काफी चौड़ा होने की आवश्यकता होती है। इस अवस्था में यह मुख धीरे-धीरे प्रसारित होता है। यह अवस्था आवी labour pain उत्पन्न होने से ले कर ग्रीवा के पूर्ण विकास पर्यन्त तक मानी गई है। इसी अवस्था में जरायु का विदीर्ण हो कर गर्भोदक का निकलना होता है।

(२) द्वितीयावस्था को विशल्यावस्था[2] stage of expulsion कहते हैं। यह ग्रीवा के पूर्ण विकास से ले कर गर्भ के जन्म पर्यन्त मानी गई है। अर्थात् गर्भाशय मुख की पूर्ण विस्तृति के समय से प्रारम्भ होती है।

(३) तीसरी अवस्था को विमोक्षावस्था[2] placental stage कहते हैं। यह गर्भ जन्म होने से ले कर अपरा के गिरने पर्यन्त तक की होती है।

आवी——प्रसव वेदना को कहते हैं। आवी की उत्पत्ति ही प्रसवारम्भ का सूचक है। यह एक प्रकार का गर्भाशय के संकोच से उत्पन्न होने वाला अनैच्छिक सान्तर नियमित शूल होता है। गर्भाशय में पूरे गर्भकाल पर्यन्त अनियमित एवं पीड़ारहित संकोच बराबर हुआ करता है। जब यही संकोच नियमित वेदना के साथ होने लगते हैं——तब उसको आवी कहते हैं। यह प्रसव का द्योतक प्रधान लक्षण है। इस श्लोक में प्रसव काल की प्रथमावस्था का वर्णन है।

इस अवस्था में जब गर्भाशय मुख का पूर्ण विकास हो जाता है, तब आसार के नष्ट हो जाने से मसक विदीर्ण हो जाता और गर्भोदक निकल जाता है। विकृत अवतरणों में जरायु के अकाल में ही फट जाने से ग्रीवा के पूर्ण विकास के पूर्व ही जरायु फट जाती है तथा गर्भोदक का स्राव हो जाता है। सामान्यतः यह अवस्था बाहर से अठारह घण्टे रहती है। इस तरह प्रसवावस्था में निम्न लक्षण होते हैं——

---

[1] तत्रापन्नप्रसवायाः क्लमोग्लानिर्मुक्तबन्धने इवाक्षिणी, निष्ठीविका मत्रपुरीष बाहुल्यं शिथिलकुक्षिताऽधोगुरुत्वम् अन्नानभिलाषो वेदनोदरहृदयकटीवस्तिवंक्षणेषु तोद भेद शूलस्फुरणस्रवणानि च योन्यां भवन्ति। (वृ. वा. ३. शा.)

[2] ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य (च. शा. ८), तत्रोपस्थित[illegible]। ये प्राचीनों के मतमें प्रथमावस्था बोधक वाक्य हैं।

[1] -सा यदा जानीयात् विमुच्य हृदयम्, उदरमस्यास्त्वाविशति, बस्तीशिरोऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः परिवर्ततोऽगर्भः। (द्वितीयावस्था) च. शा.८।
आव्योहि नाम प्रसव वेदना। अवी प्रसव वेदना (डल्हण)

[2] यदा च प्रजातास्यात्तदैवेनामवेक्षेत कदाचिदस्या अपराप्रपन्नाऽप्रपन्नाचेति (तृतीयावस्था, च. शा. ८)

• ततोऽनन्तरमावीनां प्रादुर्भावः, प्रसेकश्च गर्भोदकस्य। (च. शा. ८)

[3] तत्रोपस्थित प्रसवाया कटीपृष्ठं प्रति समन्ताद् वेदनाभवत्यभीक्ष्णं पुरीषप्रवृत्तिर्मूत्रं प्रसिच्यतेयोनिमुखाच्छ्लेष्मा च। (सु. शा. १०)

१—गर्भाशय का आकुञ्चन—प्रसव वेदना—आवी ।

२—ग्रीवा विकसन—(Dilatation of cervix) गर्भाशय मुख विस्तृति ।

३—शिरोऽवग्रहण—गर्भस्थैर्य (Fixation of the head)

४—योनिमुख से सरक्त श्लेष्मा का स्राव—

५—जरायु का विदीर्ण होना—(Rupture)

यहाँ यह स्मरण रखने की बात है कि आविएं दो प्रकार की होती हैं—१–सत्य—True pain, २– असत्य (False pain) वास्तविक सत्य आवियाँ गर्भाशय के संकोच से उत्पन्न होती हैं, इसमें कटी और पृष्ठ में वेदना होती है। यह व्यथा स्वयं गर्भिणी अनुभव करती है। नियत काल से इसका वेग आता है, गर्भाशय दृढ़ हो जाता है। योनि परीक्षा से जरायु का उभार दिखलाई पड़ता है। मिथ्या आवियों में बस्ति, आन्त्र-उदर की पेशियों के संकोच के कारण वेदना होती है। वेदना का अनुभव उदर में होता है, अनियत काल में इनका प्रादुर्भाव होता है, इनकी उपस्थिति में गर्भाशय में दृढ़ता नहीं आती तथा योनि परीक्षा से न तो जरायु का उभार ही प्रतीत होता है।

द्वितीयावस्था—गर्भजन्मावस्था ।

संक्षेप में द्वितीयावस्था में तीन घटनायें होती हैं—

१—गर्भाशय संकोच २– प्रवाहण Bearing down ३–गर्भनिर्हरण।

यह द्वितीयावस्था अप्रजाताओं में दो से तीन घण्टे की रहती है, तथा प्रजाताओं में इसकी मर्यादा बहुत कम होती है।

३–तृतीयावस्था–विमोक्षावस्था[1]

संक्षेप में इस तृतीयावस्था में ये घटनायें होती हैं—

१–गर्भाशय संकोच

२–अपराविमुक्ति

३–अपरानिर्गम या जन्म

४–शैत्यानुभूति

इसी तृतीयावस्था में कुछ मिनटों से ले कर एक घण्टे तक या कुछ अधिक भी लग सकता है। अधिक-से-अधिक बीस मिनट तक।

इस अवस्था में १–स्वेद अधिक आता है, २–शरीर शैत्यता हो जाना। ३–अत्यधिक शारीरिक पेशियों श्रम के कारण तथा औदरिक रक्त परिभ्रमण की पुनर्व्यव के हेतु प्रसूता को शीत का अनुभव होता है और Phy logical chill जाड़ा लगता है।

प्रसवकाल की मर्यादा—

प्रजाता स्त्रियों में सामान्य रूप से सम्पूर्ण प्रसव में बा घण्टे लगते हैं—

इनमें प्रथम में दश, द्वितीय में डेढ तथा तृतीय में आ घण्टा। यह एक साधारण नियम है, इसके अपवाद स्व म कम समय भी लगता है तथा कई प्रसवों में एक अहोरा भी लग जाता है।

निष्कर्ष—प्रथमावस्था में इस श्लोकानुसार आवी उत्पत्ति और गर्भोदक का स्राव तथा योनि मुख से श्लेष्मा निकलना पाया जाता है।

अथोपस्थितगर्भां तां कृत कौतुकमङ्गलाम्।
हस्तस्थ प्रन्नाम फलां स्वभ्यक्तोष्णाम्बु सेचिताम् ॥७
यायर्येत् सघृतांपेयाम्—

गर्भोदक के निकलने के बाद उपस्थित गर्भा को कर कौतुक और मङ्गलकारक हाथ में दाडिम, आम्र, पुल्लिङ्ग फल ले कर अच्छी तरह अभ्यङ्ग करावे। गरम जल से स्नान करे। उसके बाद घृतयुक्त पेया पिलावे।

वक्तव्य—प्रसूता की तीन स्थितियों का वर्णन चुका है। इन अवस्थाओं में एक अवस्था से दूसरी अवस्था जाते समय सगर्भा को क्लमादि को दूर करने के लिये आराम लेने की इच्छा होना स्वाभाविक है, क्योंकि एक विश्राम लेने के बाद फिर प्रवाहण क्रिया के लिये करने से आवियों को उत्पन्न कर सकती है। अर्थ गर्भो स्राव निकलने के बाद।

उपस्थित गर्भा[1]—गर्भ बाहर आने के लिये गर्भ मुखपट आ रहा हो इसी अवस्था को सुश्रुत ने "प्रजनयि माणा" नाम दिया है[2]।

---

[1] यदा च प्रजातास्यात्तदैवेनामवेक्षेत कदाचिदस्या अपरा प्रपन्नाऽप्रपन्नाचेति। (च. शा. ८)

[1] उपस्थितगर्भाम्—अभिमुखीभूतगर्भामाविजन्मोदक-स्रावादिनाज्ञात्वानिकटीभूत गर्भत्वादियुक्ताम्। अ. इन्दुश्च।

[2] प्रजनयिष्यमाणां कृतमङ्गलस्वस्तिवाचनाम् (सुश्रु प्रसवमाना (डल्हण)

कौतुक—विशिष्ट काल में रक्षा के लिये बाहू आदि में जो बन्ध बाँधा जाता है। भारतीय सभ्यता में प्रत्येक महत्व के कर्म प्रथम मङ्गल-स्वस्तिवाचन, वेदविहित-पद्धत्यनुसार होते थे। उसी का यहाँ दिग्दर्शन किया है।

पुन्नामफलाम्[1]—पुल्लिङ्गी–जिसका नाम हो ऐसा कोई फल, जिसके हाथ में हो ऐसी। ऐसा पुन्नामवाला फल भी पुत्र कामना की पूर्ति की दृष्टि से ही स्त्री के हाथ में देने की विधि है। इसीलिये "पुन्नामदौर्हृदप्रश्नरता" प्रथम आया है। गर्भ के लिङ्ग की सूचना देने की दृष्टि से सुश्रुत में भी "पुन्नामधेय" शब्द का प्रयोग हुआ है।

अभ्यङ्ग[2]—इससे श्रम (थकावट) दूर होती है तथा शरीर में नवीन पुष्टिरूप जीवन प्राप्त होता है। वायु प्रशान्त होता है, कष्ट सहने में सहायक होता है। उष्णाम्बु सेचिताम्—गरम जल से गर्भिणी को स्नान कराने से शरीर की तथा जननेन्द्रिय की शुद्धि होती है, पेशियाँ अधिक कार्यक्षम होती हैं एवं गर्भिणी प्रसववेदनाओं को भली-भाँति सहन कर सकती हैं। वाग्भट ने भी लिखा है कि "उष्णाम्बुस्नान" अधः काय भाग में विशेष बलप्रद होता है"[3]। **पेयाम्**—घृतादि से युक्त होने पर प्रसव के परिश्रम में शक्ति देने के लिय यह पुष्टिकर होती है। पेया—पातुं योग्या पेया। एतेनान्वर्थसंज्ञया बहुद्रवत्वमल्पसिक्थत्वं च लक्षणया बोध्यम्। इसलिय द्रव अधिक हो तथा सिक्थ (अन्नकण) कम हो उसको पेया कहते हैं। "पेयासिक्थ समनेन्विता"। सुश्रुत ने यवागू के मण्ड, पेया, विलेपी ये तीन भेद माने हैं। शिवदास सेन पेया और विलेपी भेद से दो भेद मानते हैं। इसके निर्माण के लिए ऐसे वचन मिलते हैं—"पेया सिक्थान्विता तोय चतुर्दशगुणकृता"–मदनपाल। "द्रवाधिका स्वल्प सिक्था चतुर्दश गुणे जले। सिद्धा पेया बुधैर्ज्ञेया" इति शार्ङ्गधर। "भक्तं पञ्चगुणे तोये यवागूं षड्गुणे पचेत्। चतुर्दशगुणे पेयां विलेपीं च चतुर्गुणे" इति। "तण्डुलेभ्यस्तिथिगुणे चैकादशगुणेऽम्भसि। साधिता स्वल्पसिक्था तु पेया विज्ञैरुदाहृता"। नावनीतक।

तनौ भूशयने स्थिताम्।
आभुग्नसक्थिमुत्तानामभ्यक्ताङ्गी पुनः पुनः ॥७८॥
अधोनाभेर्विमृद्नीयात् कारयेज्जृम्भ चङ्क्रमम्।
गर्भः प्रयात्यवागेवं,

इसके बाद स्त्री को मुलायम भूमि शय्या पर सक्थियों को टकनों से मोड़ कर उत्तान–चित्त लिटाकर पुनः-पुनः तैल का अभ्यङ्ग करते हुए नाभि के नीचे मलता रहें, जृम्भा बार-बार तथा चङ्क्रमण जल्दी-जल्दी करे। इस तरह उपचार करने से गर्भ नीचे की तरफ आता है।

वक्तव्य—यह प्रथमावस्था की उपचार विधि है। तनु-मदु[1]। रुई की मदु गद्दी पर सिरहाने में तकियायुक्त बिछाना। वृ० वाग्भट्ट में शयन के ऊपर चर्मपुच्छद का प्रयोग करने को बतलाया है[2]। चरक ने भी मदु गदला आदि का बिछौना ही लिखा है[3]। भूशयने स्थिताम्[4]–खट्वादि पर नहीं सुलावे, भूमि पर ही मदु गद्दा बिछावे। भूशयन का विधान सुश्रुत में नहीं है। चरक तथा वृ० वाग्भट्ट में भूशयन का आदेश है। प्रथमावस्था की अवधि अधिक होने के कारण यदि गर्भिणी को प्रारम्भ से ही पलङ्ग पर लेटा दी जावे तो प्रसव काल में समय अधिक लगने से मन में निराशा एवं चिन्ता उत्पन्न हो जाती है, तथा कई घण्टों तक इधर-उधर टहलना भी पड़ता है इसलिये भूशयन ही उत्तम है।

आभुग्नसक्थिमुत्तानाम्[5]—जानु सिकोड़ कर पीठ पर लेटना। इसको पृष्ठासन "Dorsel position" कहते

---

[1] पुन्नामफलहस्ताम्। बाहुल्याच्च पुन्नामधेयेषु द्रव्येषु दौर्हृदमभिध्यायति (सु० शा० ६), हस्तस्थं पुन्नाम दाडिमादिफलं यस्यास्ताम्। (अ. द.)

[2] प्रशान्तमारुताबाधंक्लेशव्यायामसंसहम्।
स्पर्शनेऽभ्यधिको वायुःस्पर्शनञ्चत्वगाश्रितम्।
त्वच्यस्य परमभ्यङ्गस्तस्मात्तंशीलयेन्नरः।
नचाभिघाताभिहतंगात्रमभ्यङ्गसेविनः ॥ (च. सू. ५)
अभ्यङ्गंकारयोन्नित्यं सर्वेष्वङ्गेषु पुष्टिदम् (भा०प्र०)
कटीपार्श्वपृष्ठसाम्यंदेशानीषदुष्णेन तैलेनाभ्यज्यानु-सुखमवमृद्नीयादित्यनेनकर्मणागर्भोऽवाक्प्रतिपद्यते (च.शा. ८) स्वभ्यक्तामुष्णोदकपरिषिक्तामथैनां सम्भृतां यवागूमाकण्ठात्-पाययेत्। ततः कृतोपधाने मृदूनि विस्तीर्णे शयनेस्थितामित्यदि (सुश्रुत शा. १०), स्वभ्यक्तमुष्णोदकपरिषिक्तां सघृतां यवागूँ पाययेत् (वृ. वा.)

[3]–उष्णाम्बुनाऽधःकायस्य परिषेकोबलावहः। (अ. हृ.)

[1]–तनौ मृदुनि (अ. द.)

[2]–ततःसुरक्तार्षभचर्मप्रच्छदे मृदुनि भूमिशयने शयानामुत्तानाम् (वृ. वा. ३ शा०)

[3]–आवीप्रादुर्भावे तु भूमौ शयनं विदध्यान्मृद्वास्तरणोपपन्नम् (चरक)

[4]–भूशयनेस्थितां मृद्नीयात्—न खट्वादिशयने स्थिताम्

[5]–आभुग्नसक्थिमुत्तानाम् (सुश्रुत), संकुचितजानुम् (इन्दु), उत्ताना-उपरिमुखी। अधःशयाना। (योगीन्द्र-चरक शा० [illegible])

हैं। प्रसव काल में स्त्री का आसन-आभुग्नसक्थि-उत्तान ही माना गया है तथा उत्तम होता है। मूढ़ गर्भ शस्त्र चिकित्सा के प्रकरण में भी इसी आसन का वर्णन सुश्रुत में हुआ है[1]। नव्यमत में उत्तानासन के साथ पार्श्वासन-करवट लेना " Latrul position" सुविधाजनक होता है। अभ्यक्ताङ्गीम्—पुनः-पुनः अभ्यङ्ग करने से मदुता पैदा होती है[2]। आचार्यों ने योनि की मदुता रखने के लिये ही विशिखान्तर का अभ्यङ्ग करने के लिये लिखा है। **चंक्रमण**—द्रुत गमन[3]। जृम्भणं चक्रमणं च पुनरनुष्ठेयम् (चरक)। निष्कर्ष—पुनः-पुनः तैलाभ्यङ्ग करना, नाभि के नीचे मलना तथा जम्भाई एवं जल्दी-जल्दी चलने से गर्भ नीचे को आता है[4]।

तल्लिङ्गं हृद्विमोक्षतः ॥७९॥
आविश्य जठरं गर्भो बस्तेरुपरि तिष्ठति।

इसके लक्षण—हृदय से छूटने के कारण गर्भ जठर (उदर) में प्रविष्ट हो कर बस्ति के ऊपर ठहरता है।

वक्तव्य—स्त्री का हृदयबन्धन छूट जाता है, इसलिये स्त्री को श्वास-प्रश्वास लेने में सुविधा मालूम होती है। चरक ने लिखा है कि "जब यह मालूम हो जावे कि गर्भ हृदय को छोड़ कर नीचे की तरफ आ रहा है, बस्ति शिर को पकड़ रहा है, प्रसव वेदनाएँ शीघ्रता करवा रही हैं (वेदनाएं व्याकुल कर रही हैं) गर्भ नीचे की तरफ परिवृत्त हो गया है[1]"। काश्यप संहिता में गर्भाशय का नीचे आने का स्पष्ट ही उल्लेख मिलता है।

"जब शूल सहित गर्भोदक योनि में आ जावे तथा काल से प्रेरित हुआ गर्भ दृश्य प्रदेश को छोड़ कर नीचे आ जाता है, बस्तिशीर्ष तथा उसके अधो भाग को पकड़ लेता है, ग्लानि अत्यधिक होती है, योनि में उत्पीड़न तथा भेदन (वेदना) अनुभव हो, तब इन उपरोक्त लक्षणों से यह जाना जाता है कि गर्भ का नीचे की तरफ परिवर्तन हो गया है[2]।

वृ० वाग्भट्ट ने भी ऐसा ही लिखा है "गर्भ माता के हृदय प्रदेश को छोड़ कर उदर में नीचे (बस्ति में) आ जाता है। शिर बस्ति प्रदेश में फँस जाता है। आवी जल्दी जल्दी आने लगती हैं[3]।

आव्यो[4] हि त्वरयन्त्येनां खट्वामारोपयेत्ततः ॥८०॥
अथ सम्पीडिते गर्भे योनिमस्याः प्रसारयेत्।
मृदुपूर्वं प्रवाहेत बाढ़माप्रसवाच्च सा ॥८१॥
हर्षयेत्तां मुहुः पुत्रजन्म शब्द जलानिलैः।
प्रत्यायान्ति तथा प्राणाः सूति क्लेशावसादिताः ॥८२॥

जब आवियें शीघ्रता से आने लगें तो स्त्री को शय्या पर लिटा देवें। जब वायु के कारण गर्भ चारों तरफ से दब रहा हो, उस समय अभ्यङ्ग आदि से योनि को विस्तृत करे। जब तक गर्भ योनि मुख में न आवे, तब तक मृदु स्वरूप का प्रवाहण कर्म करे, इसके बाद प्रसव पर्यन्त अत्यधिक वेग से करे। स्त्री को पुनः पुनः पुत्रजन्म के शब्द से, जल से तथा वायु से प्रसन्न रखना चाहिये। प्रसव कष्ट से परिश्रान्त प्राण इस तरह करने से पुनः नवीन हो जाते हैं।

---

[1]–उत्तानाया आभुग्नसक्थ्या वस्त्राधारकोन्नमितकट्या।
(सु. चि. अ. १५)
आभुग्नसक्थ्या इतिसंकुचित सक्थ्या (डल्हण)। सक्थि जंघोच्यते। डल्हण।

[2] अभ्यङ्गोमार्दवकरः कफवातनिरोधनः।
धातूनां पुष्टिजननो मृजावर्णबलप्रदः। (सु. चि. अ. २४)
स्नेहस्य सिरामुखैः सकलशरीरस्यं सन्तर्पणम्भवतीति—
डल्हणः।
रोमान्तेष्वनुदेहस्यस्थित्वामात्राशतत्रयम्।
ततः प्रविशतिस्नेहश्चतुर्भिर्गच्छति त्वचम् ।१।
रक्तं गच्छति मात्राणां शतैः पञ्चभिरेवतु।
षड्भिर्मांसंप्रपद्येत मेदः सप्तभिरेव च ।२।
शतैरष्टाभिरस्थीनि मज्जानं नवभिर्व्रजेत्।
तत्रस्थाञ्छमयेद्रोगान् वातपित्तकफात्मकान् ।३।
योनिमनुलोममनुसुखमभ्यज्य, योनिं पुनः पुनः प्रसाधयेत्
(वृ. वा.)

[3]–चंक्रमणम्—द्रुतगमनम् (अ. द.),
चंक्रमणं—मुहुः पाद विहरणम् (गंगाधर)

[4]–इत्यनेनतु कर्मणा गर्भोऽवाक् प्रतिपद्यते। (च.) अवाक् हृदयबन्धमुक्तोऽधः। (गंगाधर)

[1]–स यदा जानीयाद् विमुच्य हृदयमुदरमस्यास्त्वाविशति बस्तिशीर्षमवगृह्णाति, त्वरयत्येनामाव्यः परिवर्ततेऽवाक् गर्भ इति। (चरक)

[2]–यदागर्भोदकं योनौ सशूलं सम्प्रवर्तते।
कालेनचोदितोगर्भो विमुच्य हृदयोदरम् ।१।
वस्तिशीर्षमधोभागमवगृह्णाति जन्मनि।
इत्येतैःकारणैर्विद्याद् गर्भस्य परिवर्तनम्। (का. जातीय सूत्रीय)

[3]–तस्यलक्षणम्—विमुत्त्यहृदयमुदरमाविशति, वस्तिशिरो ऽवगृह्णाति, त्वरयन्त्येनामाव्यः। (वृ० वा० शा०)

[4]–आवी प्रसववेदना (डल्हण), आवीभिरेषाव्यथा भवतीत्यर्थः (गंगाधर)

वक्तव्य––यह प्रसव की द्वितीयावस्था में कर्तव्य है–– गर्भ जन्म में आवी प्रधान कारण होती है[1] । इसलिये गर्भ का निष्कासन कार्य आवियों द्वारा ही होता है। जब प्रसव वेदना तीव्र तर होने लगे तब भूशयन से उठा कर पलङ्ग पर सुलाना या बिठाना चाहिये। इस अवस्था में गर्भाशय मुख की पूर्ण विस्तृति हो जाने से गर्भ जन्म होता है। मूल में खट्वा के ऊपर सुलाने का आदेश है, किन्तु चरक में पर्यङ्क लिखा है[2] ।

सम्पीडिते गर्भे––इस द्वितीयावस्था में प्रसव वेदना अत्यन्त पीड़ादायिनी होती है, इसी कारण वेदनाओं की उत्तरोत्तर वृद्धि के साथ-साथ ही गर्भ गर्भाशय से नीचे योनि में तथा योनि से बाहर फेंका जाता है। यह क्रिया वायु द्वारा होती है। योनिमस्याः प्रसारयेत्––अभ्यङ्गादि दानेन। इस समय योनि की मृदुता तथा पीड़ाओं की अल्पता के लिये योनि का अभ्यङ्ग करे। इस समय प्रसव वेदना के साथ प्रवाहण करने की आवश्यकता होती है तथा प्रवाहण से गर्भ शीघ्र ही नीचे की तरफ आ जाता है। मृदु पूर्वं प्रवाहेत––प्रवाहण से गर्भाशय को संकोच के समय चारों तरफ से आधार दिया जाता है तथा गर्भाशय नीचे की तरफ दवाया जाता है। प्रवाहण कर्म में उदर प्राचीर की पेशियाँ प्रधानतया सहायता करती है। प्रवाहेत––निकुन्थनं कुरु। 'वाह प्रयत्ने' इत्यस्य धातोरात्मनेपादिनः प्रयोगः। (डल्हण) यथा मलमूत्रोत्सर्ग के समय प्रकुन्थन से मलमूत्रोत्सर्ग कर्म में सहायता मिलती है, तदनुसार ही गर्भ निष्कासन के लिये समुत्पन्न प्रसव वेदना के समय निकुन्थन या प्रवाहण क्रिया से गर्भ निष्कासन में सहायता होती है। किन्तु प्रवाहण ज्यों-ज्यों प्रसव वेदनाएँ बढ़ती जावें त्यों-त्यों उत्तरोत्तर जोर से करे। क्योंकि प्रसव वेदनाओं से गर्भाशय मुख विस्तृति तथा गर्भाशय संकोच होता है। इन दोनों से ही गर्भ बाहर आता है। प्रवाहण इसमें सहायता देता है। इसलिये गर्भ निष्कासन में प्रसव वेदना प्रधान है तथा प्रवाहण गौण है। इसलिये आवियों के वृद्धयनुसार ही प्रवाहण कर्म करना चाहिये[3] ।

इसी आधार पर "शनैः शनैः पूर्वं प्रवाहेथाः, नचाप्राप्तावीः प्रवाहस्व, या ह्यनागतावीः प्रवाहते व्यर्थमेवास्यास्तत् कर्म भवति" आदि आदेश सुश्रुत–चरक ने निर्दिष्ट किये हैं। परिचारिका एवं चिकित्सक के आदेशानुसार प्रथम शनैः-शनैः प्रवाहण करना चाहिये, उसके बाद अधिक बल से। जब स्त्री प्रवाहण कर रही हो, उस समय उसके पास उपस्थित स्त्रियां उसको उत्साहित करती हुई इस तरह से कहें कि "प्रसव हो गया, प्रसव हो गया, धन्य हो, धन्य हो, पुत्र उत्पन्न हुआ है" ऐसे शब्दों के सुनने से गर्भिणी प्रसन्न होती है, प्रसन्नता से गर्भिणी के प्राण तृप्त हो जाते हैं। अर्थात् पुनः नवीन हो जाते हैं[1] ।

चरक ने इस द्वितीयावस्था में वैदिक कर्म भी बतलाये हैं, ये मंत्र गर्भिणी के कानों में पढ़ने चाहिये––

क्षितिर्जलं वियत्तेजो वायुर्विष्णुः प्रजापतिः।
सगर्भां त्वां सदा पातु वैशल्यं च दिशन्तु ते ॥१॥
प्रसूष्वत्वमविक्लिष्ट मविक्लिष्टा शुभानने।
कार्तिकेय द्युतिं पुत्रं कार्तिकेयाभिरक्षितम् ॥२॥
(चरक, वृ० वा०)

इहामृतं च सोमश्च चित्रभानुश्च भामिनि।
उच्चैःश्रवाश्च तुरगो मन्दिरे निवसन्तु ते।
इदममृतमयां समुद्धृतं वै
तव लघुगर्भमिमं प्रमुञ्चतु स्त्री।
तदनल पवनार्क वाससास्ते
सह लवणाम्बु वरैर्दिशन्तु शान्तिम्। (वृ० वा०)

वृ० वा० में लिखा है कि––

जलं च्यवन मंत्रेण स सवाराभि मंत्रितम्।
पीत्वा प्रसूयते नारी।

च्यवन मंत्र से सात बार अभिमंत्रित करके जल पीने से स्त्री को आराम से प्रसव होता है।

(क्रमशः)

---

[1] –आवीप्रादुर्भावोहि प्रसवारम्भलक्षणम्, (आभिनव प्रसूति तंत्रम्।

[2] –अस्यामवस्थायां पर्यङ्कमेनामारोप्य प्रवाहितुमुपकामयेत्। (च. शा. ८), पर्यङ्कः खट्वा–इतिचक्रपाणि।

[3] –सुभगे! प्रवाहस्वेति, नचाप्राप्तावी प्रवाहस्वम्, ततो विमुक्ते गर्भनाडीप्रवन्धे सशूलेषु श्रोणिवंक्षणवस्ति शिरःसु च प्रवाहेथाः शनैः-शनैः पूर्वं ततो निर्गमे प्रगाढम्। (सुश्रुत)

[1] –तथा प्राप्तकालस्य गर्भस्य प्रवाहणं सा यथा निर्देशं कुरुष्वेति वक्तव्या। तथा च कुर्वती शनैः-शनैः पूर्वं प्रवाहते, ततोऽनन्तरं बलवत्तरम्, तस्यां प्रवाहमाणायां स्त्रियः शब्दं कुर्युः "प्रजाता प्रजाता धन्यं धन्यं पुत्रम्" इति तथाऽस्याहर्षेणाप्यायन्ते प्राणाः। (च. शा. ८)

रक्ताल्पता—एनीमिया

वैद्य रवीन्द्र शास्त्री

रक्ताल्पता—खून में आवश्यक रक्ताणुओं की कमी, आज के सभ्य समाज का सभ्य रोग ही समझिये। सफेद आँखें, कान्तिहीन चेहरा, सुबह की थकान, काम में आलस्य, उत्साह की कमी और उमंगों का अभाव आजकल के नौजवानों की व्यापक विशेषताएँ हैं—और इन सब की जिम्मेदारी है उनके खून में रक्त-कणों की कमी पर। यों चिकित्सा-शास्त्र की दृष्टि से खून के रक्त-कणों की कमी कोई स्वतन्त्र रोग न होकर शरीर की उस स्थितिका परिचायक एक लक्षण-मात्र ही है—जिसमें रक्त के लालकण आवश्यकता से कम हो जाते हैं—किन्तु शहरों में रहनेवाले डाक्टरों और उनके सम्पर्क में आनेवाले रोगियों ने इसे एक स्वतन्त्र रोग का ही रूप दे दिया है। यह तो निर्विवाद तथ्य है कि न केवल समुचित स्वास्थ्य के लिये ही, अपितु, इस पाँच भौतिक शरीर के जीवित रखने के लिये भी शरीर में रक्त संचालन का होते रहना आवश्यक है—नितान्त अनिवार्य है। रक्त संचालन की क्रिया का उचित रूप में होते रहना ही स्वास्थ्य और जीवन है—और जब इस क्रिया में गतिरोध हो जाता है तो न स्वास्थ्य रहता है न जीवन। शरीर का निर्माण करनेवाले विधाता ने या प्रकृति ने कुछ व्यवस्था ही ऐसे ढंग से की है कि शरीर के लिये आवश्यक खुराक—हवा, पानी-आहार के द्वारा जो जीवन रस प्रस्तुत होता है, वह रक्त के रूप में परिणत होकर ही शरीर के समस्त अवयवों को नव-जीवन प्रदान करता है। रक्त का सारे शरीर में प्रवाहित होते रहना और उसमें उचित मात्रा में रक्ताणुओं का विद्यमान रहना जीवन-स्वास्थ्य का परिचायक चिह्न इसी वजह से माना गया है कि इस स्थिति में शरीर को उचित पोषण मिल कर जीवन-यात्रा के लिये आवश्यक संबल मिलता रहता है। शरीर शास्त्रियों की धारणा है कि रक्त का पचपन प्रतिशत भाग तो तरल है—और बाकी ४५ प्रतिशत ठोस। ठोस भाग में लालकण और सफेद कण हैं। लालकणों के कारण रक्त में ललाई रहती है—फेफड़ों में आया हुआ ओषजन हृदय तक पहुँचाया जाता और शरीर के प्रत्येक घटक को नई शक्ति दी जाती है। रक्ताणु का आकार इतना सूक्ष्म होता है कि अणुवीक्षण यन्त्र के द्वारा देखने प साधारण व्यक्ति तो आश्चर्य-चकित हो जाता है। सामा मान्यता यह है कि रक्ताणु की चौड़ाई तो १ इञ्च का ती हजारवाँ भाग होता है और मोटाई पन्द्रह हजारवाँ भाग यह भी सिद्धान्त स्थिर हो गया है कि कुल शरीर का चौदह हिस्सा रक्त होता है, किन्तु किंगकांग जैसे भीमकाय औ मोटे पुरुषों के लिये यह नियम लागू नहीं होगा—न कलकत्ता बम्बई के मेदस्वी स्त्री-पुरुषों के लिये यह नियम लागू होगा-क्योंकि मोटे पुरुषों का वजन चर्बी का अनावश्यक व होता है तथा चर्बी में रक्त की मात्रा बहुत कम होती है।

आहार शास्त्रियों की धारणा है कि रक्ताणु में लो का अंश रहता है और रक्त निर्माण करनेवाले खाद्य पदा में लोह, खनिज लवण एवं विटामिन की आवश्यक मा होना आवश्यक है। रक्ताणुओं के निर्माण और निर्वाण कार्य निरन्तर चलता रहता है। इसकी परमायु १ सप्ताह मानी गई है—इस अवधि में यह अपना काम समा कर लेता है।

यह तो शरीर की एक स्वाभाविक क्रिया ही है कि मृत रक्ताणु की पूर्ति दूसरे रक्ताणु के नवजन्म से हो रहती है—और इस क्रिया का नैसर्गिक रूप में होते र ही जीवन और स्वास्थ्य के लिये अनिवार्य है। रक्ताणु की तरह श्वेताणु भी रक्त के अङ्ग हैं और उचित अनु में रह कर शरीर की स्वाभाविक रोग-क्षम शक्ति को रखने का कार्य करते रहते हैं—किन्तु जब रक्ताणु संख्या कम होकर श्वेताणु की संख्या बढ़ जाती है तो ही का का ' अस्त-व्यस्त हो जाता है। रक्त की रं या रक्ताणुओं की निर्माण क्रिया खाद्य पदार्थ और वाता पर निर्भर करती है और जब इतना ज्ञान हो जाता है रक्ताल्पता का रहस्य सहज ही में समझा जा सकता है

रक्ताल्पता का कारण और उसकी प्रतिक्रिया

भारतीय आयुर्वेद और प्राकृतिक चिकित्सा की [illegible] स्पष्ट मान्यता है कि सभी रोगों का मूल कारण

विहार का अव्यवस्थित–असंतुलित एवं अनियमित होना है, और रक्ताल्पता का विकार भी इसका अपवाद नहीं है। आजकल की वैज्ञानिक भाषा में या आधुनिक शरीर-क्रिया-विज्ञान के शब्दों में यों कहा जा सकता है कि जब भोजन में रक्त निर्माता तत्त्वों—लोह, विटामिन एव खनिज तत्त्वों की कमी होती है तो शरीर में रक्त की मात्रा कम हो जाती है। मोटे तौर से यों कहा जा सकता है कि जब शरीर की स्वाभाविक क्रिया, (भोजन का उचित पाचन होकर उसका उचित रस बनना और रस के पाचन के बाद रक्त बनना) अपने सही रूप में नहीं रहती तब और-और विकारों के साथ खून की कमी का भी एक चिह्न प्रकट हो जाता है। इस बात को और भी विशद रूप में यों कहा जा सकता है कि जब रात्रि जागरण, मलावरोध, खाने-पीने की गलती, मानसिक चिन्ता आदि कारणों से कब्ज होकर आँतों में मल संचित हो जाता है तो शुष्क मल के कण न केवल रस-रक्त आदि धातुओं के निर्माण कार्य को ही गड़बड़ा देते हैं बल्कि रक्त को अशुद्ध भी बना देते हैं।

भोजन की कमी तो स्वतः ही रक्त की कमी का कारण है और अनियमित–असंतुलित एवं बिना भूख का या विकृत भोजन, शरीर को रोगों की उपजाऊ भूमि बनाने का प्रमुख साधन है। अतः यह बात तो सहज में ही समझ में आ जानी चाहिये कि रक्ताल्पता का कारण हम स्वयं ही पैदा करते रहते हैं—हमारे आहार-विहार—दिनचर्या का अवैज्ञानिक–स्वास्थ्य विरोधी तथा आडंवरपूर्ण होना ही खून की कमी का प्रधान कारण है। यों यह रोग शरीर के किसी मार्ग-नाक-गुदा या योनि से खून के निकल जाने पर भी होता है जैसे नक्सीर होते रहने, रक्तार्श में खून के निकलने या रक्त-प्रदर में होता है किन्तु रोग का यह रूप तो प्रधान रोग का एक प्रकट चिह्न ही होता है। कभी-कभी मलेरिया भी प्रसाद के रूप में रक्ताल्पता छोड़ जाता है। मिट्टी खाने, तिल्ली के बढ़ने और यकृत् की क्रिया में गड़बड़ी होने पर भी रक्त की कमी हो जाती है। जिन परिश्रमी व्यक्तियों को उनके श्रम के अनुपात से पौष्टिक खुराक नहीं मिलती, उन्हें भी इस रोग का शिकार होना पड़ता है। जल्दी-जल्दी बच्चे होना और गर्भावस्था में पौष्टिक भोजन की कमी होना; स्त्री और बच्चे दोनों के लिये रोग का कारण बनता है।

इसकी प्रतिक्रिया—रक्ताणुओं की कमी से होनेवाला शरीर पर प्रभाव कुछ ऐसे रूप में होता है कि स्वयं रोगी हैरान-सा हो कर किंकर्त्तव्यविमूढ़ बन जाता है। चूंकि प्रतिक्रिया होती है धीरे-धीरे और खराबियाँ भी आती हैं, शनैः-शनैः,अतः रोगी के लिये कठिन समस्या यह बनती है कि रोग के पूरे उभार तक तो वह समझ ही नहीं पाता कि शरीर की स्वाभाविक क्रियाओं में यह अन्तर क्यों पड़ता जा रहा है? भूख भी लगती है, खाना भी खाया जाता है, दस्त की भी कोई खास शिकायत नहीं फिर भी सुबह उठते ही थकान मालूम होती है,—काम में उत्साह नहीं रहता। पड़े रहने की तबियत होती है, आँखों के आगे पतंगे उड़ने लगते हैं, जरा-सी बात में ही दिल धड़कने लगता है, आफिस का काम सर पर चढ़ने लगता है—हँसी-खुशी हवा होने लगती है। चेहरा फीका पड़ जाता, चमड़ी सफेद और निष्प्रभ हो जाती और जिंदगी का मजा किरकिरा हो जाता है।

रक्ताल्पता की चिकित्सा—बिना विलम्ब इसका उपचार कीजिये और चिकित्सकों के चक्कर में न पड़ कर सहज बुद्धि और प्रकृति की सहायता से रक्ताणुओं की पूर्ति करके खोये हुए स्वास्थ्य को प्राप्त कर लीजिये। इसमें तनिक भी अतिशयोक्ति नहीं है कि जिस एनीमिया के नाम पर आपके पैसे ठगे जाते, आपके दिमाग में नये-नये विकारों का हौआ खड़ा करके रक्त परीक्षा, मल परीक्षा आदि के नाम से परेशान किया जाता है वह बहुत आसानी से केवल दिनचर्या को नियमित एवं आहार में उचित परिवर्तन करने से दूर किया जा सकता है। अतः इस सम्बन्ध की आवश्यक जानकारी यहाँ दी जा रहह रही है।

(१) दिनचर्या को स्वास्थ्य नियमों के अनुकूल पूरी तरह से नियमित बना लीजिये। शौच, आहार, शयन को नियमित रखिये। शरीर की स्थिति के अनुसार खुली हवा में हल्का व्यायाम शुरू कर दीजिये, सुबह-शाम की घुमाई, जल में तैरना, हल्की दौड़ या मन पसन्द व्यायाम के द्वारा शरीर में रक्त प्रवाह को बढ़ाइये।

(२) पेट और दिमाग को हल्का रखिये। एनीमा के द्वारा आँतों की धुलाई कर लीजिये और १२ घण्टे के उपवास से आँतों को आराम भी दे लीजिये—ताकि वे शुद्ध हो कर पाचन क्रिया को व्यवस्थित रूप से चालू कर दें। पूरी तरह से शान्त और प्रसन्न रहिये, मनोविकारों से बचिये।

(३) मल-मूत्र, नींद आदि के वेग को रोक कर प्राकृतिक क्रियाओं में हस्तक्षेप करने की आदत छोड़ दीजिये।

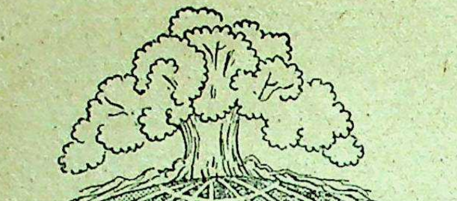

आयुर्वेद-जगत्

बैद्यनाथ के पटना केन्द्र में श्री द्वारकानाथ का स्वागत

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के देशी चिकित्सा पद्धतियों के परामर्शदाता डा० सी० द्वारकानाथ का उनके पटना आगमन पर श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०, पटना की ओर से एक स्वागत-सभा का आयोजन किया गया, जिसकी अध्यक्षता बिहार के विधि एवं सहकारिता मंत्री श्री जगतनारायण लाल ने की। प्रारम्भ में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के निर्देशक श्री रामदयाल जोशी ने स्वागत करते हुए आयुर्वेदिक एवं यूनानी चिकित्सा-पद्धतियों के प्रति भारत सरकार की उदासीनता पर खेद प्रकट किया। जोशी जी ने आगे कहा कि राष्ट्रीय सरकार से हम लोगों को ऐसी आशा नहीं थी, जिसने स्वराज्य मिलने के पूर्व आयुर्वेद के विकास के लिए तरह-तरह का आश्वासन दिया था।

राजकीय आयुर्वेदिक कालेज, पटना के आचार्य श्री प्रियव्रत शर्मा ने उपस्थित व्यक्तियों से डाक्टर द्वारकानाथ का परिचय कराया। स्वागत-समारोह में राजकीय तिब्बी कालेज के आचार्य श्री एम० अब्दुल अहमद ने भी डा० द्वारकानाथ का स्वागत किया।

इस अवसर पर श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के कर्मचारियों एवं व्यवस्था विभाग की ओर से डा० द्वारकानाथ को एक अभिनन्दन-पत्र भी भेंट किया गया।

स्वागत के प्रति आभार व्यक्त करते हुए डा० द्वारकानाथ ने कहा कि भारत में औषधि निर्माण उद्योग के लिए व्यापक क्षेत्र है। उन्होंने इस सन्दर्भ में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन और इस तरह की अन्य देशी संस्थाओं की प्रशंसा की।

उन्होंने बताया कि देशी दवाओं की प्राप्ति और पूर्ति पर नियंत्रण करने के लिए एक कानून बनाने का प्रस्ताव भारत सरकार के समक्ष विचाराधीन है। देशी दवाओं में मिलावट को रोकने के अन्य उपाय भी आवश्यक होंगे। उन्होंने कहा कि भारत सरकार औषधियों की जाँच करने के लिए एक प्रयोगशाला खोलने का भी विचार कर रही है। आयुर्वेदिक जड़ी-बूटिययों का सर्वेक्षण कराने का भी विचार है। इसके अतिरिक्त सरकार जड़ी-बूटियों की खेती करनेवाली संस्थाओं को बढ़ावा एवं सहायता देने के प्रश्न पर भी विचार कर रही है। डाक्टर द्वारकानाथ ने बताया कि तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेद में अनुसंधान एवं आयुर्वेदिक कालेजों की प्रगति पर काफी धन व्यय किया जायगा। उन्होंने कहा कि इन सब बातों तथा वैद्यों और हकीमों के पारस्परिक सहयोग से देशी चिकित्सा-पद्धतियों की सुरक्षा हो सकेगी और उनका विकास होगा।

अध्यक्षीय भाषण में श्री जगतनारायण लाल ने कहा कि आयुवद उन सत्यों पर आधारित है, जिनका विनाश नहीं हो सकता। उन्होंने कहा कि आयुर्वेद में कुछ चीजें ऐसी हैं जो सम्पूर्ण विश्व को दी जा सकती है। अन्त में भवन के निर्देशक श्री रामदयाल जोशी द्वारा धन्यवाद-ज्ञापन किया गया।

इसके बाद बैद्यनाथ प्रतिष्ठान के पटना स्थित निर्माणशाला के विभिन्न भागों को निरीक्षण श्री द्वारकानाथ जी ने घूम-घूम कर किया। रस, आसवारिष्ट एवं भस्मों के निर्माण की प्रक्रिया को देख कर वे अत्यन्त प्रभावित हुए और उन्होंने पूर्ण सन्तोष प्रकट किया।

अ० शि० आयुर्वेद महाविद्यालय में श्री द्वारकानाथ का स्वागत

भारत सरकार के देशी चिकित्सा विभाग के परामर्शदाता डॉ० सी० द्वारकानाथ, अ० शि० आयुर्वेद महाविद्यालय के निरीक्षणार्थ गत २६ अप्रैल को बेगूसराय पधारे। महाविद्यालय के अधिकारियों, प्राध्यापकों तथा छात्रों ने उनका हार्दिक स्वागत किया। आपने आयुर्वेद महाविद्यालय के सभी विभागों का निरीक्षण किया और महाविद्यालय की प्रगति से अत्यन्त सन्तुष्ट हुए। इस अवसर पर प्राध्यापकों के साथ आयुर्वेद की भावी योजनाओं, पाठयक्रम, प्रवेश-योग्यता प्रभृति विषयों पर भी विचार-विमर्श हुआ। छात्र-समिति की ओर से उनका भव्य स्वागत किया गया। इस अवसर पर प्राध्यापक श्री शिवकुमार मिश्र ने इस अवसर पर महाविद्यालय की ओर से उन्हें अभिनन्दन पत्र समर्पित किया।

छात्र-प्रतिनिधि श्री अनन्त नारायण शर्मा पञ्चम वर्ष ने डाक्टर साहब का स्वागत करते हुए छात्रों की कठिनाइयों को उनके समक्ष उपस्थित किया।

डॉ० सी० द्वारकानाथ जी ने छात्रों को सम्बोधित करते हुए बताया कि आयुर्वेद का अध्ययन उन्हें राष्ट्रीय भावना की ओर अभिभूत करता है इसलिए उचित यह है कि प्रत्येक छात्र राष्ट्रीय भावना से आयुर्वेद का अध्ययन करें। आयुर्वेद के विकास के लिए केन्द्रीय सरकार से पूर्ण सहयोग दिलाने का आश्वासन उन्होंने दिया। वर्तमान पाठ्यक्रम और शिक्षा-प्रणाली को दोष पूर्ण बताते हुए उन्होंने कहा कि आयुर्वेद का अध्ययन साहित्य के रूप में न होकर विज्ञान के रूप में होना चाहिए और आयुर्वेद में दिनानुदिन वैज्ञानिक शोध का प्रयत्न करना चाहिये। आयुर्वेद का प्रत्येक प्राध्यापक अपने को अध्यापक के साथ ही साथ अन्वेषक भी समझे और अपने विषय को परिपूर्ण के लिए दिन-रात कार्य करे। अन्त में प्रिन्सिपल इनचार्य श्री कृष्णचन्द्र प्रसादजी ने धन्यवाद ज्ञापित किया।

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के लिए ३ अरब रु० की राशि स्वीकृत

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की तृतीय पंचवर्षीय योजना में सबसे अधिक बल मलेरिया जैसे भारत के प्रथम नम्बर के मारक रोग के उन्मूलन पर दिया गया है। इसके बाद अन्य संक्रामक रोगों के निवारण पर, परिवार नियोजन आन्दोलन पर तथा जन स्वास्थ्य-सेवाओं की वृद्धि पर बल दिया गया है। सफाई तथा पीने का पानी मुहैया करने की भी व्यवस्था की गई है।

तृतीय पंचवर्षीय योजना में केन्द्र की सहायता से राज्यों में १५ मैडिकल कालिज और खोले जाने की आशा है। देशी चिकित्सा-पद्धति के विकास के लिए मंत्रालय जो योजना बना रहा है, उसके अनुसार चार नए आयुर्वेदिक कालिज और सौ अतिरिक्त आयुर्वेदिक चिकित्सालय खोले जायँगे।

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय की तृतीय पंचवर्षीय योजना के लिए योजना आयोग ने ३ अरब रुपए की राशि देना स्वीकार कर लिया है। प्रथम और द्वितीय योजनाओं के लिए जितनी राशि दी गई थी, उक्त राशि उससे कहीं अधिक है। प्रथम योजना में १४० करोड़ रुपए दिया गया था और द्वितीय योजना योजना में २७४ करोड़ रु० दिया गया था।

जिन ११ शीर्षकों के अन्तर्गत उक्त राशि दी गई हैं उनमें सबसे अधिक संक्रामक रोगों के लिए अर्थात ९२ करोड़ रुपया दिया गया है। इसमें से भी ५५ करोड़ रुपए केवल मलेरिया नियंत्रण के लिए है। संक्रामक रोगों में से तपेदिक के लिए ७ करोड़ रुपए, चेचक के लिए ७ करोड़ रुपए तथा अन्य रोगों के लिए ३ करोड़ रुपए रखा गया है।

कुल राशि का १२वाँ हिस्सा अर्थात् २५ करोड़ रुपए परिवार नियोजन के लिए रखा गया है। ३० करोड़ रुपए चिकित्सा सेवाओं के लिए, १७ करोड़ रुपए चिकित्सा सम्बन्धी शिक्षण के लिए और २० करोड़ रुपए प्राथमिक स्वास्थ्य केन्द्रों के लिए रखा गया है। देशी चिकित्सा पद्धति के विकास के लिए ५ करोड़ रुपए, जनस्वास्थ्य और प्रशासनिक सेवा के लिए १ करोड़ रुपए, औषधियों के नियंत्रण के लिए दो करोड़ रुपए तथा विविध अन्य कामों के लिए एक करोड़ रुपए रखा गया है।

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय के मूल मसविदे में ७ अरब रुपए के व्यय का अनुमान रखा था। इस मसविदे को तैयार करने वाले कार्यकारी मंडल ने योजना आयोग को कहा था कि केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद ने यह सिफारिश की है कि तृतीय पंचवर्षीय योजना के कुल व्यय के १० प्रतिशत से कम स्वास्थ्य के लिए न दिया जाय। परन्तु योजना आयोग ने जितनी राशि मांगी गई थी उसकी आधी भी देनी स्वीकार नहीं की।

इसलिए केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय को अपनी योजनाओं में कमी करनी पड़ी। उदाहरणार्थ पानी मुहैया करने के लिए उसने मूल योजना २ अरब रुपया की रखी थी किन्तु अब उसमें कटौती करके ८८ करोड़ रुपया रखनी पड़ी।

स्वास्थ्य मंत्रालय के विशेषज्ञ इस कटौती से प्रसन्न नहीं है क्योंकि उनका कहना है कि जब तक सारे देश को पीने का पानी की मुहैया नहीं किया जाता तब तक अन्य स्वास्थ्य योजनाओं के विस्तार का कोई लाभ नहीं। केन्द्रीय स्वास्थ्य परिषद ने कहा है कि देहातों में अगली दो योजनाएँ के अन्दर-अन्दर पानी मुहैया कर दिया जावे। स्वास्थ्य मन्त्रालय के विशेषज्ञों का कहना है कि उस सिफारिश को दृष्टि में रखते हुए पानी के लिए दी गई राशि अत्यन्त अपर्याप्त है।

बोर्ड ऑफ इन्डियन मैडिसन, राजस्थान

इण्डियन मेडिसिन बोर्ड, जयपुर के रजिस्ट्रार ने निम्नलिखित विज्ञप्ति प्रकाशनार्थ भेजी है, जो यहाँ दी जा रही है—

—देशीय चिकित्सा पद्धति के समभ्यासियों एवं देशीय धात्री विद्या की समभ्यासिनियों को इस विज्ञप्ति द्वारा सूचित किया जाता है कि राजस्थान इण्डियन मैडिसन बोर्ड द्वारा अनुभव के आधार पर राजस्थान देशीय चिकित्सा अधिनियम सन् १९५३ के अन्तर्गत रजिस्ट्रेशन तथा नामांकन की अवधि दिनांक १ जून, ६० से ३१ जुलाई, सन् १९६० तक केवल दो मास के लिये खोल दी गई है। अतः उक्त पद्धति के समभ्यासी जो राजस्थान में समभ्यास करने के इच्छुक हों, वे अपने-अपने आवेदन-पत्र सब आवश्यक पूर्तियों एवं शुल्क के साथ निम्न हस्ताक्षर कर्ता के कार्यालय में उक्त अवधि में भेज दें। यह अवधि अन्तिम होगी।

१—निर्धारित आवेदन पत्र एवं मजिस्ट्रेट प्रमाण पत्र की पूर्ति, जिला सभा की प्रामाणिकता, तथा शुल्क के दश रुपये का पोस्टल आर्डर को एक साथ भेजें, इन को अलग-अलग नहीं भेजा जाए।

२—चिकित्साधिकार के लिये मजिस्ट्रेट का प्रमाण-पत्र अनिवार्य नहीं होगा। आवेदन पत्र पर जिला वैद्य सभा या राजस्थान इण्डियन मेडिसन बोर्ड के सदस्य की प्रामाणिकता आवश्यक होगी।

३—आवेदन-पत्र दिनांक १ जून, सन् १९६० से पहले स्वीकार नहीं किये जावेंगे, और अवधि की अंतिम तारीख ३१ जुलाई सन् १९६० तक कार्यालय में प्राप्त ही मान्य होंगे। अवधि के बाद कार्यालय में प्राप्त आवेदन पत्रों पर कोई विचार नहीं किया जायगा।

४—आवेदन पत्र की आवश्यक पूर्ति के अभाव में आवेदन पत्र अस्वीकृत कर दिया जावेगा।

५—प्रार्थी प्रार्थना पत्र देने से पूर्व अपनी योग्यता का निर्णय स्वयं करें।

६—अनुभव के आधार पर आवेदनकर्ताओं का साक्षात्कार द्वारा ही निर्णय किया जावेगा एवं उन्हें अपने खर्च से साक्षात्कारार्थ उपस्थित होना होगा।

किसी भी अभाव के कारण अस्वीकृत आवेदन पत्रों प्राप्त शुल्क किसी भी दशा में वापस नहीं किया जावेगा।

नोट—(१) निर्धारित आवेदन पत्र व मजिस्ट्रेट का प्रमा पत्र निम्न हस्ताक्षरकर्ता के कार्यालय से प्रार्थी अप पता किया हुआ १५ नये पैसे का लिफाफा भेज क प्राप्त कर सकते हैं।

(२) उक्त अवधि में प्राप्त आवेदन पत्रों का नि अवधि समाप्त होने पर साक्षात्कार द्वारा किया जा सूचना दी जावेगी। प्रार्थी अनावश्यक पत्र व्यवहार करें।

(३) राजस्थान देशीय चिकित्सा अधिनियम १९५३ अधिनियम एवं नियम प्रत्येक २५ नये पैसे आवश्यक पोस्टेज निम्न हस्ताक्षरकर्ता के कार्यालय को म आर्डर द्वारा भेज कर प्राप्त कर सकते हैं।

आयुर्वेद के अभ्युदय के लिए हिन्दू वि० वि० सं

श्री दर का स्पष्टीकरण

वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय के रजिस्ट्रार श्री ए एल० दर ने एक वक्तय में कहा है कि कुछ क्षेत्रों में ए धारणा व्याप्त हो गयी है कि मेडिकल कालेज की स्था कर विश्वविद्यालय आयुर्वेद की शिक्षा को ही अन्त कर दे चाहता है, किन्तु यह धारणा सर्वथा निराधार है। आ कहा कि इस प्रकार की भ्रांतधारणा के विपरीत क हिन्दू विश्वविद्यालय "शुद्ध आयुर्वेद" के उन्नयन के इच्छुक है और उसे सुदृढ़ आधार प्रदान करना चाहता श्री दर ने अपने वक्तव्य में आगे बताया कि आयुर्वे अध्ययन-अध्यापन के विकास के लिए हिन्दू विश्ववि यथाशक्ति प्रयत्नशील रहा है। विश्वविद्यालय के सं पक स्वयं महामना मालवीय जी ने एक ऐसे मेडिकल का की स्थापना का विचार किया था, जिसमें आयुर्वेद के ही आधुनिक मेडिसिन एवं सर्जरी की व्यवस्था हो। अभिप्राय से विश्वविद्यालय में १९२८ में मेडिसिन एवं विभाग (फैकल्टी) की स्थापना की गयी थी और १ से आयुर्वेद कालेज का शुभारंभ हुआ। प्रारम्भ में पाठचक्रम इस फैकल्टी के लिए तैयार किया गया था साधारणतः पण्डित गोकर्णनाथ मिश्र कमेटी की रिप आधारित था। बाद में चोपड़ा कमेटी तथा पण्डित अ

ने भी उसी प्रकार की रिपोर्ट प्रस्तुत की थी, जिसकी मुख्य सिफारिश यह थी कि आयुर्वेदिक तथा आधुनिक शिक्षा प्रणाली के साथ-साथ शिक्षा दी जाय। कहना न होगा कि १९२९ से ही इस दिशा में जो प्रयोग किया गया वह सफल सिद्ध न हो सका। आयुर्वेद कालेज से शिक्षा प्राप्त करके जो स्नातक निकलते थे, उनकी दशा पर विश्वविद्यालय को प्रसन्नता नहीं होती थी—अतएव, विश्वविद्यालय ने आयुर्वेद के अध्ययन के उन्नयन के लिए नये प्रयोग का निर्णय किया।

विश्वविद्यालय द्वारा प्रस्तावित "एम० बी० बी० एस०" के नए पाठ्यक्रम में आयुर्वेद का भी प्रधान तत्व रहेगा जिससे नए मेडिकल साइन्स कालेज के "एम० बी० बी० एस०" डिग्री प्राप्त स्नातक अन्य विश्वविद्यालयों के मेडिकल कालेज के स्नातकों के समकक्ष हों तथा साथ ही वे यथासंभव निष्ठापूर्वक आयुर्वेद की भी उन्नति कर सकें। हिन्दू विश्वविद्यालय इस शिक्षा में अग्रणी है।

श्री दर ने आगे कहा कि वर्त्तमान आयुर्वेद विभाग को आयुर्वेद में स्नातकोत्तर तथा रिसर्च इस्टीच्यूट के रूप में परिवर्तित कर देने का प्रस्ताव किया गया है—और इस प्रस्तावित इंस्टीच्यूट का सम्बन्ध शुद्ध आयुर्वेद से होगा और इसमें जो शिक्षा दी जायगी, उससे एम० एस० सी० (आयुर्वेद) तथा पी० एच० डी० (शुद्ध आयुर्वेद) की डिग्रियाँ प्राप्त होंगी। वर्त्तमान ए० एम० एस० तथा एम० बी० बी० एस० के स्नातकों एवं एम० बी० बी० एस० के भावी स्नातकों को आयुर्वेद में अनुसंधान करने अथवा आयुवद म या प्रस्तावित आयुर्वेदिक रिसर्च इंस्टीच्यट से स्नातकोत्तर डिग्री प्राप्त करने की सुविधा रहेगी।

प्रस्तावित योजना पर और भी प्रकाश डालते हुए श्री दर ने आगे बताया कि एक मिश्रित पाठ्यक्रम के स्थान पर दो भिन्न संस्थाओं की स्थापना विश्वविद्यालय कर रहा है। एक में आयुर्वेद के प्रधान तत्व के साथ एम० बी० बीं० एस० सर्वाङ्गपूर्ण पाठ्यक्रम की व्यवस्था होगी और दूसरी योजना के अन्तर्गत वर्त्तमान आयुर्वेद कालेज की स्थिति विकसित रूप में होगी, जिसमें 'शुद्ध आयुर्वेद' की स्नातकोत्तर शिक्षा तथा गवेषणा की व्यवस्था रहेगी। इस तरह यह स्पष्ट हो जाता है कि वाराणसी हिन्दू विश्वविद्यालय का उद्देश्य महानता की अभिलाषाओं के अनुरूप एक ऐसे मेडिकल कालेज की स्थापना करना है, जिसमें आयुर्वेद के साथ-साथ आधुनिक मेडिकल तथा सर्जरी (शल्य चिकित्सा) की भी शिक्षा दी जा सके।

बंगाल में आयुर्वेद की उपेक्षा

बंगाल सरकार द्वारा आयुर्वेद के प्रति अपनायी जानेवाली उपेक्षापूर्ण नीति के सम्बन्ध में कविराज श्रीनारायण शर्मा, एम० ए० एम० एस०, वैद्य शिरोमणि का निम्नलिखित वक्तव्य पाठकों की जानकारी के लिए यहाँ दिया जा रहा है—

बंगाल प्रान्त आयुर्वेद चिकित्सा पद्धति का केन्द्र चिरकाल से रहा है। यहाँ उच्चकोटि के आयुर्वेदज्ञ हर काल में आयुर्वेद की विशिष्ट चिकित्सा द्वारा जनता की सेवा करते रहे हैं। अंग्रेजों के काल में भी स्वदेशी आन्दोलन की लहर के साथ-साथ कलकत्ते में श्री यामिनीभूषण अष्टांग आयुर्वेद कालेज, श्यामादास वैद्य शास्त्रपीठ तथा विश्वनाथ आयुर्वेद कालेज, तीन बड़े शिक्षा एवं चिकित्सा के प्रतिष्ठान आज से ३५ वर्ष पहले से ही स्वर्गीय कविराज यामिनीभूषण राय, श्री श्यामादास जी एवं श्री गणनाथ सेन जी के प्रयत्न से खुले थे। इन महाविद्यालयों में लंका से काश्मीर एवं आसाम से राजस्थान तक के विद्यार्थी आकर शिक्षा प्राप्त करते रहे हैं एवं इन्हीं प्रतिष्ठानों से शिक्षा प्राप्त कर अनेक विद्वानों ने अपने प्रान्तों में आयुर्वेदीय चिकित्सा एवं शिक्षा का प्रचार एवं प्रसार किया है। फलतः बंगाल में भी अन्य प्रान्तों से अधिक उन्नति आयुर्वेद की चिकित्सा एवं शिक्षा की दिशा में होनी चाहिए थी, पर ठीक उल्टा ही काम यहाँ सरकार की अवहेलना की नीति के कारण हो रहा है। यहाँ सन् १९३८ ई० में केवल एक प्रस्ताव द्वारा आयुर्वेद फैकल्टी की स्थापना हुई थी एवं अभी तक भी सरकार ने विधेयक पारित कर वैद्यों को कोई भी मान्यता एवं अधिकार नहीं दिए हैं।

दिसम्बर १९५४ ई० में रजिस्टर्ड वैद्यों ने चुन कर आयुर्वेद एवं यूनानी परिषद् एवं अधिकार का नियमानुसार गठन किया था। सरकार को आयुर्वेद बिल बना कर दिया गया तथा चिकित्सा एवं शिक्षा-सम्बन्धी उन्नति के लिए अनेक प्रस्ताव स्वीकृत कर सरकार पर कुछ करने के लिए दबाव डाला गया। इसका परिणाम यह हुआ कि सरकार ने २ दिसम्बर १९५७ में एक प्रेस नोट दे कर उपरोक्त फैकल्टी को "भंग" कर दिया तथा उसके स्थान पर एक एडहोक कमिटी कायम कर दी। गणतन्त्र के युग

में सरकार का यह कर्त्तव्य था कि वह चुनाव करा कर वैद्यों के प्रतिनिधियों से आयुर्वेद फैकल्टी का गठन करती।

उस समय सरकार ने प्रेस नोट में यह प्रचारित किया था कि सरकार आयुर्वेदीय चिकित्सा एवं शिक्षा के नियमन के लिए शीघ्रविधेयक पारित करना चाहती है, एवं गवेषणा-केन्द्र तथा सरकारी आयुर्वेद महाविद्यालय की स्थापना करना चाहती है एवं उपरोक्त उद्देश्यों की शीघ्र पूर्ति के लिए ही एडहोक कमिटी कायम की गयी है। पर बंगाल सरकार अभी तक उपरोक्त उद्देश्यों की पूर्ति में कोई भी काम न कर पायी है।

इधर फैकल्टी की एडहोक कमिटी का यह हाल है कि रजिस्ट्रेशन के लिए वैद्यों के सैकड़ों आवेदन-पत्र जाम पड़े हैं। कामों में लापरवाही इतनी आ गयी है कि शिक्षा प्राप्त स्नातकों को डिप्लोमा नहीं मिलता है। आयुर्वेद कौंसिल के हिसाब-किताब की जाँच भी आडिटर द्वारा नहीं होती है।

इस तरह आयुर्वेद फैकल्टी की एडहोक कमिटी का कार्य संचालन बिल्कुल असफल रहा है तथा सरकार ने भी इन वर्षों में आयुर्वेद के लिए कुछ भी नहीं किया है। बंगाल आज भी आयुर्वेदीय चिकित्सा का केन्द्र है एवं जितनी बड़ी अवहेलना आयुर्वेद की यहाँ हुई है, उतनी कहीं किसी भी प्रान्त में नहीं हुई। अतः मेरा पुनः बंगाल सरकार से अनुरोध है कि उपरोक्त सारी बातों को ध्यान में रखते हुए शीघ्रातिशीघ्र असेम्बली से आयुर्वेदीय विधेयक पारित करावे, कलकत्ते के तीनों आयुर्वेदीय महाविद्यालयों का प्रान्तीयकरण करके सरकारी नियंत्रण में संचालन करे। सम्पूर्ण प्रान्त में आयुर्वेदीय चिकित्सालयों की स्थापना करावे।

दिसम्बर १९६० में एडहोक कमिटी का कार्यकाल शष होता है तथा इन तीन वर्षों के काल में यह बिल्कुल असफल रही है—अतः इसके काल को आगे न और बढ़ा कर चुनाव करा कर रजिस्टर्ड वैद्यों के प्रतिनिधि सदस्यों से आयुर्वेद फैकल्टी का गठन करना चाहिए। जनता एवं वैद्य समाज को जागरूक हो कर उपरोक्त कार्यों की पूर्ति के लिए अथक परिश्रम कर आयुर्वेद की रक्षा करनी चाहिए।

यूनानी आयुर्वेदिक प्रणाली भारत के अनुकूल

अखिल पंजाब यूनानी तथा तिब्बी कांग्रेस के सातवें अधिवेशन के अवसर पर फगवाड़ा में एकत्र हुए हकीमों और वैद्यों को संबोधित करते हुए पंजाब सरकार के मुख्य संसदीय सचिव पं० हंसराज शर्मा ने कहा कि भारत जैसे गरीब देश में रोगियों की सस्ती तथा सरल चिकित्सा की एक बड़ी जरूरत है। उन्होंने हकीमों द्वारा एलोपैथिक औषधियों के प्रयोग की प्रवृत्ति की निन्दा की। उन्होंने कहा कि आयुर्वेद यूनानी चिकित्सा-प्रणाली किसी अन्य प्रणाली से घटिया नहीं। पंजाब सरकार ने तीसरी पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा-प्रणाली के गवेषणा-कार्य तथा इसके विकास के लिए एक बड़ी रकम की व्यवस्था की है।

अधिवेशन का उद्घाटन करते हुए पंजाब के राज्यपाल श्री नरहरि विष्णु गाडगिल ने वैद्यों और हकीमों को सलाह दी कि वे अपने व्यवसाय को व्यापार की दृष्टि से नहीं बल्कि जनसेवा के एक उत्तम मार्ग के रूप में ग्रहण करें। उन्होंने कहा कि आयुर्वेद यूनानी-चिकित्सा-प्रणाली को आधुनिक आवश्यताओं तथा आधुनिक विज्ञान के अनुरूप बनाना चाहिए।

अध्यक्ष पद से भाषण करते हुए अलीगढ़ विश्वविद्यालय के चिकित्सा विज्ञान विभाग के अधीक्षक हकीम अब्दुल लतीफ ने कहा कि यूनानी और आयुर्वेदिक चिकित्सा प्रणाली भारत की जलवायु और क्षेत्रीय प्रवृत्तियों के अनुकूल है। एलोपैथी पर निर्भर करना हमारे देश के लिए हितकर नहीं होगा। आज हम लाखों रुपए की औषधियाँ यूरोप से मँगवाते हैं जब कि आयुर्वेद और हिकमत में अपने देश में बनाई गई औषधियों का सफल प्रयोग किया जाता है और वे अपेक्षाकृत सस्ती पड़ती हैं।

धूम्रपान कैंसर का मुख्य कारण--कैंसर अनुसंधान केन्द्र की रिपोर्ट

भारत में अब तक जो पड़ताल की गई है, उससे पता चलता है कि धूम्रपान न करनेवालों की अपेक्षा धूम्रपान करनेवालों को फेफड़े का कैंसर होने का ज्यादा खतरा है। सिगरेट जितनी ही ज्यादा पी जाएँगी, खतरा उतना ही अधिक होगा।

पड़ताल से पता चलता है कि हमारे देश में फेफड़े के कैंसर के मरीज बहुत ज्यादा नहीं हैं। टाटा मेमोरियल अस्पताल में १९४१ से १९५६ तक ३६,५५० रोगी आए जिनमें से केवल ५२१ को यानी १.४३ प्रतिशत को फेफड़े का कैंसर था।

भारतीय कैंसर अनुसंधान केन्द्र ने टाटा मेमोरियल अस्पताल में १९५२ से १९५४ के बीच भर्ती हुए १४६० मरीजों की जो पड़ताल की, उससे पता चलता है कि तम्बाकू खाने से मुख्यतः मुँह का कैंसर होता है, तम्बाकू खाने और सिगरेट आदि पीने से जीभ के पिछले हिस्से में और भोजन की नली के ऊपरी भाग में कैंसर होने का खतरा रहता है। खाली धूम्रपान करने वालों के गले के ऊपरी भाग और भोजन की नली के आसपास कैंसर होता है।

हाल ही में महाराष्ट्र, गुजरात, उत्तरप्रदेश और आंध्र प्रदेश में ३० वर्ष से ऊपर की उम्र के ३४ हज़ार स्वस्थ व्यक्तियों का जो सर्वे किया गया, उससे पता चलता है कि धूम्रपान करने और तम्बाकू खाने से व्यक्ति के शरीर में कैंसर के कारण पैदा हो जाते हैं।

भारत में सिगरेट मुख्यतः बड़े शहरों में ही पी जाती है। देहाती क्षेत्रों में लोग हुक्का, चिलम या बीड़ी पीते हैं। हुक्का या चिलम पीने से जो धुआँ अन्दर जाता है, वह पानी या गीला कपड़ा बीच में होने के कारण साफ हो कर जाता है और उसके हानिकारक तत्व सम्भवतः मुँह में या श्वास की नली में नहीं पहुँच पाते। बीड़ी पीने में धुआँ फेफड़ों तक नहीं पहुँच पाता, वह जीभ के पिछले भाग या गले के ऊपरी भाग में ही जमा हो जाता है।

धूम्रपान स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। उससे गले की सूजन, खाँसी, फेफड़े की सूजन आदि रोग हो जाते हैं और भूख भी कम हो जाती है। कभी-कभी फेफड़े की सूजन बहुत बढ़ भी जाती है और उससे फेफड़े का कोई भयानक रोग हो सकता है। ब्रिटेन और अमरीका में जो पड़ताल की गई है, उससे भी यह पता लगता है कि धूम्रपान फेफड़े के कैंसर का काफी बड़ा कारण हो सकता है। ब्रिटेन की चिकित्सा अनुसंधान परिषद् की रिपोर्ट में विभिन्न देशों में इस सम्बन्ध में किये गए अनुसंधानों का उल्लेख करते हुए कहा गया है कि परिषद् की राय में धूम्रपान फेफड़े के कैंसर का सीधा कारण हो सकता है। तम्बाकू के धुएँ में कुछ ऐसे तत्त्व होते हैं, जिससे यह रोग हो सकता है।

ब्रिटेन में की गई पड़ताल से यह भी पता चलता है कि फेफड़े के कैंसर से धूम्रपान न करनेवालों की अपेक्षा धूम्रपान करनेवालों की मृत्यु अधिक संख्या में होती है। इस कैंसर के कारण अधिक धूम्रपान करनेवाले के मौत का अधिक खतरा होता है। पड़ताल से यह भी पता चलता है कि पाइप पीने वालों की अपेक्षा इस रोग से सिगरेट पीनेवाले अधिक मरते हैं। पड़ताल से यह भी पता चलता है कि धूम्रपान छोड़ देने वालों की अपेक्षा कैंसर होने पर भी धूम्रपान जारी रखनेवालों की मृत्यु का अधिक खतरा होता है।

जिला वैद्य सभा, वीकानेर का चुनाव सम्पन्न

बीकानेर जिला वैद्य सभा के इतिहास में यह प्रथमावसर था, जब कि इस वर्ष के वार्षिक चुनाव को लेकर इतनी सरगर्मी दिखलाई दी। कुछ निहित स्वार्थी व्यक्तियों ने वैद्य सभा को राजनीतिक दलवन्दी का अखाड़ा बनाना चाहा, मगर वैद्य समाज की सूझबूझ के कारण उनकी दुर्नीति नहीं चल सकी। आय-व्यय की स्वीकृति को आगे के लिए टालने के प्रश्न पर उपस्थित ४३ सदस्यों में से केवल एक सदस्य को छोड़ कर सभी सदस्य एकमत रहे।

मुख्य संघर्ष प्रधान मंत्री-पद के लिए था। सभापति पद के लिए श्री महंत भगवद्दासजी सर्व सम्मति से चुन लिये गये। उपसभापति पद के दो स्थानों के लिए राजवैद्य श्री जीवनराम जी व्यास, वैद्य श्री विद्याधर जी शर्मा—प्रिन्सिपल स० ध० आयुर्वेद कॉलेज तथा श्री प्रयागदत्त स्वर्णकार में संघर्ष था, जिनमें से प्रथम को ४१, द्वितीय को ३७ और तृतीय महानुभाव को केवल ६ मत प्राप्त होने से सर्वश्री राजवैद्य जीवनरामजी व्यास तथा वैद्य विद्याधरजी शर्मा उपसभापति निर्वाचित घोषित किये गये।

उपर्युक्त चुनाव परिणाम को देखकर प्रधान मंत्री पद के उम्मीदवार का साहस टूट गया और उनका नाम तक प्रस्तावित नहीं किया गया। फलतः वैद्य श्री ठाकुर प्रसाद जी शर्मा, आयुर्वेदाचार्य सर्व सम्मति से प्रधान मंत्री चुन लिए गए। स्मरण रहे कि श्री शर्मा निरन्तर ८ वर्ष से इस पद पर चुने जाते रहे हैं।

सभा में दो प्रस्ताव पारित किये गये। प्रथम प्रस्ताव द्वारा वैद्य श्री ठाकुर प्रसाद शर्मा के कार्य और सेवाओं की भूरि-भूरि प्रशंसा की गई और द्वितीय प्रस्ताव द्वारा वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्ध आयुर्वेद सेवकों का अभिनन्दन करने का निश्चय किया गया।

इसके अतिरिक्त सर्वश्री सत्यनारायण व्यास उपमंत्री, रामधन ओझा-कोषाध्यक्ष, दीनानाथ जी व्यास, आय-व्यय-परीक्षक एवं २१ कार्यकारिणी के सदस्यों में वैद्य श्री केवल-

राम जी स्वामी, शंकरदत्तजी, योगानन्दजी, गोविन्दनारायण जी, रघुनन्दनजी, कृष्णकांतजी, मोहनलालजी कोठारी आदि सुप्रसिद्ध वैद्य निर्वाचित हुए।

यह भी निश्चय किया गया कि वयोवृद्ध राजवैद्य श्री जीवनरामजी व्यास एवं साधु श्री रामनारायण जी का उनकी सुदीर्घ आयुर्वेद सेवाओं के लिए अभिनन्दन किया जाय। दोनों महानुभावों के अभिनन्दन में होने वाले व्यय को श्री स्वामी केवलराम आयुर्वेद सेवानिकेतन ट्रस्ट की ओर से वहन करने की घोषणा वैद्य स्वामी केवलरामजी महाराज ने की।

राजकीय आयुर्वेद व यूनानी कम्पाउण्डर संघ

राजकीय आयुवद व यूनानी कम्पाउण्डर संघ का चौथा वार्षिक अधिवेशन, श्री मुहम्मद हनीफ अन्सारी के सभापतित्व में सम्पन्न हुआ। अधिवेशन में प्रान्त भर के लगभग १२५ कम्पाउण्डरों ने भाग लिया।

अन्यान्य कार्यवाही सम्पन्न होने के बाद स्व० रामानन्द बाजपेयी के निधन पर शोक प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत हुआ। तत्पश्चात् निम्नांकित निर्णय हुए—

१. भविष्य में संघ के कार्य को सुन्दर रूप से चलाने के लिए लखनऊ जिले का कम्पाउण्डर भाई जो कि संघ के सदस्य भी हों, कार्यवाहक मंत्री बनाया जायगा जिसकी नियुक्ति कार्यकारिणी के द्वारा की जायगी और उनके पास १५) पन्द्रह रुपये का कैश आकस्मिक खर्च के लिए स्वीकार किया गया। कार्यवाहक मंत्री प्रत्येक कार्य प्रधानमंत्री की आज्ञा से करेगा बिना आज्ञा कोई भी कार्य नहीं कर सकेगा।

२. कार्यकारिणी की बैठक में सम्मिलित होने वाले सदस्यों को साधारण श्रेणी का उचित मार्ग व्यय एक तरफ का दिया जायगा। मार्ग व्यय लेने वाले सदस्यों को अपने खर्च का विल देना होगा।

३. यह सभा सरकार से प्रार्थना करती है कि रा० आयुर्वेद यूनानी चिकित्सालयों में कार्य करने वाले कम्पाउण्डरों को जिनकी सेवायें ५ वर्ष से अधिक हो गई हैं उन्हें शीघ्रातिशीघ्र ट्रेण्ड कम्पाउण्डर घोषित की जाय और उन्हें ट्रेण्ड एलोपैथिक कम्पाउण्डरों के समान अधिकार देने की कृपा करे तथा उन्हें इण्डियन मेडिसिन बोर्ड उत्तर-प्रदेश द्वारा पंजीकृत करने की भी कृपा की जाय तथा भविष्य में यही क्रम चलता रहे।

४. यह सभा सरकार से प्राथिक करती है कि चिकित्सा कर्मचारियों के लिए निवास स्थान अथवा मकान किरा का उचित प्रबन्ध किया जाय।

५. यह सभा सरकार से प्रार्थना करती है कि वर्तमान वे क्रम के जो बहुत ही कम है, बढ़ाकर एलोपैथिक कम्पाउण्डरों के ग्रेड में ला दे।

६. यह सभा सरकार से प्रार्थना करती है कि एक वर्ष अधिक सेवा करने वाले सभी कम्पाउण्डरों को शीघ्रातिशीघ्र स्थाई कर दिया जाए।

८. यह सभा सरकार से प्रार्थना करती है कि आयुर्वे यूनानी विभाग को स्वतंत्र अथवा संचालक चिकित्सा ए स्वास्थ्य के अन्तर्गत रखा जाय।

९. यह सभा सरकार से प्रार्थना करती है कि रा० आयु एवं यूनानी कम्पाउण्डरों को स्टेट मेडिकल फक्टरी के सम रजिस्टर्ड कराने के लिए रा० आयु० कालिज एवं चिकित्सा लखनऊ में ट्रेनिंग देने का प्रबन्ध कर देवे और सभी कम्प उण्डरों को एलोपैथिक कम्पाउण्डरों के समकक्ष वेतन ए अधिकार दे।

१०. संघ की उन्नति के लिए जिला कम्पाउण्डरों की क टियां बनना परमावश्यक है। किसी कारण वश आवश्यक पड़ने पर मंत्री अथवा कार्यवाहक मंत्री को बुलाकर सहयो लिया जा सकता है।

११. संघ का एकाउण्ट इलाहाबाद से सुरिया वा वारा ट्रान्सफर किया जाय।

१२. वर्ष में कम से कम दो वार कार्यकारिणी की बैठ हुआ करें।

नवीन वर्ष के लिए निम्नलिखित पदाधिकारी स सम्मति से निर्वाचित किये गये :—

संरक्षक—श्री मदनगोपाल वैद्य, एम. एल. ए. फैजाबा प्रधान—श्री मुहम्मद हनीफ अन्सारी इलाहाबाद, उपप्रधा श्री बाबूराम पाण्डेय इटावा, मंत्री—श्री राजबली सिंह, वारा णसी, उपमंत्री—श्री शिवपूजन सिंह वाराणसी, कार्यवा मंत्री—श्री राजेन्द्र सेन लखनऊ, आयव्यय निरीक्षक— हबीब अहमद लखनऊ। सर्वसम्मति से १६ व्यक्तियों एक कार्य-सम्मति भी गठित की गयी।

अधिवेशन के दूसरे दिवस की कार्यवाही श्री मदनगो वैद्य, एम. एल. ए. की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ। इ उद्घाटन उप स्वास्थ्य मंत्री उत्तर प्रदेश, श्री बलदेव सिंह

आर्य ने किया। इस अवसर पर विभाग के असिसटेन्ट डाइरेक्टर महोदय, सभी कर्मचारीगण, फार्मेसी तथा कालेज के अधिकारीगण तथा सुरेन्द्रनाथ दीक्षित सम्पादक आयुर्वेद सन्देश आदि सम्मिलित हुए थे। ईश वन्दना के बाद स्वागत भाषण हुआ। उसके बाद आर्यजी ने उद्घाटन किया। तत्पश्चात् सुरेन्द्र नाथ दीक्षित ने सुन्दर भाषण दिया तथा मदनगोपाल जी ने अध्यक्षीय भाषण दिया। मंत्री ने पास हुए प्रस्तावों को पढ़कर सुनाया तथा अन्त में सभापति ने धन्यवाद के बाद अधिवेशन की कार्यवाही समाप्त की गई।

जम्मू में आयुर्वेदिक व यूनानी कालेज

कश्मीर सरकार जम्मू में एक यूनानी और आयुर्वेदिक कालेज की स्थापना के सम्बन्ध में विस्तृत योजना तयार करने के लिए पाँच सदस्यों की एक समिति नियुक्त की है। यह भी ज्ञात हुआ है कि राज्य सरकार ने चालू वर्ष में दस परिवार नियोजन केन्द्र स्थापित करने का निश्चय किया है।

श्री हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय रतनगढ़

श्री हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय रतनगढ़ का नया सत्र १ जुलाई सन् १९६० से प्रारम्भ हो रहा है। भिषग्वर राजस्थान के पाठचक्रम की शिक्षा नवीन मनोवैज्ञानिक माध्यम से दी जाती है। चार्ट्स, मॉडल्स, मृण्मय प्रतिकृति, नरकंकाल, प्रभृति विभिन्न साधनों द्वारा छात्र थोड़े परिश्रम से ही अच्छी योग्यता प्राप्त कर लेते हैं;

प्रत्येक छात्र को १५) रुपये मासिक छात्रवृत्ति दी जाती है। इसके अतिरिक्त निवासस्थान, बिजली की रोशनी, नौकर, पाचक आदि का प्रबन्ध संस्था की ओर से निशुल्क है। छात्रों के स्वास्थ्यलाभ के लिये खेलकूद का भी समुचित प्रबन्ध है। विकृति विज्ञान, औषध-निर्माण, व द्रव्यगुण विज्ञान के प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए यथार्थ उपकरणों से सज्जित लेबोरेटरी, रसायनशाला और वस्तु संग्रहालय है। तथा रोगी-रोग परीक्षण व मात्रा, परिचयादि के लिये आतुरालय व औषधालय की भी अच्छी व्यवस्था है।

उक्त महाविद्यालय में वही छात्र प्रविष्ट किये जावेंगे जो प्रथमा, प्रवेशिका, या संस्कृत के साथ मैट्रिक उत्तीर्ण होंगे। मध्यमोत्तीर्ण छात्रों को प्रथमिकता दी जायगी। जून के तृतीय सप्ताह एक मुद्रित आवेदनपत्र पूर्ति कर "प्रिंसिपल श्री हनुमान आयुर्वेद महाविद्यालय, रतनगढ़ (राजस्थान)" के पते पर भेजा जाना चाहिए।

असम में मलेरिया विरोधी अभियान

१९६०-६१ से असम में मलेरिया विरोधी अभियान जोरों से चलाने का निश्चय किया गया है जो १९६५-६६ तक चलाया जाएगा।

कार्यक्रम के अन्तर्गत कुछ यूनिट बनाए गए हैं, जिनमें से प्रत्येक के लिए १०० निरीक्षक नियुक्त किए जाएँगे। वे घर-घर घूमा करेंगे। जिसको ज्वर से पीड़ित पायेंगे उसके खून आदि की परीक्षा करेंगे और मलेरिया के लिए उसकी पूरी चिकित्सा करेंगे। इस तरह निर्धारित अवधि के अन्दर वे उस क्षेत्र से मलेरिया को विदा कर देने का विचार रखते हैं।

असम मलेरिया का एक बहुत बड़ा केन्द्र माना जाता है। १९५५-५६ से यहाँ मलेरिया विरोधी अभियान चलाया जा रहा है। १९५५-५६ में ऐसा अनुमान लगाया गया था कि राज्य की कुल आबादी ९१ लाख में से लगभग ७० लाख व्यक्ति मलेरिया से पीड़ित होते हैं। इसके बाद यह भी पता लगाया गया कि राज्य में प्रत्येक साल १५ लाख व्यक्ति इस रोग से पीड़ित होते हैं, और प्रति वर्ष २० हजार व्यक्ति इस रोग से मरते हैं। लगभग इतने ही व्यक्ति प्रति साल मलेरिया के अप्रत्यक्ष कारणों से मरते हैं।

मलेरिया की भयंकरता के परिणाम स्वरूप राज्य की कृषि उद्योग और शिक्षा के क्षेत्र में सन्तोषजनक प्रगति नहीं हो पाती थी। लेकिन लगभग ३ वर्षों तक मलेरिया विरोधी अभियान चलाने के बाद उसके प्रकोप में ५० प्रतिशत की कमी हो गई है।

चाय से बनी नयी औषधि

जर्मन चिकित्सा क्षेत्र में अभी एक नई औषधि तैयार की गई है जिसका नाम कोम्प्लामीन है। यह दवा चाय की पत्तियों से बनाई गई है।

बहुत से देशों में खून के बहने की बीमारी बहुत प्रचलित है। केवल जर्मनी में हर साल लगभग पन्द्रह प्रतिशत मृत्यु इसीके द्वारा होती है। इस बीमारी में टाँगों में गाँठों का पड़ना, पैरों और मस्तिष्क में खून का दौरान कम या अधिक, हृदय की कमजोरी, नाड़ियों में खून का दौरान बन्द हो जाना, घावों का मुंह बराबर बढ़ते रहना, खून की बनावट बदल जाना इत्यादि लक्षण प्रचलित हैं।

अभी तक ऐसी बहुत-सी शिकायतों के लिये कोई अच्छी औषधि नहीं थी। इस नई औषधि कौम्प्लामीन से ख्याल किया जाता है, काफी लोगों को मृत्यु से बचाया जा सकेगा। यह दवा इन्जेक्शन और गोलियों के रूप में खरीदी जा सकती हैं।

देशी चिकित्सा-प्रणाली को प्रोत्साहन देने की माँग

चन्दौसी जिला यूनानी-तिब्बी सम्मेलन का वार्षिक अधिवेशन समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर एक सभा को सम्बोधित करते हुए जिला यूनानी-तिब्बी कान्फ्रेंस के मन्त्री सैयद अब्दुल अहमद जैदी ने कहा कि आज देश को अंग्रेजी चिकित्सा-पद्धति से लाभ की अपेक्षा हानि अधिक हो रही है। इसका निराकरण यूनानी पद्धति के हकीम संगठित प्रयास कर सकते हैं। उन्होंने कहा कि लोगों की यह धारणा कि यूनानी प्रणाली शीघ्र लाभकारी नहीं है, सत्य नहीं है। इस प्रणाली से मरणान्तक रोगों तक का शीघ्र और टिकाऊ इलाज किया जा सकता है, जब कि अंग्रेजी चिकित्सा प्रणाली उनको केवल कुछ समय के लिए दबा ही पाती है।

सर्व सम्मति से निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए

यूनानी हकीम संगठित प्रयास द्वारा जनता को अंग्रेजी प्रणाली के दोषों से अवगत कराते हुए, उससे विमुख करें; राज्य सरकार एक तिब्बी बोर्ड की स्थापना करे और उसको चिकित्सा प्रणाली की उन्नति के लिए सहयोग प्रदान करे; यूनानी हकीम शीघ्र रोग-निवारणार्थ अंग्रेजी दवाइयों का प्रयोग न करे; सरकार देशी दवाइयों को प्रोत्साहन देने के लिए उन पर से करों को हटा दे तथा यूनानी हकीमों का रजिस्ट्रेशन पैरा ४ के अन्तर्गत पुनः शुरू किया जाए।

श्री परशुरामपुरिया आयुर्वेदिक कालेज

श्री परशुरामपुरिया आयुर्वेदिक कालेज, सीकर के प्रिंसिपल ने निम्नलिखित सूचना प्रकाशनार्थ भेजी है जो यहाँ दी जा रही है। श्री परशुराम पुरिया राजस्थान आयुर्वेद कालेज सीकर का नवीन सत्र सन् १९६० की जुलाई से प्रारम्भ होगा। प्रवेशार्थियों को इससे पूर्व ही अपने स्थान सुरक्षित करवाने हेतु कालेज से आवेदन-पत्र व नियमावली प्राप्त कर लेनी चाहिए। प्रवेश योग्यता मध्यमा, उपाध्याय, प्रवेशिका, प्रथमा, संस्कृत से मैट्रिक या तत्सम परीक्षा अपेक्षित है।

राजस्थान सरकार से सहायता व मान्यता प्राप्त इस संस्था में भिषग्वरीय पाठ्यक्रमानुसार कर्माभ्यास हेतु विविध मोड्ल्स, चार्टस्, यन्त्र, शस्त्र तथा अन्यान्य उपकरण एवं साज-सज्जा से सुसज्जित आतुरालय, औषधालय, प्रयोगशाला (लेबोरेटरीं), रसायनशाला, पुस्तकलय, आदि विभागों की सुव्यवस्था है। इन साधनों के आधार पर सुयोग्य प्राध्यापक अपनी विशिष्ट शिक्षण शैली से प्रतिपाद्य विषय छात्रों को हृदयंगम कराते हैं। [illegible] करें। स्थान सीमित हैं। योग्य छात्रों को छात्रवृत्ति भी दी जाती है। छात्रावास में आवास, पानी, प्रकाश व पाचक का प्रबन्ध निःशुल्क है।

श्री सनातनधर्म आयुर्वेद महाविद्यालय का नवीन सत्र प्रारम्भ

सनातनधर्म आयुर्वेद महाविद्यालय बीकानेर के आचार्य ने निम्न सूचनाएँ प्रकाशनार्थ प्रेषित की हैं—

१. श्री सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय, बीकानेर का नवीन सत्र ७ जुलाई से प्रारम्भ होगा।

२. यह विद्यालय राजस्थान आयुर्वेद विभागीय परीक्षा भिषग्वर तक मान्यता प्राप्त है।

३. भिषग्वर पाठ्य क्रम के सम्पूर्ण प्रैक्टिकल के साधन, यथा आरोग्यशाला, रसायनशाला, पेथोलोजिकल लेबोरेटरी, साइन्स लेबोरेटरी, द्रव्यगुण प्रदर्शनी, शल्यशाला का प्रायोगिक इत्यादि की सुव्यवस्था है।

४. योग्य और निर्धन छात्रों के लिए छात्रावास में छात्रवृत्ति रूप में भोजन और सामान-आवास की निःशुल्क व्यवस्था की जाती है।

५. प्रवेश के लिए इच्छुक छात्रों को अपना आवेदन-पत्र २० जून तक प्रिन्सिपल के पास भेज देना चाहिये।

६. प्रवेश योग्यता प्रथमा, प्रवेशिका तथा मैट्रिक संस्कृत उत्तीर्ण है।

७. आवेदन-पत्र तथा नियमावली मँगाने पर मुफ्त भेजी जाती है।

८. आवेदन-पत्र के साथ प्रमाण-पत्रों की प्रामाणिक प्रतिलिपि अवश्य भेजनी चाहिए।

९. निश्चित अवधि में समाप्त समस्त आवेदन-पत्र विद्यालय द्वारा निर्मित बोर्ड में प्रस्तुत किये जायेंगे और उसमें स्वीकृत छात्र ही छात्रावृत्ति में लिये जायेंगे।

१०. जिनकी प्रवेश योग्यता ठीक है ऐसे छात्र अपने खर्च से असीमित संख्या में अध्ययनार्थ प्रविष्ट हो सकते हैं।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, पटना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा संचालित बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय में गत मास कुल १२५७ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई। इसमें ८३० नये और ४२७ पुराने रोगी थे। इसमें पुरुष रोगियों की संख्या २६६ स्त्री रोगियों की संख्या २०१ तथा बालक रोगियों की संख्या ३६० थी। इस मास की दैनिक उपस्थिति का औसत ४१-९ रहा। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार नीचे लिखे मुताबिक है :—

ज्वर १११, अजीर्ण ५०, प्रवाहिका ५७, कृमि १०, प्रसूत १२, रक्तप्रदर १५, श्वेतप्रदर १३, कुष्ठ १०, रक्त विकार ४५, पामा ४०, वात विकार २२, जलोदर १, गर्भ विकार ७७, नेत्र विकार ६६, मुखरोग ४१, शिरोरोग २९, [illegible] रोग २९, और मसूरिका ३९।

'निदान-चिकित्सा-हस्तामलक' (प्रथम खण्ड) पर

कतिपय आयुर्वेद-मनीषियों एवं सहयोगियों के विचार

आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा, प्रिन्सिपल श्री मस्तनाथ आयुर्वेद महाविद्यालय, अस्थल बोहर (रोहतक) लिखते है—

"निदान चिकित्सा हस्तामलक" पुस्तक पढ़ा और अत्यन्त आनन्दित हुआ। विषय का प्रतिपादन करने की शैली आयुर्वेद-साहित्य में नये युग की प्रतीक है। वैद्य श्री रणजितराय देसाई जी सिद्धहस्त लेखक हैं। एक सुयोग्य अध्यापक की अध्यापन-पद्धति इस पुस्तक में स्पष्ट है। हमें इस पुस्तक की शैली-पद्धति तथा विषय से लाभ उठाने का अवसर मिला, इसके लिये लेखक-प्रकाशक दोनों मेरे लिए धन्यवादार्ह हैं। यह संग्राह्य पुस्तक है तथा शैली आदि भी अनुकरणीय हैं। ऐसा साहित्य और भी प्रकाशित होना चाहिए। पुनः धन्यवाद देता हूँ।

—**ब्रह्मदत्त शर्मा**

वैद्य पं० वंशीधर व्यास, आयुर्वेद-जगत्, जोधपुर लिखते हैं—

बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० का आयुर्वेदीय प्रकाशन निश्चय ही आयुर्वेद साहित्य की एक महानतम सेवा कर रहा है। अपने अनेक प्रकाशनों के बाद इस बार इन्होंने 'निदान चिकित्सा हस्तामलक' नामक एक ग्रन्थ श्री रणजितराय देसाई द्वारा लिखा कर प्रकाशित किया है। यह धारावाहिक लेख के रूप में सचित्र आयुर्वेद के अंकों में प्रकाशित किया जा चुका है, परन्तु इस पुस्तक में कई परिवर्तनों-परिवर्धनों के साथ यह साहित्य उपस्थित किया गया है।

सर्वसाधारण के लिये पुस्तक का नाम कुछ अटपटा तथा क्लिष्ट-सा मालूम देता है पर अर्थ इसका बहुत ही सुन्दर है। प्राचीन आयुर्वेद शास्त्र में निमित्त हेत्वायतन प्रत्ययोत्थान कराणै' निदानमाहुःपर्यायैं, निमित्त हेतु, आयतन, प्रत्यय, उत्थान कारणों का निदान शब्द से पुकारा गया है। तथा या क्रियाव्याधिशमनी-सा चिकित्सा निगद्यते, जिन कर्मों से व्याधि शान्त हो जाय उसे चिकित्सा कही है, इस प्रकार रोगों का निदान व उनकी चिकित्सा हाथ कंगन (हस्तामलक) की तरह प्रत्यक्ष कराने की पुस्तक का उपर्युक्त अभिधेय है।

प्रति युग में लेखक होते ही रहे हैं तदनुसार समय-समय पर आयुर्वेद के ग्रन्थों का भी लेखन चलता आया है, पर आयुर्वेद जगत् में उपर्युक्त पुस्तक के लेखक ने एक अनूठे मार्ग का प्रदर्शन कराया है। वस्तुतः लेखक की प्रतिज्ञा है कि नामूलं लिख्यते किंचिन्नानपेक्षितमुच्यते (अत्यन्त संक्षिप्त भी नहीं तथा अनावश्यक भी नहीं)। आयुर्वेद शास्वत एवम् सनातन है, इसके लिखे हुए आर्ष ग्रन्थों की प्रतिज्ञानुसार 'यदिहास्ति तदन्यत्र यन्ने हास्तिन तत्क्वचित्' जो यहाँ है वही दूसरी जगह मिलेगा और जो यहाँ नहीं है वह त्रिकाल में भी कहीं नहीं प्राप्त हो सकता। किन्तु वैद्यों के प्रमाद एवम् आलस्यलवश जिन आर्ष वाक्यों को ठीक तरह नहीं समझा जाता या गुरुजनों द्वारा अपने शिष्यों को उन गुत्थियों को खोल कर समझाने का प्रयत्न नहीं किया जाता है। ऐसे गूढ़ सूत्रों का आधुनिक पाश्चात्य ज्ञान ने अपने विशाल प्रत्यक्ष ज्ञान द्वारा जिस आलोक को प्राप्त कर जगत् में प्रसारित किया है उसके प्रति आयुर्वेद के आर्ष वाक्यों की क्या सम्मति है, आदि को विविधजनों की ज्ञान-वृद्धि एवम् छात्रवर्ग को सुख से समझाने के लिये यह ग्रन्थ वस्तुतः उपादेय है।

उपरोक्त निदान चिकित्सा का प्रथम खण्ड ही अभी तक प्रकाशित हुआ है, वह केवल निदान पर ही निर्भर न रह कर रोगविज्ञान को स्पष्ट कराने के अन्य उपायों का भी स्पष्टीकरण करता है। इस प्रथम खण्ड को नव अध्यायों में विभक्त किया है, हर अध्याय अपनी विशेषता को प्रदर्शित करता है।

आयुर्वेद के लेखकों में आयुर्वेद विज्ञान सम्बन्धी शब्दों की ऐक्यता न होने से पाठक के मन में दुविधा उत्पन्न करती है, वही स्थिति उपर्युक्त पुस्तक में भी सामने आती है।

पुस्तक की छपाई व सफाई कागज अत्यन्त सुन्दर है। पुस्तक के अन्त में दी गई वर्णानुक्रमणी बड़ी ही हृदयङ्गम एवम् ज्ञानवर्धन करने वाली है।

सारांश यह है कि यह प्रयास स्तुत्य है। आयुर्वेद-जगत् निश्चय ही हमारे शब्दों में इस सद्ग्रन्थ का स्वागत करेगा।

—व्यास

आयुर्वेद सन्देश, लखनऊ की शुभ सम्मति

यह श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन कलकत्ता का अनुपम प्रकाशन है, जो कि आयुर्वेद जगत् के सुपरिचित उत्कृष्ट वैज्ञानिक लेखक—आयुर्वेदालंकार वैद्य रणजितराय देसाई आयुर्वेदाचार्य की उत्कृष्ट लेखनी से लिखा हुआ "निदान चिकित्सा हस्तामलक" नामक अद्वितीय ग्रन्थ है।

इसमें दिया हुआ बहुत-सा निबन्ध यद्यपि "सचित्र आयुर्वेद" नामक मासिक पत्र के माध्यम से धारावाहिक रूप में वैद्य-समाज के सामने से गुजर चुका है, किन्तु अब यह ग्रन्थ के रूप में परिवर्धित तथा परिमार्जित हो कर ५५९ पृष्ठ का कलेवर ले कर नौ अध्यायों में उत्तम चिकना कागज सुन्दर छपाई, बढ़िया जल्द के साथ प्रकाशित हो कर केवल ५) रु० ५० नये पसे के मूल्य में विक्रयार्थ उपस्थित किया गया है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० आयुर्वेद को पूर्ण गौरव के पद पर प्रतिष्ठित कराने के लिए अहर्निशि प्रयत्नशील है और इसी प्रकार के अनुभवी प्रसिद्ध विद्वान वैद्यों का ज्ञान भंडार मुद्रित तथा प्रकाशित करा कर वैद्य-समाज का हित सम्पादन करने की दिशा में प्रगतिशील कार्य करता चला आया है।

इस प्रकार की प्रचेष्टा से ज्ञानी विद्वान वैद्यों को भी प्रोत्साहन मिलता है और आयुर्वेद की श्रेय-वृद्धि भी हो रही है।

वैद्य रणजितराय ज़ी ने इस ग्रन्थ को सुगमता के साथ बोध-गम्य कराने के लिये वैज्ञानिक दृष्टिकोण के साथ-साथ आर्ष प्रणीत संहिताओं का गूढ़ तथा गूढ़ अर्थ भी अपनी दक्षता एवं युक्तियुक्त तथ्यों से पर्यवेक्षण करते हुए वैद्यों एवं विद्यार्थियों के लिये अत्युपयोगी बना दिया है।

ग्रन्थ के नामानुरूप चिकित्सा का भी संकेत रहे उसकी उपयोगिता बढ़ जाती है, इसकी पूर्ति के लिये पा को धैर्य के साथ द्वितीय खण्ड की प्रतीक्षा करनी पड़े

यह ग्रन्थ वैद्य समाज के बड़े काम का है। आश कि वैद्य गण एक बार आद्योपान्त इसे पढ़ने का यत्न करें

'आयुर्वेद-सन्देश' लख

स्वामी हरिशरणानन्द वैद्य लिखते हैं—

निदान चिकित्सा हस्तामलक—लेखक वैद्य रणजि रायजी देसाई आयुर्वेदालंकार, उपाचार्य-ओच्छवलाल ना आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत।

प्रकाशक—श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लिमिटेड, कलकत्ता, झाँसी, पटना, नागपुर, प्रयाग।

मूल्य—साढ़े पाँच रुपये।

इस ग्रन्थ में आयुर्वेदीय निदान विषयक जो भी से ग्रन्थों में विवरण मिला है उसे बहुत अच्छी तरह से करके इतना विशद विवेचन दिया गया है कि जिसका किसी एक ग्रन्थ में कोई ढूँढ़ना चाहे तो नहीं मिल सक लेखक काफी समय से अध्ययन-अध्यापन का कार्य चला आ रहा है। उसे इस बात का अच्छी तरह अनु कि विद्यार्थियों को कोई विषय पढ़ कर किस तरह सु से हृदय ग्राह्य करा सकते हैं। पढ़ाते रहने के कारण इस बात की अनुभूति रहती है। इसीलिये अध्याप की लिखी पुस्तकें विद्यार्थियों के लिये जितनी उ उतरती हैं इतनी अन्यों की लिखी उपयोगी सिद्ध नहीं हो इनमें रणजितराय जी देसाई अनेकों ग्रन्थों के लेखक आपके हाथ ग्रन्थ-लेखन में मंज चुके हैं। इसीसे आप कृति हमें तो विद्यार्थियों के लिये अत्यन्त उपादेय दे रही है। विशेष कर शुद्ध आयुर्वेद के विद्यार्थि लिये तो अनेक ग्रन्थ न खरीद कर इसी एक ग्रन्थ से निदान विषयक उन्हें पूर्ण जानकारी प्राप्त होने की है। हम श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० के प्र को ऐसे उपयोगी प्रकाशन के लिये बहुत बहुत भेजते हैं।

—हरिशरणान

सचित्र आयुर्वेद के १२ वें वर्ष (जुलाई १९५९ से जून १९६० तक) में प्रकाशित

लेखों की सूची

लेख	लेखक	पृष्ठ		
अष्टांगहृदयम्-शारीर स्थानम्	वैद्य शंकरलाल भेड़ा	६९	जुलाई	'५९
" "	" " "	३०९	अक्टूबर	'५९
" "	" " "	४१५	नवम्बर	'५९
" "	" " "	४८९	दिसम्बर	'५९
" "	" " "	५७४	जनवरी	'६०
" "	" " "	६९८	फरवरी	'६०
" "	" " "	७६१	मार्च	'६०
" "	" " "	८८२	अप्रेल	'६०
" "	" " "	१०३१	मई	'६०
अपची या कैन्सर	वैद्य कृष्णमोहन भट्ट शास्त्री	४७०	दिसम्बर	'५९
अर्शोपचार	वैद्य सी० एल० द्विवेदी	१६१	अगस्त	'५९
आयुर्वेद में आहार पाचन और चयापचय	प्रो० सी० द्वारकानाथ	१२	जुलाई	'५९
आयुर्वेद की प्रगति के लिए चीन का उदाहरण	श्री सत्यदेव विद्यालंकार	६२	जुलाई	'५९
आयुर्वेदीय आधारों पर कैन्सर का अनुसंधान		८०	जुलाई	'५९
आयुर्वेद और उसके विकास की दिशाएँ	श्री ए० एन० नामजोशी	१२६	अगस्त	'५९
" " " " " "	" " " "	२०५	सितम्बर	'५९
आयुर्वेदीय पाठ्यक्रम	आचार्य श्री वापालाल भाई	१९३	सितम्बर	'५९
आयुर्वेदीय औषधिनिर्माण	वैद्य ब्रह्मानन्द त्रिपाठी	३०७	अक्टूबर	'५९
आयुर्वेद में विद्वत्ता का मानदण्ड	वैद्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी	४६६	दिसम्बर	'५९
आयुर्वेद में मेंहदी का प्रयोग	वैद्य पद्मनाभ शास्त्री	५८९	जनवरी	'६०
आयुर्वेद की सार्वभौम महत्ता	श्री रामनाथ द्विवेदी	६७०	फरवरी	'६०
आयुर्वेद का भविष्य	डॉ० धर्मानन्द केशरवानी	७३५	मार्च	'६०
आयर्वेद साहित्य में विवादास्पद वनस्पतियाँ	ठाकुर बलवन्त सिंह	७६२	मार्च	'६०
आयुर्वेदीय मूत्र परीक्षा	वैद्य ज्ञानेन्द्र पाण्डेय	७८४	मार्च	'६०
आयुर्वेद नैष्णात्य	डॉ० चन्द्रशेखर सत्यसेवक	८४८	अप्रेल	'६०
आयुर्वेदानुसार व्याधियों का नामकरण	वैद्य गणपतिलाल शर्मा	८५५	अप्रेल	'६०
आयुर्वेद को खोकर पछताओगे	वैद्य रामनारायण शर्मा	७२७	मई	'६०
उडूपा समिति का प्रतिवेदन		२४१	सितम्बर	'५९
उदावर्तायोनि—एक विवेचन	सर्वश्रीईश्वरलालदेसाई,जितेंद्र पारिख	३९	जुलाई	'५९
उरःक्षत, क्षतजकास आदि रोगों की परीक्षा	वैद्य रणजित राय	२८१	अक्टूबर	'५९
ऋतुकाल चर्या	डॉ० शिवपूजन सिंह कुशवाहा	१०३४	मई	'६०
ऋतुचर्या	वैद्य भइयादीन गुप्त	३९९	नवम्बर	'५९
एलोपैथी द्वारा सामूहिक हत्याएँ	श्री बाबूराव पटेल	२५	जुलाई	'५९
एलर्जी	डॉ० के० एम० चोकसी	४८६	दिसम्बर	'५९
ओजपूर्ण हृदय	वैद्य भगवती प्रसाद	१४३	जुलाई	'५९
ओजोविवेचनम्	कविराज उपेन्द्रनाथ दास	१५४	जुलाई	'५९
ओज—एक आयुर्वेदीय चर्चा	वैद्य नागरदास मोहनलालपा०	२३७	सितम्बर	'५९
औषध-मात्रा	वैद्य काशीप्रसाद नागदे	२२२	सितम्बर	'५९
कफवात ज्वर	वैद्य रणजीत राय	११२	अगस्त	'५९

लेख	लेखक	पृष्ठ		
मेरी पटना यात्रा	आचार्य किशोरीदास वाजपेई	५०३	दिसम्बर	'५९
मूत्रवृद्धि	वैद्य अनन्तराम शर्मा	५८५	जनवरी	'६०
रस-माणिक्य निर्माण	वैद्य मिलापचन्द जैन	५५७	जनवरी	'६०
रक्तचाप या हाईब्लड प्रेशर	डॉ० मुकुन्द स्वरूप वर्मा	३३२	अक्टूबर	'५९
रक्तपित्त विवेचनम्	कविराज गणपतिलाल शर्मा	२८७	अक्टूबर	'५९
रेवन्दचीनी	वैद्य-हकीम दलजीत सिंह	२२८	सितम्बर	'५९
राजयक्ष्मा	वैद्य शिवचरण ध्यानी	४६८	दिसम्बर	'५९
रासन वनाम रास्ना	वैद्य-हकीम दलजीत सिंह	४७७	दिसम्बर	'५९
वासापर्पटी	वैद्य प्राणनाथ शर्मा	७७७	मार्च	'६०
वनस्पति जीवन	कविराज निरंजनपाल	३०३	अक्टूबर	'५९
वद्धोदर-निदान और चिकित्सा	वैद्य अनन्तराम शर्मा	१२०	अगस्त	'५९
वापावहन क्या है ?	वैद्य अम्बिका प्रसाद पाण्डेय	१५३	अगस्त	'५९
वर्षाऋतु और स्वास्थ्य	वैद्य सभाकान्त झा शास्त्री	१५१	अगस्त	'५९
वातरक्त चिकित्सा	वैद्य अम्बालाल जोशी	७७०	मार्च	'६०
वातदोष के स्थान और कार्य	वैद्य भगवती प्रसादजी	२९७	अक्टूबर	'५९
वालबोधोदयः कुमारी टीका सहित	वैद्य रघुवरदयाल भट्ट	६६	जुलाई	'५९
” ” ” ”	” ” ” ”	१३२	अगस्त	'५९
” ” ” ”	” ” ” ”	२१५	सितम्बर	'५९
” ” ” ”	” ” ” ”	३२६	अक्टूबर	'५९
” ” ” ”	” ” ” ”	४९४	दिसम्बर	'५९
वीर्यरक्षा के अपारलाभ	श्री प्रभुदत्त ब्रह्मचारी	३८९	नवम्बर	'५९
श्वसनक ज्वर चिकित्सा	वैद्य गोवर्द्धन दास चागलानी	२१९	सितम्बर	'५९
श्वास-चिकित्सानुसंधान	श्री द्वारिकेश मिश्र	२१९	दिसम्बर	'५९
श्वास	कविराज सतीन्द्रनाथ वसु	६८५	फरवरी	'६०
शीतकाल और स्वास्थ्य	आचार्य नित्यानन्द	३७०	नवम्बर	'५९
शीतकाल और स्वास्थ्य रक्षा	वैद्य सतीशचन्द्र भारद्वाज	३७२	नवम्बर	'५९
शीत पित्त	वैद्य शंकरलाल शर्मा	७६७	मार्च	'६०
शारीर और शल्यतंत्र	वैद्यराज हकीम दलजीत सिंह	५१	जुलाई	'५९
” ” ”	” ” ” ”	१३६	अगस्त	'५९
शोथ	कविराज पक्षधर झा	२९२	अक्टूबर	'५९
श्रीमाधवोक्त व्याधिहेतु	वैद्य रा० वि० वाघ	१५८	अगस्त	'५९
समान मधुघृत मिश्रण से विष	वैद्य नागेश दत्त शुल्क	८६४	अप्रेल	'६०
स्ववीर्य वलवत्तरम्	वैद्य रणजित राय	७	जुलाई	'५९
स्वास्थ्य के आधार-वात-पित्त-कफ	वैद्य जगन्नाथ व्यास	४१२	नवम्बर	'५९
स्वास्थ्य और सदाचार	वैद्य रघुवीरशरण शर्मा	८९०	अप्रेल	'६०
समय के साथ आयुर्वेद	कविराज रामनाथ शास्त्री	४१४	नवम्बर	'५९
सिरदर्द पर कुछ अनुभव	कविराज सत्यदेव विद्यालंकार	३१९	अक्टूबर	'५९
सूर्य नमस्कार और स्वास्थ्य	श्री द्वारिकाप्रसाद मिश्र	३७८	नवम्बर	'५९
सौंफ	वैद्याचार्य उदयलाल माहत्मा	१०२५	मई	'६०
हर्निया	कविराजगौरीशंकरश्रीवास्तव	१६४	अगस्त	'५९
हमारा प्रमुख त्योहार	वैद्य बद्रीनारायण शर्मा	३६८	नवम्बर	'५९
हार्ट फेल या दिल का दौरा	डॉ० मुकुन्दस्वरूप वर्मा	४०५	नवम्बर	'५९
हरमल या इस्वंद	वैद्य हकीम दलजीत सिंह	७०४	फरवरी	'६०
हिन्दू विश्वविद्यालय आ० कालेज	पं० दुर्गादत्त शास्त्री	७४३	मार्च	'६०

सचित्र आयुर्वेद

वर्ष १३]   कलकत्ता, जुलाई, १९६०   [अंक १

आयुर्वेदीय शिक्षणप्रणाली में एकरूपता आवश्यक

मिश्र या शुद्ध आयुर्वेद का शिक्षण तबतक निर्दोष न हो सकेगा जबतक कि इसके विभिन्न क्षेत्रों में यथेष्ट वैज्ञानिक शोध न किए जायँ। यदि महान आयुर्वेद शास्त्रों में अन्तर्निहित सिद्धान्तों की शिक्षा उचित रीति से देनी है तो हमें अबतक अपनाई गयी पद्धति से कोई भिन्न पद्धति अपनानी ही होगी। ऐसी पद्धति में, न केवल संहिताओं पर उपलब्ध भाष्यों का ही उपयोग किया जाना चाहिए, बल्कि विज्ञान से सम्बद्ध विषयों में किये गए आधुनिक वैज्ञानिक शोधों की उपलब्धियों से भी लाभ उठाना होगा। आयुर्वेद-शिक्षण की मिश्र पद्धति इसलिए असफल हुई कि इसे चलाने की जो तरकीब अपनायी गयी वह सदोष थी। फिर भी, मेरा यह दृढ़ मत है कि मिश्र-पद्धति को यदि भली-भाँति चलाया जाय तो इससे लाभकर परिणाम प्राप्त हो सकते हैं, जिनसे भारत विश्व के चिकित्सा-विज्ञान में अपना योगदान करने में समर्थ हो सकेगा।

वह समय अब आ गया है, जब कि हमें शिक्षा की समवर्ती और शुद्ध पद्धति के गुणों पर उचित दृष्टि रखते हुए आयुर्वेदिक शिक्षा की सारी समस्याओं पर नए सिरे से, निष्पक्ष विचार करना होगा। अतएव, यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण भारत के लिए शिक्षण की एक-सी पाठ-चर्या निर्धारित की जाए।

डा० सी० द्वारकानाथ,

परामर्शदाता, देशी चिकित्सा-केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय, दिल्ली

रक्त-संचालन-प्रणाली

प्रकाशक
बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

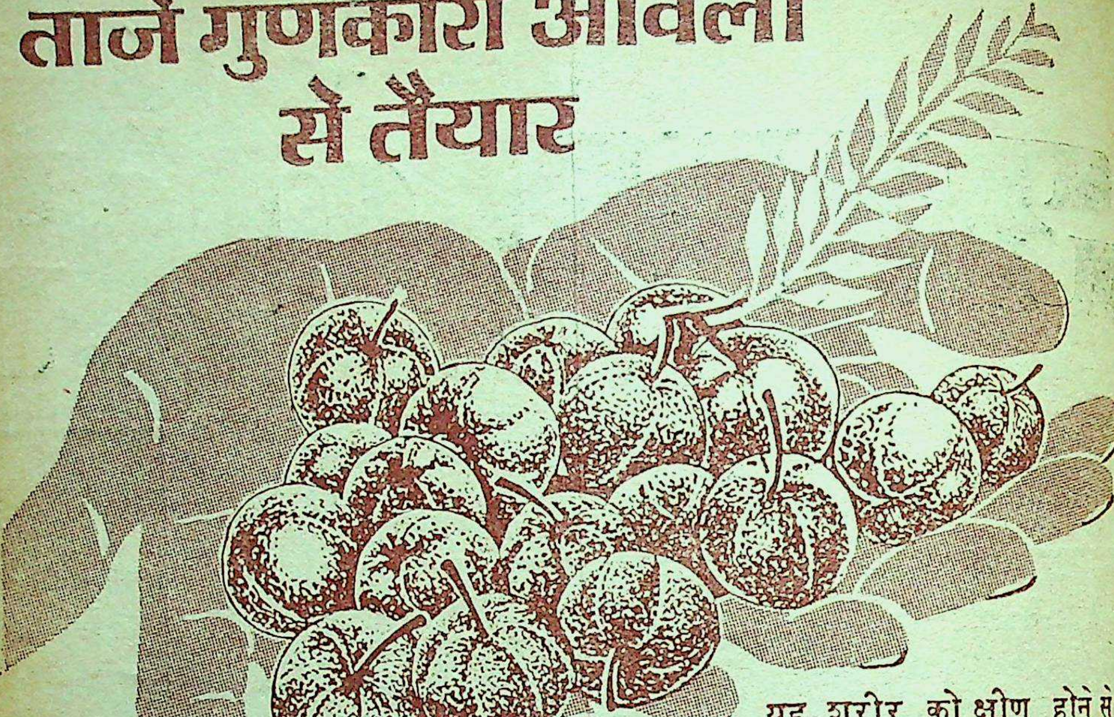

ताजे गुणकारी आवलों
से तैयार

यह शरीर को क्षीण होने से रोकता है तथा रस-रक्तादि धातुओं की कमी को पूरा कर खून को बढ़ाता है तथा मांस-पेशियों को दृढ़ और हड्डियों को मजबूत बनाता है।
फेफड़ों के विकार, कफ, खाँसी, श्वास, दमा, शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, रक्तहीनता, कैल्शियम आदि शारीरिक धातुओं की कमी-तथा मन्दाग्नि, अम्ल-पित्त और कब्जियत आदि रोगों को दूर करता है।

बैद्यनाथ
च्यवनप्राश
अष्टवर्गयुक्त

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना
श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबा

बैद्यनाथ औषधियाँ ताज़ी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ बृह
निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० ए
द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती है।

SBAB

आचार्यजी के ५० वर्षों का चिकित्सानुभव

२५००० प्रतियाँ अब तक बिक चुकी हैं

सिद्धयोग-संग्रह

अर्थात्

(आयुर्वेद के योग-समुद्र में से चुने हुए चिकित्सोपयोगी प्रयोग-रत्न)

लेखक——**आयुर्वेदमार्त्तण्ड-वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य**

अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त और लब्धप्रतिष्ठ स्व० आचार्य जी केवल आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं बल्कि एक पीयूषपाणि–सिद्धहस्त चिकित्सक भी थे और इनकी चिकित्सा की लोकप्रियता इसलिए अधिक थी कि इनके नुस्खे कम खर्च में तैयार होते तथा आशुफलप्रद होते थे।

इस पुस्तक में आचार्य जी ने अपने चिकित्सा-काल के ५० वर्षों के अनुभव का दोहन कर——आयुर्वेदीय-यूनानी अथवा आनुभविक जिन योगों द्वारा चिकित्सा में सफलता प्राप्त की उन्हीं योगों को जन-कल्याणार्थ वैद्यों से लेकर सर्वसाधारण जनता के लिए निश्छलभाव से लिख दिया है। आचार्य भाव मिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ज्वराधिकार से लेकर रसायन-वाजीकरणाधिकार पर्यन्त विभिन्न २६ प्रकरणों में औषध-चिकित्सा बहुत समझा कर लिखा है। पुस्तक के परिशिष्ट में स्वर्णादि धातुओं की शोधन-विधियाँ भी ऐसे सरल तरीके से लिखी गई हैं जिन्हें वैद्य सुविधानुसार व्यवहार में ला सकते हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि रोगों की अनेकविध चिकित्सा न बताते हुए सम्मान्य लेखक ने अपने आनुभविक चिकित्सा-प्रयोगों का ही उल्लेख किया है। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ नये-पुराने वैद्यों तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों के अन्तिम वर्ष की पढ़ाई में विद्यार्थियों के लिए भी अत्युपयोगी है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा निर्मित अधिकतर दवाएँ इसी ग्रन्थ के आधार पर तैयार होकर वैद्यनाथ के ५ निर्माण-केन्द्रों, ३५० बिक्री-केन्द्रों तथा २५००० से अधिक एजेण्टों द्वारा एक ही मूल्य में सर्वत्र प्राप्त होती हैं।

ऐसे उपयोगी पुस्तक डबल डिमाई १६ पेजी, २०० पृष्ठ का मूल्य——२·७५ नये पैसे हैं।

श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

आयुर्वेदीय औषधों के निर्माण, गुण-धर्म, उपयोग आदि पर

विशद विवेचनपूर्ण महान् ग्रन्थ

आयुर्वेद सारसंग्रह

(चतुर्थ संस्करण)

सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र का मंथन कर यह महान् ग्रन्थ---**आयुर्वेद सारसंग्रह**---अनेक वर्षों के घोर परिश्रम से तैयार किया गया है। इसमें रोगों के अवस्थानुसार औषधों का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औषध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा में समझा कर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियों द्वारा अतिप्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगों का चिकित्सकों द्वारा सफल परीक्षण असंख्य बार कर लिया जा चुका है, ऐसे ही सफल प्रयोगों का संग्रह इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में परिभाषा प्रकरण के अन्तर्गत औषध-निर्माण-परिभाषा, मान-परिभाषा, सांकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभाषा; यन्त्र-पुट-खरल-परिभाषा, औषध-प्रयोग-विधान, पथ्यापथ्य, पारद-गंधक-हिंगुल का विशद विवेचन; शोधन-मारण प्रकरण के अन्तर्गत धातुओं का शोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन; कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-बटी, पर्पटी, लौह मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), मलहम आदि प्रकरणों में विविध प्रकार की ओषधियों की निर्माण-विधि, प्रयोग, गुण-धर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिए गये हैं, जिनसे ओषधि-निर्माताओं को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षों में इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। सर्वसाधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र---७·०० रु० है।

प्रकाशक

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

१, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६

समन्वय का आदर्श !!!

आयुर्वेद, एलोपथी, यूनानी, होमियोपैथी आदि चिकित्सा-पद्धतियों के समन्वय का आज बोलवाला है। परन्तु इस दिशा में जितना प्रयत्न चाहिए उतना हुआ नहीं है। वस्तुतः,

भावी पीढ़ी के मार्गदर्शनार्थ

समन्वयात्मक पद्धति से ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन सर्वोपरि आवश्यक है।

बैद्यनाथ-प्रकाशन

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

समन्वयप्रधान दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में मूर्धन्य कहा जा सकता है

ग्रन्थ के लेखक हैं : सचित्र-आयुर्वेद परिवार के सुविदित सदस्य, सूरतके आयुर्वेद महाविद्यालय के उपाचार्य तथा मुंबई राज्य सरकार के आयुर्वेदिक रिसर्च बोर्ड के सभ्य **वैद्य रणजितराय देसाई** आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य।

संपूर्ण प्राचीन वाङमय से दोषों, धातुओं, उपधातुओं तथा मलों की क्रिया के रूप में **शरीर-क्रिया-विज्ञान के सिद्धान्तों का दोहन और संदोहन कर** व्याख्या के व्याज से **नव्य मत भी प्रायः संपूर्ण** इस ग्रन्थ में संकलित किया गया है। विषय का निरूपण इस दृष्टि से किया गया है कि विद्यार्थी **रोगों के निदान और चिकित्सा में क्रियाशारीर की उपयोगिता तथा उपादेयता** को भी समझते जाएँ।

रायल अठपेजी साइज के ११०० पृष्ठों के अनेक चित्रों से युक्त ग्रन्थ का मल्य केवल ११) रखा गया है। **आज ही** अपनी प्रति मँगाइए। **अन्यथा चतुर्थ संस्करण की प्रतीक्षा करनी होगी।**

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

सम्पादक---कामेश्वर शर्मा 'कमल'

विषय-सूची

विषय	लेखक
सम्पादकीय ..	..
आयुर्वेद का मित्र कौन? ..	द्वारिकेश मिश्र ..
जो बने सो मन करि लेहू ..	वैद्य रणजितराय ..
वेद और आयुर्वेद का सम्बन्ध ..	वैद्यराज पं० ख्यालीराम द्विवेदी ..
स्रोतो विचार ..	वैद्य प्रभाशंकर नरोत्तम रावल, आयुर्वेदाचार्य ..
ओज-तेज व धातुप्रसाद ..	वैद्यशास्त्री मणिशंकर कालीदास याज्ञिक ..
जामनगर में पाण्डुरोग पर अनुसंधान ..	क० गौरीलाल चानना, बी. ए. ..
मैन्मिन्य ..	डॉ० अनन्तराम शर्मा, डी. आई. एम. एस. ..
मधुमेह और उसकी चिकित्सा ..	वैद्य रघुनन्दन मिश्र, आयुर्वेदाचार्य ..
भारतवर्ष में हीरा ..	डॉ० अनन्तगोपाल झिंगरन, डी. एस-सी. ..
मानसिक स्वास्थ्य की समस्या ..	प्रो० नन्दकुमार पाण्डेय, एम. ए. ..
आहार तथा दन्तरोग (अंग्रेजी) ..	डॉ० के० एम० चौकसी ..
एरण्ड ..	वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा ..
आम्रकल्प ..	श्री इन्द्रप्रसाद गुप्त ..
धूम्रपान और स्वास्थ्य ..	वैद्यभूषण पं० ठाकुरदत्त शर्मा ..
डॉ० सी० द्वारकानाथ का दीक्षान्त भाषण ..	..
आयुर्वेद-जगत् ..	..

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित सभी रचनाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। हमारी पूर्व अनुमति के बिना इसमें प्रकाशित किसी रचना का कोई अंश किसी पत्र-पत्रिका में उद्धृत नहीं किया जाना चाहिए।

—सम्पादक

वार्षिक मूल्य ५) एक प्रति ५० नये

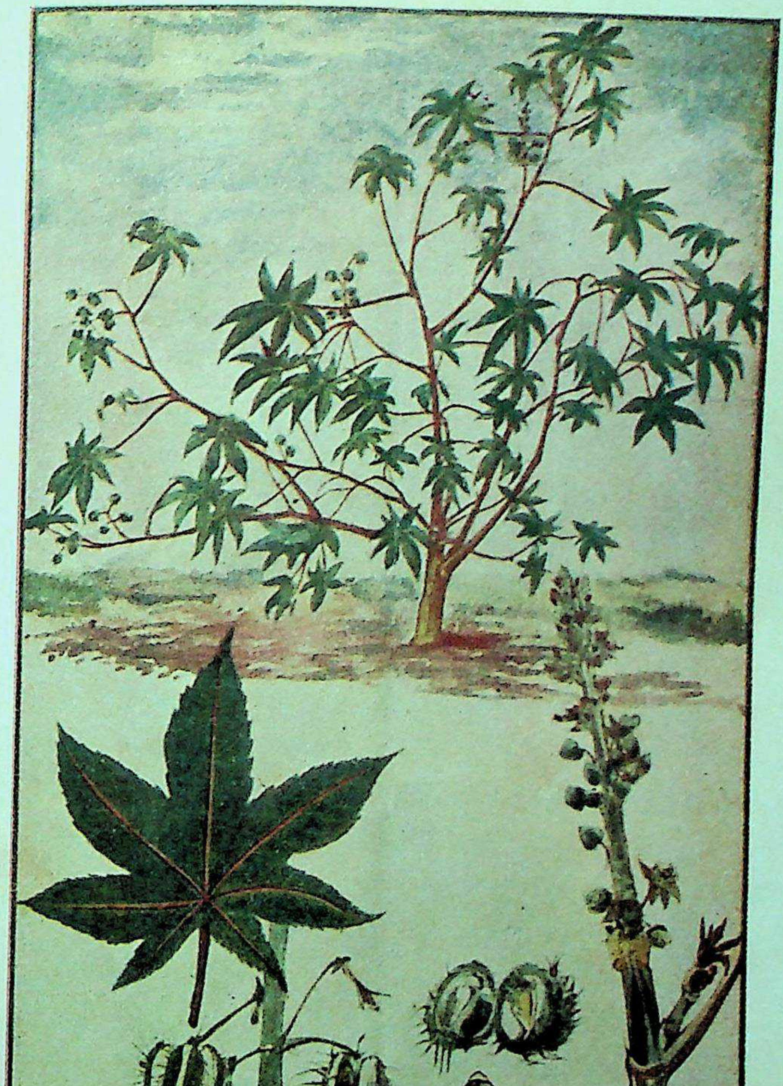

एरण्डवृक्ष—पत्र-पुष्प-फलयुक्त।

आयुर्वेद-जगत् में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेदविज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ।।

वर्ष १३ | कलकत्ता, जुलाई, १९६० | अंक १

सम्पादकीय

लंकाकाण्ड

एक सज्जन का पत्र हमें मिला है, जिसका सारांश निम्न प्रकार है—

"महासम्मेलन पत्रिका के विगत अंक में उनकी वह चिर प्रचारित योजना प्रकाशित हुई है, जिसके लिए कहा जाता है कि लंका सरकार विचार कर रही है और जिसके अनुसार एक एशियायी स्वास्थ्य संगठन की स्थापना का कार्यक्रम है। इसी योजना में उस तत्त्व का संकेत है कि पंडित शिवशर्मा किस चतुरता के साथ आयुर्वेद की प्रशस्ति के आवरण में निज को आगे लाने का उपक्रम करते-कराते हैं। योजना के एपैण्डिक्स 'ई' में एक पत्रश्रृंखला प्रकाशित है जो वम्बई के यूनिवर्सल हैल्थ इन्स्टीट्यूट के अवैतनिक मंत्री (जिसके प्रधान स्वयं पंडित शिवशर्मा जी हैं) तथा जनरल मेडिकल कौन्सिल लन्दन के बीच हुआ है। पहले ही पत्र में लन्दनवालों को फ्लू की सफल आयुर्वेदिक चिकित्सा का विवरण देते हुए उसके द्वारा फ्लू पीड़ित लन्दन वासियों की सेवा का प्रस्ताव किया गया है और इसी प्रस्ताव में धीरे से यह प्रस्ताव भी कर दिया गया है कि 'अगर आप चाहें' तो हम औषध या **"सर्वाग्रणी-विशेषज्ञ"** भारत से लन्दन भेज सकते हैं! यह "सर्वाग्रणी विशेषज्ञ" का संकेत किसके लिए है यद्यपि पत्र में यह स्पष्ट नहीं है, परन्तु यदि लन्दनवाले मान जाते तो वहाँ भेजने के लिए "सर्वाग्रणी विशेषज्ञ" के रूप में पंडित शिवशर्मा के अतिरिक्त "उपयुक्त" कदाचित् कोई और न होता! यद्यपि पंडित शिवशर्मा की प्रधानता में चल रहे यूनिवर्सल हैल्थ इंस्टीट्यूट के अवैतनिक मंत्री ने लन्दन को भारत से "सर्वाग्रणी विशेषज्ञ" भेजने की अच्छी भूमिका बनाई थी; परन्तु लन्दन वालों ने उसे स्वीकार न किया।

उच्च राजकीय क्षेत्र में और भारत के बाहर इसी तरकीब से पंडित शिवशर्मा की आयुर्वेद-विशेषज्ञता की सेवायें अर्पित की जाती है। वर्तमान युग कुछ ऐसा है कि इसमें आगे बढ़ने के लिये कोई माध्यम चाहिए। जिसने ऐसे एकाधिक माध्यम अपनी झोली में डाल रक्खे हों, उसका कहीं से कहीं पहुँच जाना, कठिन नहीं है।"

पत्र की इस बात में कहाँ तक सचाई है, यह हम नहीं कह सकते, परन्तु कुछ लोगों का यह सन्देह है कि पंडित शिवशर्माजी इसी प्रकार का उपयोग आयुर्वेद महासम्मेलन का करते हैं। कहा जाता है कि महासम्मेलन के कागजों पर कार्यालय या संस्था के अधिकारियों की ओर से उच्चाधिकारियों, सरकारों या अन्तर्राष्ट्रीय संस्थानों को यदाकदा ऐसे पत्र लिखे जाते हैं जिनमें आयुर्वेद की विशेषताओं के साथ-साथ प्रकारान्तर से पंडित शिवशर्मा की विशेषज्ञता का वर्णन होता है और इस बात के लिए प्रेरित किया जाता है कि उनकी योग्यता का लाभ उठाया जाय। जहाँ कहीं भी आयुर्वेद विषयक कोई सूत्र मिलता है, तत्काल विभिन्न व्यक्तियों और संस्थाओं की ओर से पत्र भिजवाये जाते हैं। ऐसे पत्र कुछ-न-कुछ काम करते ही हैं। विशेष कर आयुर्वेद जगत् की एकमात्र अखिल भारतीय प्रतिनिधि संस्था के पत्र पर उसके कार्यालय या पदाधिकारी की ओर से कहीं कोई सुझाव जाता है तो उसका महत्वपूर्ण प्रभाव पड़ना स्वाभाविक है। यद्यपि यह कोई आवश्यक नहीं है कि इस तरकीब से ही जहाँ देखिये वहीं आयुर्वेद विशेषज्ञ के रूप में एकमात्र पंडित शिवशर्माजी दिखाई देते हों। उनकी ख्याति भी इसका आधार हो सकती है। परन्तु लोगों का सन्देह ही तो है। लोग यहाँ तक कहते पाये जाते हैं कि विभिन्न भारतीय कमेटियों में पंडितजी की नियुक्ति के लिए तो उपरोक्त तरकीब से भूमिका बनाई ही जाती है। लंका तक उन्हें पहुँचाने की भूमिका का सूत्रपात भी इसी तरह हुआ। भारत की आयुर्वेद कांग्रेस ने लंका की आयुर्वेद कांग्रेस को प्रेरित किया। उसने अपने स्वास्थ्य मंत्रालय को प्रेरित किया। तत्कालीन स्वास्थ्य मंत्राणी पहले से प्रभावित थीं ही। इधर-उधर की लिखा-पढ़ी के बाद काम बन गया। लोगों का यहाँ तक सन्देह है कि लंका में स्वास्थ्य मंत्राणी का पदत्याग, वहाँ की संसद में इस नियुक्ति पर हंगामा और अन्य कई अप्रिय बातें इसी नियुक्ति के परिणामस्वरूप हुईं। अब भी कहा जाता है कि महासम्मेलन के प्रतिनिधिमण्डल की लंका यात्रा का भीतरी उद्देश्य वहाँ पंडितजी की प्रतिष्ठा की पुनःस्थापना और भविष्य की भूमिका का निर्माण ही था। लंका में इस यात्रा का कोई प्रभाव हुआ या न हुआ हो, पर भारत के वैद्य-समाज में इस शर्माद्वय की यात्रापर हुए संस्था के धन के व्यय को लेकर एक विवाद-सा उठ गया है। अधिकांश वैद्यों की राय में पंडित शिवशर्मा की रुचि पर यह संस्था के धन का दुरुपयोग किया गया। परन्तु कमाल यह है कि इस प्रसंग में पंडितजी से कोई एक शब्द नहीं कह सकता, क्योंकि निश्चय स्थायी समिति का और साथ सम्मेलनाध्यक्ष का था। सब का सब वैधानिक ! अब साधारण वैद्य यदि आपत्ति करें तो उत्तर है अध्यक्षजी ! इस प्रकार लोगों के विचार में यह एक अच्छा खासा आयुर्वेद का लंकाकाण्ड हो गया।

हम इस प्रकार के सन्देहों को और उक्त स्थिति को अच्छा नहीं समझते। आयुर्वेद-जगत् में सार्वजनिक हित के लिए इनकी सत्यासत्यता का स्पष्टीकरण किया जाना चाहिए। हमारी राय में वैद्यों की संस्था के कार्यालय और पदाधिकारियों का आयुर्वेदहित के आवरण में पंडितजी के व्यक्तिगत हित साधन में उपयोग किये जाने का सन्देह पूर्वापर सत्य न भी हो, परन्तु उसके होने के जो कारण प्रकट में दिखाई देते हैं उनका निराकरण होना चाहिए।

निश्चय ही पत्रिका द्वारा निरन्तर पंडितजी की प्रशस्ति-प्रकाशन और कार्यालय एवं अधिकारियों द्वारा उनके प्रति पक्षपात के वातावरण के कारण लोगों का जो यह विचार है कि संस्था का उपयोग सामूहिक हित में न किया जाकर पंडितजी या उनके चन्द समर्थकों के हित-साधन में किया जा रहा है—यदि यह सत्य है तो बहुत लज्जाजनक है। महासम्मेलन कार्यालय और पदाधिकारियों को इससे अविलम्ब बाज आना चहिए। संस्था सामूहिक चीज है, उसके द्वारा किसी का व्यक्तिगत प्रचार, चाहे वह किसी भी बहाने से किया जावे—वैधानिक और शोभनीय नहीं है। भारत में आयुर्वेद एवं वैद्य-समाज पर जो संकट बढ़ता जा रहा है उसके निमित्त कोई सक्रियता महासम्मेलन नहीं दिखा रहा है। यहाँ तक कि उसका अधिवेशन तक नहीं किया जा रहा है। उसके लिए सम्मेलनाधिकारियों को अवकाश नहीं, सुविधा नहीं या अनुकूल वातावरण नहीं—यह बहाने बनाये जाते हैं—दूसरी ओर किसी के व्यक्तिगत प्रचार के कार्यालय, पत्रिका या अधिकारियों की सक्रियता में कहीं कोई कमी नहीं दिखाई दे रही है। ऐसी परिस्थिति में वैद्य-समाज का अपनी प्रतिनिधि संस्था की इस स्थिति के प्रति दुःखी और क्षुब्ध होना स्वाभाविक है।

हमारी समझ में महासम्मलनाधिकारियों को चाहिए कि समय रहते चेत जावें और प्रपंच-प्रणाली की अपेक्षा यथार्थ सामूहिक हित की कार्यप्रणाली को शीघ्र अपनाकर संस्था का सदुपयोग करें। यदि अधिकारीगण नहीं चेतें तो महासम्मेलन के सदस्यों को स्वयं अपने अधिकारों की रक्षा के लिए अब हाथ-पैर हिलाना चाहिए—वह समय उपस्थित है।

आयुर्वेद के मित्र कौन ?

श्री द्वारिकेश मिश्र

वर्तमान समय में जब कि विविध कानूनों की दबोच में आयुर्वेद और वैद्य—दोनों ही——कराह रहे हों एक के बाद दूसरे आयुर्वेद-विद्यालय समाप्त हो रहे हों-आयुर्वेद के मार्ग में अवरोध हों, और सहारे कम ; भविष्य सर्वथा अंधकारमय हो और अधिकार प्राप्त क्षेत्र में चारों ओर ऐसे लोगों की भीड़ लगी हो जो प्रकारान्तर से या तो आयुर्वेद को समाप्त करने पर तुले हों या उसका अंग भंग कर डालने में दत्तचित्त हों, ऐसी विषम स्थिति में यह खोजना कि आयुर्वेद का शत्रु कौन है——एक अजीब-सी बात मालूम होती है। संकट काल में शत्रु तो सहज पहचानने में रहते हैं, इसलिए लोग मित्रों की खोज करते हैं——परन्तु हमारे महासम्मेलनाध्यक्ष पण्डित अनन्त त्रिपाठी शर्मा इन दिनों इस खोज में लगे हैं कि आयुर्वेद का शत्रु कौन है ? मई में उन्होंने अपनी खोज संस्कृत में की, जून में हिन्दी में ! संभव है जुलाई में अंग्रजी में करें। क्योंकि इन दिनों कुछ ऐसा ही देखने में आ रहा है कि उनके या अन्य सम्मेलनाधिकारियों के 'प्रेरक' वक्तव्य 'सदस्यों की सुविधा के लिये', कभी साथ-साथ और कभी एक-एक माह के अन्तर से तीन-तीन भाषाओं में प्रकाशित हो रहे हैं। जिससे सदस्यों को तीन-तीन बार अपने 'कार्यव्यस्त' पदाधिकारियों के विचारों को मनन करने की 'सुविधा' प्राप्त होती रहे। मुफ्त की पत्रिका हाथ लगी है तो अपने मनमाने विचारों के त्रिविध प्रचार में पत्रिका के पृष्ठ काले करने में संकोच भी क्यों हो ? उधर पत्रिका के सम्पादक को जब वैज्ञानिक विषयों पर अधिकारी विद्वानों के लेख नहीं मिलते तो वह एक व्यक्ति विशेष का कृपा-भाजन बनने के लिये इस प्रकार के वक्तव्यादि या कतरनों से पत्रिका का कलेवर न भरें, तो क्या करें ! कम-से-कम पत्रिका के पिछले मई और जून के दो अंक उठाकर देख लीजिये, आयुर्वेद-विवेचना पर किसी विद्वान की एक पंक्ति भी कहीं मिल जाय, तो कहियेगा ! अस्तु।

अभी हम सम्मेलनाध्यक्ष जी के उस वक्तव्य से प्रभावित हैं, जो संस्कृत में 'कं नाम आयुर्वेदस्य शत्रवः', शीर्षक मे प्रकाशिक हुआ था और हिन्दी में छपा है 'आयुर्वेद के शत्रु कौन' शीर्षक से ! वक्तव्य का यह हिन्दी रूपान्तर पत्रिका के जून अंक में प्रकाशित हुआ है, जिसको नाम तो दिया गया है, 'बंडारनायक अंक' परन्तु जिसको वास्तव में कहा जाना चाहिये 'शिवशर्मा—अंक', क्योंकि सम्पूर्ण अंक में जितना स्व० बंडारनायक का उल्लेख नहीं है उससे अधिक शिवशर्मा की प्रशस्ति है। अंक में श्री बंडारनायक के पाँच चित्र हैं, परन्तु शिव शर्माजी के ९ चित्र हैं। जिस स्वर्गीय आत्मा के नाम पर यह विशेषांक है, उसके सम्बन्ध में केवल पांच पृष्ठ की सामग्री दी गई है, शेष अधिकांश पृष्ठों में जो कुछ है उसके ही आधार पर इस अंक का अन्य शीर्षक होना चाहिये था। अंक में पाठ्य सामग्री के जितने पृष्ठ हैं उतनी ही बार शिवशर्माजी का नाम आया है। कहीं-कहीं तो एक पृष्ठ में ८-१० बार श्री शिवशर्माजी का नामोल्लेख है। फिर क्यों न इस अंक को 'शिवशर्मा अंक' कहा जावे !

पत्रिका-संपादकजी ने महीने भर पहिले से यह घोर घोषणा कर दी थी कि पत्रिका का आगामी विशेषांक 'श्री बंडारनायक अंक' होगा, फिर भी विचित्रता यह है कि सम्पादकजी को अपने विशेषांक के लिये कहीं से एक भी विशेष लेख प्राप्त न हुआ। अंक भर में सात लेख एक मात्र पण्डित अनन्त त्रिपाठी शर्मा के हैं, दो लेख महापण्डित श्री शिवशर्मा के हैं और एक लेख घनमाला जी का—वह भी मौलिक नहीं उच्छिष्ट—दूसरे अखबारों की कतरन, महासम्मेलनाधिकारयियों ने संस्था के कोष का कुछ कल्याण तो लंका की हवाई यात्रा में किया और बहुत-कुछ कल्याण पत्रिका का विशेषांक निकालने में ! परन्तु इतना करके भी वे कम-से-कम भारत के वैद्य-समाज पर अपनी बात नहीं जमा सके। इतना भी नहीं कि इस विशेषांक में शर्मा द्वय को छोड़ कर किसी एक ने भी श्रद्धाञ्जलिस्वरूप अपना एक लेख तक भेजा हो। यह आश्चर्य की बात है। और, पत्रिका-सम्पादकजी ने अपनी सम्पादन-प्रवीणता का पूरा परिचय इस प्रकार दे दिया कि आयुर्वेद के एक मित्र के प्रति श्रद्धाञ्जलि-समर्पण वाले विशेषांक में पहला

लेख दिया 'आयुर्वेद का शत्रु कौन'—जो आद्योपान्त भ्रमात्मक है।

यह भी जाने दीजिये! हम चाहते हैं कि अपने महामान्य सम्मेलनाध्यक्षजी से उनके उक्त वक्तव्य के विषय में अब कुछ सीधी बातें कर लें।

अपने इस लेख-रूपी वक्तव्य में आप लिखते हैं कि 'आयुर्वेद विज्ञान' के सम्पादक ने अपना लेख सद्भावना से नहीं लिखा। किन्तु यदि निष्पक्ष दृष्टि से विचार किया जाय तो क्या यह कहा जा सकता है कि आपकी प्रत्यालोचना सद्भावनापूर्ण है? 'आयुर्वेद विज्ञान' के लेख में आयुर्वेद और संस्था की दुखद स्थिति का जो उल्लेख है उससे आप पर कोई प्रभाव नहीं पड़ा। आपको अत्यन्त खेद केवल इसलिये हुआ कि लेख का सम्बन्ध, आप से भी था। 'आयुर्वेद विज्ञान' के सम्पादक ने यदि आयुर्वेद की उन्नति का कोई मार्ग नहीं सुझाया तो दया करके आप ही कुछ सुझा देते! आप कहते हैं कि 'आयुर्वेद विज्ञान' के लेख के बहुत-से प्रकरण ऐसे थे जो देखने में अच्छे लगते हुए भी पाठकों को भ्रम में डालने वाले थे। परन्तु कृपानिधान, हमें तो आपकी प्रत्यालोचना का पहला प्रसंग ही ऐसा लगा जो देखने में अच्छा लगता है पर वस्तुतः पाठकों को भ्रम में डालने वाला है। आपने पाठकों पर यह व्यक्त करने की चेष्टा की है कि लोग पं० शिवशर्मा को संस्था से निकालना चाहते हैं, और आपका ऐसा लिखना केवल इस अभिप्राय से है कि पंडित शिवशर्मा के प्रति लोगों में सहानुभूति उत्पन्न हो! परन्तु बात तथ्य के सर्वथा विपरीत है। यह जानते और मानते हुए भी कि शिवशर्माजी की व्यक्तिगत महात्वाकांक्षाओं पर आधारित नीतियों के कारण आयुर्वेद एवं वैद्य समाज का कोई सामूहिक और व्यापक हित न हो सका। वैद्यों की एक मात्र प्रतिनिधि संस्था निरन्तर निष्प्रभाव, निष्क्रिय और सीमित गुट का साधन मात्र बनती चली गई, तथा वैद्यों का संगठन छिन्न-भिन्न होकर पुराने-नये, शुद्ध-मिश्रित, उत्तर-दक्षिण आदि वर्गों में खण्ड-खण्ड हो गया एवं यथार्थ प्रयत्नशील विद्वान लोग महासम्मेलन से उदासीन हो गये। यह सब कुछ हुआ जो कि निर्भ्रान्त सत्य है—फिर भी शायद यह कोई नहीं चाहता कि पं० शिवशर्मा को संस्था से अलग कर दिया जाय। कम-से-कम वे लोग कदापि नहीं चाहते जिनके सर आप वैसा चाहने का आरोप जबर्दस्ती मढ़े दे रहे हैं। इसलिये नहीं चाहते कि वे वैद्यों के वृहद संगठन, [illegible] कार्यप्रणाली और यथार्थ सक्रियता के हिमायती हैं। विघटन के कदापि नहीं! वे तो चाहते हैं कि संस्था में अधिक-से अधिक व्यक्ति आवें, यह नहीं चाहते कि कोई उसमें चला जावे।

गणतंत्र के युग का नाम लेकर यह नुस्खा आपने बताया है कि किसी को हटाने के लिये संस्था में विरोधी सदस्यों की संख्या बढ़ाई जावे। लेखक को आपने प्रोत्साहित भी किया है कि पांच सहस्र सदस्यों के सशुल्क आवेदन-पत्र भिजवा दें। पहली बात तो यह है कि यह नुस्खा आपने नया नहीं बताया, स्वयं पं० शिवशर्मा जी क्रियात्मक रूप में यह सीख वैद्य-समाज को अतीत में बहुत दे चुके हैं। दूसरी बात यह कि आपका यह सुझाव ही यह सिद्ध करने के लिये काफी है कि आप न तो स्वयं सद्भावना-प्रेरित रहना चाहते हैं न दूसरों को रहने देना चाहते हैं। आप, इस प्रकार, स्वयं ही लोगों को इस बात के लिये प्रेरित कर रहे हैं कि संस्था में लोग अपने-अपने पक्ष के सदस्य बढ़ावें और दलबन्दी खड़ी करें। राजनैतिक प्रपंचियों की लुगत का यह पाठ वैद्यों को पढ़ाते समय, आप, या तो यह भूल जाते हैं कि आयुर्वेद महासम्मेलन राजनैतिक अखाड़ा नहीं जिसमें अपने-अपने पक्ष के सदस्य भर कर दलबन्दी की कुश्तियां कराई जावें, या फिर आपको यही अभीष्ट है कि विभिन्न लोग अपने-अपने पक्ष के सदस्य भर कर भिन्न दल बनावें और आप बन्दर बांट करते रहें जिससे सिंहासन सुरक्षित रहे।

इसी प्रसंग में एक प्रार्थना यह भी है कि आपका गुरुमंत्र मान कर यदि कोई अपना पक्ष बढ़ाने के लक्ष्य से न सही, वैसे ही संस्था का संगठन व्यापक बनाने के उद्देश्य से नये सदस्य बढ़ाने का उपक्रम चाहे तो, पदाधिकारियों ने अपने सत्कार्यों से संस्था को इतना ख्यात कर दिया है कि यथार्थ विद्वान और स्वाभिमानी वैद्य तो सदस्य बनने के लिए सहज प्रस्तुत ही नहीं होते। सामान्य वैद्य भी सदस्य बनने में कोई रुचि नहीं रखता। पिछले १० वर्षों का इतिहास उठा कर देख लीजिये। महासम्मेलन की गद्दी पर बैठे हुये सूरमाओं ने कितने सदस्य बनाये? आप के स्वयं के कार्यकाल में सदस्य-संख्या डेढ़ हजार से आगे नहीं बढ़ी। पिछले दो वर्षों में जो तीव्र गति से सदस्य-संख्या बढ़ी उसके विषय में यदि आप बुरा न माने तो यह स्पष्ट निवेदन कर दूं कि सदस्य-संख्या-वृद्धि में आपकी, आपके सहयोगी पदाधिकारियों की [illegible] कोई शाबासी नहीं। सदस्यता स्वी

कर ली यह आपकी दया अवश्य है। परन्तु आपके चमत्कार से संस्था में कोई आकर्षण बढ़ गया हो इसलिए नये सदस्य बने हों सो बात नहीं ! तथ्य यह है कि वैद्य-समाज में इस बात से उत्साह और संतोष की लहर दौड़ी कि महासम्मेलन का अधिवेशन दिल्ली में होगा, अधिक लोग इकट्ठे होकर आयुर्वेद की समस्याओं पर विचार करेंगे और कुछ यथार्थ क्रियात्मक कार्य होगा। इसी आशा और उत्साहवश पिछले वर्ष इतने सदस्य महासम्मेलन में नये आये कि संस्था की सदस्य-संख्या तीन गुनी से अधिक हो गई। इतनी हो गई जितनी कि महासम्मेलन के इतिहास में कभी नहीं रही और यदि दिल्ली अधिवेशन निश्चित न होता या आयुर्वेद जगत में रचनात्मक कार्यप्रणाली के अनुयायी कुछ प्रगतिशील लोग, वैद्यों में जागृति उत्पन्न कराने का प्रचार न करते तो निश्चित मानिये कि ५-५, ७-७ वर्षों से संस्था की कुर्सियों पर बलात् चिपके हुए आपके प्रभावशाली कार्याकर्त्ता इस जीवन में तो इतनी भी सदस्य-संख्या न बढ़ा पाते !

साथ ही यह भी सत्य मानिये कि आपकी इस दुरंगी चुनौतियों की लपेट में अब कोई फँसने वाला नहीं। आप जो यह चाहते हैं कि आपकी 'गणतंत्र युग' की 'नियमानुसार', परिपाटी वाली चुनौती के ताव में आकर कोई पांच हजार आजीवन सदस्य बना दे, और नगद दो लाख, पचास हजार रुपया आपके कोष में जमा कर दे कि आप और अधिक सद्भावनापूर्ण 'हवाई यात्रायें' कर सकें या पत्रिका का विशेषांक निकाल कर प्रशस्तियां प्रचारित कर लें। ऐसे आँख के अन्धे गांठ के पूरे लोगों का मिलना अब जरा कठिन दिखाई देता है। इसलिये कि अभी लोग ताजा सबक सीखे हुए हैं। दिल्ली में अधिवेशन होगा, कुछ काम होगा——इस आशा में जो सैकड़ों और हजारों आजीवन एवं मान्य सदस्य पिछले दो वर्षों में बने, उनकी और अन्य वैद्यों की आशाओं पर जैसा तुषारपात आपके शूरमाओं ने दिल्ली अधिवेशन को रुकवा कर किया, उसका घाव अभी भरा नहीं है। आपके इस तर्क को कोई अस्वीकार नहीं कर सकता कि जब से आप सभापति बने हैं तब से किसी भी संदस्यताभिलाषी का आवेदन-पत्र आपने अस्वीकार नहीं किया। इस कृपा के लिये हम और वे सब, आपके अत्यन्त आभारी हैं। परन्तु यह तो बताइए कि उन हजारों वैद्यों को जिन्होंने चंदा दिया, और नये सदस्य बने——आपने सदस्यता का क्या अधिकार दिया ? यदि दिल्ली अधिवेशन समय पर संपन्न हो जाता तो भी कम-से-कम एक बार तो वे अधिवेशन में सम्मिलित हो कर सदस्यता की गौरवानुभूति कर भी लेते। परन्तु वह न हुआ और अब स्थिति यह है कि यदि आज सदस्यता-सम्बंधी अधिकार के उपभोग का कोई अवसर आ जावे तो आप उन हजारों नये सदस्यों से मज़े में यह कह देंगे कि 'तुम्हारे पिछले रुपये हजम ! अब नया चंदा दो तो अधिकार पाओ' ऐसी स्थिति में लोगों के मन में जो यह संदेह यत्र-तत्र सुना जाता है कि अधिवेशन को जानबूझ कर इसलिये टाला गया कि नये सदस्यों के अधिकार की अवधि समाप्त हो जावे, तो वह कुछ अधिक अनुचित नहीं मालूम पड़ता। निवेदन करने का अभिप्राय यह है कि वैसे तो वर्षों की गतिविधियों से खिन्न होकर वैद्यगण संस्था के सदस्य बनना ही नहीं चाहते थे। कुछ क्रियाशील लोगों के सद्यत्नों से गत दो वर्षों में जो बड़ी संख्या में नये सदस्य बने उनकी गति को देखकर अब ऐसा निराशा का वातावरण है कि पांच सहस्र तो क्या, पांच सौ भी नये सदस्य बनना कठिन है।

इसके अतिरिक्त जिस शक्ति-परीक्षण के लिये आप लोगों को नये सदस्य बनाने हेतु बढ़ावा देते हैं, वह तो वर्तमान स्थिति में भी हो सकता है, आप कोई ऐसा अवसर तो आने दीजिये जिसमें यह प्रकट हो सके कि सदस्यों की भावना क्या है ? यदि पुरानी घटना को मानें तो विगत विद्यापीठाध्यक्ष का निर्वाचन इस बात का ज्वलन्त प्रमाण है कि सदस्यों का बहुमत क्या चाहता है। उसको न मानना चाहें तो आपकी इस चनौती के उत्तर में कि 'अधिक विरोधी सदस्य बढ़ा लें', हम आप से अति विनम्र भाव से यह निवेदन करते हैं कि नये सदस्य बढ़ाने की बात छोड़िये, किसी प्रश्न पर वर्तमान सदस्यों का मत लेकर ही देख लीजिये। आपको पता लग जायगा कि वस्तुस्थिति क्या है ! यदि आप भीतर-बाहर से ठीक वैसे हैं जैसा कि अपने को प्रकट करने का उपक्रम करते हैं तो आगामी एक-दो मास में ही दिल्ली का अधिवेशन करके उसका प्रमाण दीजिये। यदि आप ऐसा नहीं करते तो गणतंत्र युग की दुहाई देकर नये सदस्य बढ़ाने का आप का सुझाव एक प्रवंचना मात्र है। जब तक कुर्सियों पर चिपके लोग सदस्यों के मत-प्रदर्शन का अवसर ही नहीं आने देते, तब तक पांच सहस्र क्या पांच करोड़ सदस्य भी क्या कर लेंगे ? अधिक सदस्यों का उपयोग

तब हो, जब पदाधिकारी सदस्यों की भावना की कद्र करें। उनके अधिकारों को जहां निरन्तर रौंदा जाता हो और जहाँ सदस्यों के मत-प्रकाशन का अवसर ही न आता हो, उस संस्था को क्या कहा जायगा ? और क्यों लोग उसके सदस्य बनेंगे ?

संस्था के धन के अपव्यय के विषय में जो आरोप लोग लगाते हैं, वह कैसा—क्या है, इस गहराई में हम नहीं जाना चाहते, परन्तु आपने जो उसका स्पष्टीकरण अपने वक्तव्य में दिया है, वह कदापि संतोषजनक नहीं है। जिस सफाई से आपने सदस्यों को बहलाने की चेष्टा की है उससे सदस्यगण भुलावे में आने वाले नहीं। लंका जाकर एक आयुर्वेद-प्रेमी की समाधि पर श्रद्धाञ्जलि चढ़ाने में संस्था का जो धन आप लोगों ने व्यय किया उसका औचित्य केवल इस आधार पर आप सिद्ध करना चाहते हैं कि एक स्थानीय और आपके पृष्ठपोषक लोगों के बहुमत ने उसके लिये आपको अनुमति दी थी। दूसरा आधार आपका यह है कि विदेश के वे महामना आयुर्वेद-प्रेमी थे। हम आपकी बात को ही सही मान कर, आप से पूछना चाहते हैं कि आयुर्वेद-प्रेमी के प्रति श्रद्धांजलि अर्पित करने की जो भावना आज आप में जागृत हुई-क्या इसके पूर्व भी कभी हुई है ? एक विदेशी की समाधि पर श्रद्धांजलि चढ़ाने की जो कर्त्तव्यपरायणता आपने दिखाई, क्या वैसी ही अबतक किसी भारतीय महापुरुष के प्रति दिखाई है ? आप की समझ में क्या कोई भारतीय उस श्रद्धा के पाने का अधिकारी नहीं है ? लंका के उन महापुरुष के आयुर्वेद-प्रेम की हम उपेक्षा नहीं करना चाहते। हम भी श्रद्धावनत हैं। परन्तु वह श्रद्धा प्रस्ताव द्वारा भी व्यक्त की जा सकती थी। वे तो केवल आयुर्वेद-प्रेमी थे, भारत में कितने ही ऐसे महापुरुष हुए हैं जिन्होंने सक्रिय और ऐतिहासिक आयुर्वेद सेवायें की हैं। महासम्मेलन के संस्थापक, जिनके बीजारोपण के फलस्वरूप आज आप लोग कुर्सियों पर विराजमान हैं, उन स्वनामधन्य आचार्य श्रीशंकरदा जी पदे, आचार्य श्री यादवजी इत्यादि की आयुर्वेद सेवायें क्या इस योग्य नहीं थीं कि उन्हें स्मरण किया जाय ? आप बताइये कि संस्था के मंच से आपने कब-कब इनकी जयन्तियां मनाईं ? कब-कब इन्हें श्रद्धांजलियां अर्पित कीं ? क्या किया आपने इनकी स्मृति-रक्षा के लिये ? जिन्होंने जीवन की अन्तिम सांस तक आयुर्वेद के लिये कार्य किया, जिनके त्याग से आज आयुर्वेद जीवित रह सका—उनकी स्मृति-रक्षा के लिये आप सामान्य समारोहों का आयोजन नहीं कर सकते ? कुछ पैसे व्यय करके आप लोगों को उनकी याद तक नहीं कि सकते ? और विदेश के एक विख्यात व्यक्ति, जो वैद्य न केवल आयुर्वेद-प्रेमी थे, उनकी समाधि पर फूल डालने के लिये संस्था के धन पर हवाई यात्रा कर सकते हैं ? इसलि कि वह आपका कर्तव्य था। इस दम्भ और प्रवंचना के लिये क्या कहा जावे।

जो तथ्य आप छिपाना चाहते हैं वह लोगों के अन्त में संदेह बन कर उभरा बताया जाता है कि आप की य लंका यात्रा केवल इसलिये थी कि पं० शिवशर्माजी उ उपकृत थे। लंका में पं० जी का प्रभाव-प्रदर्शन मा इस यात्रा का उद्देश्य था, और वह भी इसलिये कि वहां के आनेवाली सरकार के प्रमुख आप से और पं० जी से प्रभावि होकर वैसा ही कुछ आयोजन करते रहें जैसा कि स्व महापुरुष ने किया था। आपकी यात्रा का आपके द्वा दिया गया विवरण स्वयं इस बात को ध्वनित करता है, जि आपने बार-बार प्रयत्नपूर्वक श्री शिवशर्मा की प्रशस्ति गा है। उनके चिकित्सा-कौशल, विद्वत्ता और प्रभाव क आपने अपने इस लेख में और यात्रा-विवरण में व्यक्त कि है, वह आपकी स्थिति को स्पष्ट कर देता है।

लंका में स्व० श्री बंडारनायक और पं० शिवशर्मा के आयुर्वेद-विषयक कार्यों का जो अतिरेकपूर्ण वर्णन आ अपने वक्तव्य में किया है, वह भी आपकी सद्भावना के यथार्थ को सामने लाने वाला है। आप लिखते कि लंका में बीस सहस्र वैद्य सरकार द्वारा रजिस्ट तथा सहायता पाकर चिकित्सा-कार्य कर रहे हैं। पत्रि के इसी अंक में लंका के एक संमाननीय सिनेटर का ले है जो कि वहां के पूर्वस्वास्थ्य मंत्री भी थे उसमें व में रजिस्टर्ड वैद्यों की संख्या ७५०० बताई गई है। इ मुकाबले आपकी संख्या कितनी अतिरेकपूर्ण है, आप विचारिये।

पं० शिवशर्मा द्वारा प्रस्तुत एशियायी स्वास्थ्य-नी की योजना जो कि पत्रिका के इसी अंक में प्रकाशित है सम्बन्ध में भी आपने अपने लेखों में जो ख्यालीपुलाव प हैं, वे देखने में मधुर पर वस्तुस्थिति में हास्यास्पद हैं। बात कुछ समझ में नहीं आती कि जिस योजना को शीघ्र ही कार्यान्वित होने वाली बताते हैं; जिसके भारत के वैद्य-समाज में आप पंडित शिवशर्मा की कीर्ति प्रतिष्ठा को फिर से जमाने के लिये सिर तोड़ प्रचार

रहे हैं—उसके सम्बन्ध में उसके जन्मस्थान लंका में क्या दशा है? दो-तीन माह पूर्व एक दम्पति ने लंका यात्रा की थी। उनका यात्रा-विवरण मई में पत्रों में प्रकाशित हुआ है जिसके अनुसार उन्होंने विशेष रूप से वहां की आयुर्वेदीय गतिविधियों की जानकारी प्राप्त करने का प्रयत्न किया। कई संस्थाओं को देखा परन्तु उनको कहीं भी आपकी एशियायी स्वास्थ्य संगठन वाली योजना की गंध भी न मिली, ऐसा क्यों ! आप तो यहाँ उसको लेकर तूफान मचाये दे रहे हैं और जहाँ उसको आपके शब्दों में कार्यान्वित होना है वहाँ उसे कोई पूछने वाला नहीं ?

अन्त में कुछ आपसे सीधा-सादा निवेदन कर लें। हमारा आग्रह है कि कोरे प्रचार के दृष्टिकोण को त्याग कर कुछ यथार्थ काम करने की दया कीजिये ! आयुर्वेद पर अब कुछ कृपा कर डालिये ! उस पर दिनों दिन संकट आ रहा है। विदेशों में आयुर्वेद की उन्नति के शेखचिल्लियों जैसे सपने देखने की अपेक्षा सत्य के धरातल पर उतर आइये। दूसरे के घर में सोना भरा पड़ा है उस पर फूलते रहने मात्र से आपकी भलाई हो चुकी। थोड़ा अपना घर देखिये, यदि वास्तव में कुछ करने की इच्छा है तो सब से पहले इस ओर दृष्टि दौड़ाइये कि आपके भारत में आपके आयुर्वेद की क्या दुर्गति है और उसके लिये आपको क्या करना चाहिये ?

दिल्ली अधिवेशन क्यों रूका ? इस प्रसंग की चर्चा करके क्यों आप लोगों को सत्य के उद्घाटन के लिये वाध्य करते हैं। आयुर्वेद-जगत जानता है कि अधिवेशन को रोकनेवाले कौन थे, किससे प्रेरित थे और किसकी कृपा से वे संस्था पर मुकद्दमा चला कर भी पुनः संस्था में ले लिये गये। दूसरों के लिये विधान है कि संस्था पर मामला चलाते ही सदस्यता से वंचित ! ऐसे कितने ही कर्मठ वैद्य संस्था से पृथक् किए जा चुके हैं, जिन्होंने कार्यालय की अनियमितताओं से तंग आ कर न्यायालय की शरण ली। परन्तु दिल्ली के उत्साहपूर्ण अधिवेशन को रुकवा कर संस्था को सभी क्षेत्रों में वदनाम कराने का जघन्य अपराध करनेवाले बिना किसी दण्ड के फिर संस्था में ले लिये गये। इसीलिये न कि वे आपके प्रिय थे ; दूसरे न्याय माँगनेवाले आपके अप्रिय। इस पर भी आप अपनी निष्पक्षता के गुण गाते नहीं अघाते। आपकी इस बात पर कैसे विश्वास कर लिया जावे कि आप दिल्ली अधिवेशन सम्पन्न करने का प्रयत्न कर रहे हैं ? प्रयत्न तो क्या, यदि आप इच्छा भी रखते तो अधिवेशन सम्पन्न हो सकता था। जब कि आप से यहाँ तक निवेदन किया गया कि ऐसे कार्यक्रम को स्वीकार करके अधिवेशन कीजिये जिसमें कोई विवादग्रस्त कार्यक्रम ही न हो, आपने अधिवेशन सम्पन्न करने में कोई चेष्टा नहीं दिखाई। अधिवेशन के लिये जिस मुकद्दमाबाजी का आप बहाना लेते हैं वह तो कभी समाप्त न होनेवाली कहानी है। जहाँ मिलीभगत् का मामला हो वहाँ ऐसा ही होता है। अपने किसी व्यक्ति से कह देना कि पत्थर फेंक—फिर दूसरे से कहना कि हम आगे कैसे चलें यह तो पत्थर फेंक रहा है।

हम नहीं कहना चाहते कि आप अधिकारप्रिय हैं, परन्तु इतना निश्चित है कि आप स्वयं अपने अधिकार के उपयोग का साहस नहीं दिखा रहे हैं। यदि आप में पूरी सद्भावना होती; आप किसी पक्ष से निष्प्रभाव होते तो निश्चित है कि आप सब से पहले प्रयत्न यह करते कि संस्था के सदस्यों का मनोमालिन्य दूर हो। पारस्परिक झगड़े न निपटें तो भी आपका धर्म था कि आप संस्था को इन झगड़ों के प्रभाव से बचाते। परन्तु आपने तो संस्था को ही एक पक्ष का बन जाने दिया। आपका कर्तव्य था कि न्यायालय की शरण जानेवाले सदस्यों को सहानुभूतिपूर्वक बुला कर उनकी बातें सुनते, जाँच करते और यदि उनमें सचाई थी तो नैतिकता के नाते कार्यालय में सुधार करते, परन्तु ऐसा एक भी प्रयत्न आपने नहीं किया। केवल अपील कर देने से झगड़े कहीं निपटते हैं ? भीतर-बाहर से एक-सा होकर यदि आप चेष्टा करते तो निश्चय मानिये बहुत बड़े श्रेय के आप भागी होते। परन्तु ऐसा आपने कुछ नहीं किया यदि किया हो तो बताइये। उल्टा आपने एक पक्ष विशेष से प्रभावित हो कर उसके प्रचारक का पद सँभाल लिया।

अपने वक्तव्य के अन्तिम अध्याय में आपने शुद्ध आयुर्वेद की वकालत की है, परन्तु तथ्यों से दूर हट कर ! वाराणसी, लखनऊ, इन्दौर या जहाँ कहीं वे भी आयुर्वेद छात्रों ने आन्दोलन किया है, जब वह आन्दोलन हुआ तो आप लोगों के कान पर जूँ तक नहीं रेंगी। आप ही बताइये उस आन्दोलन के विषय में उन दिनों आपने स्वयं या संस्था से क्या कार्यवाही की ? आज आप वैद्य-समाज को यह दिखाने चले हैं कि छात्रों ने आयुर्वेद के विरोध में आन्दोलन किया था। जब आप आयुर्वेद में आवश्यक अंश में आधुनिक ज्ञान ग्रहण करने के पक्ष में हैं तो हम पूछते हैं कि

आयुर्वेद के साथ शुद्ध की संज्ञा क्यों लगाना चाहते हैं? ऋषि प्रणीत या अब तक चलनेवाला आयुर्वेद क्या अशुद्ध थे जिसे आप अपने पुरुषार्थ से शुद्ध करने जा रहे हैं। आप क्यों नहीं आयुर्वेद को केवल आयुर्वेद ही रहने देना चाहते? शुद्ध और मिश्र के नाम पर वैद्यों में दो ऐसे वर्ग क्यों बनाना चाहते हैं, जो पीढ़ियों तक लड़ते रहें? इसीलिये न कि यह एक व्यक्ति की सनक है, या इससे राजकीय पक्ष को एक बहाना मिल जाता है। क्या आपने कभी विचार किया कि दूर भविष्य में, समाज में उन वैद्यों की क्या स्थिति होगी जो शुद्ध आयुर्वेद के कारण आधुनिक ज्ञान से सर्वथा शून्य होंगे? बढ़ते हुए ज़माने में वे कहाँ रहेंगे? यदि उनके भविष्य की कोई चिन्ता नहीं तो यह कहना भी गलत नहीं कि शुद्ध आयुर्वेद अपने-आप में एक आयुर्वेद विरोधी पड़ है; जिसका प्रभाव दूर भविष्य में आयुर्वेद के लिये विना कर सिद्ध होगा।

अपने वक्तव्य के सब से अन्त में आपने पूछा है— 'अब कहिये कि आयुर्वेद का शत्रु कौन है?' हम उ देते हैं कि——हम, आप, सब! जो व्यक्तिगत महत्वाकां के लिये पागल हैं, परन्तु जिन्हें सामूहिक हितों की चि नहीं! जो अपने स्वार्थ-साधन को भी आयुर्वेद-सेवा ब का दम्भ करते हैं। और अब अन्त में आपसे कहते हैं कि शत्रुओं की कमी नहीं, यदि खोजना है तो यह देखिये कि आयुर्वेद का मित्र कौन है?

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया। वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा की जा रही थी——इस ग्रन्थरत्न के लेखक हैं—आयुर्वेद जगत के सुविदित—

वैद्य रणजितराय देसाई

उपाचार्य : आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत ;

सदस्य : मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति।

नयनाभिराम कागज, छपाई तथा गेटअप। मूल्य आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर केवल रु० ५·५० न. पै. रखा गया है। मार्गव्यय-पृथक्। धड़ाधड़ बिक रहा है। आप भी आज ही आर्डर भेजिए।

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

LIBRARY

“जो बने सो मन करि लेहू”

वैद्य रणजितराय

१–सहस्रों वर्षों से आज तक आयुर्वेद के लिए राज्याश्रय का अभाव ; दूसरी ओर एलोपैथी के प्रति शासकों का प्रतिदिन वर्धमान पक्षपात, ; २–आयुर्वेदीय चिकित्सा-व्यवसाय द्वारा अनायास अनल्प धनलाभ की संभावना न होना ; ३–एलोपैथी में इन दिनों हुआ कितनी ही सद्यःफलप्रद औषधों का आविष्कार ; ४–एलोपैथी को सर्जरी का हस्तावलम्बन ; ५–प्रायः प्रत्येक रोग पर एलोपैथी में संप्राप्ति और उपचार-विषयक प्रत्यक्षाश्रित अतएव विद्यार्थियों के लिए रोचक और विश्वासोत्पादक निरूपण ; ६–इसके विपरीत परम्परा का विच्छेद हो जाने के कारण आयुर्वेद केवल कतिपय रोगों पर कतिपय औषधों के रूप में मर्यादित स्वरूप में ही हमें उपलब्ध हुआ होना ; और ७–जनता में आयुर्वेदानुरागी लोकों की संख्या सुविशाल होने पर भी एवं यत्र-तत्र स्थित वैद्यों के पास उत्तमोत्तम औषध होने पर जिन वैद्यों को अध्यापन का कार्य करना है उनमें, परिस्थिति की विविध विषमता के कारण, वैद्यों की अगली पीढ़ी—वर्तमान विद्यार्थियों—पर प्रभाव डालने तथा उन्हें आयुर्वेद के प्रति अनुरक्त बनाने का असामर्थ्य—इन दुःस्थितियों के मध्य आयुर्वेद की दशा आज वैसी ही है जैसे सप्त महारथियों से घिरे चक्रव्यूहान्तर्गत अभिमन्यु की।

अभिमन्यु का दृष्टान्त परिस्थिति की विकटता के सूचनार्थ ही दिया है। आयुर्वेद के विषय में किसी हताशा को मन में रख कर अभिमन्यु के सदृश ही परिणाम आयुर्वेद का भी होगा। ऐसी भीति लेखक के मन में लेशमात्र नहीं है। पर्वत की वह्निमत्ता सिद्ध करते हुए पाकशाला का दृष्टान्त दिया जाता है, उसका अर्थ यह नहीं कि पाकशाला और पर्वत में पूर्णतया साम्य होना ही चाहिए। जैसे इस दृष्टान्त को उपस्थित करते हुए कोई यह धारणा नहीं रखता कि पाकशाला के समान पर्वत में पाचक की उपस्थिति भी आवश्यक है।

वर्ष की समाप्ति पर ‘स्टॉक टेकिंग’ के सिलसिले में प्रस्तुत किए गए उपरिनिर्दिष्ट मुद्दों में से कतिपय की पृथक्-पृथक् व्याख्या करना उचित प्रतीत होता है।

राज्याश्रय का परिणाम

‘राजा कालस्य कारणम्’ इस न्याय से किंवा **‘यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः। स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते’** (श्रेष्ठ व्यक्ति जो कुछ करता है सामान्य जनता भी वही करती है। वह जिसे प्रमाण मानती है, लोक भी उसी पर विश्वास करता है) इस भगवद्वचनानुसार आयुर्वेद पर प्रजा की प्रीति-अप्रीति भी मुख्यतया आयुर्वेद के संबन्ध में शासकों की नीति पर ही अवलम्बित है। मुस्लिम काल में आयुर्वेद के प्रति शासन की दृष्टि कैसी रही इस विषय में अधिक कहने की आवश्यकता नहीं। वर्तमान सरकार आयुर्वेद के क्षेत्र में साधारणतया अंग्रेजों की पद्धति का ही अनुसरण करती आ रही है, इतना ही नहीं, लक्षण तो ऐसे हैं कि अंग्रेजों द्वारा निर्धारित नीति-रीति को अनेक गुणा व्यापक रूप से अपना रही है, अतः संक्षेप में अंग्रेजों की आयुर्वेद-विषयक नीति का ही विचार करना उपयुक्त होगा।

केन्द्रीय सरकार द्वारा नियुक्त चोपड़ा-समिति की रिपोर्ट पर विचार कर केन्द्रीय सरकार ने जो निर्णय किए उनमें दूसरा यह था :

> “The Central and Provincial Goverments should decide that modern scientific medicine should continue to be the basis for the development of the National Health Services in the Country.”

तात्पर्य—राष्ट्र में रोगों की अनुत्पत्ति (रोकथाम) तथा उपचार के कार्य में केन्द्रीय एवं प्रादेशिक सरकारें जिस प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक चिकित्सा-पद्धति का आश्रय लेती आ रही हैं उसे तद्वत् चालू रखना चाहिए और उसी के द्वारा राष्ट्रीय आरोग्य-सेवाओं का प्रसार करना चाहिए।

अर्थात्—सरकारी दवाखानों, सिविल हॉस्पिटलों, म्युनिसिपालिटियों, जिलों की हेल्थ-ऑफिसों, बीमा-कम्पनियों, सरकारी नौकरियों आदि में वर्तमान चिकित्साशास्त्र ही को अपनाने की सरकार की नीति है। यह समझना सरल है कि, ये संस्थाएँ एक तरह से, एलोपैथी को लोकप्रिय बनाने के

एवं तद्भिन्न आयुर्वेद-प्रभृति चिकित्सा-पद्धतियों से प्रजा को पराङमुख करने के केन्द्र ही सिद्ध हो रहीं हैं। सरकारी नौकरियों में एलोपैथी को प्रश्रय देने का फलितार्थ मत यह होता है कि, नौकर आयुर्वेदीय उपचार कराना चाहता हो तो भी छुट्टी आदि के लिए उसे नियोजित डाक्टर की ही शरण लेनी पड़ती है। बिल भी एलोपैथिक उपचार का ही स्वीकृत होता है।

समस्त देश में व्यापक इन संस्थाओं में काम आ सकें तथा ग्राम्य-विभाग में भी नए दवाखानों आदि के विकास में सुलभ हो सकें ऐसे डॉक्टरों के निर्माण के लिए प्रादेशिक तथा केन्द्रीय सरकारें प्रतिदिन नए मेडीकल कॉलेज खोलती जा रही हैं। इस बार तो विद्यमान कॉलेजों में बीस-पच्चीस अधिक विद्यार्थी प्रविष्ट करने की भी अनुमति दी गयी है। आन्ध्र प्रदेश में 'डबल शिफ्ट' (कॉलेज दिन में दो बार चलाने) की प्रथा पर भी विचार किया जा रहा था। विदित नहीं हुआ इस योजना को क्रिया में लाने का निश्चय हुआ या नहीं।

आयुर्वेद का लाभ उठाने और उसके शिक्षण की व्यवस्था करने के विषय में सरकार की नीति क्या है इस संबन्ध में उडुप्पा-कमिटी की रिपोर्ट का यह वाक्य कुछ मार्गदर्शक हो सकता है।—The training of Ayurvedic students was relegated to the background until such time as research had proved the merit of Ayurved.

It seems that Government's intention was to recognise the merit of Ayurved only after research on modern methods had proved its worth.

अर्थात्—आयुर्वेद का शिक्षण उन्नत कक्षा का हो एवं सरकार आयुर्वेद की उपयोगिता को स्वीकार करे इस बात के लिए यह शर्त आवश्यक समझी गयी कि आधुनिक पद्धति द्वारा आयुर्वेद में अनुसंधान हो और उसकी पात्रता सिद्ध हो।

यह अनुसंधान भी जानो आयुर्वेदानुरागियों को ही करना है, सरकार का उसके साथ कोई संबन्ध ही नहीं है। अन्यथा, क्यों केन्द्रीय सरकार केवल एक अनुसंधान-संस्था खोल कर रह गयी। क्यों प्रादेशिक सरकारें भी अनुसंधान पर ध्यान नहीं देतीं या देती हैं तो मुक्त मन से उसे सहायता नहीं देतीं?

आयुर्वेद अपने अन्धकारमय युग में (और यह युग अभी समाप्त नहीं हुआ है) जिस अवनत स्थिति को प्राप्त हो गया उससे उसे उबारने के लिए अनुसंधान आवश्यक है। परन्तु सरकार हृदय से आयुर्वेद की उन्नति चाहती हो; तो जनता के स्वास्थ्य के संरक्षण और रोगों की निवृत्ति के कार्य में आयुर्वेद के लिए अनुसंधान के अतिरिक्त और बहुत कुछ किया जा सकता है, यह समझना सरकार के लिए कोई कठिन बात नहीं है।

आज स्थिति यह है, कि, कोई मन्त्री, उप-मन्त्री या अन्य सरकारी अधिकारी अथवा कोई नेता आयुर्वेद पर कुछ भाषण कर जाएँ तो उनका भाषण सुने बिना उसकी यथार्थ रिपोर्ट पत्र-पत्रिकाओं के लिए तय्यार की जा सकती है। उसमें आयुर्वेद के भूतकाल की महिमा बताई गयी होगी, वर्तमान अवदशा का चित्रण होगा, आयुर्वेद की उन्नति के लिए वैद्यों से मार्मिक अपील की गयी होगी और इस प्रयोजन से अनुसंधान की आवश्यकता पर जोर दिया गया होगा...। सरकार चाहे तो आयुर्वेद-निर्दिष्ट जीवन-प्रणाली, रोगों के कारण, रोगों से बचने के सरल आयुर्वेदोपदिष्ट उपचार इत्यादि को जनता में प्रसारित करने के लिए अपने अनेक विभागों को काम में लगा सकती है। परन्तु सरकार को जानो कुछ करना ही नहीं है। अन्य औषधों की बात जाने दें, आयुर्वेद में जानो कोई विरेचन द्रव्य ही नहीं है, विशाल भारतीय वन्य संपत्ति में भी ऐसी कोई औषध नहीं है। विरेचन द्रव्य भी मानो एलोपैथी में ही निर्दिष्ट है और उसके लिए विदेशी मुद्रा की भारी तंगी में भी महँगी जुलाब की दवाइयाँ बाहर से मँगाई जाती हैं। यह परिस्थिति सरकार और हमारे डॉक्टर दोनों की घोर दास मनोवृत्ति की सूचक हैं।

सरकारें आयुर्वेद के लिए सहानुभूति के शब्दों का प्रयोग पूर्वापेक्षया अधिक उदारता से कर रही हैं, धन भी पहले अधिक ही अनुदान के रूप में व्यय कर रही हैं, परन्तु उससे अनेक गुणा अधिक रुपया एलोपेथी के नये-नये कॉलेज हॉस्पिटल आदि खोलने में व्यय हो रहा है, यह ध्यान देने योग्य है। (आयुर्वेद को हानि पहुँचानेवाले कानून एक के पीछे एक बने सो अलग) ऐंलोपेथी पर पूर्वापेक्षया होनेवाले सहस्रगुणित अधिक व्यय आयुर्वेद को दिये जानेवाले अनुदान के मूल्य को घटा देता है। सब मिल कर परिस्थिति आयुर्वेद को भर्त्सित कराने वाली सिद्ध हो रही है कि, सरकारें

है कि जनता का एकांश आयुर्वेद का पक्षपाती है। थोड़े-थोड़े टुकड़े उसके आगे डालते रहने से उसे चुप किया जा सकता है।

आयुर्वेद के विषय में सरकार की ओर से अब तक अदम्य आशा रखनेवाले व्यक्ति भी शनैः-शनैः निराश होते जा रहे हैं तथा उपरिनिर्दिष्ट परिभाषा में बात करने लगे हैं। विश्वस्त सूत्रों से सरकार की आयुर्वेद का मूलोच्छेद करनेवाली योजनाएँ भी कर्णगोचर और दृष्टिगोचर होने लगी हैं। सरकार की आयुर्वेद-विषयक नीति-रीति का सुव्यक्त दर्शन होने लगा है। सुनते हैं और देखते हैं: सरकार चाहती है ग्राम्य विभाग में कम्युनिटी प्रोजेक्ट के अङ्ग रूप में एलोपेथी के औषधालय, कॉटेज-हॉस्पिटल आदि खोले जाएँ। जहाँ-जहाँ ये संस्थाएँ अस्तित्व में आएँ वहाँ-वहाँ आयुर्वेदिक औषधालयों को बन्द कर दिया जाए। इस प्रकार समस्त देश में एलोपेथी ओत-प्रोत कर दी जाए। मेडीकल कॉलेजों की संख्या में वृद्धि, उनमें शिक्षार्थियों को अधिक संख्या में प्रवेश देना किंवा डबल शिफ्ट चालू करना इसी योजना के अङ्गभूत हैं।

लक्ष्य यह है कि दस वर्ष में समस्त भारत में एलोपेथी का आमूल प्रसार एवं आयुर्वेद का समूलोन्मूलन साधा जा सकेगा। सरकारी तन्त्र में जो हृदय से आयुर्वेद के पक्षपाती हैं वे "सर्वोपरि नेता" के आगे कुछ भी करने में अपने को समर्थ नहीं पा रहे हैं। यह "सर्वोपरि नेता" आयुर्वेद को, अथवा व्यापक परिभाषा में भारतीय संस्कृति और संस्कार को इस जीवन में कभी अपनाएँगे या प्रोत्साहन देंगे यह आशा ही नहीं की जा सकती।

बैद्यनाथ भवन का अभिनन्दनीय प्रयास

आयुर्वेद के कर्णधार भी निराश हो अपने बालकों को मेडीकल कॉलेजों में ही भेजना उचित मान रहे हैं। परन्तु नीतिकार की पदावली का अनुसरण करते हुए—

त्याज्यं न धैर्यं विधुरेऽपि दैवे
धैर्यात्कदाचित् स्थितिमाप्नुयात् सः।
जाते समुद्रेऽपि हि पोतभङ्गे
सांयात्रिको वाञ्छति तर्तुमेव॥

हाथ-पैर तो पछाड़ने ही पड़ेंगे। और इसके लिए साम, दाम, भेद, दण्ड सभी उपाय आजमाने होंगे। साम उपाय आयुर्वेदानुरागियों ने पर्याप्त अपनाया है। उससे विशेष सिद्धिलाभ नहीं हुआ। तथापि व्यवहार-कुशल व्यक्ति जानते हैं, लोक में साम उपाय को यथासंभव अधिकाधिक अपनाना श्रेयस्कर हुआ करता है। प्रसिद्धि है:

साम्नैव यत्र सिद्धिर्न तत्र दण्डो बुधेन विनियोज्यः।
पित्तं यदि शर्करया शाम्यति कोऽर्थः पटोलेन॥

आयुर्वेद के क्षेत्र में तो हम जानते हैं, आयुर्वेद-विरोधी केन्द्रीय आरोग्य-मन्त्री के विरुद्ध कटूक्तियों ने उन्हें आयुर्वेद का अनुरागी बनाने के स्थान पर अधिक विरोधी ही बनाया। बैद्यनाथ भवन ने सामोपाय को प्राथम्य देते हुए भिन्न नीति अपनायी है और उसके लिए सर्वात्मना अपनी शक्ति उसने लगा दी है।

वर्षों से बैद्यनाथ-भवन विशेषतया धन्वन्तरि-उत्सव की योजना भारत-भर में करता आ रहा है। सर्वत्र प्रतिष्ठित अधिकारियों तथा नागरिकों को अतिथि रूप से निमन्त्रित कर उन्हें आयुर्वेद का संदेश सुनाते हुए आयुर्वेद के संपर्क में लाने का प्रयास किया करता है। आयुर्वेद के उन्नयन का कार्य लोकतन्त्र के वर्तमान युग में विधान सभाओं के सभ्यों के अधीन होने से उन्हें आयुर्वेद के संपर्क में लाने का उपक्रम भवन ने बनाया। इस दृष्टि से भवन का प्रत्यक्षतर प्रयास संसद् के सभ्यों के निवास स्थानों के एक विभाग में आयुर्वेदीय औषधालय को केन्द्र बना कर सभ्यों को आयुर्वेदाभिमुख बनाने की प्रवृत्तियाँ आरम्भ करने के रूप में कुछ वर्ष पूर्व हुआ। इस प्रयास का सत्परिणाम संसद् में आरोग्य मन्त्रालय के प्रस्तावों पर सदस्यों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आयुर्वेद-विषयक अभिरुचि को देख कर जाना जा सकता है। बैद्यनाथ-भवन संसत्सभ्यों के निवास-स्थान के द्वितीय विभाग में भी यह प्रवृत्ति आरम्भ कर सका तो परिणाम और भी प्रशंसनीय प्राप्त होगा। अन्य भी संस्थाएँ इस प्रकार की प्रवृत्तियाँ हाथ में ले सकती हैं। विभिन्न प्रदेशों की विधान-सभाओं के सभ्यों को आयुर्वेदाभिमुख बनाने के लिए भी इसी प्रकार के प्रयत्न भवन या अन्य समर्थ संस्थाएँ कर सकती हैं।

बैद्यनाथ-भवन के अन्यतम कर्णधार **वैद्य रामनारायण जी शर्मा** ने गत वर्ष एक और स्तुत्य प्रयास हाथ में लिया। जनता की प्रीति आयुर्वेद के प्रति है तथा वह आयुवद को उन्नत पद पर प्रतिष्ठित हुआ देखना चाहती है इस बात के द्योतनार्थ एक आवेदन-पत्र तय्यार कर उस पर हस्ताक्षर-संग्रह का कार्य उन्होंने आरम्भ किया है। सहधर्म-चारिणी

का चिरवियोग और अपनी रोगजनित शारीर-मानस व्यथा को भुला कर भी आप इस प्रयास को सफल करने में सर्वतोभावेन लगे हुए हैं।

आयुर्वेदानुरागी जनता का कर्तव्य

देश के किसी भी कोने में जा कर चिकित्सा-व्यवसाय पर दृष्टिपात करें तो विदित होगा कि चिकित्सकजन प्रायः आयुर्वेद या एलोपेथी की चिन्ता उतनी नहीं करते, जितनी अर्थ-साधन की। परिणामतया शुद्ध एलोपेथ, मिश्र चिकित्सक या शुद्ध वैद्य यदि चिकित्सा में ऍलोपेथी के प्रति अपना झुकाव दर्शाते हैं और उससे आयुर्वेद की यदि कुछ क्षति हुई है तो ऍलोपेथी की भी कम क्षति नहीं हुई है। चिकित्सक जन वैज्ञानिक सिद्धान्त एवं भूतदया को भुला कर अर्थ-प्राप्ति को ही एकमात्र लक्ष्य बना बैठे हैं, जिससे ऍलोपेथी का शास्त्रीय स्वरूप भी नष्ट-भ्रष्ट हो चुका है। पाश्चात्य चिकित्सा-पद्धति के प्रशंसकजन देश में ऍलोपेथी की औषधों के प्रसार से प्रसन्न हों यह स्वाभाविक है, परन्तु चिकित्सा-पद्धति का मूल वैज्ञानिक स्वरूप जो नष्ट होता जा रहा है उससे उन्हें उतना ही सचिन्त भी होना चाहिए।

ऍलोपेथी या अन्य चिकित्सा-पद्धति के व्यवसाय में अर्थसाधन प्रधानतया लक्ष्य हो गया है, इस स्थिति का एक परिणाम यह आ रहा है कि प्रायः डॉक्टर सरकारी नौकरियों में रहने को उद्यत नहीं होते। कारण, घोर परिश्रम कर नौकरी में वे जितना द्रव्योपार्जन कर पाते हैं उससे कहीं अधिक द्रव्य वे अल्पतर आयास से व्यवसाय में उपार्जित कर सकते हैं। ग्राम्य-विभाग में ही नहीं, शहरों में भी नौकरी करने की वृत्ति डॉक्टर-समाज में प्रायः दिखाई नहीं देती। इसका यह परिणाम आना सर्वथा स्वाभाविक है कि सरकार देश में आरोग्य संरक्षण तथा रोग-निवृत्ति के लिए औषधालय और हॉस्पिटल खोले तो भी यह शङ्कास्पद ही रहेगा कि इनमें नौकरी स्वीकार कर कितने डॉक्टर जन-सेवा के लिए अपने को अर्पित करना चाहेंगे? तथापि विश्वस्त व्यक्तियों से जानकारी मिलती है कि, दस वर्ष में सरकार तो देश के कोने-कोने में ऍलोपेथिक सर्विसों का जाल बिछा देगी। इतने काल में आयुर्वेदानुरागी आयुर्वेद को जीवित रखने के लिए बने इतना प्रयत्न करें। इस अवधि के पश्चात् सफलता की कोई आशा नहीं रह जाएगी।

सरकारों का मनोगत अभिप्राय उल्लिखित योजना द्वारा सुव्यक्त ही है। तथापि यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि : (१) इतने काल में अपेक्षित संख्या में डॉक्टर उपलब्ध हो ही सकेंगे, एवं (२) इतनी संख्या में डॉक्टर उत्पन्न हो गए तो वे अपनी सेवाएँ देने के लिए, विशेषतया ग्राम्य विभागों में, तय्यार होंगे ही। कहा जाता है कि अमुक वर्षों के लिए ग्राम्य-विभाग में सेवा देना अनिवार्य कर देने से समस्या हल हो सकती है। परन्तु इस व्यवस्था के भी दो अनिष्ट परिणाम आने संभव हैं : (१) अपरिपक्व अनुभव के चिकित्सकों के हाथ में जनता के आरोग्य का प्रश्न सौंपा जाएगा और (२) यदि अमुक अवधि तक (मध्यप्रदेश में यह अवधि ५ वर्ष की रखने का प्रस्ताव आया है, ऐसा पढ़ने में आया था) पदवीधर को ग्राम्य-विभाग में सेवा देना अनिवार्य कर दिया जाए तो यह भी एक परिणाम संभव है कि, आज डॉक्टरी शिक्षा के प्रति जो झुकाव है वह कम हो जाए और सरकार जो अधिक संख्या में डॉक्टर उत्पन्न करना चाहती है वह उसका अभिलषित सिद्ध ही न हो।

उक्त परिस्थिति में अधिक डॉक्टर उत्पन्न करने का एक परिणाम यह होगा कि, शहरों में डॉक्टरों का जमाव उत्तरोत्तर बढ़ता जाएगा, जहाँ उनका संचय आज भी आवश्यकता से अधिक है। इससे कुछ अंशों में बेकारी भी बढ़ने की संभावना है।

ये प्रश्न हैं, जिन पर विचार करना उन लोगों के लिए आवश्यक है, जिनके हाथ में देश के आरोग्य की जिम्मेदारी है। इनके साथ एक मूलगामी प्रश्न का भी विचार कर लेना उपयुक्त होगा। देश के आरोग्य के प्रश्न का समाधान सोचते हुए विचार-सरणि का स्वरूप प्रायः यह रहता है— देश में इतने गाँव हैं, उनकी इतनी बस्ती है, प्रत्येक अमुक जन-संख्या पर इतने डॉक्टर चाहिए, इतने डॉक्टर उत्पन्न करने के लिए इतने मेडीकल कॉलेज चाहिए... इत्यादि।

ये योजनाएँ बनाते समय कदाचित् ही किसी ने विचार किया होगा कि, अधिकांश गाँव इतने छोटे होते हैं कि दो-चार ग्राम एकत्र किए जाएँ तो भी एक व्यक्ति के निर्वाह के लिए पर्याप्त नहीं हो सकते, विशेषतया आज के डॉक्टर के लिए। प्रायः ग्रामों में कई ग्राम वर्षा में द्वीप-सदृश हो जाते हैं। ऐसी सुविधाएँ आधुनिक शिक्षा-प्राप्त व्यक्ति को चाहिए ऐसी सुविधाएँ नाममात्र नहीं होतीं। इसके अतिरिक्त समाज की [illegible] के समान लड़कों के माध्यमिक तथा उच्च शि

के लिए डॉक्टरों को भी नगरों की ओर दृष्टि दौड़ानी ही पड़ती है। इन तथा अन्य परिस्थितियों में कितने डॉक्टर गाँवों में सेवा देने को तय्यार होंगे ? दूसरी ओर, गाँवों की संख्या के अनुसार ही अमुक संख्या डॉक्टरों की होनी चाहिए इस विचार में गाँवों की लघुता को देखते हुए कोई सत्याभास प्रतीत नहीं होता।

स्थिति यह है कि, आँकड़ों के इन्द्रजाल के पीछे दौड़ने की सरकारों की मनोदशा ने उनमें कभी इन प्रश्नों पर विचार करने की कल्पना ही उत्पन्न न होने दी। वर्तमान चिकित्सा-शास्त्र की चकाचौंध ने उनकी बुद्धि रूप तृतीय दृष्टि पर अभेद्य आवरण ही डाल दिया है। वे अपनी योजनाओं की अशक्यता देख ही नहीं पाते। आँख मींच कर मेडीकल कॉलेज तथा हॉस्पिटल खोलने और उनके लिए साधनों और औषधों पर देश का अटूट धन खर्च करने में उन्हें लेशमात्र रोमाञ्च नहीं होता।

भारत के सुदैव से कोई माई का लाल—कोई रफी अहमद किदवई—परिस्थिति का स्वयं निरीक्षण करेगा तो वह स्पष्ट देख सकेगा अगणित वर्षों से आहार-विहार के नियमों के उपदेश द्वारा जिस आयुर्वेद ने आज तक भारतीय प्रायद्वीप को रोगों से रक्षित रखा, उसके युवाओं की शरीर-संपत्ति को विश्व में श्रेष्ठतम कक्षा में गिने जाने योग्य बनाया, जिस आयुर्वेद के अनुयायी चिकित्सक ने विशेषतः ग्राम-विभाग में अकिञ्चन वृत्ति स्वीकार कर अगणित वर्षों से आगत रोगों से मानव-जाति की, रक्षा की उसकी कद्र करने का अवसर आज अनायास उपलब्ध हुआ है। जनता का आयुर्वेद के प्रति झुकाव नहीं है, वह ऍलोपेथी की माँग करती है इस स्थापना को मौके-बेमौके दुहराने के स्थान पर परीक्षक बुद्धि का उपयोग कर कहा जा सकता है कि जनता जो चाहे उसी के अनुसार तो सरकारें कानून नहीं बनाती। अथच, सरकारें चाहे तो अपने सुविस्तृत प्रचार-तन्त्र का लाभ उठाते हुए जनता को आयुर्वेद के प्रति अभिमुख करने का प्रशंसनीय कार्य कर सकती हैं। यह कार्य वे नहीं कर रहीं यही इस बात का सूचक है कि उनके मन में आयुर्वेद के प्रति यथार्थ प्रीति नहीं है।

आयुर्वेद में कुछ त्रुटियाँ हों तो विवेचक बुद्धि से यह सरलता से समझाया जा सकता है कि सरकार जिस चिकित्सा-पद्धति को प्रश्रय दे रही है उसकी भी त्रुटियाँ जगद्विदित हैं। उन त्रुटियों की उपेक्षा कैसे इतनी सरलता से की जा सकती है। दूसरे, आयुर्वेद में त्रुटियाँ हों तो अनुसंधान का कार्य अत्यधिक व्यापक और गहरा बना कर इन त्रुटियों को दूर करने का प्रयत्न किया जा सकता है। जब तक स्वयं आयुर्वेद से इन त्रुटियों को दूर करने का मार्ग नहीं मिलता तब तक अन्य पद्धति का आश्रय ले कर जन-स्वास्थ्य के संरक्षण और रोगों के निवर्तन की जिम्मेदारी का निर्वाह किया जा सकता है।

वस्तुस्थिति का यह भावी आशास्पद परीक्षक यह भी देख सकता है कि मिश्र आयुर्वेद का स्नातक कदाचित् लोगों की इच्छा और आग्रह के वश हो कर, अथवा कदाचित् द्रव्योपार्जन की इच्छा से, किंवा कदाचित् आयुर्वेद के शास्त्रीय ज्ञान और अनुभव की अल्पता के कारण ऍलोपेथी का सविशेष उपयोग करता हो तथापि वह देश के किसी भी कोने में चिकित्सा-व्यवसाय करने में संकोच नहीं अनुभव करता। उसकी सहायता लेना शुद्ध ऍलोपेथी के स्नातक की अपेक्षया कहीं अधिक कार्य साधक सिद्ध हो सकता है। अनुसंधान के कार्य को वेगवत्तर बना कर, शिक्षण-संस्थाओं में आयुर्वेद के शास्त्रीय तथा क्रियात्मक शिक्षण और प्रशिक्षण को अधिकाधिक स्वस्थ स्वरूप का बना कर, (जिसमें देश के प्रत्येक आयुर्वेदीय विद्यालय में अनुसंधान एवं स्नातक शिक्षण की व्यवस्था का विशिष्ट स्थान है) एवं अन्त को प्रचार-विभाग की सहायता से जनता को आयुर्वेदाभिमुख बनाने का वातावरण उत्पन्न कर इन स्नातकों के मार्ग को प्रशस्त बनाया जा सकता है।

दो अभिनन्दनीय सरकारी निर्णय

आयुर्वेद को सचमुच उन्नत करने के जो प्रयत्न केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों की ओर से हो रहे हैं उन्हें अभी तो निद्राधीन चेष्टा (सॉम्नेम्बुलिज्म) के सदृश ही कोई भी यथार्थदर्शी व्यक्ति कहेगा। अभी तो कई राज्यों में आयुर्वेद के स्वतन्त्र विभाग (डाइरेक्टोरेट) तथा उनके स्वतन्त्र नियामक भी नियुक्त नहीं हुए हैं। तथापि सरकारी प्रयत्नों में दो अभिनन्दनीय कार्य गत वर्ष हुए देखने में आए हैं। इनमें एक कार्य केन्द्रीय सरकार द्वारा किया गया है। गत वर्ष केन्द्रीय आरोग्य मन्त्रालय में एक वैतनिक आयुर्वेदीय सलाहकार की नियुक्ति हुई है।

यह पद अभी तक अधीष्ट (ऑनोरेरी)[1] था तथा इस पर सुप्रसिद्ध **कविराज प्रताप सिंह जी** कार्य कर रहे थे। अब यह पद **डॉ० सी० द्वारकानाथ जी** को दिया गया है। आप इसके पूर्व केंद्रीय सरकार द्वारा स्नातकोत्तर शिक्षण के लिए जामनगर में स्थापित संस्था में कायचिकित्सा के अध्यापक थे। आशा है डॉक्टर साहब को केन्द्रीय सरकार द्वारा आयुर्वेद के लिए कुछ ठोस काय कराने में सफलता प्राप्त होगी।

डॉ० द्वारकानाथ जी की नियुक्ति के साथ केन्द्रीय सरकार के एक और कार्य को भी स्मरण किया जा सकता है। कोई गत पाँच-छ वर्षों से केन्द्रीय सरकार को आयुर्वेद विषय में सलाह देने के लिए एक समिति की नियुक्ति सरकार ने की थी। अब उडुप्पा-समिति के निर्देश को स्वीकार कर केन्द्रीय सरकार ने उक्त सलाहकार समिति के स्थान पर 'आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति' की रचना की है। केन्द्रीय सलाहकार इस समिति के पदेन मन्त्री होंगे। समिति नामानुसार अनुसंधान से ही संबद्ध होते हुए भी भविष्य में जब तक शिक्षण आदि कार्यों के लिए पृथक् समितियों की रचना सरकार न करे तब तक इतर कार्य भी करती रहेगी। यथा, समिति की एक उप-समिति को समग्र भारतीय आयुर्वेद महाविद्यालयों के लिए एक ही पाठयक्रम निर्धारित करने की दिशा में कार्य करने की जिम्मेदारी सौंपी गयी है। समग्र भारत में आयुर्वेद का एक पाठयक्रम एवं एक पदवी निश्चित हो जाए तो आयुर्वेद के लिए अवश्य करणीय प्राथमिक कार्यों में एक महान् कार्य सिद्ध हो गया समझा जाएगा। एक रूप ग्रन्थों के निर्माण का कार्य भी समिति की योजनाओं में एक है।

दूसरा अभिनन्दनीय कार्य एक प्रादेशिक सरकार का है। कई राज्यों में अब तक पृथक् आयुर्वेद-नियामक (डाइरेक्टर) की नियुक्ति नहीं हुई है। कहीं-कहीं आयुर्वेद-नियामक स्वतन्त्र नहीं हैं। इस स्थिति में राजस्थान सरकार ने एक आशातीत कदम उठाया है, जिससे आयुर्वेदानुरागी जनता में असीम संतोष की लहर दौड़ गयी है। राजस्थान में डाइरेक्टर पद पर संप्रति पण्डित **प्रेमशंकरजी भिषगाचार्य** अत्यन्त उत्साहपूर्वक कार्य करते हुए आयुर्वेद को सभी क्षेत्रों और दिशाओं में समुन्नत करने के प्रशंसनीय प्रयास कर रहे हैं। कुछ मास पूर्व राजस्थान-सरकार ने केवल आयुर्वेद के लिए पृथक् मन्त्रालय (मिनिस्ट्री) बनाया है और इस पद पर **श्री भीखाभाई पटेल** की नियुक्ति की है। राजस्थान में प्रायः भूतपूर्व देशी राज्य होने से राजा प्रजा एवं धनीमानी वर्ग में आयुर्वेद के प्रति सद्भाव अब भी यथापूर्व बना हुआ है। वहाँ सरकार के अतिरिक्त धनिक वर्ग भी अपनी संपदा का सद्व्यय कर आयुर्वेदीय विद्या संस्थाएँ भी चला रहे हैं। छोटे-छोटे औषधालयों की तो बात ही नहीं।

इस प्रकार आयुर्वेद के विनाश के लिए प्रयत्नपूर्वक उत्पादित वातावरण में भी आशा की किरण कहीं-कहीं देखने को मिलती है। भगवान् धन्वन्तरि केन्द्रीय तथा प्रादेशिक सरकारों को सुबुद्धि दें कि वे आयुर्वेद की उपयोगिता और उपादेयता को हृदय से समझें और उसका संपूर्ण लाभ उठाते हुए देश का नाना प्रकार से हित-साधन करें। साथ ही, इस दिशा में आयुर्वेदानुरागी जनता के लिए निकट भविष्य में ही एक विशेष कार्य आ रहा है। उसके विषय में अभी से विचार कर योजना बनाने और उसे अमल में लाने का प्रयास आरम्भ कर दिया जाना श्रेयस्कर होगा।

कोई १।। वर्ष के पश्चात् संसद् तथा प्रदेशों की विधान-सभाओं के चुनाव होने वाले हैं। ऊपर लिखा है कि विशेषतया राष्ट्रपति जी एवं संसद् के सदस्यों को आयुर्वेदाभिमुख करने के प्रयास बैद्यनाथ भवन की ओर से किए जा रहे हैं। इस प्रकार के सामोपाय तो चालू रखने ही चाहिए। साथ ही आगामी चुनावों में भाग लेने वाले प्रत्येक दल अपना घोषणा-पत्र (मेनीफेस्टो) प्रका

---

[1] पाणिनीय व्याकरण में दो सूत्रों में अधीष्ट शब्द आया है : तमधीष्टो भृतो भूतो भावी (५-१-८०) तथा **विधि-नियन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्** (३-३-१६१) प्रथम सूत्र में 'भृतः' शब्द के साथ 'अधीष्ट' शब्द आया है। 'भृतः' का अर्थ 'वेतन पर रखा गया' है। 'अधीष्ट' का अर्थ 'सत्कारपूर्वक रखा गया' है। द्वितीय सूत्र में भी अधीष्ट का ऐसा ही अर्थ टीकाकारों ने दिया है। इसमें आए 'विधि' का अर्थ 'भृत्य (वैतनिक) व्यक्ति को किसी कार्य के लिए कहना' है। दोनों सूत्रों में वैतनिक के साथ अधीष्ट शब्द का रखा जाना एवं उसके अर्थ में सत्कार की भावना जो ऑनोरेरी के 'ऑनर' (मान) के साथ सादृश्य रखती है, इस बात को सूचित करती है कि अधीष्ट (अधि—उच्च कार्य के लिए इष्ट—चाहा तथा लगाया गया) शब्द आज के 'ऑनोरेरी' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इस प्राचीन शब्द को अपना कर रूढ कर लेना योग्य प्रतीत होता है। रूढ होने पर वह सरल भी लगने लगेगा।

करे उसमें आयुर्वेद को भी अवश्य स्थान प्राप्त हो इस बात का प्रयास होना चाहिए। अर्थात् प्रत्येक पक्ष के नायकों के समक्ष आयुर्वेदानुरागियों को स्पष्ट प्रश्न रखना होगा कि, **वे विशद शब्दों में घोषणा करें कि आयुर्वेद के लिए वे क्या करना चाहते हैं और कहाँ तक ?** निःसंदेह इस प्रकार के प्रश्न नम्र भाषा में रखे जाने चाहिए। पत्र-पत्रिकाओं में भी चुनाव के काल में आयुर्वेद के पक्ष में आन्दोलन को विशिष्ट स्थान दिया जाना चाहिए।

संसद् तथा विधान-सभाओं के प्रसंग में **एक अन्य संभावित क्षेत्र** का विचार क्रम प्राप्त है। यह सुविदित है कि, शासन को अधिकाधिक विकेन्द्रित करने की योजना को इन दिनों आचरण में लाया जा रहा है। पञ्चायतों और पञ्चायत-मण्डलों को कार्य करने का अधिक अधिकार दिया जा रहा है। इस स्थिति में जिस प्रकार संसद् तथा विधान-सभाओं के सभ्यों को आयुर्वेदाभिमुख करने का प्रयत्न करना उचित है वैसे पञ्चायतों, मण्डलों, म्युनिसिपेलिटियों तथा लोकल-बोर्डों के क्षेत्रों और सभ्यों में भी आयुर्वेदानुकूल वातावरण खड़ा करने का प्रयास आरम्भ करना आवश्यक हो गया है। अल्प शक्ति और साधनों वाले आयुर्वेदानुरागी कार्यकर्ता भी ; उनमें उत्साह हो तो, यह कार्य भली-भाँति संपादित कर सकते हैं। इन संस्थाओं में जानेवाले सभ्य आयुर्वेद के हितेच्छु भी हों यह दृष्टि चुनाव में रखी जा सके तो आयुर्वेद के पक्ष में परिणाम अधिक उत्कृष्ट आ सकता है।

विद्वज्जनों का कर्तव्य

आयुर्वेदानुरागी जनता, अधिकारी आदि आयुर्वेद के अनुकूल वातावरण उत्पन्न करने में सहायता कर सकते हैं। परन्तु आयुर्वेद को समुन्नत करने की वास्तविक जवाबदेही तो विद्वज्जनों की है। वैद्यों की अगली पीढ़ी की आयुर्वेद के प्रति कैसी भावना रहेगी, अपने व्यवसाय में वह आयुर्वेद को कितना स्थान देगी इस बात पर आयुर्वेद का भविष्य मुख्यतया अवलम्बित है। अतः यह निश्चित है कि आयुर्वेद के लिए अनुसंधान आदि की दिशा में जो भी प्रयास किए जाएँ उनका अधिकाधिक लाभ विद्यार्थी-समाज को प्राप्त हो। और यह कार्य अनुसंधान में लगे विद्वानों, अध्यापकों तथा लेखकों का है। इस दृष्टि से कुछ विचारणीय मुद्दे अपनी तुच्छ बुद्धि के अनुसार प्रस्तुत करना चाहता हूँ। इस विषय में मुझे जो कुछ कहना है वह मूल में प्रायः एक होने पर भी क्षेत्र-भेद से उसमें कुछ-कुछ स्वरूप भेद है यह वाचक अगली पंक्तियों के अध्ययन से समझ जाएँगे।

आयुर्वेद के लिए करणीय कार्यों में अनुसंधान को सर्वोपरि महत्त्व दिया जाता है। उसमें कुछ अनुचित भी नहीं। सच पूछो तो प्रत्येक वैद्य अनुसंधान-कर्ता हो सकता है और होता भी है यदि वह अपनी बुद्धि को इस कार्य में लगाए। इसलिए यदि सरकारें वास्तव में आयुर्वेद के लिए कुछ करना चाहती हैं तो जैसे हमारे **आचार्य बापालालभाई** सदैव कहा करते हैं सरकार को सारे देश में औषधालयों और हॉस्पिटलों का जाल बिछा देना चाहिए। इससे आयुर्वेद से होनेवाले लाभ जनता की दृष्टि में अधिकाधिक आएँगे और वह स्वयं आयुर्वेद के प्रति आकृष्ट होगी। इस प्रकार आयुर्वेद का वातावरण तो उत्पन्न होगा ही, सरकार भी अल्प व्यय से जनता के प्रति 'मेडीकल रिलीफ' का अपना कर्तव्य पूर्ण कर सकेगी। जिस की दृष्टि खुली होगी ऐसा इन संस्थाओं में कार्य करनेवाला प्रत्येक वैद्य प्रतिदिन आयुर्वेद के क्षेत्र में कुछ-न-कुछ अनुसंधान करता ही रहेगा। परिणामतया आयुर्वेद में अनुसंधान का लक्ष्य भी सिद्ध होता रहेगा। परन्तु—

संप्रति सरकार 'मेडीकल रिलीफ' के नाम पर इतनी संख्या में औषधालय या हॉस्पिटल खोलने को उद्यत नहीं हैं। अनुसंधान के प्रयोजन से अवश्य वे कुछ द्रव्य देने को तय्यार दिखाई देती हैं। औषधालयों की अधिकाधिक संख्या में स्थापना से होनेवाला उल्लिखित लाभ अनुसंधान के लिए प्राप्त होनेवाले अनुदान के उपयोग से अंशतः प्राप्त किया जा सकता है यदि इस अनुदान का उपयोग विशेषतया रुग्ण-चिकित्सात्मक अनुसंधान (क्लिनिकल रीसर्च) के कार्य में किया जाए। इससे अनुसंधान के अतिरिक्त रुग्ण जनता को स्वस्थ बनाने का कार्य करते हुए उसे आयुर्वेदाभिमुख करने का प्रयोजन भी यथासंभव अधिक परिमाण में सिद्ध किया जा सकेगा। आधुनिक विज्ञान की सहायता से किया जानेवाला विविध अनुसंधान उक्त प्रकार का लाभ उठाने में सहायभूत न होने से वर्तमान में वैद्यों को उसके लिए अनुदान का उपयोग न करना चाहिए। यों भी इस कार्य के लिए अन्य निधियों से धन प्राप्त करना मेरी जानकारी के अनुसार शक्य होगा ही।

रुग्ण-चिकित्सात्मक अनुसंधान की जो दिशा अब तक अपनायी जाती रही है उसमें भी कुछ परिवर्तन आवश्यक प्रतीत होता है। निदान और उपचार दोनों में पूर्णतया आधार आयुर्वेद का रहे तभी अनुसंधान आयुर्वेद को नए सिरे से समझने में, उसके विकास एवं पुनरुज्जीवन के कार्य में वास्तव में उपयोगी हो सकता है। प्रथम, निदान का प्रश्न हाथ में लें। अनुसंधान-केन्द्रों के निदान-पत्रक (रोग-परीक्षा-पत्रक) देखें या विद्यालयों से संबद्ध या असंबद्ध हॉस्पिटलों के पत्रकों पर दृष्टिपात करें, प्रायः सब में परीक्षा-पत्रक आधुनिक चिकित्सा-पद्धति के 'हिस्ट्री-शीट' का ही रूपान्तर 'चीफ कम्प्लेण्ट' के भाषान्तर 'प्रधान कष्ट' से ले कर अन्त तक होता है। **आयुर्वेद की अपनी परीक्षा-पद्धति है। उसे शास्त्र के अनुशीलन द्वारा प्रकाश में लाना चाहिए।** मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान समिति ने जो परीक्षा-पत्रक तय्यार कराए हैं उनमें रुग्ण-परीक्षा के आयुर्वेदोक्त अङ्गों को अपनाने का पूर्ण प्रयास किया गया है। राज्य की अन्य कतिपय संस्थाओं के परीक्षा-पत्रकों में भी आयुर्वेदीय दृष्टि अपनायी गयी देखी जाती है।

रुग्ण-परीक्षा के क्षेत्र में अधिक उपयोगी तो यह होगा कि सारे आयुर्वेदीय वाङ्मय का अवगाहन कर ऍलोपेथी की रुग्णचिकित्सा-पद्धति (क्लिनिकल मेथड) के प्रकार की ग्रन्थ रचना होनी चाहिए। इसमें एकमात्र आयुर्वेद को ही स्थान दिया जाना आवश्यक है। नव्य मत से तुलना की दृष्टि से उसमें कालानुरूप कुछ अपूर्णता प्रतीत हो तो भी कुछ संस्करणों तक नवीन मत को सर्वथा स्थान न देना श्रेयस्कर होगा। तभी आयुर्वेदीय संहिताओं से अधिकाधिक जानकारी एकत्र करने के प्रति ग्रन्थकारों की दृष्टि अनिवार्यतया जाएगी। इसका तात्पर्य यह नहीं कि विद्यार्थी को भी व्यवसाय में आवश्यक नव्य विचार से वञ्चित रखा जाए। यहाँ आयुर्वेद के पुनर्गुम्फन में पूर्णता किस प्रकार आए इस दृष्टि से ही अपना मन्तव्य उपस्थित किया है।

रोग-परीक्षा का प्रयोजन निदान या रोगविनिश्चय होता है। आयुर्वेदीय रुग्णचिकित्सा एवं तत्संबद्ध अनुसंधान के कार्य में **रोग-निदान की विशुद्धि** को भी दृष्टि में रखना चाहिए। बहुधा आधुनिक पद्धति तथा साधनों से ऍलोपेथिक निदान कर उसका संस्कृत भाषान्तर किया जाता है। इसे आयुर्वेदीय निदान समझ लेने का आत्मसंतोष हम अनुभव कर लें परन्तु वस्तुस्थितया यह आयुर्वेद को पुनः समझने का प्रशस्त मार्ग कदापि नहीं है। यह खेल यहीं समाप्त नहीं होता। इस भाषान्तरित निदान का उपचार "आयुर्वेदिक औषध" से होता है। मैंने इस पिछले वाक्य में उपचार का उल्लेख अन्योक्ति-चिह्नान्तर्गत आयुर्वेदिक औषध शब्द के उपयोग द्वारा किया है। उसमें कुछ हेतु है। आयुर्वेदीय संहिता-ग्रन्थों का अनुशीलन करें तो विदित होगा कि उसमें तत्-तत् रोग पर क्रिया करनेवाले विशिष्ट औषध के निर्देश के रूप में चिकित्सा-क्रम बताया नहीं गया है। किन्तु दोष-विशेष को लक्ष्य में रख कर शोधन-शमन तथा निदान-परिवर्जन (एवं पथ्यसेवन)-रूप क्रियाओं के रूप में चिकित्सा का उपदेश किया गया है। दोष-विशेष को लक्ष्य में रखने के प्रसंग में शारीर दोषों के साथ रजस्तमो रूप मानस दोषों के साम्य को भी लक्ष्य में रखा गया है। उत्तर काल में विशेषतया रसशास्त्र के प्रचार के पश्चात् और सविशेष तो वर्तमान युग में आयुर्वेदीय चिकित्सा क्रम विरेचन, वमन, नस्य, अभ्याङ्गादि क्रियाओं के स्थान पर तत्-तत् औषधों के रूप में मर्यादित हो गया देखा जा रहा है। इस पद्धति ने आयुर्वेदीय उपचार-क्रम की मौलिकता को—दोषमूलकत्व को—नष्ट कर दिया है। उसका आयुर्वेदीयत्व ही इससे उच्छिन्न हो गया है। विभिन्न स्थानों पर अनुसंधान की जो प्रक्रिया चालू हुई है उसमें भी उपचार-क्रम प्रायः औषध-प्रधान ही पूर्व निर्धारित कर उस पर गवेषणाएँ की जा रही हैं। किसी-किसी स्थान पर अनुसंधान में वमनादि क्रियाओं को प्राधान्य देने की आयुर्वेद की मूलभूत विशिष्टता को प्रमुख स्थान दिया गया है। यह हर्ष का विषय है। सर्वत्र इस पद्धति को अपनाना आयुर्वेद के स्वरूपावगाहन के लिए अनिवार्य है।

आयुर्वेद से स्वतन्त्र निदान कर, किंवा ऍलोपैथी की सहायता से निदान कर उस के भाषान्तर के रूप में रोग-विनिश्चय कर आयुर्वेद का औषध-प्रधान चिकित्सा-क्रम अपनाने पर उससे सिद्धि-लाभ हो तो भी उसमें एक गम्भीर भयस्थान है। चिकित्सा यशस्वी होने से आत्मसंतोष एवं रोगी तथा उसके स्वजन-परिजनों को परितोष होने पर भी, एवं कदाचित् रोगी अन्य पद्धतियों से चिकित्सित हो पर निष्फल हो आयुर्वेदीय उपचार-क्रम में आया हो तो अन्य पद्धतिवाले चिकित्सक क्षणिक लज्जा अनुभव करें यह परिस्थिति होने पर भी अन्तिम परिणाम इस उपचार-क्रम का आयुर्वेद के लिए असात्म्य ही होगा। कैसे ?—

(शेषांश पृष्ठ ३६ पर)

वेद और आयुर्वेद का सम्बन्ध

वद्यराज पं० ख्यालीराम द्विवेदी, आयुर्वेदवृहस्पति

ब्रह्मवैवर्तपुराण में लिखा है :—

ऋग्यजु:सामाथर्वाख्यान्दृष्ट्वा वेदान् प्रजापतिः ।
विचिन्त्य तेषामर्थञ्चैवायुर्वेदाञ्चकार सः ।।

इससे प्रतीत होता है कि आद्य (ब्रह्मसंहिता) नामक चिकित्सा-संग्रह किसी एक स्वतंत्र प्रतिभा का चमत्कार नहीं था, प्रत्युत अशेषविद्यानिधान वेदपुरुष का ही आविष्कार था—जिसका प्रचलित भाषा में संकलन ब्रह्मदेव ने कर दिया था। वेदों में, विशेषकर अथर्ववेद में चिकित्सा विषय उपलब्ध होते हैं। इसीलिये सुश्रुत ने लिखा है—

इह खल्वायुर्वेदो नाम यदुपांगमथर्ववेदस्यानुत्पाद्यैव प्रजा: श्लोक-शतसहस्त्रमध्यायसहस्त्रं च कृतवान्स्वयंभूः । चरक ने भी कहा है कि :—

तत्र भिषजा पृष्टेनैवं चतुर्णामृग्यजु:सामाथर्ववेदानामात्मनो अथर्ववेदे भक्तिरादेश्या ।

वैसे तो चारों वेदों में ही चिकित्सा-शास्त्र के विषय उपलब्ध होते हैं परन्तु अन्तिम अथर्ववेद में—स्वस्त्ययन, बलि, मंगल, होम, नियम, प्रायश्चित्त, उपवास, मंत्र आदि का विशेष विवरण विकारोपशमनार्थ मिलता है। यह चिकित्सा तीन प्रकार की चिकित्सा विधियों में से दैवव्यप्राश्रय चिकित्सा का बोध कराती है। जैसा कि चरक ने लिखा है :—

त्रिविधमौषधम्—दैवव्यपाश्रयं, युक्तिव्यपाश्रयं,सत्वावजयश्च, तत्र दैवव्यपाश्रयं, मंत्रौषधि-मणि-मंगल-वल्युपहार, होम-नियम-प्रायश्चित्तौपवास - स्वस्त्ययन- प्रणिपात-तीर्थ - गमनादि ।

चरक ने अपने तंत्र में अथर्ववेदज्ञों को अत्यधिक गौरव प्रदान किया है। यथा—शारीरस्थान में लिखा है :—

ब्राह्मणाश्चाथर्ववेदविद—(शा. ८ सू. ७६)
ब्राह्मणश्चाथर्ववेदवित्सततमुभयकालं शान्तिंजुहुयात् ।
—शा. ८, सू. १०) ।

चरक और सुश्रुत में इस प्रकार के बहुत से वाक्य हैं। व्यवहार की अनुकूलता की दृष्टि से आयुर्वेद को किसी भी वेद का उपवेद मानिये किन्तु आयुर्वेद का ऋक् आदि वेदों से बलवान और अनादि सम्बन्ध है, यह सुनिश्चित है। आयुर्वेद में गृहीत बहुत से वैदिक विषय वेदों में उपलब्ध हैं, उनमें से कुछेक उदाहरण नीचे दिये जाते हैं :—

यजुर्वेद में—असुश्चमे चित्तञ्चमे मनश्चमे,

अथर्ववेद में—अष्टचक्रा नवद्वारा देवानां पूरयोध्या, पुरं यो ब्रह्मणो वेद यस्याः पुरुष उच्यते इति पुरुष लक्षणं। केन पार्ष्णी केन मांसं केन गुल्फौ केनांगुली केन पेशनी केन नखानि केनोच्छलंखौ कस्मान्नु गुल्फाव्वरौ अष्ठीवन्तावुत्तरौ जंघे जानुनीस्सन्धि। जानुभ्यामूर्ध्वं शिपिरं कबन्धं श्रोणि यदूरू कुसिन्धं पुरौ ग्रीवा स्तनौ कफौडौ स्कन्धान् पृष्टी बाहू अंसौ सप्त खानि शीर्षाकर्णौ नासिके चक्षुषि मुखम् हव्वोर्हि जिह्वा मस्तिष्कम् लालटं ककाटिकाम् कपालम्। (कां १०, अ. १, सू. २)।

उष्णिहाभ्यः कीकसाभ्यो अनूक्याद् हृदयात्क्लोम्नौ गुदाभ्यो वनिष्ठौ रुदरात् कुक्षिभ्यां प्लाशेनाभ्याम् प्रपदाभ्याम् मसद्यं मासदं मंससौ अस्थिभ्यो मज्जभ्यः स्नाय्वभ्यो धमनीभ्यः लौम्नित्वचस्य। (कां २, अ. ६, सू. ३३)।

शुक्रममृतम् जनयन्त रेतः (पू. अ. १४)। यास्ते शतम् धमन्यो अंगान्यनुविष्टिताः तासां ते सर्वाषां। (कां ६, अ. १०, सू. ६०)।

शतस्य धमनीनां सहस्रस्य शिराणां। अस्थुरिन्मध्यमा इमाश्च साकमन्ता अरंसत। (कां १,अ. ४, सू. १७)। विश्वस्मै प्राणायापानाय व्यानायोदानाय प्रतिष्ठायै चरित्राय। (पू. अ. १३, म. १६)।

इत्यादि वाक्यों में आयुर्वेदीय शारीर में विद्यमान अंग-प्रत्यंगों, सप्त धातुओं, स्नायु, धमनी और सिराओं के नाम उपलब्ध हैं। मन, चित्त और प्राण तथा पुरुष शब्द के अर्थ, लक्षण एवं निर्वचनों का भले प्रकार वर्णन है।

इमानि यानि पञ्चेन्द्रियाणि मनः षष्ठानि हृदि ब्रह्मणा संश्रितानि। (कां १०, अ. १ सू. ६)।

यहाँ पर योग विभाग से पांच कर्मेन्द्रिय और पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा मन का अर्थ लाभ होता है। मन इन्द्रिय

है, यह सिद्ध होता है तथा मन का स्थान हृदय है, यह भी निर्णय हो जाता है।

कोऽस्मिन्नायो व्यदधात विषवृतः पुरूवृतः सिन्धु सृत्यायजाताः। जीव्रा अरुणा लौहिनीस्ताम्रधूम्रा ऊर्ध्वा अवाचीः पुरुषे तिरश्चीः। (कां १०, अ. १०. सू. २)।

यास्ते शत धमन्यो अंगन्यनुविष्टिता तासां सर्वासां,

इन मंत्रों के द्वारा कृष्ण रक्त, शुद्ध और अशुद्ध रक्त का ऊपर-नीचे-तिर्यक रूप से शरीर में संचार का स्पष्ट वर्णन किया गया है।

प्रिया प्रियाणिबहुला स्वप्नं संबाधतन्ध्रः। (कां १० अ. १, सू. २)।

इस मंत्र के द्वारा सुस्वप्न और दुःस्वप्नों की अनेक प्रकार की कल्पनायें करके तन्द्रा को प्रस्तुत किया है।

मिमातिमायुं पयते पयोभिः। (कां ६, अ. १, मं ८)।

वातात् ते प्राणमविदं। (कां ७, अ. १, सू ७)।

नाभिः समानानांभूयांसं। (कां १६, सू २)।

यक्नक्लोमानं वरुणौ भिषज्यन मतस्न वायव्यैर्नमिनाति पित्तम्। (यजुः, पू. १६, मं ८५)।

आसो वलासो भवतु। (कां ६, अ. सू ६)।

सप्त प्राणाः, सप्तापानाः, सप्तव्यानाः। (कां १५, अ. २, सू. १५)।

प्राणश्चमे अपानश्चमे व्यानश्चमे। (पू. अ. १८)।

इन मंत्रों में वात-पित्त और कफ के नाम तथा उनकी क्रियाओं का वर्णन है।

उक्त विवरण के द्वारा वेदों और आयुर्वेद के शारीर-शास्त्र सम्बन्धी विषयों का बोध होता है।

यस्मानमासानिर्मितास्त्रिंशदरः संवत्सरो यस्मान्निर्मितो द्वादशारः। (कां ४, अ. ८, सू. ३५)।

तस्या ग्रीष्मश्च, वसन्तश्च, द्वौ पादावास्तां शरच्च वर्षाश्च द्वौ। (कां १५, अ. १ सू. ३)।

ग्रीष्मस्ते भूमे वर्षाणि शरद्हेमन्तशिशिरौ वसन्त ऋतवस्ते विहिता हायनीरहोरात्रे पृथिवीनि दुहिताम्। (कां १२, अ. १, सू. १)।

न पितृयाणं पन्थां जानाति न देवयानम्। (कां १५, अ. २, सू. १२)।

ये देवयाना पितृयाणाश्च लोका सर्वान् पथो अनृणा आक्षिपेयम् क्रव्यादमग्निं शशमान युक्तं प्रहिणोमि पथिभिः पितृयाणैः। मा देवयोनेः पुनरागा अत्रैवेधि पितृषु जागृहि त्वम्। (कां १२, अ. २, सू. २)।

यहां पर पितृयाण का अर्थ दक्षिणायन और देवयान का अर्थ उत्तरायण है। इन मंत्रों द्वारा आयुर्वेदोक्त क्षणादि, विसर्ग और आदानात्मक मास व ऋतुओं में विभक्त काल का ज्ञान कराया गया है।

काला अश्वो बहति सप्तरश्मिः सहस्राक्षो अजरो भूरिरेताः। (कां १६, अ. सू. ५३)।

इस मंत्र में परिणामशील काल का ज्ञान कराया गया है।

शं न आपो हैमवतीः शम् ते सन्तूत्स्थाः सनिष्यदा वर्ष्याः धन्वन्याः अनूप्याः खनित्रिमाः कुम्भेभिरामृताः अनभ्रयः खनमानाः दिव्यानामणम् स्रौतस्यानां। (कां १२, अ. १, सू. १)

इन मंत्रों में काल, देश, आधार, रूप, उपाधियों द्वारा विभक्त जल के भेदों का विवरण दिया गया है, इसीके अनुसार आयुर्वेद में द्रव-द्रव्यों के प्रकरण में वर्णन किया गया है।

अस्थिस्त्नंसं परुस्नंसं हृदयामयं। (कां ६, अ. ५, सू. १४)

अग्निस्तक्यमानमपवाधतां बलासं कासमुद्युगं शीर्ष रूक्षं ग्रैष्मं नाशय वार्षिकां। (कां ५, अ. ५, सू. २२)।

यो अक्ष्यौ परिसर्पति, यो नासे परिसर्पति, दंतां यो मध्यमे गच्छति, तं क्रिमिं जभ्मयामसि। (कां ५, अ. ४, सू. २३)।

त्रयो दासा आंजनस्य तस्मा वलास आदहिः। (कां ४, अ. ११ सू. ४)।

यदान्त्रेषु गवीन्यौर्यद् बस्तावधि संश्रुतं। एते मूत्रं मुच्यताम् बहिर्वालिति सर्वकम्। (कां १, अ. १, सू. ३)

स्त्रीणां श्रेणि प्रतोदित इन्द्ररक्षांसि नाशय। शीर्ष शीर्षामयं कर्णशूलं विलोहितं शीर्षण्यम् कंकूशेभ्यः विकल्पिकं अंगभेदं अंगज्वरं विश्वांग्यं। य उरू अनु त्यथो एति गवीनिके। यक्ष्मं हिरमाणं ते अन्त्रेभ्यो मन्तरौदरात् सर्वेषां विषम् निरवोचं काहाबाहे। (कां अ. ४, सू. ८)।

तद्विषं सर्पा उपाजीवन्ति। (कां ८, अ. ५, सू. १)

श्रमस्तन्द्रीश्च मोहश्च। (कां ८, अ. ४, सू. ८)

इदं तमाद्य त्वद् वयं विसूचीं विवृहामसि।

इस प्रकार बहुत-से मंत्रों और वाक्यों में अनेक रोगों के नामों का वर्णन है। इस तरह वेद और आयुर्वेद का विषय में पारस्परिक सम्बन्ध सुस्पष्ट होता है।

अप्स्वन्तरभृतमप्सु भेषजम्, अपो याचामि भेषजम्, अप्सु मे सोमो अब्रवीदन्तर्विश्वानि भेषजा आप:प्रणीत भेषजम् (कां १, अ. १, सू. ४-५-६)।

उद्यन्नादित्य: क्रिमीन् हन्तु (का० २, अ. ६, सू. ३२)।

या औषधि पूर्वजाता देवेभ्यस्त्र्ययुगं पुरा। मने नु बभ्रूणमहं शतं धामानि सप्त च। शतं वो अम्ब धामनि सहस्रमुत वो रुह:। अधाश्चक्रत्वोयूयमिमं मे अग्रदमृकृत: पुष्पवती: प्रसूवरी: वीरुध: (पू. अ. १२ मं ७५, ७६, ७७)।

अयो कृणोमि भेषजम् यथा सच्छन हायन:। वराहो वेद वीरुदं नकुलो वेद भेषजं। सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुए। या सुपर्णा: आंगिरसी दिव्यायारघठा विदुवयांसि हंसा या विदुयश्चि सर्व यत्रत्रिण:। मृगा या विदुरौषधीस्ता अस्मा अवसे हुए। यावतीनामौषधीनां गाव: प्रश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावय:। तावतीस्तुभ्यमौषधि शर्म यच्छन्त्वामृता: यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदु: पुष्पवती: प्रसूमती: फलिनीरफला: (कां ८, अ. ४ सू. ७)।

यथा नकुला विच्छिद्य संदधात्यहिं पुन:। (कां ६ अ. १३, सू. १३९)।

यहाँ पर (शतं घामनि सप्त च) इस मंत्र में प्रधानतया धाम्नों की १०७ गिनती की है। दूसरे मंत्र में अप्रधानरूप से सहस्त्र संख्या बताई है। जिन औषधों को अजा, अवि, मृग, पक्षी, हंस, सर्प, सुवर्ण, नकुल, बराह, गन्धर्व, मनुष्य आदि जानते हैं उनका उपयोग सबके लिये करना वेद द्वारा निर्दिष्ट है। कुष्ठ, कृष्णरामा, दर्व, दूर्वा, रोहिणी, अश्वत्थ, पिप्पली, अपामार्ग, प्रश्निपर्णी, मधुबल्ली, आदि बहुत से भेषजों के वीर्य, गुण, कर्म, एक-एक करके वर्णन किये गये हैं। यदि उन सबका उल्लेख किया जावे तो एक पृथक् बड़े ग्रन्थ की अपेक्षा होगी। इसी भांति विष चिकित्सा के बहुत-से भेषजों और उपायों का वेदों में वर्णन है। यथा-

उच्चैर्घोषो दुंदुभिस्सत्वनायन्वानस्पत्य: सम्भृत उष्णियाभि: वाचं श्रृणुवानो दमयन्त्यसपत्नान्सिंह इव जेष्यन्नभितंस्त-नीहि। (कां ५, अ. ४, सू. २०)।

इस सूक्त में वर्णित विषय का ही वर्णन सुश्रुत में कल्प स्थान के दुन्दुभिस्वनीय अध्याय में व्याख्यान किया है। इस अगद से दुन्दुभि, पताका, तोरणों के लिम्पन का विधान है जिनके श्रवण, दर्शन और स्पर्श से विष-मुक्ति हो जाती है।

वेदों में न केवल कायचिकित्सा, बल्कि शस्त्रचिकित्सा आदि अन्य अंगों का भी पर्याप्त वर्णन मिलता है। जिन सज्जनों को वेद और आयुर्वेद का सम्बन्ध दृढ़तर, व्यावहारिक बनाना अभिप्रेत हो, उन्हें दोनों साहित्यों का परिश्रमपूर्वक परिशीलन करके चिकित्सा विषयों का आविष्कार करना चाहिये।

ऊपर जो (अप्स्वन्तरमृतं उद्यन्नादित्य:) इत्यादि मंत्र है इन वाक्यों में यह बताया गया है कि जल और सूर्य स्वास्थ्य संरक्षण में किस प्रकार प्रयोजक होते हैं। वायु आदि का भी स्वास्थ्य प्रयोजकता प्रतिपादित की गई है।

बिना उपकरण की सहायता के अदृश्य क्रीमियों का भी वेदों में विशद वर्णन है जिनसे ज्वर, राजयक्ष्मा, आदि संक्रामक रोग उत्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ कुछ मंत्र नीचे उद्धृत है :--

(क्रिमे विश्वस्य तर्हणि दृष्टमदृष्टमतृहमयो कुरुरुमतृहं। अलगण्डून ये क्रिमयश्च पर्वतेषु बनेष्वौषधीषु पशुष्वप्स्वत्त:। ये अस्माकं तन्वमाविविशु: सर्वं तद् हन्मि जनिम क्रिमीणाम्। (कां २, अ. ५, सू. ३१)।

प्रसंगवश न केवल अदृष्ट कृमियों, बल्कि अन्य कृमियों की भी सूचना दी गई है। अस्वास्थ्य के कारण विविध कीट, मक्षिका, सरीसृप आदि के नाम और कर्मों का भी वर्णन है।

आयुर्वेद का कोई भी अंग या उपांग अथवा सिद्धान्त ऐसा नहीं है, जिसका नाम एवं विवरण वैदिक भाषा में न मिले। बहुत-सी बातों का मौलिक यथार्थता की परीक्षा वैद्यों के अनुशीलन से होती है। अनेक प्रकार की शारीर संज्ञायें रोगवाचक नाम आदि के निर्णय में वेद आज भी आयुर्वेद के अनुपम सहायक हैं।

आयुर्वेद के विद्वानों का कर्तव्य है कि वैदिक आयुर्वेद का अनुशीलन और मनन करके आयुर्वेदिक विप्रतिपत्तियों का निराकरण करें, एवं नवीन शोध करके आयुर्वेद की श्रीवृद्धि तथा जनकल्याण के पुनीत कार्य में आवश्यक योगदान दें।

(नोट---प्रस्तुत लेख की मूल कापी टाइप की हुई थी जिसमें वेद मन्त्र परिशुद्ध नहीं थे। अत: पाठकों से निवेदन है कि वेदमन्त्रों का उद्धरण मूल पुस्तक से मिलाकर ही शुद्धपूर्वक पढ़ें---सम्पादक)

बियाबानी–इन्दौर]

स्रोतो विचार

वैद्य प्रभाशंकर नरोत्तम रावल, आयुर्वेदाचार्य

आयुर्वेद के आधुनिक अध्यापकों को आयुर्वेदीय शारीरशास्त्र में कितने ही स्थलों पर विविध शंकाएँ उत्पन्न हो सकती हैं; क्योंकि आधुनिक अध्यापकों में अधिकांश मिश्र-शिक्षण प्राप्त करने वाले ही लोग हैं। अतः ऐसे लोगों को यदि आयुर्वेद में अनेक त्रुटियाँ दिखाई दें तो इसमें आश्चर्य ही क्या है।

शारीरशास्त्र की इस विषमता और संदिग्धता को समझने और दूर करने के लिए अद्यावधि अनेक प्रयत्न हो चुके हैं। पिछले दो सौ वर्षों में अनेक अंग्रेज विद्वानों और कुछ इनेगिने भारतीय डाक्टरों ने भी उस दिशा में यत्न किए हैं।

अंग्रेज विद्वानों की कृतियों को देखकर यह मानना पड़ेगा कि उनमें अनुशीलन एवं संकलन करने की अपूर्व लगन थी; किन्तु साथ ही इस बात से भी इनकार नहीं किया जा सकता कि उनमें से बहुतों को पौर्वात्य ग्रंथ-संकलन का परिचय न था। उन लोगों का प्रधान हेतु भारत से प्राप्त हुए साहित्य को अपनी भाषा में अपनी रीति से अपने देशवासियों के समक्ष प्रस्तुत करने का था। ऐसा करने का उन लोगों को अधिकार था या नहीं—और जिस विषय का उन्होंने अनुवाद किया, उसके वे पूर्ण ज्ञाता थे कि नहीं, यह प्रश्न यहाँ पर अनावश्यक प्रतीत होता है।

जिन भारतीय एलोपैथिक डाक्टरों ने इस दिशा में प्रयत्न किए, वे सब इसमें निष्फल हुए, क्योंकि उनका मानदण्ड अपूर्ण था। एनाटॉमी को ही मानदण्ड बनाकर आयुर्वेद का मूल्याङ्कन करने का हेतु उन लोगों का था—और उनलोगों का हेतु आयुर्वेद का यथार्थ अध्ययन करने के बदले समन्वय स्थापित करने का था।

आर्यों की लेखन-शैली

पृथक् हेतु होने के कारण उन विद्वानों को आयुर्वेदीय ग्रंथों की शैली समझ में नहीं आयी; क्योंकि वर्त्तमान लेखन-शैली, आर्यों की प्राचीन लेखनशैली से पृथक ढंग की है। आधुनिक वैज्ञानिक ग्रन्थों की लेखनशैली प्रकरण प्रधान, विषय प्रधान है, लेकिन वह तर्कप्रधान (Logical) नहीं है। अध्यापन की दृष्टि से तो वह शैली निरर्थक है। तर्क प्रधान शैली में सकारण उत्पन्न हुए तर्कों के उत्तर मिलते जाते हैं। एक प्रश्न पूरा होने के बाद उसमें से नए-नए प्रश्न तर्कप्रधान शैली में लिखे जाते हैं। इस तर्कप्रधान शैली में न केवल आयुर्वेद के ही, अपितु आर्यों के समग्र ग्रन्थ पुराणादि भी लिखे हुए हैं। शिक्षण-शास्त्र की दृष्टि से बालक शिष्य जिस वक्त जो प्रश्न करे, उस वक्त ही उसका उत्तर उसे मिलना चाहिए। यह शैली उच्चत्तर इसलिए है कि उस स्थिति में बालक शिष्य प्रत्युत्तर समझने के लिए तथा उसको हृदय में उतारने के लिए योग्यतम मानसिक अवस्था में होता है।

लेकिन इन दिनों जो व्याख्यान-शैली प्रचलित है इसके सर्वथा विपरीत है। इस पद्धति के अन्तर्गत विद्यार्थी विषयाभिमुख नहीं हो पाता; क्योंकि अध्यापकों के बहुत-से व्याख्यान केवल अध्यापन-कक्ष की दीवारों और कुर्सियों से टकराकर लौट आते हैं। किन्तु प्रश्नोत्तरी शैली के साथ ऐसी बात नहीं है। उस पद्धति के अन्तर्गत विभिन्न विषयों से सम्बन्धित प्रश्नों का छात्रों को अभ्यास कराया जाता है—फलतः विद्यार्थियों को उत्तर देने की क्षमता में वृद्धि होती है और विद्यार्थी अधिकाधिक विषयाभिमुख होता जाता है।

आयुर्वेदीय ग्रन्थ-रचना की विशिष्टता

शिक्षणशैली और ग्रंथ-संकलन (Compilation) में एकरूपता होने के कारण ही यहाँ पर इनका उल्लेख करना आवश्यक प्रतीत होता है। आयुर्वेद में एक ही विषय भिन्न-भिन्न स्थानों में जो बिखरा पड़ा है, वह इस शैली के कारण ही।

भगवान चरक ने स्रोतों का शारीर स्थान में किञ्चित् मात्र भी वर्णन न करके, विमान स्थान में उसके अनुसंधान में पूरा एक अध्याय ही लिख डाला; इसका हेतु क्या है इसको भी समझने का प्रयास होना चाहिए। इसी प्रकार मूढ़गर्भ का विषय आधुनिक वर्गीकरण के अनुसार प्रसूतितंत्र का माना जाता है; लेकिन चरक ने इसको शारीरस्थान में

लिखा है और सुश्रुत ने मूढ़गर्भ का सारा विषय शल्यतंत्र में लिखा है। इसके पीछे भी कोई हेतु अवश्य होगा। प्रसूति, मानव गर्भ का अवतरण अवश्य है, लेकिन यह अवतरण किसका? अवतरण है मानव शरीर का—गर्भ शरीर का—इस हेतु से प्रसूतितंत्र को शारीर स्थान में लिया गया। सुश्रुत के सिद्धांतानुसार अर्थात् शल्यतंत्र की परिभाषा के अनुसार मूढ़गर्भ माता के उदर में रहा हुआ एक शल्य ही तो है। अतएव, उस शल्य को कैसे बाहर निकाला जाय, इसका परिज्ञान करानेवाले शास्त्र को शल्यतंत्र कहना सुश्रुत मतानुसार स्वाभाविक ही है।

चरक ने विमान स्थान लिखकर बड़े महत्त्व का काम किया है। उसके अन्तर्गत स्रोतविमान नामक अध्याय भी लिखा है। विमान स्थान में सूक्ष्मतम दृष्टि से अंशांश का विचार करते हुए आयुर्वेदीय सिद्धांतों की छानवीन करके सभी विषयों का समावेश किया गया है; क्योंकि "चरक संहिता" आगमग्रंथ है। वैद्यक-सम्बन्धी सभी सिद्धान्तों की चर्चा इसमें हुई है।

वाग्भट को ऐसे विमान स्थान की जरूरत नहीं दिखायी दी, क्योंकि वह अपने ग्रन्थ को आगम ग्रंथ की अपेक्षा चिकित्सोपयोगी ग्रन्थ बनाना चाहता था।

प्रत्येक ग्रन्थकार ने विषय की उपयोगिता को—ग्रन्थ-रचना के हेतु को—प्राधान्य देकर एक ही विषय की चर्चा अलग-अलग स्थानों में की है और प्रत्येक विषय का अनुकूलता के अनुसार भाग किया है। स्रोतों के विषय में भिन्न-भिन्न स्थलों में लिखी हुई पदावलियों तथा आयुर्वेद की लेखन-शैली को समझने के लिए आयुर्वेदीय ग्रंथ-संकलन में ऊपर लिखा हुआ ख्याल हो तभी प्रत्येक अध्याय, प्रत्येक विषय और प्रत्येक श्लोक अमुक स्थान पर किस लिए लिखा गया है, यह बात अविसंवादित रूप से समझ में आती है—और तभी आयुर्वेद में जटिल मालूम पड़नेवाली अनेक समस्याएँ सुसंवादी दिखायी देती हैं।

अनेकार्थ और एकाथवाची शब्द

ग्रन्थ-संकलन और शैली के ज्ञान के अभाव के कारण विद्वानों को जितना धोखा हुआ, उससे कहीं अधिक धोखा विद्वानों को अनेकार्थवाची शब्दों के कारण हुआ है। न केवल आयुर्वेद में ही प्रत्युत् समग्र संस्कृत साहित्य में अनेकार्थवाची शब्दों का मुक्तरूपेण उपयोग हुआ है। एक ही शब्द का भिन्न-भिन्न अर्थ में भिन्न-भिन्न स्थान पर प्रयोग हुआ है। इस शैली को संस्कृत भाषा की विशेषता मानी जाए अथवा त्रुटि—यह अवश्य विचारणीय है। संभव है कि शब्दों की अनेकार्थता के कारण उनके अर्थों के सम्बन्ध में लोगों को संभ्रम हो जाए; किन्तु संस्कृत भाषा के व्याकरण और उन विषयों के ज्ञाता को अनेकार्थ वाची शब्दों से संभ्रम नहीं हो सकता। संस्कृत के ज्ञाताओं को विशिष्टार्थ का आनन्द प्राप्त होता है, जबकि संस्कृत भाषा से अनभिज्ञ लोगों को भटकना पड़ता है—जो अत्यन्त स्वाभाविक है। स्रोतों के विषय में भी ऐसा ही है। चरक का वचन है—"स्रोतांसि सिरा, धमन्यः रसायन्यः रसवाहिन्यः नाड्यः पन्थानः मार्गाः शरीरछिद्राणि संवृतासंवृत स्थानानि आशयाः निकेताश्च।" ये सब शरीर धातुओं के नाम हैं और सभी एकार्थवाची हैं। चरक के उपरोक्त पद को पढ़कर, चरक ने धमनी, नाड़ी, सिरा आदि को एक ही माना है, ऐसा समझने की भूल बहुत-से लोग करते हैं। किन्तु ऐसा समझना भारी भूल है।

स्रोत के पर्याय

सर्वप्रथम स्रोत के पर्याय अर्थात् अनेकार्थवाची शब्दों की चर्चा आवश्यक मालूम होती है। स्रोत नामक एक ही भाव को स्थूल अर्थ में लिया जाय, तो प्रश्न होता है कि एक ही अवयव के चरक ने ऊपर लिखे बारह नाम क्यों दिए? इसका उत्तर यह है कि बारह में से किसी भी एक शब्द से जो भाव व्यक्त करना चाहता है, वह भाव पूरा व्यक्त नहीं हो सकता। जिस प्रकार भगवान विष्णु के सहस्र नाम मिलकर ही विष्णुत्व का दर्शन कराते हैं। वैद्यक शास्त्र में जिस प्रकार रोगों और औषधियों के नामों के अनेक पर्याय हैं, उसी प्रकार ज्योतिष, धर्मशास्त्र आदि में भी है। न्यायशास्त्र ने तो वस्तु का भाव समझने के लिए पर्यायलक्षण को आवश्यक माना है। इस तरह, स्रोत के पर्यायों की सार्थकता और उपयोगिता सिद्ध हो जाती है।

स्रोतस शब्द 'स्रु' धातु से बना है और इससे झरना, आगे बढ़ना ऐसा अर्थ बोध होता है। जिसमें से रस-रक्त-शुक्र आदि का स्राव होता है, उसको 'स्रोत' कहा जाता है; और स्रोत शब्द उन-उन क्रियाओं का अर्थ पूर्णतया वहन करता है। किन्तु कान, मुख वा गुदा से सतत् स्राव नहीं होता, इसलिए उनके लिए तो छिद्र शब्द ही अधिक उपयुक्त

है। क्योंकि उनमें 'स्रोतत्व' नहीं है, बल्कि छिद्रत्व है। छिद्र के विशिष्ट धर्म और उसके विशिष्ट लक्षण को स्वीकार करने तथा दर्शाने के लिए स्रोत को भी छिद्र का पर्याय मानना पड़ा।

धमनी और सिरा

स्रोत के ये दो अति प्रचलित पर्याय हैं। इन दोनों को एक साथ ही लेना उचित है। धमन में फूँकने की ही क्रिया होती है। चमड़े की धमन संकोच पाकर पवन को अन्दर से बाहर ढकेलता है और विकास पाकर पवन को अन्दर खींचती है और ऐसी क्रिया करने वाली धमनी को अगर स्रोत के पर्याय के रूप में मान्य न किया जाय तो फिर प्राण-वायु का उच्छ्वास-निश्वास का कार्य प्राणवाही स्रोत में होता है—इस क्रिया का द्योतन करने वाला दूसरा अर्थगर्भित शब्द कौन है? सामान्यतः धमनियाँ वायु का धमन करती हैं; लेकिन प्राणवाही धमनियाँ—जिनका दूसरा नाम प्राणवाही स्रोत है वायु को शरीर के अन्दर चूसती है और उसको बाहर निकालती है। तात्पर्य यह है कि प्राण-वाही स्रोत में श्वासोच्छ्वास की क्रिया होती है। फेफड़े द्वारा गृहीत वायु नाड़ियों के माध्यम से समूचे शरीर में पहुँचती है—और वे सभी नाड़ियाँ प्राणवायु का वहन करती हैं—अतः इतने अंशों में वे नाड़ियाँ प्राणवह स्रोत मानी जा सकती हैं।

सिरा

सिरा शब्द का आविर्भाव 'षि' धातु से हुआ है। इस धातु का उपयोग बन्धन के अर्थ में और कारणभूत होने के अर्थ में होता है। सिरा में धमन की क्रिया होती ही नहीं—और यह शब्द वैद्यक शास्त्र में विशिष्ट अर्थ रखता है। चिकित्सा के एक अंग की तरह, जिसको चीरने की जरूरत होती है, वह सिरा है। सिरा भी एक प्रकार का स्रोत है।

इसके बाद **आशय और निकेत**—इन युगल शब्दों के सम्बन्ध में विचार करें। अन्नवह स्रोत की अन्ननाडी बहुत सँकरी होती है। उसमें से आहार ग्रहण करने के बाद तुरत ही आगे प्रसरित हो जाता है। लेकिन वही अन्न आमाशय में दाखिल होने पर आमाशय पाँच-सात सेर समा सके, उतना मोटा हो जाता है। यह एक बात हुई और आमाशय में से आहार की वहन तुरत न होवे अथवा आहारादिक आमाशय में ४ से ७ घण्टे तक रहे, यह दूसरी बात है। ये सभी क्रियाएँ और उनका समग्र भाव नाड़ी सिरा और स्रोत आदि एक भी शब्द से समझा नहीं जा सकता इसलिए, स्रोत का यह धर्म समझने के लिए 'आशय, निके शब्द का आश्रय लेना ही पड़ता है। ये दोनों पर्याय विशिष्ट अर्थवाची हैं। स्रोत के पर्यायों का चौथा युग शब्द **संवृत** और **असंवृत** स्थानों का है। संवृत का अर्थ ढँके हुआ, बँधे हुआ सीमित स्थान। असंवृत का अ है खुले और विकल्प से भरे हुए स्थान। स्थान आशयों से भिन्न हैं। आशयों के नाम-गणना आदि भिन्न-भिन्न है। संवृत-असंवृत स्थानों में पेरीटोनि (Peritoneum), प्लुरा (Pleura-Pericardium आदि Potential Cavities का भी समावेश जाता है। इसके पश्चात् लक्ष्य और अलक्ष्य अवकाशों बातों पर विचार करें। उसमें से दो अर्थ निकलता है कोई स्रोत दृश्य है, लेकिन जो अदृश्य है उसको शरीर में घटक अंग की तरह दिखाया जा सके, ऐसा अवयवमात्र उसके शरीर में कहाँ ढूँढ़े? तात्पर्य यह है कि एक ही विभाजित होता-होता अदृश्य हो जाता है—और पाँच-पचास अदृश्य स्रोत संयोजित होने के बाद दृश्य स्व धारण करते हैं, उसका बोध ऊपर के पर्यायों से होता है।

पर्यायों का ऐसा सूक्ष्मतम वर्णन सभी सामान्य के कार्यों के बारे में अच्छी जानकारी प्रस्तुत करता है प्राणवह-उदकवह आदि स्रोतों के विशिष्ट स्वरूप के सम्ब में पीछे विचार किया जायगा।

स्रोत के लक्षण

स्रोत किसको कहा जाय, यह स्पष्ट करने के लि आयुर्वेद में स्रोत के लक्षणों को भिन्न-भिन्न रीति से गया है—और अधिकाधिक तार्किक ढंग से समझाया है। इस बात को स्वीकार करना ही पड़ेगा। स्रो पर्यायों से पर्याय लक्षण दिखाया गया है—व्युत्पत्ति से थोड़ा बोध होता है। न्यायशास्त्र ने लक्षण के बहुत किए हैं, लेकिन स्रोत को समझने में आयुर्वेदोक्त पर्याय एवं व्युत्पत्ति अधिक सहायक हो सकेगी।

अन्वय का अर्थ होता है, Positive Defin और व्यतिरेक का अर्थ होता है, Negative Definatio और Deductive इनको Inductive logic

भी कहा जाता है। किसी भी वस्तु की व्याख्या (Defination) को नैयायिक लक्षण कहते हैं। नैयायिकों के बनाए हुए लक्षणों को तार्किक दलीलों से कोई तोड़ नहीं सकता; किन्तु साधारण मानवों द्वारा की गयी व्याख्याओं को अनेक तर्कों के आधार पर दोषपूर्ण बताया जा सकता है।

स्रोत का अन्वय लक्षण

भगवान चरक ने स्रोतों का अन्वय लक्षण इस तरह लिखा है—"स्रोतांसि खलु परिणाममापद्यमानानां धातूनामभिवाहीनि भवन्ति अयनार्थेन" अर्थात् उत्तरोत्तर परिणाम को पाता हुआ रसरक्त आदि धातुएँ, लसीका, स्तन्य आदि उपधातुएँ, विण्मूत्र, प्रस्वेद आदि मलों और वात-पित्त-कफ इन दोषों का अभिवाहक स्रोत ही होता है—यह हुआ स्रोत का अन्वय लक्षण। उसका व्यतिरेक लक्षण चरक ने इस प्रकार दिया है—"सर्वे हि भावा पुरुषे नान्तरेण स्रोतांसि अभिनिवर्त्तन्ते क्षयं वा अपि अधिगच्छति" ऐसा लिखकर चरक ने रस-रक्त-वात आदि का वहन करते हुए स्रोतों को माना है—मन के भावों का वहन करनेवाला अदृश्य स्रोत को भी स्वीकार किया। फिर भी उन्होंने जो वर्णन चिकित्सा में किया है—वे सभी बड़े उपयोगी हैं।

नैयायिकों की अद्वितीय रीति

प्राचीननैयायिक केवल अपना मत बनाकर बैठे नहीं रहते थे, अन्य मतवादियों तथा प्रतिद्वन्द्वियों के मतों का भी यथायोग्य सम्मान करते थे। उसमें से वे अपने मत के अनुसार स्वीकार करने योग्य तथ्यों को ग्रहण करते और अस्वीकार्य अंशों को त्याज्य होने के कारण भी उपस्थित करते थे। ऐसा होने से सभी मतों का ज्ञान प्राप्त करने वाले विद्यार्थियों को कभी भी भ्रम नहीं होता था।

प्रतिद्वन्द्वियों के ऐसे अंशतः स्वीकार्य या संपूर्णतः अस्वीकार्य मत को नैयायिक लोग एकीय मत कहते थे। एकीय मत का अर्थ औरों का मत होता है, जो मूल ग्रन्थकर्त्ता को मान्य हो। चरक ने स्रोत के विषय में ऐसा एकीय मत दिया है।" अपि च एके स्रोतसां एव समुदायं पुरुषं इच्छन्ति" अर्थात् कितने ही लोग ऐसा मानते हैं कि समग्र पुरुष शरीर स्रोतों के समुदायरूप हैं। इसके सिवा देह में और कोई वस्तु नहीं है। स्रोतों के सम्बन्ध में एकीय मत वालों के पास दो दलीलें हैं—(१) स्रोत सर्वगत है और (२) स्रोत में ही रस-रक्तादि संचरण करते हैं। चरक इन दोनों ही दलीलों को स्वीकार करता है—लेकिन इन दलीलों के आधार पर जो यह निष्कर्ष निकाला जाता है कि पुरुषदेह में स्रोतों के सिवा और कुछ नहीं है, वह चरक को मान्य नहीं है।

एकीय मतवालों की दलीलों में कितना तथ्य है, यह देखना चाहिए। पहली बात तो यह है कि अगर उसमें तथ्यांश न होता तो चरक ने उसका उल्लेख भी न किया होता। पहली दलील के मुताबिक स्रोत शरीर के प्रत्येक भाग में और अणु-अणु में है—दूसरे शब्दों में कहें तो देह का प्रत्येक अणु स्रोत है। जिस प्रकार यकृत के प्रत्येक अणु (Cell) में उसको पोषण देनेवाला एवं उसमें से समलरूप में बाहर निकलने वाला द्रव और ग्लायकोजन (Glycogen) रूप में रहता हुआ द्रव्य—ये सभी निश्चित दिशा में गति करते हैं। ऐसे बहुत-से अणुओं का मार्ग जब एकत्रित होता है, तब ही यह माइक्रोस्कोप से दिखायी देता है—अन्यथा उनको माइक्रोस्कोप से देखना संभव नहीं है।

आधुनिक शरीर-शास्त्रवेत्ता (फीजियोलॉजिस्ट) यकृत के अठारह कार्य बताते हैं। संभव है कि इस संख्या में कल और भी वृद्धि हो जाय। लेकिन इतना तो निश्चित ही है कि यकृत के प्रत्येक कार्य के लिए उसके अणुओं में और मार्गों में उस कार्य के अनुरूप विशिष्टता होनी ही चाहिए।

समग्र शरीर में एक ही फिरता हुआ रक्त रस-गन्ध-गुण, वीर्यवाला होने पर भी जब अस्थि में प्रवेश करता है, तब अस्थि उसी रक्त से अपना पोषण ग्रहण कर लेती है—और अस्थि से मज्जा अलग होकर अस्थि के अन्तरंग भाग में जमा हो जाती है। अस्थि स्वयं भी वृद्धिगत होती रहती है और अपने पोषण के लिए आवश्यक अंश को ग्रहण करती है। रक्त में से अस्थिरूप में और मज्जारूप में परिणत होता हुआ यह सब भिन्न-भिन्न द्रवों का वाहक अलग-अलग मार्ग (Tracts-Visible or invisible) होने चाहिएँ—यह बात विवाद से परे है। उसी तरह से मज्जा को वहन करने वाले स्रोत का भी अस्तित्व होना चाहिए। यह भी स्मरणीय है कि अन्य सभी धातुवह स्रोतों के मुताबिक मज्जावह स्रोत मज्जा को धारण करने वाला और मज्जा का वहन करने वाला भी है। मज्जा को धारण करती है Bone-S,ept Canalculiia, और मज्जा का वहन होता है अस्थियों और मज्जा के अन्तर्गत intertitial membranes between the bone & marrow में। यदि मज्जा पर स्रोत न होते तो मज्जा की पुष्टि कैसे होती? ऐसी एक दलील के अनुसार मज्जावाही स्रोतों का अस्तित्व मज्जा के प्रत्येक अणु (Every marrow-cell) में ही है। मज्जा के परमाणु उसकी चारों ओर की कला में छिपे हुए सूक्ष्म छिद्रों (Pores in the cells wall of marrow cells) से पोषण प्राप्त करता है और अपने वायुरूप-द्रवरूप मल को भी वह सूक्ष्म छिद्रों से बाहर फेंकता है।

अस्थिवह स्रोतों का अस्तित्व अस्थि के प्रत्येक अणु में (Every bone-cell) है, यह बात स्पष्टतया समझने के लिए यकृत के परमाणुओं का उदाहरण लेना चाहिए। यकृत के परमाणु को सूक्ष्मदर्शक यंत्र से देखा जाय, तो प्रत्यक्ष दिखता है कि प्रत्येक परमाणु में पित्तवहस्रोत का छिद्र और रक्तवह स्रोत का छिद्र स्पष्ट दिखायी देता है। अस्थि-परमाणु में और मज्जा के परमाणु में ऐसे सूक्ष्म छिद्र ही हैं, जिसमें अस्थि व मज्जा का वहन यानी धारण होता है।

आधुनिक प्राणीशास्त्र (Biology) में वर्णित एक कोषीय जीव अर्थात् एकाणु जीव (amoeba) का वाह्य आवरण अन्त: भाग Cylo-plasm को सर्वत: आवृत करता है। अन्त:भाग द्रवप्रधान होता है अन्त:भाग के सूक्ष्म अपकोशों (Vaeuoles) में वायु बुद्‌बुद होता है। एकाणु की वृद्धि होने पर इस वायु बुद्‌बुद में एकाणु जीव का वायुरूप मल होता है। वायु बुद्‌वद में जब वायु का दबाव विशेष होता है, तब बुद्‌बुद के ऊपर का पतला जलमयस्तर टूट जाता है और भीतर की इकट्ठी हवा बाहर निकल आती है। हवा के बाहर निकलने पर एकाणुजीव में इतना अवकाश हो जाता है कि वह अवकाश पूरी तरह से भरा नहीं जाता है–– और यह अवकाश ही मार्गरूप-स्रोतरूप हो जाता है––इस मार्ग से ही बहि:स्थ द्रवादि एकाणु में प्रवेश करते हैं। इस प्रक्रिया (Process) के अनुसार मानवशरीर के प्रत्येक अणु में, प्रत्येक धातु में स्रोत बनते रहते हैं और इसी तरह से गर्भाधान के समय से लेकर शरीर के पूर्णतया विकसित होने तक वायु, ऊष्मा और द्रवादि से, वात-पित्त-कफ के अनुसार सारे स्रोत, मार्ग, नाड़ियाँ, आशय प्रभृति बनते रहते हैं यह अवकाश स्रोत यानी नाड़ियाँ, वात-पित्त-कफ के अ वृद्धि के कारण विस्तृत अथवा संकुचित होती रहती हैं- छोटी-बड़ी या विविध अकृतिवाली होती हैं।

प्राणीदेह के मुताविक ही एकाणुजीव जब संपूर्ण वृद्धिगत हो जाता है, तब उसकी प्रजनन-क्रिया शुरू होती है एकाणु जीव (amoeba) के बारे में ऐसा कहा जाता कि वह द्विविभाजित हो जाता है और प्रत्येक भाग वृद्धि होने पर फिर द्विविभाजित हो जाता है। इस प्रका विभाजन होने पर, दो एकाणुओं या अनेक एकाणुज क में प्रत्येक एकाणुओं के बीच में चारों ओर से खाली ज (Empty Spaces) रह जाती है। यह ख जगह (अवकाश) ही कायम होने पर नाडीरूप ब जाती है।

एकाणु जीवों तथा अनेकाणु जीवों में स्रोतोत्पत्ति कि प्रकार होती है यह समझाने के लिए नीचे तीन उदाह दिए जाते हैं––

एकीय मतवादियों की दलील को चरक ने उल्लेख स्थान दिया है और ऐसा करने के बाद उक्त मत अपूर्ण यह भी चरक ने स्पष्ट कर दिया––"यस्य च स्रोतांसि व वहन्ति यच्च आवहन्ति सर्वं तत् अन्यत् तेभ्य:"। उ दलीलें अस्वीकार्य होने के कारण ये हैं।

(१) मांस, कला, त्वचा, आवरण आदि के जो बने हुए हैं, वह मांसकला आदि का स्वतंत्र अतित्व ही और वे सभी स्रोत तो नहीं हैं, किन्तु स्रोत को वाले धातु-उपधातु-मल आदि हैं। अस्थि में अ स्रोत के साथ मज्जावह स्रोत और मज्जा आदि हैं।

(२) रक्तवहस्रोत में बहता हुआ रक्त और र स्रोत अलग-अलग है, उसी तरह पित्तवह स्रोत में बहता उदक स्वयं स्रोत नहीं है।

(३) स्रोतों के जरिए जिन मलों का आशय की वहन कराया जाय वे मल, मूत्र, स्वेद, पुरीष आदि नहीं है। ये तीन कारण बताकर चरक ने सिद्ध किया स्रोत और स्रोत के अन्दर बहते हुए द्रव––सभी भि वस्तु हैं।

प्राध्यापक––आयुर्वेद महाविद्यालय
जामनगर

ओज-तेज व धातुप्रसाद

वैद्यशास्त्री मणिशंकर कालीदास याज्ञिक, हलवदकर

आयुर्वेद के प्रमाणभूत ग्रन्थों में सामान्यतः ओज के तीन प्रकार देखने में आते हैं–(१) **शुक्रमल**, (२) **पर**, और (३) **अपर** ।

(१) **शुक्रमल संज्ञक ओज**:—यह शुक्र का अंश विशेष है—(वाग्भट इसको शुक्र का मल कहते हैं। वा. शा. अ. ३,६४) इसको बुद्धि-बल-वर्धक माना जाता है। इसकी रक्षा के लिए ब्रह्मचर्य का विधान शास्त्र में बताया है। वर्तमान वैज्ञानिक विद्वानोंने भी इसका शुक्र संबंधी अवयवों से स्रुत (अंतःस्रुत) होना, इसके द्वारा बुद्धीन्द्रिय (Nervous System नाड़ीसंस्थान) का पोषण होना और इससे पौरुष लक्षणों (मूछें, गंभीर स्वर इत्यादि) का पैदा होना स्वीकार करते हैं।

(२) **पर-ओजः**—इसके विषय में लिखा है कि :—"यत्सारमादौ गर्भस्य"...(च. सू. अ. ३०) पर-ओज गर्भ का "आद्यसार" है (अर्थात् शुक्रार्त्तव अथवा बीज Spermatozoon फल Ovum संज्ञक अणु अवयवों Cells का और उन के संयोग से बननेवाले 'गर्भांकुर' Ferilix edovum का मूल घटक है। इसको "जीवनायतनौजस्"—Nucleo protein कहते हैं। यह शरीर गत समस्त अणु अवयवों में रहता है। यह गर्भरस (कलल) का भी सारभूत द्रव्य है। यह सर्वप्रथम हृदय में प्रविष्ट होता है और इस कारण ही हृदय अन्य इन्द्रियों के पहिले अपने कार्य में सम्यक् प्रवृत्त होता है "यस्य नाशस्तु "धारि" यत् हृदयाश्रितम्" (च. सू. अ. ३०)। इसका जो हृदयस्थ अंश है वह सत्त्व शरीर व आत्मा के संयोग को धारण करता है। अतः इसके नाश से जीवन ही नष्ट हो जाता है। "प्रथमे जायतेह्योजः" (च. सू. अ. २३) प्राणियों के शरीर में प्रथम "अर्थात् गर्भांकुर में यह घी के सदृश, मीठा, और धान के लावा के सदृश गंधवाला रहता है। किन्तु "हृदि तिष्ठति" (च. सू. अ. १७) जो पर-ओज हृदय में रहता है और जिसके नाश से जीवन नष्ट होता है वह सुर्खी-मायल-पीला रहता है।

(३) **अपर-ओज** :—इसके विषय में यह कहा गया है कि :—

"ओजोवहाः शरीरेऽस्मिन् विधम्यंते समंततः" (च. सू. अ. ३०)। जिस अपर-ओज के कारण शरीरावयव तृप्त होकर प्राणी जीवित रहते हैं। जो धातु-रस का सारभूत पदार्थ (पोषक-द्रव्य—Protein) हैं (प्रायः इसी हेतु धातु-रस को भी "रसश्चौजः संख्यातः" इस तरह ओज कहने की प्रथा-सी पड़ गई) जिसमें प्राणी (सत्त्व, शरीर, आत्मा, अथवा सत्त्व, रज, तम, वायु, अग्नि, सोम और आत्मा) का वास्तव्य रहता है और जिसके बिना प्राणियों का जीवित रहना कठिन है उसको ओजोवहा (धमनियाँ) शरीर में चारों ओर पहुँचाती है। यह अन्न से प्राप्त होता है और इसी को विशुद्ध अवस्था का "ओज" कहते हैं।

ओज के उक्त विवेचन में सामान्यतः तीन कार्यों का उल्लेख है—(१) शरीर को तृप्त करना, (२) प्राणों के संयोग को धारण करना और (३) उस संयोग को बनाये रखना अर्थात् जीवन को कायम रखना। तदनुसार क्षीणौजस पुरुष के लक्षणों के विषय में यह कहा गया है कि—"बिभेति दुर्बलो" (च. सू. अ. १७)। इससे ज्ञात होगा कि ओज का मुख्य कार्य "संबंध विधान" है, चाहे फिर वह अवयवों का हो अथवा प्राणों का। अवयवों के सुसंबद्ध रहने से शरीर में बल रहता है और जब वह संबंध शिथिल हो जाता है तब शरीर दुर्बल होता है। और ये दोनों बातें ओज के अस्तित्व और अभाव पर अवलंबित है।

ओजगत इस धर्म को आयुर्वेद में 'बल' कहते हैं। बल—संज्ञक इस धर्म को आरम्भ में ओज से अभिन्न माना जाता था। अतः कुछ सम्प्रदाय ओज को ही "यत्खल्वोजस्तदेव बलमुच्यते" (सु. सू.)। इस तरह बल शब्द से संबोधित करते थे किन्तु जो संप्रदाय बल के तत्त्वतः पृथक् अस्तित्व का अनुभव करने लगे थे वे इसका अलग ही विवेचन करते थे। उनका कहना था कि "बलेन स्थिरोपचित मांसता सर्वचेष्टास्वप्रतिघातःस्वरवर्ण प्रसादो"—इसी तरह वे बल के व्यापद्, विस्रंसन और क्षय लक्षणों का भी पृथक् ही विवेचन करते थे। "त्रिविधंबलमिति--सहजं, कालजं, युक्तिकृतं च"—ऊष्मा को भी पहिले वर्गीकरण

के समय मल-संज्ञक पित्त से पृथक् माना जाता था। क्योंकि पहिले वर्गीकरण में "ऊष्मा" को अन्न के विविध अंशों तथा शारीर धातुओं में रहने वाला और अंतरग्नि से संधुक्षित होकर अपने-अपने अंशों तथा धातुओं का पाचन करनेवाला "पदार्थ विशेष" सिद्ध किया गया है। इस तरह उस समय पदार्थ अग्नि-संधुक्षित व पाचन-कर्त्ता स्वीकार करते हुए भी अग्नि और मल संज्ञक पित्त दोनों से अलग ही रखा जाता था। कुछ संप्रदाय "ऊष्मा" शब्द का "ताप" के अर्थ में प्रयोग करते थे जैसा कि "मात्रामात्रात्वमूष्मणा" (च. सू. अ. १२) कहा है अतः इस पदार्थ को "तेज" शब्द से भी संबोधित किया जाने लगा—"ओजस्तेजोऽग्नयः प्राणाश्चोक्ता देहाग्नि हेतुकाः" (च. चि. १६)। सुश्रुत सं. में इसको तेज शब्द से ही संबोधित किया है और उसका ओज व बल के सदृश विवेचन किया है (सु. सू. अ. १५)। शरीरगत स्नेहजात को पाश्चात्य Fats अथवा—Lipoids कहते हैं। इसीका एक उत्तम प्रकार Lecithin है। यह रक्त के श्वेत कणों में, अण्डे में और भिन्न-भिन्न शरीररसों में विशेषतः अणु अवयवों के जीवन रस में रहता है। आयुर्वेदांतर्गत उक्त वसाख्य तेज भी इससे अतिरिक्त वस्तु नहीं है। नव्यविज्ञान दृष्ट्या भी यह अग्निगुणात्मक है।

धातुप्रसाद को पहिले वर्गीकरण में पंचेन्द्रियों का द्रव्य कहा गया है और उसके अनेक होना भी स्वीकार किया है। वर्तमान समय के वैज्ञानिकों को इसके "श्वेत" और "धूसर" दो प्रकार उपलब्ध हुए हैं। इन्द्रिय व्यापक स्पर्शनेन्द्रिय अथवा नाड़ीसंस्थान (Nervous System) इनकी बनी हुई है। पंचज्ञानेन्द्रिय, पंचकर्मेन्द्रिय, अतीन्द्रिय, बुद्धीन्द्रिय, इनकी रचना—इन्ही द्रव्यों से है। इस तरह यह धातुप्रसाद, ज्ञान व चेष्टा दोनों का वाहक है। पहिले वर्गीकरण में इसका उल्लेख शारीर प्रसाद धातु में किया है। यह बात है कि ओज़, ऊष्मा (तेज़) और धातुप्रसाद इनके विषय का इतना ज्ञान बहुत समय के अन्वेषण का फल है। अतः पहिले वर्गीकरण वालों को इनके विषय में कितना ज्ञान था वह तो तर्क से ही जानना होगा, किन्तु यह तो स्पष्ट है कि वे इनको जानते थे और इनको वात, पित्त और श्लेष्माओं से अलग रखते थे। पर जो संप्रदाय इनका वात-पित्त-श्लेष्माओं में समन्वय करना चाहते थे और इनकी सिर्फ कुपित अवस्था को ही 'मल' वर्ग में रखना चाहते थे और ओज, तेज, ऊष्माओं को दूसरे वर्गीकरण में। मल-वर्ग में केवल दूषित प्रसाद-वात, पित्त, श्लेष्मा का विधान किया। यहां यह ध्यान में रखना चाहिए कि उस समय श्लेष्म, पित्त और वात इन शब्दों में ओज, तेज व धातु प्रसाद जैसे—सचेतन द्रव्यों का समावेश किये जाने के साथ-साथ उदक, अग्नि और वायवीय द्रव्य (प्राण) जैसे और अचेतन द्रव्यों का भी संग्रह हो गया था। अर्थात् वात, पित्त, श्लेष्मा शब्दों से शरीरगत सचेतन व अचेतन दोनों प्रकार के मूलभूत द्रव्यों को संबोधित किया जाता था—इस तरह वात, पित्त, श्लेष्म शब्द अति-व्यापक हो जाने के कारण उनकी सामान्यतः दो अवस्थाएं स्वीकार की गई। एक प्राकृत (अकुपित) दूसरी वैकृत (कुपित) और तदनुसार उनके कार्यों का भी निर्णय किया गया—"नित्याः प्राणभृतां देहे वातपित्तकफास्त्रयः" (च. सू. अ. १८)। यह त्रिधातु के मूलभूत सिद्धांतों का संक्षेपतः उल्लेख किया है।

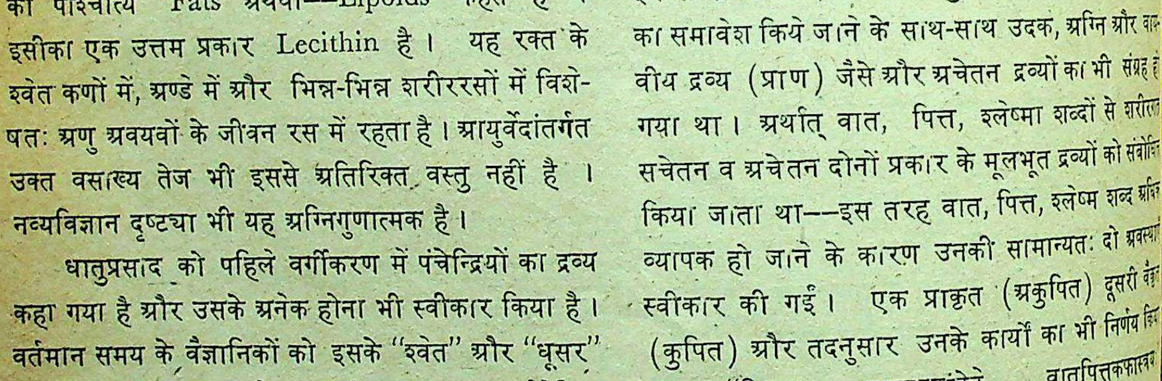
सर्दी, जुकाम- हरारत, इन्फ्लुएंजा की सुप्रसिद्ध महौषधि, जिसे हर घर में हमेशा रहना चाहिए।

बैद्यनाथ
लक्ष्मीविलास रस
(नारदीय)
SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

जामनगर में पाण्डुरोग पर अनुसंधान

क. गौरीलाल चानना, बी. ए., वैद्यवाचस्पति

भारत सरकार की सहायता से जामनगर में एक केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था कुछ वर्षों से कार्य कर रही है। १९५४ में इस संस्था ने पाण्डु रोग को अपने अन्वेषण का विषय निश्चित किया और तदनुसार १-४-५४ से कार्य आरम्भ हुआ। १९५४-५५ और १९५५-५६ इन दो वर्षों में जो अनुसन्धान-कार्य वहाँ हुआ उसका ब्यौरा उक्त संस्था ने एक प्रतिवेदन अर्थात् रिपोर्ट के रूप में प्रकाशित किया। इसमें कई रोचक तथ्य नवीन रूप में वैद्य समाज के सामने आये। पाठकों को इससे अवगत कराने के लिए हम उक्त रिपोर्ट का संक्षिप्त वितरण प्रस्तुत लेख में देंगे तथा अन्त में वैद्य समाज के मनन योग्य कुछ तथ्यों की ओर उनका ध्यान आकृष्ट करेंगे।

अनुसंधान-क्रम

अनुसन्धान-कार्य में उच्च कोटि के वैद्यों के दो समुदाय पृथक्-पृथक् रूप से कार्य कर रहे थे। प्रथम समुदाय ने १९५४-५५ में ४१ और १९५५-५६ में ३६, इस प्रकार दो वर्षों में कुल ७७ रोगियों पर अध्ययन किया। दूसरे समुदाय ने दो वर्षों में १३३ पाण्डुरोगियों और ५० परतन्त्र पाण्डुरोगियों के बारे में अध्ययन किया। परतन्त्र पाण्डुरोगियों से अर्थ उन रोगियों से है जिनमें मूल रोग तो कोई और था पर पाण्डुता उस में प्रधान थी। अनुसन्धान के लिए पाण्डुरोगियों को आयुर्वेदान्वेषण संस्था के साथ लगे अस्पताल में भर्ती किया गया और अस्पताल की ओर से ही उनकी औषध-पथ्य आदि की व्यवस्था की गई तथा उन पर अध्ययन किये गये। उक्त दो वैद्य समुदायों के अतिरिक्त एक तीसरा नव्य चिकित्सकों का समुदाय भी था जो अपनी पद्धति के अनुसार रोगियों का अध्ययन करता रहा। इस समुदाय ने रोगियों की चिकित्सा, पथ्य-व्यवस्था और रोग-निदान आदि में तो कोई हस्तक्षेप नहीं किया पर नव्य विधि से रोगियों का निरीक्षण, रक्त-मल-मूत्र आदि की परीक्षा कर आयुर्वेद चिकित्सा का रोगियों पर क्या प्रभाव हो रहा है, इसका अपने ढंग से अध्ययन करता रहा।

पाण्डु क्या है ? शास्त्रीय विवेचन

पाण्डुरोगियों को अस्पताल में भर्ती करने के लिए यह निश्चित करना आवश्यक था कि पाण्डु किसे माना जाय ? पाण्डु शब्द वर्ण सूचक है। आयुर्वेद-शास्त्रों में इस का प्रयोग ४ अर्थों में हुआ है—१. श्वेत २. धूसर ३. पीताभ ४. म्लान वर्ण अथवा विवर्ण। इस रोग के सम्बन्ध में पाण्डु शब्द से क्या अर्थ लिया जाय इसका विवेचन उक्त रिपोर्ट में बड़े अच्छे ढंग से किया गया है अतः हम उसे यथावत यहाँ उद्धृत करते हैं :—

"भारतवर्ष के निवासियों के त्वचा का प्रकृत वर्ण गौर, गौरावदात श्याम, श्याम, श्यामावदात, कृष्ण आदि पाये जाते हैं। अतः पाण्डु वर्ण के निर्णय के लिए रोगी की त्वचा के उपर्युक्त प्राकृत वर्णों का ध्यान रखना आवश्यक होगा। रोगियों की त्वचा की पाण्डुता अथवा पाण्डु वर्ण रोग-निर्णय में भ्रम तथा अनावस्था उत्पन्न कर सकता है। इस भ्रम से बचने के लिए रोगी के इन अवयवों की पाण्डुता के ज्ञान में उनका प्रकृत वर्ण जो रक्त के कारण रक्त वर्ण के दिखाई पड़ते हैं जैसे नेत्रान्तर्वर्त्म, जिह्वा तथा नख आदि; इस कार्य में अधिक सहायक हो सकते हैं। इन अवयवों के वर्ण रक्त के सूचक होते हैं। अतः रक्ताल्पतावश इन अवयवों में प्राकृत वर्ण (रक्त वर्ण) की हानि हो जाती है। इन अवयवों की पाण्डुता अन्य त्वगादि से भिन्न प्रतीत होगी। त्वगादि की पाण्डुता इन अवयवों के प्राकृत वर्ण के अनुसार ही रहेगी।

पाण्डु रोग में होने वाले रक्त के परिवर्तनों के अनुसार ही नेत्रान्तर्वर्त्म, जिह्वा तथा नखादि के वर्ण होंगे। इनकी पाण्डुता का अर्थ वर्णहानि अर्थात् रक्तता में कमी है। वातज, पित्तज तथा कफज पाण्डु रोग में सम्भव है कि इसकी पाण्डुता दोषों के वर्णानुसार अर्थात् कृष्ण या अरुण पाण्डुता वातज में, पीत या पीताभ, हरित या हरिताभ पाण्डुता पित्तज में, श्वेत या श्वेताभ पाण्डुता कफज पाण्डु रोग में दृष्टिगोचर होंगे। परन्तु यहाँ पर भी इस तथ्य पर ध्यान देना आवश्यक है कि यह दोष परक वर्ण

ही तत्तत् पाण्डु रोग के निर्णय के लिए पर्याप्त नहीं। पाण्डु रोग के निर्णय के लिए पाण्डु रोग के प्रत्यात्म लक्षणों का होना परमावश्यक है। इसके अतिरिक्त निदान, पूर्वरूप, उपशय, अनुपशय तथा सम्प्राप्ति भी रोग-निर्णय में सहायक होते हैं। इन निदानादि के अन्य आवश्यक प्रयोजन हैं जिनका यथास्थल वर्णन होगा।

उपर्युक्त पाण्डु वर्ण के अर्थों पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि पाण्डु के अर्थ को किसी एक वर्ण के अर्थ में सीमित नहीं किया जा सकता। परन्तु पाण्डु में अवश्यम्भावी रक्ताल्पता तथा वर्णक्षय दो निश्चित लक्षणों को प्रकट करते हैं जैसे—वर्णहानि और म्लानवर्णता, यह दो लक्षण पाण्डु रोग के निदान के वर्णपरक आधार हैं। इस प्रतिवेदन में वर्णित पाण्डु रोग का निर्णय इसी आधार पर किया गया है।"

पाण्डुता के अतिरिक्त पाण्डु रोग में धातु शैथिल्य, धातु गौरव, अल्परक्तता, दौर्बल्य, निःसारता, शिथिलेन्द्रियत्व, अल्पमेदस्कता, स्नेहक्षय और वर्णक्षय लक्षण भी पाण्डु रोग के प्रत्यात्मलिङ्ग हैं अर्थात् यह लक्षण प्रायः सभी पाण्डु रोगियों में पाये जाते हैं। कुछ लक्षण जैसे श्रम, श्वास, अङ्गमर्द, मन्दाग्नि, अरुचि, पिण्डिकोद्वेष्टन, ज्वर, भ्रम, अक्षिकूटशोथ, आलस्य आदि सामान्य लिङ्ग हैं। अर्थात् भिन्न-भिन्न रोगियों में इनमें से भिन्न-भिन्न लक्षण मिलते हैं। शास्त्र में पाण्डु रोग के वातज, पित्तज, कफज, सन्निपातज और मृद्भक्षण जन्य यह पाँच भेद कहे हैं। प्रत्येक भेद में उस २ दोष के लक्षण भी साथ होते हैं। मृद्भक्षण जन्य पाण्डु में कृशांगता, शूनाननत्व, शूनाक्षिकूट, अतिसार, उदरकृमि, तन्द्रा, आलस्य, जठराग्नि नाश आदि लक्षण भी विद्यमान होते हैं।

पाण्डु रोग की सम्प्राप्ति

हमारे शास्त्रों में पाण्डु रोग की उत्पत्ति में पित्तदोष को प्रधान कारण माना है। यथा—

दोषाः पित्तप्रधानास्तु यस्य कुप्यन्ति धातुषु
सर्वोऽपि पाण्डुरोगः पित्तजः। च. चि. अ. १६

इस प्रकार पित्त प्रधान कुपित दोष रक्त आदि धातुओं को दूषित कर पाण्डुता एवं पाण्डु रोग के अन्य लक्षणों को जन्म देते हैं। पाण्डु रोग में रक्त प्रधान दूष्य है, इसका स्पष्ट उल्लेख भी चरक, सुश्रुत में आया है। यथा :—

प्रदूष्य रक्तं दोषास्त्वचि पाण्डुरतां नयन्ति।
सु. उ. अ. ४४
दूषयित्वा तु रक्तादीन् पाण्डुरोगाय कल्पते।
च. चि. अ. १६

इन शास्त्रीय प्रमाणों के आधार पर अनुसन्धानकर्ताओं ने इस बात का अध्ययन करना आरम्भ किया कि क्या पाण्डु रोग से पीड़ित प्रत्येक रोगी में पित्त प्रकोप के कारण विद्यमान रहते हैं तथा क्या पित्त प्रकोप से आरम्भ होकर सभी सम्प्राप्ति प्रत्येक रोगी में घटती है? यहाँ आकर दोनों आयुर्वेदीय अनुसन्धान समुदायों में मतभेद हो गया। इस मतभेद का सम्बन्ध चिकित्सा द्वारा प्राप्त परिणामों से भी है अतः पहले हम यहाँ उक्त प्रतिवेदन के चिकित्सा-सम्बन्धी अंश का संक्षिप्त उल्लेख करेंगे।

पाण्डु-चिकित्सा

यद्यपि रोग-निदान में दोनों आयुर्वेदीय समुदाय में मतभेद था परन्तु नव्य चिकित्सक समुदाय के परीक्षणों से ज्ञात हुआ कि प्रत्येक रोगी में अनीमिया (Anemia) अर्थात् रक्ताल्पता के लक्षण विद्यमान हैं। रक्त-परीक्षण से प्रत्येक रोगी में रक्ताणुओं और शोणवर्तुलीन (हीमोग्लोबीन) की कमी पाई गई। अतः चिकित्सा में प्रधानतः लौह योगों के प्रयोग पर सहमति हो गई। एतदर्थ निम्नलिखित आयुर्वेदीय लौह यौगिकों का प्रयोग किया गया।

१. भावित लौह (वैद्य श्री यादवजी त्रिकमजी आचार्य)
२. लौह भस्म (आयुर्वेद प्रकाश)
३. मण्डूर भस्म (रस कामधेनु)
४. शुद्ध कासीस (आयुर्वेद प्रकाश)
५. गोदन्ती कासीस (रसामृत)
६. नवायस चूर्ण (चरक)
७. योगराज रस (चरक)
८. पुनर्नवा मण्डूर (चरक)
९. आरोग्यवर्द्धनी (रस रत्नसमुच्चय)
१०. ताप्यादि लौह (सिद्ध योग संग्रह)
११. लोहासव
१२. कुमार्यासव

उपरोक्त औषधियों पर अनुभव लेने के बाद यह निष्कर्ष प्रायः सर्वसम्मत रूप से निकला कि लौह योगों में शुद्ध कासीस और पुनर्नवा मण्डूर सर्वाधिक प्रभावशाली सिद्ध हुए। शुद्ध कासीस के प्रयोग से कुछ वान्ति, भ्रान्ति, कण्ठदाह आदि उपद्रव होते देखे गये परन्तु पुनर्नवा मण्डूर सर्वथा निरापद औषध सिद्ध हुई। शुद्ध कासीस की मात्रा १२ रत्ती प्रतिदिन तथा पुनर्नवा मण्डूर की १ तोला प्रतिदिन रखी गई। लगभग १–२ मास तक सेवन कराने से वांछित लाभ दिखाई दिया। नव्यचिकित्सक समुदाय ने भी यही मत व्यक्त किया कि उक्त दोनों यौगिक पाण्डु रोग में लगभग उतने ही प्रभावकारी सिद्ध हुए हैं जितने कि नव्य-चिकित्सा में प्रयुक्त होने वाले लोह योग लाभकारी सिद्ध हो रहे हैं।

चिकित्सा काल में औषधि-प्रभाव जानने के लिए नव्य-चिकित्सक समुदाय समय-समय पर रोगियों की रक्ताणुसंख्या की गणना (Blood Count) और शोण वर्तुलीनानुपात (Haemoglobin Ratio) का परीक्षण करते रहे। आयुर्वेद शास्त्रों में पाण्डु रोग के चिकित्सा क्रम के आरम्भ में स्नेहन एवं शोधन का उल्लेख किया है। तदनुसार कुछ रोगियों में इन प्रक्रियाओं का प्रयोग किया गया, कुछ पर नहीं। आयुर्वेदीय चिकित्सकों के मत में जिन रोगियों का स्नेहन-शोधन किया गया उन का कोष्ठ मृदु होकर अग्नि विशेष रूप से दीप्त हुई परन्तु नव्य-चिकित्सक वर्ग निरीक्षण से इस परिणाम पर पहुँचे कि रोग-मुक्ति की प्रगति दोनों प्रकार के रोगियों में समान ही रही। अर्थात् दोनों में रक्ताणु और शोणवर्तुलीन वृद्धि का क्रम समान रूप में रहा और रुग्ण स्थिति के सुधार में कोई अन्तर नहीं आया। स्नेहनार्थ रोगियों को आवश्यकतानुसार पञ्चतिक्तघृत, पञ्चगव्यघृत और अश्वगन्धाघृत का प्रयोग किया गया। विरेचनार्थ त्रिवृत्त चूर्ण और हरीतकी चूर्ण का प्रयोग किया गया।

दोनों आयुर्वेदान्वेषी समुदायों में मतभेद

आरम्भ में तो सभी पाण्डुरोगियों के रोग-निदान में सहमति रही। परन्तु कुछ समय बाद एक समुदाय ने इसमें विभिन्न मत प्रकट किया। उनका कहना था कि जिन रोगियों को पाण्डु रोग से पीड़ित समझा जा रहा है वह वास्तव में धातुक्षय विशेषतः रक्तधातुक्षीणता के रोगी हैं। अपने पक्ष के पोषण में उन्होंने जो युक्तियाँ दीं उनमें मुख्य-मुख्य युक्तियाँ निम्नलिखित हैं।

(१) आतुरालय में आये किसी भी रोगी में पित्त के आरम्भक दोष होने का प्रमाण नहीं मिला जब कि चरक में 'सर्वोऽपि पाण्डु रोगः पित्तजः' (च. चि. अ. १६) ऐसा स्पष्ट आदेश है। धातुक्षय में वात-दोष कारण रूप होता है और उक्त लगभग सभी रोगियों में वात प्रकोप से रोगारम्भ होने के प्रमाण मिले।

(२) पाण्डु रोग में वातजादि भेदों में कृष्णता और कृष्ण-पाण्डुता आदि जो प्रत्यात्मलिंग कहे हैं, वह किसी भी रोगी में देखने को नहीं मिले। जबकि धातुक्षय का मुख्य भेदक लक्षण वर्णक्षय प्रायः सभी रोगियों में देखने को मिला।

(३) चरक ने पाण्डु रोग की गणना संतर्पणजन्य रोगों में की है। यथा—

रोगाःसंतर्पणोत्थिताः.........
प्लीहा पाण्ड्वामय शोफो मूत्रकृच्छ्रमरोचकाः ॥
च. सू. अ. २३

इसकी चिकित्सा में चरक ने निर्देश किया है :—
'उक्तं सन्तर्पणोत्थानामपतर्पणमौषधम्'
च. सू. अ. २३

अर्थात् उक्त सन्तर्पण जन्य रोगों की चिकित्सा अपतर्पण अर्थात् लंघनादि सन्तर्पणनाशक उपचार हैं।

चरक और सुश्रुत दोनों ने पाण्डु रोग को रस प्रदोष रोग माना है।

पाण्डुत्वं स्रोतसांरोधः पलितानि च रसप्रदोषजा रोगाः ॥
च. सू. अ. २३
तत्र पाण्डु रोग पलित दर्शन प्रभृतयो रसप्रदोषजा रोगाः ॥
सु. सू. अ. २४

रस प्रदोषज रोगों की चिकित्सा के लिए चरक का निर्देश इस प्रकार है:—

'रसजानां विकाराणां सर्वं लङ्घनमौषधम्'
च. सू. अ. २८

अर्थात् समस्त रसज विकारों की औषधि लङ्घन है।

परन्तु अनुसन्धानशाला के अस्पताल में किसी भी रोगी पर अपतर्पण अथवा लङ्घन-चिकित्सा प्रयुक्त नहीं

की गई। इसके विपरित सभी को पौष्टिक आहार, पूर्ण विश्राम आदि सन्तर्पक आहार-विहार का सेवन कराया गया और इससे निश्चित रूप से रोगियों को लाभ भी हुआ। इसी आधार पर एक अन्वेषक समुदाय ने इन रोगियों को पाण्डु रोगी न मान कर धातुक्षय का रोगी माना। उनका कथन था कि धातु-क्षय रोग की गणना शास्त्र में अपतर्पण जन्य रोगों में हुई है, इसीलिये सन्तर्पण-चिकित्सा से रोगियों को लाभ होता है। दूसरे रोगियों के इतिवृत्त से यह भी ज्ञात हुआ कि प्रायः सभी रोगी निम्न मध्यम वर्ग से सम्बन्ध रखते थे। जिनके जीवन में उचित पोषक आहार एवं समुचित विश्राम का अभाव था यह पूर्व वृत्त भी धातु-क्षय का ही सूचक है।

इस अनुसन्धान के सम्बन्ध में कुछ विचारणीय बातें

केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था के विचाराधीन प्रतिवेदन में जो सामाग्री और आंकड़े प्रकाशित किये गये हैं उन से प्रतीत होता है कि उक्त संस्था में यह कार्य बड़े व्यापक, विस्तृत एवं व्यवस्थित ढंग से किया जा रहा है। यद्यपि अनुसन्धान-कार्य के लिए दो वर्ष कोई अधिक समय नहीं फिर भी जो कार्य हुआ है, उसका मूल्याङ्कन निष्पक्ष भाव से करना चाहिये। उपरोक्त विवरण में आपने देखा कि अब तक क्या हुआ, दो वर्ष के अनुसन्धान से हमें क्या नई बात ज्ञात हुई? जो पहले ज्ञात नहीं थी। आइये, इस पर जरा विचार करें।

१. हमारे शास्त्रों में पाण्डु को सन्तर्पण जन्य रोग कहा है, परन्तु हमारी अनुसन्धान संस्था में किसी भी रोगी को अपतर्पक आहार नहीं दिया गया, प्रत्युत सन्तर्पक आहार, दिया गया और उसी से रोगियों को लाभ भी हुआ। यह देखकर दो अनुसन्धान समुदायों में से एक ने इसे पाण्डु रोग न कहकर धातुक्षय रोग का नाम दिया। रोगियों के इतिवृत्त से भी इस रोग को अपतर्पण जन्य पाया गया। इस प्रकार इस अनुसन्धान में पाण्डूत्पादक उपरोक्त शास्त्रोक्त कारण की सत्यता सिद्ध नहीं हो सकी।

२. आयुर्वेद-शास्त्रों में पाण्डु की चिकित्सा में सर्व प्रथम स्नेहन और शोधन का वर्णन है। उपरोक्त अनुसन्धान से ज्ञात हुआ कि इन क्रियाओं का पाण्डु रोगी में मूल रोग से स्वास्थ्य लाभ पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता।

३. पाण्डु रोग के उपचार में मण्डूर का उल्लेख हमारे शास्त्रों में है परन्तु आर्षग्रन्थों में कासीस का उ पाण्डुरोग के लिए नहीं है। कुछ नव्य आयुर्वेद ग्रन्थों अवश्य इसका उल्लेख पाण्डु रोग में मिलता है। वर्त अनुसन्धान में पाण्डु रोग नाशक में प्राचीन ग्रन्थों में का के गुण इस प्रकार लिखे हैं :--

> पुष्पाभिधं च कासीसं प्रसिद्धं नेत्ररोगहृत्,
> सोष्णवीर्यं कषायाम्लं विषघ्नं श्लेष्मनाशनम्।
> व्रणहृत् क्षयरोगघ्नं पटरंजनकं परम्॥
>
> (रस प्रकाश सुधाकर अ.

यहाँ कासीस को क्षयरोग नाशक तो माना है पर न तो पाण्डु रोग ही लिखा है न ही पाण्डु के मूलशास्त्रो दोष-पित्त का नाशक। प्रत्युत इसे उष्णवीर्य माना फिर भी कासीस और पुननर्वा मण्डूर दोनों को समान से प्रभावकारी पाया गया। वास्तव में यही एक शास्त्रीय है जिसकी पुष्टि इस दो वर्ष के अनुसन्धान में हुई। परन्तु इतना मात्र पर्याप्त है? अनुसन्धान का वास्तविक लाभ तब है जब यह घोषणा कर दी जाय कि यदि कोई शास्त्र कथन अनुसन्धान से सत्य सिद्ध हुआ तो पाठ्य ग्रन्थों में यथेष्ट संशोधन कर दिया जायेगा। यदि ऐसा नहीं जायगा तो यह सारा परिश्रम व्यर्थ जायगा। पर ऐसा होनेवाला है, यह अनुसन्धानकर्ताओं एवं आयुर्वेद मान्य विद्वानों के विचारने की बात है।

४. इस अनुसन्धान में एक अन्वेषक समुदाय ने १३३ पाण्डु रोगियों पर अध्ययन किया उनमें से १३२ थीं और उनमें भी अधिकांश २१ से ४० वर्ष के बीच की की। क्या दोष-प्रकोप केवल स्त्रियों में ही होता है अथवा स्त्रियों में पाण्डु होने का दोषप्रकोप से भिन्न और कारण है? इस आयुमें स्त्रियाँ सन्तानों को जन्म देती वास्तव में प्रायः भारतीय घरानों में स्त्रियों को पुरुषों उत्तम आहार भी नहीं मिलता जिससे उनकी पोषण आवश्यकता भी बढ़ी रहती है और रक्त-स्राव होने की वना भी अधिक रहती है। तो इस अवस्था में क्या रोग का सम्बन्ध दोषों से माना जाय अथवा पोषण व रक्त क्षय से? यदि दोषों से माना जाय तो एक में रहने वाले स्त्री-पुरुषों में पाण्डु-सम्बन्धी दोष केवल में क्यों प्रकुपित होते हैं इसका कोई कारण तो चाहिये?

५. हमारे यहाँ कामला को भी पाण्डु रोग की अवस्था-विशेष अथवा उसका एक भेद माना है। कहा है कि यदि कोई पाण्डु रोगी और अधिक पित्तवर्धक पदार्थों का सेवन करे तो उसे कामला हो जाता है। अतः कामला में पाण्डु चिकित्सा से ही लाभ होगा अथवा अन्य विशिष्ट उपचार करने पड़ेंगे ? उक्त अनुसन्धान संस्था ने अभी तक कामला के विषय को स्पर्श नहीं किया अतः इसके सम्बन्ध में अधिक कुछ न कह कर हम केवल इतना ही कहेंगे कि यह सर्वविदित है कि कामला रोग पाण्डु से पृथक् एक स्वतन्त्र रोग है इसका सम्बन्ध मुख्यतः यकृत् में विद्यमान पित्ताशय से है, हां रक्ताणुनाशक जन्य कामला (Haemolytic jaundice) में रक्ताणुनाशक के कारण पाण्डु भी साथ हो जायगा। ऐसी दशा में कामला की चिकित्सा में पाण्डु रोग की चिकित्सा-पद्धति लाभकारी सिद्ध न होगी। देखें भविष्य के अनुसन्धान द्वारा इस समस्या का क्या समाधान निकलता है।

जहाँ हमें दो वर्ष के अनुसन्धान के बाद केवल यह ज्ञात हुआ है कि पाण्डु रोग में शुद्ध कासीस और पुनर्नवा मण्डूर से लाभ होता है वहां नव्य चिकित्सा विज्ञान को इस विषय में कितनी जानकारी है उसका दिग्दर्शन मात्र हम यहां पाठकों को देना चाहते हैं।

पाण्डु के सम्बन्ध में नव्य-चिकित्सा-विज्ञान की जानकारी

शरीर में रक्त की उत्पत्ति के लिये लोह, ताम्र, खाद्योजांश सी और अम्लजन आदि मुख्य रूप से इन द्रव्यों का विद्यमान रहना आवश्यक है। यह हमें आहार द्वारा मिलते हैं शरीर के भीतर रक्त का निर्माण अस्थिमज्जा के भीतर होता है। अस्थिमज्जा में रक्त-निर्माण को उत्प्रेरित करने के लिये शरीर में एक प्रतिपाण्डु-तत्त्व (Anti anemic factor) की उत्पति होती है। आहार में विद्यमान एक सूक्ष्म अंश जिसे बहिः तत्त्व (Extrinsic factor) का नाम दिया गया है तथा आमाशय के अम्लरस में विद्यमान अन्तःतत्त्व (Intrinsic factor) इन दोनों के परस्पर सहयोग से प्रति पाण्डु तत्त्व उत्पन्न होता है। हाल ही की खोजों द्वारा बहिःतत्त्व की रचना को जान लिया गया है और ज्ञात हुआ है कि यह पदार्थ खाद्योजांश वी$_{१२}$ (Vitamin) है। यह भी ज्ञात हो गया है कि आमाशय रस का अन्तःतत्त्व इस बाह्यतत्त्व अर्थात बी$_{१२}$ के शोषण में सहायता देता है। खाद्योजांश बी$_{१२}$ के अभाव में रक्त-निर्माण करने वाले सभी पदार्थों के विद्यमान रहते भी शरीर में रक्त-निर्माण भलीभाँति नहीं हो पाता। रक्त में शोणवर्तुलीन (Haemoglobin) नामक पदार्थ के कारण ही उसमें लाली आती है। यह शोण वर्तुलीन लोह और अम्लजन के संयोग से बनती है। इसमें रंजक भाग केवल लोह से ही बनता है।

नव्य-विज्ञान में पाण्डु रोग के मुख्यतः तीन भेद माने जाते हैं। १. लोह-न्यूनता से, २. प्रतिपाण्डुतत्त्व-न्यूनता से, ३. अस्थि-मज्जा-विकृति से।

लोह-न्यूनता से होने वाले पाण्डु रोग में रक्त की लालिमा कम हो जाती है इससे मुख्यतः लोह के ही योग सेवन कराते हैं। पहले तो नव्य-चिकित्सक कासीस (Ferrous sulphate) का ही सेवन कराते थे परन्तु अब खाद्योजांश बी$_{१}$, खाद्योजांश सी और किञ्चित मात्र ताम्र भी उसमें मिलाते हैं क्योंकि ताम्र की विद्यमानता में लोह से रक्त-निर्माण शीघ्र होता है। तथा कासीस की वान्ति-भ्रान्ति नष्ट करने के लिये उसके भिन्नप्रकार के यौगिक बनने लगे हैं, अभी-अभी लोह श्लिष्टीन निम्बूकेत (Iron cholinecitrate) यौगिक बाजार में आया है जो बहुत उपयोगी एवं निरापद सिद्ध हो रहा है। क्या शास्त्रोक्त लोह योगों से अधिक प्रभावशाली एवं निरापद लोह योग की खोज का विषय हमारे अनुसन्धान कार्यक्रम में सम्मिलित किया जा सकता है ?

प्रति पाण्डु-तत्त्व न्यूनता जन्य पाण्डु रोग को घातक पाण्डु (Pernicious anemia) कहते हैं। इस रोग के रोगियों में प्रायः लोह की कमी नहीं होती; न लोह-सेवन से यह ठीक होता है। इस रोग में यकृत सत्त्व (Liver extract) और खाद्योजांश वी$_{१२}$ का सेवन कराने से लाभ होता है। मुख एवं सूचीभरण द्वारा इनका सेवन कराया जाता है। ऐसा मालूम होता है कि प्रस्तुत अनुसन्धान काल में घातक पाण्डु से पीड़ित कोई रोगी अस्पताल में भर्ती नहीं हुआ। यदि लोह योगों से ठीक न होने वाला ऐसा कोई पाण्डु रोगी भविष्य में उक्त अस्पताल में पहुँचा तो हमारे अनुसन्धानकर्त्ता कौन से आयुर्वेदीय शास्त्रोक्त सिद्धान्त के अनुसार उसकी चिकित्सा का उपक्रम करेंगे, यह भी समय आने पर देखने वाली बात है। वास्तव में

चाहिये तो यह कि घातक पाण्डु के रोगी तलाश कर के उन पर अनुसन्धान किया जाय कि इसमें आयुर्वेदोक्त पाण्डु चिकित्सा का क्या प्रभाव पड़ता है?

अस्थिमज्जा-विकार से मज्जा कोशायें वसाभिभूत हो कर जब निष्क्रिय हो जाती हैं तो उनके द्वारा रक्त-निर्माण में बाधा आने लगती है, ऐसी अवस्था में मज्जा विकृति के मूल कारण की खोज कर उसे दूर करने का प्रयत्न किया जाता है। जब तक वह कारण ज्ञात नहीं होता अथवा दूर नहीं होता तबतक रक्त-प्रवेश (Blood Transfusion) द्वारा रोगी का प्राण-रक्षा का उपक्रम किया जाता है। यह अति दुःसाध्य पाण्डु रोग है। इसे नव्य-विज्ञान में रक्तनिर्माणावरोध (Aplastic anemia) कहते हैं। ऐसे किसी रोगी का उल्लेख भी हमारे प्रस्तुत अनुसन्धान प्रतिवेदन में नहीं है। यदि भविष्य में हमारे अनुसन्धानकर्त्ता इस सम्बन्ध में कोई नई जानकारी दे सकें तो वैद्य ही क्या समस्त चिकित्सक समुदाय बड़ी कृतज्ञता से उसे ग्रहण करेगा।

इसी प्रकार अर्श, उरः क्षत, अभिघात आदि कारणों से अत्यधिक रक्त-स्राव होने पर जो पाण्डु रोग हो जाता है, उसमें मूल रोग की चिकित्सा मुख्य उपाय है—इस प्रकार के पाण्डु में औषधि रूप में लोह योगों का ही सेवन करते परन्तु यदि रक्त-स्राव एकाएक अधिक मात्रा में हो जा जीवन संकट में पड़ जाता है। ऐसी अवस्था में र प्रवेश द्वारा ही रोगी की प्राण-रक्षा हो सकती है। ह चिकित्सा-पद्धति में संकटकालीन उपचार की कमी बात से स्पष्ट है कि केन्द्रीय अनुसन्धान संस्था जैसे स्थान अनुसन्धानार्थ आतुरालय में प्रविष्ट हुए रोगियों को वि रोगों के संकटकालीन उपचार के लिए नव्य चिकि की देखरेख में दे देना उचित समझा गया। अतः इस वि में अनुसन्धान की बहुत अधिक गुंजायश है।

पाण्डु रोग सम्बन्धी हमारे वर्तमान अनुसन्धान नव्य चिकित्सा-पद्धति में तत् सम्बन्धी विदित जान संक्षिप्त रूप से अब पाठकों के सम्मुख हैं। इस अवस्था हमारे हो रहे अनुसन्धान के क्रम व दिशा में किसी सु की गुंजायश है? इसका निर्णय हम स्वयं अनुसन्ध कर्त्ताओं और विज्ञ वैद्यों पर छोड़ते हैं और आशा करते कि अनुसन्धान संस्था के आगामी प्रतिवेदन में उप तथा ऐसे ही अन्य विषयों पर अधिक प्रकाश जायगा।

(आ. वि. सं

वैद्यनाथ बंग भस्म

असंयम से पैदा होनेवाले रोगों तथा दुर्बलता का दूर कर शरीर को ताकत देती है। विशेष जानकारी के लिए वैद्य से सलाह लें।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

GURUKULA KANGRI LIBRARY HARDWAR

मैन्मिन्य[1] (Cretinism)

डा० अनन्तराम शर्मा, डी० आई० एम० एस०

मूकं मिन्मिनमेव च——सु० शा० २-५३

यह बालकों में पाया जानेवाला विकार है जिसका कारण चुल्लिकाग्रन्थि की नितान्त निष्क्रियता है । यह दो प्रकार का होता है——(क) वैयक्तिक[2] और (ख) जानपदिक[3] । वैयक्तिक प्रकार कम पाया जाता है, किन्तु जानपदिक अतिसाधारण है । ये दोनों भेद सब दृष्टियों से एक समान होते हैं । उन प्रदेशों में जहाँ गलगण्ड जानपदिक है वहाँ इसके साथ मैन्मिन्य भी पाया जाता है । जावा के ज्वालामुखी प्रदेशों में हजारों की संख्या में मैन्मिन्य पीड़ित व्यक्ति पाए जाते हैं । यहाँ तक कि पालतू और वन्य पशु भी इस रोग से पीड़ित हैं ।

पाश्चात्य देशों में यह विकार वैयक्तिक रूप में पाया जाता है और स्वस्थ परिवारों में देखा जाता है । किन्तु, मिन्मिनक[4] के माता-पिता और उसके सहोदरों में चुल्लिका का कोई विकार नहीं होता ।

भ्रूण अपने ही चुल्लिका के अन्तःस्राव[5] पर निर्भर करता है । यदि भ्रूण-चुल्लिका निष्क्रिय है तो उसके शरीर का विकास सर्वांगीण नहीं होता । गर्भाशयान्तरीय[6] अचुल्लिकता का प्रमाण ऊर्वस्थि की अधः प्रान्तास्थि[7] का नवम मास में भी अनुपस्थित होना है । इसका ज्ञान क्ष-किरण-परीक्षण द्वारा होता है ।

जीवन के प्रारम्भिक कुछ महीनों में जब कि इस रोग का निर्णय चिकित्सा की दृष्टि से नितान्त आवश्यक होता है, यह बिना ध्यान दिये ही रह जाता है । इस समय के महत्त्वपूर्ण लक्षण शिशु की जिह्वा का हर समय दीखते रहना, उसकी अनवधान प्रकृति, विबन्धयुक्तता और ऊपर का कुम्भाकार होना है जिसमें नाभि-हर्नियाँ भी उपस्थित होता है । ऐसा शिशु क्रन्दन कभी-कभी ही करता है और अपने आहार के प्रति अनिच्छुक होता है । चेहरा पीला, स्थूल और कुछ-कुछ झुर्रीदार होता है । उसकी त्वचा शुष्क और शीत होती है । सुप्तावस्था में यह खर्राटे लेता है । परीक्षण करने पर बालक के हाथ मोटे और छोटे प्रतीत होते हैं । उसका ब्रह्मतालु[1] काफी विस्तृत होता है । ताप अल्पप्राकृत[2] होता है । इस रोग के वैयक्तिक भेदों में यह महत्त्वपूर्ण है कि श्वसनिका[3] की मुद्रिकाएँ आसानी से स्पर्श की जा सकती हैं । क्ष-किरण-परीक्षण द्वारा वक्ष की बारहवीं और कटि की प्रथम तथा द्वितीय कशेरुकाओं के वृद्धिशील-ह्रास का पता चलता है । शिशु को बिठाने पर उसकी सुषुम्ना का उभार अधिक होता है ।

युवकों तथा वयस्कों में मैन्मिन्य स्पष्ट होता है । रोगी वामन[4], त्वचा रूखी, झुर्रीदार और स्थूल होती है । ऊर्ध्व अक्षकीय भाग पर प्रायः वसामय गद्दियाँ होती हैं । मिन्मिनक का बौद्धिक स्तर प्रायः अधः प्राकृत होता है ।

मिन्मिनक का शव-परीक्षण करने पर पोषणक-खात[5] प्रायः बड़ा होता है । तान्तविक[6] अध्ययन से पोषणक-पूर्वार्ध[7] की अत्यधिक क्रियाशीलता का पता चलता है ।

आयुर्वेदीय संहिता ग्रन्थों में शिशुओं में पाए जानेवाले इस तरह के विकारों का उल्लेख उस प्रसंग में किया गया गया है जहाँ अल्पायु और दीर्घायु शिशुओं के लक्षणों का वर्णन है । चरक ने दीर्घायु शिशु की आयाम-विस्तारयुक्त, प्रकृत वर्णवाली, श्लक्ष्ण और पतली बताई है (आयाम-विस्तारोपपन्ना, श्लक्ष्ण, तन्वी प्रकृत वर्णयुक्ता जिह्वा——च०) । ग्रीवा गोल किन्तु भारी होती है (वृत्तानाति महती ग्रीवा——च०) शब्द, गम्भीर, धीर और अनुनादी होता है (महानदीनः स्निग्धोऽनुनादी गम्भीर समुत्थो धीरः स्वरः——च०) हाथ-पैर सुडौल होते हैं । इससे विपरीत लक्षण अल्पायु शिशु के बताए गये हैं । इस तरह के लक्षणों का काश्यप संहिता में विस्तार से उल्लेख है ।

---

1. Cretinism. 2. Sporadic. 3. Endemic. 4,Cretin. 5. Hormone(Thyroxine).6. Intra uterine athyroidism. 7 Ephohyses.

1. Anterior frontanelle. 2 Sub-normal. 3. Trachea. 4 Dwarf. 5 Pituitary fossab. 6. Histological [illegible] 7 Anterior pituitary

चिकित्सा—"क्षीणा वर्धयितव्याः" के चरकोक्त सिद्धान्त के अनुसार इस रोग की एक मात्र चिकित्सा "शुष्कचुल्लिका" का प्रयोग है। दो मास के शिशु के लिये इसे १/१० ग्रेन की मात्रा में प्रतिदिन दिया जाता है। यह मात्रा शनैः-शनैः बढ़ाई जाती है। अधिकांश मिन्मिनक शिशुओं के लिये जिनकी आयु दो वर्ष से कम है, १ से २ ग्रेन की मात्रा आवश्यक होती है। तीन ग्रेन से अधिक दैनिक मात्रा प्रायः नहीं दी जाती है, किन्तु किन्हीं शिशुओं में चुल्लिकता[1] प्राप्त करने के लिये इससे भी अधिक मात्रा में शु चुल्लिका देते हैं। बारह वर्ष की आयु तक यही मा दी जाती है, उसके बाद दो-तीन ग्रेन की मात्रा आ देनी होती है। जीवन के प्रथम वर्ष में यदि यह चिकि की जाय तो परिणाम अनुकूल होते हैं। जितने विलम्ब यह औषध-प्रयोग किया जावेगा परिणाम उतने ही प्रति होंगे विशेषकर बौद्धिक विकास सम्बन्धी। रोगी जीवन भर शुष्क चुल्लिका को उचित मात्रा में प्रति लेते रहना आवश्यक है।

प्राध्यापक—ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज
हरद्वार

---

[1] Euthyroidism

शरीर को स्वस्थ एवं बलवान बनाये रखने के लिये

बैद्यनाथ रस-रसायनों

का सेवन करें।

बैद्यनाथ-औषधियाँ अपनी गुणकारिता एवं सर्वाङ्ग पूर्णता के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि॰
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

मधुमेह और उसकी चिकित्सा

वैद्य रघुनन्दन मिश्र, आयुर्वेदाचार्य

मनुष्य जीवन में मधुमेह काष्ठ के घुन की तरह प्रवेश करता है, और अपने प्रबल प्रभाव से मनुष्य को जीते-जी मुर्दा बना देता है, जिसके लिये सारा जीवन सूना-सूना श्मशानवत् प्रतीत होता रहता है, अतएव यह मनुष्य जीवन का अभिशाप बन जाता है। आज का भारत मधुमेहियों से भरा पड़ा है, जब कि एक समय था, इस रोग का नाम तक लोगों की जुबान पर नहीं था और आज युवा, युवती, वृद्ध, वृद्धा, या छोटे बच्चे या किशोर सभी को मधुमेह हो रहा है, इस पर हमें ध्यान देना चाहिये और सोचना चाहिये कि ऐसा क्यों?

कारण स्पष्ट है, आज के युग में, हमारा रहन-सहन सुन्दर-सुखकर नहीं है, चित्तवृत्ति शांत नहीं है, जिसे हम अच्छा कह करके अपनाते हैं, वही हमारे लिये विषधर सर्प-सा प्रतीत होने लगता है, आज कल चाय की अधिक प्रवृत्ति है, लोगों में इसको तो ऐसा पेय बना लिया गया है कि जब पाया एक कप पी लिया, खाये हो, भूखे हो या चार रोज का उपवास हो चाय अवश्य चाहिये, सिनेमा अवश्य देखना चाहिये, खान-पान का और विशेष कोई मना या परहेज नहीं, जहाँ जैसा मिला उस तरह भोजन किया, जल पिया, यह जीवन के लिये हानिप्रद हैं, कारण, मनोवृत्ति चंचल होने से सारी इन्द्रियाँ, रसवाहिनियाँ, स्नायुमण्डल आदि चंचल हो जाते हैं, जिससे मानसिक अवस्था खराब होने पर शारीरिक अवस्थायें भी दुर्बल होने लगती हैं, इससे अधिक पेशाब होना और कब्जियत की शिकायत शीघ्र ही शरीर में घर बना लेती है। इसलिये इन कारणों को छोड़ कर अपना व्यवस्थित जीवन बितावें तो यह भयंकर रोग हम लोगों में घर ही क्यों बनावे?

कारण

मद्य, मांस, नये अन्न, (गेहूँ, चना, उड़द, चावल, मूंग, मकई आदि) फल, फूलों का रस, अधिक मीठा भोजन, चीनी, गुड़, दधि, नूतन मधु, घी, तैल, अधिक परिश्रम, परिश्रम का अभाव, सूर्य का ताप, शोक, [illegible] खटाई, बासी, अधिक मैथुन, मनमाना स्वादिष्ट भोजन, दिन में शयन, मन की चंचलता और शर्करायुक्त अधिक भोजन, एवं उपर्युक्त वस्तुओं का अधिक सेवन से मधुमेह उत्पन्न होता है।

लक्षण

अधिक प्यास, हाथ-पैर में झनझनाहट, थकावट, भूख की कमी, शिर का भारी होना, पेशाब में चीटियों का लगना, पेशाब में जलन, नींद की कमी, शोक, चिन्ता, अधिक मिष्ट-वस्तुओं की इच्छा, इन्द्रियों की चंचलता, शक्ति का सर्वथा ह्रास, प्रथम पैर में व्रण, पश्चात् सर्वांग व्रण, व्रण होने पर शीघ्र न भरना या अच्छा होना आदि लक्षण मधुमेह में पाये जाते हैं। किसी-किसी मधुमेही को अधिक सर्दी, खाँसी, और ज्वर तथा सर्वांग विस्फोट भी देखा गया है और किसी को रक्तचाप की वृद्धि एवं कोष्ठ-काठिन्य अधिक रूपेण होता है।

चिकित्सा

कारण में स्पष्ट की हुई वस्तुओं का सर्वथा त्याग, प्रातः-सायं खुली हवा में टहलना, जौ, चना बराबर भाग, अथवा चना, गेहूँ बराबर भाग को पीस कर रोटी खाना, बथुये का शाक खाना, पपीता का शाक, उबाला हुआ करैला, कचरी, गिलोय की पत्ती का शाक, थोड़ा दूध, चने की दाल, आँवला की चटनी, भीगोया हुआ चना और धान के लावा पथ्यकर एवं उपयोगी है।

औषधि

(१) बसन्तकुसुमाकर—१-१ गोली, प्रातः-सायं

अनुपान—बेलपत्र का रस

विधि—भाँग पीसने की तरह सिल पर अच्छी तरह १० बेलपत्र पीस लेना चाहिये, और पीसा हुआ बेलपत्र को उंठा उठाकर कटोरी में रख लें, तदन्तर बसन्तकुसुमाकर रस १ गोली पुराना मधु में खरल करके खा लें, ऊपर से बेलपत्र का रस पीसा हुआ पी जायें, इसी तरह से दोनों शाम सेवन करना चाहिये।

गुण––इससे किसी भी तरह का बढ़ा हुआ मधुमेह शान्त हो जाता है और रोगी को नवजीवन प्रदान करता है।

(२) रससिन्दूर षड़गुण	३ माशा
कपूर	१ माशा
कचूर चूर्ण	३ माशा
गुड़मार बूटी चूर्ण	३ माशा
बेलपत्र चूर्ण	३ माशा
निम्ब-छाल-फूल चूर्ण	३-३ माशा
वंग भस्म	३ माशा
चाँदी भस्म	३ माशा
काली मिरच चूर्ण	३ माशा

विधि––सभी औषधिओं को एक खरल में डाल कर दो घण्टे तक सूखा हुआ खरल करें, पश्चात् भृंगराज, गुड़मार, बेलपत्र, निम्ब-छाल-क्वाथ, बबूल छाल क्वाथ, जामुन छाल-क्वाथ, एवं जामुन पत्र-स्वरस की भावना एक-एक बार प्रत्येक दे-दे कर धूप में नित्य सुखा लेना चाहिये, जब सभी भावनायें पूर्ण हो जायें तब अच्छी तरह खरल में पीस कर धूप में सुखा कर शीशी में रख लेनी चाहिये, एक दिन में तीन बार मधु से खिलाना चाहिये।

गुण––सभी तरह के प्रमेह, मधुमेह और कमजोरियों को नष्ट करके रोगी को स्वस्थ बनाता है।

मधुमेहान्तकार्क

मोथा, महुआ-छाल, असगन्ध, सुगन्धबाला, बेलकपंचांग, जटामांसी, गुड़मार, काली मरिच, अपामार्ग पंचांग, तेजपात, बबूल का पंचांग, बड़ी हर्रे, जामुन का पंचांग, धनियाँ, अजवाइन, आँवला, निम्ब का पंचांग––प्रत्येक ३-३ तोला ले चाहिये।

विधि––इन सभी औषधियों को दरदरा कूट चतुर्गुण जल में १२ घण्टे तक भीगने के लिये छोड़ चाहिये। पश्चात् भभका द्वारा अर्क खींच कर बोतलों रख लेना चाहिये। इतनी औषधियों का अर्क दो बो उत्तम निकलेगा।

सेवन-विधि और गुण––चार-चार चम्मच (चाय चम्मच से) बराबर जल मिला कर एक दिन में तीन उपरोक्त नं० २ की औषधियों के साथ, चार-चार घण्टे अन्तर से देने से मधुमेह को जड़ से नष्ट कर देता है।

मधुमेहनाशक औषधियाँ

वृ० वंगेश्वर रस, चन्द्रप्रभा वटी, मेहमुद्गर बहुमूत्रान्तक रस, चन्द्रोदय मकरध्वज रस, मकर गुटिका और शिलाजित्वादि वटी एवं स्वतन्त्रशिला उत्तम औषधियों में हैं।

अनुपान––बेलपत्र-स्वरस, मधु और गुड़मार के के साथ उक्त औषधियों के सेवन से मधुमेह नष्ट होता है।

मधुमेही को मधुमेह का पता लग जाते ही साव से चिकित्सा करनी चाहिये और घबड़ा कर यह नहीं सो चाहिये कि यह रोग शीघ्र अच्छा क्यों नहीं हो रहा इस प्रकार मानसिक चंचलताओं को छोड़ कर नियम पथ्यापथ्य का विचार करते हुए औषधियों का सेवन से मधुमेह जैसा भयंकर रोग से रोगी पिण्ड छुड़ा लेता और वीर्यवान एवं कान्तिमान हो कर संसार सुख को करता है।

शेषांश]

“जो बने सो मन कर लेहू”

[१६ पृष्ठ

प्रायः यह मान्यता घर कर गयी है कि, आयुर्वेद में 'विज्ञान' या 'सिद्धान्त'-जैसा कुछ है नहीं। हैं केवल कुछ प्रभावशाली औषधियाँ। आधुनिक परिपाटी से अनुसंधान कर इन औषधों को अपना लेना चाहिए। बस। शेष आयुर्वेद का किट्टवत् विसर्जन कर देना चाहिए। औषध-प्रधान अनुसंधान का यही परिणाम आयुर्वेद के जीवन पर होगा। ऍलोपेथी में जिस रोग का यह नाम है उस पर आयुर्वेद की यह औषध उत्तम कार्य करती है। उसका समावेश ऍलोपेथी के मेटीरिआ मेडीका में कर लेना चाहिए। शेष निरर्थक है। इसके विपरीत, दोषमूलक निदान एवं संप्राप्ति भङ्गमूलक शोधन-शमनादि क्रियाप्रधान उपचार-क्रम के अनुसरण का परिणाम यह होगा कि कार्यकर्ता तथा विद्यार्थी-वर्ग को विश्वास होगा कि आयुर्वेद में रोगों की उत्पत्ति और उनके उपचार में सुनिश्चित कार्यकारणभाव का सूत्र है, जो उसकी वैज्ञानिकता को सम्यक् सिद्ध करता है। इस प्रकार समग्र आयुर्वेद-शास्त्र ही विज्ञान की भित्ति पर प्रतिष्ठित हुआ दिखाई देगा।

सतत अध्ययन, निदिध्यासन और अनुसंधान आयुर्वेद में निर्दिष्ट प्रत्येक रोग का स्वरूप इसी प्रकार कर उसका शास्त्रशुद्ध उपचार निर्धारित करना चाहि अध्यापन में भी प्रथम वर्ष से ही प्रत्येक विषय का इस प्रकार होना चाहिए कि विद्यार्थी रोगों के निदान उपचार के ज्ञान के, तथा संभव हो तो क्रिया के भी, में आए। ग्रन्थ लेखन में भी उक्त दृष्टि ही चाहिए और यह सर्व कर्तव्य विद्वानों तथा अध्यापन लगे वैद्यों का है।

किंबहुना, आयुर्वेद के प्रति जिसे कुछ भी प्रीति है लिए अपना सर्वस्व होड़ में लगा कर आयुर्वेद की प्रसंग आज उपस्थित हुआ है। सक्रिय भक्ति के उपासक सन्त कबीर की उक्ति के अनुसार––जो मन करि लेहू : पछवा राम दोष जनि देहू। धन्वन्तरि सब को सुबुद्धि दें!! सब का कल्याण करें

भारतवर्ष में हीरा

डा० अनन्त गोपाल झिंगरन, डी० एस० सी०

अत्यन्त प्राचीन समय से भारतवर्ष अपने हीरों के लिए प्रसिद्ध रहा है। अधिकांश बहुमूल्य हीरे भारतवर्ष में ही उत्पन्न हुए हैं। किन्तु प्रायः तीन शताब्दियों से, विशेषकर, जब से दक्षिणी अफ्रीका के किम्बरली प्रदेश में अति घनी व उपजाऊ हीरे की खानें मिली हैं, भारत में इनका उत्पादन बहुत ही कम हो गया है। स्वतन्त्रता के बाद से सरकार ने पुनः इस मूल्यवान खनिज पर ध्यान दिया है और समस्त हीरकमय प्रदेशों का सर्वेक्षण नवीन ढंग से किया जा रहा है। मध्यप्रदेश (पहले के विन्ध्य प्रदेश) में पन्ना के चतुर्दिक प्रान्त में आशातीत सफलता मिली है। भारत सरकार ने इस खनिज के उत्खनन का राष्ट्रीयकरण करने का निश्चय घोषित कर दिया है। —सम्पादक

रासायनिक संरचना में हीरक खनिज शुद्ध कार्बन का एक रूप है। यह बहुधा वर्णहीन होता है, किन्तु कभी-कभी इसमें पीले-नीले अथवा काले प्रभृति रंग भी पाये जाते हैं। मूल्य अवर्ण हीरे का ही सब से अधिक होता है। इसके स्फटों की आकृति साधारणतया अष्टानीक या अठपहलू होती है, जो सम्भवतः दो चतुर्नीकों से जुड़ कर बनती है। और ये इसी तरह तोड़े भी जा सकते हैं। कठोरता में यह पदार्थ अद्वितीय है। संसार में कोई और ऐसा पदार्थ नहीं, जो इसे काट सके। कहावत प्रसिद्ध है कि हीरा ही हीरे को काट सकता है। इस खनिज में एक अपनी विशिष्ट द्युति होती है, जो हीरक-द्युति कही जाती है। किन्तु प्राकृतिक रूप में हीरों के ऊपरी तलों पर द्युति के स्थान पर साधारणतया एक विशिष्ट प्रकार की चिकनाहट-सी होती है।

सघन रवेदार तथा गहरे रंग के हीरे 'बोर्ट' कहलाते हैं। काले रंग वाले 'बोर्ट' को 'कार्बोनाडो' कहते हैं। इन जातियों में सुभाज्यता का नितान्त अभाव होता है तथा साधारण हीरों की अपेक्षा भंगुरता भी कम होती है। इस कारण ये जातियाँ घर्षण पदार्थों के निर्माण में अति मूल्यवान होती हैं। अति कठोर वेधन-यन्त्रों के अग्र भाग में इन्हें लगाया जाता है। हीरे की छोटी कनी काँच काटने में एवं इसका चूरा हीरे तथा अन्य मणियों को काटने तथा पालिश करने में काम आता है। धातुओं के तार खींचने में भी हीरे का प्रयोग किया जाता है।

भारतवर्ष में प्राप्ति-स्थान

प्राचीन काल में भारत के मध्यवर्ती प्रदेश से ले कर दक्षिण में पनार नदी के बीच का प्रदेश हीरों के लिए प्रसिद्ध रहा है। हैदराबाद के निकट गोलकुण्डा में हीरों की बहुत बड़ी हाट लगा करती थी और इसी से इस प्रदेश के रत्न 'गोलकुण्डा के हीरे' कहे जाते रहे हैं। देश के हीरकमय क्षेत्र ३ भागों में बाँटे जा सकते हैं—(१) मध्य, (२) दक्षिणी तथा (३) पूर्वी। इन सभी क्षेत्रों में हीरे केम्ब्रियन-पूर्व युग की फासिल-विहीन शिलाओं में पाये जाते हैं, जिन्हें उत्तर भारत में विन्ध्य तथा दक्षिण भारत में कड़प्पा एवं कुर्नूल शैल श्रेणी कहते हैं।

मध्य-भारतीय क्षेत्र उपज की दृष्टि से तीनों क्षेत्रों में सब से अधिक मूल्यवान है। देश में प्रायः शत-प्रतिशत हीरे इसी क्षेत्र से प्राप्त होते हैं। अन्य क्षेत्रों में आजकल कोई नियमित रूप से उत्पादन नहीं होता, एवं कभी-कभी एक-दो हीरे मिल जाते हैं। यह क्षेत्र प्रायः ६० मील लम्बा और १० मील चौड़ा है तथा इसमें पन्ना, अजयगढ़, चरखारी, कछार, कोठी, पठार, चौबेपुर तथा बरौंधा के अंग सम्मिलित हैं। इस क्षेत्र की खानें तीन वर्गों में बाँटी जा सकती हैं—

(१) **हीरकमय संपिण्डित शैल**—मध्य भारतीय क्षेत्र के हीरों के सब से प्रधान स्रोत संपिण्डित शैल की तहें हैं, जिन्हें स्थानीय लोग 'मुड्डा' कहते हैं। इसकी दो प्रधान तहें हैं, जिनमें से एक विन्ध्य श्रेणी की कैमूर तथा

रीवा पहाड़ियों के बीच स्थित है तथा दूसरी रीवा एवं भण्डेर की पहाड़ियाँ के बीच है।

इनमें से कैमूर व रीवा प्रस्तरमालाओं के बीच वाला मुड्ढा अधिक उपजाऊ है। इसकी मोटाई प्रायः ५ फुट है तथा इसमें विभिन्न जाति की स्फटिक पत्थर की बटियाँ तथा पिण्ड प्रचुर मात्रा में पाये जाते हैं, जिनमें जैस्पर का बाहुल्य है। रीवा तथा भट्टेर प्रस्तरमालाओं के बीचवाले मुड्ढे में जैस्पर की मात्रा कम है तथा साधारण स्फटिक का बाहुल्य है। पन्ना से प्रायः १२ मील दूर मझगवाँ पर एक ऐसा हीरकमय अग्लोमरेट शैल पाया जाता है, जो ज्वालामुखी उद्भव का है तथा जिसकी भौतिक आकृति, लक्षण तथा खनिज संरचना अफ्रीका के सुप्रसिद्ध किम्बरलाइट शैल के सदृश है। इससे यह अनुमान किया जाता है कि कम-से-कम कुछ हीरे अवश्य ही मझगवाँ के अग्लोमरेट से प्राप्त हुए होंगे।

(२) **हीरकमय अलूवियम तथा बजरी**—उप-अर्वाचीन एवं अर्वाचीन युगों में मुड्ढा तथा अन्य विन्ध्य शैल-श्रेणियों के क्षरण और टूटने से उत्पन्न (रेत, मिट्टी) अलूवियम तथा बजरी भी अनेक स्थानों पर हीरकमय पाई गयी है। अत्यधिक कठोरता तथा रासायनिक सुदृढ़ता के कारण हीरा मौसम के थपेड़ों को सहज ही सहन कर लेता है। जहाँ अन्य खनिज टूट-फूट कर बजरी व बालू बन जाते हैं, वहाँ हीरा ज्यों-का-त्यों बना रह जाता है। इस प्रकार हीरकमय मुड्ढे के विखण्डन से हीरकमय बालू व बजरी का निर्माण होता है। अतः यों कहना चाहिए कि मुड्ढा पहली पीढ़ी का हीरकमय संपिण्डित शैल है तथ हीरकमय बालू व बजरी इसकी दूसरी पीढ़ी है।

(३) **हीरकमय अग्लोमरेट (अभिपिंड) शैल**—यह हीरों का एक प्राथमिक निक्षेप है, जो पन्ना से प्रायः १२ मील दक्षिण-पश्चिम की दिशा में मझगवाँ में पाया जाता है। यद्यपि साधारणतया देखने में यह मुड्ढे से बहुत भिन्न है, फिर भी स्थानीय लोग इसे भी बहुधा मुड्ढा ही कहते हैं। सम्भवतः इसका कारण यह होगा कि यह भी हीरकमय है। इस अग्लोमरेट में हरे रंग के सर्पेन्टीन खनिज का बाहुल्य है जिसमें श्वेत कैलसाइट की अगणित रगें इस प्रकार घुसी हैं कि उनका एक जाल-सा बन गया है। लोहे के कण इसमें बहुतायत से पाये जाते हैं। शैल में सघनता का अभाव है तथा साधारण आकृति में यह बहुधा मटमैला दिखाई देता है। अफ्रीका की हीरकमय किम्बरलाइट की कुछ जातियाँ भी देखने में ऐसी ही हैं और इस कारण कुछ लोग इस अग्लोमरेट शैल को भी किम्बरलाइट कहते हैं, किन्तु वास्तव में दोनों की खनिज संरचना में अन्तर है। जहाँ पन्ना शैल में सर्पेन्टीन की प्रधानता है, अफ्रीका की शैल में ओलीवीन खनिज की बहुलता है।

मझगावाँ के अग्लोमरेट शैल के दृश्यांश का आकार नाशपाती जैसा है, जिसकी अधिकतम लम्बाई १६०० फुट तथा चौड़ाई १००० फुट के लगभग है और इसका क्षेत्रफल लगभग १,१२,५०० वर्गगज है। इसके चारों ओर कैमूर बलुआ पत्थर की शिलाएँ हैं। इसकी गहराई की थाह लेने के लिए रीवाँ राज्य के भू-वैज्ञानिक के० पी० सिनोर के निरीक्षण में एक गहरा वेध किया गया था। २४० फुट की गहराई तक जाने पर भी इसका पेंदा नहीं मिला और इससे यह अनुमान किया गया कि यह पाताल है और ज्वालामुखी ग्रीवा प्रदर्शित करती है।

इस अभिपिण्ड में हीरों की मात्रा के विषय में विश्वस आँकड़े प्राप्त नहीं हैं। दक्षिण अफ्रीका के एंग्लो-अमरीकन कार्पोरेशन के इंजीनियर श्री ए० शैमडन हैरीसन तथा मुख्य भू-शास्त्री डा० ए० ई० वाटर्स ने १९५० ई० में यहाँ की एक खान के मुख पर पड़े हुए ढेर में से ३०५ घनफुट पत्थर को धोने का प्रयोग किया, जिसमें ९ हीरे प्राप्त हुए, जिनका संयुक्त भार ३.३२ कैरट था। प्रायः दो वर्ष हुए भारतीय भू-वैज्ञानिक सर्वे एवं भारतीय खान विभाग की ओर से मझगावाँ के शैल में हीरों की मात्रा आँकड़े का प्रयास किया गया था, जिससे मालूम हुआ कि प्रायः प्रति १०० टन चट्टान से १२.५ कैरट हीरे प्राप्त होते हैं, जिनका औसत मूल्य पौने दो हजार रुपये के लगभग होता है।

हीरों की खुदाई

हीरों की खुदाई अभी भी अधिकतर पुराने ढंग से मजदूरों द्वारा ही की जाती है। औजारों में साधारण फावड़े, कुदाली, घन, छेनी और साबल से काम लिया जाता है। अधिकांश खानें साधारण गड्ढों की तरह ऊपर से खुली हैं, किन्तु कहीं-कहीं वे सुरंग के सदृश भी हैं। ये सुरंगें बहुत सँकरी होती हैं और कहीं-कहीं तो उनमें घुसने के लिए दुबले-पतले मनुष्य को भी पेट के बल रेंगना पड़ता है। इस संकीर्णता का मुख्य कारण शिलाओं की कठोरता है। यद्यपि आज उत्खनन के लिए शक्तिशाली विस्फोटक

व अन्य आधुनिक यन्त्र उपलब्ध हैं, किन्तु हीरे की खानें प्रायः प्राचीन ढंग से ही चल रही हैं, क्योंकि एक तो हीरे के क्षेत्र इतने घने नहीं हैं कि उनमें अधिक रुपया लगाया जा सके, दूसरे हीरों की खुदाई में ऐसे बहुत-से लोग हैं, जिनका मुख्य व्यवसाय साधारण किसानी है और वे लोग केवल ऐसे मौसम में, जब कि खेती का अधिक काम नहीं होता, ऊपरी धन्धे के तौर पर इस काम को करने लगते हैं। किन्तु इधर कुछ वर्षों से मझगवाँ की खान को आधुनिक यन्त्रों से सुसज्जित किया जा रहा है और ऐसी आशा है कि इससे हीरों के ख़नन में विशेष वृद्धि होगी।

मुड्ढे में से हीरे निकालने की विधि

जैसा कि ऊपर बताया गया है मुड्ढे में साधारण खदानें छोटे-छोटे गड्ढों के सदृश हैं। ये गड्ढे साधारण औजारों से खोद लिए जाते हैं। ऊपरी मिट्टी, बलुआ पत्थर व शैल आदि चट्टानों को खोद कर गड्ढों को इतनी गहराई तक ले जाते हैं, जहाँ मुड्ढे की मिल जाता है। इसके बाद फावड़े व कुदाली आदि से खोदना बन्द कर देते हैं, क्योंकि यह स्तर इतना कठोर है कि इन साधारण औजारों से नहीं टूट सकता। इसे तोड़ने के लिए पहले इसे अग्नि से तपाते हैं। खूब तप जाने पर एकाएक पानी डाल कर इसे ठण्डा कर देते हैं। अति तीव्रता से ताप परिवर्तन होने के कारण चट्टान में दरारें पड़ जाती हैं और तब छेनी व हथौड़ों की सहायता से उसे तोड़ डालते हैं।

टूटे हुए मुड्ढे को खान से बाहर निकाल कर बड़े-बड़े घनों से कूट कर इसका चूरा कर डालते हैं, जिससे हीरे चट्टान से पृथक् हो जाते हैं। हीरों के टूटने की आशंका कम होती है, क्योंकि ये अत्यधिक कठोर होते हैं। चूर्ण चट्टान में से महीन बालू व मिट्टी को जल की धार से बहा देते हैं और फिर बचे हुए चूरे को स्वच्छ, समतल स्थान पर फैला देते हैं और पूर्णतया सूख जाने पर उसमें से बीन-बीन कर हीरे निकाल लेते हैं। यह क्रिया प्रायः वैसी ही है जैसे अनाज को थाली में फैला कर कचरा बीनने की। इसे करने के लिए अधिकतर बच्चे व स्त्रियाँ ही लगाई जाती हैं, क्योंकि पुरुषों से उनमें अधिक धैर्य होता है, जिसके बिना एक-एक कण को बीनना प्रायः असम्भव है। अनुभवी कार्यकर्त्ताओं की तीव्र दृष्टि तथा दक्ष उँगलियों से कोई भी हीरा छूटने नहीं पाता।

हीरकमय अलूवियम तथा बजरी के उत्खनन की विधि मूल सिद्धान्त में वैसी ही है जैसी कि मुड्ढे की; अन्तर केवल इतना है कि मुड्ढे से कमजोर होने के कारण इसकी खुदाई साधारण औजारों से हो जाती है और तपा कर पानी डाल कर एकाएक ठण्डा करने की आवश्यकता नहीं पड़ती। इसके अतिरिक्त अलूवियम की खदानें सदैव एकदम खुली होती हैं। किसी-किसी स्थान पर हीरकमय अलूवियम के ऊपर १५-२० फुट ऊँची साधारण मिट्टी व बजरी के स्तर होते हैं, अतः हीरकमय अलूवियम तक खोदने के लिए पतली-पतली सीढ़ी बनाते हुए क्रमशः गहराई पर जाते हैं। इस प्रकार की किसी-किसी खान में २,००० मजदूर तक प्रतिदिन कार्य करते हैं यथा रामखिरिया की खदान में खुदी हुई अलूवियम व बजरी को धो कर हीरा निकालने का कार्य तो एकदम वैसे ही होता है जैसे मुड्ढे में से निकालने का।

मझगवाँ में उत्खनन के लिए आधुनिक यन्त्रों के प्रयोग का आरम्भ हो गया है। पत्थर व मिट्टी की खुदाई, ढुलाई, चूरा करने, धोने आदि सभी क्रियाओं के लिए उपयुक्त यन्त्रों की आयोजना की गयी है। हीरे चुनने का काम भी मशीन द्वारा ही किया जाता है। इसके लिए कटा हुआ पत्थर थोड़ी-थोड़ी मात्रा में नियन्त्रित मन्द गति से ऐसी मेजों पर से लुढ़काया जाता है, जिन पर एक ऐसी ग्रीज लगी होती है, जिस पर हीरे तो चिपक जाते हैं, किन्तु कैलसाइट, सर्पेन्टीन आदि के कण निकल जाते हैं।

दक्षिणी क्षेत्र

हीरकमय प्रस्तर कडप्पा, अनन्तपुर, कर्नूल, कृष्णा, गुण्टूर एवं गोदावरी जिलों में फैला हुआ है। इन जिलों में कर्नूल श्रेणी की चट्टानें पायी जाती हैं, जिनका एक खण्ड बानगनपल्ली है, जो हीरकमय है। स्थान-स्थान पर खोद कर इनमें से हीरे निकाले जाते हैं। इनसे उत्पन्न बजरी व मिट्टी (अलूवियम) भी हीरकमय होती है और इसीसे इन जिलों की नदियों की घाटियों की मिट्टी व बजरी में बहुधा हीरे देखने में आ जाते हैं। किन्तु यह अलूवियम कहीं भी इतनी घनी नहीं पाई गयी कि उनमें लग कर काम किया जा सके। प्रायः भीषण वर्षा के बाद स्थानीय किसान नदी-घाटियों में उपयुक्त स्थानों पर बजरी कुरेद कर तसलों में धो-धो कर हीरे खोजने का प्रयत्न करते हैं और कभी-कभी

अच्छी सफलता भी पाते हैं। अनन्तपुर जिले में बज्रकरूर स्थान पर एक ज्वालामुखी ग्रीवा है, जो मझगावाँ के अग्लोमरेट शैल की ज्वालामुखी ग्रीवा की तरह है। किन्तु मझगावाँ के शैल अधिकांशतः सर्पेन्टीन तथा कैलसाइट से बनी है, जब कि बज्रकरूर की ग्रीवा की शैल मुख्यतः प्लेजिओक्लेज तथा ओजाइट खनिजों से बना है तथा अत्यन्त परिवर्तित और ऋतुक्षारित अवस्था में है। आधुनिक समय में बहुत खोज करने पर भी इसमें से एक भी हीरा नहीं पाया गया है। प्राचीन काल में इसी ग्रीवा के आसपास सवा लाख रुपये से भी अधिक मूल्य का हीरा पाया गया था और सन् १८६१ ई० में पौने ६८ कैरट भार का एक हीरा पुनः उसी स्थान से प्राप्त हुआ। पर प्रतिवर्ष वर्षा के बाद ग्रीवा के चारों ओर ३.४ मील की दूरी तक कुछ हीरे ऊपर ही पृथ्वी पर पड़े हुए पाए जाते हैं और इसमें कोई सन्देह नहीं कि ये हीरे ग्रीवा के शैल से ही प्राप्त होते हैं। बरसाती पानी मुलायम सतह को बहा ले जाता है तथा कठोर व भारी हीरे पड़े रह जाते हैं।

कडप्पा जिले में पेनार नदी के तट पर चेन्नूर व कानूपर्ती स्थानों पर प्राचीन काल में हीरे की खान रही हैं, पर आजकल वहाँ उत्खनन नहीं होता। यहाँ की हीरकमय बजरी में स्फटिक, चर्ट व जेस्पर की बटियाँ पाई जाती हैं। इस बजरी के ऊपर काली मिट्टी के स्तर हैं, जो ४ फुट से १२ फुट तक मोटे हैं। कर्नूल जिले में वानगनापल्ली में अनेकों प्राचीन खानें मिलती हैं। उत्खनन के मुख्य केन्द्र वानगनापल्ली, रामुलकोटा, लांजापोलार, धोनी एवं विरेपल्ले रहे हैं। यहाँ हीरकमय संपिण्डित शैल की मोटाई ३ इंच से ले कर २४ इंच तक पाई गयी है। सन् १९१०-१२ के लगभग श्री ए० घोष ने विरेपल्ले पर संपिण्डित शैल का विस्तृत सर्वेक्षण किया तथा उपलब्ध हीरों की मात्रा आँकने का प्रयत्न किया था। उनके आँकड़ों के अनुसार प्रत्येक १६ घनफुट शैल में से १।६ से १।४ कैरट तक हीरे निकले तथा ये रत्न बहुत ही सुडौल तथा निर्मल थे।

कृष्णा जिले में गोलापिल्ली बलुआ पत्थर के साहचर्य में हीरे पाये जाते हैं। इस शैल के टूटने-फूटने से बनी अलूवियम तथा बजरी में भी हीरे पाये जाते हैं और इस जिले की अधिकांश हीरे की खानें अलूवियम तथा बजरी में ही स्थित हैं। मुख्य उत्पादन केन्द्रों में परतियाल और गोलापिल्ली हैं।

गुण्टूर जिले में कोल्लूर, मालावरम तथा माडगुला हीरों की खुदाई होती रही है तथा गोदावरी जिले में भद्राच के समीप नदी की बालू व बजरी में से हीरे निकाले रहे हैं।

पूर्वी क्षेत्र

यह क्षेत्र महानदी की घाटी में है तथा इसमें उत्पादन-केन्द्र सम्भलपुर व चांदा जिलों में है। यहाँ नदी की बालू व बजरी अनेक स्थानों पर हीर पाई गई हैं, फिर भी स्थानीय विन्ध्य शैल श्रेणी व श्रेणी के किसी स्तर में हीरे नहीं पाये गये। नदी पर्वतीय घाटी में शिलाओं के बीच यत्र-तत्र रुकावट जाने के कारण धार का वेग कुछ कम हो जाता है। स्थानों पर, नदी में बहते हुए पदार्थ में से वे कण जो भारी होते हैं तल में बैठ जाते हैं। इस प्रकार बैठे पदार्थ में हीरा सम्मिलित होता है। इन स्थानों बजरी को धोने से हीरा व अन्य बहुमूल्य पदार्थ, यथा- प्राप्त होता है। सम्भलपुर के पास हीराकुद नाम के पर, जहाँ आजकल एक विशाल बाँध बनाया गया है, समय में कई हीरे प्राप्त हुए हैं, जिनमें से सब से बड़े रत्न भार ९९.३ कैरट था। किन्तु आधुनिक समय में क्षेत्र में कहीं भी हीरे की खुदाई नहीं हुई है।

भारतवर्ष में उत्पन्न कुछ प्रसिद्ध हीरे

भारतीय रत्नों में कोहनूर सम्भवतः सब से प्रसिद्ध रहा है। इस अद्वितीय रत्न का इतिहास भी प्राचीन है। कुछ लोगों का कथन है कि ईसा से २००० पूर्व यह आर्य राजाओं की सम्पत्ति था, किन्तु इसका प्रामा इतिहास सन् १३०४ ई० से मिलता है, जब यह सम्राटों के मुकुट की शोभा बढ़ाता था। सन् १८ में पंजाब के सिक्ख राजाओं से यह ईस्ट इण्डिया को मिला और फिर लार्ड डलहौजी ने इसे महारानी विक्टो को भेंट में दिया। आजकल यह इंगलैण्ड की महा एलीजावेथ के राजमुकुट में सुशोभित है। १९ भारतवर्ष के स्वतन्त्र हो जाने के बाद भारत सरकार ने अंग्रेजों से पुनः प्राप्त करने के विषय में कुछ लिखा आरम्भ की, किन्तु अभी तक कुछ निश्चित निर्णय नहीं गया है। साम्राज्ञी विक्टोरिया को भेंट के समय भार १८६ कैरट था। सन् १८६२ ई० में इसे

छाँट कर संवारने की चेष्टा की गयी। इससे इसका भार केवल १०६ कैरट रह गया। ऐसा विश्वास है कि यह कोनूहर हीरा दक्षिण में कोल्लूर की खान से प्राप्त हुआ था।

यद्यपि कोहनूर हीरे ने ख्याति अधिक प्राप्त की, किन्तु सब से सुन्दर, सुडौल व बड़ा हीरा 'पिट' है। इसका उपनाम 'रिजेन्ट' भी है। यह सन् १७०१ ई० में परतियाल की खान से प्राप्त हुआ था। उस समय इसका भार ४१० कैरट था। काट-छाँट के बाद इसमें से १६३.९ कैरट भार का एक रत्न बना, जो ३० मिलीमीटर लम्बा, २५ मिलीमीटर चौड़ा तथा १९ मिलीमीटर मोटा है तथा जिसकी आकृति अंग्रेजी जौहरियों की भाषा में 'ब्रिलिएन्ट' है। इसका नाम मद्रास के भूतपूर्व गवर्नर विलियम पिट के ऊपर पड़ा है और जब यह उनके पास था, तभी इसमें से काट कर 'ब्रिलिएन्ट' बनाया गया था। बाद में फ्रांस के युवराज, ड्यूक ऑफ औरलियन्स ने इसे मोल ले लिया था और तब से यह फ्रांस की राष्ट्रीय सम्पत्ति है। सम्राट प्रथम नेपोलियन इसे अपनी तलवार की मूठ में रखता था और उसका विश्वास था कि उसकी समस्त सफलताओं की कुंजी यह 'पिट' हीरा ही था। आजकल यह पेरिस के संग्रहालय में अपोली गेलरी में रखा है।

तीसरा भारतीय हीरा 'ओरलोफ' है। यह कावेरी नदी में श्रीरंगम द्वीप पर बने हुए मन्दिर में ब्रह्माजी की मूर्ति की एक आँख में लगा था। वहाँ से एक फ्रांसीसी सिपाही उसे चुरा कर ले गया तथा एक फ्रांसीसी जहाजी कप्तान के हाथ बेच दिया। इधर-उधर घूमता हुआ अन्ततः यह हीरा युवराज ओरलोफ के हाथ लगा, जिनके नाम पर इसका नामकरण हुआ। उन्होंने इसे रूस की महारानी को भेंट दिया और तब से यह रूसी सम्पत्ति है। इसका भार १९४.७ कैरट है। इसका वर्ण हल्का पीला है तथा द्युति अति दीप्त व उज्ज्वल है।

'महान मुगल' नाम की मणि का इतिहास बहुत रहस्यमय है। सन् १६५० ई० में यह कोल्लूर की खान से प्राप्त हुआ था। इसका आदि भार ७८७.५ कैरट था। उस समय वेनिस का प्रसिद्ध कारीगर वोरगिर भारतवर्ष में ही था। उसने इसे काट कर २४० कैरट भार की सुन्दर मणि का रूप दिया। फ्रांसीसी राजदूत टैवरनियर जब भारतवर्ष का भ्रमण कर रहा था तब उसने इस मणि को देखा था, किन्तु उसके बाद से कुछ पता नहीं चलता कि इसका क्या हुआ। कुछ लोगों का अनुमान है कि 'ओरलोफ' यही मणि है तथा कुछ लोग उसे 'कोहनूर' भी बताते हैं।

'होप' हल्के रंग की आभा लिए हुए नीले रंग का हीरा है। यह भी कोल्लूर की खान से प्राप्त हुआ था। यह भी एक मन्दिर में था। फ्रांसीसी राजदूत टैवरनियर इसे यहाँ से ले गया था। उसने इसे लुई चतुर्दश के हाथ बेच दिया। फ्रांस के विप्लव के बाद से यह इधर-उधर भटकता रहा। अन्त में सन् १९११ ई० में श्री एड्वर्ड एम० लीन ने उसे प्रायः ८ लाख रु० में मोल लिया। रंगीन हीरों में यह संसार भर में सब से बड़ा है। इसका आदि भार ११२.२ कैरट था, फिर ६७ कैरट हो गया और एक बार पुनः टूटने से ४४.२ कैरट मात्र रह गया। कहते हैं कि यह हीरा स्वामी के लिए अनिष्टकर रहा है।

'निजाम' नाम का रत्न गोलकुण्डा में प्राप्त हुआ था। आदि में इसका भार ३४० कैरट था तथा उसे काट कर २७७ कैरट का रत्न बनाया गया। यह हैदराबाद के निजाम परिवार की सम्पत्ति है तथा उन्हीं पर इसका नाम रखा गया है। अन्य प्रसिद्ध भारतीय हीरों में सान्सी (५३.५ कैरट), फ्लोरेन्टीन ब्रिलिएण्ट (१३९.५ कैरट), दरियायेनूर (१८६ कैरट) तथा पिगट (८२.२५ कैरट) हैं।

सन् १९२७ तक भारत में हीरे का उत्पादन नगण्य रहा। उसके बाद इसमें वृद्धि के लक्षण पाये गये। सब से अधिक उत्पादन १९५० में हुआ, जब कि उत्पन्न हीरों का भार २,७६९ कैरट था, जिनका मूल्य ४,१७,८५७ रु० प्राप्त हुआ। मूल्य की दृष्टि से सब से अधिक उत्पादन १९५३ में हुआ था जब २,२०७ कैरट हीरों का मूल्य ५,६१,६१० रु० था। देश में, मणि एवं घर्षण व्यवसाय दोनों में ही हीरों की खपत इससे कहीं अधिक है और उसे ध्यान में रखते हुए इस व्यवसाय में उत्तरोत्तर वृद्धि करने की नितान्त आवश्यकता है।

पन्ना के समस्त हीरकमय क्षेत्र में भू-भौतिकीय विधि से अन्वेषण का कार्य होना है और आशा है कि मझगावाँ जैसी हीरकमय अभिपिण्ड राशियाँ और भी स्थानों पर अवश्य मिलेंगी। छतरपुर जिले में अंगौर नाम के गाँव के पास एक ऐसा ही अग्लोमरेट शैल मिला है, किन्तु अभी यह प्रमाणित नहीं हुआ है कि वह हीरकमय है।

—'इण्डियन मिनरल्स' से साभार

सुपरिण्टेण्डिंग जियोलाजिस्ट
भारतीय, भू-वैज्ञानिक सर्वे,
कलकत्ता

मानसिक स्वास्थ्य की समस्या

प्रो० नन्दकुमार पाण्डेय, एम. ए.

मानसिक रोगों के प्रसिद्ध विशेषज्ञ कर्नल बर्द्धन ने यह चिन्ताजनक अभिमत प्रकट किया है कि भारत में मानसिक असंतुलन के रोगियों की संख्या दिन-दिन बढ़ रही है और मानसिक अस्पतालों की संख्या में यथासम्भव वृद्धि की व्यवस्था करना अत्यावश्यक हो उठा है। इस प्रसंग में यह बात विशेष रूप से उल्लेखनीय है कि मानसिक असन्तुलन जिस वातावरण की विशेषता है वह केवल भारत तक ही सीमित नहीं है– वह इस समय सारे संसार की विशेषता है। कुछ समय पूर्व इंगलैण्ड के प्रसिद्ध कवि और चिन्तक श्री स्पेण्डर ने आधुनिक सभ्यता का एक अत्यंत मार्मिक विश्लेषण करते हुए यह निष्कर्ष निकाला था कि इसकी सबसे बड़ी विशेषता यह है कि इसने सतही स्तर पर जीवन की क्लिष्टता में विराट वृद्धि कर दी है किन्तु उसकी गम्भीरता को प्रायः पूर्णतया समाप्त कर दिया है। जो वस्तुएँ जीवन को अर्थ तथा महत्व से युक्त करती हैं, वे एक-एक करके धराशायी होती जा रही हैं।

आज एक साधारण शिक्षित व्यक्ति के सामने प्रायः वैसी ही स्थिति रहती है, जिसका सुन्दर चित्रण मैथ्यू आरनल्ड ने किया था– 'हम दो जगतों के बीच में निवास कर रहे हैं, एक मर चुका है और दूसरे का अभी जन्म नहीं हुआ।' प्राचीन परम्परागत जीवन मूल्यों के प्रति हमारे मन में श्रद्धा और विश्वास की भावना नहीं रह गयी। दूसरी ओर अभी ऐसे नये जीवन मूल्यों का निर्माण नहीं हो सका जो हमारी श्रद्धा को अपनी ओर अनायास ही आकर्षित कर सकें। ईश्वर, पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, देश, परिवार आदि के रूप में जो जीवन मूल्य अभी तक हमारी श्रद्धा के भाजन रहे हैं, वे अब हमें अपनी ओर आकर्षित नहीं कर पाते। फलस्वरूप जीवन में हमें चारों ओर निरुद्देश्यता और निरर्थकता दिखायी देती है। निरुद्देश्यता तथा निरर्थकता की यह भावना हमारे मन और मस्तिष्क में भी एक प्रकार की रिक्तता की सृष्टि कर देती है और यह रिक्तता पागलपन की ओर प्रथम कदम के रूप में होती है।

यह सचमुच एक अत्यंत महत्वपूर्ण बात है कि मानसिक असंतुलन की बीमारी उन देशों में ही अधिक देखी जा रही है, जो आर्थिक तथा औद्योगिक दृष्टिकोण से अतिसमृद्ध हैं। उदाहरण के लिये अमेरिका को लिया जा सकता है। सुना जाता है कि वहां नींद लानेवाली गोलियों का प्रचार बड़ी तेजी के साथ बढ़ रहा है। वहां जीवन की गति इतनी तेज हो गयी है और परिस्थितियां इतनी जटिल हो गयी हैं कि मनुष्य के स्नायुमंडल पर उनकी एक अत्यंत गहरी प्रतिक्रिया होना अत्यंत स्वाभाविक बात है। न्यूयार्क के गगनचुम्बी मकानों में निवास करने वाले बच्चों में से अधिकांश ऐसे हैं, जिन्होंने कभी अपने जीवन में ग्रामीण दृश्य नहीं देखा। प्रकृति से कोसों दूर बड़े-बड़े नगरों के कृत्रिम वातावरण में निवास करने वाले व्यक्तियों को यदि कभी-कभी सम्पूर्ण जीवन एक कारागार की भांति प्रतीत होने लगे तो यह स्वाभाविक है। एजरा पाउंड की बात प्रसिद्ध ही है। उन्हें मानसिक असंतुलन का रोगी समझ कर कई वर्षों तक एक पागलखाने में रखा गया था। पागलखाने से छूटने के बाद जब वे पत्र-प्रतिनिधियों के सामने आये और उनसे पागलखाने के जीवन के सम्बन्ध में प्रश्न किये गये, उन्होंने अपना सारा अनुभव एक वाक्य में इस प्रकार व्यक्त किया–'मुझे ऐसा लगता है कि मैं एक छोटे पागलखाने से निकल कर एक बड़े पागलखाने में आ गया हूं।' यह बात उन्होंने एक मजाक रूप में नहीं कही थी।

सच पूछा जाय तो इस समय जीवन की परिस्थितियां इतनी विचित्र और अस्वाभाविक हो गयीं हैं किसी भी व्यक्ति के लिये अपना मानसिक संतुलन कायम रखना एक कठिन बात हो गई है। सबसे कठिनाई यह है कि इस समय उन तत्त्वों का ही अभाव जा रहा है, जो मनुष्य के मानसिक संतुलन को कायम में सहायक होती हैं। मानसिक संतुलन के लिये जो सबसे अधिक आवश्यक होती है, वह है एक आदर्श मूल्य-शृंखला। मनुष्य को जब तक यह विश्वास

है कि उसका जीवन निरर्थक नहीं है और विश्व ब्रह्माण्ड भी एक सुनिर्धारित योजना के अनुसार अपना काम कर रहा है, तब तक उसके मन में आशा और विश्वास का भाव रहता है और उसका मानसिक संतुलन भी कायम रहता है। ज्यों ही उसकी आदर्श-श्रृंखला शिथिल होने लगती है और शंका का भूकम्प उसके विश्वासों की आधारशिला को हिलाने लगता है, उसे अपने चारों ओर अन्धकार का साम्राज्य दिखाई देने लगता है। इसके बाद मानसिक असंतुलन किसी-न-किसी रूप में प्रायः अनिवार्य हो जाता है। इस समय केवल भारत में ही नहीं बल्कि सारे संसार में मानसिक असंतुलन एक महामारी का रूप ले रहा है, तो इसका एक मात्र कारण है कि आज मनुष्य को सांत्वना और विश्वास देने के लिये वह प्राचीन परम्परागत मूल्य-श्रृंखला नहीं रह गई है, जिस पर अभी तक आंख मूंद कर लोग निर्भर करते आये हैं। भोगवाद, उपयोगितावाद, मानवतावाद, समाजवाद, पार्टी, राष्ट्र आदि के रूप में जिन नये देवताओं की स्थापना हुई है, वे हमें वैसी ही सान्त्वना नहीं प्रदान कर पाते जैसी कि परम्परागत जीवन-मूल्य प्रदान करते आये हैं।

हमारे सामने इस समय समस्या यह है कि जीवन को किसी-न-किसी प्रकार के अर्थ तथा उद्देश्य से युक्त किया जाय। जब तक यह न होगा, समस्या का कोई वास्तविक और स्थायी समाधान प्रस्तुत न होगा। जिस निरुद्देश्यता तथा निरर्थकता की भावना मानसिक असंतुलन के लिये एक उपयुक्त वातावरण की सृष्टि करती है उसको समाप्त करने के लिये कुछ नये आदर्शों की स्थापना आवश्यक है। इससे भी अधिक आवश्यक बात सम्भवतः यह है कि कुछ पुराने आदर्शों तथा जीवन-मूल्यों का पुनस्संस्थापन किया जाय। यह विज्ञान का युग है, इसलिये आदर्शों की चर्चा के समय भी वैज्ञानिक की बात की उपेक्षा नहीं की जा सकती।

उन्नीसवीं शताब्दी के पदार्थवादी विज्ञान ने जीवन और जगत को सारे आदर्शों से च्युत करके 'अणु तथा महाशून्य' का एक चित्र प्रस्तुत किया था। उस चित्र के सन्दर्भ में मनुष्य की सारी आशाएं-आकांक्षाएं पूर्णतया निरर्थक प्रतीत होने लगी थीं। पदार्थवादी विज्ञान के स्वर में स्वर मिलाते हुए अधिकांश चिन्तकों ने यह घोषणा कर दी थी कि आदर्शों तथा मूल्यों की खोज ही निरर्थक है क्योंकि जीवन और जगत की सृष्टि अणु-परमाणुओं के एक आकस्मिक संयोग का परिणाम है और उसके पीछे किसी प्रकार की योजना नहीं है। सौभाग्यवश आज विज्ञान की वैसी दृष्टिभंगी नहीं रह गयी। आज विज्ञान भी किसी-न-किसी रूप में जीवन तथा जगत के प्रति एक प्रकार का आदर्शवादी दृष्टिकोण ले रहा है। स्मरणीय है कि इस युग के सम्भवतः सर्वश्रेष्ठ वैज्ञानिक मैक्स प्लांक से जब अनुरोध किया गया था कि वे मानव जीवन में विज्ञान की भूमिका के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करें, तब उन्होंने कहा था कि, 'विज्ञान भी मनुष्य द्वारा निर्मित एक कलाकृति है, जो मनुष्य के व्यक्तित्व की एक भूख को सन्तुष्ट करती है।' यह परिभाषा प्रदान करते हुए मैक्स प्लांक ने स्वीकार किया था कि मनुष्य के व्यक्तित्व के ऐसे बहुत-से पक्ष हैं, जिनकी अभिव्यक्ति विज्ञान में नहीं होती। मनुष्य के व्यक्तित्व के अन्दर मात्र एक वैज्ञानिक नहीं है—उसके अन्दर एक कवि है, एक कलाकार है और सूक्ष्म रूप में एक संत भी है। जीवन-नाटक की सफलता के लिये इन सभी पक्षों की यथासम्भव अभिव्यक्ति आवश्यक है। इस पर ही हमारे जीवन का सन्तुलन निर्भर करता है और इस पर ही हमारा मानसिक सन्तुलन है।

बैद्यनाथ च्यवनप्राश
सदा, सबके लिए सेवनीय पौष्टिक रसायन

DIET AND DENTAL CARIES

By

DR. K. M. CHOKSEY Z.D.S. (Vienna)

Dental caries or tooth decay is a very common disease. This is the focal point of the dental problem. The enormous increase in the number of dental caries during the last centuries has provoked many researches in this field.

There are many theories attributed to this problem which show that many factors are responsible for the origin of caries. A connection with the constitution, disposition, and nourishment cannot be denied. While on the other hand anatomical and physiological factors play a definite role in the origin of this disease. In literature great publicity has been given between caries and nutrition. The influence of nutrition as caries predisposing factors or caries inhibiting factors is a different one. H. Mathis has differentiated "Post resorptive" and "Pre-resorptive" stages in the influence of nutrition on the dental system. In the genesis of caries the post resorptive nutrition factors play some role. Whereas a differentiation should be made between the influence on the developing tooth, and the influence on the already developed tooth. An important role is definitely played by pre resorptive influence. Here we can differentiate between a local influence of the nutrition on the teeth or saliva where the physico-chemical components of nutrition are effective. Even to-day in principle we support the theory of Miller where a caries is caused by chemico-parasitic process wherein the bacterias produced acid by fermentation. Where sufficiently cellulose rich diet and good chewing activities are enough for automatic brushing of the teeth which prevents dental decay. The medium of saliva can be changed to alkalinity by suitable diet. By increasing the chewing activity more saliva is produced which washes off the purities from the teeth. This makes the teeth resisant to caries. The simple and harder the food the less frequent are the caries. As the quality of food varies in different layers of civilisation and culture, so it is clear that people belonging to the lower grades of culture practically do not show any formation of caries. Therefore there is little wonder that the teeth in the skulls of the oldest prehistoric periods do not show any caries. The oldest archaeological proofs of human culture go back to the beginning of ice age. According to the geological calculations of M. Milankovitch this period would cover about 600,000 years. This is absolutely a big number, but to the period taken for the development of life on this earth this 600,000 years make relatively a short space of time. The oldest geological specimen of human skeletons and skulls do not originate from the beginning of this period, but they originate somewhere from the middle of that period which would approximately cover a time space of about 9,000 to 10,000 human generations provided we include three generations in a century The humanity and its culture developed in the ice-age, culture is the reaction of humanity to its surrounding world. This developed in different varities on the ice-age because of many bioclimatic changes.

On the basis of archaeological excavations this period is taken into pre-historic periods in the stone, bronze, and iron age We enter in to history somewhere in the years 3000 B.C. or roughly 150 human generations, with the scriptures of the oriental history. The whole ice-age occupies the older stone age (Palaeolithic). This occupied a cultured stage of hunters, the collectors and the so called aboriginals. Their culture is even today represented in some parts of the world by the oboriginals of Australia, and Central Africa and by the Bushmen of Kalahari steppes of South Africa. In the age which lasted for 600,000 years no dental caries existed as it has been studied and reported by W. Praeger on the fossils of the skulls. Similar conditions which were found in those fossils are oberved even today in the living aboriginals. R. Poch did not find caries in the aboriginals of Australia.

Prof. Dr Fritz Driak, the Dean of the Vienna dental institute had examined 87 skulls of Bushmen collected by Poch at the Anthropological institute of the University of Vienna. The Bushman culturally belongs to the recent primitives. They belong to the class Of Hottentots and Khoisandes. The Khoisandes or the light coloured South Africans were once distributed over the whole of South Africa. But later on were driven away to the deserts of Kalahari and North - West - South Africa by Bantu negros and the Europeans.

The Bushmen have been forced to adopt a nomadic way of life because of water scarcity in the deserts. They had to wander from one place to another in search of food and water. They go on hunting and kill animals like zebras, rabbits, birds etc : They eat the meat either roasted or in a semi raw condition. As now the wilds are dying out they have taken to vegetarian diet which changes with the season. The under ground vegetables and roots are roasted in hot ashes. Locusts are caught, crushed and eaten raw. They drink rain water and collect honey. They enjoy meat and the demand for salt is very meagre.

Under normal environments the Bushman have got good health. But to day they suffer from diseases like T.B., typhus fever, dysentery, and syphilis which are carried to them by the Europeans. Malaria takes the greatest toll amongst the Western kalahari. Pictures of the collection of the Viennese doctors and anthropologist Poch reveal interesting details of the life of Bushmen.

In the following lines we shall read the interesting observations of Prof. Driak on the 87 skulls of Bushmen. The good condition of the jaws is very prominent even amongst older people. Even a minor section of the ways and life of these people shows us that the present day Bushmen build a pure selective race. Otherwise they would not be capable of mastering the enormous exertion for every day life. In this selectivity the prime necessity is the proper functioning of all the organs, even if the Bushmen of today belong to the lower stage of culture. One must not overlook what strength is demanded from them for the struggle for existence. The lower stage of their cultural activities goes hand in hand with the unproductive environments in which they have been forced to live.

In the results of the studies of the skeulls the determination of sex and age were followed according to the regulation of R. Martin. Accordingly "Infans 1" would be the early childhood up to the time of eruption of the sixth year molar. "Infans II" the later childhood up to the period of the eruption of 2nd permanent molar (14 years of life). The "Juvenis" the youth would be up to the period of closing of synchondrosis spheno occipitalis (18-22 years of life.) "Adults" the age of maturity after the eruption of all the teeth (up to 40th year of life). "Maturus" the ripe age upto 60 years. "Senilis" the old age after 60. Majority of the 87 skulls belong to the groups of adults, mature, and senile, only 14 skulls were in the groups of Infans I and II and juvenile, 48 skulls were definitely of males, 22 of the females and the remaining could not be definitely grouped.

Out of these 87 skulls 83 jaws were free from caries, only in 4 skulls of senile, and mature groups the caries were found. Out of 1683 examined teeth, 22 were carious which corresponds roughly to 1.3%. The examination of the carious teeth showed that the 1st and 2nd molars of both the jaws affected in most cases, which would coincide with the figures given by Ewler, Young, Driak and others. One cannot ofcourse, draw conclusive proofs from the examinations of such a small material. In the skulls of adults only 9 did not show any abrasion of teeth. While in all other teeth highest grade of abrasions were visible as it is found in the primitive hunters of the ice-age. The greater the abrasion of teeth, the higher is resistance against caries.

A definite dental caries was found in the jaws of 4 skulls of Bushmen which were found from the excavations in the vicinity of the European camps. They came in contact with civilisation and must have left their group. At the end of the ice-age men began to settle down and their stability in history in both geologically and chronologically are of recent origin. This begins somewhere in 6000 B.C. in later stone age. Here the domestication and house-hold of the man begins. The dental caries starts its frequent existence. In younger stone age the frequency of caries increases in the Central European world and in the Roman period it reaches its zenith. But after ebbing of the Roman high culture it again goes down, which again increases in the Middle Age and during the last century of the highest human civilisation. One is tempted to see the cause of the rapid progress of the Roman culture and the evil influences of the diet of that civilisation. Euler in his studies has shown the number of carious teeth and the number of men suffering from caries is definitely higher. He feels that the conditions which lead to the spreading caries does not lie with the individuals but in the conditions and environments which surround the entire folk. H. Mathis and others have ascertained that the existence of caries (in European world) per head till today is 100% and the number of carious teeth is as high as 50% (It would be interesting to note that we the Indians have comparatively better and stronger teeth. No doubt, we also find caries in our teeth but the percentage is much less. At the same time there is a rise of spreading caries among our children which is much more than it was prevalent before the quarter of a century, upon inquiring I have found that the fashion of eating chocolates and sweets and the lack of oval hygiene are responsible for the rise of caries among our children. Euler, Mathis, and Praeger have not only shown the reciprocity between the caries frequency and the relative stage of civilisation, but they have also made interesting observations on the localisation of caries. During the last 90 years the majority of the cases of caries observed belong to the class II i.e.inter dental caries which was hardly seen before 1870. W. Praeger states that the frequency of approximal and gingival caries of the teeth increases in number to the stage of the civilisation to which persons belong.

From the studies of Euler, Praeger and his school we know in the jaws of pre-historic men of earlier stone age no caries was found. The first caries is found in the late stone age which has been slowly rising in frequency reaching its culminating point during the period of high civilisation. The studies of 87 Bushmen skulls have shown that 83 jaws were free from caries, and only four were definitely carious. These four Bushmen have been in contact with civilisation for a longer period, therefore they have been proved to have been living under different environments than those of their race members. With this a proof has been given that the dietary factors play an important role as a pre-disposing movement in the genesis of dental caries.

References

(1) BEITRAG ZUM PHYLOGENETISCHEN AL DER ZAHNKARIES. By Prof. Fritz Driak. Wien klinisoche woohenschrift Vol. 62, No. 5, 19

(2) Contribution to the pylogenetic Age dental caries. By Dr. K. M. Choksey, Journal of the All India Dental Association, Ja 1950.

एरण्ड

वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा

नैसर्गिक वर्ग—Euphorbieaciael (युफोर्बिएसीई) एरण्डादि वर्ग।

नाम

एरण्डो व्याघ्रपुच्छः स्याच्चित्रक स्त्रिपुटीफलः।
पञ्चांगुलः शूल शत्रुर्वातारि दीर्घं दन्तकः॥
(कै० नि०)

सं०–एरण्ड; हिं०–अरण्ड; वं०–भेराण्डा; आन्ध्र–एरी; बो०–इरेंडी; म०–एरंड; गु०–एरंडो; राज०–एण्डिया, एरंडिया; ता०–आमणक्कु; क०–एरंड आंडलके; कन्नड–मण्डा; मला०–चिट्टामणक्कू; आसाम–इरी; मल०–इरन्डम्; अ०–खिरवा; फा०–बेदंजीर; तुरकी–करकच; अं०–Castor oil plants लै०–Ricinus communis linn.

उत्पत्ति स्थान

इसके वृक्ष प्रायः समस्त भारतवर्ष में खेतों के किनारे लगाए जाते हैं।

वर्णन

छोटा सर्वदा हरा वृक्ष। ऊँचाई ६ से १२ फीट। तना—स्निग्ध, हरित। पान—हरे या रक्ताभ १ से २ फीट व्यास के। पत्र कुछ हस्तांगुली के समान, चौड़े, विषम भग्न; पान का विभाग लम्बा और गोलाकार, अग्रभाग तीखा। पत्र का डण्ठल ४ से १२ इञ्च। पुष्पदण्ड बड़ा शाखा-प्रशाखा विशिष्ट। मञ्जरी में नर फूल आध इञ्च व्यास के, स्त्री पुष्प के ऊपर होते हैं, स्त्री-पुष्प के बाह्य कोष उतने ही लम्बे। पुंकेसर अनेक होती है, स्त्रीपुष्प का बहिर्वास १/२ इञ्च लम्बा। गर्भाशय तीन आवरण विशिष्ट; स्त्री केसर विस्तृत, गाढ़ लाल वर्ण। बीज कोष गोलाकार १/२ से १ इञ्च लम्बा। बीज लम्ब गोल, मसृण, मांसल, श्वेतवर्ण के दागों से युक्त। फल—द्विकोषीय। फलों पर कोमल काँटें होते हैं, फल में तीन बीज निकलते हैं, यह फल ऊपर चित्रित होते हैं और बीज के भीतर मींग सफेद निकलती है। उस मींग के भीतर तेल होता है। उस मींग अथवा तेल को खाने से जुलाब होता है। फूल-फल सब समय मिल जाते हैं। गुण—दोनों के समान हैं।

भेद

(१) लाल और (२) सफेद। सफेद के पुनः ये दो अवांतर भेद होते हैं (१) इसके बीज बड़े होते हैं इसका तेल जलाने के काम में आता है। (२) इसके बीज छोटे होते हैं। इसका तेल औषध में प्रयुक्त होता है।

लाल एरण्ड के वृक्ष का काण्ड, पत्र और फल रक्त वर्ण के होते हैं। छोटी जाति के दानों के एरण्ड में से तेल अधिक निकलता है। इनमें से औषध रूप से छोटी जाति के वृक्षों का मूल और तैल एवं बड़ी जाति के वृक्षों के पानों का उपयोग करना चाहिए।

रासायनिक संगठन

बीज में अन्यान्य तेलों के विपरीत सुरासार विलेय एक अनुत्पत्त् तेल ४५%, प्रोभूजिद २०%, पिष्ट, लवाब, शर्करा और राख १०%; तेल ग्लीसरोल के रिसिन ऑलिएट या स्वल्प पामिटिन और स्टियरीनयुक्त ट्राइ-रिसिन—आलीईन का यौगिक है। रिसिन ऑलीइक एसिड के ग्लीसराइड्स प्रधानतः विरेचन कर्म के लिए उत्तरदायी हैं। मुख द्वारा उपयोग करने से तेल साबुन के रूप में परिणत हो जाता और स्वतन्त्र अम्लयोग मुक्त हो जाता है। इसी के द्वारा उक्त कर्म निष्पन्न होता है। मग्ज में पाये जानेवाले तेल से भिन्न, बीज में रिसीन (Ricin) नामक अल्ब्युमिनाइड् स्वभाव का एक परम विषाक्त पदार्थ भी होता है। इसमें विरेचन गुण नहीं होता और न तेल में यह किसी अंश में पाया जाता है।

(यू० द्र० वि०)

उपयुक्त अङ्ग

मूल, त्वक्, पत्र और तैल।

प्रकृति

दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क। तैल—बीजों से ज्यादा गरम।

गुण-कर्म

संक्षेप में—रस में मधुर तिक्त। गुण में—विरेचक, शोधक, वातहर।

वीर्य में—उष्ण। विपाक में—मधुर। दोषशामक वात-कफ। शरीराङ्गों में मुख्य प्रभाव आन्त्र और वात संस्थान पर।

विशेष—एरंड की गुद्दी (मग्ज़ तुख़्मबेदंजीर) श्वयथु विलयन, शोथघ्न, वेदना स्थापन, लेखन, तीव्र विरेचक, कठोरता को मृदु करनेवाली, आर्तव जनन, उदर कृमि निःसारक और सर्पदंष्ट का अगद है। पत्र—यद्यपि गुण-कर्म में निर्बल है, तथापि इसमें अगद गुण अधिक हैं। यह प्रधान रूप से दुष्ट दोष विरेचनीय और शोथ विलयन है।

धन्वन्तरि निघण्टु के अनुसार एरण्ड रस कड़वा, मधुरविपाकी, उष्णवीर्य और वातनाशक है। उदावर्त, प्लीहा, गुल्म, वस्तिशूल और अन्त्रावतरण (Hernia) को दूर करता है। यह गुरु वात शामक और रक्त विकार-नाशक है। फल—मधुर, नमकीन, लघु, उष्णवीर्य, भेदन, पित्त और वात को जीतनेवाला है।

राजनिघण्डु के अनुसार

रस में चरपरा, विपाक में कड़वा, उष्णवीर्य और कफघ्न है। ज्वर, वात और कास को दूर करता है। लाल एरण्ड शोथ पाण्डु, ज्वर, कफ, भ्रान्ति, श्वास और अरुचि को दूर करता है। इनके सिवाय भावप्रकाश ने कटिवात, वस्तिपीड़ा, सिर-दर्द, उदर रोग, बद, आनाह, कुष्ठ और श्वास प्रकोप में भी लाभदायक कहा है।

एरण्ड मूल के गुण

एरण्ड मूलं शूलघ्नं वृष्यं वात कफापहम् ॥ (शो० नि०)

तैल निकालने की विधि

एरंड की गिरी को भून कर बारीक पीस कर जोश देते हैं और झाग उतार कर इकट्ठे करते रहते हैं फिर केवल पानी रहने पर उसे छोड़ झागों को गरम कर तैल तैयार कर लेते हैं।

नोट—आग और पानी से निकाला तैल दवा रूप में काम नहीं आता केवल जलाने में काम आता है। दवा में मशीन से दबाया हुआ या कोल्हू में पिरोया हुआ और फि जिसको वाष्प (Steam) द्वारा पुनः शुद्ध कर लिया है ऐसा एरण्ड-स्नेह (Castor oil) है और वही विरेचनार्थ काम आता है।

तैल के गुण

एरण्ड तैलं कृमि दोष नाशनं वातामयघ्नं सकलाङ्ग शूलहर
कुष्ठापहं स्वादु रसायनोत्तमं पित्त प्रकोपं कुरुतेऽग्नि दीपनम्
(शा० नि०)

डाक्टर देसाई के मतानुसार एरण्ड तैल सौम्य, स्रंस स्तन्यजनन, दाहशामक और वातहर है। मूल—वातहर स्रंसन वर्ग में एरण्ड तैल यह अच्छा उदाहरण है। रा को १-२ ड्राम देने पर दूसरे दिन सामान्यतः पतला पीले रङ्ग का एक या दो दस्त होते हैं। एरण्ड तैल अन्त्र की श्लैष्मिक कला में मृदुता आती है। इससे म की गाँठें शिथिल हो कर नीचे चली जाती है। इस त मल को सरकाने वाले द्रव्यों को स्रंसन कहते हैं।

एरण्ड तैल की क्रिया अन्त्र के प्रारम्भिक १२ अंगुल भाग (ग्रहणी) पर होती है। इसकी क्रिया यकृत् बिल्कुल नहीं होती। यह अति सौम्य होने से कभी नहीं देता। मात्रा अधिक होने पर कुछ पतला एकाध अधिक होता है। फिर भी कभी हानि नहीं पहुंचा एरण्ड तैल में पीछे से कुछ कब्ज करने का थोड़ा धर्म भी इस एरण्ड तैल के अतिरिक्त सारक, स्रंसन-अनुलोमिक की अन्य औषधियाँ—जैसे—सूखे अंजीर, काली मुन शुद्ध गन्धकादि हैं। इन द्रव्यों से भी विशेष और सदृश पतले दस्त नहीं होते। और उनसे अन्त्र का आदि कुछ भी हानि नहीं होती। इन सब में एरण्ड श्रेष्ठ है।

एरण्ड तैल सुबह खाली पेट होने पर देना साथ में अदरख का रस मिला देना, यह उत्तम है। अदरख के रस या सोंठ का क्वाथ मिलाने से निकालने की क्रिया और अग्नि को प्रदीप्त सहायता मिल जाती है।

स्रंसन औषधियाँ छोटे बालक, वृद्ध और स्त्रि दी जाती हैं। एरण्ड तैल सगर्भावस्था में भी

हैं। स्त्रियों के कटि स्थान में रही हुई इन्द्रियों का प्रदाह होता है उस पर एरण्ड तैल देने से कुछ भी त्रास नहीं होता। एलण्ड तैल में पीछे से कब्ज करने का धर्म भी है। अतः प्रति दिन रात्रि को सोने के समय १-२ ड्राम देने से जीर्ण मलावरोध दूर होता है। (देसाई)

डाक्टर खोरी ने लिखा है कि एरण्ड तैल प्रायः अदरख के रस या सोंठ के क्वाथ, चाय या दशमूल क्वाथ के साथ दिया जाता है। यह तैल उग्र नहीं है। सेवन करने के पश्चात् जब वह ग्रहणी में पहुँचता है तब वहाँ उसके साथ आग्नेय रस (Pancreatic juice) मिल जाता है। फिर वह एरण्डाम्ल में परिणत हो जाता है। जो आन्त्र में उग्रता लाता है। आन्त्र की ग्रन्थियाँ और आन्त्र की पेशी वृत्ति को उत्तेजित करता है। जिससे विरेचन-क्रिया होती है। एरण्ड तैल यकृत् को कभी उत्तेजित नहीं करता। इसका परिणाम ४-५ घण्टे में होता है। उदर में कुछ भी वेदना या शूल उत्पन्न किये बिना प्रवाही विरेचन होता है। फिर आन्त्र पर शामक असर पहुँचता है। यदि छोटे बच्चे की माता को एरण्ड तैल दिया गया हो तो वह दूध (स्तन्य) द्वारा बाहर निकलता है। जो बच्चे के उदर में जा कर उसे विरेचन करता है।

एरण्ड तैल अफरा, मलावरोध, ज्वर, आमवात, प्रजनन और मूत्र-संस्थान के अवयवों में प्रदाह, वृक्क प्रदाह, सूजाक, अश्मरी, गुद नलिका संकोच, मूत्र-मार्ग में संकोच आदि रोगों में व्यवहृत होता है। अतिसार का प्रारम्भ होने पर यदि आँतों के भीतर उग्रता उत्पादक मल या अन्य द्रव्य अवस्थित होने से अन्त्र-स्राव अधिक होता हो और उसमें रक्त-संचय अधिक हुआ हो तो एरण्ड तैल का सेवन कराना अति हितकारक है। इससे निर्बलता नहीं आती, बल्कि बल बना रहता है। उदर गुहा और विटप भाग (पेडू) पर शस्त्र-क्रिया करने पर एरण्ड तैल का सेवन कराया जाता है।

यदि अन्त्रिक ज्वर (मधुरा–Typhoid), सगर्भावस्था, प्रसवावस्था के पहले और प्रसव होने पर मलावरोध हो, तो एरण्ड तैल का प्रयोग किया जाता है। आन्त्र अथवा वृक्क के भीतर शूल चलने पर अदरख के रस और शहद के साथ मिला कर देने पर शूल शमन हो जाता है। आन्त्र में यदि गोल कृमि के हेतु से प्रदाह हुआ हो तो उसमें और उदर्य्याकला प्रदाह और पेचिश में अफीम के अर्क (अफीम के फल के छिलकों को गरम जल में भिगोया हुआ मन्दोष्ण जल) के साथ एरण्ड तैल दिया जाता है; जिससे वेदना शान्त होती है और उदर की शुद्धि होती है।

पाकोन्मुख विद्रधि (फोड़ा पकने की अवस्था में) हो, तो उस पर बीजों की गिरी को पीस पुल्टिस कर बाँधने से जल्दी पाक हो जाता है। आमवातज और वातरक्तज शोथ पर पुल्टिस बाँधने से वेदना कम हो जाती है।

छोटे शिशु की माता के स्तन पर प्रदाह होने पर स्तन्य-स्राव रुकता हो और उस हेतु से वेदना होती हो, तो एरण्ड के पानों को पीस पुल्टिस बना कर बाँधने से तुरन्त लाभ पहुँचता है।

यदि मासिक धर्म-काल में रजःस्राव योग्य न होता हो, तो अधिवस्तिक प्रदेश (नाभि के नीचे के भाग) पर एरण्ड के पानों को निवाया करके बाँधा जाता है। उदर गुहा के अवयवों (यकृत् प्लीहादि) की चिरकारी वृद्धि होने पर और चिरकारी रोगों में एरण्ड मूल के छाल का सेवन रक्त-प्रसादन रूप से कराया जाता है। (डा० खोरी)

मात्रा—मूलत्वक् चूर्ण ३ से ६ माशा। पत्र और स्वरस १/२ से १ तोला तक। तेल—२ से ५ तोला तक। २ वर्ष तक की उम्र के बालक को १।। से ३ माशा। दो वर्ष से पाँच वर्ष तक के बालक को ६ माशा (१।।ड्राम)। पाँच वर्ष से ऊपर की उम्र के बालक को १ तोला (३ ड्राम)।

बीज मात्रा—साधारण ३ से ५ दाने तक। पक्षाघात, अर्दित के लिए जिह्वा निकाले हुए मग्ज़ के ५ से ११ दाने तक। मासिक धर्म जारी करने के लिए शुद्ध मग्ज़ ४।। माशा।

उपयोग—एरण्ड का उपयोग आयुर्वेद में अति प्राचीन काल से अत्यधिक रोगों पर हो रहा है। यह अति निर्भय घरेलू औषधि है। बालक, वृद्ध, सगर्भा आदि को भी निर्भयतापूर्वक दी जाती है। चरक संहिता में अंगमर्द प्रशमन, स्वेदोपग और भेदनीय दशेमानियों में एरण्ड का उल्लेख किया है। स्वेदाध्याय में एरण्ड के पान पर रोगी को लेटाने का कहा है। इनके अतिरिक्त मधुर स्कंध, वातघ्न औषध समूह और अनेक रोगों की औषधियों में एरण्ड का उपयोग किया है। सुश्रुत संहिता में अधोभाग हर संशमन औषधियों में एरण्ड की गणना की गई है। एरण्ड के पान, बीज और मूल का क्वाथ स्वेदोपग है अर्थात् स्वेद साध्य रोगों में हितकारक है। चर्म विकार, रक्त विकार, शोथ, जलोदर, रक्त में विष-प्रकेप से उत्पन्न ज्वरादि विकार,

आम प्रकोप से उत्पन्न व्याधियाँ आदि में स्वेद देने से लाभ होता है, इन सब रोगों में एरण्ड का प्रयोग किया जाता है।

आन्त्रशूल, आमातिसारादि में जब ऐसा ज्ञात हो कि किसी स्थान पर आन्त्र में मल चिपका हुआ या भरा हुआ है या किसी भारी पदार्थ के खाने से भारीपन हो गया है उस समय रोगी को दस्त होता है फिर भी एरण्ड स्नेह का विरेचन देना योग्य है जिससे दस्त और शूल होने का कारण दूर हो कर दस्त बन्द हो जाते हैं।

एरण्ड को 'वातारि' कहा गया है और यह वायु के ऊपर अकसीर दवा है। वायु से अधिक करके अकड़ जाना, शूल और शोथ ये तीनों बातें होती हैं। ये तीनों लक्षण एरण्ड के सेक से मिट जाते हैं। उपरोक्त चिह्नों से युक्त वातव्याधि में एरण्ड मूल के क्वाथ का सेवन उपयोगी है।

प्रयोग—(१) सशूल आमवात में एरण्ड मूल त्वक् का क्वाथ अत्यन्त उपयोगी है।

(२) आमवात में, उसी प्रकार पेचिश में जब आमरक्त गिरता हो, पेट में सख्त शूल हो तब थोड़ा सोंठ ले कर एरण्ड के रस में पीस कर गोला बना उसको एरण्ड के पत्तों में लपेट कर पुटपाक के अन्दर पका कर फिर निचोड़, स्वरस निकाल कर पीने से पेचिश (प्रवाहिका) जल्दी ठीक हो जाती है। जठराग्नि दीप्त होती है और शूल मिट जाता है। इसको एरण्ड पुटपाक कहते हैं।

(३) **मक्कलशूल में**—दशमूल क्वाथ १ तोला, एरण्ड मूल त्वक् यवकूट १ तोला ले कर दिन में २-३ बार क्वाथ बना कर पिलाने से एकदम मक्कलशूल मिट जाता है।

(४) **अण्डवृद्धि**—३ माशा गूगल के क्वाथ में एरण्ड तैल १ तोला, गोमूत्र १ तोला मिला कर सुबह-शाम पीने और रुग्ण स्थान पर एरण्ड पत्र तेल लगा के गरम कर बाँधने से पीड़ा शीघ्र मिट जाती है। (आर्य औषध)

(५) **शय्याक्षत में**—एरण्ड तैल लगाने से शय्याक्षत (Bed sore) जल्दी मिटते हैं।

एरण्ड बीज शुद्धि—एरण्ड बीज मज्जा को जिह्वारहित करें अन्यथा उबाक आती रहती है फिर नारियल के जल में १ प्रहर दोला यन्त्र से स्वेदन करने से शुद्ध होते हैं। (यो० र०)

(६) **मेद और आँतों के रोगों में**—१० नग एरण्ड के बीजों की (जिह्वारहित) गिरी माउल् अस्ल (शहद के साथ जल या कोई अर्क मिला कर पकाते हैं, यही 'माउल् अस्ल' है।) के साथ खाने से दस्तों के रास्ते से आम और कृमि निकल जाते हैं।

(७) **पेट के विकार में**—शुद्ध मग्ज़ एरण्ड गाय के चौगुने दूध में पीस कर औटावें। जब खोवा की तरह हो जावे तो उसमें बराबर खाँड मिला कर अवलेह बना लें। रोजाना १॥ तोला खाने से पेट की वायु मिटे।

(८) इसके पत्तों का रस २-३ बार बच्चे की गुदा में लगाने से चुन्ने मर जाते हैं।

(९) **स्त्रीरोग**—एरण्ड गिरी को सिरके में पीस कर स्तन पर लगाने से वरम उतर जाता है।

(१०) शुद्ध एरण्ड गिरी मात्रा में खाने से रजःस्राव जारी होती है।

(११) स्त्री एरण्ड गिरी का ऊपरी सफेद पतला परदा और अन्दर की जीभ निकाल के रजःस्वला स्राव से मुक्त हो कर सेवन करती है तो एक वर्ष भर गर्भ नहीं रहता।

(१२) पत्तों का रस पिलाने से स्तनों में दूध की कमी दूर हो जाती है।

(१३) **एरण्डक्षीर**—शु० एरण्ड मींगी एक, दूध एक पाव, जल एक पाव के साथ औटावें और दूध मात्र रहने पर १ तोला मिश्री मिला रोगी को पिलावें। इस प्रकार एरण्ड गिरी एक से शुरु कर ७ दिन तक ७ गिरी तक क्रमशः बढ़ावें और इसी तरह १-१ प्रति दिन घंटा कर १ गिरी पर लाने से खून के रोग मिटते हैं।

(१४) **विषनाशन**—एरण्ड के पत्तों का रस पिला कर कै कराने से साँप, बिच्छू, अफीम, सींगीमोहरा का जहर मिटे। इसी प्रकार दूसरी तरह के जहर भी मिटते हैं।

(१५) **बालकों का वमन-विरेचन**—कभी-कभी छोटे बालकों के उदर में दूध की गोली (मल की गाँठ) बन जाती है। फिर वह सड़ने लगती है एवं उससे वमन-विरेचन होते हैं। ऐसी स्थिति में इस त्रासदायक मल (गोली) को बाहर निकालने के लिए एरण्ड तैल उत्तम औषध है।

(१६) **जीर्ण उदर वेदना**—जीर्ण उदर वेदना में रोगी रात्रि को सोने के समय यदि आध पाव गरम जल में एक नींबू का रस निचोड़ कर एरण्ड तैल डाला जावे तो उसका दुःस्वाद छिप जाता है। नींबू के रस के स्थान पर आर्द्रक रस

भी डाला जा सकता है। इस प्रकार कम मात्रा में लेते रहने से शनैः-शनैः वेदना-निवारण हो जाता है।

(१७) **प्रवाहिका** (अ)—पेचिश में आम और रक्त गिरता हो तो प्रारम्भावस्था में एरण्ड तैल देने से आम प्रकोप आधा कम हो जाता है। और रक्तस्राव में भी लाभ पहुँचता है।

(१८) **प्रवाहिका** (आ)—यदि पेचिश में रक्त नहीं आता हो, आम गिरता हो और ज्वर हो तो एरण्ड मूल को बकरी के दूध और जल में उबालें। फिर दूध शेष रहने पर छान कर पिलावें। यह उपचार सुबह और रात्रि को या दिन में ३ बार करना चाहिए। (च० चि० १०-५१)

(१९) **अर्श और गुदा की त्वचा फट जाना**—प्रतिदिन रात्रि को एरण्ड तैल देने से बहुत लाभ हो जाता है। अनेक आचार्य एरण्ड तैल के साथ थोड़ा शिलाजीत भी देते हैं। एवं कई वैद्य त्रिफला के क्वाथ के साथ एरण्ड तैल देते हैं।

(२०) **उपान्त्र प्रदाह** (Appendicitis)—छोटे-बड़े अन्त्र के संयोग स्थान पर उपान्त्र (Appendix) रूप एक अवशिष्ट भाग रहा है। वह कभी-कभी सूज जाता है, जिससे नाभि के दाहिनी ओर असह्य वेदना होती है, शौच-शुद्धि नहीं होतीं, वमन होता है, ज्वर आ जाता है, नाड़ी तेज चलती और सूक्ष्म हो जाती है। इस रोग के प्रारम्भ में एरण्ड तैल देने से शस्त्र-क्रिया की आवश्यकता नहीं रहती। इसमें एरण्ड तैल और हींग के जल के मिश्रण की वस्ति भी दी जाती है।

सावधानी—इस रोग में उदर वेदना बहुत होती है उसे दूर करने के लिए अफीम नहीं देनी चाहिए। आवश्यतानुसार खुरासानी अजवायन दे सकते हैं।

इस रोग की मुख्य औषधि कुचला है। कुचिला प्रधान अग्नि तुण्डी, विषतन्दुक, शूलान्तक बटी का सेवन ४-६ मास तक पथ्य पालन सह कराने से रोग निवृत्त हो जाता है।

(२१) **वात प्रकोप और वातशूल**—वात रोग में एरण्ड तैल उत्तम गुणकारक है। इस हेतु से इसे वातारि संज्ञा दी है। कटिशूल, गृध्रसी, पार्श्वशूल, हृदयशूल, कफजशूल, आमवात और संधिशोथ, इन सब रोगों में एरण्डमूल और सोंठ का चूर्ण क्वाथ करके दिया जाता है एवं वेदना वाले स्थान पर एरण्ड तैल की मालिश कराई जाती है। इन सब रोगों में एरण्ड तैल के साथ शिलाजीत का सेवन और बाह्य लेप भी कराना चाहिए।

(२२) **गृध्रसी**—(Sciatica) और कटिशूल के लिए भावप्रकाशकार के अनुसार एरण्ड के बीज की जिह्वा निकाली गिरी १-१ तोले को दूध में पका कर (खीर बना कर) सुबह पिलाते रहने से थोड़े ही दिनों में रोग दूर हो जाता है। (भा० प्र०)

(२३) **नूतन और तीव्र आमवात**—

> आमवात गजेन्द्रस्य शरीर वनचारिणः।
> एकएवाग्रगीर्हन्ता एरण्डस्नेहकेसरी॥
> कटितटनिकुञ्जेषु संचरन्वातकुञ्जरः।
> एरण्डतैल सिंहस्य गन्धमाघ्राय गच्छति॥
>
> (यो० र० पृ० ७८१)

एरण्ड तैल रोज सुबह खाली पेट होने पर देने से लाभ जल्दी होता है। (भा० प्र०)

(२४) **घुटने का जीर्ण वातशोथ**—इस पर एरण्ड तैल और शिलाजीत के मिश्रण से जैसा गुण मिलता है; वैसा अन्य किसी औषधि से नहीं मिलता।

(२५) **स्तनों में गाँठ पड़ जाना**—स्तनों पर एरण्ड तैल का मर्दन कर फिर एरण्ड पान बाँध देने से स्तन्य प्रकोप से उत्पन्न गाँठ बिखर जाती है और दूध अधिक उतरता है।

(२६) **स्तनवृन्त की त्वचा फट जाना**—स्तनवृन्त के चारों ओर त्वचा फट जाती है; उन पर एरण्ड तैल लगाने से तुरन्त लाभ होता है।

(२७) **नेत्रों में धूल, रेती गिरना**—विशुद्ध एरण्ड स्नेह (Castor oil) नेत्र में डालने से, नेत्र में प्रवेश हुए स्नुही क्षीर या अर्क क्षीर जन्य दाह, अणु (धूल, कोयले, मच्छरादि) बाहर निकल जाते हैं; एवं कुकूणक रोग में उसकी तीक्ष्णता भी कम होती है। एरण्ड तैल के अञ्जन से नेत्रों में से जल-स्राव होता है; इस कारण इसे नेत्र विरेचन कहा है।

(२८) **अर्श**—अर्श के मस्से में दाह होने पर एरण्ड तैल को घी कुंवार के गुद्दे के साथ मिला कर बाँधने से जलन शान्त हो जाती है। यदि शोथ आया हो तो वह भी दूर हो जाता है।

(२९) **वातरक्त**—एरण्ड के बीजों की गिरी को दूध में पीस, गरम कर शोथ स्थान पर बाँधें और ६ माशे सोंठ और १ तोले एरण्ड मूल का क्वाथ करके दिन में २ बार

पिलाते रहें, पिलाते समय ६ माशे शहद भी मिला लेना चाहिए।

(३०) **वृषणवृद्धि**—अण्डकोष बढ़े हों और रोग नया हो तो एक मास तक पथ्य पालन सह रोज सुबह दूध के साथ एरण्ड तैल पिलाने से वृद्धि दूर हो जाती है।
(सुश्रुत चि० ६-४४)

(३१) **उदरशूल**—एरण्डमूल त्वक् चूर्ण १ तोला, सोंठ चूर्ण ६ माशा का क्वाथ कर उसमें १ रत्ती भूनी हींग और २ रत्ती काला नमक मिला कर पिलाने से अपचजन्य शूल निवृत्त हो जाता है।

(३२) **योनिशूल**—एरण्ड तैल में रूई के फाहे को भिगो कर योनि स्थान में धारण करने से शूल शान्त हो जाता है। (गदनिग्रह)

(३३) **कामला**—गर्भवती को होनेवाले कामला की प्रारम्भावस्था में एरण्ड के पानों का रस १ तोला को दूध के साथ मिला कर रोज सुबह ५ दिन तक पिलाने से कामला दूर हो जाता है। एवं शोथ आया हो, तो वह भी दूर हो जाता है।

(३४) **कान में जन्तु का प्रवेश**—पुराने गाढ़े एरण्ड तैल से कान भर देवें और ऊपर रूई लगा देने से जन्तु मर कर निकल जाता है।

(३५) **प्रसव कष्ट**—प्रसव काल में कष्ट कम कराने के लिए सगर्भा को ५ मास हो जाने पर एरण्ड तैल से १५-१५ दिन बाद उदर शुद्धि कराते रहें।

प्रसव के समय में भी २ तोला एरण्ड तैल चाय या दूध में पिला देने से प्रसव शीघ्र होता है। (गां० औ० र० प्र०)

(३६) **कास**—एरण्ड पत्र का अन्तर धूम दग्ध क्षार, त्रिकटु, तिल तैल, पुरातन गुड़ मिला गोली बना कर सेवन करने से कास रोग मिटते हैं। (चरक)

(३७) **रतौंधी**—एरण्ड के कोमल पत्रों को घी में भूंज कर सेवन करने से रतौंधी दूर होती है। (वाग्भट)

(३८) **सर्प-दंशजनित रक्त दुष्टि पर**—एक प्रकार के चितकबरे सर्प के काटने पर वह स्थान नीला और सूज जाता है और बाद में छाले हो जाते हैं ऐसी जगह एरण्ड के मुलायम पत्ते १ तोला, ११ काली मिर्च दोनों चीजों को पानी में पीस-छान कर पिलावें। इससे वमन होगा और कफ निकलेगा। दुबारा इस तरह फिर पिलावें। दो बार में ही आराम हो जाता है। यदि आवश्यकता जान पड़े तो पुनः-पुनः पिलावें। निश्चय ही सर्प-दंशित रो स्वस्थ हो जायगा। (भा० ज० बू० द्वि० भा०)

निजी अनुभव—मैंने उक्तावस्था में २ तोला एर छाल का क्वाथ बनवा कर वस्त्रपूत करने के बाद मन्दो अवस्था में २ तोला गाय का घी और १ माशा काली मि चूर्ण मिला कर १५ दिन पिलाया, जिससे रोगी स्व हो गया।

गर्भाशय शोथ—प्रायः सन्तान उत्पन्न होने के पश्च पैदा होता है। इससे रोगिणी को बहुत वेग का ज्वर जाता है। ऐसी अवस्था के लिए एरण्ड के पत्तों का वस्त्र स्वरस में उम्दा शुद्ध रूई का फाहा भिगो कर योनि में रखा इससे आराम होगा। (भा० ज० बू० भा०

(४०) **बालकों के वास्ते सिद्ध एरण्ड स्नेह**— २ तोला, काला नमक आधा तोला, दोनों को जल में के टिकिया बना लें; २० तोला शुद्ध एरण्ड तैल कड़ाही में डाल उसमें उपरोक्त टिकिया डाल के दें। टिकिया बादामी रंग की होने पर कड़ाही आग से उतार टिकिया को अलग हटा, तैल को कर शीशी में रख लें। इस एरण्ड तैल की ३-४ २-३ बूंद शहद में मिला कर तीसरे, चौथे तथा आठवें एक वक्त बच्चों को देने से बालक तन्दुरुस्त रहता इससे उसके शरीर में वायु तथा कब्ज की तकलीफ होती। (जा० व० वैं० प्र० गुजराती)

(४१) **शास्त्रीय योग—एरण्डादि क्वाथ**
(यो० र० पृ० ७

एरण्ड की जड़, बिल्व छाल, छोटी कटेरी, बड़ी संचल नमक सोंठ सोंठ, मिर्च, पीपल, हींग, सैंधव क्वाथ धनुर्वात के लिए परम उत्कृष्ट है।

(४२) **एरण्ड स्वरस**—(भा० भैं० र० सं०

एरण्ड मूल का स्वरस आधा तोला दूध में मिला तीन दिन तक पीने और घृत तथा दूध भात का आहार करने से 'कामला' का अत्यन्त शीघ्र नाश हो

(४३) **एरण्ड भस्म योग**–(भा० भैं० र० सं०

एरण्ड को पत्र और मूलसहित ले कर बरतन करके पुट में भस्म करें। इसे १-१ तोले की मात्रा से गोमूत्र के साथ पीने से तिल्ली रोग का नाश होता है।

(४४) एरण्डादि गुटी (सं० ५६५)

(शेषांश ५६ पृष्ठ पर)

आम्रकल्प

श्री इन्द्रप्रसाद गुप्त

गर्मी की ऋतु आ गयी, बरसात आनेवाली है। आम की फसल तैयार है। आम खाने के दिन आ रहे हैं। आम का टिकोरा खाने या उसकी चटनी बनाने तथा कच्चे आम को भून कर उसका पानी पीने के अतिरिक्त लोग आम का अचार, मुरब्बा, अमहर, अमचुर, खटाई, अमावट इत्यादि नाना प्रकार के व्यंजन बनाते हैं। पके हुए आम का सुमधुर एवं सुगन्धित स्वाद सर्वोपरि होता है। आम की गुठली तक बहुत काम आती है। भिन्न-भिन्न और भाँति-भाँति के इतने प्रयोग तथा उपयोग सम्भवतः अन्य किसी फल के नहीं होते। इसीलिये आम सब फलों का राजा है। सब फलों से अधिक बलवर्द्धक तथा लाभदायक है। आबाल, वृद्ध, वनिता सभी इसे बड़े चाव से खाते हैं, इसीलिए आम सर्वप्रिय तथा सर्वगुण सम्पन्न कहलाता है।

पका हुआ आम जीवन-निर्वाह के लिये ही नहीं, वरन अनेक रोगों के निवारणार्थ और स्वास्थ्य-सुधार के लिये भी आवश्यक तथा पोषक पदार्थों का भण्डार सिद्ध हुआ है। उसमें विटामिन 'सी' जितनी अधिक मात्रा में मिलता है, उतना और दूसरे पदार्थों में कम ही पाया जाता है। खाद्योज सम्बन्धी खोज करनेवाले वैज्ञानिकों के मतानुसार आम में सेव की अपेक्षा छै गुना अधिक विटामिन 'सी' होता है। विटामिन 'ए' भी पर्याप्त मात्रा में मिलता है और ये विटामिन आम के गूदे तथा छिलके दोनों में पाये जाते हैं।

अजीर्ण के कुछ ऐसे रोगी जिनके स्नायु-संस्थान दुर्बल हो चुके हों और जिनकी आँतें काम करने से जवाब दे चुकी हों, आम के नियमित एवं संयमित सेवन से लाभ उठा सकते हैं। आम बहुत पौष्टिक होता है। दूध की भाँति आम भी रोगी और निरोगी दोनों के लिये हितकर है। रक्त-वर्द्धक, शुक्रवर्द्धक, पित्त के विकारों को दूर करनेवाला, निर्बल आँतों के लिये हितकारी, कब्जनाशक, प्राणदाता आम मेदे के समस्त विकारों को नष्ट करके शरीर को हृष्ट-पुष्ट बनाता है। प्रकृति द्वारा प्रदत्त आम से तृप्तिकारक एवं सुस्वाद, खाद्य की समता करने में मनुष्य का बनाया कोई भी भोजन समर्थ नहीं है। आम में यथेष्ट फुजला (रेशा) होने के कारण कब्ज शीघ्र टूटता है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि श्वेतसार आठ घण्टे में पच कर शर्करा बनता है। इसके बाद ही उसका अर्थात् गेहूँ, चावल आदि अनाज से मिलने वाले श्वेतसार का उपयोग हमारा शरीर कर पाता है। लेकिन वही, बल्कि उससे कहीं अच्छे किस्म की शर्करा पके हुए आम में स्वाभाविक रूप से रहती है और आम के शरीर में पहुँचते-पहुँचते शरीर उसका उपयोग करना अथवा उसे ग्रहण करके उससे लाभ उठाना प्रारम्भ कर देता है एवं उसे शक्ति मिलने लगती है। भारी दुष्पाच्य अथवा गरिष्ट चीजें पचाते-पचाते थक कर चूर हुई पाचन-शक्ति और पाचन-प्रणाली जब निकम्मी, निश्चेष्ट, नाकाबिल होने लगती है, तो कुछ दिनों तक आम खा कर अथवा आम और दूध का सेवन करके, उसे पाचन के भारी काम से कुछ समय के लिये छुट्टी या विश्राम दे देने से वह धीरे-धीरे सशक्त एवं सतेज हो कर पुनः अपनी पूर्व शक्ति (क्षमता) को प्राप्त कर लेती है। आम और दूध से अथवा आमकल्प से पाचन-शक्ति सुधरने का यही रहस्य है।

कायाकल्प के लिये आम मीठे और पतले रसवाला होना चाहिये। ये गुण बीजू (देशी) चुसुआ आम में ही मिलेंगे। आम डाल के पके हों, तो सर्वोत्तम अन्यथा पाल के पके आमों से भी काम चलता है। मेरे मित्र डाक्टर बिट्ठलदास मोदी तो कलमी आम का भी कल्प करने की अनुमति देते हैं, सिर्फ एक शर्त के साथ, कि कलमी आम के गूदे को इतना चबाया जाय कि वह मुँह में बिल्कुल पानी सरीखे पतले रस में परिणत होने के बाद ही गले के नीचे उतरे। कलमी लंगड़े आम का खतरा दरअसल उसकी जाति में नहीं, बल्कि हमारी जल्दी-जल्दी खाने की बुरी आदत या प्रवृत्ति में होता है। और दूसरा खतरा होता है आम के अमृतमय स्वाद के कारण उसे भूख या आवश्यकता से अधिक खा जाने से होनेवाली हानियों का।

आम और दूध

गाय अथवा बकरी का दूध हमारे लिये सर्वश्रेष्ठ भोजन तो है ही, अनेक रोगों की दवा (महौषधि) भी है। विशेषतः गाय का ताजा धारोष्ण दूध का बल, वीर्य, पुरुषार्थ, यौवन, आकार-प्रकार, ऊँचाई तथा औसत आयु (जीवन या जिन्दगी) बढ़ाने अथवा उन्नत बनाने में अद्वितीय है। संसार का कोई भी खाद्य पदार्थ दूध की बराबरी नहीं कर सकता। दूध स्वयं में एक पूर्ण भोजन है, क्योंकि प्रकृति उसे अबोध शिशु के लिये उत्पन्न करती है, जो दूध के सिवा अन्य कोई चीज ग्रहण नहीं कर सकता।

आम और दूध दोनों में क्षारों तथा विटामिनों का अति सुन्दर सम्मिश्रण तथा आधिक्य रहता है। दोनों ही सहज सुपाच्य हैं। इसीलिये आम का कल्प करना अथवा आम और दूध का सेवन करना तो कुछ दिन देवताओं का भोजन ग्रहण करने के समान है। गुण और स्वाद की दृष्टि से भी आम और दूध यह दोनों एक दूसरे के पूरक हैं। अतएव, आम को स्वर्ण और दूध को सुगन्ध मान लेने से सोने में सुगन्ध वाली कहावत चरितार्थ हो जाती है।

आम और दूध से दुर्बलों को तगड़ा बनाया जा सकता है, यदि उन्हें पहले तीन दिन का उपवास कराया जाय और उपवास काल में एनिमा द्वारा पेट की भीतरी धुलाई और सफाई हो, जैसी कि प्राकृतिक चिकित्सालयों में होती है। फिर तीन दिन केवल दूध पी कर रहा जाय। चार-चार पाँच-पाँच घण्टे पर एक-एक या डेढ़-डेढ़ पाव ताजा धारोष्ण अथवा थोड़ा गरम किया हुआ (उबाला या औटाया हुआ नहीं) गाय का दूध, बिना चीनी डाले, फीका ही पिया जाय। उसके बाद ४०-४५ दिनों तक दिन में दो बार आम दूध तथा एक या दो बार केवल दूध लिया जाय।

आम्रकल्प में अर्थात् आम और दूध खाने में आनन्द हीं आनन्द है। आम द्वारा कायाकल्प करने की विधि बहुत आसान है। दुर्बल हों तो तीन-चार दिन और मोटे हों तो पाँच-सात दिन (या आवश्यकतानुसार कुछ अधिक भी) केवल पानी पी कर रह जायँ अर्थात् जलाहार करें और जलाहार या उपवास की इस प्रारम्भिक अवधि में (१) केवल पानी, (२) जल में थोड़ा कागज़ी नीबू का रस, (३) पानी में थोड़ा शहद और थोड़ा नीबू का रस, (४) किशमिश और नीबू का पानी अथवा (५) सिर्फ थोड़े से पानी में उबाली हुई कुछ हरी तरकारियों का अलोना (बिना नमक का), रसा या सूप के अतिरिक्त कुछ भी न खायें-पियें। साथ ही साथ उपवास, जलाहार या रसाहार के इन प्रारम्भिक दिनों में रोज सेर-डेढ़ सेर गुनगुने गरम पानी का एनिमा लेते रहें। एनिमा के पानी में एक या दो तोले नीबू का रस मिला सकते हैं, दूसरी कोई चीज़ नहीं। साबुन का घोल मिलानेवाला पुराना तरीका ठीक नहीं था। इस प्रकार दो-तीन रोज़ से एक या दो सप्ताह तक शरीर की अन्दरूनी सफाई कर लेने से पाचन-प्रणाली को पूरा आराम मिल जाता है और आँतों से सड़ा-गला मल भी बाहर निकल जाता है। आगे, अर्थात् जलाहार या उपवास काल के बाद भी यदि आम्रकल्प के दौरान में कब्ज शेष रहे तो थोड़े (लगभग आधा सेर) पानी का एनिमा नित्य लेने में कोई हर्ज़ नहीं है।

आम और दूध कैसे शुरू किया जाय?

यदि प्रारम्भिक उपवास या जलाहार तीन दिन का रहा हो, तो पहले दिन (चौथे दिन से) खूब पतले और मीठे रस वाले छोटे-छोटे चार-चार बीजू (देशी) आम सवेरे दोपहर तथा शाम को लें, दिन भर में कुल बारह आम और यदि तीन दिन से अधिक का उपवास किया हो तो उपवास की लम्बाई के अनुसार पहले दिन में तीन बार (सुबह, दोपहर शाम) एक से चार आमों तक का रस एक पाव पानी में निचोड़ एवं छान कर पियें। जो भी आम काम में लायें उन्हें कम-से-कम दो-तीन घण्टे तक खूब ठण्डे पानी में अवश्य भिगो लें। दूसरे दिन से आम को चूस-चूस कर खाना शुरू करें और धीरे-धीरे भूख के अनुसार आमों की संख्या एक-एक या दो-दो करके बढाते चलें।

इस प्रकार तीन-चार दिन केवल आम के रस पर ही रहें फिर प्रत्येक आहार के साथ एक-एक पाव गाय का दूध लेना शुरू करें। यथासम्भव सबेरे-शाम ताजा धारोष्ण दूध कच्चा ही पियें और दोपहर को अगर धारोष्ण दूध उपलब्ध न हो सके तो सबेरे का गरम करके रखा हुआ दूध ले सकते हैं। दूध के गिलास को गरम पानी के बर्त्तन में दस-पाँच मिनट तक रखे रहने से भी दूध धारोष्ण दूध की तरह गुनगुना गरम हो जाता है।

दूध कैसे पीना चाहिए?

दूध को भी आम की तरह चूसिये, मुँह में खूब चुभलाइये घुलाइये। छोटी-छोटी घूंटों में, थोड़ा-थोड़ा करके और कूँच-कूँच कर (चबा-चबा कर) दूध को खाइये, उसे गटा

नहीं पीजिये। इस मेहनत और सावधानी से मुँह का लार (सलीवा) दूध में मिल कर पेट में जाने के कारण दूध अत्यधिक सुपाच्य तथा गुणकारी हो जाता है।

धीरे-धीरे प्रति दिन दूध की मात्रा प्रति बार में एक पाव से बढ़ा कर आधा सेर तक की जा सकती है, फिर अधिक भूख लगने पर आम दूध के सम्मिलित दो आहारों के बीच में भी केवल दूध लिया जा सकता हैं, लेकिन आवश्यकता एवं क्षुधानुसार प्रति बार एक पाव से आधा सेर तक ही, अधिक नहीं। हाँ, प्यास लगने पर पानी पीने में कोताही मत कीजिये।

इस कायाकल्प में दूध शुरू करने से पूर्व केवल आम के रस पर तीन चार दिन रह जाने से लाभ यह होता है कि आँतों में पुराने मल या विजातीय द्रव्य की सड़न से उत्पन्न हुए शत्रु कृमियों का नाश हो जाता है और मित्र कृमियों की संख्या बढ़ जाती है, जिससे पाचन एवं मल निष्कासन-क्रिया उन्नत (दुरुस्त) होती है और यदि वायु कुपित रहती है, तो वह भी शान्त हो जाती है। दूध का आहार शुरू हो जाता है। दूध का आहार शुरू हो जाने पर यह कार्य उतनी तेजी से नहीं हो पाता, क्योंकि एक तो थोड़े दूध में कृमिनाशक शक्ति नहीं होती और दूसरे दूध का उपयोग (पाचन) भली प्रकार से हो सकने के लिये भी कृमिरहित (शत्रु कृमि से मुक्त एवं स्वस्थ) पाचन-प्रणाली चाहिये।

भूख से अधिक न खाइए

आम खाते समय ध्यान रखिए कि आम के बाद अभी फौरन ही दूध भी पीना है, अतएव, उसके लिये पर्याप्त भूख बची रहे। दूध बिना मीठे का, कच्चा और फीका रहेगा इसलिये अच्छी तरह भूख बाकी न रहने पर आम की मिठास के बाद स्वादिष्ट नहीं लगेगा। असली स्वाद तो भूख में होता है, भोजन में नहीं। बिना भूख के मेवा या मिठाई में भी उतना मजा नहीं आता, जितना कड़ी भूख में केवल चना चबाने में आता है। इसलिये आम चूसते समय दूध भी सामने रखा जाय और बीच-बीच में उसकी छोटी-छोटी घूँटें भरते रहा जाय तो कुछ हर्ज नहीं। हमेशा इतनी ही मात्रा में आम या दूध लेना चाहिए कि दूसरे आहार के समय तक भूख कस कर लगे। यदि न लगे तो समझना चाहिए कि पिछले आहार में आवश्यकता से अधिक आम खा लिये गए हैं, अतः उसके परिहारस्वरूप अगला आहार ग्रहण न करके सिर्फ पानी पीते रहें। दूसरे वक्त जोर से भूख लगेगी और तभी आप पुनः आम और दूध प्राप्त करने के अधिकारी होंगे।

आम और दूध की मात्रा

आम-दूध के कल्प में तीन आहारों की आवश्यकता प्रायः बच्चों और जवानों को ही होती है, जिनकी भूख और पाचन-शक्ति प्रबल हो। वयस्कों, अधेड़ लोगों तथा बूढ़ों के लिए तो दो ही आहार काफी हैं। जो दुबले हों और जिन्हें भूख कम कस कर लगती हो, वे आम-दूध के दो आहारों के बीच-बीच में भी केवल दूध ले सकते हैं और इस प्रकार नित्य कुल मिला कर दो-ढाई सेर तक दूध पी सकते हैं, बीस-पचीस आम के अलावा।

आम्रकल्प के आरम्भ में, जब दूध न लिया जाय तब आम चूसने के बाद, दूध की जगह एक पाव पानी अवश्य पीना चाहिए। - क्योंकि आम के पचने में दूध से जो सहायता मिलती है, वह उसके जलाधिक्य का ही फल है। इसलिये आम चूसने के बाद अगर दूध न पीना हो, तो थोड़ा जल जरूर पी लेना चाहिए।

कायाकल्प की अवधि

साधारणतया लोग कल्प की अवधि चालीस दिन मानते हैं, मगर आम्रकल्प के लिये ऐसा कोई प्रतिबन्ध नहीं है। जितने दिन आम आये और जितने दिन चल सके, महीना, दो महीना, ढाई महीना खूब डट कर इसे प्रेम और श्रद्धा-सहित विश्वास के साथ चलाते चलना चाहिए, क्योंकि इससे लाभ ही लाभ है, किसी प्रकार की हानि नहीं।

कल्प का अन्त

जब कल्प तोड़ना या समाप्त करना हो तो पहले दोपहर को (दिन में सिर्फ एक बार) दूध और आम की जगह चोकर समेत आटे की एक हल्की-सी रोटी, कुछ हरी तरकारियाँ और कुछ आम भी लिये जायँ। फिर दो-तीन दिन इसी प्रकार दोपहर को भूख के अनुसार एक-एक या आधी-आधी रोटी और पर्याप्त मात्रा में हरी सब्जी, शनैः-शनैः बढ़ाते हुए खूब चबा-चबा कर खाने लग जाना चाहिए। सुविधा हो तो दोपहर को या शाम को केवल एक वक्त रोटी सब्जी और दूसरे वक्त (दिन में अर्थात् सूर्यास्त से पूर्व) आम, दूध का भोजन महीनों चल सकता है। जो लोग दो-तीन सप्ताह से अधिक समय तक आम और दूध का कल्प न कर पायें, उन्हें चाहिये कि इस मिश्रित भोजन पर दो-तीन सप्ताह जरूर बिता दें। एक वक्त रोटी-सब्जी और दूसरे वक्त

आम और दूध लेना शुरू कर चुकने के बाद आप जब चाहें तभी स्वास्थ्यप्रद साधारण भोजन पर उतर आ सकते हैं।

आम के कल्प से अर्थात् आम और दूध खाने से दुबले-पतले आदमी तन्दुरुस्त बनते हैं, खुरदरी त्वचा स्वच्छ एवं सलवण (सलोनी) हो जाती है, अशक्तता जा कर शरीर सुपुष्ट होता है, आँखों में तेज भरता है, दाँत साफ हो जाते हैं और कपोलों पर लालिमा छा जाती है। इससे भूख बढ़ती है, कब्ज चला जाता है और शरीर में उत्साह तथा उमंग का संचार होता है। इसके दो प्रधान कारण हैं। पहला यह कि आम और दूध में शरीर के लिये अत्यधिक आवश्यक क्षारों तथा विटामिनों की बहुतायत रहती है। दूसरा कारण है, आम और दूध दोनों की सहज सुपाच्यता।

शरीर में (रक्त में) क्षार तथा अम्लता (खटाई) का अनुपात ८० : २० होना चाहिए। अर्थात् मनुष्य को ४।५ भाग क्षारमय अथवा क्षार प्रधान और १।५ भाग अम्लोत्पादक भोजन करना चाहिए। यह क्षार अधिकतर मौसम के ताजे फलों में, स्थानीय हरी और ताजी तरका में, किशमिश, मुनक्का, खजूर, अंजीर आदि कुछ मूखे में, नींबू, टमाटर, कच्चा धारोष्ण दूध आदि में होता है अम्लता होती है रोटी, दाल, भात (अन्न), घी, तेल (चिक चीनी, खास कर सफेद और दानेदार शक्कर, चरपरे-च एवं तले हुए पदार्थ या पकवान, मिर्च मसाले, मिठा बिस्कुट, चाय, काफी, कोको इत्यादि में, जिन्हें ही साधारण सब लोग अधिकतर खाते पीते हैं और जिसके दुष्परि स्वरूप अनेक रोग किसी विशेष क्षार अथवा विटामिन कमी के कारण प्रकट होते हैं और बहुत-से रोग रक्त (शरीर में) अम्लता का उपर्युक्त बीस प्रतिशत अ बढ़ जाने से होते हैं।

इसलिये कुछ दिनों तक लगातार आम और दूध से अर्थात् केवल क्षार ही क्षार की अधिकता प्राप्त होने से, बढ़ी हुई अम्लता स्वभावतः घट जाती है, क्षार अम्ल का बिगड़ा हुआ अनपात सुधर जाता है और हम नी हो जाते हैं।

शेषांश] **एरण्ड** [५२ पृष्ठ

एरण्ड के बीजों की (जिह्वारहित) गिरी, सोंठ और मिश्री समान भाग ले कर यथाविधि गोलियाँ बनावें। इन्हें सेवन करने से आमवात का नाश होता है।

(४५) एरण्ड पाक (यो० र० वा० व्या०)

एरण्ड के पक्के बीजों की मींगी (गिरी) १ सेर ले कर उसे ८ सेर दूध में मन्दाग्नि पर पकावें और खोया हो जाने पर उसे आधा सेर घी में भून लें और फिर ४ सेर खाँड़ की चाशनी में मिला लें और उसमें त्रिकुटा, तेजपात, दालचीनी, नागकेसर, इलायची, पीपलामूल, चीता, चव्य, सोया, सौंफ, कचूर, बेल, अजवायन, दोनों जीरे, हल्दी, दारुहल्दी, असगन्ध, खरेटी, पाठा, हाउबेर, वायविडंग, पोखरमूल, गोखरू, कूठ, त्रिफला, देवदारु, काला विधारा, बबूल का गोंद, एलबालुक और शतावर। प्रत्येक का चूर्ण १-१ तोला मिला कर रक्खें। इस पाक को यथोचित अनुपान के साथ सेवन करने से वातव्याधि, शूल, सूजन, वृद्धिरोग, उदर रोग, अफरा, वस्तिशूल, गुल्म, आमवात, कटिशूल, उरुग्रह और हनुस्तम्भ का नाश होता है।

(४६) एरण्ड तैल योगः १ (सं० ५७३)

१ मास तक गोमूत्र में एरण्ड का तैल डाल कर पीने से गृध्रसी और उरुग्रह का नाश होता है।

(४७) एरण्ड तैल योगः २ (सं० ५७४)

गृध्रसी के लिए एरण्ड के तैल को असगन्ध, खरेटी, सोंठ और दशमूल के क्वाथ तथा कल्क से सिद्ध करके पीना चाहिए एवं इसी की वस्ति भी लेनी चाहिए।

(४८) एरण्ड तैल हरीतकी (सं० ५७८)

एरण्ड के तैल में भूनी हुई हरड़ों को ७ दिन तक गोमूत्र के साथ पीने से श्लीपद (हाथीपग) का नाश होता है।

(४९) एरण्डादि तैलम् ३ (सं० ५८१ विसर्प)

अरण्ड के बीज, कड़वी तोरी के बीज, निबौली, के बीज, बावची, और अंकोल। सब चीजें समान ले कर पाताल यन्त्र द्वारा तैल निकालें।

इस तैल की मालिश से विसर्प आदि अत्यन्त नष्ट होते हैं।

एरण्ड के जहरीले लक्षण

लाल एरण्ड के २० बीजों की गिरी नशा पैदा क है और ५० दानों के खाने से बहुत वमन हो कर मर जाता है। इस कदर की मात्रा कुत्ते के लिए भी जहर इसका छिलका निहायत जहर है। अगर कोई व्यक्ति बीजों का परदा साढे दश माशा खा जावे तो वह मर जा

चिकित्सा अरण्ड जहर

जिसने एरण्ड जहरीली मात्रा में खा ली हो तो उसे (वंशलोचन) ४० माशा पीस कर ४॥ तोला ति और ठण्डे पानी से मिला कर पिलावें। रस अनार तिर्याक है।

तात्कालिक चिकित्सा

आमाशय की नलिका या वामको द्वारा शुद्धि क उत्तेजक द्रव्यों का प्रयोग करावें और अधः त्वक् मारफीन का प्रयोग करें। रोगी को पूर्ण विश्राम दे शरीर को बाहर से गर्मी पहुँचावें।

पत्र, त्वक्, बीजादि—

अहितकर—आमाशय के वास्ते।
निवारण—कतीरा और मस्तगी।
प्रतिनिधि—जमालगोटा।

शीर्षक दो प्रकरणों को तथा चिकित्सा स्थान के कुछेक अध्यायों को फिर से लिखा जो तीसरी और चौथी शताब्दी के बीच खो गए। इनके अतिरिक्त चरक संहिता पर जितने सारे भाष्य थे, उनमें ११वीं शताब्दी के बीच चक्रपाणि दत्त लिखित भाष्य ही आज उपलब्ध है और इस पर लिखे गए अन्य अधिकारी विद्वानों के भाष्य खो गए हैं। सुश्रुत संहिता का, जो कि मूलतः ५वीं शताब्दी ई० पू० में लिखी गई थी, परिष्कृत सम्पादन बहुत आगे चल कर नागार्जुन ने किया।

इस संहिता पर आज जो दो भाष्य उपलब्ध हैं, वे हैं चक्रपाणि दत्त कृत भाष्य जिसमें केवल सूत्र स्थान की विवेचना है, तथा डल्हण लिखित भाष्य। इस सम्बन्ध में ध्यान देने योग्य महत्त्वपूर्ण बात यह है कि इन संहिता-ग्रन्थों का सम्पादन परिष्कृत ढंग से अनेक बार सम्पन्न हुआ तथा इन पर जितने भी भाष्य आज उपलब्ध हैं वे सभी २० शताब्दियों के पश्चात् लिखे गए। इन भाष्यों के अध्ययन से पता चलता है कि इन दोनों "संहिताओं" के विद्वान भाष्यकारों ने परम्परागत निर्वचन-पद्धति के अनुसार ही मूल सूत्रों का अर्थ किया है। इसकी सम्भावना है कि उन पर समसामयिक औषधशास्त्र के सैद्धान्तिक और व्यावहारिक पक्षों के प्रचलित ज्ञान का भी प्रभाव पड़ा हो।

किन्तु, उपर्युक्त भाष्यों के सही मूल्यांकन से इसका आभास नहीं मिलता कि इन भाष्यकारों ने मूल सूत्रों का रचना-शारीर, शरीर-क्रिया (जीव-रसायन संहिता), औषधीय और वैकृत विचारधारा सम्बन्धी निर्वचन यथार्थ जीवन में जो देखा-भाला और व्यावहारिक ढंग से जो पठन-पाठन किया, उसी के आधार पर किया है। बिल्कुल यही बात औषधीय और विकृति विज्ञान सम्बन्धी विचाराधाराओं पर भी लागू है। स्यात् उन्होंने ऐसा किया भी हो, परन्तु उनके भाष्यों में इसका कोई आभास नहीं मिलता। तिस पर भी ये प्रामाणिक भाष्य मूल्यवान् हैं, और इनमें अत्यन्त उपयोगी मन्तव्य भरे पड़े हैं। हाँ, हमें शंका अवश्य है कि आज के युग में आयुर्वेद के उचित अध्ययन के लिए ये पर्याप्त सिद्ध हो सकेंगे या नहीं। कदाचित् ये पूर्णतः उपयोगी सिद्ध न हो सकेंगे। ये भाष्यकार यह मान कर चले हैं कि अधिकतर केसों में विद्यार्थी को आयुर्वेद-अध्ययन के आधारगत विज्ञानों का भरपूर ज्ञान होगा ही। उदाहरणार्थ, हेमाद्रि ने वीर्य-सिद्धान्त संबंधी अपने भाष्य में यह मान लिया है कि छात्र इस तथ्य से पूर्णतया अवगत हैं कि वीर्य शब्द का तात्पर्य शक्ति (इनर्जी) से है, और उसके विचार में इस अर्थ से सारा संसार अभिज्ञ था।

> शक्त्युत्कर्षे वीर्यशब्दो लोकेऽपि प्रसिद्धः।
> (हेमाद्रिकृत अष्टांगहृदय, सूत्र. १)

संहिता-ग्रन्थों पर जितने भी भाष्य उपलब्ध हैं उन सब में इस तरह के बहुत-सारे मन्तव्य देखने में आये हैं। साथ ही, इन भाष्यों में विविध विषयों पर विभिन्न अधिकारी विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विभिन्न विचारधाराओं का उल्लेख भी मिलता है, किन्तु इनमें यह विवेचन नहीं है कि इनमें से कौन-सी विचारधारा वस्तुतः मान्य और प्रयोज्य है। फिर भी, जैसा कि पहले कहा जा चुका है, ये भाष्य विविध विचारधाराओं के अनुपम समुच्चय हैं। चक्रपाणिदत्त द्वारा धात्वग्निपाक पर प्रस्तुत विद्वत्तापूर्ण भाष्य इस तथ्य का अच्छा निदर्शन है, जिससे हमें (जीव रसायन समेत) आधुनिक प्राकृत-विज्ञान द्वारा वर्णित अन्तर्माध्यमिक कायाग्नि व्यापार (Intermediary metabolism) की प्रमुख तथा विशिष्ट बातों का ज्ञान प्राप्त होता हो। ऐसे-ऐसे सुन्दर विवरणों में भी, जिनमें से एक ऊपर उद्धृत है, ब्योरेवार बातें नहीं मिलतीं, बल्कि सामान्य सिद्धान्तों की चर्चा भर है। स्पष्टतया इसका अर्थ यही है कि शिक्षकगण अध्यापन के समय इन सामान्य सिद्धान्तों पर सविस्तार टीका-टिप्पणी करते हुए छात्रों को बताएँ कि वे यथार्थ अवसरों पर, प्रक्रियाओं में तथा अन्तर्ग्रस्त तत्त्वों के सम्बन्ध में किस तरह अपने ज्ञान का प्रयोग करेंगे। अध्यापन की यह परिपाटी प्रायः समाप्त हो चुकी है। आजकल आयुर्वेद के शिक्षक गण सविस्तार बातें बताने और मूल सूत्रों तथा भाष्यों में वर्णित तथ्यों को व्यवहारिक रूप से समझाने में कठिनाई अनुभव करते हैं। आयुर्वेद के शिक्षण में आज जो गतिरोध उत्पन्न हो गया है, उसका कारण यह है कि इसने विद्वान तो अवश्य उत्पन्न किये किन्तु वैज्ञानिक नहीं। परिणाम यह है कि हमारे विद्वान किसी विषय पर अनन्तकाल तक शास्त्रार्थ करने की क्षमता तो अवश्य रखते हैं, किन्तु प्रत्यक्ष सत्य को भी प्रदर्शित नहीं कर सकते। वाचस्पति मिश्र के समय में ऐसी प्रवृत्ति इस तरह घर कर गई थी कि उन्हें यह अभ्युक्ति करनी पड़ गई कि तर्क-प्रेमी बहुधा प्रत्यक्ष का दर्शन भी अनुमान के सहारे ही करना चाहते हैं।

"प्रत्यक्ष परिकल्पितमपि अनुमानेन बुभुत्सन्ते तर्करसिकाः"
(वाचस्पति मिश्रः)

आयुर्वेद के शिक्षण की भी ठीक यही अवस्था रही है। आज यह प्रत्यक्ष की अपेक्षा तर्क-अनुमान का विषय अधिक हो गया है। वस्तुनिष्ठता और प्रदर्श्यता की कमी के कारण ही आयुर्वेद-शिक्षण के क्षेत्र में अभी बहुत कुछ करना बाकी है।

ऐसा प्रतीत होता है कि मिश्र या शुद्ध, किसी भी प्रकार की आयुर्वेदिक संस्था में आयुर्वेद का शिक्षण तब तक निर्दोष न हो सकेगा जबतक कि इसके विभिन्न क्षेत्रों में यथेष्ट वैज्ञानिक शोध न किये जायँ। यदि महान् आयुर्वेद-शास्त्रों में अन्तर्निहित सिद्धान्तों की शिक्षा उचित रीति से देनी है, तो हमें अबतक अपनाई गई पद्धति से कोई भिन्न पद्धति अपनानी ही होगी। ऐसी पद्धति में, न केवल संहिताओं पर उपलब्ध भाष्यों का ही उपयोग किया जाना चाहिए बल्कि विज्ञान से सम्बद्ध विषयों में किये गये आधुनिक वैज्ञानिक शोधों की उपलब्धियों से भी लाभ उठाना होगा। जीवकाय का विवेचन करनेवाली इन संहिताओं का सर्वोत्तम भाष्य, शास्त्रों में वर्णित सम्बद्ध सिद्धांतों की पृष्ठ-भूमि में स्वयंजीव-काय का व्यावहारिक अध्ययन ही है। फिर भी, इन सिद्धांतों के शिक्षण का सबसे अच्छा तरीका तो यह है कि आयुर्वेद अध्ययन के लिए चरक द्वारा प्रतिपादित वैज्ञानिक पद्धतियों का अनुसरण किया जाय। ये पद्धतियाँ निम्नांकित हैं :—(१) प्रत्यक्ष-अवलोकन, (२) अवलोकित तथ्यों के विश्लेषण के प्रयोजनार्थ निगमन, आगमन और उपमान के सहारे अनुमान, (३) आप्तोपदेश अर्थात् अध्ययन-विषय सम्बन्धी उपलब्ध प्रामाणिक ज्ञान पर आस्था, अथवा इनकी जगह (१) प्रारम्भ में आप्तोपदेश पर पूरी आस्था रख कर अध्ययन आरम्भ करना, (२) प्रत्यक्ष अवलोकन पृष्ठभूमि में तुलनात्मक अध्ययन करना, (३) निगमन, आगमन और उपमान के सहारे तर्क-संगत ढंग से अवलोकित तथ्यों का सूक्ष्म विश्लेषण करना। स्पष्ट है कि इस प्रकार प्राप्त निष्कर्षों की सत्यता को बार-बार जांच-परख कर उसकी परीक्षा और संपरीक्षा करनी होगी। इन सिद्धांतों के अध्ययन-अध्यापन में मात्र आप्तोपदेश का हवाला देने, तार्किक वाद-प्रतिवाद में लगे रहने और बाल की खाल खींचने के बदले हमें यथार्थवादी और वैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना होगा। चूंकि ये सिद्धांत समय और अनुभव की कसौटी पर खरे उतर चुके हैं, इसलिए ये आज के चिकि जगत के लिए बहुत बड़ी देन सिद्ध हो सकेंगे।

मेरी स्पष्ट धारणा है, आयुर्वेदिक सिद्धान्तों के पाठन में जो अभाव है उसकी पूर्ति तभी की जा सक और सविस्तार विवरण तभी उपलब्ध हो सकते हैं इसके विभिन्न पहलुओं पर यथेष्ट वैज्ञानिक शोध किये मैं तो अन्तःकरण से चाहूँगा कि आयुर्वेद का पठन- और वैज्ञानिक शोध साथ-साथ चलें। यह स्वयं सिद्ध है कि उचित ढंग की शिक्षा तभी संभव है जबकि इनमें व्यक्ति ग्रन्थ-निर्माणपूर्वक स्वयं भी अपनी विद्या को अ दान दें। यह बात आयुर्वेद के पठन-पाठन पर भी उसी तरह लागू है, जिस तरह कि विज्ञान की अन्य शा के साथ। आयुर्वेद-पाठ्य योजना में आधुनिक विषयों समावेश या असमावेश आयुर्वेद के पठन-पाठन पर तत प्रभाव न डालेगा और यदि वह प्रभाव डाले तो यह आयुर्वेद के लिए काफी उपयोगी सिद्ध होगा। दूसरी जिसके कारण आयुर्वेद के आधुनिक विद्यार्थियों के मन में इस प्रणाली के प्रति अविश्वास पैदा हो गया है, धातु-मल-सिद्धान्त के प्राकृत पक्षों के उचित पठन-पाठन उपेक्षा है। यह तो कुछ हद तक ऐसा ही है जैसे कि निक काय-चिकित्सा के विद्यार्थी शरीर-क्रिया विज्ञान जीव-रसायन की उचित शिक्षा पाये बिना ही, विकृति-वि और शयनिक काय-चिकित्सा का अध्ययन करने लग काय-चिकित्सा के अध्ययन के पूर्व शरीर-क्रिया-विज्ञान जानकारी की अनिवार्यता को चक्रपाणि दत्त ने पूर्ण माना है, जैसा कि उनके निम्नलिखित कथनों से स्पष्ट है

(क) चरक संहिता की ग्रहणी चिकित्सा पर अपने में उन्होंने कहा है कि अग्नि के प्रकृतिज्ञान की जान के पूर्व ग्रहणी-दोष के विकृति-ज्ञान का अ आवश्यक है।

"तत्र ग्रहणी दोष निर्दिष्टानिदोषे वक्तव्ये ज्ञानान्तरत्वाद्विकृति ज्ञानस्य प्रथमं तावद्विकृतस्य माह।

(चरक पर चक्रपाणि का भाष्य, अध्याय १

(ख) असाधारण वायु-विकारों के अध्ययन के वायु-दोष के सामान्य स्वभाव का उचित ज्ञान आव "वायोर्विकारान् ज्ञापयितुं स्वभावज्ञानान्तरीयकत्वा ज्ञानस्यस्वभावमेव तावदाह।"

(चरक पर चक्रपाणि-भाष्य, अध्याय

(ग) चर्म रोग के असामान्य वर्णों और रंगों का अध्ययन आरंभ करने के पूर्व शरीर-रचना के सामान्य वर्ण और रंग का यथेष्ठ ज्ञान प्राप्त करना आवश्यक है।

"प्रकृतिज्ञानान्तरीयकत्वाद्विकृतिज्ञानस्य प्रकृतिवर्णनेवतावदाह्"

(चरक पर चक्रपाणि का भाष्य, इन्द्रिय १ : ८)

स्पष्ट है कि पूर्वोक्त कथन विकृति-विज्ञान के दूसरे तथ्यों के अध्ययन के सम्बन्ध में भी सही है। यही बात पंचभूतों के उस सिद्धान्त के साथ भी है जो तत्व-विज्ञान की मीमांसा करता है। इस सिद्धान्त के उचित वैज्ञानिक विवेचन के बिना आयुर्वेद के प्राकृत, औषधीय वैकृत और चिकित्सा-संबंधी सिद्धान्तों का अनुसरण अत्यन्त कठिन हो जायगा। यदि मूलतः महत्त्वपूर्ण इन सिद्धान्तों के उचित शिक्षण के पूर्णतः अभाव ने नहीं, तो अपर्याप्तता ने ही आयुर्वेद के शिक्षण में एक बहुत बड़ी खाई पैदा कर दी। रसायन-शास्त्र सहित भौतिक-शास्त्र और जीव-रसायन सहित शरीर-क्रिया-विज्ञान आदि के क्षेत्रों में जो प्रगति हो चुकी है, उसे दृष्टिगत रखे बिना इन सिद्धान्तों के अध्ययन का और कौन-सा अच्छा तरीका हो सकता है? इन क्षेत्रों में जो उपलब्धियाँ हुई हैं, यदि उनका उचित उपयोग किया जाय तो हमें इन सिद्धान्तों को और अच्छी तरह समझने में निश्चय ही बहुत अधिक सहायता मिल सकेगी।

हाल में, प्रशिक्षण की समवर्ती योजना के प्रति असन्तोष तथा इस चर्या में योग्यता-प्राप्त व्यक्तियों में इस प्रणाली में तथाकथित विश्वासाभाव और आयुर्वेद के विपरीत आधुनिक आयुर्विज्ञान के व्यवसाय को उनके अधिमान के कारण आयुर्वेदिक शिक्षा को असाधारण महत्त्व प्राप्त हुआ है। यह विश्वासाभाव समवर्त्ती प्रणाली के व्यवसायियों के लिए नया नहीं मालूम होता। यह उन लोगों में भी उतना ही व्याप्त है जिन्होंने शुद्ध आयुर्वेदिक प्रशिक्षणचर्या यें योग्यता प्राप्त की है। तब भी, दोनों प्रशिक्षणचर्याओं के गुणावगुण विवादास्पद हैं।

आयुर्वेद के पाठ्य-क्रम में आधुनिक आयुर्विज्ञान के विषयों को कहीं रख लेने और कहीं हटा देने से स्थिति में कोई विशेष परिवर्तन नहीं होगा। अनेक विद्वानों ने एक स्वर से इस बात पर जोर दिया है कि दोनों पाठचर्याओं में आयुर्वेदिक विषयों का पठन-पाठन दोषपूर्ण, उद्देश्य-रहित और अवैज्ञानिक है। इन विद्वानों के मतानुसार आयुर्वेद का पठन-पाठन विज्ञान के रूप में नहीं हो रहा है, जिसके आधार पर इस चिकित्साप्रणाली का प्रयोग किया जा सके; इस प्रणाली के साहित्य का अध्ययन विज्ञान के रूप में कम और साहित्य के रूप में अधिक है; इस प्रणाली में सिद्धांत के नाम पर जो कुछ पढ़ाया जाता है, प्रयोग से उसका सम्बन्ध बहुत कम अथवा नहीं के बराबर है, अर्थात् सिद्धांत का प्रयोग से कोई सम्बन्ध नहीं। परिस्थिति इतनी गम्भीर हो गई है कि जहाँ समवर्त्ती योजना के छात्र तक आधुनिक आयुर्विज्ञान का खुलेआम प्रयोग करते हैं, वहाँ अमिश्रित आयुर्वेदिक पाठ्यक्रम के योग्यता प्राप्त व्यक्ति भी आधुनिक आयुर्विज्ञान का प्रयोग गुप्त रूप से ही कर पाते हैं। यह भी बतलाया गया है कि दोनों ही दशाओं में छात्रों में आयुर्वेदिक पाठ्य विषयों के प्रति विश्वास और संकल्प का अभाव है। इस सम्बन्ध में यह भी ज्ञातव्य है कि वैज्ञानिक शोध के अभाव के कारण आयुर्वेदिक विषयों के शिक्षण में अभी बहुत कुछ कसर है। फलतः इसका पठन-पाठन थोड़ा-बहुत परम्परागत सैद्धांतिक हो गया है। अन्तर के लिए यह बताया जाता है कि सम्पूर्ण विश्व में जो अनेकानेक वैज्ञानिक शोध हो रहे हैं, उनके परिणाम यहाँ भी पहुँचते हैं और उनसे आधुनिक आयुर्विज्ञान के पठन-पाठन में पर्याप्त सहायता मिलती है। इस दृष्टिकोण से आयुर्वेद की भिन्न-भिन्न शाखाओं में शोध न होने के कारण इस प्रणाली का पठन-पाठन स्वभावतः दोषपूर्ण हो गया है। इसलिए यह कहा जाता है कि आधुनिक आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में जो अधिक विश्वासोत्पादक प्रगति हुई है, उसकी ओर अधिकांश लोगों का चित्त, आकर्षित होता है और ऐसे लोगों में समवर्त्ती एवं शुद्ध आयुर्वेद के छात्र भी हैं। इस दोष का निवारण तभी हो सकता है जब शिक्षण और शोध में निरन्तर सम्बन्ध स्थापित हो जाय, क्योंकि दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

भिन्न-भिन्न प्रणालियों के तथाकथित एकीकरण के सम्बन्ध में विचार प्रकट करते हुए श्री द्वारकानाथ ने आगे कहा कि जितना "एकीकरण" शब्द का दुरुपयोग हुआ है उतना किसी भी शब्द का नहीं। मैं एकीकरण का वास्तविक ध्वनितार्थ बतला सकता हूँ, क्योंकि चोपड़ा समिति के स्थानापन्न मंत्री के नाते इस विचार को सूत्रबद्ध करने में मेरा भी थोड़ा हाथ था। एकीकरण का सिद्धांत पूज्यपाद आचार्य वैद्यरत्न कैप्टन जी० श्रीनिवासमूर्ति के इस

विचार पर आधारित है कि वैज्ञानिक सत्य संभवतः प्राच्य या अन्य भौगोलिक इकाईयों के कारण पृथक् नहीं हो सकता। यदि सर्वत्र किसी वैज्ञानिक प्रयास का लक्ष्य सत्य का अन्वेषण हो, तो उसकी प्रणाली भी एक ही होनी चाहिए, चाहे यह भौतिक शास्त्र, रसायनशास्त्र, जीव-विज्ञान और आयुर्विज्ञान हो या अन्य कोई विषय। सिद्धांत और प्रस्थापनाएँ अनेक रही हैं और रहेंगी, किन्तु सत्य एक है। वह न तो पाश्चात्य है और न प्राच्य, बल्कि सर्वव्यापक है। ऐसा कदापि नहीं हो सकता कि यदि जल पश्चिम में H_2O है तो पूरब में वह कुछ और हो जायगा। प्राच्य सिद्धांत और रीति पाश्चात्य सिद्धांत और रीति से अगर भिन्न हो तो इसमें कोई आश्चार्य नहीं, यहीं क्यों, प्राच्य और पाश्चात्य विचारधारायें भी एक दूसरे से भिन्न हो सकती हैं। जहाँ कहीं ज्ञान अपूर्ण है, और काय चिकित्सा के क्षेत्र में तो ऐसा है ही, वहाँ सिद्धांत और प्रस्थापनाओं में मतभेद होना तो अनिवार्य ही है, परन्तु कोई भी सच्चा वैज्ञानिक, चाहे वह पश्चिम का हो या पूरब का, किसी भी प्रस्थापना को केवल इसी कारण अमान्य नहीं कर देगा कि उसे उससे सर्वथा भिन्न, पूर्व में उत्पन्न या पूर्व-निवासी किसी व्यक्ति ने पेश किया है। यदि यह प्रमाणित हो जाय कि उसके विचार की अपेक्षा अन्य व्यक्ति का विचार उत्तम है, तो वह उस विचार को श्रद्धा के साथ शिरोधार्य करने में जरा भी नहीं हिचकेगा। इतिहास के प्रारम्भ से ही ज्ञान के क्षेत्र में पश्चिम और पूरब के बीच स्वतन्त्र तथा निर्बाध रूप से भावों का आदान-प्रदान होता रहा है। प्राचीन काल में, अन्य विद्या-क्षेत्रों की भांति आयुर्विज्ञान में भी, पूर्व और पश्चिम ने अबाध रूप से तथा स्वेच्छापूर्वक विचारों का आदान-प्रदान किया है। यहां तक कि जब राजालोग युद्ध में रत रहते थे, तब आयुर्विज्ञान वेत्ता लोग ज्ञान और बुद्धि के उस विश्वबन्धुत्व को निभाते थे जिसमें जाति, धर्म और सम्प्रदाय का कोई भेदभाव नहीं था। आयुर्विज्ञान के सभी प्राच्य या पाश्चात्य छात्रों का चरम लक्ष्य है—स्वास्थ्य-रक्षा और रोग-निवारण तथा रोगोपचार। इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए इससे बढ़कर और कोई उपाय नहीं है कि हम समग्र मानवता की दृष्टि से सोचें, न कि यूरोपीय, एशियाई तथा अन्य छोटी-छोटी इकाईयों की दृष्टि से, जिसके चलते कभी-कभी अभाग्यवश और अवैज्ञानिक रूप में विज्ञान का धवल क्षेत्र भी कलंकित हो जाता है और मनुष्य-मनुष्य के बीच भेद उत्पन्न हो जाया करता है। हमें इस दृष्टिको तो अपना ही लेना चाहिए कि सभी चिकित्सा-प्र का एक आदर्श है और वह है स्वास्थ्य-रक्षा, रोग-नि तथा रोगोपचार। यदि हम यह दृष्टिकोण अपना तब तो वस्तुतः एक ही चिकित्सा-प्रणाली हो, जिसक बन कर विभिन्न वर्तमान प्रणालियां अक्षुण्ण रहेंगी एक-एक अंग को स्वतंत्र चिकित्सा-प्रणाली नहीं, बल्कि विशेष विचार-धारा मानकर उस पर और भी ध्यान दिया जायगा। इस दृष्टिकोण के अंतर्गत व्यक्ति यही चाहेगा कि स्वास्थ्य और रुग्णता की सम से निबटने के लिए भारत के भावी चिकित्सा-व्यव को, चाहे वे आयुर्वेद, यूनानी, सिद्ध या पाश्चात्य, कि प्रणाली के अनुयायी हों, इस प्रकार शिक्षित-प्रशिक्षित जाय कि उन्हें अपनी ही प्रणाली का विशेष ज्ञान नहीं, अन्य प्रणालियों की भी अच्छी से अच्छी बातों का यथ ज्ञान हो जाय। साथ ही हमें केवल इसी बात से नहीं हो जाना चाहिए कि हमने अन्य चिकित्सा-प्र की बहुमूल्य बातों से अपना ज्ञान-भंडार समृद्ध कर लि और इस तरह देश की जनता की सेवा और भी दक्ष करने के लिए अपने को तैयार कर लिया है, बल्कि ह उद्देश्य तो यह होना चाहिए कि हम मानव-मात्र क के लिए अपना भंडार अन्य प्रणालियों के अनुयायि समक्ष इस प्रकार खोल कर रख दें कि वे भी अपने ज्ञा समृद्ध कर लें और इस तरह अपने लोगों की सेवा को दक्षतापूर्वक कर सकें।

एक सर्वांगपूर्ण-प्रणाली के उद्भव की इस आश आशा की गई थी कि संहिता ग्रंथों में दिए गए वि विचारों और तत्त्वों में वर्तमान सुविचारित औषधि का वर्णन है, जिसमें संबद्ध विज्ञान-क्षेत्रों में आधुनि के सविस्तार परिणाम भी समाविष्ट हो सकते हैं। रहे कि आधुनिक चिकित्सा-विज्ञान का ध्यान अद ष्टता प्राप्ति की ओर ही लगा रहा है फलतः उ और तथ्यों का ऐसा अंबार-सा लग गया है कि उनक उसके लिए दुष्कर हो रहा है, और इसीलिए चिकित्सा-शास्त्र, जीवन, जीव-प्रक्रिया और स्थाओं के विषय में कोई उदार विचार-प्रणाली करने में असमर्थ है। इस परिस्थिति में तर्कसंग होता कि किसी विद्यमान विचार-प्रणाली के ही

बातों को ढालने की चेष्टा की जाय और आवश्यकतानुसार उस प्रणाली में हेर-फेर किया जाय। मैं इस संबंध में सुविख्यात वैज्ञानिक जेम्स बी० काग्रोनेन्ट (James B. Caonant) की भावोत्पादक पुस्तक "आन अंडरस्टैंडिग साइन्स" (On understanding science) में कही एक मार्के की बात का निर्देश करना चाहूँगा। उनका कथन है कि "इतिहास और विज्ञान से सीखे हुए सिद्धान्तों में हम एक यह भी लिख सकते हैं कि किसी भी वाद को श्रेष्ठतर वाद ही स्थानच्युत कर सकता है, केवल विरोधी तथ्य कदापि नहीं। सर्वप्रथम विचारों में कुछ हेर-फेर करके वर्तमान सुविचारित प्रणाली में विरोधी तथ्यों के समाधान का प्रयास किया जाता है। प्राचीन विचारधारा के विरोधी तथ्यों से नये विचारों का संयोग होने पर ही अन्ततः वैज्ञानिक क्रांति होती है और एकबार क्रांति हो जाने के बाद कुछ ही वर्षों में आविष्कार होने लगते हैं तथा उक्त विज्ञान की शाखा-विशेष की दिन-दूनी रात चौगुनी प्रगति होने लगती है।"

"इस सम्बन्ध में मैं कहना चाहूँगा कि आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली में मनुष्यमात्र के लिए किसी सुविचारित प्रणाली का अभाव है और उसका अनुयायी बस हिपोक्रेटीज (Hippocrates) के शरीर-रचना संबन्धी विचारों को पुनर्जीवित कर रहा है ताकि आधुनिक आयुर्विज्ञान और सम्बद्ध विज्ञान की शाखाओं में एकत्रित बातों का इस विचार-धारा में समावेश किया जा सके। इस तरह हम देखते हैं कि विख्यात चिकित्सा-इतिहासवेत्ता प्रोफेसर आर्टरो कस्टिग्लिओनी (Prof. Arturo Castiglioni) ने लिखा है कि सूक्ष्म जीवन-विज्ञान के अभिनव उद्विकास, पोषण एवं संवर्धन की ज्ञान-वृद्धि, अन्तःस्राविक ग्रन्थियों और वधी नाड़ी-संस्थान की सर्वतोमुखी क्रिया के विचार तथा निहृषता और रोग प्रतिरोधक-क्षमता के अध्ययनों से संपूर्ण मानव व्यक्तित्व रचना संबंधी या सर्वांगपूर्ण अध्ययन में लोगों का शयनिक अभिरुचि पुनर्जीवित हो गई।

"इस प्रकार के सिद्धान्तों से आभास मिलता है कि आधुनिक आयुर्विज्ञान को एक नये हिप्पोक्रेट-वाद के सांचे में ढाला गया अर्थात् इस प्रणाली में चिकित्सा-शास्त्र के कुछ प्रतिष्ठित सिद्धान्तों को ही पुनः अपनाया गया है। कुछ काल के पश्चात् आधुनिक आयुर्विज्ञान अब एक गतिशील, सांश्लेषिक और ऐकिक दिशा की ओर मुड़ा है, जिसमें रचनाकारी, वैश्लेषिक और स्थानिक प्रवृत्ति का प्रभुत्व है। इस प्रकार यह प्राचीन कास (Cos) के ऋषि के शास्त्रीय विचार की ओर लौटा है, जिसका चरम उद्देश्य वैयक्तिक कल्याण और मानव जाति का सुधार करना तथा परिवेश एवं व्यक्ति-व्यक्ति में रोग का कारण ढूढ़ना तथा रोग-निवारण एवं रोगोपचार करना था।"

यह स्मरणीय है कि गत दो सौ या उससे अधिक वर्षों में जीव-विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में जो प्रगति हुई है, उससे हिप्पोक्रेट के पुराने चिकित्सा-सिद्धान्त वस्तुतः खंडित हो गए हैं। इसके विपरीत, आयुर्वेद के सिद्धान्तों पर तो किसी ने दृष्टिपात भी नहीं किया है, उनके खंडन का प्रश्न तो दूर रहे। भारत में आधुनिक आयुर्विज्ञान के कार्यकर्त्ताओं द्वारा बिना समझे-बूझे इन सिद्धान्तों के खंडन करने की प्रवृत्ति से उनके वैज्ञानिक महत्व और व्यावहारिक उपयोगिता पर कोई आँच नहीं आती है ये सिद्धान्त चल ही रहे हैं और, संबंधित विज्ञान-क्षेत्रों में हुई आधुनिक प्रगतियों की दृष्टि से भी, ये एकदम वैज्ञानिक हैं, जैसा कि बी० एन० सील, कैप्टन जी० श्रीनिवासन् तथा अन्य प्रख्यात कार्यकर्त्ताओं ने दिखला दिया है। इन सिद्धान्तों में एक विद्यमान विचार-प्रणाली वर्णित है, जिसमें मनुष्य और उसके शारीरिक एवं मानसिक व्यक्तित्व संबंधी और भी उन्नत तथा सुविकसित सिद्धान्तों का समावेश है। विश्व को कास के ऋषि के सिद्धान्तों से जितना कुछ मिल सका है उससे भी कहीं अधिक इन सिद्धान्तों से प्राप्य है। इनमें मनुष्य की सभी दृष्टियों से जाँच-परख की गई है। साथ ही भौतिक (रासायनिक), जैविक और मनोवैज्ञानिक जैसे विभिन्न पहलुओं की एकदिश गति पर भी प्रकाश डाला गया है। लोगों में जोर-शोर से यह भ्रांति फैला दी गई कि आयुर्वेद में सिवा इसके समृद्ध द्रव्यगुण के कुछ है ही नहीं। यही (द्रव्यगुण) एक ऐसी चीज है जो लोगों को अपनी ओर आकृष्ट करती है। फिर भी यह कहना ही पड़ेगा कि दोष-धातु-मल-सिद्धान्त के अनुसार इस प्रणाली के जो मौलिक सिद्धांत और विचार हैं वे विश्व के चिकित्सा-विज्ञान की आधारभूत पद्धति (स्कीम) है। इस आधारभूत पद्धति (स्कीम) के बल पर आधुनिक शोधों से प्राप्त ज्ञान-भंडार का समावेश सम्भव है। हाँ, इसमें आवश्यकतानुसार कुछ हेर-फेर तो करना ही पड़ेगा जैसा कि जेम्स बी० कोनान ने सुझाव दिया है। इससे एक नए

आयुर्वेद का विकास होगा जो, राष्ट्रीय दृष्टि से ही नहीं बल्कि अन्तर्राष्ट्रीय दृष्टि से भी, महत्त्वपूर्ण होगा। आयुर्वेद-शिक्षण की मिश्र-पद्धति (स्कीम) खास कर असफल इसीलिए हुई कि इसे चलाने की जो तरकीब अपनायी गई, वह प्रयोग बिलकुल प्रतिकूल स्थिति में किया गया और इसका संचालन भी बहुत असन्तोषप्रद ढंग से किया गया। इसे असफल बनाने में संकुचित विचार और स्थानिक भेदभाव का भी प्राबल्य रहा। दूसरे शब्दों में यह भी कहा जा सकता है कि इस प्रयोग को अपना गुण प्रकट करने के लिए जो अवसर मिलना चाहिये था वह प्रारम्भ से ही न मिल पाया। इसके विरुद्ध जितनी भी टीका-टिप्पणी की गई है, उसके बावजूद, मेरा यह निजी दृढ़ विचार है कि यदि मिश्र-पद्धति को भली-भाँति चलाया जाय तो इससे ऐसे लाभकर परिणाम प्राप्त हो सकते हैं जिनसे भारत विश्व के चिकित्सा-विज्ञान में अपना योगदान करने में समर्थ हो सकेगा।

आयुर्वेदीय शिक्षा के सम्बन्ध में अपना महत्त्वपूर्ण विचार व्यक्त करते हुए उन्होंने कहा कि हमें, शिक्षा की समवर्ती और शुद्ध पद्धति के गुणों पर उचित दृष्टि रखते हुए, आयुर्वेदिक शिक्षा की सारी समस्याओं पर नए सिरे से, निष्पक्ष विचार करना होगा। इसीलिए यह आवश्यक है कि सम्पूर्ण भारत के लिए शिक्षण की एक-सी पाठ-चर्या निर्धारित की जाए। ऐसा करते समय, चिकित्सा-पाठचक्रम की निम्न मूल बातों पर ध्यान रखना होगा :—

(१) पाठ्य-क्रम में शिक्षण के उच्चस्तर की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि जो लोग इस शिक्षण में उत्तीर्ण हों वे कुशल चिकित्सा-व्यवसायी बन सकें और उनकी सेवा का उपयोग राष्ट्रीय स्वास्थ्य-विकास-योजनाओं में किया जा सके।

(२) इस पद्धति (स्कीम) में शिक्षण के उच्चस्तर की व्यवस्था होनी चाहिए, ताकि जो व्यक्ति इसमें शिक्षित हों वे आयुर्वेद के विभिन्न पहलुओं पर शोध-कार्य कर सकें।

(३) इस पद्धति (स्कीम) में शिक्षण के उच्चस्तर की व्यवस्था होनी चाहिए ताकि जो इस माध्यम से स्नातकोत्तर अध्ययन के लिए सफल हों वे आयुर्वेदिक कालेजों में अध्यापन-कार्य कर सकें। अर्थात्, जो लोग आयुर्वेदिक पाठ-चर्या का लाभ उठावेंगे, उनके लिए शिक्षण का स्तर बहुत ही उच्च-कोटि का निर्धारित हो। ऐसा नहीं होने से चिकित्सकों का एक वर्ग तैयार होगा, जिसकी उपयोगिता देश के हित में सीमित अंशों तक ही हो सकेगी और वे इस लायक न हो पाएँगे कि—

(क) राष्ट्रीय स्वास्थ्य-विकास-योजनाओं में हाथ बटा सकें ;

(ख) इस प्रणाली से वैज्ञानिक शोध नहीं कर सकें जो कि इस प्रणाली के समुचित अध्यापन और चिकित्सा-व्यवसाय (प्रैक्टिस) के लिये नितान्त आवश्यक है;

(ग) आयुर्वेदिक कालेजों में दक्ष शिक्षकों की कमी बनी रहेगी और स्थिति में कोई सुधार भी न हो पायगा। इस सम्बन्ध में इस बात पर भी विचार करना जरूरी है कि आयुर्वेद के छात्रों को पश्चिमी और पूर्वी या आधुनिक और आयुर्वेदिक के रूप में विषयों को बाँटकर पढ़ाने की जो व्यवस्था है, उसे उठा देना वांछनीय है या नहीं। अध्ययन-पाठ्य-क्रम ऐसा तैयार किया जाय कि आयुर्वेद और आधुनिक चिकित्सा के विषयों का अध्यापन इस प्रकार घुल-मिल जाए कि वे एक-दूसरे के पूरक और अनुपूरक बन सकें। मगर इसका खयाल रखा जाय कि आधुनिक चिकित्सा तथा सम्बद्ध विषयों के आवश्यक या महत्त्वपूर्ण अंशों का इस प्रकार अध्यापन किया जाय कि यह अध्यापन यथासंभव आयुर्वेद-अध्ययन-पद्धति (स्कीम) के अनुकूल बन पड़े और ऐसा न जान पड़े कि दोनों एक दूसरे से बिल्कुल भिन्न और आयुर्वेद के मूल सिद्धान्त से ही परे हैं। हमारा ध्येय यह होना चाहिए कि हर अवस्था में आयुर्वेद के छात्रों को वैज्ञानिक कल्पना और अन्तर्बोध को आयुर्वेद के ही मार्ग पर आगे बढ़ने का प्रोत्साहन प्राप्त हो।

आयुर्वेदिक या किसी भी अन्य चिकित्सा-पद्धति की सफलता ऐसी पद्धतियों के अनुयायी उत्तीर्ण व्यक्तियों को दी जानेवाली प्रतिष्ठा पर ही निर्भर करती है। आदर्श स्कीम से मनोवांछित फल तबतक प्राप्त न होगा, जब तक इस स्कीम के माध्यम से शिक्षित लोगों को समान प्रतिष्ठा, नौकरी का समान अवसर और समान वेतन तथा अन्य बातों की समान सुविधा न दी जाय। आयुर्वेदिक शिक्षा की सारी समस्याओं के मूल में आयुर्वेदिक चिकित्सा-व्यवसाय की आर्थिक स्थिति (स्टेटस) ही है। अन्त में उन्होंने आयुर्वेदिक शिक्षण के बारे में निम्नलिखित सुझाव देते हुए अपने विद्वत्तापूर्ण अभिभाषण का उपसंहार किया—और उन सुझावों को अमल में लाने की अपील भी की।

(शेषांश ७७ पृष्ठ पर)

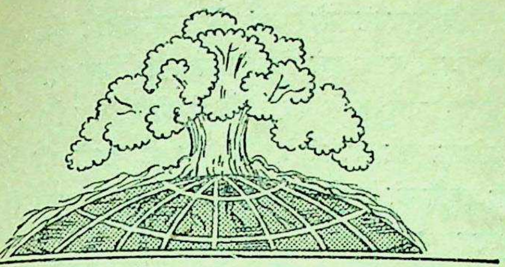

आयुर्वेद-जगत्

आयुर्वेद—प्राचीनतम विज्ञान है

आयुर्वेद-शिक्षा सम्मेलन का श्री जोशीजी द्वारा उद्घाटन

अखिल भारतीय आयुर्वेद शिक्षा सम्मेलन का अधिवेशन वयोवृद्ध विद्वान एवं आयुर्वेद-सेवी आयुर्वेद पंचानन श्री जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल की अध्यक्षता में समारोहपूर्वक हरिद्वार में सम्पन्न हुआ। सम्मेलन का उद्घाटन श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक श्री रामदयाल जोशी ने किया। अपने उद्घाटन भाषण में श्री जोशीजी ने इस बात पर बल दिया कि आयुर्वेद विज्ञान इस देश का प्राचीनतम विज्ञान है, इसलिए उसकी उचित रक्षा अत्यन्त आवश्यक है। जोशी जी ने खेद प्रकट करते हुए कहा कि एलोपैथी चिकित्सा जिस पर भारत में नाममात्र को भी शोध नहीं होता, पर तृतीय पंचवर्षीय योजना में तीन अरब रुपया खर्च करने की योजना तैयार की गयी है, जबकि देश की करोड़ों जनता को जीवन प्रदान करने वाली चिकित्सा पद्धतियों (आयुर्वेद-यूनानी प्रभृति) के लिए मामूली धनराशि स्वीकृत की गयी है। आपने एलोपैथी चिकित्सा-पद्धति को भारत सरीखे निर्धन राष्ट्र के लिए अत्यन्त मँहगा बताया।

अध्यक्ष-पद से भाषण करते हुए श्री शुक्ल जी ने कहा कि भारतीय स्वाधीनता के बाद देश में राष्ट्र के प्रति निष्ठाभाव जाग्रत करने के लिए यह आवश्यक है कि स्वभाषा और भारतीय चिकित्सा-पद्धति के मार्ग में आनेवाले बाधक तत्वों का पूर्णतया उन्मूलन कर दिया जाय। आपने कहा कि यह अजीव विडम्बना है कि जिस आयुर्वेदिक पद्धति से देश की ८० प्रतिशत जनता लाभान्वित होती है, उसके प्रति सरकार का रुख जैसा होना चाहिए, वैसा दरअसल नहीं है। आपने जोर देकर कहा कि स्वास्थ्य तथा चिकित्सा पर व्यय की जाने वाली धनराशि में से अस्सी प्रतिशत सरकार को आयुर्वेद की उन्नति और विकास पर व्यय करना चाहिए।

सम्मेलन की प्रथम बैठक में आयुर्वेद पर कई प्रमुख विद्वानों ने अपने विचार व्यक्त किए तथा आयुर्वेद के विभिन्न अंगों का विशद विवेचन किया।

आयुर्वेद-पद्धति से देश की स्वास्थ्योन्नति

अखिल भारतीय आयुर्वेदिक बोर्ड के अध्यक्ष और योजना आयुर्वेदिक मण्डल के सदस्य डॉ० ए० लक्ष्मीपति ने बताया कि दिल्ली आयुर्वेदिक कांग्रेस ने तृतीय आयोजना में आयुर्वेद के माध्यम से राष्ट्रीय स्वास्थ्य विकास के लिए १२५ करोड़ की योजना पेश की है। बताया जाता है कि तृतीय आयोजना में स्वास्थ्य योजनाओं पर एलोपैथी के माध्यम से ५०० करोड़ रुपये व्यय किए जायेंगे।

डॉ० लक्ष्मीपति ने आगे कहा कि हमारे राष्ट्रीय योजनाकारों को देश की ८० प्रतिशत जनता की सेवा करने वाले आयुर्वेद के साथ उचित व्यवहार करना चाहिए।

उन्होंने कहा कि देश में स्वास्थ्य के विकास के लिए इस समय वैद्यों और हकीमों का उपयोग करना चाहिए।

इस संदर्भ में डॉ० लक्ष्मीपति ने १९५५ में त्रिवेन्द्रम में हुई आयुर्वेदिक कांग्रेस के अवसर पर कहे गए श्री मुरारजी देसाई के विचारों का उद्धरण दिया जिसमें उन्होंने कहा था "यदि एलोपैथी पर जो खर्च हो रहा है उसका एक चौथाई भाग आयुर्वेद पर खर्च किया जाए और सरकार एलोपैथी पर जितना ध्यान देती है उसका दसवाँ भाग ही आयुर्वेद पर ध्यान दे तो मेरा विश्वास है कि सभी विवाद समाप्त हो जायेंगे और कुछ वर्षों में ही सभी व्यक्ति आयुर्वेद की श्रेष्ठता को स्वीकार करेंगे।

डॉ० लक्ष्मीपति ने कहा कि आयुर्वेद कांग्रेस ने तृतीय आयोजना में एलोपैथी पर जो व्यय हो रहा है आयुर्वेद पर उसके चौथाई से अधिक व्यय करने की मांग नहीं की है।

उन्होंने कहा कि जो योजना पेश की गई है उसके अन्तर्गत एक केन्द्रीय आयुर्वेद समिति तथा प्रत्येक राज्य में एक-एक आयुर्वेद समिति की स्थापना की जायगी। ये समितियाँ आयुर्वेद की चिकित्सा तथा प्रचार निर्देश करेंगी।

एक केन्द्रीय आयुर्वेद महानिर्देशालय इन आयुर्वेद समितियों के कार्यों का संचालन करेगा।

एक केन्द्रीय आयुर्वेद अनुसंधान-परिषद तथा प्रत्येक राज्य की अनुसंधान-परिषदों द्वारा आयुर्वेद में बड़े पैमाने पर वैज्ञानिक अनुसंधान किए जायेंगे।

एक अखिल भारतीय आयुर्वेद विश्वविद्यालय द्वारा आयुर्वेद की शिक्षा का संचालन होगा। इस विश्वविद्यालय के अन्तर्गत लगभग १२० स्कूल तथा कालेज होंगे।

अनुमान किया जाता है कि जिस समय आयोजना पूर्ण रूप से चलने लगेगी उस समय आयुर्वेद विश्वविद्यालय और अन्य विद्यालयों के साथ जो फार्मेसियां होंगी उनमें बनने वाली दवाइयों से प्रति वर्ष कम-से-कम १० करोड़ रुपयों का लाभ होगा।

कैंसर-अनुसंधान में एक नयी खोज

कैंसर रोग पर काबू पाने के लिए इस समय जो विश्वव्यापी संघर्ष चल रहा है, उसमें एक नयी प्रगति होने का समाचार प्राप्त है। उक्त समाचार रोजवेल पार्क मेमोरियल इन्स्टीट्यूट, वफैलो के एक वैज्ञानिक दल से प्राप्त हुआ है। कहते हैं, इस वैज्ञानिक दल ने एक ऐसा टीका तैयार किया है, जिसमें रोगी के रोगग्रस्त भाग के सूक्ष्म कोषों और एक ऐसे पदार्थ का संयोग है, जो शरीर की रोग प्रतिरोधक क्षमता को बढ़ा देता है। इस टीके का परीक्षण जिन रोगियों पर किया गया है, उनमें अन्य सामान्य उपचार पाने वाले कैंसर रोगियों की अपेक्षा अधिक प्रतिरोध-क्षमता उत्पन्न हो गयी है। आशा है कि यह खोज कैंसर-सम्बन्धी अनुसंधान के कार्य को और आगे बढ़ाने में सहायक सिद्ध होगी।

क्षय रोग के लिए अचूक औषधि की भारत में ईजाद

क्षय रोग के कीटाणुओं का समूल नाश करने के लिए भारत ने एक नई दवा ईजाद कर ली है। यह सूचना भारत सरकार के क्षय-रोगोपचार विशेषज्ञों ने क्षयरोग विरोधी अन्तर्राष्ट्रीय संघ के अधिवेशन में सिडनी (आस्ट्रेलिया) में दी। यह अधिवेशन विश्व स्वास्थ्य-संगठन के तत्वावधान में हाल में हुआ था। इस अधिवेशन में दक्षिण तथा दक्षिण पूर्वी एशिया और पश्चिमी प्रशांत के ३० देशों के ६६ क्षयरोग विशेषज्ञों ने भाग लिया था।

यौगिक क्रियाओं द्वारा मधुमेह की चिकित्सा

मधुमेह की चिकित्सा के लिए गांधीनगर, जयपुर में एक ४० दिवसीय शिविर का उद्घाटन ८ जुलाई को होगा।

विश्वायतन योगाश्रम के तत्वावधान में आयोजि किए जाने वाले इस शिविर में एलोपैथिक डाक्टरों द्वा प्रमाणित मधुमेह के २५ रोगियों की यौगिक क्रियाओं द्वा चिकित्सा की जायगी। शिविर में रोगी की चिकि की प्रगति को देखने के लिए समय-समय पर डाक्टरों को बुलाया जायगा।

शिविर में भर्ती किए हुए रोगियों के आवास त भोजन की निःशुल्क व्यवस्था होगी। शिविर का सम व्यय राज्य का चिकित्सा एवं स्वास्थ्य विभाग वहन करेगा।

चिकित्सा-विज्ञान की आधुनिक प्रगति तथा नवीन अनुसधानों के बावजूद डाक्टर मधुमेह की स्था चिकित्सा नहीं कर पाते। विश्वायतन योगाश्रम के संचालक का क़हना है कि इस रोग की सफल चिकि यौगिक क्रियाओं से हो सकती है और इस पद्धति से बहु से रोगियों की चिकित्सा की जा चुकी है।

यदि इस प्रयोग में सफलता मिली तो मधुमेह की चिकित्सा की दिशा में यह एक नया आविष्का होगा।

आयुर्वेदिक यूनानी एक्ट

इस ऐक्ट के अधीन वैद्यों तथा हकीमों को हर व २) रिन्युअल फीस देनी पड़ती है परन्तु अब सरकार ने निश्चय किया है एक बार ही २५) लेकर आगे के लिए फी लेना बन्द कर दिया जाय और जो शुल्क पहले भरा जा चु है वह मुजरा कर दिया जाय। इस निर्णय के अनुसार वै तथा हकीमों की एक पुरानी मांग पूर्ण की गयी है। इ साथ-साथ सरकार इस बात पर भी विचार कर रही है पंजाब व पैप्सू के दोनों एक्टों का एकीकरण कर दिया ज और आशा है कि इस सम्बन्ध में बिल आगामी सेशन प्रेषित हो जायगा। इसके पश्चात् राजस्थान में वैद्यों और हकीमों ने प्रार्थना-पत्र दिए थे उन पर वि विमर्श किया जा रहा है और वैद्यों तथा हकीमों को इ के लिए बुलाया जा रहा है। बिहार में आयुर्वे यूनानी रजिस्ट्रेशन आरम्भ है और आवेदन-पत्र बोर्ड इण्डियन मैडीसन पटना नं० ३ भेजे जा सकते हैं। में भी वैद्यों तथा हकीमों को रजिस्ट्रेशन का निर्णय हो है, परन्तु अभी यह रजिस्ट्रेशन वहां आरम्भ नहीं गया है।

मनुष्य की अधिकांश व्याधियाँ शारीरिक नहीं मानसिक हैं

जर्मनी के मनोवैज्ञानिकों के अनुसार लगभग आधे से अधिक बीमार, वास्तव में शारीरिक दृष्टि से बीमार नहीं होते, वरन् आत्मिक अथवा मनोवैज्ञानिक दृष्टि से बीमार होते हैं। बहुत-से लोगों के दिमाग में यह बात बैठ जाती है कि वे बीमार हैं—बहुत लोग चिन्ता से बीमार हैं, बहुत लोग भय से बीमार हैं। पेट और केलेजे की बीमारी, सरदर्द, अनिद्रा, अंतड़ियों की कमजोरी, नाड़ियों की बीमारी, खून के दौरान में अधिकता या कमी प्रभृति ऐसी बीमारियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध दिमाग से है। आन्तरिक अशांति ऐसी बीमारियाँ हैं, जिनका सम्बन्ध दिमाग से है। आन्तरिक अशांति के फलस्वरूप ऐसी बीमारियाँ होती हैं, और इसलिए औषधियाँ इनका इलाज ठीक नहीं कर सकतीं। यदि मनुष्य की आन्तरिक अशान्ति के कारण हटाए जा सकें तो ऐसी बीमारियाँ अपने-आप ठीक हो जाती हैं। यदि मनुष्य की समझ में यह आ जाए कि उसके भय का कोई कारण नहीं है, उसकी चिन्ता फिजूल है, तो उसकी पीड़ा को बिना औषधि के आराम पहुँचाया जा सकता है।

जर्मनी के प्रसिद्ध मनोवैज्ञानिक प्रोफेसर ब्राडले का कथन है कि इस प्रकार के मनोवैज्ञानिक इलाज का उन्होंने लगभग ५० हजार पीड़ितों पर प्रयोग किया है। अपने उन प्रयोगों के आधार पर उन्होंने १६ ग्रामोफोन रिकार्डों का एक सेट तैयार किया है। प्रत्येक जर्मन भाषा समझने वाला मनोवैज्ञानिक पीड़ित आज इन रिकार्डों की सहायता से बिना किसी डाक्टर की सहायता के अपना इलाज स्वयं कर सकता है।

दाँतों की रक्षा के लिए पुरानी खोज का सहारा

एक फांसीसी अनुसंधानकर्त्ता डा० ड्रेवाइस प्रीवोस्ट ने एक वक्तव्य में बताया कि यदि चीनी में अण्डे की थोड़ी-सी सफेदी मिला दी जाए, तो उससे दाँतों को खोखला होने से रोका जा सकता है।

डा० ड्रेवाइस ने दन्त एवं मुख-चिकित्सा एवं सफाई कांग्रेस में भाषण करते हुए बताया कि यह खोज ४० वर्ष पुरानी और पेनीसिलीन के आविष्कर्ता सर एलेक्जेण्डर फ्लैमिंग की है। अण्डे की सफेदी में मिलनेवाला लिजोजाइम नामक पदार्थ आधुनिक कीटाणुनाशक दवाओं से कहीं ज्यादा प्रभावकारी है और उन कीटाणुओं को भगा देता है, जो दाँतों को खोखला कर देनेवाला तेजाब बनाते हैं।

लंका सरकार द्वारा आयुर्वेदिक औषधियों का परीक्षण

लंका के स्वास्थ्य मंत्री डा० एम० वी० पी० पीरिस ने समस्त आयुर्वेद विशेषज्ञों से इस आशय का अनुरोध किया है कि वे अपने गुप्त उपचारों को स्वास्थ्य मंत्रालय के सामने प्रस्तुत कर दें, जिससे उनकी वैज्ञानिक ढंग से छानबीन करके उन्हें लोकप्रिय बनाया जा सके।

स्वास्थ्य मंत्री के अनुसार आयुर्वेदिक औषधियाँ प्रमेह, चर्मरोग तथा कतिपय मानसिक व्याधियों के विरुद्ध अत्यंत प्रभावशाली होती हैं। इसीलिए मंत्रालय ने आयुर्वेदिक विशेषज्ञों से इस सम्बन्ध में उक्त अनुरोध किया है। श्री लंका में आयुर्वेदिक औषधि को केवल साँप काटने के इलाज के रूप में जाना जाता है।

आयुर्वेदिक प्रणाली का लाभ सामान्य जनता तक इसलिए नहीं पहुँच पाता, क्योंकि आयुर्वेदिक विशेषज्ञ अपने गुप्त उपचारों एवं चिकित्सा के तरीकों को सार्वजनिक रूप में बताना नहीं चाहते हैं। अतः स्वास्थ्य मंत्रालय इन तरीकों को जानकर उन्हें समस्त लोगों के लाभार्थ उपलब्ध कराने की योजना बना रहा है।

कविराज मणिशंकर वैद्य का निधन

श्री विशुद्धानन्द सरस्वती दातव्य औषधालय के भूतपूर्व प्रधान चिकित्सक कविराज मणिशंकर वैद्य का साठ वर्ष की अवस्था में स्वर्गवास हो गया। स्व० मणिशंकर जी आयुर्वेद के अच्छे ज्ञाता एवं कुशल चिकित्सक थे। उनके दिवंगत हो जाने पर बड़ाबाजार (कलकत्ता) क्षेत्र के विभिन्न स्थानों में आयुर्वेदज्ञों द्वारा शोक सभाएँ की गयीं और शोक प्रस्ताव स्वीकृत किए गए।

देहरादून नगर वैद्य-सभा का चुनाव

देहरादून के सभी वैद्यों तथा बी० आई० एम० एस० उपाधिधारियों की सम्मिलित एक विशाल बैठक हुई। सर्वप्रथम मंगलाचरण के अनन्तर गत वर्ष की कार्यवाही पढ़ी गई। तत्पश्चात निम्नप्रकार से देहरादून नगर वैद्य मण्डल का वार्षिक चुनाव सर्वसम्मति से सुसम्पन्न हुआ। प्रधान पं० श्री स्वामी सन्तोषानन्दजी, जो कि जिला वैद्य

मण्डल के भी प्रधान हैं, पुनः प्रधान चुने गये। उपप्रधान श्री पण्डित ठाकुरदत्त वैद्य, अमृतधारा फार्मेसी। उप प्रधान—श्री हरप्रसाद, प्रधान मन्त्री-श्री प्रेमनाथ जी, बी० आई० एम० एस०, उपमन्त्री वैद्य स्वामी मदनगिरी, उपमन्त्री—श्री कैलाशचन्द्र जी, बी० आई० एम० एस०, प्रचार मन्त्री—जगन्नाथ शर्मा बी० आई० एम० एस० श्री इन्दरलाल जी चड्डा, बी० आई० एम० एस०, लेखा-निरीक्षक—श्री धर्मपालजी गांधी, बी० आई० एम० एस०।

चुनाव के उपरान्त यह भी निश्चय हुआ कि जन-स्वास्थ्य के लिए प्रत्येक मुहल्ले में भाषणों की व्यवस्था की जाये और समय-समय पर पोस्टरों द्वारा जनता को स्वास्थ्य-रक्षा के उपाय बताये जायँ। इनके अतिरिक्त देहरादून में एक आयुर्वेद कान्फ्रेन्स बुलाने का भी निश्चय किया गया है।

हाई स्कूल इन्टर के बाद आयुर्वेद की शिक्षा

उत्तर प्रदेश इंडियन मेडिसिन बोर्ड की २ वर्ष सहायक वैद्य, गृह स्वास्थ्य विशारदा, ५ वर्ष आयुर्वेदाचार्य कोर्स, शिक्षा ग्रहणार्थ हाई स्कूल या तत्सम् प्रथमादि तथा इन्टर, या तत्सम मध्यमादि उत्तीर्ण आयुर्वेद शिक्षार्थी प्रिन्सिपल आयुर्वेदिक कालेज देहरादून को संस्था स्वीकृत १ रुपया मूल्य के प्रवेश फार्म पर शीघ्र प्रार्थना-पत्र भेजें।

चिकित्सक, संस्कृतज्ञ, पर्वतीय तथा जिलाधीश द्वारा प्रमाणित हरिजन एवं निर्धन शिक्षार्थियों को प्राथमिकता दी जायगी।

आयुर्वेद के छात्रों का प्रवेश प्रारम्भ

अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय, त्रिवेणी गंज, लखनऊ के आचार्य ने निम्नलिखित सूचना प्रकाशनार्थ प्रेषित की है जो नीचे दी जा रही है।

उ० प्र० की राजधानी लखनऊ में श्री धन्वन्तरि सेवा मंडल के तत्वावधान में स्थापित श्री नागार्जुन आयुर्वेद महाविद्यालय जोकि नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ, देहली की परीक्षाओं में प्रविष्ट होने वाले छात्रों को क्रियात्मक शिक्षा देकर योग्य वैद्य बनाता है, साथ ही उ० प्र० इंडियन मेडिसिन बोर्ड की "सहायक वैद्य" परीक्षा के लिए सम्बद्ध "अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय" में शिक्षित छात्र केवल दो साल में ही उक्त उपाधि प्राप्त कर आसानी से सरकारी नौकरी पा जाते हैं।

"सहायक वैद्यों को ४५) २) ६) ई० वी० ३) ४) १००) वेतन ग्रेड तथा २२॥) मंहगाई भत्ता मि है। उक्त विद्यालय में तेजी के साथ छात्रों का प्रवे रहा है। वाराणसी संस्कृत विश्वविद्यालय की प्र अथवा ८वीं कक्षा पास छात्र इसमें प्रविष्ट हो सकते हैं।

विद्यालय के साथ छात्रावास तथा भोजनालय की व्यवस्था है। चिकित्सालय, आतुरालय, औषधि-नि शाला, विज्ञान शाला, नवौषधि उद्यान आदि क्रिया साधनों सहित उक्त विद्यालयों में आयुर्वेदभिषग्, वि तथा आयुर्वेदाचार्य, वैद्याचार्य, आयुर्वेदरत्न आदि प्र णिक उपाधियाँ प्राप्त करने के लिये छात्रों का प्रवेश जुलाई तक होगा।

प्रवेश तथा अध्ययन शुल्कादि जानने के लिये प्रधा चार्य, अष्टाङ्ग आयुर्वेद महाविद्यालय त्रिवेणीगंज, लख के पते पर पत्र-व्यवहार करें।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, पटना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा संचालित बैद्य धर्मार्थ औषधालय में गत् मास कुल १०६९ रोगियों मुफ्त चिकित्सा की गयी। इसमें ७०१ नये और पुराने रोगी थे। इनमें पुरुष रोगियों की संख्या स्त्री रोगियों की संख्या २०५, तथा बालक रोगियों की २२६ थी। इस मास की दैनिक उपस्थिति का ३४-४८ रहा। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार लिखे मुताबिक हैं:—

ज्वर ७३, प्रवाहिका ५१, कृमि ८९, अजीर्ण कास २८, श्वास १८, उपदंश २५, बालरोग ५२, प्रदर दद्रु ३६, व्रण ३८, रक्त विकार ५२, नेत्र विकार ५ विकार ३१, मुख विकार ३१, नासा रोग १ रोग २६।

राजकीय आयुर्वेद व यूनानी चिकित्सक

राजकीय आयुर्वेदिक व यूनानी चिकित्सक संघ की समिति की एक आकस्मिक बैठक लखनऊ में शिफातअली खाँ रामपुर की अध्यक्षता में हुई, निम्नलिखित प्रस्ताव पारितकर सरकार को कार्यवाही के लिये भेजा गया।

१—संघ की कार्यकारिणी आयुर्वेद विभाग के संचालक पद पर आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् श्री मुकु

जी द्विवेदी, डी० आई० एम० एस०, आयुर्वेदाचार्य की नियुक्ति पर हार्दिक प्रसन्नता प्रकट करती हुई सरकार को बधाई देती है और अपने नवागत उपसंचालक महोदय का हार्दिक स्वागत करती है।

२—उत्तर प्रदेश सरकार के आदेश-पत्र के आधार पर आयुर्वेद विभाग में २६ पोस्टों को गजेटेड करने की घोषणा की गई थी। ये २६ पद स्टेटस्, कैडर एवं वेतन में बिलकुल समान एवं स्थानान्तरण योग्य घोषित किये गये थे। इसी आधार पर १४ क्षेत्रीय आयुर्वेद व यूनानी अधिकारियों को लोक सेवा आयोग द्वारा ११-४-६० को साक्षात्कार-हेतु बुलाया गया। हम सरकार का ध्यान इस द्वैध नीति की ओर आकर्षित करना चाहते हैं कि उक्त १४ अधिकारियों का निर्वाचन विभागीय हुआ जिसमें उनकी योग्यता, आयु एवं बेसिक शिक्षा का कोई प्रतिबन्ध नहीं था और न इस निर्वाचन में किसी बाहरी उम्मीदवार को ही आमन्त्रित किया गया। फलतः यह निर्वाचन हमारे संघ की दृष्टि में पूर्ण रूप से वैधानिक एवं न्यायसंगत रहा किन्तु सम्प्रति लोकसेवा आयोग द्वारा जिन ९ गजेटेड चिकित्सकों का निर्वाचन होने जा रहा है उसमें हम विभागीय वैद्य हकीमों की पूर्ण उपेक्षा की गई है। हम इस पर घोर असन्तोष प्रकट करते हुए सरकार से प्रार्थना करते हैं कि हमारी इन ९ गजेटेड पोस्टों के लिये लगाये गये प्रतिबंधों (यथा नं० १ बेसिक योग्यता इण्टर साइन्स, २-आयु २१ से ४५ वर्ष के बीच, नं० ३—शैक्षणिक योग्यता) से हम विभागीय वैद्य हकीमों में को मुक्त किया जाय और इस निर्वाचन में भी किसी बाहरी उम्मीदवार को न बुलाकर हम विभागीय वैद्य-हकीमों मेंसे ही निर्वाचन हो। जैसा कि एलोपैथिक विभाग में भी पदोन्नति विभागीय डाक्टरों में से ही की जाती है। साथ ही हम सरकार से प्रार्थना करते हैं कि उक्त निर्णय करने से पूर्व १८-६-६० तक लोक सेवा-आयोग को भी सूचित किया जाय।

३—संघ का वार्षिक अधिवेशन नवम्बर मास के प्रथम या द्वितीय सप्ताह में प्रदेशीय विधान सभा के शरत्कालीन अधिवेशन को दृष्टिगत करते हुए करने का निश्चय हुआ। इस विषयक कार्यवाही के हेतु मन्त्री महोदय और हकीम जियाउद्दीन इन दो व्यक्तियों की कमेटी बनाई गई। निश्चित तिथि बाद में घोषित की जायगी।

४—सर्व सम्मति से तय हुआ कि वार्षिक अधिवेशन तक कार्यवाहक मन्त्री के रूप में श्री कुन्दनलालजी आर्य कार्य करते रहेंगे। तद्विषयक सूचना उपसंचालक महोदय को भेजी जाय।

५—सर्व सम्मति से निश्चय हुआ कि उपसंचालक महोदय का ध्यान इस ओर आकर्षित किया जाय कि कतिपय जिला स्वास्थ्याधिकारी हमारा डिजिग्नेशन 'चिकित्साधिकारी' निश्चित होने पर भी उसे कार्य रूप में व्यवहृत नहीं करते अतः उक्त आदेश की ओर उनका ध्यान आकर्षित करने की पुनः कृपा की जाय। और डिजिग्नेशन विषयक आदेश की प्रतिलिपियाँ अध्यक्ष राजकीय औषधि निर्माणशाला लखनऊ और श्री ए० जी० महोदय इलाहाबाद को भी भेजी जायँ।

कृमि व स्त्री रोग पर अनुसंधान

उत्तर प्रदेश की मान्यता प्राप्त प्राचीन आयुर्वेद-संस्था ललित हरि आयुर्वेदिक कालेज, पीलीभीत में आगामी वर्ष कृमि रोग व स्त्री रोग पर अनुसन्धान-कार्य प्रारम्भ करने की योजना हो रही है। आयुर्वेद के विद्वानों से प्रार्थना है कि इस सम्बन्ध में अपने-अपने विचार व अनुभव लिखने की कृपा करें। इस संस्था में इन्टरमीडिएट अथवा संस्कृत मध्यमा उत्तीर्ण छात्रों के लिये उत्तर प्रदेशीय बोर्ड आफ इण्डियन मडिसिन, लखनऊ द्वारा संचालित पंचवर्षीय आयुर्वेदाचार्य कोर्स पढ़ाया जाता है।

बांदा जिला वैद्य-सभा की बैठक

गत दिनांक १९-६-६० को बांदा जिला वैद्य सभा की कायकारिणी की बैठक आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा में हुई, जिसमें प्रान्तीय वैद्य सम्मेलन के लिए निम्न प्रतिनिधि सवसम्मति से चुने गये।

कविराज राजकिशोर अरोड़ा, प्रिंसपल आयर्वेदिक कालेज अतर्रा, वैद्य भवानीदत्त शास्त्री, बांदा, वैद्य छोटेलालजी कर्वी। तत्पश्चात् कई महत्वपूर्ण प्रस्ताव स्वीकृत हुए, जो नीचे दिए गए हैं।

कोष के प्रबन्ध के लिए यह सर्वसम्मति से तय किया गया कि प्रत्येक क्षेत्र में उपसभापति या सदस्य छपी हुई रसीद के द्वारा प्रति वैद्य १) रुपया मात्र सालाना इकट्ठा कर कोषाध्यक्ष को देंगे।

आज-कल केन्द्रीय एवं प्रान्तीय सरकार आयुर्वेद को उत्साहित करने की नीति को छोड़ पाश्चात्य पद्धति का विशेष रूप से प्रोत्साहित कर रही है। काशी विश्वविद्यालय

जैसे आयुर्वेद की उज्ज्वल संस्था को मेडिकल कालेज में बदलने से आयुर्वेद-जगत की अपूरणीय क्षति हुई है। यह सभा सरकार से अनुरोध करती है कि वह इस नीति को त्याग कर आयुर्वेद की उन्नति की तरफ ध्यान दे।

बांदा जिले में विशेष कर चित्रकूट, कालिंजर एवं केन नदी के तट पर आयुर्वेदिक औषधियों का कोष भरा पड़ा है जो आयुर्वेद की उन्नति एवं उत्थान के लिये एक महत्वपूर्ण साधन है। यह सभा प्रान्तीय सरकार से अनुरोध करती है कि इस महत्वपूर्ण कार्य के लिए एक समिति संगठित कर इन अलभ्य औषधियों की प्रगति के लिए अन्वेषण-विभाग खोले।

यह सभा जिलाधीश बांदा से यह निवेदन करती है कि डिस्ट्रिक्ट हेल्थ कमीटी में एक आयुर्वेदज्ञ अवश्य होना चाहिए।

आयुर्वेदिक कालेज अतर्रा के अस्पताल में आमवात (Rheumatism) पर अनुसन्धान चल रहा है। यह सभा जिला भर के वैद्यों से अनुरोध करती है कि जिले के सभी वैद्य अपना पूर्ण योग देकर इस महत्वपूर्ण कार्य में सहायता करें।

द्विवर्षीय सहायक वैद्य कोर्स उत्तीर्ण छात्रों की दशा को देखते हुए यह सभा सरकार से अनुरोध करती है कि आयुर्वेद चिकित्सालयों एवं औषधालयों में इन सहायक वैद्य उत्तीर्ण छात्रों को ही कम्पाउन्डर के लिए रक्खा जाय और जो उपरोक्त द्विवर्षीय कोर्स उत्तीर्ण न हों उन्हें उक्त कोर्स पास करने के लिये वाध्य किया जाय।

दिवंगत आयुर्वेद-प्रेमी को श्रद्धाञ्जलि

स्व० ठाकुर साहब नार्थूसिंहजी राठौड़, इस्तमरारदार कालेड़ा-बोगला, जिला अजमेर का स्वर्गवास गत ६ जून, १९६० को हुआ। उनको श्रद्धाञ्जलि-अर्पण करनेके के लिए एक शोक-सभा ७-६-६० को कृष्ण-गोपाल आतुरालयमें कृष्ण-गोपाल आयुर्वेद भवन के कर्मचारियों तथा कालेड़ा ग्राम जनता की ओर से हुई, जिसमें राजवैद्य शांतिलालजी जोशी रसायनाचार्य, वैद्य सुदर्शनलालजी तथा श्री शिवनारायणजी पनपालिया ने उनके प्रति श्रद्धाञ्जलि अर्पित करते हुए स्व० ठाकुर साहब द्वारा किए गए कार्यों की प्रशंसा की। स्व० ठाकुर साहबने अपने जीवन के पिछले ३० वर्षों में जो कृष्ण-गोपाल आयुर्वेदिक धर्मार्थ औषधालय के द्वारा लोक सेवा की है, वह स्तुत्य है। वक्ताओं द्वारा दिवंगत आत्मा को श्रद्धाञ्जलि दिए जाने के बाद सभा में निम्न लिखित प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किया गया—

“हम कृष्ण-गोपाल आयुर्वेद भवन के कर्मचारी कालेड़ा ग्राम के निवासी स्व० ठाकुर साहब नार्थूसिंहजी स्वर्गवास से अत्यन्त दुःखी हैं। उन्होंने अपना सब के साथ अत्यन्त मित्रतापूर्ण व्यवहार सुहृद्भाव से लोकसेवा का कार्य करते बिताया। लिए उनको श्रद्धाञ्जलि अर्पण करते हैं। प्रभु से यह प्रार्थना करते हैं कि वे दिवंगत आत्मा शांति प्रदान करें। उनके सुपुत्र कुं० जसवन्तसिंह के प्रति हम हार्दिक समवेदना प्रकट करते हैं और प्रार्थना करते हैं कि वे शोक-सन्तप्त कुटुम्बी जनों को ठाकुर साहब के वियोगजन्य दुःख को सहन करने प्रदान करें।

पारद संस्कार की अभूतपूर्व योजना

पारद-संस्कार समिति, सरदारशहर, के मंत्री लाल दाधीच सूचित करते हैं कि पारद संस्कार की एक सभा परमहंस स्वामी बालकनाथजी की अध्यक्षता में हुई। रस-चिकित्सा में पारद बहुत बड़ा महत्व है। रस-शास्त्रियों ने इसमें दोष व आठ नैसर्गिक दोष माने हैं। इस योजना के इन दोषों का प्रत्यक्ष रूप से निराकरण कर जनता- के समक्ष प्रस्तुत किया जायेगा। बाद में अठारह संपादित किये जायेंगे। यह कार्य रसवैद्य पं० शर्मा, भीलबाड़ा के संरक्षण में जून के अन्तिम प्रारंभ कर दिया गया।

इस समिति के अध्यक्ष व मंत्री आयुर्वेद-सेवी जयचन्दलालजी सेठिया, वैद्य सोहनलाल शास्त्री, चार्य और कार्य-समिति के पाँच अन्य सदस्य हुए। रस-चिकित्सा के प्रेमियों को पारद संबंधी सत्परामर्श व सहयोग के लिए आमंत्रित किया है। आशा है इस वैज्ञानिक योजना द्वारा आयुर्वेद- वैज्ञानिक क्रांति के नवप्रभात का उदय होगा।

जिंद तहसील वैद्य-मण्डल का चुनाव

बैद्यमण्डल तहसील जीन्द, जिला संगरूर (पंजाब) बार्षिक चुनाव हुआ जो इस प्रकार है। प्रधान तारा सिंह गोयल जीन्द, उप प्र० मं० वै० चन्द्रशेखर प्रधान मंत्री वै० लक्ष्मनसिंह, अनूपगढ़, उप मंत्री वै० जी, कोषाध्यक्ष वै० ज्ञानचन्दजी लेखा-निरीक्षक हुआ।

उपजिला वैद्यपरिषद, देवगढ़

उप जिला वैद्यपरिषद् भीम-राजसमन्द की साधारण बैठक, द्वारकेश औषधालय, कांकरोली में श्री माधव लाल पिपलीवाल की अध्यक्षता में हुई, जिसमें सर्वसम्मति से निम्न प्रस्ताव स्वीकृत हुए––

(१) परिषद् की यह सभा निवेदन करती है कि केंद्रीय सरकार अविलम्ब "सेन्ट्रल आयुर्वेदिक डाइरेक्टरेट" की स्थापना करे।

(२) परिषद् की यह सभा विनय करती है कि केंद्रीय देशी चिकित्सा बोर्ड तथा केंद्रीय इंडियन मेडिसन एक्ट का तुरन्त निर्माण किया जाना चाहिए।

(३) यह परिषद् अभ्यर्थना करती है कि आयुर्वेद-यूनानी के चिकित्सक का जोकि प्रान्तीय चिकित्सा बोर्डों से रजिस्टर्ड हैं रजिस्ट्रेशन बिना किसी अड़चन के केंद्रीय चिकित्सा बोर्ड से किया जावे ताकि वैद्यों की मान्यता भारत में एक जैसी हो सके।

(४) परिषद् की यह सभा केंद्रीय सरकार से निवेदन करती है कि वह आयुर्वेदज्ञों की उपाधि तथा आयुर्वेदका पाठ्यक्रम संपूर्ण भारत में एक जैसा निर्मित कराकर शीघ्रातिशीघ्र लागू करे।

(५) परिषद् की यह सभा भारत सरकार से निवेदन करती है कि आयुर्वेद के समस्त स्नातकों का वेतन-स्तर एलोपैथ डॉक्टरों के समान ही निर्धारित करे।

(६) परिषद् की यह सभा मांग करती है कि केंद्रीय सरकार ने फार्मोकोपिया ऑफ इंडिया के निर्माण का जो मार्ग एलोपैथी के लिए प्रस्तुत किया है, वैसा ही कोई मार्ग आयुर्वेद के लिए भी प्रस्तुत कर गंभीर अभाव की पूर्ति में सहयोग दे। इसके अतिरिक्त भी अन्य महत्वपूर्ण प्रस्ताव सर्व सम्मति से पारित हुए।

शेषांश] डा. सी. द्वारकानाथ का दीक्षांत भाषण [७० पृ० का

(क) आयुर्वेद की पढ़ाई विज्ञान के रूप में हो, न कि साहित्य के रूप में,

(ख) आयुर्वेद और आधुनिक-चिकित्साशास्त्र की पढ़ाई अब अलग-अलग न होकर एक साथ हो। इसका आधार हो आयुर्वेद, और इसमें आवश्यकतानुसार-सम्बद्ध क्षेत्रों की आधुनिक देन का भी उपयोग किया जाए।

(ग) आयुर्वेद की पढ़ाई विषयानुसार हो और इसके प्रयोजनार्थ प्रत्येक विषय के प्रोफेसरों को अपने-अपने विषयों पर ऐसी पाठ्य-पुस्तकें लिखने के लिए प्रोत्साहित किया जाए जो समूचे भारत में समान रूप से अपनायी जा सके,

(घ) प्रत्येक आयुर्वेदिक-संस्था में इस प्रणाली के विभिन्न अंगों पर शोध कराने के लिए पर्याप्त व्यवस्था रहे। आयुर्वेदिक कालेज का प्रत्येक शिक्षण-विभाग सक्रिय रूप से शोध का भी काम करे और प्रोफेसर अपने इस प्रकार के शोधों से प्राप्त ज्ञान का उपयोग अपने विषय के पढ़ाने में किया करें,

(ङ) आयुर्वेदिक शिक्षा, परीक्षा और उपाधि की एक-सी योजना बनायी जाए और इसे समूचे भारत में चालू किया जाए,

(च) हरएक आयुर्वेदिक कालेज में स्नातकोत्तर शिक्षण की सुविधाओं की व्यवस्था की जाए, ताकि शोध-कार्यकर्त्ता और शिक्षक उपलब्ध हो सकें,

(छ) शिक्षा-स्तर अच्छा बना रहे, इसके लिए यह आवश्यक है कि भारतीय चिकित्सा-परिषद (इंडियन मेडिकल कौंसिल) के आधार पर भारतीय चिकिसा-शास्त्र की एक विधि-विहित केन्द्रीय परिषद् (स्टेच्युटरी सेन्ट्रल कौंसिल ऑफ इंडियन मेडिसिन) कायम की जाय;

(ज) आयुर्वेदिक स्नातकगण आधुनिक चिकित्साशास्त्र के स्नातकों के समकक्ष माने जाएँ। साथ ही, उन्हें सरकारी नौकरी पाने के भी समुचित अवसर दिए जाएँ,

(झ) यह अत्यन्त आवश्यक है कि आयुर्वेदिक स्नातकों को भी सामुदायिक योजना, प्राथमिक स्वास्थ्य-केन्द्र आदि राष्ट्रीय स्वास्थ्य-विकास-योजनाओं में भाग का अवसर दिया जाए,

(ञ) आधुनिक मेडिकल कालेजों में आयुर्वेद की पढ़ाई चालू की जाए और वहाँ आयुर्वेद के विभाग खोले जाएँ।

(ट) भारत में चिकित्सा-व्यवसाय (प्रैक्टिस) करनेवाले हरेक एलोपैथिक-चिकित्सक के लिए यह वांछनीय ही नहीं बल्कि जरूरी भी है कि वह आयुर्वेद से परिचित हों। हरेक आयुर्वेदिक चिकित्सक को भी आधुनिक चिकित्साशास्त्र का अच्छा व्यावहारिक ज्ञान होना जरूरी है ताकि वह सफलतापूर्वक लोगों की सेवा कर सके और आधुनिक वैज्ञानिक विकासों से भी अवगत रहे।

गागर में सागर

अणु-शक्ति के आविष्कार
आज भौति
स्तर पर
ज्ञान-
आश्रित रस-रसा
के सूक्ष्मीकर
सिद्धान्त को समझना आसा
कर दिया है। एक विशिष्ट द्र
या धातु को यदि निरन्तर सूक्ष्म
सूक्ष्म (बारीक) किया जाय
उस पदार्थ में निहित शक्ति प्र
होने लगती है; रस-रसायनों
विलक्षण प्रभाव का यही रहस्य है।
बैद्यनाथ रस-रसायन सैक
हजारों अग्निपुटों, औ
संस्कारों और स्वरसभावना
के द्वारा सूक्ष्मीकरण
शास्त्र-सम्मत प्रक्रिया
तैयार होते हैं।

बैद्यनाथ रस-रसायन

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और
विश्वासी
कारखाना

बैद्यनाथ सिद्ध मकरध्वज, *बैद्यनाथ* बसन्तकुसुमाकर रस, *बैद्यनाथ* पूर्णचन्द्र रस वृहत्, *बैद्यनाथ* श्वास चिन्तामणि रस वृहत्, *बैद्यनाथ* योगेन्द्र रस आदि आदि *बैद्यनाथ* रस-रसायन स्वयं स्फूर्त शक्तिपुंज होते हैं।

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि,
कलकत्ता · पटना · झाँसी : नागपुर ·

बैद्यनाथ औषधियाँ ताज़ी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं
३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर

१,२८,००० से अधिक....

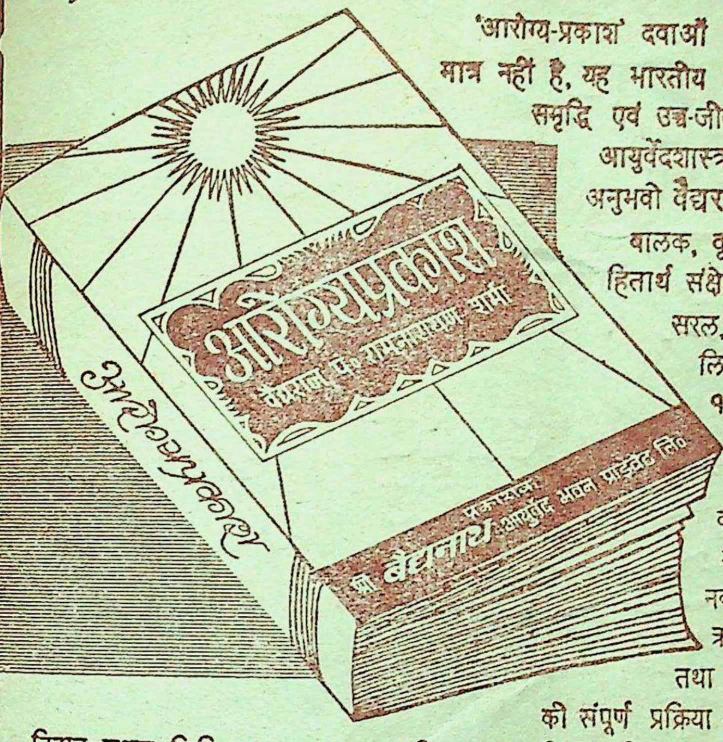
आरोग्यप्रकाश
वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा
आरोग्यप्रकाश
प्रकाशक:
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

'आरोग्य-प्रकाश' दवाओं के नुस्खों की एक किताब मात्र नहीं है, यह भारतीय जीवन-दर्शन है: आरोग्य, सुख, समृद्धि एवं उच्च-जीवन की उपलब्धि के उपायों को, आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ और जीवन-जगत् के अनुभवी वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा ने बालक, वृद्ध, युवा--स्त्री, पुरुष सभी के हितार्थ संक्षेप व विस्तार के समन्वय से सरल, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखा है। बारह संस्करणों में १,२८,००० से अधिक प्रतियों का बिक जाना इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है; रेखाचित्रों, भोज्य-वस्तुओं के गुण-परिमाण-नक्शों; व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, ऋतुचर्या आदि विषयों से युक्त तथा स्वानुभूत औषधियों के निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया के साथ-साथ रोगों के कारण, निदान, लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि का सहज विवेचन किया गया है। ४६० से अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य भारतीय जीवन-दर्शन और आयुर्वेदीय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के हेतु मात्र २·२५ न·पै· रखा गया है।

बैद्यनाथ ने जहाँ आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण के लिये ५ बड़ी-बड़ी रसायनशालाएँ स्थापित की हैं, तदनुरूप ही आयुर्वेदीय वाङ्मय की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा के लिये प्राचीन और अर्वाचीन विविध आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है तथा 'सचित्र आयुर्वेद' पत्रिका के द्वारा प्रतिमास उच्चकोटि के मौलिक साहित्य के सृजन का कार्य भी अबाधगति से होता आ रहा है।

बैद्यनाथ के कतिपय विशिष्ट प्रकाशन

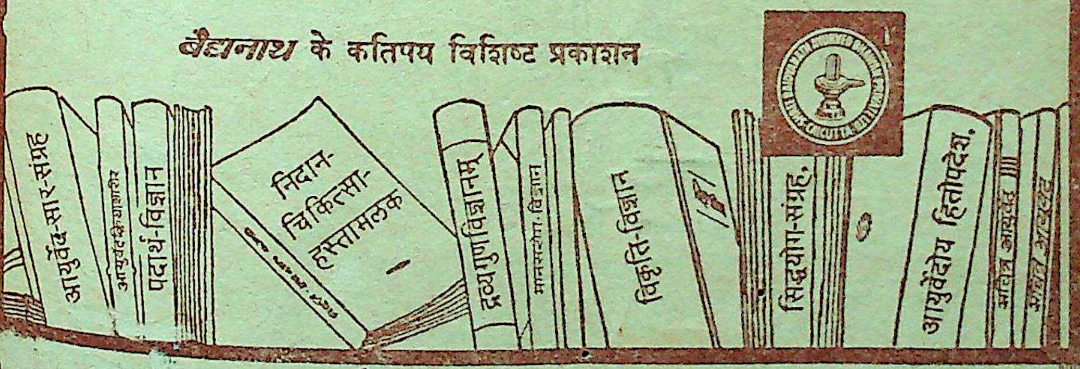
आयुर्वेद-सार-संग्रह
आयुर्वेदीय क्रियाशारीर
पदार्थ-विज्ञान
निदान-चिकित्सा-हस्तामलक
द्रव्यगुणविज्ञानम्
मानसरोग-विज्ञान
विकृति-विज्ञान
सिद्धयोग-संग्रह
आयुर्वेदीय हितोपदेश
सचित्र आयुर्वेद

सब से विश्वासी कारखाना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

सदा-सबके लिये गुणकारी

बैद्यनाथ दवाएँ

शुद्ध और सर्वांगपूर्ण

रस रसायन
भस्में

आसव
अरिष्ट

पुराना और पारदर्शी

अवलेह
मोदक
पाक

ताजा और तुरत फलदायक

पेटेन्ट
दवाएँ

हजारों--लाखों द्वारा परीक्षि

औषधि
तैल

पूर्ण शास्त्रीय विधि से प्रस्तुत

देशी दवाओं का सब से बड़ा
और विश्वासी कारखाना

श्री
बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

स्वत्वाधिकारी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० की ओर से पं० सभाकान्त झा द्वारा जनवाणी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लि

सचित्र आयुर्वेद

GURUKULA KANGRI LIBRARY HARDWAR

वर्ष १३] कलकत्ता, अगस्त, १९६० [अंक २

वैद्य-वर्ग निःस्वार्थ वृत्ति का परिचय दे !

भारतीय चिकित्सा-प्रणाली और आधुनिक चिकित्सा-प्रणाली साथ-साथ चल सकती है। भारतीय चिकित्सा-प्रणाली को अपने बल पर आगे बढ़ने देना चाहिए और एक प्रणाली का दूसरी से किसी प्रकार का द्वेष भी नहीं होना चाहिए। किसी भी विज्ञान का मूल्याङ्कन भावनाओं से ऊपर उठकर ही करना उचित है। निःसन्देह आयुर्वेद का अपना स्वतंत्र अस्तित्व है और इसका विकास भी स्वतंत्र रूप से ही होगा। किन्तु आधुनिक चिकित्सा विज्ञान की उपलब्धियों की उपेक्षा आज किसी प्रकार भी नहीं की जा सकती। आयुर्वेद को जहाँ आधुनिकतम बनाने की दिशा में सतत् प्रयास जारी रखने की आवश्यकता है, वहाँ यह भी आवश्यक है कि वैद्य-वर्ग निःस्वार्थ वृत्ति का परिचय दे——आयुर्वेद को व्यवसाय का साधन न बनाए——तभी वह आयुर्वेद की——अपनी इस पवित्र धरोहर की रक्षा कर सकेगा।

श्री गुलजारी लाल नन्दा,
केन्द्रीय योजना मंत्री, दिल्ली।

प्रकाशक

दवाओं का सब से बड़ा श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

ताकत

ताजगी एवं

स्फूर्ति के लिए

बैद्यनाथ द्राक्षासव कफ, खाँसी, सर्दी जुकाम, हरारत और कमजोरी को दूरकर भूख बढ़ाता, कब्जियत मिटाता, पेट साफ रखता तथा दिल और दिमाग को ताजगी देता है।

बैद्यनाथ
द्राक्षासव

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में
होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर

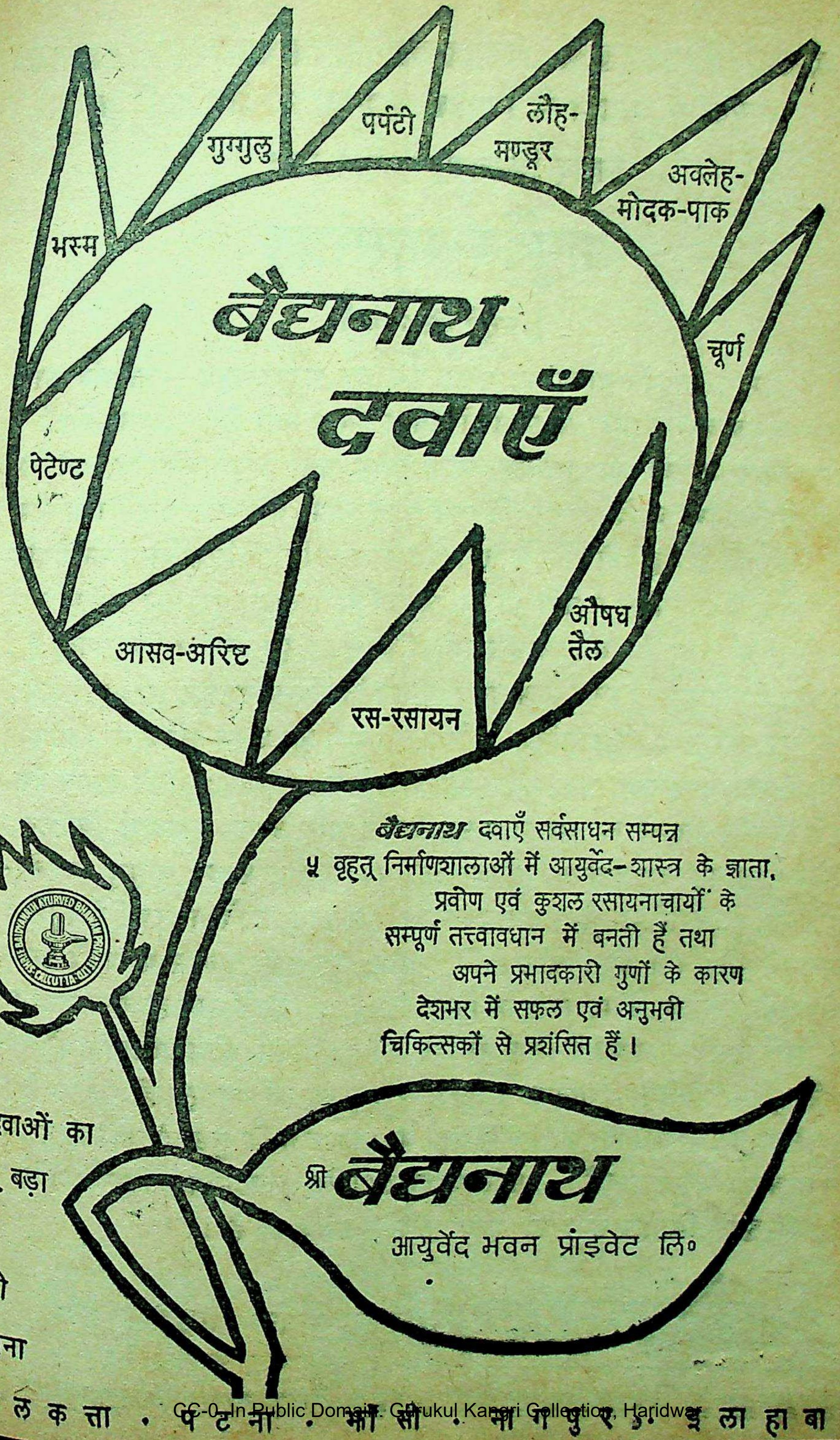
भस्म
गुग्गुलु
पर्पटी
लौह-मण्डूर
अवलेह-मोदक-पाक
चूर्ण
पेटेण्ट
आसव-अरिष्ट
रस-रसायन
औषध तैल
बैद्यनाथ दवाएँ

बैद्यनाथ दवाएँ सर्वसाधन सम्पन्न ५ वृहत् निर्माणशालाओं में आयुर्वेद-शास्त्र के ज्ञाता, प्रवीण एवं कुशल रसायनाचार्यों के सम्पूर्ण तत्त्वावधान में बनती हैं तथा अपने प्रभावकारी गुणों के कारण देशभर में सफल एवं अनुभवी चिकित्सकों से प्रशंसित हैं।

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और
विश्वासी
कारखाना

श्री **बैद्यनाथ**
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

आयुर्वेदीय औषधों के निर्माण, गुण-धर्म, उपयोग आदि पर
विशद विवेचनपूर्ण महान् ग्रन्थ

आयुर्वेद सारसंग्रह

(चतुर्थ संस्करण)

सम्पूर्ण आयुर्वेद-शास्त्र का मंथन कर यह महान् ग्रन्थ——**आयुर्वेद सारसंग्रह**——अनेक वर्षों के घोर परिश्रम से तैयार किया गया है। इसमें रोगों के अवस्थानुसार औषधों का गुण-धर्म और प्रयोग तथा औषध-निर्माण, औषध-अनुपान, पथ्यापथ्य आदि का पूरा विवरण सरल भाषा में समझा कर लिखा गया है। आयुर्वेद के महर्षियों द्वारा अतिप्राचीन काल से जिन प्रसिद्ध योगों का प्रयोग होता आया है और जिन प्रयोगों का चिकित्सकों द्वारा सफल परीक्षण असंख्य बार कर लिया जा चुका है, ऐसे ही सफल प्रयोगों का संग्रह इस ग्रन्थ में किया गया है। इस ग्रन्थ में परिभाषा प्रकरण के अन्तर्गत औषध-निर्माण-परिभाषा, मान-परिभाषा, सांकेतिक परिभाषा, रासायनिक परिभाषा, यन्त्र-पुट-खरल-परिभाषा, औषध-प्रयोग-विधान, पथ्यापथ्य, पारद-गंधक-हिंगुल का विशद विवेचन; शोधन-मारण प्रकरण के अन्तर्गत धातुओं का शोधन, भस्म-निर्माण और उनका गुण-धर्म विवेचन; कूपीपक्व रसायन, रस-रसायन, गुटिका-बटी, पर्पटी, लौह मण्डूर, गुग्गुलु, अवलेह-पाक, चूर्ण, आसवारिष्ट, तैल, कषाय (क्वाथ), मलहम आदि प्रकरणों में विविध प्रकार की औषधियों की निर्माण-विधि, प्रयोग, गुण-धर्म, पथ्यापथ्य आदि सभी वैद्योपयोगी बातों का सविस्तार वर्णन किया गया है। इसके साथ ही रस-रसायन, अर्क आदि बनाने के यन्त्रों के चित्र भी दिए गये हैं, जिनसे औषधिनिर्माताओं को काफी सुविधा होगी। राष्ट्रभाषा हिन्दी में इस ढंग की यह एक ही पुस्तक है। इस पुस्तक की लोकप्रियता का सब से बड़ा प्रमाण यह है कि कुछ ही वर्षों में इसके तीन संस्करण निकल चुके हैं। सर्वसाधारण तथा चिकित्सकमात्र के लिए सर्वाधिक उपयोगी इस विशाल ग्रन्थ का मूल्य मात्र——७·०० रु० है।

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता -६

त्रिदोष-तत्त्व विमर्श

(संशोधित-परिवर्द्धित—द्वितीय संस्करण)

लेखक—आयुर्वेद-बृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

डायरेक्टर केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था—जामनगर ।

इस ग्रन्थ में वात-पित्त और कफ जो मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—को ध्यान में रखकर वात-पित्त कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्तभेद--प्रत्येक भेद का प्रधानस्थान और उनकी क्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है । पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि विषय को और भी स्पष्ट बनाने के लिए आधुनिक शरीर क्रिया-विज्ञान (फिजियॉलाजी) के साथ एक तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं वे उस युग के विशेष रूप से आविष्कृत भेद हैं । आधुनिक क्रिया शारीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है । प्राचीन ग्रंथोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं हैं--अवान्तर भेदों के वर्ग हैं । दृष्टान्तस्वरूप पाचकपित्त दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिताग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं भिन्नता पाई जाती है । इन सभी विषयों का समाहार विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में सरल ढंग से किया है ।

इस द्वितीय संस्करण में मूलग्रन्थ के कलेवर में पर्याप्त वृद्धि होने के अतिरिक्त वात-पित्त और कफ विषयक परिशिष्ट सम्मिलित कर देने से इस पुस्तक की उपयोगिता में चार चाँद लग गए हैं । आयुर्वेद के जिज्ञासुओं को इस परिशिष्ट से त्रिदोषसम्बन्धी सभी विषयों का ज्ञान सुविधानुसार हो सकेगा । परिशिष्ट में शास्त्रोपदिष्ट वात-पित्त-कफ के प्राकृतिक और वैकृतिक गुण-कर्मों एवं तज्जन्य विकारों का उल्लेख बहुत स्पष्ट रूप से किया गया है। छपाई-सफाई-गेट-अप आदि भी आकर्षक है। साइज डवलडिमाई १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १८६, सजिल्द, मूल्य २, ६५ नये पैसे हैं, पोस्टेज पृथक् ।

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

१, गुप्ता लेन, कलकत्ता –६

सम्पादक—कामेश्वर शर्मा 'कमल'

विषय-सूची

विषय	लेखक
सम्पादकीय	
वनस्पति-विवेचन	वैद्य चन्द्रभानु शास्त्री
काश्यपसंहिता : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ	वैद्य रणजितराय
जीवित शरीर में दोषों की उत्पत्ति	वैद्य निरञ्जनदेव, आयुर्वेदालंकार
स्रोतोविचार—२	वैद्य प्रभाशंकर नरोत्तम रावल, आयुर्वेदाचार्य
तन्द्रा	वैद्य रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी, बी. ए. आयुर्वेद-वाचस्पति
फुफ्फुसीय यक्ष्मा (अंग्रेजी)	डॉ० विनायकराव वापट
आयुर्वेद में शल्य-शालाक्य ,,	कविराज यदुगोपाल गोस्वामी
रक्त पुनर्नवा	वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा
सर्प विष-चिकित्सा	वैद्य भैरवदत्त शर्मा, आयुर्वेदाचार्य
स्वास्थ्य और मनोभाव	श्री लीलाधर त्रिवेदी
वर्षाऋतु और स्वास्थ्य	
अष्टांगहृदयं—शारीरस्थानम्	डा० शंकरलाल भेड़ा, आयुर्वेदाचार्य
पाठकों के विचार	
आयुर्वेद-जगत्	

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित सभी रचनाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। हमारी पूर्व अनुमति के बिना इसमें प्रका
किसी रचना का कोई अंश किसी पत्र-पत्रिका में उद्धृत नहीं किया जाना चाहिए।
—सम्पा

वार्षिक मूल्य ५)

एक प्रति ५०

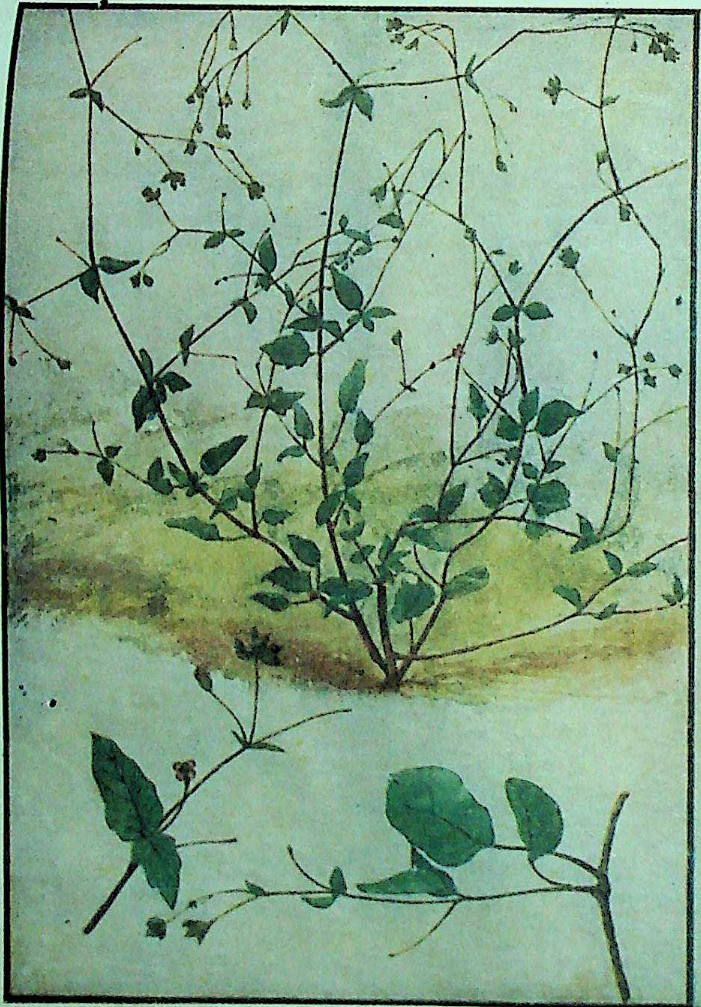

नं० १. असली रक्तपुनर्नवा—शाखा-पत्र-पुष्प संयुक्त

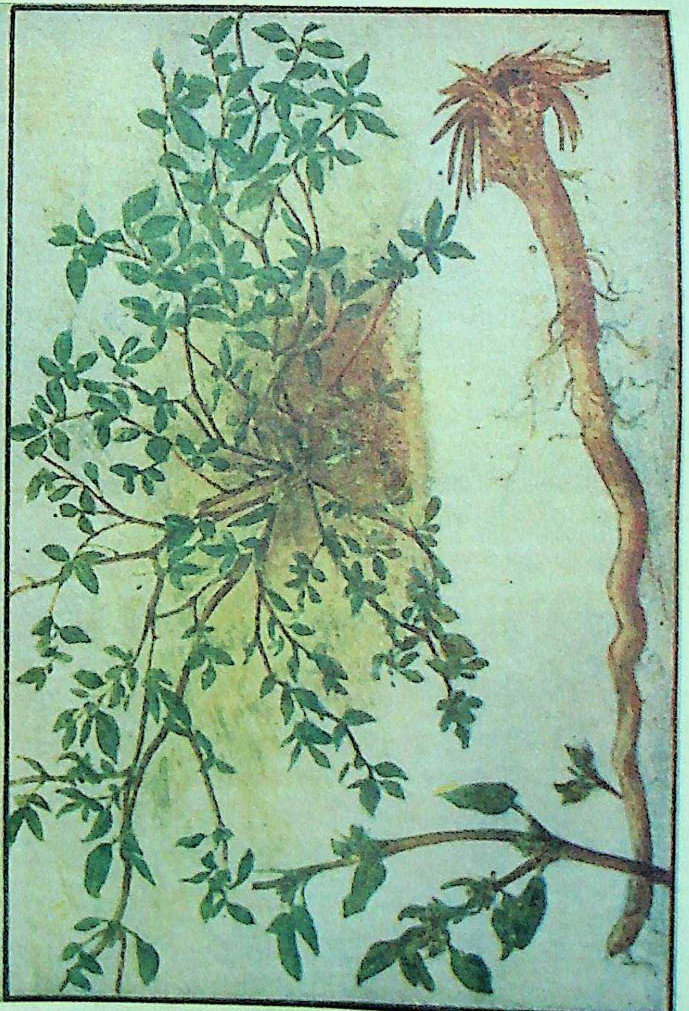

नं० २. रक्तपुनर्नवा की एक जाति

आयुर्वेद-जगत में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेदविज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

श्री धन्वन्तरये नमः

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

वर्ष १३ | कलकत्ता, अगस्त, १९६० | अंक २

सम्पादकीय

आयुर्वेद योजना-समिति

हाल ही में केन्द्रीय योजना आयोग के आयुर्वेद खण्ड (उप-समिति) का एक अधिवेशन दिल्ली में भारत सरकार के योजना मन्त्री माननीय श्री गुलजारीलालजी नन्दा की अध्यक्षता में सम्पन्न हुआ है। आयुर्वेद खण्ड के सदस्यों के अतिरिक्त केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री माननीय श्री करमरकर जी भी अधिवेशन में उपस्थित थे। उन्होंने कहा : "मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि आयुर्वेद में कई अमूल्य बातें हैं, जिन्हें स्वयं आयुर्वेद के ज्ञाता भी अभी तक नहीं जानते।" माननीय श्री नन्दाजी ने कहा : "हमारी भारतीय चिकित्सा-पद्धति को आधुनिक विज्ञान से भी कुछ सीखना चाहिए और आयुर्वेद के ज्ञाताओं को अनुसन्धान की ओर बढ़ कर कमी को पूरा करना चाहिए। इसके लिए मैं चिकित्सा-प्रणाली की केन्द्रीय परिषद् स्थापित करने के विचार से पूर्णतः सहमत हूँ।"

उक्त अधिवेशन में पहली दो पंचवर्षीय योजनाओं में आयुर्वेद की उन्नति और तीसरी योजना में देशी चिकित्सा को स्थान देने पर विचार किया गया। दो दिवसीय अधिवेशन के अन्त में आयुर्वेद खण्ड ने जो सुझाव दिये हैं, उनमें कुछ मुख्य निम्न प्रकार हैं :—

आयुर्वेदिक चिकित्सा और शिक्षा के नियंत्रण हेतु केन्द्रीय आयुर्वेद परिषद् की स्थापना की जावे। देश के स्वास्थ्य विषयक कार्यक्रमों में देशी चिकित्सा-पद्धतियों को उचित स्थान और मान्यता दी जावे। अनुभवी और योग्य वैद्यों और हकीमों को वही अधिकार एवं स्थान दिया जाय जो डाक्टरों का है। आयुर्वेद कालिजों का स्तर उठाया जाय। चार साल का डिप्लोमा कोर्स और भर्ती के लिए न्यूनतम योग्यता का निर्धारण किया जाय। सरकारी नौकरी के इच्छुक आयुर्वेद छात्रों को दो साल के अतिरिक्त अध्ययन करने के बाद डिग्री दी जावे। स्नातकोत्तर अध्ययन और अनुसन्धान के हेतु केन्द्र खोले जावें। आवश्यक पाठ्य-पुस्तकें तैयार की जावें। गाँवों में स्वास्थ्य शिक्षा देने के लिए आरोग्य-केन्द्र खोले जावें। साधारण बीमारियों

की निदान चिकित्सा पर क्षेत्रीय भाषाओं में पुस्तकें छपाई जावें। आयुर्वेदिक औषधों का प्रामाणिक निघण्टु तैयार किया जावे। केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय जड़ी-बूटी उद्यान एवं संग्रहालय स्थापित किये जावें। पृथक् से केन्द्रीय औषध नियंत्रण संगठन और केन्द्रीय प्रयोगशाला स्थापित किये जावें। इत्यादि।

उपरोक्त जो सुझाव समिति ने दिये हैं; वे सभी प्रायः ऐसे हैं जिनके लिए आयुर्वेद-जगत् चिरकाल से सरकार से माँग करता आ रहा है। हम जो बहुत दिनों से चाह रहे हैं, वही हमें मिल जावे, तो फिर हमारी सफलता का क्या ठिकाना! परन्तु सरकार के पिछले रवैये से सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह सब हो सकेगा। जो सुझाव उपरोक्त आयुर्वेद योजना-समिति ने प्रस्तुत किए हैं, उनमें से अधिकांश को थोड़े से प्रकारान्तर के साथ विगत वर्षों में वे कई समितियाँ दे चकी हैं जिन्हें सरकार ने ही तदर्थ नियुक्त किया था। एक के बाद दूसरी समितियाँ नियुक्त होती रहीं, अपने सुझाव देती रहीं। रिपोर्ट छपती रहीं और वे सरकारी मंत्रालयों की आलमारियों की शोभा बढ़ाती रहीं। उडुप्पा समिति के सुझाव पर केन्द्रीय आयुर्वेद-अनुसन्धान-समिति की स्थापना के अतिरिक्त हमारी दृष्टि में कोई ऐसा उदारण नहीं आ रहा जब कि सरकार ने किसी भी समिति के आयुर्वेद हितार्थ दिये सुझाव को कार्यान्वित किया हो। हमें तो ऐसा लगता है कि सरकार ने पिछली समितियों के कुछ सुझावों पर यदि थोड़ा-बहुत अमल किया है तो केवल उन पर जिनके द्वारा आयुर्वेद से कुछ छीन लेने की गुंजायश थी या जिनसे आयुर्वेद के लिए कुछ किया जा रहा है—ऐसा दिखावा करके वैद्यों को क्षणिक सन्तुष्ट करने की सुविधा थी।

तो, फिर इस समिति के सुझावों पर ही सरकार कुछ सक्रियता दिखायगी—ऐसा निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। विश्वास की एक क्षीण रेखा यदि कोई हैं तो इतनी ही कि यह एक उच्चस्तरीय समिति है जिसके अध्यक्ष माननीय नन्दाजी सरीखे एक आयुर्वेद-भक्त केन्द्रीय मन्त्री हैं। माननीय स्वास्थ्य मन्त्रीजी की भी रुचि उसमें यत्किंचित् परिलक्षित होती है, इसलिए आशा की एक लहर-सी मन में उठती है कि इस समिति के प्रयासों से शायद केन्द्रीय सरकार आयुर्वेद के लिए कुछ कर डाले! निश्चय ही जो सुझाव समिति ने दिये हैं, उनमें से कई ऐसे हैं जो कार्यान्वित होने में समय लेंगे, तथापि कुछ ऐसे भी हैं, जिन्हें शीघ्र क्रियान्वित किया जा सकता है। स्वास्थ्य-कार्यक्र देशी चिकित्सा-पद्धति को मान्यता, केन्द्रीय आयुर्वेद की स्थापना, केन्द्रीय औषध नियंत्रण संगठन और एवं योग्य वैद्य-हकीमों को डाक्टरों के समान स्त अधिकार प्रदान करना—ये सभी कम-से-कम, ऐसे हैं, जिनमें लम्बा समय लगने का कोई हेतु नहीं। विचार की कोई बात नहीं। भारत सरकार की इच्छाशक्ति भर की आवश्यकता है। यदि भारत और केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय वास्तव में आयुर्वेद के कुछ करना चाहता है, तो योजना आयुर्वेद- के इन चार सुझावों को तो अविलम्ब कार्यान्वित ही जा सकता है। हम समझते हैं यही सरकार की मनोवृत्ति और योजना आयुर्वेद-समिति की सार्थकता कसौटी है। यदि निकट भविष्य में उक्त कुछ अवि करने योग्य कार्य सरकार की ओर से होते दीखते हैं यह विश्वास करना सहज होगा कि योजना-आयुर्वेद- में कुछ बल है और केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय आ हित में कुछ कर डालने की इच्छा अब अवश्य रखता है

हम यह विश्वास ले कर चलते हैं कि योजना-आयु समिति के सुझावों को, देर-सवेर सरकार अमल में और, इस नाते हम विशेषकर माननीय श्री गुलजारी नन्दा एवं माननीय श्री करमरकरजी और समिति के को आयुर्वेद-हित में महत्वपूर्ण सुझाव प्रस्तुत करने के शतशः धन्यवाद और हार्दिक बधाई देते है। सरकार से यह आग्रह करते हैं कि योजना-आयुर्वेद- के सुझावों को दीर्घसूत्री विचार-परम्परा या अन्य समितियों के झमेले में न डाल कर, उन्हें कार्यान्वित अपनी सरकार से निराश और हताश आयुर्वेद-जगत् प्रोत्साहित करे और वैद्य-समुदाय का विश्वास प्राप्त

निश्चय है कि आयुर्वेद के प्रसंग में सरकार का भी प्रयास चाहे वह कितना ही रचनात्मक या न हो, उस समय तक कदापि सफल नहीं हो जब तक आयुर्वेद-जगत् का विश्वास और वयोवृद्ध मर्मज्ञ विद्वानों का सहयोग सरकार प्राप्त न करे। टैक्नीकल और वैज्ञानिक विषय है, उसके यथार्थ विषयविज्ञों के परामर्श बिना जो कुछ किया

बालू पर किला बनाने से अधिक और कुछ नहीं हो सकता। सरकार वैद्यों को ऐसा वातावरण प्रदान करे, जिससे उनमें आत्मविश्वास जाग्रत हो, उनके बैठे हुए दिलों में उत्साह का सञ्चार हो, उनकी कुण्ठित ज्ञान-शक्ति में स्फूर्ति जाग्रत हो। जब तक सरकार अपने व्यवहार से और समाज को अनुकूल दिशा दे कर ऐसे वातावरण का निर्माण नहीं कर देती कि एक वैद्य अपने को वैद्य कहने में गौरवानुभूति का अनुभव करे, तब तक यह आशा करना कि सरकार की आयुर्वेद प्रवृत्तियों में वैद्यों का सामूहिक योग हो—या जैसा कि हमारे मंत्रिगण उपदेश दिया करते हैं कि आयुर्वेदवालों को नवीन से कुछ सीखना चाहिए, अनुसन्धान की ओर बढ़ना चाहिए—वह सब केवल कहने-सुनने के लिए हो—इससे अधिक और कुछ नहीं।

एक ओर आयुर्वेद विद्यालयों को समाप्त किया जा रहा हो, आयुर्वेद की चुनी हुई औषधों को एलोपैथी में मिला कर ड्रग्स एक्ट के प्रहार किये जा रहें हों, आसवारिष्ट जैसे वैद्यक के अभिन्न एवं अत्यावश्यक चिकित्सोपकरणों को मद्य के अन्तर्गत वैद्यों की जीविका पर चोट पहुँचाई जा रही हो, आयुर्वेदीय चिकित्सालयों को एलोपैथी डिस्पेंसरियों के रूप में बदला जा रहा हो, योजनाओं में आयुर्वेद को नगण्य निधि दी जा रही हो, मेडिकल कालिजों, डाक्टरों, एलोपैथी डिस्पेंसरियों का धुआँधार विस्तार किया जा रहा हो और विदेशी मदद से भारत में पाश्चात्य दवायें बनाने के अनेक विशाल कारखानों का आयोजन किया जा रहा हो; आयुर्वेदीय योगों या वनस्पतियों का अनुसन्धान केवल यह लक्ष्य ले कर किया जा रहा हो कि उनमें से कितनों को आधुनिक विज्ञान में मिलाया जा सकता है—और दूसरी ओर आयुर्वेद-हित के नाम पर समितियाँ बने, सुझाव दिये जावें, बड़ी-बड़ी बातें की जावें—तो इन दोनों में से किस को सत्य माना जाय? उसको जो प्रत्यक्ष हो चुका है या हो रहा है अथवा उसको जो केवल कहा जा रहा है—और वर्षों से कहा जा रहा है! इन स्थितियों के रहते हुए वैद्यों में कैसे विश्वास जाग्रत हो और कैसे वैद्य सरकार के आयुर्वेदीय कार्यों में सहयोग देने या स्वयं कुछ करने के लिए उद्यत हों, इस तथ्य पर सरकार को विचार करना चाहिए।

सरकार विचार करे या न करे अथवा उत्साहवर्द्धक वातावरण-निर्माण करने में प्रवृत्त हो, न हो। हम समझते हैं, वैद्य-समाज को इस समय स्वयं की सुरुचि को जगाना चाहिए। यह सोच कर ही कि हमारी सरकार हमारे आयुर्वेद के लिए कुछ करने जा रही है, हमें चेष्टापूर्वक ऐसी स्थितियों का निर्माण करना चाहिए जिससे सरकार जो कुछ भी आयुर्वेद-हित में करती है, वह व्यर्थ न जाय और सार्थक हो। वैद्यों की सुरुचि के अभाव में, आयुर्वेद-जगत के सहयोग के बिना सरकार जो कुछ करेगी, उसका अधिकांश फलदायक सिद्ध नहीं होगा तो सरकार करोड़ों रुपया व्यय करके आयुर्वेद से निराश हो जायगी। जो कुछ किया, उसका कुछ फल न निकला तो सरकार को सहज ही यह कहने का मौका मिल जायगा कि आयुर्वेद पर धन और शक्ति का व्यय करना वृथा है। वह स्थिति आयुर्वेद के लिए विनाशकारी होगी, इस मूल बात पर वैद्य विद्वानों को ध्यान देना चाहिए और साहसपूर्वक आगे आ कर सरकार के आयुर्वेद कार्यों में दखल देना चाहिए। आत्मगौरव के संकोच या उदासीनतावश सरकार अच्छा-बुरा जो कुछ कर रही हो, उसको देखते-सुनते रहना भर हितकर नहीं है। अधिकारी विद्वानों को सरकारी प्रयासों पर अपना स्पष्ट अभिमत व्यक्त करना चाहिए। यदि कोई पूछेगा तो कहेंगे—यह विचार कर विद्वानों का मौन या उदासीन रहना आयुर्वेद-हित की दृष्टि से ठीक नहीं है।

यहाँ हमारा ध्यान केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री के इन शब्दों पर जा रहा है कि, "मैं अपने अनुभव से कह सकता हूँ कि आयुर्वेद में कई अमूल्य बातें हैं, जिन्हें स्वयं आयुर्वेद-ज्ञाता भी अभी तक नहीं जानते।" एक बार उत्तर प्रदेश के मुख्य मन्त्री जी ने भी कुछ ऐसी ही बात कही थी जिसका भाव था कि आयुर्वेद-सिद्धान्तों के मूल रहस्य को वैद्य भी पूरी तरह नहीं जानते। हमारे मन्त्रिगण प्रवाह में या अत्युत्साहवश प्रायः ही ऐसी कुछ बातें कह दिया करते हैं। यद्यपि कोई तेली यह कहे कि तम्बोली को पान लगाना नहीं आता, तो यह कुछ हास्यास्पद-सा ही मालूम पड़ता है। ऐसे ही राजनैतिक पण्डितों का वैज्ञानिक सिद्धान्तों पर अपना अनुभव बता कर ऐसा प्रकट करना कि उस विज्ञान के जानकार भी उसके तत्वों को नहीं जानते, कहाँ तक ठीक समझा जा सकता है—यह बात अलग है। हम समझते हैं कि आयुर्वेद और वैद्यों के सम्बन्ध में मन्त्रिगण ऐसा कहने का अवसर क्यों पाते हैं? इस प्रश्न पर आयुर्वेद-जगत् को विचार करना चाहिए। यह तो बड़ी चुनौती हुई "वीर

विहीन मही मैं जानी !" मन्त्रिगण इस मही को आयुर्वेद-तत्वज्ञ-विहीन समझने की स्थिति में क्यों हैं ?

हम विवश हो कर यहाँ यह कहने के लिए बाध्य हैं कि मन्त्रिगण जो यह कहने का अवसर पाते हैं कि आयुर्वेद के तत्वों को आयुर्वेज्ञ ही नहीं जानते—उसका कारण है। आयुर्वेद के वे मर्मज्ञ विद्वान जो पुरातन पद्धति के होने से संकोचशील हैं या उदासीन हैं और स्वयं अग्रसर नहीं होते—कुछ अंशों तक उस कारण के लिए जिम्मेवार हैं और बहुत अंशों तक उस कारण के लिए जिम्मेवार है सम्पूर्ण आयुर्वेद-जगत्, जो अपना स्वर ऊँचा कर सरकार को यह बताता नहीं कि यदि आयुर्वेद के तत्व समझना है और देशी चिकित्सा के लिए यथार्थ कुछ करना है तो हमारे अमुक-अमुक शास्त्रमर्मज्ञों को बुलाओ। वे आयुर्वेद के तत्व भी और दिशा भी बतायेंगे।

होता यह है कि जिन कुछ लोगों का येन-केन प्रकारेण सरकार से सम्बन्ध है या मन्त्रिगण से सम्पर्क है, सरकार समितियों का आयोजन जब करती है, तो वे ही आगे आ जाते हैं और कुछ अपने ही प्रकार के ऐसे साथियों को जो उनके कृतज्ञ रहें और उनकी ही विशिष्टता को बढ़ाते रहें—समिति में चेष्टापूर्वक लिवाया जाता है। फिर मन्त्रिगण उन लोगों के सम्पर्क में आ कर स्वभावत: यह समझ लेते हैं कि यही सिरमौर आयुर्वेद-तत्वज्ञ हैं—और उनमें जो कुछ मन्त्रियों को मिलता है, वह इसी अनुभव के रूप में बाहर निकलता है कि 'आयुर्वेद तत्वों के रहस्य को आयुर्वेदज्ञ ही नहीं जानते !'

वस्तुस्थिति यह है कि आज भी यह भारत-भूमि आयुर्वेद-शास्त्रमर्मज्ञों से शून्य नहीं है। आयुर्वेद के चमत्कारी चिकित्सक यत्र-तत्र हैं, जो अपने ही क्षेत्र में आत्मगौरव के साथ चिरसंतुष्ट हैं। प्राचीन संस्कृति के अनुयायी हैं, आत्म-प्रचार को पाप समझते हैं। बिना प्रेरित किये या ससम्मान आह्वान किये वे कहीं जाते-आते नहीं। यह निश्चित है कि यदि चुने हुए शास्त्रमर्मज्ञ ससम्मान आयुर्वेद के कार्यों के हेतु बुलाये जा सकें तो यथार्थ दिशा में कुछ वास्तविक कार्य भी हो सके और मन्त्रिगण को वैसा कहने का अवसर भी न आवे।

इसके लिए यह वांछनीय है कि पहले तो सरकार ही जब आयुर्वेद के सम्बन्ध में कुछ विचार का प्रश्न आवे तो देश-भर के चोटी के विद्वानों की चेष्टा करके बुलाया करे। यदि सरकार ऐसा नहीं करती तो फिर आयुर्वेद-जगत् कर्त्तव्य है कि वह अपना स्वर सरकार तक पहुँचावे आयुर्वेद-निर्णायक समितियों में अधिकारी विद्वानों को जाने का दृढ़ आग्रह करे। ऐसी समिति में, जिसमें आयुर्वेद के सार्वभौमिक प्रश्नों पर विचार होना हो, क्षेत्रों और सभी वर्गों को स्पष्ट प्रतिनिधित्व दिया चाहिए। सदस्यों के चयन के समय प्रचार और को आधार न बना कर वास्तविक योग्यता, अनुभव ज्ञान को कसौटी बनाना चाहिए।

इस दृष्टि से यदि विचार किया जाय तो योजना समिति का गठन सर्वथा उचित नहीं है। ऐसा ज्ञात है कि जैसे इस समिति में अंग्रेजी-ज्ञाताओं को विशेष रूप का आग्रह रहा है, चाहे उनकी आयुर्वेद-संबन्धी योग्यता न हो ! यद्यपि यह सन्तोष की बात है कि इस समिति कई विद्वान उच्चकोटि के हैं जो आयुर्वेद को दृष्टिकोण से समझने में समर्थ हैं। परन्तु कुछ ऐसे सदस्य हैं, जिनके लिए जाने का कोई स्वस्थ आधार जान पड़ता। सिवा इसके कि कुछ लोगों ने अपने पक्ष बहुमत बनाने के लक्ष्य से ऐसे सज्जनों को समिति में किया है। अनेक दृष्टियों से समिति का गठन नहीं है। पूरा क्षेत्रीय प्रतिनिधित्व नहीं है। का, औषध-निर्माताओं का, और व्यवसाइयों का प्रतिनिधित्व समिति में नहीं है। ऐसे कुछ विद्वानों का समिति में अभाव है जिनका निष्कर्ष वैद्य- में निर्णायक माना जा सके। हाँ, अन्यों की इस समिति की यह विशेषता है कि इसमें डाक्टरों की अत्यल्प है और यह अभिनन्दनीय है। फिर भी सरकार केवल दिखावा करना चाहती है, तब तो कुछ की आवश्यकता नहीं ; कुछ यथार्थ कार्य होना है आवश्यक है कि समिति का विस्तार किया जावे और कोटि के प्रतिनिधि विद्वानों को समिति में लिया जावे।

जैसा कि हमने ऊपर निवेदन किया कि वैद्य- सहयोगपूर्ण नीति अपनाना चाहिए और ने अभी सुझाव दिये हैं वैद्यगण उन्हें करें। साथ ही हम सरकार और वैद्यजगत् ध्यान इस खतरे की ओर भी आकर्षित कर चाहते हैं कि इस बात का सतर्कतापूर्वक ध्यान जावे कि समिति के उक्त सुझावों पर जो भी

(शेषांश ९२ पृष्ठ पर)

वनस्पति-विवेचन

वैद्य श्रीचन्द्रभानु शास्त्री

युगों पुरानी बात है और भारत के क्या, संसार के अधिकांश लोग जानते हैं। जब मेघनाद के शक्तिबाण-प्रहार से तेजस्वी लक्ष्मण अचेत हो गये, तब सुषेण वैद्य ने एक वनस्पति का प्रयोग करके उनकी कठिन मूर्च्छा को भंग किया। पुनर्जीवनदायिनी औषध रूप में वनस्पति के प्रयोग का यह कितना प्रखर उदाहरण है। प्राचीन इतिहास में ऐसे उल्लेख भरे पड़े हैं कि संग्राम में परपक्ष के प्रहारों से क्षत-विक्षत शूरों के शरीर को तत्कालीन शल्य-चिकित्सक वनस्पतियों के प्रभाव से अतिशीघ्र नीरोग बना दिया करते थे।

यह निर्विवाद है, और वर्तमान में प्रचलित विविध चिकित्सा-प्रणालियों के साहित्य से सिद्ध होता है कि चिकित्सा में साधन रूप में वनस्पति को ही सर्वप्रथम लिया गया। कालान्तर में प्रगतिप्रिय मनुष्य ने चिकित्सा में वनस्पति के अतिरिक्त धातु, उप-धातु, रस, उपरस आदि अतिप्रभावी द्रव्यों को खोज लिया और ग्रहण कर लिया। फिर भी चिकित्सा में वनस्पतियों का प्रयोग गंगा की धारा की भाँति अविच्छिन्न रूप में आज भी चला आ रहा है; और निश्चित है कि आगे चलता रहेगा। यह वनस्पति वर्ग की बहुत बड़ी विशेषता और उपादेयता का सुस्पष्ट प्रमाण है। वर्तमान में पाश्चात्य देशों में वनस्पति प्रधान चिकित्सा भले ही क्षीण हो गई हो, परन्तु भारत में और कदाचित एशिया में तो आज भी वनस्पतियाँ चिकित्सा का अपरिहार्य आधार हैं।

अनेक वनस्पतियों में आश्चर्यजनक प्रभावकारी गुण हैं, इस सम्बन्ध में चिर अतीत के आलेखों को छोड़ भी दें तो वर्तमान के अनेक उदाहरण सामने हैं। आयुर्वेद के आधुनिक धन्वन्तरि गोलोकवासी आचार्य श्री यादवजी त्रिकमजी की एक घटना यहाँ स्मरण में आ रही है। एक बार आचार्यजी एक बड़े सेठ की चिकित्सा कर रहे थे। रोगी सर्वांगशोथ से पीड़ित था। मूत्र निःसारक औषधों का प्रयोग चल रहा था। आचार्यजी प्रायः नित्य ही रोगी का मूत्र तोला करते थे। सेठ की कोठी के बाग़ का माली, आचार्यजी के इस नियमित उपक्रम से कुतूहलसिक्त हुआ। एक दिन बोला; 'महाराज जी, आप रोज बाबू का पेशाब क्यों तोलते हैं?'

आचार्यजी की यह अन्यतम विशेषता थी कि ख्याति-प्राप्त अद्वितीय चिकित्सक और उद्भट विद्वान होते हुए भी अभिमान की गन्ध उनमें नहीं थी। छोटे-से-छोटे आदमी से वे पूरी आत्मीयता के साथ बात करते थे। माली के प्रश्न पर आचार्यजी हल्की मुस्कराहट के बीच समाधान के स्वर में बोले—'बाबू को ऐसी ही बीमारी है भाई! हम चाहते हैं कि बाबू को एक बार में दो-अढ़ाई सेर पेशाब हो जाय, तो बाबू जल्दी अच्छा हो जाय।'

बूढ़े माली की आकृति पर एकबारगी कुछ उत्साह-सा बिखर गया। तपाक से बोला—'अगर इतनी-सी बात है महाराज जी, तो, एक जड़ी का रस मैं लाता हूँ, आप बाबू को पिलाइए और घण्टे-आध घण्टे बाद ढाई सेर पेशाब तोल लीजिए।'

आचार्यजी को कोई आश्चर्य नहीं हुआ, क्योंकि वे वनस्पतियों के चमत्कारिक प्रभाव में आस्था रखते थे। फिर भी उन्होंने माली को उत्तर दिया—'केवल तुम्हारे कहने से नहीं, हम ठीक समझेंगे तो उस जड़ी का रस बाबू को देंगे, वह जड़ी हमें बतला दो।'

माली जड़ी बतलाने को राजी न हुआ। अन्ततः आचार्यजी ने माली के दिये जड़ी के रस का परीक्षार्थ प्रयोग किया। प्रभाव बिलकुल वैसा ही हुआ, जैसा माली ने बताया था। जड़ी दिखाने और उसकी जानकारी देनेके निमित्त माली को आचार्यजी ने बहुत समझाया-बुझाया। लोभ दिखाया, परन्तु माली ने जड़ी बताई नहीं। आचार्य श्री यादवजी ने विधिवत माली का शिष्यत्व स्वीकार करने की बात माली से कही, फिर भी हठ के पक्के उस माली ने जड़ी का नाम-धाम न बताया। आयु का बूढ़ा था ही कुछ दिनों बाद दिवंगत हो गया और उस अत्यन्त प्रभावशाली जड़ी का ज्ञान माली के साथ भारत से लुप्त हो गया। इस प्रकार के बहुत-से

उदाहरण भरे पड़े हैं। वनस्पतियों का बहुत-सा ज्ञान आज भी अशिक्षित और कदाचित इसी कारण अनुदार-ग्रामीणों की स्मृति की गाँठों में बँधा हुआ है।

चिकित्सा में वनस्पतियों का उपयोग ही अधिक हितकर है। वनस्पतियों के प्रयोग में प्रभाव के साथ-साथ एक और अति महत्व की बात यह है कि उनके प्रयोग में हानि का भय बहुत कम है। वनस्पतियाँ अधिकांश में इतनी सौम्य होतीं हैं कि उनकी मात्रा निर्धारित करने में बहुत सुविधा है। विष की मात्रा निर्धारित करने में मृत्यु का महाभय जैसी कोई आशंका सौम्य वनस्पतियों की मात्रा निर्धारित करने में नहीं है। अवश्य ही कुछ वनस्पतियाँ विषप्रधान हैं किन्तु वे अत्यल्प संख्या में हैं। तथापि वैद्यों को खनिज विष के समान वानस्पतिक विष की मात्रा स्थिर करने में सावधान रहना होता है।

ज्वरघ्न और सर्वांग शोथघ्न वनस्पतियों के प्रभाव को देखने से जहाँ वनस्पतियों का प्रभाव सर्वांग पर सिद्ध होता है वहाँ मस्तिष्क, हृदय, फुफ्फुस, आमाशय, पक्वाशय आदि अंग विशेषों पर भी उनसे सम्बन्धित रोगों में वनस्पतियों का प्रभाव कल्याणकर होता है जिनसे वनस्पतियों का देह पर एक देशीय प्रभाव भी सिद्ध है।

एक ही वनस्पति एक रोग और अनेक रोगों पर भी प्रभाव करती है। ऐसी वनस्पतियाँ कम ही हैं जो एक से अधिक रोगों पर प्रभावकर न हों। अधिकांश वनस्पतियाँ अनेक रोगों पर अधिक काम करने वाली हैं।

कुछ बहुप्रचलित वनस्पतियों को छोड़कर अधिकांश वनस्पतियाँ सर्वत्र उत्पन्न नहीं होतीं। काश्मीर की बहुत-सी वनस्पतियाँ काश्मीर को छोड़कर दूसरे प्रदेशों में नहीं होतीं। नित्य प्रति उपयोग में आने वाले अन्नों के विषय में भी यही स्थिति है। सब अन्न सर्वत्र नहीं होते। कोदों जैसे सब जगह पैदा नहीं होता वैसे ही गेहूँ भी सर्वत्र उत्पन्न नहीं होता। केशर, कंकुष्ठ और सनाय सब स्थानों पर नहीं उपजाये जाते। इसी कारण वनस्पतियों में ज्ञान भेद हुआ। दो दूरस्थ प्रदेशों के निवासी एक दूसरे के यहाँ उत्पन्न होने वाली वनस्पतियों की पूर्ण जानकारी नहीं रखते। प्राचीन समय में जब कि यातायात के साधन आज जैसे उन्नत नहीं थे, तब तो यह स्थिति और भी अधिक स्वाभाविक थी कि वैद्यों को अपनी-अपनी स्थानिक वनस्पतियों का ही ज्ञान हो। कुछ ही आचार्य ऐसे होते थे जो ज्ञान-पिपासा को लिए वन-वन घूमकर हर क्षेत्र की वि वनस्पतियों का परिचय प्राप्त करते और दूसरों तक चाते थे। वनस्पतियों की उत्पत्ति स्थान से सम्पर्क स्थापित करने की परम्परा कालान्तर में शिथिल गई, और उसका यह परिणाम हुआ कि आयुर्वेद के विद्वानों को भी भिन्न-भिन्न स्थानों में उत्पन्न होने वाली प्रभावी वनस्पतियों का ज्ञान नहीं रहा।

आयुर्वेद की वर्तमान स्थिति ऐसी है कि वनस्पति सम्बन्धी आयुर्वेदज्ञों का ज्ञान यदि इसी प्रकार क्षीण होता गया तो वैद्यक व्यवसाय का स्थायी संभव नहीं जान पड़ता। वनस्पतियों के में जो समस्यायें आज उपस्थित हैं उनका समा किया ही जाना चाहिए। आज ऐसी स्थिति है कि वनस्पतियों की तो बात ही क्या है; ज्ञात और मूलवाली कतिपय वनस्पतियाँ विभिन्न स्थानों में एक नाम से बहुरुपों में प्रयुक्त की जाती हैं। एक प्रदेश जिस वनस्पति को चिरायता कहते हैं, दूसरे प्रदेश वाले भिन्न वनस्पति को चिरायते के नाम से प्रयुक्त करते हैं। काकजंघा, ब्राह्मी, बिधारा, चतुष्पर्णी, बिदारी, जीवन्ती, रास्ना, नागबला, तालीश, चव्य, गजपिप्पली, इत्यादि कई वनस्पतियाँ ऐसी हैं, जिनमें एक ही नाम से कई अन्य जातीय और अन्यवर्गीय वनस्पतियाँ प्रयुक्त हो रही हैं। यह बहुरूपता उचित नहीं है।

अनेक वनस्पतियाँ ऐसी हैं जिनके मूलस्रोत का ज्ञान नहीं है और वे प्रायः लुप्त वनस्पतियाँ हैं; परि उनके रूप में जिन चीजों का प्रयोग हो रहा है, उनको तो प्रतिनिधि द्रव्य कहा जा सकता है परन्तु इनमें ऐसे भी हैं जिनके वास्तविक गुण-धर्मों का कभी नहीं हुआ। यद्यपि वे चिकित्सा-क्षेत्र में बहुत महत्व स्थान रखते हैं।

सबसे बड़ी समस्या यह है कि वनस्पतियों की पहचान और परीक्षा के लिए कोई सुनिश्चित पद्धति हमारे पास नहीं है, परिणामतः बहुत-सी ऐसी हैं जिनके विशुद्ध रूप का हमें ज्ञान है, वे मिलती भी हैं मिश्रण के रूप में उनमें मिलावट हो जाने की संभावनायें हैं, और स्वार्थान्ध व्यापारी ऐसी मिलावट हैं, परन्तु हमारे पास परीक्षण का कोई ऐसा मापदण्ड है, इसलिए मिलावट का परीक्षण नहीं कर सकते।

दशा में केवल उन वैद्यों की औषधें ही प्रमाणिक और विशुद्ध हो सकती है जो स्वयं वनस्पतियों को खोजकर लाते हैं या वे औषध-निर्माता जिन्होंने वनस्पतियों के संग्रह करने हेतु निज की व्यवस्था कर रखी है, उनकी औषधें ही अपने गुणों में खरी उतर सकती हैं।

इसके अतिरिक्त भारत के सुरम्य वनों में सहस्रों की संख्या में अभी ऐसी वनस्पतियाँ पड़ी हैं जिनके विषय में वैद्य-समाज का कोई ज्ञान नहीं और जिनके द्वारा यत्रतत्र वृद्ध ग्रामीण चमत्कारिक प्रभाव दिखाया करते हैं।

इन सब समस्याओं का एक ही समाधान है और वह यह कि वनस्पतिशास्त्र के शीर्षस्थ विद्वान एक स्थान पर एकत्र हों, उपरोक्त प्रश्नों पर गंभीर विचार-विनिमय करें और संदिग्ध वनस्पतियों, विभिन्न प्रतिनिधि वनस्पतियों, बहुरूपों या बहुवर्णों में प्रचलित वनस्पतियों का विनिश्चय करें और आयुर्वेदवाङ्मय में एक ऐसा नवीन अध्याय जोड़ें जो वर्तमान और भविष्य दोनों के लिए चमत्कारपूर्ण हो। महर्षि चरक ने भी सन्देह दूर करने के उपायों में सर्वश्रेष्ठ उपाय बताते हुए कहा है—"वैद्य समुदायोऽसंशय कराणाम्।

महर्षि चरक के इस महत्वपूर्ण निर्देश पर ध्यान देने वाले आधुनिक युग में एक मात्र महापुरुष आचार्य श्री यादव जी महाराज थे। वे जीवनपर्यन्त इस चेष्टा में रहे कि आयुर्वेद में नवीन खोज हो और प्राचीन की अधिकाधिक विवेचना करके समझा जावे। इस विचार से उन्होंने कितनों ही को उत्साहित किया। स्वयं बहुत श्रम किया और संस्थाओं को प्रेरित किया। दुर्भाग्यवश हमारी संस्थायें तो इस अनिर्वाय दिशा में प्रवृत्त न हो सकीं, परन्तु आचार्य यादवजी के प्रयत्न और प्रोत्साहन से श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा०लि० के प्रबन्ध संचालक श्री रामदयाल रामनारायण वैद्य, अपनी स्वाभाविक आयुर्वेदोन्नयन प्रवृत्ति के कारण, अवश्य इस दिशा में अग्रगामी बने।

आचार्य श्री यादवजी ने शास्त्रचिन्तन के लिए संगठन करने और नेतृत्व करने का भार उठाया तो बैद्यनाथ प्रतिष्ठान ने इस कार्य में होने वाले सम्पूर्ण व्यय को एकाकी वहन करने का साहस दिखाया। इसके ही फलस्वरूप अखिल भारतीय शास्त्रचर्चा परिषद का सूत्रपात हुआ। इस परिषद ने विगत दस वर्षों में जो महत्वपूर्ण कार्य किया है, वह आयुर्वेद-जगत को विदित है। गोलोकवासी आचार्यजी में शास्त्र-मंथन के लिए इतना उत्साह था कि शास्त्रचर्चा परिषद के हेतु अनेक वर्षों की एक विस्तृत योजना उन्होंने प्रारम्भ में ही निर्धारित कर दी थी। योजनाबद्ध कार्य प्रारम्भ हुआ। सबसे पहल आयुर्वेद के मूलभूत सिद्धान्त त्रिदोष एवं पंचमहाभूत पर विवेचन का विषय लिया गया। देश भर के उच्चकोटि के आयुर्वेद-शास्त्र-मर्मज्ञ आमंत्रित किये गये। बारह दिन तक प्रति दिन ८।१० घण्टे नियमित गंभीर बौद्धिक श्रम करके विद्वानों द्वारा सिद्धान्त स्थिर किये गये। इसी प्रकार की दूसरी परिषद में द्रव्य रस-गुण-वीर्य-विपाक और प्रभाव-विचार्य-विषय लेकर हरिद्वार में सम्पन्न हुई। यह दोनों परिषदें आचार्य श्री यादवजी के कुशल नेतृत्व में हुईं और इनके निष्कर्ष 'सचित्र आयुर्वेद' ने विशेषांकों में प्रकाशित किया, जिनका वैद्य समाज में विशेष आदर हुआ। उसके उपरान्त दुर्भाग्यवश आचार्य श्री यादवजी दिवंगत हो गये। तथापि उनके आदेश पर शास्त्र-चर्चा के उस अपूर्ण कार्य को आगे पूर्ण करने का संकल्प वैद्यनाथ प्रतिष्ठान ने पूरा किया है। शरीर-शब्दार्थ विवेचन पर दो परिषदें आचार्यजी के निर्देशित योजनानुसार आचार्य श्री दामोदर शर्मा गौड़ की प्रधानता में सम्पन्न हुई। इनके फलस्वरूप जो बृहत-शरीर शब्द-सूची प्रस्तुत हुई, उसे पाकर आयुर्वेद-जगतके विद्वान चकित और गद्‌गद् हो गए। जो लोग यह समझे हुए थे कि आयुर्वेद में शब्दों का बड़ा भारी अभाव है, और वे लेखकगण भी जो उन प्राचीन शब्दों में नये-नये अनगढ़ शब्दों की रचना किया करते थे, परिषद के श्रम का लोहा मान गये। भारत के प्रख्यात विद्वान और यशस्वी लेखक आचार्य श्री रघुवीर प्रसादजी त्रिवेदी ने परिषद द्वारा निर्णीत और स्वीकृत शब्द-संग्रह पर बहुत विशद विवेचन किया है। भूमिका और विवेचन सहित 'शारीर शब्द-संग्रह' इन दिनों मुद्रणाधीन है शीघ्र ही श्री बैद्यनाथ प्रकाशन से एक वृहद ग्रन्थ के रूप में आयुर्वेद-जगत को प्राप्त होगा।

इसी शास्त्रचर्चा परिषद का प्रस्तुत विचार्य विषय—वनस्पति है। जिस पर परिषद की वनस्पति-समिति के विद्वान विगत दो वर्षों से कार्य कर रहे हैं। ऐसा निश्चय किया गया है कि आगामी शास्त्रचर्चा परिषद् प्रयाग में संपन्न की जावे। नैनी (प्रयाग) में श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० के नवस्थापित निर्माण-केन्द्र में आगामी अक्टूबर मास में 'वनस्पति उद्यान' का उद्‌घाटन एवं वैद्यनाथ आयुर्वेद चिकित्सानुसंधान योजना के अन्तर्गत एक

विशाल आतुरालय के शिलान्यास का आयोजन है। इसी अवसर पर 'वनस्पति' पर शास्त्रचर्चा परिषद अपना विवेचन कार्य करेगी।

आयुर्वेदानुरागी वैद्य-बन्धुओं से इस विशद् कार्य में सहयोग की वांछा है। वनस्पति आयुर्वेदीय चिकित्सा की रीढ़ की हड्डी है। समय ऐसा है कि हमारी प्राचीन चिकित्सा-पद्धति वनस्पति विज्ञान के सुसंस्कारित और विवर्द्धित होने पर ही सबल रह सकती है, यह अपरिहार्य तथ्य है। एक ओर पाश्चात्य चिकित्सा विज्ञान है, जो कम से कम अपने द्रव्यों, स्वरूपादि और द्रव्यतत्व के परीक्षण की सुनिश्चित प्रणाली से सम्पन्न है। हमें अपने को उस स्थिति में ले आने के लिए कृतसंकल्प हो जाना चाहिए। यह बहुत बड़ा सुयोग है कि आयुर्वेद के ऐसे रचनात्मक कार्य के हेतु श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०के संचालकगण कृतज्ञतापूर्वक पुष्कल द्रव्य व्यय करने के लिए प्रस्तुत हैं। आयुर्वेद के हित चिन्तक विद्वानों को इस सुयोग का लाभ उठा कर यथार्थ आयुर्वेद सेवा में हाथ बटाना चाहिए। आयुर्वेदीय वनस्पति-शास्त्र के तत्ववेत्ता विद्वान गंभीर विचार-मनन करें और एकमत होकर अपने वनस्पति विज्ञान में आई हुई शिथिलता को दूर करने में कुछ उठा न रखें। विशेषज्ञ विद्वान अपने अनुभव और ज्ञान-बल से इस ब्रह्म यज्ञ को पूर्ण करने में अग्रसर हों।

वनस्पतियों के सम्बन्ध में जो समस्याएँ अपना समाधान चाहती हैं, उनका उल्लेख हमने इस लेख के पूर्वार्द्ध में किया है। हमारा आग्रह है कि विद्वज्जन उन पर वि करें और अपने अभिमत शास्त्रचर्चा परिषद् को अ भिजवावें। संदिग्ध वनस्पतियों के सम्बन्ध में अपना प्रकट करें, बहुरूपों में प्रचलित वनस्पतियों के विष अपने अनुभव प्रकाशित करें।

विशेष कर हमारा निवेदन यह है कि जिन विद्वा जानकारी में नवीन वनस्पति हों, या जो अपने क्षेत्र से वृद्धों द्वारा नवीन वनस्पतियों का ज्ञान कर सकें—वे परिषद् को सविस्तर सूचना दें, ताकि आगामी शास्त्र परिषद में उन पर विचार किया जा सके। सन्देहों कारण वस्तुतः कहीं अज्ञान और कहीं भिन्न प्रकार का है। इस प्रकार के अज्ञान या ज्ञान-भेद को किसी व्यक्ति के सतत् प्रयास दूर नहीं कर सकते। तत्वज्ञ वि का सहयोग और शास्त्रचर्चा का आयोजन ही ए वह साधन है जिससे यह दोष दूर हो सकते हैं।

आयुर्वेद के उत्थान-हेतु, राजकीय प्रयत्न उतने प्रभावकर नहीं हो सकते जितने कि वैद्य विद्वानों के प्रयास हो सकते हैं। यह अनुभव सिद्ध है। आयुर्वे रक्षा और उसका पुनरोदय यदि वैद्य-जगत के अपने से होगा, तभी वह सफल और स्थायी होगा! इ पर विचार कर वनस्पति-शास्त्र के विद्वान शास्त्रचर्चा के लिए प्रस्तुत हों।

[८८ पृष्ठ

शेषांश]

सम्पादकीय

हो उसमें भ्रष्टाचार, धन का दुरुपयोग और दिखावा मात्र न होने पावे। प्रायः यह देखा जा रहा है कि समाज-कल्याण, शिक्षा, विकास और निर्माण-योजनाओं में स्वार्थी-तत्व प्रवेश पा कर राजकीय धन का भीषण दुरुपयोग कर बैठते हैं। नाममात्र की संस्थायें, विद्यालय, समाज-सेवा-केन्द्र अनुसन्धानशाला, वनस्पति उद्यान, आदि बना कर बहुत लोग राज्य से रुपया ले कर स्वार्थ-साधन करते बताये जाते हैं। आयुर्वेद-योजना में भी यदि ऐसा हो गया तो वैद्य-समाज एवं आयुर्वेद का बहुत बड़ा अहित हो आयुर्वेद के विचारशील संचेतकों ने इस ओर ध्यान न तो योजना से कुछ लोगों का स्वार्थसाधन तो होगा, आयुर्वेद का कोई हित न होगा और ऐसे दु की स्थिति में आयुर्वेद के लिए कार्य करने का राजकीय सदा के लिए कुण्ठित हो जायगा। इसलिए स्वा से सरकार और वैद्य-समाज दोनों को सावधान हो चाहिए।

काश्यपसंहिता : : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ--५

वैद्य रणजितराय

काश्यपोक्त अम्लपित्त-चिकित्सा

गत लेख में कहा है कि ग्रम्ल पित्त का उपचार करते हुए ग्रारम्भ में वमन-विरेचन कराना चाहिए। ग्रम्लपित्त ऊर्ध्वगामी हो तो निकटवर्ती मार्ग मुख द्वारा दोष की शुद्धि करने के प्रयोजन से वमन देना चाहिए। वमन की ग्रावश्यकता हो तो यथाशक्य रोगी को वमन लेने के लिए प्रेरणा ग्रौर ग्रनुरोध करना चाहिए। इन दिनों ग्रायुर्वेदीय उपचार-क्रम में ग्रौषधों के स्थान पर वमनादि क्रियाग्रों को ग्रपनाने का वातावरण खड़ा हो रहा है। ग्रवश्य, ही इसकी गति ग्रभी मन्द है। तथापि प्रत्येक वैद्य को देश में इस क्रियाक्रम के ग्रनुकूल वातावरण खड़ा करने में योग देना चाहिए। प्रयत्न ऐसा तो नहीं ही होना चाहिए कि उसके व्यवसाय को धक्का लगे। किंबहुना, रोगी वमन न ले तो ग्रारम्भक दोष पित्त पच्यमानाशय में पहुँच वहाँ पाक, व्रण ग्रौर क्षत (सिरा में व्रण) उत्पन्न कर परिणामशूल, छर्दि या मल में रक्त या रक्तवर्णता या मांसोदक तुल्यता इत्यादि लक्षणों को उत्पन्न करता है, जिनका उल्लेख प्राय: ग्रम्लपित्त के लक्षणों में ग्राया है।

ग्रम्लपित्त के लक्षणों में परिणामशूल नहीं ग्राया है, तथापि इन दो रोगों में परस्पर संबन्ध व्यवसाय में बहुश: देखा जाता है। इस विषय में व्यवसाय ग्रौर शास्त्र दोनों की दृष्टि से उपयोगी एक प्रत्यक्ष दृष्ट सत्य के प्रति वाचकों का चित्त ग्राकर्षित करना ग्रावश्यक प्रतीत होता है।

परिणामशल की संप्राप्ति वृद्धत्रयी में पृथक् प्राप्त नहीं होती। माधव निदान में इसका उल्लेख हुग्रा है। इसकी भी मधुकोष टीका में टीकाकार ने तन्त्रान्तर से कुछ पद्य उद्धृत किए हैं। इनमें परिणामशूल का निदान, लक्षण, संप्राप्ति तथा ग्रनुपशय का बड़ा ही रोचक विवरण दिया है। प्राय: परिणामशूल के विवेचन में ग्रध्यापक ग्रौर लेखकों की दृष्टि इन वचनों पर जाती नहीं।

इन वचनों में प्रस्तुत प्रसंगोपयुक्त एक ग्रनुपशय का निर्देश है—**षष्टिकव्रीहिशालीनामोदनेन विवर्धते**—ग्रर्थात् विविध चावल खाने से इस शूल में वृद्धि हुग्रा करती है। धान नव (एक वर्ष से कम समय का) हो तो उसमें ग्रभिष्यन्दी गुण रहता है, जिससे उसका विदाह (शुक्तपाक) हो कर परिणामशूल या ग्रन्य पैत्तिक विकार होना संभव होता है। ग्रत: षष्टिक ग्रादि धान्य उल्लिखित वचन में नवीन ही ग्राह्य हैं। शेष, पुराण धान्य के कल्पों का विधान ग्रम्लपित्त में है भी।

व्यवसायी चिकित्सक विशेषतया ग्रानूप देश के, जानते हैं कि ग्रम्लपित्त के रोगी की प्रश्न-परीक्षा करने से प्रतीत होता है कि, चावल खाने से ग्रम्लपित्त के लक्षणों में वृद्धि होती देखी जाती है।

किं बहुना, ग्रम्लपित्त तथा परिणामशूल में उक्त तथा ग्रन्य सादृश्य के प्रति संकेत करने में प्रयोजन यह है कि ग्रम्लपित्त में वमन ग्रावश्यक हो ग्रौर वमन न कराया जाए, विशेषतया उसके पूर्व विरेचन दे दिया जाए तो पित्त ग्रध: स्रस्त हो कर पच्यमानाशय में स्थान-संश्रय कर जिन लक्षणों को उत्पन्न करता है उनमें एक परिणामशूल भी होना शास्त्र-दृष्टि से भी संभव है।

ग्रम्लपित्त में वमन-विरेचन रूप में शोधन का विधान प्रसिद्ध है। **ऊर्ध्वगं वमनैर्धीमान् ग्रधोगं शोधनर्जयेत्** यह भावप्रकाश का तथा **पूर्वं तु वमनं कार्यं पश्चान्मृदु विरेचनम्** यह योगरत्नाकर का वचन है। चरक में ग्रहणी रोग के प्रकरण में ग्रम्लपित्त का निर्देश ग्राया है, यह हम इस लेखमाला में प्रसंगोपात्त कह चुके हैं। ग्रहणी रोग की चिकित्सा में भी चरक ने प्रत्येक दोषज ग्रहणी के उपचार में वमन-विरेचन तथा बस्ति रूप शोधन का विधान किया है। शास्त्रीय तथा क्रियात्मक दोनों ग्रनुसंधानों की दृष्टि से ग्रहणी रोग में संशोधन का यह विधान ग्रतीव रसप्रद विषय है। ग्रहणी की ग्रौषध-चिकित्सा से गुण न होने पर ग्रवस्था देख कर दिया शोधन ग्रतीव गुणकारी सिद्ध हुग्रा है। ग्रहणी चिकित्साध्याय के इस प्रकरण का ग्रनुशीलन कर कोई भी विद्वान् इस मार्ग को ग्रात्मसात् कर उसके प्रचार में नि:शङ्क योग दे सकते हैं।

अम्लपित्त में वमन-विरेचन की उपयोगिता

पूर्वोद्धृत वचनों को पुनः उद्धृत करके भी अम्लपित्त में वमन-विरेचन की उपयोगिता, जिसका प्रतिपादन काश्यप ने किया है, उसका निरूपण अम्लपित्त के प्रकरण को पूर्णतया समझने-समझाने की दृष्टि से अत्यन्त आवश्यक है।

चरक ने ग्रहणी के प्रकरण में उपद्रवों में अम्लपित्त का भी निर्देश किया है। इस ग्रहणी की संप्राप्ति का प्रकरणोपयुक्त एकांश चरक के पदों में अधोलिखित है--

दुर्बलो विदहत्यन्नं तद्यात्यूर्ध्वमधोऽपि वा।
अधस्तु पक्वमामं वा प्रवृत्तं ग्रहणीगदः[१]॥
उच्यते सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते।
अतिसृष्टं विबद्धं वा द्रवं तदुपवेश्यते॥

—च० चि० २५।५१-५२

अपने-अपने प्रकोपक कारणों से कुपित हुए दोष अग्नि को दुर्बल कर देते हैं। अग्नि के दौर्बल्य के कारण भुक्त अन्न का विदाह (शुक्तपाक) होता है। विदग्ध हुआ यह अन्नपान ऊर्ध्व अथवा अधोदिशा से--मुख मार्ग से अथवा गुद मार्ग से—प्रवृत्त होता है। अधोदिशा से किंचित् पक्व और किंचित् अपक्व अवस्था में स्थित अन्नपान की प्रवृत्ति हो तो इसे **ग्रहणी विकार** कहा जाता है। पक्वापक्व अवस्था में अन्नपान की अतिमात्रा में बद्ध किंवा द्रव स्वरूप में प्रवृत्ति होती है।

कुछ रुक कर इन पद्यों के संबन्ध में विद्वान् वाचकों के समक्ष एक प्रश्न उपस्थित करने की अनुज्ञा चाहता हूँ। उक्त संप्राप्ति में कहा है कि, विदग्ध (अम्लीभूत) एवं पक्वापक्व अन्नपान मुख या गुद किसी भी मार्ग से प्रवृत्त हो सकता है। इनमें अधोमार्ग से (गुद से) प्रवृत्ति हो तो इसे ग्रहणी रोग नाम दिया है। शेष, मुख से विदग्ध अन्नपान की प्रवृत्ति हो तो इस विकृति की क्या विशेष संज्ञा है यह तन्त्रकार ने कहा नहीं है। यह प्रश्न विचारणीय है।

इस प्रश्न का एक उत्तर यह हो सकता है कि, संभवतः विदग्ध एवं पक्वापक्व अन्नपान की अधोमार्ग से प्रवृत्ति ग्रहणी रोग कहाती हो तथा ऊर्ध्व या मुखमार्ग से प्रवृत्ति को प्राचीनों ने अम्लपित्त माना हो। इस समाधान का मूल यह है कि, जैसा कि आगे देखेंगे काश्यप ने अम्लपित्त में वमन को प्राधान्य दिया है। योगरत्नाकरकार आ आगे के आचार्यों ने एक ही पद में वमन-विरेचन दोनों का निर्देश किया है। इन आचार्यों के काल में अम्लपित्त के ऊर्ध्वग और अधोग दो भेद हो गए थे। माधव नि में भी इसके अधोगामी भेद का इतना स्पष्ट निर्देश किया है। उसने अधोगामी के लिए 'कदाचित्' विशेषण प्रयुक्त कर उसकी अल्प दृश्यमानता के प्रति सं किया है। माधव के टीकाकारों ने मूल वचनों को वि करते हुए अम्लपित्त के दो भेद प्रदर्शित किए हैं। तात्प ऊर्ध्वमार्ग से विदग्ध (अम्ल) अन्नपान तथा पित्त की प्रवृ पूर्वाचार्यों के मत में अम्लपित्त-संज्ञक रही होगी। परं गत वैद्यों में भी इस रोग का यह एक ही भेद प्रसिद्ध है।

विद्वज्जनों के विचारार्थ इतना निवेदन कर अब पु प्रकृत विषय पर आता हूँ।

अम्लपित्त में अन्न के विदग्ध होने का निरूपण कर काश्यप कहते हैं--

अविशुद्धे यथा क्षीरं प्रक्षिप्तं दधिभाजने।
क्षिप्रमेवाम्लतामेति कूर्चीभावं च गच्छति॥
रसधातौ तथा व्यम्ले भुक्तं भुक्तं विदह्यते॥

तात्पर्य : दही जमाने के पात्र को स्वच्छ कर सुखा लिया जाए और इसमें दूध रखा जाए तो जैसे वह शीघ्र ही अम्लता को प्राप्त हो कूर्च (अम्ल के योग से फटा हुआ दू छेना) के रूप में परिणत हो जाता है वैसे रसधातु (पोषक रस) अम्ल हो जाने के परिणामस्वरूप रोगी पुरुष जो भी कुछ खाता है वह विदग्ध ही हो जाया करता है।

यह सब के नित्य अनुभव की बात है कि दही के पात्र में दूध रखना हो और उसे बिगड़ने न देना हो तो उस पात्र को अच्छी तरह से माँज कर रखना चाहिए अन्यथा उसमें जो भी दूध छोड़ा जाएगा वह बिगड़े बिना न रहेगा। यही न्याय अम्लपित्त पर भी घटित होता है। अम्लीभूत अन्नरस का विशेषतया वमन द्वारा निर्हरण न किया जाए तब तक आमाशय में जो भी अन्नपान डाला जाएगा वह अम्लीभूत ही होता रहेगा। परिणामतया, रोग चालू ही रहेगा। इस बात का निरूपण करते आचार्य का कहते हैं--

व्याधिरामाशयोत्थोऽयं कफपित्त तदाश्रये।
तस्मादादित एवास्य मूलच्छदाय बुद्धिमान्॥

---

[१] पक्वमामं वेति वाशब्दः समुच्चये; तेन किंचित्पक्वं किंचिदपक्वं च। कुतः पक्वापक्वं सृजतीत्याह— सर्वमेवान्नं प्रायो ह्यस्य विदह्यते इति; पक्वापक्वं भवति। अतिसृष्टमिति विमुक्तम्॥ —**चक्रपाणि**

अक्षीणबलमांसस्य वमनं संप्रकल्पयेत् ।
नान्यो मान्यः क्रमो ह्यस्य शान्तये वमनादृते ।।
मूलच्छेदादिव तरोः स्कन्धशाखा विपर्यये ।।

अर्थात्––अम्लपित्त आमाशय-समुत्थ रोग है। (आमाशय=आमपच्यमानाशय)। रोगारम्भक दोष कफ और पित्त का आश्रय आमाशय है। इस स्थान में मूल कर रहे हुए दोष के उच्छेदार्थ वमन की योजना वैद्य को करनी चाहिए। इसके लिए जैसा कि अन्य संशोधनों में आवश्यक होता है, रोगी की मांसधातु तथा बल परिपुष्ट होने चाहिए, जिससे वह वमन के क्षोभ को सह सके। जिस प्रकार वृक्ष-वनस्पति के मूल का उच्छेद कर दिया जाए तो स्कन्ध (तना) और शाखाएँ स्वयं नष्ट हो जाती हैं वैसे आमपच्यमानाशयगत कफ और पित्त का निर्हरण कर दिया जाए तो आम-पक्वाशय एवं शरीर में स्थित कुपित पित्त तथा कफ द्वारा किए गए लक्षण (दाह, क्लम इत्यादि) स्वयं शान्त हो जाते हैं। किं बहुना, वमन के अतिरिक्त अम्लपित्त की शान्ति के लिए कोई श्रेष्ठ उपाय नहीं है।

संशोधन कोई भी करना हो, सदैव यह नियम रखा जाता है कि दोष की शुद्धि संपूर्ण मात्रा में न की जाए। कारण, दोष की संपूर्णतया शुद्धि यों अभीष्ट है, परन्तु संपूर्ण शुद्धि करते हुए संभव है कि शोधन आवश्यक से अधिक हो जाए, अर्थात् दोष जिस सम परिमाण में रहना चाहिए उस परिमाण का भी अतिक्रमण हो कर दोष की क्षीणता की अवस्था आ जाए। यह अनिष्ट स्थिति उत्पन्न न हो इस प्रयोजन से सदैव दोष की शुद्धि पूर्ण मात्रा में न कर, किंचित् मात्रा में उसे शेष रखा जाता है। इस दोषशेष को शमन आहारौषध द्रव्यों के सेवन से सम अवस्था में लाया जाता है। अम्लपित्त में वमन द्वारा दोष की शुद्धि कर, उक्त नियमानुसार, दोषशेष के शमन के उपचार बताते ए आगे काश्यप कहते हैं––

दोषशेषश्च वान्तस्य यः स्यात् तदनुबन्धकृत् ।
तस्योपशमनं कुर्याल्लङ्घनैर्लघुभोजनैः ।।
सात्म्यकालोपपन्नैश्च योगैः शमनपाचनैः ।
दोषोत्क्लेशे न सहसा द्रवमौषधमाचरेत् ।
वमनीयादृते तद्धि न सम्यक् परिपच्यते ।।
चेष्टाहारविशेषेण किंचित्परिणते ततः ।
पीतं तु कुरुते यस्माच्छमपाचनभेदनम् ।।

वमन कराने के अनन्तर अनुबन्ध रूप में जो शेष दोष रहे उसे लङ्घन, लघु भोजन, एवं सात्म्य तथा कालानुरूप शमन-पाचन कल्पों द्वारा समावस्था में लाए।

दोष उत्क्लिष्ट हो––वमन की आशङ्का, लालास्राव इत्यादि लक्षणों से प्रतीत होने लगे कि दोष अब स्वयं निर्गमनोन्मुख हैं ऐसी स्थिति में––सामान्यतया द्रव औषध न देना चाहिए। कारण, (दोष की उत्क्लिष्टावस्था में वृद्ध दोषों से अग्नि आच्छन्न होने से दुर्बल होने के कारण) औषध का सम्यक् पचन नहीं होता। हाँ, द्रव औषध-द्रव्य वमनार्थ देना हो तो अवश्य दे सकते हैं।

विशिष्ट आहार-विहार (लङ्घन, चंक्रमणादि) द्वारा इस उत्क्लिष्ट शेष दोष का कुछ पचन हो कर उत्क्लेश शान्त हो जाए तदनन्तर द्रव औषध दिया जाए तो वह दोष का शमन, पाचन तथा भेदन-रूप अभीष्ट प्रयोजन की सिद्धि करेगा।

दोष के शमन, पाचन तथा भेदनार्थ औषध का निर्देश करते तन्त्रकार आगे पाँच कल्पों का उल्लेख निम्न वचनों में करते हैं।

नागरातिविषे मुस्ता, नागरातिविषेऽभया ।
त्रायमाणा पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी ।।
त्रयस्त्रिकार्षिका ह्येते पातव्या दोषदर्शनात् ।
किराततिक्तक्वाथो वा रोहिण्या वाऽथ केवलः ।।

शुण्ठी, अतिविष तथा मुस्ता, अथवा शुण्ठी, अतिविष और अभया अथवा त्रायमाणा, पटोल-पत्र, और कटुकी––इनमें से कोई एक क्वाथ तीन कर्ष की मात्रा में तब तक पिलाएँ जब तक दोषशेष के लक्षण शान्त न हों। अथवा एक किराततिक्ता (चिरायता) का क्वाथ अथवा केवल कटुरोहिणी का क्वाथ दें।

यहाँ प्रथमोक्त तीन क्वाथों के लिए मात्रा तीन कर्ष (तीन तोला) दी है। एक बार में ऐसी एक मात्रा वर्तमान युग में अधिक होने से दोष, वय आदि देख कर चिकित्सक मात्रा का निर्धारण करें, यही उचित प्रतीत होता है।

⁚ पीछे के ग्रन्थों में **दशाङ्ग क्वाथ** नामक एक क्वाथ का उल्लेख हुआ है। इसमें उक्त द्रव्यों में से कुछ द्रव्य तथा पित्त के शामक अन्य शोधन-शमन द्रव्य डाले जाते हैं। यह क्वाथ अच्छा काम करता है। इसका पाठ यह है:

वासा, गुडूची, पर्पट, निम्ब, किरात, भृङ्गराज, हरीतकी, आमलक, विभीतक, पटोल-पत्र ।

जो परम्परागत वैद्य वनौषधियों का व्यवसाय में विशेष उपयोग करते हैं वे प्रायः इन औषधों का अम्लपित्त में व्यवहार करते हैं। शेष अविपत्तिकर, सूतशेखर, द्राक्षादि चूर्ण आदि का भी उपयोग अध्ययनाध्यापन में प्रसिद्ध है। परन्तु यथावश्यक वमन के पश्चात् उल्लिखित केवल कटुकी का उपयोग पित्त की शुद्धि पूर्वक जैसा रोग का उन्मूलन कर लक्षणों की शान्ति करता है वैसा किसी अन्य पचार से शक्य नहीं है। अम्लपित्त रोग आनूप देश का है। हम आनूप देश के वासी हैं। इस रोग के विषय में हमें जो अनुभव हुआ है उसका सार यह है कि, जाङ्गल देश में कदाचित् सूतशेखर आदि कुछ कार्य करते हों, आनूप देशज अम्लपित्त में तो दोष का प्रमाण अति अधिक रहने से वमन करा पश्चात् कटुरोहिणी (मत्स्या) का निरन्तर सेवन कराना चाहिए। यह मत्स्या भेदिनी होने से शरीर के सूक्ष्म स्रोतों में भी स्थित पित्त को आकृष्ट कर कोष्ठ में लाती है और उसे गुदमार्ग से बाहर निकाल देती है। मिश्र पाठचक्रमोत्तीर्ण स्नातक भी इस पद्धति को अम्लपित्त में अपनाएँगे तो अन्य चिकित्सा-पद्धति के शोधन-शमन उपचारों की अपेक्षया इसी को अधिक हितावह पाएँगे।

औषध-विधान संक्षेप में दे कर, सर्व रोगों में संसर्जन-क्रम द्वारा अग्नि को प्रदीप्त करने का जो महत्त्वपूर्ण विधान है उसका उल्लेख करते आगे महर्षि काश्यप कहते हैं—

संसर्गहृतदोषस्य विशुद्धामाशयस्य च ।
यत्नेनाग्निसमाधाने प्रयतेत विचक्षणः ।।
यथा गोमयचूर्णाद्यैः सूक्ष्मैः संधुक्षितोऽनलः ।
क्रमेणाप्यायितबलो दहत्यार्द्रमपीन्धनम् ।।
तथा विशुद्धदेहानां कायाग्निः समुदीरितः ।
पाचयत्यन्नपानानि सारवन्त्यपि देहिनाम् ।।
सम्यक् परिणतेष्वेषु न स्युरामान्वया गदाः ।
जायते च तदोत्साहस्तुष्टिः पुष्टिर्वपुर्बलम् ।।

आमाशयगत पित्तादि दोषों का निर्हरण हो चुके तथा संसर्जन-क्रम द्वारा शेष दोष की भी शान्ति हो जाए तदनन्तर इस उपचार से प्रदीप्त हुए अग्नि के बल को स्थिर रखने का प्रयास करना चाहिए।

जैसे सूक्ष्म गोमय-चूर्ण आदि डाल कर अग्नि को प्र किया जाता है और यह अग्नि क्रमशः बल प्राप्त कर आर्द्र भी लकड़ी इसमें डाली जाए तो उसे भस्म करने सामर्थ्य प्राप्त कर लेता है वैसे शारीर दोषों का शोधन के परिणामस्वरूप जठराग्नि प्रदीप्त हो जाता है और (गुरु, स्निग्ध, अतिमात्र) भी अन्नपान का पचन करने समर्थ हो जाता है। अन्नपान (तथा रस-धातु) का पाक होने से आम-समुत्थ रोग उत्पन्न या स्थिर नहीं पाते और उत्साह, तुष्टि, पुष्टि तथा शारीर शक्ति प्राप्ति होती है।

अम्लपित्त के इस प्रकरण में संसर्जन का महत्त्व पदों में महर्षि काश्यप ने दिया है लगभग वही प्रयुक्त कर चरकाचार्य ने निम्न शब्दों में संसर्जन की बताई है–

पेयां विलेपीमकृतं कृतं च
यूषं रसं त्रिर्द्विरथैकशश्च ।
क्रमेण सेवेत विशुद्धकायः
प्रधानमध्यावरशुद्धिशुद्धः ।। —च० सि०

अर्थात्––वमनादि संशोधन प्रधान, मध्यम और तीन प्रकार का होता है। इनमें प्रत्येक के उप पश्चात् अग्नि मन्द हो गया होता है। अतः नि भोजन के स्थान पर आरम्भ में लघु भोजन दे कर नित्य के भोजन पर रोगी को लाना चाहिए। प्र देनी चाहिए, पश्चात् विलेपी, पश्चात् यथावश्यक या असंस्कृत यूष और तदनन्तर मांसरस देना इस भोजन-क्रम को संसर्जन-क्रम कहा जाता है।

प्रधान शुद्धि में अग्नि विशेष मन्द हुआ होता है पेया आदि कल्पनाएँ प्रत्येक तीन-तीन भोजन-का देनी चाहिए। मध्यम शुद्धि में अग्नि की मन्दता नहीं होती। अतः पेया आदि दो-दो भोजन क्रमशः देनी चाहिए। अवर (हीन) प्रकार के अग्नि की मन्दता इतनी नहीं होती। अतः पे कल्पनाएँ केवल एक-एक वार देनी चाहिए।

इस क्रम से अग्नि की क्रमशः दीप्ति को उदाहरण विशद करते हुए आचार्य कहते हैं—

यथाऽणुरग्निस्तृणगोमयाद्यैः
संधुक्ष्यमाणो भवति क्रमेण ।

महान् स्थिरः सर्वपचस्तथैव
शुद्धस्य पेयादिभिरन्तरग्निः ।।

इसका अर्थ लगभग काश्यपोक्त पद्य जैसा ही है। अब आगे काश्यपोक्त उपचार-क्रम पुनः देखिए। वमन द्वारा आमपच्यमानाशयगत दोषों की शुद्धि होने से अग्नि पर हुआ दोषों का आवरण दूर होने से वह प्रदीप्त होता है। रस को ग्रहण करनेवाले स्रोतों का आवरण दूर होने से अन्नरस उत्तम मात्रा में गृहीत होता है, जिससे शरीर के धातुओं की पुष्टि और बलोदय समीचीनतया होता है, यह काश्यप के वचन का आशय है। अब वे कहते हैं कि रोगी के शरीर में शक्ति आ जाती है-कि वह विरेचन के वेग को सहन कर सके। अतः उसे विरेचन देना चाहिए। देखिए :

ततः क्रमविशेषेण जातप्राणस्य देहिनः ।
पक्वाशयगतान् दोषान् स्रंसनेन विनिर्हरेत् ।।

इस संसर्जन-क्रम के उपयोग के परिणामस्वरूप रोगी के शरीर में शक्ति का उदय हो जाने पर पक्वाशयगत दोषों का स्रंसन (विरेचन) द्वारा शोधन करे।

आगे काश्यप ने एक वामक योग दिया है। यह संभवतः आरम्भ में जो वमन का विधान है उसके लिए है।

लवणाम्बुना सुखोष्णेन क्षीरेणेक्षुरसेन वा ।
मधूदकेन तिक्तर्वा वमनं संप्रकल्पयेत् ।।

लवणमिश्रित सुखोष्ण जल, क्षीर, इक्षुरस, मधुमिश्रित जल या तिक्त द्रव्य इनमें किसी का उपयोग कर वमन कराना चाहिए।

सांप्रत वैद्य प्राचीन तन्त्रों का अनुसरण करते हुए मदनफल का उपयोग वमनार्थ श्रेष्ठ मानते हैं और उपयोग में लाते हैं। इसके बीजों का उपयोग होता है। मात्रा ४-५ माशा। वमनोपग रूप में साथ पिप्पली चूर्ण तथा लवण का उपयोग किया जाता है। अनुपान उष्ण जल या लवणोदक।

वमन के अनन्तर विरेचन का विधान है। इसके योग आगे दिए जाते हैं। यद्यपि ऊपर वमन के अनन्तर जिन कल्पों का विधान किया है उनमें कटुरोहिणी जैसे विरेचन द्रव्य भी हैं ही तथापि उन योगों का प्रयोजन, शमन, पाचन तथा भेदन तीनों हैं। यह बात स्वयं उद्धृत पद्यों में काश्यप ने लिखी है। परन्तु आगे दो विरेचनोपयुक्त विशेष योग देते हैं—

त्रिफला त्रायमाणा च कटुका रोहिणी त्रिवृत् ।
पञ्चैषामर्धपलिकास्त्रिवृता त्वर्धभागिका ।।
पीत्वा विरेचनं ह्येतदम्लपित्ताद्विमुच्यते ।।

हरीतकी, विभीतक, आमलक, त्रायमाणा और कटुकी प्रत्येक आधा पल (दो कर्ष), त्रिवृत् सब का आधा। इस विरेचन से अम्लपित्त शान्त होता है।

वर्तमान में अविपत्तिकर चूर्ण नामक योग अम्लपित्त में शोधन-शमन के लिए सुव्यवहृत है। इसमें प्रधान कल्प त्रिवृत् ही है। अविपत्तिकर और कटुरोहिणी दोनों का मिश्रित उपयोग शंख तथा सर्जक्षार मिला कर करना अधिक हितावह देखा गया है।

आगे एक विरेचन घृत का पाठ देते काश्यप कहते हैं—

पटोलपत्रं त्रिफलात्वचश्चार्धपलोन्मिताः ।
त्रायन्तीरोहिणीनिम्बयष्टिकाः कर्षसंमिताः ।।
पलद्वयं मसूराणां चैकध्यं तद्विपाचयेत् ।
जलाढकेऽष्टभागं तु पूतशेषं पुनः पचेत् ।।
सर्पिषः कुडवं दत्त्वा प्रस्थार्धमवशेषितम् ।
तत् पीत्वा नातिशीतोष्णं सुखेनाशु विरिच्यते ।।
चिरप्रसक्तमप्येतदम्लपित्तं व्यपोहति ।
वातपित्तं ज्वरं कुष्ठं वैसर्पं वातशोणितम् ।।
विद्रधिं रक्तगुल्मं च विस्फोटांश्चाशु नाशयेत् ।।

पटोल-पत्र, हरीतकी, विभीतक, आमलक—प्रत्येक अर्धपल (२ तोला); त्रायमाणा, कटुरोहिणी, निम्बत्वक्, मधुयष्टी—इनमें प्रत्येक एक-एक तोला; मसूर दो पल (८ तोला), जल एक आढका क्वाथ-विधि से अष्टभागावशिष्ट क्वाथ कर उसे वस्त्रपूत करें। इसमें एक कुडव घी मिला पुनः पाक कर अर्ध प्रस्थ शेष रखें। इसे सुखोष्ण कर रोगी को पीने को दें। इससे ससुख (वेदना आदि व्यापत्तियों से रहित) विरेचन होता है।

इस घृत के सेवन से चिर-प्रसक्त (चिरकालिक) भी अम्लपित्त नष्ट होता है। वातपित्त ज्वर, कुष्ठ, विसर्प, वात रक्त, विद्रधि, रक्तगुल्म और विस्फोटक—इन रोगों में भी इसके सेवन से लाभ होता है।

वैद्यों को इस घृत का प्रयोग कर देखना चाहिए।

आगे अम्लपित्त में पथ्य का निर्देश करते काश्यप कहते हैं—

पुराणाः शालयो मुद्गा मसूराः सहरेणवः ।
गव्यं सर्पिः पयो वाऽपि जाङ्गलाश्च मृगद्विजाः ।।

कलायशाकं पौतीकं वासापुष्पं सवास्तुकम् ।
यानि चान्यानि शाकानि तिक्तानि च लघूनि च ।।
भोजनेनातिशस्यन्ते यच्चान्यदविदाहि च ।
तत्सात्म्यानां प्रयोगाणां यथोक्तानां च शीलनम् ।।
लशुनस्य हरीतक्याः पिप्पल्याः सर्पिषस्तथा ।
मदिरायाश्च जीर्णायाः कालाग्नि बलवृद्धये ।।

पुराने शालिधान्य (लाल चावल), मूँग, मसूर, हरेणु (?) गाय का दूध, गाय का घी, जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस, कलायशाक (?), पौतीक (करञ्जपत्र ?), वासापुष्प, बथुआ—ये तथा अन्य तिक्त और लघुशाक तथा ऐसे भोजन जो विदाही न हों उनका सेवन कराएँ। अथवा अहित प्रतीत होते हुए भी जो द्रव्य सात्म्य हों उनका उपयोग कराएँ। लशुन, हरीतकी, पिप्पली, घी और जीर्ण मदिरा का सेवन आयु, अग्नि और बल की वृद्धि के लिए इस रोग में प्रशस्त है।

चावल या अन्य धान्य नवीन हो तो विदाही होता है। यहाँ जीर्ण शालि का विधान किया गया है। 'जाङ्गल पशु-पक्षियों का मांस' थोड़ी व्याख्या की अपेक्षा रखता है। 'जाङ्गल' और 'आनूप' देशवाचक शब्द हैं। क्रमशः सूखी तथा भिनाशवाली जलवायु के स्थानों के लिए प्रसिद्ध हैं। 'जाङ्गल' और 'आनूप' मांस का संबन्ध भी इन स्थानों या देशों से होगा यही धारणा नवीन विद्यार्थी की होती है। अर्थात् जाङ्गल देश के प्राणियों का मांस जाङ्गल तथा आनूप देश के प्राणियों का मांस आनूप होगा, ऐसी प्रथम कल्पना होती है। यह यथार्थ नहीं है।

सत्य यह है कि मांसवर्गीय प्राणियों के प्राथमिक भेद दो हैं—आनूप तथा जाङ्गल। पश्चात् इनके अधिक भेद होते हैं। पानी के साथ जिनका किसी भी रूप में विशेष संबन्ध हो उन प्राणियों का समावेश आनूप वर्ग में होता है। इनके पाँच भेद हैं। (१) कूलचर अर्थात् नदी आदि के किनारे चरण (संचार या आहार ; चर गति भक्षणयोःधातु) करें वे हाथी, भैंस, नील गाय, शूकर आदि। (२) प्लव अर्थात् हंस, सारस, बतख इत्यादि पानी पर तैरनेवाले। (३) कोषस्थ अर्थात् शंख, शुक्ति आदि कोषों के भीतर स्थित कृमि। (४) पादी अर्थात् कछुआ, केंकड़ा, मगर इत्यादि पैरवाले तथा (५) मत्स्य या मछलियाँ ; इनके नदी तथा समुद्र [illegible] के भेद से दो भेद हैं ; नादेय तथा सामुद्र। इसमें प्र उपवर्ग के गुण-कर्म भिन्न होते हैं। इनके अन्तर्गत प्र द्रव्य के गुण-कर्म में अपने वर्ग के सामान्य गुण-कर्म से न्यूनाधिकता होती है। ये प्राणी जाङ्गल देश के हों तो भी वे आनूप ही कहाते हैं।

जाङ्गल पशु-पक्षियों का इस प्रकार जल से वि संबन्ध नहीं होता। इनके आठ भेद हैं। (१) जङ्घा अर्थात् प्रशस्त जङ्घा (जानु से नीचे का पैर का भाग) के कारण जो भागने में विशेष योग्यता रखते हों ऐसे हिरण आदि। (२) विष्किर अर्थात् जो अपना आहा भूमि को पंजे से कुरेद कर प्राप्त करें ऐसे तीतर, बटेर, कुक्कुट, चिड़िया इत्यादि। (३) प्रतुद अर्थात् चों मार कर जो अपना आहार प्राप्त करें ऐसे कबूतर, चिड़िया, भौंरा, तोता, मैना इत्यादि। (४) गुहा अर्थात् सिंह, व्याघ्र आदि गुहा में रहनेवाले। (५) प्र अर्थात् अपना आहार प्राप्त करने के लिए जो अन्यों पर आक्रमण करें ऐसे कौवा, उल्लू, बाज, गीध आदि। (पर्णमृग अर्थात् जो प्रायः शाखाओं पर रहें ऐसे वानर, लं आदि। (७) बिलेशय अर्थात् बिल में रहनेवाले गो अजगर, सर्प, सेह, नेवला आदि। तथा (८) ग्रा अर्थात् ग्राम में रहनेवाले नाम पालतू गाय, बैल, अश्व, दुम्बा इत्यादि।

विदाही द्रव्यों के दो भेद निघण्टुकारों ने बताए हैं। (१) जिनका विदाहजनक स्वभाव रसना के साथ होते ही विदित हो जाए, यथा अचार आदि। तथा (२) विपाक के पश्चात् जिनमें विदाह का स्वभाव उत्पन्न हो ऐसे द्रव्य यथा चावल, टमाटर इत्यादि।

यह रोग जैसा कि अनुभव सिद्ध है, जिह्वा के बिना साध्य नहीं है। इस विषय में विधान करते महर्षि कहते हैं—

व्याधेरस्य यथोक्तानां निदानानां च वर्जनम्।

इस रोग के जो निदान आरम्भ में कहे हैं उनका त्याग करना चाहिए।

युक्ताहारविहारस्य युक्तव्यायाम सेविनः।
शुक्तकोऽयमलोलस्य शाम्यत्यात्मवतः सतः॥

पुरुष अपनी प्रकृति, देश, काल इत्यादि का विचार [illegible] युक्त (सम) भोजन और कर्म करे, यथायोग्य

करे, जिह्वा आदि के लौल्य से रहित हो तथा दृढ़ (अवसाद-रहित) मन वाला हो तो यह रोग शान्त होता है।

इस पद्य में यह रोग शुक्तपाकजनित होने से इसे शुक्तक कहा है। इस पद्य में व्यायाम का उल्लेख है। अनुभव से विदित हुआ है कि भ्रमण अम्लपित्त में श्रेष्ठ व्यायाम है।

काश्यप-संहिता में भी इस रोग के अनुबन्धी दोषों का निर्देश है, जिसे हम गत लेख में उद्धृत कर आए हैं। माधव आदि ने भी दोषान्तर के संसर्ग से इसके पृथक् विशिष्ट लक्षण बताए हैं। इनकी चिकित्सा के प्रति संकेतमात्र करते तन्त्रकार कहते हैं—कि अनुबद्ध दोष को लक्ष्य में रख कर विशिष्ट चिकित्सा करनी चाहिए। मूल वचन ये हैं—

यश्च यस्यानुबद्धः स्याद्दोषस्तस्योपशान्तये।
प्रयतेत भिषंनित्यं तच्छान्तौ स प्रशाम्यति ॥

आगे आचार्य ने वह प्रसिद्ध तथा इसी लेख में पूर्वत्र उद्धृत पद्य दिया है जिसमें इस रोग को आनूपज कह कर जाङ्गलज आहारौषध द्रव्यों से इसका उपचार करने का उपदेश किया है। साथ ही कहा है कि, यदि इस उपाय से भी गुण न हो तो देशान्तरगमन ही एकमात्र विधेय है। मूल शब्द ये हैं—

आनूपदेशे प्रायेण संभवत्येष देहिनाम्।
तस्माज्जाङ्गलजैरन्नमौषधैः समुपक्रमेत् ॥
अप्रशाम्यति चैतस्मिन्नपि देशान्तरं व्रजेत्।

इस प्रकरण में स्मरण करा देना चाहिए कि योग-रत्नाकरकार ने अन्य उपचारों से रोगशान्ति न होने की अवस्था में रक्तमोक्षण का विधान किया है। इस विषय का विचार पहले कर आए हैं।

देशान्तरगमन का प्रसंग उपस्थित होने पर संभव है स्वदेश एवं स्वजनों की ममता छोड़ने को कोई उद्यत न हो। इस विषय में उद्बोधन को भी अपना कर्तव्य मान कर तन्त्रकार कहते हैं—

स एव देशे यत्र स्यादारोग्यं, ते च बान्धवाः।
गच्छन्ति ये न गच्छन्ति ये चास्य हितकारिणः ॥

गत अङ्क में इस पद्य का अर्थ दे आए हैं।

अन्त में अम्लपित्त के प्रसंग से इस अथवा अन्य किसी भी रोग से मृतवत् जीवन व्यतीत करने की अवदशा के प्रति ध्यान खेंच कर आरोग्य के संरक्षण की महत्ता प्रदर्शित करते हुए आचार्य कहते हैं—

नित्यालीलस्य दीनस्य परिद्यूनस्य देहिनः।
क्रियाः सर्वाः प्रहीयन्ते स्वजनो विजनी भवेत् ॥

पुरुष सर्वदा निरानन्द, निश्चेष्ट, दीन, हीन एवं व्यथित पड़ा रहे तो उसकी कर्म, अर्थ आदि से संबद्ध सर्व क्रियाएँ अशक्य हो जाती हैं। ऊब कर स्वजन भी परकीय हो जाते हैं।

तस्मात् सततमारोग्ये प्रयतेत विचक्षणः।
अरोगो जीवितफलं सुखं समधिगच्छति ॥

अतः बुद्धिशाली (धी, स्मृति और संयमवान्) पुरुष को सर्वदा अपने आरोग्य के लिए प्रयत्न करते रहना चाहिए। नीरोग पुरुष ही सरलता से जीवन के लक्ष्य को प्राप्त कर सकता है।

अध्याय की परिसमाप्ति में उपद्रवों और तन्मूलक असाध्यता का निर्देश करते महर्षि कहते हैं—

ज्वरातीसार पाण्डुत्वशूलशोथारुचिभ्रमैः।
उपद्रवैरिमैर्जुष्टः क्षीणधातुर्न सिद्ध्यति ॥

पुरुष के धातु (धातुघटित शरीर) क्षीण हो गए हों एवं वह ज्वर, अतीसार, पाण्डु रोग, शूल, शोथ, अरुचि और भ्रम इन उपद्रवों से पीड़ित हो चुका हो तो उसकी चिकित्सा फलवती नहीं होती।

काश्यपोक्त अम्लपित्ताध्याय पूर्ण हुआ। इसके उल्लेख का अभिप्राय यह है कि अध्यापक तथा चिकित्सक अम्लपित्त के अध्यापन और उपचार में काश्यप के वचनों को भी स्मरण रखें तो उन्हें अधिक यशस्विता प्राप्त हो सकती है। अम्लपित्त-संबन्धी यह लेख पूर्ण करते हुए एक वस्तु के प्रति ध्यान आकृष्ट करना शेष है। किसी नवीनोक्त रोग के साथ इसका साम्य प्रदर्शित करना हो तो इसे क्रॉनिक एसिड डिस्पेप्सिआ कहना अधिक उचित प्रतीत होता है। कई लेखक इसे गेस्ट्राइटिस कहना पसंद करते हैं। अच्छा तो यह है कि अम्लपित्त को अम्लपित्त ही कह कर व्यवहार चलाया जाए।

समन्वय का आदर्श !!!

आयुर्वेद, एलोपथी, यूनानी, होमियोपैथी आदि चिकित्सा-पद्धतियों के समन्वय का आज बोलवाला है। परन्तु इस दिशा में जितना प्रयत्न चाहिए उतना हुआ नहीं है। वस्तुत:,

भावी पीढ़ी के मार्गदर्शनार्थ

समन्वयात्मक पद्धति से ग्रन्थों का लेखन तथा प्रकाशन सर्वोपरि आवश्यक है।

वैद्यनाथ-प्रकाशन

आयुर्वेदीय क्रियाशारीर

समन्वयप्रधान दृष्टि से लिखे गए ग्रन्थों में मूर्धन्य कहा जा सकता है

ग्रन्थ के लेखक हैं; 'सचित्र-आयुर्वेद' परिवार के सुविदित सदस्य, सूरतके आयुर्वेद महाविद्यालय के उपाचार्य तथा मुंबई राज्य सरकार के आयुर्वेदिक रिसर्च बोर्ड के सभ्य
वैद्य रणजितराय देसाई आयुर्वेदालंकार, आयुर्वेदाचार्य

संपूर्ण प्राचीन वाङ्मय से दोषों, धातुओं, उपधातुओं तथा मलों की क्रिया के रूप में **शरीर-क्रिया-विज्ञान के सिद्धान्तों का दोहन और संदोहन कर** व्याख्या के व्याज से **नव्य मत भी** प्राय: **संपूर्ण** इस ग्रन्थ में संकलित किया गया है। विषय का निरूपण इस दृष्टि से किया गया है कि विद्यार्थी **रोगों के निदान और चिकित्सा में क्रियाशारीर की उपयोगिता तथा उपादेयता** को भी समझते जाएँ।

रायल अठपेजी साइज के ११०० पृष्ठों के अनेक चित्रों से युक्त ग्रन्थ का मूल्य केवल ११) रु
गया है। **आज ही** अपनी प्रति मँगाइए। **अन्यथा चतुर्थ संस्करण की प्रतीक्षा** करनी होगी।

आयुर्वेदीय एवं पेटेण्ट
औषधियों के सबसे
बड़े निर्माता

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता
पटना · झाँसी
नागपुर

जीवित शरीर में दोषों की उत्पत्ति

वैद्य निरञ्जनदेव, आयुर्वेदालंकार

(हरद्वारीय 'आयुर्वेद विज्ञान परिषद्' में दिए गये विशेष विषयक व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत लेख)

(१)

प्राचीन काल में आयुर्वेद के अध्ययनाध्यापन की प्रणाली क्या थी—इस विषय में—चरक आदि संहिता ग्रन्थों से कुछ बातें ज्ञात होती हैं। वह प्रणाली क्यों परिवर्तित हुई, और मध्ययुगीन वाचिक अध्ययन की परिपाटी कब से आरम्भ हो गई, इसकी चर्चा, एक पृथक् विषय है। आज तो वह मध्यकालीन (अर्थात् पाठशालाओं में अन्यान्य विषयों के साथ-साथ आयुर्वेदीय पुस्तकों के भी अध्ययन करते रहने की) परिपाटी भी प्रायः समाप्त हो चुकी है; और आयुर्वेद के शिक्षणालयों में नवीन पद्धति से पठन-पाठन जारी हुआ है।

इस पद्धति के अनुसार आयुर्वेद की शिक्षा का प्रारम्भ "शवच्छेद" से किया जाता है। ऐसा ही, एलोपैथी पढ़ाने वाले मेडिकल कालेजों में, पहिले से हो रहा है। आयुर्वेद के शिक्षणालयों में आरम्भ से ही शवच्छेद कराना—यह नियम शायद मेडिकल कालेजों के अनुकरण पर रखा गया है। इससे मनुष्य-शरीर की बाह्य और आन्तरिक शरीर-रचना का ज्ञान भली-भाँति होता है। परन्तु आयुर्वेदिक ग्रन्थों का अवलोकन और उनका मनन करने के उपरान्त मेरी ऐसी धारणा बनी है, कि प्राचीन आयुर्वेदज्ञों ने इस शवच्छेद की प्रणाली को अधिक प्रश्रय नहीं दिया; और इससे उनका काम नहीं चला। क्योंकि जिस मानव-शरीर की, एक चिकित्सक को चिकित्सा करनी होती है, वह 'शव' नहीं है, वह तो सजीव शरीर है। इसी विचार से आयुर्वेद के प्राचीन विचारकों को, विश्लेषण के लिए, मुख्य रूप से, जीवित शरीर की ओर देखना पड़ा; इसी को उन्होंने 'चिकित्स्य पुरुष' या 'पुरुष' कहा[1]; इसी का उन्होंने बिना चीर-फाड़ किए सावधानी और सतर्कतापूर्वक विश्लेषण किया; तथा इसके भीतर उपलब्ध होने वाले भावों का तीन श्रेणियोंमें वर्गीकरण किया जिन्हें दोष-धातु-मल की संज्ञाएँ दी गई।[1]

इन तीनों में से इस लेखकी चर्चा का विषय 'दोष' है। दोषों को शास्त्रकारों ने दो प्रकार का माना है—शारीर और मानस[2]। यहाँ ध्यान देने योग्य बात यह है कि चाहे शारीर दोष हों या मानस दोष—दोनों में से किसी का भी—"शव" के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है; मानस दोषों की तो निर्जीव शरीरमें देखने की कल्पना ही नहीं की जा सकती। इन शारीर और मानस दोषों का ध्यान रखते हुए ही प्राचीन चिकित्सकों का सजीव शरीर की ओर विशेष ध्यान रहा, और उन्होंने "शवच्छेद" की क्रिया को बहुत अधिक महत्त्व—जितना कि आजकल दिया जा रहा है—नहीं दिया। दोनों प्रकार के दोषों पर विचार करते हुए यह अनुभव किया गया, कि मानस दोषों का मानसिक रोगों की दृष्टि से विशेष महत्त्व है; और शारीर रोगों के मूल तथा प्रधान कारण शरीरवर्ती दोष हैं, जिन्हें संख्या में तीन माना गया और वात-पित्त-श्लेष्मा नाम दिया गया।

आयुर्वेद के प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों को देखने से कई बार तो इस बात पर आश्चर्य होता है कि कहीं भी इन तीनों दोषों को विचारणीय मान कर इनके विषय में कोई शंका या तर्क-वितर्क तक क्यों उपस्थित नहीं किया गया? बल्कि सभी आचार्यों ने एक स्वर से तीनों दोषों की सत्ता को निर्णीत और निश्चित तथ्य के रूप में ही कैसे स्वीकार कर लिया? परन्तु कुछ ध्यान से, शास्त्रीय प्रसंगों पर दृष्टि डालने के उपरान्त, यह स्पष्ट हो जाता है, कि शरीरमें दोषों की सत्ता और उनकी निश्चित संख्या को स्वीकार करने के पूर्व चिकित्सा-शास्त्रियों ने अनेकानेक परिषदों में बैठ-बैठ कर इस विषय पर बहुत समय तक और बारम्बार विचार-विमर्श—ऊहापोह और तर्क-वितर्क किए हैं। उन्होंने प्रतिपक्षियों की बातों को ध्यान से

१–'शरीरेन्द्रियात्मसत्व समुदयं पुरुषमाचक्षते'—(काश्यप)

१–'दोषधातु मल मूलो हि देहः'—(अ० सं०)

२–'वायुः पित्तं कफश्चेति शारीरो दोष संग्रहः।
मानसः पुनरुद्दिष्टो रजश्च तम एव च॥ —च०सू०

सुना है, और उन पर अनेक प्रकारसे चिन्तन किया है। अन्ततोगत्वा वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे, कि दोषों की सत्ता—जीवित शरीर में——अवश्य है ; ये संख्या में तीन हैं ; और वाह्यागत रोगोंको छोड़ कर, शेष समस्त ज्ञात-अज्ञात रोगों के, ये, जहाँ मूल कारण हैं ; वहाँ शारीरिक और मानसिक स्वस्थता भी इन्हीं तीनों दोषों पर आधारित है।

सजीव शरीर के भीतर इन दोषों की विद्यमानता की ओर उन चिकित्सकों का ध्यान कैसे गया, यह सूचित करनेवाला कोई प्रमाण आज हमें उपलब्ध नहीं है ; फिर भी इस जीवित शरीरका छेदन किए बिना ही उन्होंने इसका बड़ी सूक्ष्मता से विश्लेषण किया और इन तीन दोषों को समस्त देह के भीतर संचार करती हुई अवस्था में तथा सूक्ष्म स्रोतों तक में पाया[१]। यह भी ज्ञात किया कि ये दोष, शरीर के भीतर, पारस्परिक सामञ्जस्य की अवस्था में व्यवस्थित रूप से कार्य करते हैं ; किन्तु सन्तुलन टूट जाने पर इनकी विक्षोभ की अवस्था भी आती है, तथा इनमें परस्पर सहकार नहीं रहता। इसे क्रमशः इन तीनों की **प्रकृति** और **विकृति** नाम दिया गया। यह भी देखा गया कि दोषों की यह "प्रकृति" शरीर के स्वास्थ्य का कारण है ; और "विकृति" से शरीर की——शीघ्र या देर में——असन्दिग्ध रूपेण हानि होती है[२]।

पीछे जिन दोष-धातु-मलों का उल्लेख हुआ है, आरम्भिक आचार्यों ने उन्ही को इस समस्त जीवित शरीर का स्थूल घटक माना, सूक्ष्मघटक तो अन्य भाव भी माने गये हैं। इन स्थूल घटकों में भी तीनों दोषों का स्थान प्रथम है। आयुर्वेद में इन पर विशेष विचार किया जाता रहा है। इन्हें शरीर का घटक होने के साथ-साथ जीवन, का मूल आधार भी पाया गया, अतः देहधारक या **धातु** कहा[१]। बीमारी की दशा में शरीर को विकारग्रस्त और मलिन तो ये करते ही हैं। इसी दृष्टि से दोषों के दो रूप स्थिर किए गये——**प्रसाद रूप** और **मल रूप**। प्रसाद भाग को विद्वानों ने "सार" या "सूक्ष्म रूप" और "शरीर पोषक अंश" माना है ; तथा मल भाग को "किट्ट" कहा है, और इसका अनावश्यक भाग त्याज्य बतलाया है[३]। जीवित शरीर में इन दोषों के तीन प्रधान केन्द्र पाये गये, जिनकी स्थिति देह के निम्न-मध्य और ऊर्ध्व भाग में संकेत रूप से स्थिर की हुई है। ये दोष इस देह के भीतर अपनी भिन्न-भिन्न विशेषताओं के कारण अनेक कार्यों से पुकारे गये, जैसे——**स्थूण, धातु, दोष, मल** आदि[४]।

ऊपर इन दोषों का कुछ परिचय दिया गया है। यह इसीलिए कि इस लेख का विषय है—"जीवित शरीर में दोषों की उत्पत्ति" और इस प्रसंग में सहायक होने के कारण ही उक्त बातें लिखी गई हैं। अन्य बहुत-सी आवश्यक बातें यथा——प्रत्येक दोष का स्वरूप-गुण-कर्म आदि विद्वानों के लिए पिष्टपेषण के भय से यहाँ लिखना अनावश्यक तथा अप्रासंगिक है।

१—"वातपित्तश्लेष्मणां पुनः सर्वशरीरचराणां सर्वस्रोतांसि अयन भूतानि"। —(चि० व०)

२—'दोषाः पुनस्त्रयो वातपित्तश्लेष्माणः। ते प्रकृतिभूताः शरीरोपकारका भवन्ति, विकृतिमापन्नास्तु खलु नानाविधैर्विकारैः शरीरमुपतापयन्ति" ।—(च० वि०)

× × ×

सर्वशरीर चरास्तु वातपित्तश्लेष्माणो हि सर्वस्मिन् शरीरे कुपिताऽकुपिताः शुभाऽशुभानि कुर्वन्ति। प्रकृति भूताः शुभानि उपचय-बल-वर्ण-प्रसादादीनि, अशुभानि पुनः विकृतिमापन्नानि विकार संज्ञकानि" —(च० सू०)

१—'शरीर दूषणाद्दोषा धातवो देह धारणात्'।—(शार्ङ्गधर)

२—'शरीरधातवः पुनर्द्विविधाः संग्रहेण मल भूताः प्रसाद भूताश्च, तत्र मलभूतास्ते ये शरीरस्य वाधकराः स्युः तद्यथा——शरीरच्छिद्रेषूपदेहाः पृथग्जन्मानो वहिर्मुखाः परिपक्वाश्च धातवः प्रकुपिताश्च वातपित्तश्लेष्माणः ये चान्येऽपि केचित् शरीरे तिष्ठन्ति भावाः शरीरस्योपधातायोपपद्यन्ते सर्वांस्तान् मलान्प्रचक्ष्महे, इतरांस्तु प्रसादान्' ।—(च० शा०)

'अथादौ द्विविधा एते प्रसाद मल भेदतः।
सारभूताः प्रसादाः स्युः किट्टभूतामलाः स्मृताः॥'
—(सि० नि०)

३—'एते खलु वातादयः शरीरे द्वेधावतिष्ठन्ते, तत्र तेषां ये सूक्ष्माः सारभूताः शरीर चालन—अन्नविपाचन—पोषणादि कारिणो भागास्ते प्रसादाः, शरीरावाधककारिणो त्याज्यभागास्तु श्लेष्म-सिंघाणकाद्या मलभूता इति। एवञ्च प्रसाद भूतेषु एव तेषु वातादि संज्ञा मुख्या मल भूतेषु तु गौणी इत्याचार्याणां अभिप्रायः।"—(सि० नि०)

४—"अधो-मध्य-ऊर्ध्व सन्निवेशिना दोषत्रयेण शरीरमागारमिव स्थूणात्रितयेन स्थिरी कृतम्। अतश्च दोषा देहस्थिरीकरणात् 'स्थूणा' इति उच्यन्ते, धारणात् धातवः मलिनी करणात् आहार मलत्वाच्च मलाः, दूषण स्वभावात् दोषा इति"।—(अ० सं० सू०)

त्रिदोष की शरीर में उत्पत्ति का विषय, क्लिष्ट और उलझन से भरा हुआ है। इसका प्राचीन प्रामाणिक ग्रन्थों में किसी एक स्थल पर स्पष्ट उल्लेख भी नहीं है। परन्तु स्थान-स्थान पर जो संकेत मिलते हैं, उनके आधार पर, इस सम्बन्ध में कुछ विचार निश्चित अवश्य किए जा सकते हैं।

इस प्रसंग को आरम्भ करने से पूर्व यह जान लेना भी उचित है कि वात-पित्त-श्लेष्मा––इन तीनों को क्रमशः शरीर का **चेष्टाप्रवर्त्तक–पाकप्रवर्त्तक** और **ओजस्कर या शक्तिजनक** मूलतत्त्व माना गया है[1]। इन तीनों दोषों का 'स्वरूप' या 'आत्म लक्षण' भी निश्चित कर दिया गया है, जिससे इनकी पहिचान करने में भ्रम न रहे। देह में इनकी उत्पत्ति के प्रसंग में इनके इस "आत्मलक्षण" का स्मरण रखना भी आवश्यक है।

प्राचीन चिकित्सकों ने इन दोषों के दो प्रकार माने हैं–**प्राकृत** और **वैकृत**। प्राकृत वात-पित्त-श्लेष्मा वे हैं जो मानव प्रकृति का निर्माण किया करतें हैं; य इस देह के जन्म के साथ-साथ ही शरीर में आते हैं। ये क्योंकि शरीर के मूलाधार हैं, और समस्त शरीर को सम्यक् स्थिति में बनाये रखते हैं, अतः इनको **धातु** या **त्रिधातु** कहना चाहिए। ये वे **सूक्ष्मकोष वा बीज** हैं,–जिनसे आगे चल कर "दोषरूप" वात-पित्त-श्लेष्मा की उत्पत्ति होती है। ये "त्रिधातु" या "प्राकृत वात-पित्त-श्लेष्मा" शरीर भर में एक दूसरे के साथ-साथ निवास और संचार करते हैं। जब किसी देह में मातृ गर्भ से ही, इनमें से किसी एक की प्रबलता होती है तब, उसी की प्रबलता के आधार पर वातिक-पैत्तिक या श्लैष्मिक "प्रकृतियाँ" बन जाया करती हैं[2]।

संहिता ग्रन्थों में आये हुए भिन्न-भिन्न स्थलों के संकेतों से ऐसा ज्ञात होता है कि इन प्राकृत, या धातुरूप और बीज स्वरूप, वात-पित्त-श्लेष्मा की शरीर के प्रत्येक धातु-उपधातु-आशय-अवयव––सूक्ष्म से सूक्ष्म स्रोत––यहाँ तक कि देहाणु या 'सेल' तक में सत्ता है; ये शुक्राणु और स्त्रीबीज में भी विद्यमान[1] हैं। इसीलिए जिस समय स्त्री-पुरुष के संयोग के उपरान्त––योनि में––शुक्र और स्त्रीबीज एकत्रित होते हैं, और उनका सम्मिलन होता है, उस समय ये धातुरूप या बीजरूप––प्राकृत वात-पित्त-श्लेष्मा भी, उनके साथ-साथ ही संक्रान्त होते हैं।

ये धातुरूप वात-पित्त-श्लेष्मा, गर्भ शरीर में, गर्भवती के आहार रस से पुष्ट हो कर भ्रूण की वृद्धि करते हैं और समस्त भ्रूण के भीतर स्वयं भी विकसित होते रहते हैं। जितने समय तक शिशु गर्भाशय में रहता है उतने समय तक उसमें केवल ये "प्राकृत" या "धातुरूप" वात-पित्त-श्लेष्मा ही रहते हैं। इन्हीं से शरीर-रचना तथा आशय-अवयव-अंग-प्रत्यंग का संस्कार होता रहता है; और इन्हीं के द्वारा मानस संस्कार भी होता है, जिसे "प्रकृति"-"मिज़ाज" या "टेम्परामैन्ट" नाम दिया जाता है। प्राकृत वात-पित्त-श्लेष्मा के सम्बन्ध में यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि जब तक "शिशु" मातृगर्भ में रहता है और मुख द्वारा किसी प्रकार का आहार ग्रहण करने की स्थिति न होने के कारण उसका पाचनसंस्थान कार्य नहीं करता तब तक उसकी देह में गर्भवती के आहार रस से परिपुष्ट होते रहने वाले ये "प्राकृत" वात-पित्त-श्लेष्मा ही होते हैं; "वैकृत" वात-पित्त-श्लेष्मा की इस समय तक उसके शरीर में उत्पत्ति नहीं होती।

यह तो सर्वथा सम्भव ही है कि माता-पिता के बीज और शुक्र, गर्भाधान के समय प्रवृद्ध दोष से युक्त हों और इस प्रकार उनमें किसी एक या किन्हीं दो दोषों की प्रबलता रही हो। परन्तु इस प्रकार विषय रूप में आकर, विकारी सन्तान के जनक होने पर भी, ये वात-पित्त-श्लेष्मा, जन्मगत होने के कारण, "प्रकृत" ही कहे जाते हैं; क्योंकि ये उस व्यक्ति की "प्रकृति" का निर्माण तो करते ही हैं!––भले हीं वह प्रकृति निर्विकार न हो।

१–"सर्वा हि चेष्टा वातेन स प्राणः प्राणिनां स्मृतः।
'पित्तादेवोष्मणः पक्तिर्नराणामुपजायते।
'प्राकृतस्तु बलं श्लेष्मा, ...।
स चैवोजः स्मृतः काये ....॥"
—(च० सू०)

२–"द्विविधा वातादयः प्राकृता वैकृताश्च, तत्र प्राकृता, सप्तविधायाः प्रकृतेर्हेतुभूताः शरीरैकजन्मानः। ते शरीर धारणाद् धातु संज्ञाः, दोषाख्यानां विकृतानां बीज भूताः। मुमूर्षोः स्वरूपाच्चलन्ति। सर्वेष्वपि च देहे सन्निहितेषु प्रकृतौ उल्वणेन व्यपदेशः"।
(अ० सं० सू०)

१–"शुक्रार्तवस्थैर्जन्मादौ विषेणेव विषक्रिमेः।
तै[illegible] ....॥–(सु०)

इस प्रकार शुक्र-शोणित के साथ-साथ गर्भ में अवतीर्ण होनेवाले, और माता के आहार रस से परिपोषित होनेवाले, गर्भस्थायी शिशु के शरीरवर्ती वात-पित्त-श्लेष्मा को "प्राकृत" संज्ञा दी जाती है।

इसके पश्चात् "वैकृत" वात-पित्त-श्लेष्मा की उत्पत्ति का प्रश्न आता है, और यही इस लेख का मुख्य विचारणीय विषय है। इस सम्बन्ध में संहिताकारों का यह मत ज्ञात होता है कि हमारे नित्यप्रति के भोजन द्रव्यों से भी वात-पित्त-श्लेष्मा की उत्पत्ति होती रहती है। हम जो कुछ आहार लेते हैं वह **पाञ्चभौतिक** होता है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि--प्रथम पार्थिव × जलीय = श्लेष्मजनक, द्वितीय आग्नेय = पित्तजनक, तथा तृतीय वायव्य = आकाशीय--वातजनक, ये तीन प्रकार के उपादान द्रव्य, हमारे आहार में पहिले से प्रस्तुत रहते हैं; आवश्यकता केवल इस बात की होती है कि शरीर के भीतर पहुँचने के उपरान्त ये तीनों प्रकार के द्रव्य, शारीर रूप (फिज़ियोलोजिकल फॉर्म) ग्रहण कर लें। क्योंकि तभी ये द्रव्य--"वात-पित्त-श्लेष्मा" संज्ञाओं के अधिकारी हो सकते हैं।

यह बात सर्वविदित है कि मातृ गर्भ में निवास करते समय, शिशु के शरीर का पाचनसंस्थान, आहारपाक की प्रक्रिया सम्पन्न नहीं करता। किन्तु जन्म लेने के तुरन्त बाद ही वह मुख द्वारा आहार ग्रहण करने को विवश होता है; और तब उसके पाचनसंस्थान में पाक क्रिया आरम्भ होने लगती है। आहार-द्रव्य--चाहे वह दुग्ध हो, या फल-रस अथवा कोई अन्य पदार्थ हो,--सर्वप्रथम मुख में आता है; यहाँ रसबोधक श्लेष्मा अपना कार्य सम्पन्न करता है। फिर यह आहार, प्राण वायु की सहायता से अन्न-प्रणाली में हो कर आमाशय में पहुँचाया जाता है; जहाँ उसका क्लेदक श्लेष्मा के साथ मिश्रण और मन्थन होता है। इसके अनन्तर उसमें, समान वात की प्रेरणा से परिस्रुत-आग्नेय पाचक पित्त का मिश्रण होना आरम्भ होता है। आमाशय में ही उक्त आहार के साथ अम्लीय रस मिलता है। अब यह आहार द्रव्य समान वायु की प्रेरणा से ग्रहणी में पहुँचता है, जहाँ इसके साथ यकृत् और अग्न्याशय के कटुक्षारीय स्राव सम्मिलित होते हैं, तथा इसका विशेषरूप से परिपाक करते हैं। यहाँ पाक होने के उपरान्त, यह पचता हुआ और रूप परिवर्तन करता हुआ आहार, पच्यमानाशय एवं पक्वाशय में से आगे बढ़ता जाता है; जहाँ समान और व्यान वायु की प्रेरणा से आहार का पक्व रस आन्त्र की अंकुरिकाओं द्वारा आचूषित होता है, और इसका अवशिष्ट मल भाग पृथक् होता रहता है। उक्त आचूषित रस भाग में से, यकृत् एवं वृक्क के द्वारा भी, कुछ मलांश पृथक् कर दिए जाते हैं। रसायनियों द्वारा शरीर के भीतर पहुँचा हुआ यह आहार रस--**रसाग्नि-रक्ताग्नि** आदि के द्वारा पुनः-पुनः पचता है, और अनेक रूप परिवर्तन करता रहता है। अस्तु,

आहारपाक की प्रक्रिया के सम्बन्ध में यह प्रश्न उठ सकता है कि प्रसव होने के उपरान्त गर्भाशय से बाहर आया हुआ शिशु जब प्रथम बार मुख से आहार लेता है और इसके पचन की क्रिया आरम्भ होती है तब, उसके पाचन-संस्थान में पाक सम्बन्धी विधि-कर्म करने-कराने वाले बोधक श्लेष्मा-प्राणवायु-समान वायु-क्लेदक श्लेष्मापाचक पित्त आदि सहसा कहाँ से प्रादुर्भूत हो जाते हैं?

इसका उत्तर वस्तुतः संहिता वचन में ही प्रथम आ चुका है, और वह यह है, कि--वात-पित्त-श्लेष्मा तो गर्भाधान के समय ही--शुक्र-शोणित के साथ-साथ गर्भाशय में आ जाते हैं; इन्हीं को हम,--९ मास तक गर्भाशय में शिशु शरीर के भीतर मातृ आहार रस से परिपुष्ट होते रहने वाले "प्राकृत वात-पित्त-श्लेष्मा" के रूप में, चर्चा कर चुके हैं; इन्हीं को शास्त्रकारों ने "बीजरूप" कहा है; ये ही गर्भस्थिति काल से लेकर प्रसव समय तक के बीच में शिशु शरीर के भीतर--पञ्चप्राण-पञ्चपित्त और पञ्चश्लेष्मा के रूप में सूक्ष्मभाव से यथास्थान अवस्थित हो चुकते हैं। इसलिए प्रसवोपरान्त बहिरागत शिशु, मातृ स्तन्य के रूप में, जब प्रथम बार आहार लेता है, तो ये पहिले से अवस्थित बीजरूप वात-पित्त-श्लेष्मा ही पाचन-संस्थान में भी आविर्भूत होकर अपने-अपने कार्य में संलग्न हो जाते हैं; और इस प्रकार जन्म होते ही, शिशु के पाचनसंस्थान में आहारपाक की क्रिया, इन्हीं प्राकृत वात-पित्त-श्लेष्मा की सहायता से स्वतः होने लगती है।

अब हम पुनः आहारपाक की ओर आते हैं। दोषोत्पत्ति की दृष्टि से पूर्वोक्त आहारपाक-क्रिया की तीन अवस्थायें उल्लेखनीय हैं।

प्रथम अवस्था वह है जब मुख से आमाशय तक के बीच में दोषों और विविध पाचक रसों की सहायता से आहार का प्रथम पाक होता है; यह प्रथम पाक अधिकांश में

मुखवर्ती रसबोधक और आमाशयवर्ती क्लेदक श्लेष्मा के द्वारा सम्पन्न होता है। इन बीजरूप प्राकृत श्लेष्माओं से क्लेदन होने के उपरान्त जब आहार का आमाशय में मन्थन होता है, तब, आहारके रस में से एक ऐसा पदार्थ प्रादुर्भूत होता है जो मधुर-श्वेत-पिच्छिल और फेनयुक्त रहता है। यदि खाद्य द्रव्यों में मधुर-शीत-स्निग्ध-पिच्छिल-(अर्थात् पार्थिव और आप्य तत्त्व प्रधान) आहार अधिक लिए जावें, (दूसरे शब्दों में कहा जाय तो श्लेष्मवर्धन पदार्थों का सेवन विशेष रूप से हुआ हो) तो प्रथम पाक के उपरान्त उक्त फेनवान् और श्वेत-पिच्छिल पदार्थ अधिक प्रादुर्भूत होता है। संहिताकारों ने इस पदार्थ को "कफ" (या श्लेष्मा) नाम दिया है। विपाक की दृष्टि से इसे प्रथम अवस्था-पाक कहते हैं; और यह आरम्भिक विपाक प्रायः सभी द्रव्यों का (पार्थिव और आप्य तत्त्व प्रधान होने के कारण) मधुर माना गया है।

आहार पाक की दूसरी अवस्था वह है जब, इस प्रथम पाक के उपरान्त, आमाशय के भीतर ही, पाचक पित्त के रूप में अम्लीय पाचक रस, उक्त पच्यमान आहार के साथ मिश्रित हो कर, इसका पचन करता है। यह पाक कुछ समय तक होता रहता है। इसकी समाप्ति पर आहार-रस के भीतर अम्लीय पाचक पित्त के साथ देर तक पकते रहने के कारण,—एक ऐसा द्रव्य प्रस्तुत होता है जो अम्ल रस प्रधान होता है। यदि खाद्य द्रव्यों में अम्ल-उष्ण-तीक्ष्ण-कटु पदार्थ (अर्थात् अग्नि तत्त्व प्रधान पदार्थ) अधिक लिए जावें (दूसरे शब्दों में कहा जाय तो पित्तवर्द्धक पदार्थों का सेवन विशेष रूप से हुआ हो) तो इस द्वितीय पाक के उपरान्त उक्त अम्लीय पदार्थ अधिक उद्भूत होता है। संहिताकारों ने इस पदार्थ को "पित्त" नाम दिया है। विपाक की दृष्टि से इसे द्वितीय अवस्था पाक कहते हैं, और यह द्वितीय विपाक सभी द्रव्यों का—(विशेषतः आग्नेय द्रव्यों का) अम्ल माना गया है।

इसके उपरान्त **आहार पाक की तृतीय अवस्था** आती है। इस अवस्था में आमाशय से पचकर निकलता हुआ अम्लीय आहार-द्रव्य, ग्रहणी में पचता है और लघु आन्त्र की ओर आने लगता है। ग्रहणी में याकृत पित्त और आग्नेय रस उक्त पच्यमान आहार के साथ मिश्रित होते हैं; और आहार के अर्धपक्व अंशों का पाक पूर्ण करने में सहायता प्रदान करते हैं। यकृत् और अग्न्याशय के उक्त रस, क्षार प्रधान होते हैं। क्षार को कटु रस बहुल माना गया है; और कटु रस वातजनक होता है। अतः इस तृतीय पाक की अवस्था में आकर, उक्त पच्यमान अम्लीय आहार द्रव्य के साथ, कटु रस प्रधान क्षारीय पाचक रस का मिश्रण होने से स्वभावतः "वात" की उत्पत्ति होती है। "वात" की यह उत्पत्ति, इस अवस्था में, उस समय विशेष रूप से होती है जब खाद्य रूप में कटु-तिक्त-कषाय-लघु शीत-रूक्ष आहार अधिक लिए गये हों; अर्थात् "वायव्य" पदार्थों का अधिक सेवन हुआ हो। इस प्रकार, इस तृतीय पाक के समय "वात" की उत्पत्ति मानी गई है।

ऊपर आहारपाक की जिस प्रक्रिया का संक्षिप्त उल्लेख किया गया है वह चिकित्सा ग्रन्थों में स्थान-स्थान पर विस्तार से दी हुई है। इसका संक्षिप्त विवरण संग्रहकार के निम्न लिखित वाक्य में आ गया है—

"तत्तु सर्वं अपि रसं पच्यमानं आदौ मधुरीभूतं कफं फेनीभूतं उदीरयति। ततो विदग्धं अम्लीभूतं आमाशयात् च्यवमानं अच्छं पित्तं, प्राप्य च पक्वाशयं कटुकीभूतं अनिलम्।"—(अ० सं०)

इसका अर्थ निम्न प्रकार है—वह विविध रसों से युक्त आहार-द्रव्य—पचता हुआ—आरम्भ में मधुरीभूत और फेनस्वरूप "कफ" को आविर्भूत करता है; फिर किञ्चित्पक्व और किञ्चित् अपक्व अवस्था में—आमाशय से बाहर आते समय—अम्लीभूत स्वच्छ "पित्त" को उत्पन्न करता है; और पक्वाशय में पहुँच कर कटुकीभूत होने से "वात" का आविर्भाव करता है।

यह ध्यान देने योग्य है कि उक्त वाक्य में पाक प्रक्रिया की चर्चा तो बहुत ही अल्प—केवल सूत्र रूप में है, और उन महत्त्वपूर्ण परिणामों का ही उत्कृष्ट शब्दों में सविशेष उल्लेख किया गया है, जिनकी चर्चा इस लेख का विषय है।

उक्त सन्दर्भ में स्पष्टतः दोषोत्पत्ति विषयक संकेत निहित हैं; और यदि हम भ्रान्त या पूर्वाग्रही न हों तो निश्चित परिणाम भी निकाल सकते हैं। इसके द्वारा संग्रहकार का यह मन्तव्य ज्ञात होता है कि—आमाशय में क्लेदक श्लेष्मा के साथ मिश्रण हो कर आरम्भिक पाक के उपरान्त, "पार्थिव-आप्य-अंश-बहुल" आहार का जो मन्थन हुआ, उससे एक "श्वेत-मधुर-पिच्छिल-फेनीभूत द्रव्य" आविर्भूत होता है, यह (आहार के किट्ट रूप में उत्पन्न)

श्लेष्मा है। इससे आगे आमाशयवर्ति अम्लीय पित्त रस का मिश्रण होने और उसके द्वारा उक्त आहार के पक्वापक्व अवस्था में आ जाने के उपरान्त, उसमें एक और विशिष्ट द्रव्य बनता है; यतः आमाशय के अम्लीय रस द्वारा किए गये रासायनिक परिवर्त्तनों से आहार कुछ अधिक पच चुकता है, और इसमें अम्लता भले प्रकार आ चुकती है, अतः उक्त विशिष्ट द्रव्य "अम्ल रस प्रधान" होता है; अम्लयुक्त होने पर भी यह महत्त्वपूर्ण द्रव्य विकार-रहित या "अच्छ" होता है; इसे आचार्यों ने "अच्छपित्त" नाम दिया है; यह भी आहारजनित एक "किट्ट" द्रव्य ही है। पूर्वोक्त "फेनीभूत मधुर कफ" और यह "विदग्ध अम्लीभूत अच्छपित्त"——ये दोनों, पच्यमान आहार-द्रव्य के साथ मिले हुए ही, महास्रोतस् में आगे बढ़ते जाते हैं; और इन सब का पुनः-पुनः पचन होता रहता है। इन "फेनीभत" और "अम्लीभूत" द्रव्यों का भी साथ ही परिणमन होता है, फिर भी इनकी मुल प्रकृति में अन्तर नहीं आता। इन दोनों को साथ-साथ लिए हुए——यह आहार द्रव्य——आगे जब पक्वाशय में पहुँचता है तब, इसके साथ क्योंकि अनेक क्षारीय पाचक रस मिल चुकते हैं——और क्षार में कटुरस का मिश्रण होता है——अतः इससे "कटुकीभूत" वात की उत्पत्ति होती है। स्मरण रहे कि उक्त प्रकार से तीनों दोषों की उत्पत्ति का यह वर्णन अवस्थापाक की प्रक्रिया के अन्तर्गत किया गया है, और इन उत्पद्यमान दोषों को "आहार किट्ट" माना गया है।

उक्त सन्दर्भ से यह बात बहुत ही स्पष्ट है कि नित्यप्रति होनेवाले आहारपाक के प्रसंग में दोषों की उत्पत्ति किस प्रकार हुआ करती है। इसका उल्लेख कर देना संहिताकारों को विशेष रूप से अभीष्ट था। यहाँ पर इसीलिए उन्होंने पाकक्रिया की विस्तार से चर्चा भी नहीं की।

इस प्रसंग में कतिपय विचारणीय प्रश्न उत्पन्न होते हैं; यथा——

(१) उक्त प्रकार से अवस्थापाकों में उत्पन्न कफ-पित्त-वात——जिन्हें "आहारमल" कहा गया है,—— वे "निरुपयोगी" द्रव्य हैं या "उपयोगी"?

(२) यदि "आहार मल" होने से ये निरुपयोगी द्रव्य हैं, तो इनका उल्लेख क्यों किया गया है?

(३) यदि ये निरुपयोगी और मलरूप हैं तो, क्या अन्य मलों के साथ-साथ ये शरीर से बाहर निकाल दिये जाते हैं?——या इनका कोई अंश देह में रहता भी है?

(४) यदि ये उपयोगी हैं तो इनका वह "उपयोग" क्या है?

इस विषय पर अपना विचार प्रस्तुत करने से पूर्व एक और बात की चर्चा कर देना यहाँ प्रासंगिक होगा। यह तो स्पष्ट ही है कि जिन पञ्चमहाभूतों से इस जगत् की उत्पत्ति मानी गई है, उन्हीं की एक "विकृति" हमारा यह सजीव शरीर भी है। प्रतीत ऐसा होता है कि "पञ्चमहाभूत" चाहे, चेतन द्रव्य में हों या जड़ द्रव्य में, इनकी एक दूसरे के प्रति, एक प्रकार की "आसक्ति" रहती है। हमारे शरीरवर्ति महाभूतों का भी वाह्य जगत् में स्थित महाभूतों के प्रति स्वाभाविक आकर्षण होता है। इसके परिणाम-स्वरूप वाह्य जगत् के वायु-अग्नि और जल हमारे शरीरवर्ति वात-पित्त-श्लेष्मा का शीघ्र संवर्द्धन करते हैं। यही बात तब देखने में आती है जब पाञ्चभौतिक आहार द्रव्य हमारे महास्रोतस् में पहुँचता है; क्योंकि यह तो नित्य प्रति घटितहोनेवाली एक दैनिक घटना है कि "पार्थिव-आप्य" प्रधान द्रव्यों के पाचन-संस्थान में पहुँचते ही हमारे शरीर के भीतर से भी "पार्थिव-आप्य तत्त्व प्रधान"-बोधक-क्लेदक आदि श्लेष्मा तुरन्त आपसे आप प्रकट होने लगते हैं। इसी प्रकार आग्नेय और वायव्य पदार्थों के लिए भी शरीरस्थ पित्त एवं वात का विशेष आकर्षण देखने में आता है। बल्कि यों कहना चाहिए कि हमारे शरीर में ज्यों ही पाञ्चभौतिक आहार पदार्थ पहुँचते हैं, त्यों ही, देहवर्ती पञ्चमहाभूतों के अन्यतम शारीर रूप कफ-पित्त-वात का यह प्रयत्न आरम्भ हो जाता है कि वे अपने-अपने सजातीय द्रव्यों को अपने में मिलायें या आत्मसात करें। इस पारस्परिक आसक्ति का सूक्ष्म निरीक्षण करने के उपरान्त ही आयुर्वेद में यह स्थापना की गई है कि मधुर-श्लेष्मवर्द्धक आहार द्रव्यों के आमाशय में आने पर, उनका प्रथम अवस्थापाक होते ही, शरीरवर्ती सब श्लेष्म स्थानों के श्लेष्माओं की स्वभावतः वृद्धि होने लगती है। इसी प्रकार आग्नेय और वायव्य पदार्थों के द्वारा पित्त और वात भी शीघ्र प्रभावित हुआ करते हैं। अस्तु,

अब हम पुनः प्रकृत विषय की ओर आते हैं और अवस्थापाक में "आहार मल" रूप से उत्पन्न कफ-पित्त-वात की पुनः चर्चा करते हैं। ऊपर जो प्रश्न उठाये गये हैं उनके सम्बन्ध में लेखक का यह विचार है कि——

१. **आहारमल** के रूप में जिन कफ आदि का निर्माण होता है वे शरीर के लिए अति उपयोगी द्रव्य हैं। यदि ये "उपयोगी" द्रव्य न होते तो इनके साथ "मधुरीभूत"—"अच्छ" आदि विशेषणों का लगाना सर्वथा निरर्थक था। ये विशेषण ही इस बात को सूचित करते हैं कि उक्त द्रव्य महत्त्वपूर्ण हैं।

२. उक्त द्रव्यों का विशेष रूप से उल्लेख उनके उपयोगी होने के कारण तो किया ही गया है; साथ ही जब ये आहार के मलरूप में उत्पन्न होनेवाले द्रव्य, मात्रा से अधिक बनने लगते हैं तब, निरुपयोगी—देह के विए हानिकारक और रोगजनक (यथा प्रवाहिका में) होने के कारण, भी उल्लेख के योग्य बन जाते हैं।

३. इस प्रकार स्पष्ट है कि इन मधुरीभूत—फेनरूप-"कफ" अच्छ, "पित्त", और कटुकीभूत "वात" नामक द्रव्यों की, नियतमात्रा में शरीर के लिए उपयोगिता होने से, ये शरीर के भीतर ही रहते हैं; मात्रा से अधिक उत्पन्न होने पर ये या तो शरीर से बाहर स्वयं निकल जाते हैं या इन्हें निकाल दिया जाता है। न्यून मात्रा में उत्पत्ति होने की दशा में इनकी पूर्ति की जाती है।

४. इन आहारमलरूप में उत्पन्न द्रव्यों का उपयोग यह है कि, ये आहाररस के साथ-साथ देह के भीतर पहुँचते हैं; जहाँ धात्वग्नियों द्वारा इनका पुनः पाक होता है; और तब ये ही द्रव्य—शुद्ध कफ तथा पित्त के रूप में प्रकट होते हैं। ध्यान रहे कि धातुपाक के उपरान्त, शुद्ध कफ पित्त के रूप में आविर्भूत होनेवाले द्रव्यों को भी, आयुर्वेद की परिभाषा में, धातुओं का "मल" ही माना गया है; यद्यपि "मल" नाम से अभिहित होने पर भी इन्हें त्याज्य नहीं माना जाता।

५. कल्पना कीजिए कि आहारपाक के समय उत्पन्न होनेवाले आहारमलरूपी-इन कफ आदि को हम "त्याज्य" स्वीकृत कर लेते हैं; तब उस अवस्था में यह मानना चाहिए, कि भोजन का जो रस हमारे शरीर के भीतर पहुँचेगा वह कफ-पित्त से रहित ही होगा! प्रश्न यह है कि इस कफादि के अंश से रहित "रस" धातु के द्वारा, आगे जाकर, धातुरूप कफ आदि की उत्पत्ति की सम्भावना कैसे की जा सकती है?

इसलिए वास्तविकता यह है कि आहार के साथ क्लेदक-श्लेष्मा का संयोग होकर, उसके पार्थिव-आप्य-अंश-बहुल आहार में से, जिस फेनरूप कफ की उत्पत्ति होती है; तथा पाचक पित्त का संयोग होकर—आग्नेय अंश बहुल आहार में से, जिस अच्छपित्त की उत्पत्ति होती है; वे दोनों ही, आहार के साथ-साथ पचते हुए महास्रोतस् में आगे-आगे बढ़ते जाते हैं। अन्त में आहारपाक हो चुकने पर ये दोनों द्रव्य भी पच जाते हैं; और आहार रस के साथ-साथ देह के भीतर आचूषित हो जाते हैं; जहाँ इनका धात्वग्नियों द्वारा पुनः-पुनः पाक होकर शुद्ध कफादि की निष्पत्ति होती है।

यहाँ इस बात का उल्लेख कर देना भी नितान्त आवश्यक है कि 'आहार मल' के रूप में उत्पन्न कफ आदि को ही आयुर्वेद का "देहधारक कफ" आदि समझ लेना, एक भीषण भूल होगी। लेखक का यहाँ इतना ही अभिप्राय है कि आहार-मल के रूप में उत्पन्न कफ-पित्त सर्वथा त्याज्य नहीं हैं; ये असाधारण और महत्त्वपूर्ण परिणाम हैं; और ये ही वे उपादान द्रव्य हैं, जिनसे, आगे जाकर, देहधारक कफादि जन्म लेते हैं।

प्राचीन चिकित्सकों का यह मत प्रतीत होता है कि दैनिक आहार द्वारा, पच्यमान अवस्था में जो फेनभूत कफादि बनते हैं, वे किट्टरूप होते हैं; परन्तु पचते हुए आहार के साथ-साथ वे परिणत होते रहते हैं, और आहाररस के साथ-साथ भीतर पहुँच कर रस-रक्त में मिलते हैं। तत्पश्चात् धातुपाक होकर इनसे जिन कफ और पित्त की निष्पत्ति होती वे "वैकृत दोष" होते हैं। जन्मागत "प्राकृत" दोषों के साथ क्योंकि उक्त आहार-जनित वैकृतदोषों के गुण-धर्मों का साम्य होता है, अतः ये उक्त प्राकृत दोषों के साथ तदाकार होकर उनकी पुष्टि करते रहते हैं[1]। इस प्रकार इन शरीरवर्ती शुद्ध दोषों का दैहिक कार्यों के लिए व्यय होना,

---

[1]—"वैकृतास्तुगर्भादभिनिसृंतस्य आहाररसस्यमलाः सम्भवन्ति प्राकृतेषु अवरोहन्ति। ते कालादिवशेन स्व प्रमाणवृद्धिक्षययोगाद्देहमनुगृह्णन्ति दूषयन्ति च"।—(अ. सं. शा.)

"ये च वैकृतास्ते यद्यपि गर्भादभिनिसृतस्य आहारमलाः 'फेनभूतं कफं' इत्यादिना उक्ता भवन्ति तथापि ते सम्भूतास्तत्रैव प्राकृतेष्वेव वातादिष्ववरोहन्ति सजातीयत्वादेकी भवन्तीत्यर्थः। ते च वैकृताः प्राकृतैरेकीभूताः कालादि विशेषापेक्षया केनचित्स्वप्रमाणेन स्थिता देहमनुगृह्णन्ति तथा वृद्धिक्षययोगात्तु देहं दूषयन्ति"।—(इन्दु)

तथा इनकी क्षतिपूर्ति होते रहना, इस परम्परा का एकचक्र आयुपर्यन्त चलता रहना है।

अन्त में पाठकों का ध्यान इस आवश्यक तथ्य की ओर भी आकृष्ट करना उचित जान पड़ता है कि ऊपर की चर्चा में कफ-पित्त का ही विशेष उल्लेख हुआ है। वात की उत्पत्ति का "कटुकीभूतं अनिलम्" के रूप में ही वर्णन आता है। परन्तु धातुपाक के उपरान्त जिस प्रकार रस से कफ की, और रक्त से 'पित्त' की उत्पत्ति का वर्णन मिलता है उस प्रकार किसी धातु विशेष से वात की उत्पत्ति का प्रसंग उपलब्ध नहीं होता। इस विषय में वृद्धवाग्भट का मत है कि "पञ्चात्मा वात" की उत्पत्ति का मुख्यस्थान कोष्ठ[1] है। इस लेख के लेखक का भी यही मत है; साथ ही यह भी विचार है कि उच्छ्वास द्वारा भीतर पहुँचनेवाली वायु, आहार पाक के समय (मलपाक के समय नहीं) कोष्ठ में उत्पन्न वायु, एवं धातु पाक की प्रक्रिया से उदीर्ण होने वाली वायु,- ये सभी जब नानासंमूर्च्छनाओं के उपरान्त, "शारीर-रूप" या फिज़ियोलोजिकल् फ़ार्म ग्रहण कर लेती हैं तब ये सब "पञ्चात्मा वात" की जनक होती हैं॥

अध्यक्ष—आयुर्वेदमहाविद्यालय-गुरुकुलकांगड़ी }

१–"वायुः पुनः अग्नेराहारस्य च बहु अल्पतया तस्मात्तस्मात् मूच्छना-विशेषादमूर्तः शब्दवान् ईषच्छब्दः प्रचुरोऽल्यो वा पञ्चात्मा कोष्ठे प्रादुर्भवति"। (अ० सं०)

शरीर को स्वस्थ एवं बलवान
बनाये रखने के लिये

बैद्यनाथ रस-रसायनों

का सेवन करें।
बैद्यनाथ-औषधियाँ अपनी गुण-
कारिता एवं सर्वाङ्ग पूर्णता के
लिये सुप्रसिद्ध हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

स्रोतो विचार-२

वैद्य प्रभाशंकर नरोत्तम रावल, आयुर्वेदाचार्य

स्रोत के प्रकार

स्रोतों के प्रकार के सम्बन्ध में अब विचार करना है। सामान्यतया स्रोत का वर्गीकरण चार तरीकों से हो सकता है—यथा—

(१) अन्तर्मुख स्रोत और बहिर्मुख स्रोत।
(२) परिसंख्येय और अपरिसंख्येय स्रोत।
(३) भिन्न-भिन्न भावों का वहन करने वाले तेरह स्रोत।
(४) दृश्य और अदृश्य स्रोत।

आँख, कान और नाक के दो-दो छिद्र यानी ६ और मुख, गुद तथा मेढ्र—ये पुरुष देह के ९ छिद्र हैं और स्त्री-देह में इस ९ के अतिरिक्त दो स्तनों के और एक योनि के छिद्र हैं। इस तरह स्त्री-देह में बारह छिद्र होते हैं। इन बारहों की सामान्य संज्ञा स्रोत है और विशेष संज्ञा छिद्र है।

सामान्य और विशेष संज्ञा—आयुर्वेद के विद्यार्थियों के लिए यह सामान्य और विशेष का अर्थ विशुद्ध रीति से समझना अत्यावश्यक है। ऊपर जिन बारह सामान्य संज्ञा-स्रोत और विशिष्ट संज्ञा छिद्र का उल्लेख किया गया है, उनका तात्पर्य क्या है, यह निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जायगा।

सिंह, गाय, बैल, कुत्ता, भैंसा, घोड़ा इन सब के लिए सामान्य संज्ञा 'चतुष्पाद'–जिसका अर्थ चार पैरों वाला होता है, का प्रयोग किया जाता है। इन सब के चार पैर होते हैं। किन्तु इस 'चतुष्पाद' शब्द से सिंह, गाय, बैल, घोड़ा प्रभृति पशुओं के जो, विशेष अवयव, गुण वगैरह हैं, उसका ज्ञान नहीं होता। इन विविध प्रकारके पशुओं के जो विशिष्ट अवयव अथवा गुण-धर्म हैं, उसका बोध 'चतुष्पाद' शब्द से नहीं होता। 'चतुष्पादत्व' इन सब में अवश्य है, किन्तु इन सब के स्वभाव और गुण पृथक्-पृथक् हैं। इन चतुष्पादों में से एक को जब अलग करके दिखाना होता है, तब उनके लिए एक को दूसरे से पृथक् करने वाली संज्ञा का उपयोग किया जाता है। सिंह, गाय प्रभृति विशेष संज्ञा हैं। प्रत्येक सिंह, गाय आदि का जो विशिष्ट लक्षण, गुण-धर्म होता है, वह उनका वाचक है। इस तरह स्रोत संज्ञा सामान्यवाची है और छिद्र आदि विशेष अर्थों का द्योतन करता है। मानव देह में स्रोत अनेक हैं, जिनमें से केवल १२ ही के लिए छिद्र नाम सार्थक है। अन्यों को छिद्र नहीं कहा जाता।

इन बारह छिद्रों में से गुदा और मेढ्र मल-मूत्र का उत्सर्ग करते हैं। मेढ्र, शुक्रवह स्रोत में भी गिना जाता है। योनि आर्तववह स्रोत होने पर भी गर्भवह स्रोत अवश्य है। मुख में लाला का स्राव होता है और वह छिद्र भी है—और प्राण का स्थान होने से उसका स्थान प्राणवह स्रोत मे भी है। मुख की गणना उदकवह या अन्नवह स्रोत में करने के बजाय प्राणवह स्रोत के अन्तर्गत इसलिए की गयी है कि अन्नोदक को आमाशय तक ले जाने का कार्य और श्वासोच्छ्वास की क्रिया तथा वाचा का कार्य प्राणवायु ही करता है। इस तरह अलग-अलग स्रोतों के विशिष्ट हेतु होते हैं।

परिसंख्येय और अपरिसंख्येय स्रोत

"यावन्तः पुरुषे मूर्तिमंत भावविशेषाः तावन्त एव अस्मिन् स्रोतसां प्रकार विशेषाः"—अर्थात् पुरुष में जितने मूर्तिमंत भाव हैं, उतने स्रोत हैं। और, "सर्वे भावाः हि पुरुषे न अन्तरेण स्रोतांसि अभिनिवर्तन्ते"—अर्थात् पुरुष का कोई भी भाव स्रोत के बिना प्रवर्तित नहीं होता। इन दोनों सूत्रों का विचार करना अत्यावश्यक है। तत्पश्चात दूसरे सूत्र में 'सर्वे भावाः' इस तरह के पद का उपयोग किया गया है, और प्रथम सूत्र में "मूर्तिमंतः भावाः" और 'अस्मिन्' पद का प्रयोग हुआ है। प्रथम सूत्र के अनुसार शरीर में रस-रक्त आदि आकार वाले जितने भी भाव हैं, वे सभी के स्रोत हैं। ये स्रोत स्थूल आकृति के होते हैं और आंख से देखा जा सके, इतने आकार-प्रकार के होते हैं। यों ये दृश्य होते हैं, किन्तु विभाजित होते-होते, अतिसूक्ष्म बन जाने पर अदृश्य और अपरिसंख्येय हो जाते हैं। दूसरे सूत्र के अनुसार रस-रक्तादि मूर्तिमान भाव और मानसिक अमूर्तिमान भाव भी स्रोत के बगैर गति नहीं कर सकते। अपरिसंख्येय

और अदृश्य होने पर भी स्रोतों के अस्तित्व को स्वीकार करना ही पड़ेगा।

रजस् और तमस् के भिन्न-भिन्न अवयवों और इन्द्रियों में गति और ह्रास होते ही रहते हैं। जिस प्रकार देह के वात-पित्त-कफ-ये तीन दोष हैं, उसी तरह मन के रज और तम ये दो दोष हैं। इन मनोवह दोषों के दुष्ट हो जाने पर ही मानसिक व्याधियाँ, जैसे उन्माद, अपस्मार, मूर्च्छा, भ्रम, तमोदर्शन आदि उत्पन्न होती हैं। रोगों का निदान, पूर्वरूप, रूप, संप्राप्ति, उपशय और चिकित्सा—इन सब का वर्णन आयुर्वेद में होने से यह स्पष्ट है कि मानसिक दोषों को प्रकृतावस्था में गति करने के लिए स्रोतों का होना जरूरी है। मानस स्रोतों का मूल हृदय है और उसका प्रसरण समग्र शरीर में है; लेकिन उन सबों के अपरिसंख्येय और अदृश्य होने से उनकी गणना शास्त्र मे नहीं की गयी है। किन्तु मन के अमूर्त्त भावों और उसके स्रोतों के अस्तित्व को शास्त्र ने स्वीकार किया है।

गणना भेद, लक्षण भेद और चिकित्सा भेद

महर्षि चरक ने तेरह प्रकार के स्रोतों का वर्णन किया है; जैसे, प्राण, उदक, अन्न, रस, रक्त, माँस, मेद, अस्थि, मज्जा, शुक्र, मूत्र, पुरीष और स्वेदवह स्रोत। ये सब विविध पाँचभौतिक द्रव्यों को वहन करने वाले हैं। इसी प्रकार सुश्रुत ने प्राण, उदक, अन्न, रस, रक्त, माँस, मेद, मूत्र, पुरीष, शुक्र और आर्तव का वहन करने वाला ग्यारह स्रोत बताए हैं। चरक ने शुक्रवह स्रोत में आर्त्तववह स्रोतों का समावेश कर दिया है; किन्तु सुश्रुत ने शुक्रवह और आर्त्तववह—ऐसे दो भिन्न स्रोतों का वर्णन किया है। चरक द्वारा वर्णित अस्थिवह, मज्जावह और स्वेदवह स्रोतों का भी उल्लेख सुश्रुत ने नहीं किया। चरक ने ये तीन स्रोत इसलिए बताए हैं कि इन स्रोतों की दुष्टि होने से व्याधियाँ उत्पन्न होती हैं। सुश्रुत ने इसका उल्लेख इसलिए नहीं किया कि इन स्रोत दुष्टिमूल जन्य व्याधियों की चिकित्सा शल्यतंत्र के अधिकार में नहीं है। इससे मालूम होगा कि स्रोतों की गणना के सम्बन्ध में जो मतभेद दिखायी देता है वह अपने-अपने विषय की आवश्यकता तथा विषय की प्रधानता के अनुसार है। आगे चलकर यह भी मालूम पड़ेगा कि सुश्रुत ने इन सभी स्रोतों से उत्पन्न होने वाले लक्षणों का उल्लेख किया है, क्योंकि यह शल्य-शास्त्र का विषय है। चरक ने लक्षणों का वर्णन नहीं किया है, केवल स्रोत दुष्टि और उसके कारण होने वाले दोष-प्रकोप-प्रशमन तथा धातु वृद्धि-क्षय के लक्षण, चिकित्सादि का उल्लेख किया है, क्योंकि चरक का प्रधान विषय काय चिकित्सा है।

प्राणवह स्रोत

आचार्यों ने स्रोतों के क्रम में प्राणवह स्रोत को प्रधानता दी है। सामान्यतया आधुनिक लेखक प्राणवह स्रोत की गणना श्वास-संस्थान (Respiratory System) के अन्तर्गत की है। यों देखा जाय तो स्रोतें एनाटॉमीकल यूनिट (Anatomical unit) की वजाय फीजीयोलॉजीकल यूनिट (Physiological unit) हैं—बल्कि इन दोनों यूनिटों के अतिरिक्त भी कुछ हैं। प्राण वायु का आधुनिक स्वीकृत अर्थ ऑक्सीजन (Oxygen) ऐसा ही है, परन्तु आयुर्वेद में निर्दिष्ट प्राणवायु इससे एकदम भिन्न ही है। जहाँ-जहाँ प्राणवायु का कार्य होता है, वह सारा विभाग प्राणवह स्रोत है। प्राणवायु का स्थान मुख, गला, हृदय आदि है और उसका कार्य बोलना, गाना, श्वास लेना, अन्नादिक को नीचे ले जाना, निगल जाना प्रभृति है। फलतः (१) नाक से लेकर फेफड़ा और हृदय का भाग तथा उरस्थ मांस-पेशियाँ, जो श्वास-क्रिया में भाग लेती हैं, वे सभी प्राणवायु के अधिकार में हैं। (२) बोलने और गाने में काम आनेवाले मुख और गले का विभाग, स्वर यंत्र और उसको संचालित करनेवाले अवयव—इन सभी का संचालन प्राणवायु ही करता है। अन्नादिक आहार को चबाकर, गले में ले जाकर निगल जाने वाले फेरीन्क्स (Pharynx) और आहार नाड़ी (Oesoyphagus) तक का सारा भाग प्राणवायु के अधिकार में है। उपरोक्त सभी भागों का नाम प्राणवाही स्रोत है। इस स्रोत की दुष्टि के लक्षण उसके नाम को प्रमाणित करते हैं। वे लक्षण इस प्रकार हैं—(१) सशब्द उच्छ्वास—इसका कारण नासिका या नासिका-छिद्रों में या गले में नाक की वृद्धि, शोथ तथा अर्शादिक होने से स्रोतों में से वायु का बलपूर्वक सशब्द बाहर निकलना है। (२) शूल—गले में या फेफड़े में या उसके आवरणों में शोथ, शल्य या पाक होने से शूल होता है।

(३) अल्प और त्रोटक श्वास—फेफड़े के साथ हृदय का कार्य भी जब निर्बल हो जाता है तब ऐसा हो सकता है।

पाश्चात्य वैद्यक में उसको चेइन-स्ट्राक्स-रेस्पीरेशन (Chynes trokes-Respiration) कहा जाता है। चरक के टीकाकार चक्रपाणि ने प्राणवह स्रोतों का विशेष रूप से स्पष्टीकरण किया है। उनके अनुसार प्राण नाम का विशिष्ट वायु जिसमें रह कर देह की क्रियाओं को संचालित करता है, वह प्राणवह स्रोत है और इससे अधिक "सामान्येन तु वायोः सर्व एव धमन्यः इति न विरोधः" यह पद कहकर सभी धमनियाँ वायु का वाहक होती हैं—ऐसा बताया है। प्राणवायु का धमन करने वाले स्रोत हू-ब-हू धमनी की तरह ही कार्य करते रहने से उसके लिए 'धमनी' शब्द अति योग्य है। प्राणवायु का वहन फेफड़े में से चार धमनियों द्वारा हृदय में होता है, इसलिए शुद्ध रक्त का धमन करने वाली पल्मोनेरी वेन्स (Pulmonary Veins) को भी धमनी कहने में आपत्ति नहीं है। धमनी द्वारा धमित होकर प्राणवायु हृदय में पहुँचता है, और आयुर्वेद ने हृदय को प्राणवायु का स्थान माना है। समग्र प्राणवह स्रोत कहाँ से कहाँ तक है, इसका वर्णन महर्षि चरक ने नहीं किया। सिर्फ प्राणवह स्रोत का दो मूल "हृदयं महास्रोतश्च" ऐसा कहकर चरक ने बताया है। महास्रोत से आमाशयादि अन्नवह स्रोत का मूल है और ऊपर का भाग जहाँ प्राण की सत्ता चलती है, वहाँ तक का कण्ठनलिका भाग और कण्ठ का भाग प्राण का स्रोत है। सुश्रुत ने हृदय के साथ-साथ प्राणवाही धमनियों की प्राणवाही स्रोत के अन्तर्गत गणना की है, क्योंकि धमनी विद्ध हो तो लक्षण और चिकित्सा तो एक की ही की जाती है। दूसरी ओर आयुर्वेद में हृदय शब्द का उपयोग दो अर्थों में किया है। आयुर्वेद में हृदय शब्द का अर्थ केवल हार्ट (Heart) के अर्थ में नहीं लिया जाता। हृदय माने बीच का भाग प्रधान भाग ऐसा अर्थ है—जैसे अष्टाङ्ग हृदय, अर्थात् अष्टाङ्ग का प्रधान भाग, जिसके बिना चल न सके—ऐसा महत्व का भाग। चरक संहिता के जल्प-कल्पतरु टीकाकार गंगाधर ने प्राणवह स्रोत के सन्दर्भ में हृदय का अर्थ समझने में भूल न हो, इसलिए "हृदयम्, वक्षम्" ऐसा लिखा है। इसका अर्थ है छाती का मध्य भाग, इस भाग को हृदय समझना चाहिए। पाश्चात्य शरीर शास्त्र के mediastinum (मीडियास्टायनम्) शब्द का अर्थ आयुर्वेद के वक्षस् शब्द से मिलता-जुलता है। इस भाग में कोई वृद्धि-ग्रन्थि या शोथ हो तो प्राणवह स्रोत की दुष्टि के लक्षण होते हैं। ऐसे प्राणवह स्रोत में हृदय और वक्ष प्राणवाही धमनियाँ अर्थात् पल्मोनरी वेन्स (Pulmonary veins), रेस्पीरेटरी मसल्स (Respiratory muscles) और महास्रोत के ऊपर के भाग को समाविष्ट किया गया है और इन सबको प्राणवह स्रोत का मूल कहा है। इन मूलों को पकड़ कर शाखा-प्रशाखाओं का अन्वेषण करना विद्वानों का काम है। प्राणवह स्रोत को पाश्चिमात्य शारीर-शास्त्र के अनुसार शरीर का कौन-सा संस्थान (System) कहा जाना चाहिए—इस बात का निर्णय ऊपरि लिखित दृष्टिकोण से करना चाहिए।

उदकवह स्रोत

सामान्यतया उदक को शरीर में ले जाने वाले स्रोत उदकवह स्रोत कहलाते हैं। आहार को शरीरान्तः ले जानेवाले; पचाने वाले, संग्रह करनेवाले, गति करानेवाले समग्र महास्रोत से उदकवह स्रोत भिन्न नहीं हो सकता है, ऐसा ख्याल सामान्यतः आता ही है—किन्तु यदि ऐसा होता तो अन्नवह, रसवह आदि स्रोतों के होते हुए भी उदकवह स्रोत को स्वतंत्र बताने की आवश्यकता क्या थी? प्राणवह स्रोत का मूल आदि भी थोड़ा-बहुत दृश्य है, लेकिन इस उदकवह स्रोत का मुँह या शिर कुछ भी हाथ नहीं लगता, फिर भी ग्रंथकार को उसकी ही परिभाषा से समझने से यह समस्या थोड़ी समझ में आयेगी।

उदकवह स्रोत के मूल दो हैं—तालु और क्लोम। तालु उदक का वहन कराकर उसको कहीं भी नहीं ले जाता। क्लोम के स्थान के बारे में पर्याप्त मतभेद होने पर भी उदकवह स्रोत को समझने में मतभेद रह सके—ऐसा नहीं है और वह समझने के लिए स्रोत की दुष्टि के लक्षणों का विचार करना आवश्यक है। तालु और क्लोम—ये दोनों ही पिपासा स्थान हैं। उदकवह स्रोत की दुष्टि से जीभ सूख जाती है अर्थात् जिन-जिन रोगों में जीभ सूख जाय उन सब में निश्चित रूप से उदकवह स्रोत की दुष्टि होती है। शरीर में रहता हुआ उदक कम होने से जीभ सूखने लगती है—और जीभ में कायमी रूप से रहता हुआ उदक कम होने से, इस प्रत्यक्ष प्रमाण से जीभ में उदकवह स्रोत होने ही चाहिए—ऐसी प्रतीति होती है। जीभ की Salivary gland-mucous gland, और जीभ के नीचे रही हुई Lymphatic system और उनकी क्रिया का संचालन करने वाली Central & peripheral nervous system तथा

अन्य सब विभाग (जिसकी दुष्टि से जीभ सूख जाती है) उन सबका समावेश उदकवह स्रोत में करना चाहिए। जीभ रस का स्थान है, और स्वयं जल प्रधान अवयव है। आहार ग्रहण करते समय चर्वण-क्रिया के दौरान जीभ से अत्यन्त रस-स्राव होता है। वाग्व्यापार में भी मुँह के सूखने पर रस की कमी जीभ ही पूरी करती है। शरीर में जल की कमी होने की सूचना सर्वप्रथम जीभ को ही होती है। जीभ के समान तालु भी उदक प्रधान है। शरीर में जल का भाग कम होने से तालु सर्वप्रथम सूखता है, तृषा लगने से ओठ और कण्ठ सूखते हैं। इस विवरण से यह स्पष्ट है कि उदकवह स्रोत यानी जीभ, ओठ, तालु, कण्ठ और क्लोम––ये पाँच स्थायी रूप से आर्द्र रहने वाले तथा शरीर में जल की कमी का अनुभव कराने वाले अवयव हैं। अर्थात् जल के क्षय का इसको ज्ञान होता है। चरक, सुश्रुत, माधव और भाव मिश्र ने तृष्णा को एक स्वतंत्र रोग माना है और उसके लिए स्वतंत्र प्रकरण लिखे हैं।

अर्वाचीन चिकित्सा-शास्त्र में तृष्णा को कोई रोग विशेष नहीं माना जाता। टायफायड ज्वर में आन्त्रों में क्षत होने के परिणामस्वरूप रक्तस्राव होता है––और तब रोगी पानी के लिए तड़पता है। उस समय मॉर्फिया का इंजेक्शन देकर उसको मूर्च्छित अवस्था में रख देने के सिवा और दूसरा उपाय नहीं रहता। वस्तुतः देखा जाय तो जितने भी केस Internal haemorrhage के होते हैं, वे तृष्णा के उपद्रव के कारण ही। यह तृष्णा अशक्य होती है। जलोदर और शोथ में जब वायु और पित्त प्रधान होता है, तब रोगी सतत तृष्णा का अनुभव करता है। विसर्प रोग में बच्चे आखिर तक असाधारण तया पानी माँगते ही रहते हैं। छर्दि और अतिसार में तृष्णा का जोर इतना बढा रहता है कि मूल रोग के बजाय उपद्रवरूप तृष्णा का शमन कैसे किया जाय, यह प्रश्न प्रधान बन जाता है और इसीलिए "तृष्णा गरीयसी घोरा सद्यः प्राणविनाशिनी" ऐसा कहा गया है। यह तृष्णा किस तरह होती है? इसमें कौन-कौन दोष प्रकुपित होते हैं, उसकी सम्प्राप्ति और चिकित्सा क्या है––इन सब बातों को समझने के लिए उदकवह स्रोत के स्वरूप का यथार्थ ज्ञान होना चाहिए; इसी प्रयोजन से महर्षियों ने अन्नवह स्रोत से पृथक कर के उदकवह स्रोत को दिखाया और उसका वर्णन किया है।

विकृतावस्था में उदकवह स्रोत

व्याधित अवस्था में वपा (Peritoneum) में मूत्रवृद्धि की अवस्था में वृषण में और पाण्डु में, शोथ आदि में त्वचा के नीचे उदक एकत्र होता है। चरक ने उदकवह स्रोतों में समग्र शरीर की रसवाहिनियों की भी गणना की है। त्वचा भी रस का स्थान है। आयुर्वेद की दृष्टि से रस सब धातुओं के पोषणार्थ सारे शरीर में फिरता है। जलोदर, शोथ आदि व्याधिओं में वपा आदि शरीर के अवकाशों में उदक का स्राव होता है। आशय यह है कि उदकवह स्रोत का मूल तालु, क्लोम, जिह्वा और ओठ में है–और उदकवह स्रोतों का प्रसार समग्र शरीर की त्वचा में रसवाहिनियों में और अवकाशों में है। जहाँ-जहाँ उदक भर सके, वे सब स्थान उदकवह स्रोत हैं।

शुक्रवह स्रोत

इस स्रोत का सामान्य अर्थ वृषण (Testicles) और सेमीनल वेसीकल्स (Seminal vesicles) शुक्रवाहिनियाँ होता है, लेकिन वह अर्थ अपूर्ण है। यह विभाग शुक्रवह स्रोत के मूल का अंशमात्र होता है; उस सूत्र के ताने-बाने समग्र शरीर में फैले हुए हैं, क्योंकि शुक्र समग्र शरीर में रहता है––जैसे दही में मक्खन होता है ठीक वैसे। उसका मंथन हो-नर-नारी का संयोग हो, तभी समग्र शरीर से खिचाकर शुक्र, शुक्रवह स्रोतों के जरिये बाहर आता है। आयुर्वेद में स्तन को शुक्रवह स्रोत का मूल माना है। इससे शुक्र का प्रवर्तन तो नहीं होता, किन्तु इससे कामोत्तेजन होता है। पुरुष के स्तन का भी स्पर्श कामोत्तेजन करता है–और इससे शुक्र प्रवर्त्तक है। वंक्षण और नितम्ब की त्वचा भी स्पर्श से कामोत्तेजक होती है और इस कारण शुक्र प्रवर्तक है। इसलिए वहाँ शुक्रवह स्रोत है ऐसा अनुमान होता है। प्रश्न उठता है कि शुक्रवह स्रोतों के समग्र शरीर में प्रसारित अदृश्य विभागों का अस्तित्व मानना चाहिए या नहीं? ऐसा प्रश्न अन्य सभी स्रोतों के बारे में भी किया जा सकता है।

शुक्रवह स्रोतों की दुष्टि का कारण महर्षि इस तरह बताते हैं––"अकाल योनि गमनात्, निग्रहात्, अतिमैथुनात् शुक्रवाहीनि दूष्यन्ति शस्त्रक्षाराग्निकर्मभिः"। अर्थात् असमय स्त्री-सम्बन्ध करने से जननेन्द्रिय को बाह्यरीति से कोई हानि होती दिखायी नहीं देती, लेकिन अहर्ष आदि मानसिक कारणों से क्लैव्य उत्पन्न होता है और कुछ काल

व्यतीत होने पर जननेन्द्रिय की त्वचा विकृत हो जाती है। शिश्न के मूल में रहती हुई उपस्थसंकोचिनी और शिश्न प्रहर्षिणी नाम की मांस-पेशियाँ श्लथ हो जाती हैं। उसके बाद उसमें वात का प्रकोप होने से वह सूखती है और कार्यक्षम नहीं रहती। अश्मरी के शस्त्रकर्म के दरम्यान शुक्रवह स्रोतों को हानि होने का भय रहता है और सेवनी के ऊपर शस्त्राघात होने से शिश्नमूल की मांस-पेशियों को हानि पहुँचाने से क्लैव्य पैदा होता है। अर्श की चिकित्सा में अग्निकर्म वा क्षारकर्म करने से भी ऐसा परिणाम आने का भय रहता है, इसलिए इस तरह देखने से शिश्न और उसके मूल का भाग भी शुक्रवह स्रोतों में आ जाता है।

शुक्रवह स्रोत की दुष्टि के लक्षणों का विचार करने से उन स्रोतों का कौन-सा अर्थ शास्त्रकारों को अभिप्रेत है, वह ज्यादा स्पष्ट होता है। वे लक्षण इस प्रकार बताए गए हैं--"शुक्रस्य दोषात् क्लैव्य अहर्षणम् क्लीवं अल्पायुः विरूप वा प्रजायते। न वा संजायते गर्भः पतति प्रस्रवति शुक्रं हि दुष्टं सापत्यं सदारं बाधते नरम् ॥"

एक दूसरा विचार भी रहता है, शुक्रवह स्रोत की दुष्टि से क्लैव्य, नपुंसकता आदि उत्पन्न होते हैं। केवल मानसिक कारणों के परिणाम से ही नपुंसकता उत्पन्न हो, तब शुक्रवह स्रोत में दुष्टि है, ऐसा समझना चाहिए। ज्ञानेन्द्रियों का सीधा सम्बन्ध मन के साथ होता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार मस्तिष्क में रहने वाला पीनियल बॉडी (Pineal body) और वृक्कोपरिस्थ एड्रीनल ग्रंथियों की विकृति से क्लैव्य प्रतीत होता है। इस तरह से शुक्र और शुक्र का प्रवर्त्तन करने वाले अन्य स्राव सिर्फ वृषणों में ही नहीं, प्रत्युत् समग्र शरीर में रहते हैं--और संभोग के समय ये स्रवित होते हैं।

---क्रमशः

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)--

का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया। वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा की जा रही थी--इस ग्रन्थरत्न के लेखक हैं--आयुर्वेद जगत् के सुविदित--

वैद्य रणजितराय देसाई
उपाचार्य : आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत ;
सदस्य : मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति।

नयनाभिराम कागज, छपाई तथा गेटअप। मूल्य आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर केवल रु० ५·५० न. पै. रखा गया है। मार्गव्यय-पृथक्। धड़ाधड़ बिक रहा है। आप भी आज ही आर्डर भेजिए।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झांसी · नागपुर

तन्द्रा

कविराज रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, आयुर्वेदवाचस्पति

१—आचार्यों ने ८० वातविकार, ४० पित्तविकार और २० कफविकारों का जो नामोल्लेख किया है उनमें कफविकारों में **तन्द्रा** का उल्लेख किया गया है :—श्लेष्मविकारांश्च विंशतिमत ऊर्ध्वं व्याख्यास्यामः तद्यथा—तृप्तिश्च, **तन्द्रा** च, निद्राधिक्यं च, स्तैमित्यं च इत्यादि । च० सू० २०। १७।।

२—माधवकार ने मूर्च्छा-भ्रम-तन्द्रा-निद्रा इन चारों का भेद दर्शाते हुए नीचे का श्लोक दिया है—

मूर्च्छा पित्ततमःप्राया रजःपित्तानिलाद् भ्रमः ।
तमो वातकफात्तन्द्रा निन्द्रा श्लेष्मतमो भवा ।।

मूर्च्छा में पित्त एवं तमोगुण ; भ्रम में पित्त एवं रजोगुण ; तन्द्रा में वात, कफ एवं तमोगुण तथा निद्रा में कफ तथा तमोगुण कारणभूत होते हैं । इस प्रकार मूर्च्छा और भ्रम में एवं तन्द्रा तथा निद्रा में पार्थक्य के कारण का ठीक-ठीक पता चल जाता है । चारों ही रोगों का मस्तिष्क से सम्बन्ध है; चारों का ही प्रभाव इन्द्रियों एवं उनके अर्थों पर पड़ता है। संज्ञानाशसाधर्म्य तरतमभेद से चारों में ही प्राप्त होता है। निद्रा एवं तन्द्रा में कारण साम्य कुछ विशेष दिखाई देता है। तमोगुण एवं कफदोष दोनों में बराबर रहने पर भी तन्द्रा में वातदोष की प्रखरता मिलती है। निद्रा में इन्द्रिय एवं मन दोनों में मोह हो जाता है पर तन्द्रा में केवल इन्द्रियमोह अथवा केवल मनोमोह मिलता है।

३—तन्द्रा का लक्षण माधवनिदान में इन शब्दोंमें व्यक्त किया गया है—

इन्द्रियार्थेष्वसंवित्तिर्गौरवं जृम्भणं क्लमः ।
निद्रार्तस्येव यस्येहा तस्य तन्द्रां विनिर्दिशेत् ।।

इन्द्रियविषयों की प्राप्ति पूरी-पूरी नहीं होती, अंग भारी हो जाते हैं, जम्हाइयाँ आती हैं, क्लम (बिना सांस फूले, बिना परिश्रम किये ही थकावट का अनुभव होना) तथा नींद से पीड़ित के समान जिसकी चेष्टा हो उसे तन्द्रा से पीड़ित जानना चाहिए।

आधुनिक चिकित्सा शास्त्र में "ड्राउजीनेस", "स्लीपीनैस", "स्टयूपर" आदि शब्दों का प्रयोग इसके लिए होता है। इन्द्रियार्थों की असंवित्ति निद्रा अथवा तन्द्रा का प्रधान कारण माना जाता है। गालकिन ने स्परैंस्की की प्रयोगशाला में कुछ कुत्तों के दर्शन-श्रवण एवं घ्राण की इन्द्रियों को आपरेशन करके निकाल कर यह देखा कि वे कुत्ते २० से २३ घंटे प्रतिदिन सोते थे। जागृतावस्था में वातिक तरंगों का एक प्रवाह निरन्तर चलता रह कर मस्तिष्क के कौर्टेक्स भाग को सतत क्रियाशील रखता हुआ सोने से रोकता है वह प्रवाह श्लेष्मा और तमोगुण के कारण घटने लगता है शरीर में भारीपन आ जाता है, अंग-अंग थकता चला जाता है परिणामस्वरूप निद्रा आती है।

परन्तु निद्रा के पूर्व की अवस्था में, सर्वक्रियाओं के कर्त्ता—हर्षोत्साह की योनि वात के गतिमान् होने से निद्रा न आकर कभी-कभी तन्द्रा मात्र आकर रह जाती है। जबतक वात का अंश चालू रहती है तब तक प्राणी सोता नहीं। तमोगुण और श्लेष्मा के कारण संज्ञावाही स्रोतों का मार्ग जो बन्द होना चाहता है कभी थोड़ी देर और कभी अधिक देर तक वातदोष के कारण बन्द नहीं होता इसी का प्रकटीकरण मधुकोश के व्याख्याकार ने "निद्रायामिन्द्रियमनोमोहः एवं तद्रायामिन्द्रियमोहः" करके दिया है। पाठान्तर में "तन्द्रायां मनोमोहः" पाठ भी मिलता है। हमारे मत से दोनों पाठ सही हैं। निद्रा में निस्सन्देह तमोगुण एवं श्लेष्मा के द्वारा संज्ञावहस्रोतों का भर जाना जिसके कारण इन्द्रिय एवं मन का सम्बन्ध छूट जाना यह देख जाता है। तन्द्रा में कभी इन्द्रियों में कभी मन में वायु की स्थिति बनी रहती है। इन्द्रियों में या किसी एक इन्द्रिय में वात अवस्थित रहने से उस इन्द्रियार्थ का अभिवहन करता है पर मन के क्षेत्र में तमोबाहुल्य एवं श्लेष्मा बाहुल्य रहने से अभिवहन की गति बहुत कम हो जाती है और मनोमोह की अवस्था मिलती है। कभी इन्द्रियों से अर्थ का अभिवहन रुक जाने से और मार्ग के तमस् तथा श्लेष्मा से आवृत हो जाने पर भी "नियन्ता प्रणेता च मनसः" इस धर्म के अनुसार वाह्य मन को क्रियाशील रखता है। कभी जम्हाई आकर रह जाती है; क्लम का रोगी अनुभव भी

करता है परन्तु इन्द्रियमोह मात्र रहने से वह सो नहीं पाता। अतः इन्द्रियमोह एवं मनोविमोह अथवा मनोमोह एवं इन्द्रियविमोह दोनों में से कोई अवस्था जहाँ मिलती है वहीं तन्द्रा उपलब्ध हो जाती है। सभी कारण बनाने पर यों समझ सकते हैं : —

निद्रा=इन्द्रियमोह–मनोमोह

तन्द्रा=इन्द्रियमोह या मनोमोह।

४—आधुनिक वैज्ञानिक यह तो समझने लगे हैं कि सैरीब्रल कौर्टेक्स की क्रियाशीलता में शरीर के विविध अगों से आनेवाली संज्ञाओं की तरंगें उत्तरदायी हैं। इन तरंगों के रोकने से निद्रा उत्पन्न होती है। आयुर्वेदज्ञों ने अपने प्रयोगों के आधार पर यह सिद्ध किया है कि इन तरंगों की रुकावट तमोगुण एवं कफ के कारण होती है। जब सैरीब्रल कौर्टेक्स को तथा इन्द्रियाधिष्ठानों तथा उनसे मन तक पहुँचने के मार्गों को ये घेर लेते हैं तो संज्ञानाश हो जाता है जिसे प्रकृतावस्था में निद्रा कहा जाता है। जागृत एवं निद्रित अवस्थाओं के बीच की अर्द्धनिद्रितावस्था वात का अनुबन्ध रहने से उत्पन्न होती है जिसे तन्द्रा कहा जाता है।

आधुनिक वैज्ञानिकों को अपनी प्रयोगशालाओं में विविध प्रयोग करके तमोगुण एवं कफ के प्रभाव को प्रत्यक्ष देखना होगा और इन्हें समझने का आस्तिक बुद्धि से यत्न करना होगा।

५ **तन्द्रा**—नामक विकार अनेक-रोगों में लक्षण रूप से मिलता है। नीचे इन रोगों की सूची दी जाती है :—

(१) **आर्तव की अतिप्रवृत्ति**—इसमें आर्तव के अधिक बह जाने से उग्र हुई वायु निद्रा के स्थान पर तन्द्रा उत्पन्न करती है।

(२) **उदररोग**—सुश्रुत ने लिखा है कि "दाहस्तन्द्रा च सर्वेषु जठरेषु भवन्ति हि"। उदर रोगों में अग्निमान्द्य एवं तज्जन्य धातुक्षय तथा उससे उत्पन्न वातकोप निद्रा के स्वाभाविक रूप को तन्द्रा में परिणत कर देता है।

(३) **उदावर्त**—"कुपितो वायुः कोष्ठानुगः सद्यः उदावर्तं करोति" इस सुश्रुतीय विचारसरणि के अनुसार उदावर्त में वायु का प्रकोप प्रधान हेतु है; । अतः तन्द्रा का मिलना उदावर्त में सम्भव है। परन्तु क्षुधा के निग्रह तथा निद्रा के निग्रह के कारण उत्पन्न उदावर्त में तन्द्रा का स्पष्ट उल्लेख मिलता है। यथा—

(क) तन्द्राङ्गमर्दावरुचिः श्रमश्च क्षुधाभिघातात् कृशता च दृष्टेः।

(ख) निद्राभिघातादथवाऽपि तन्द्रा। सु० उत्तरतन्त्र

(४) **ऊरुस्तम्भ**—साम, समेद एवं सकफ वायु इतर दोष पित्त के साथ इस रोग को उत्पन्न करता है। इसका पूर्वरूप निद्रा से बनता है। अतः बाद में तन्द्रा की अवस्था निरन्तर बनी रहे यह इस रोग की प्रकृति के अनुकूल ही है।

(५) **कामला**—की असाध्यावस्था में तन्द्रा मिलती है। इस अवस्था को कोलीमिया (Cholaemia) कहते हैं और इसमें तन्द्रा, निद्रा, मूर्च्छा तीनों ही क्रमशः उत्पन्न होते और रोगी को पंचत्व प्राप्ति करा सकते हैं।

(६) **गृध्रसी**—में साधारणतया और वात-कफज गृध्रसी में विशेषतया तन्द्रा का लक्षण पाया जाता है। गृध्रसी एक शूल प्रधान व्याधि है जिसमें रोगी को निद्रा आती-आती रुक जाती है। वात का विशेष प्रकोप ही उसका हेतु है।

(७) **गुल्म**—की असाध्यावस्था में तन्द्रा मिलती है यथा चरक के अनुभव के अधार पर—"तृष्णातन्द्राप्रतिश्यायैर्युज्यते स न सिध्यति"। (चि० स्था० ५)

(८) **ग्लानि**—यह कफाधिक्य से होती है। इसमें तन्द्रा मन के वाताभिभूत होने से सम्भव है।

(९) **ज्वर**—निम्नज्वरों में तन्द्रा मिलती है—

क—आमज्वर—क्योंकि आमदोष सारे शरीर में कफ एवं तमस् की व्याप्ति करके तथा वात की सहायता कर तन्द्रा की स्थिति कायम रखता है।

ख—कफज्वर

ग—कफपित्तज्वर

घ—कफवातज्वर

इन तीनों ज्वरों में कफ की वृद्धि एवं मार्गों के अवरोध से तन्द्रा मिलती है।

ङ—कामज्वर—लिखा है—

कामजे चित्तविभ्रंशस्तन्द्राऽऽलस्यमभोजनम्।
हृदये वेदना चास्य गात्रं च परिशुष्यति॥

अर्थात्—मन में सतत कामना और हृदय में वेदना रोगी को सोने नहीं देती वह तन्द्रितावस्था में आधा सोता और आधा जागता पाया जाता है।

च—लाघरकज्वर में सुश्रुत ने तन्द्रा नामक लक्षण स्वीकार किया है।

छ—**सन्निपात ज्वर**—टाइफाइट एक प्रकार का सन्निपातज्वर है। इसमें ड्राउजीनैस या तन्द्रा एक प्रमुख लक्षण के रूप में मिलती है।

(१०) **तृष्णा**—विशेषकर सपित्तकफजतृष्णा में तन्द्रा पाई जाती है—

शिरसो गौरवं तन्द्रा माधुर्य वदनस्य च।
भक्तद्वेषः प्रसेकश्च निद्राधिक्यं तथैव च ।।
एतैर्लिङ्गैर्विजानीयात् तृष्णां कफसमुद्भवाम् ।
—हारीत

(११) **ध्वंसक**—तन्द्रानिद्राभियोगश्च ज्ञेयं ध्वंसक लक्षणम् । —च० चि० २४

(१२) **परमद**—इसमें कफाधिक्य तन्द्राकर है।

(१३) **पाण्डु**—कफज एवं मृज्ज दोनों प्रकार के पाण्डुरोगों में तन्द्रा का लक्षण मिलता है।

(१४) **पारिगर्भिक**—नामक बाल रोग में तन्द्रा पायी जाती है।

(१५) **कफावृतप्राण**—में तन्द्रा मिलती है—

दौर्बल्यं सदनं तन्द्रा वैरस्यं च कफावृते ।

(१६) **प्रमेहपूर्वरूप**—चरकने निद्रा और तन्द्रा दोनों का उल्लेख प्रमेहपूर्वरूप में किया है

(१७) **मदात्यय**—कफज में तन्द्रा मिलती है।

(१८) **मसूरिका**—कफज होने पर तन्द्रा मिलती है।

(१९) **वमन**—कफज में तन्द्रा मिलती है।

(२०) **सामवात**—वृद्धवाग्भट ने सामवायु के लक्षण में तन्द्रा का निर्देश किया है—"सर्वं च मारुतं सामं तन्द्रास्तैमित्यगौरवैः।" (नि० स्था० ३)

(२१) **विष**—विशेषकर जंगमविष तन्द्राकर होता है। यथा—

निद्रां **तन्द्रां** क्लमं दाहमपाकं लोमहर्षणम् ।
शोथं चैवातिसारं च जङ्गमं कुरुते विषम् ।।

(२२) **विसर्प**—कर्दमविसर्प में तन्द्रा मिलती है।

(२३) **विस्फोट**—त्रिदोषज विस्फोट में तन्द्रा मिलती है।—"प्रलापो वेपथुस्तन्द्रा सोऽसाध्यःस्यात्त्रिदोषजः"।

(२४) **शिरोरोग**—में कफ के कारण तन्द्रा पाई जाती है। ऐसा चरक ने स्वीकार किया है—

शिरोमन्दरुजं तेन सुप्तस्तिमितभारिकम् ।
भवत्युत्पद्यते **तन्द्रा** तथ[illegible]रोचकम् ।।

(२५) **हलीमक**—चरक ने "बलोत्साहक्षयस्तन्द्रा" आदि हलीमक के लक्षण लिखे हैं। यह रोग वातपित्तात्मक ही होता है। धातुओं का क्षय एवं थकावट रहने से निद्रा पूरी-पूरी न आती, आलस्य की व्याप्ति, अंगमर्दादि मिलकर तन्द्रा उपस्थित कर देते हैं।

६—आधुनिक चिकित्साशास्त्रज्ञों ने अधोलिखित अवस्थाओं में तन्द्रा स्वीकार की है:—

(१) एक्यूट यलो एट्रोफी
(२) बौटचूलिज्म
(३) कैलक्युलस डिजीज
(४) कौलीमिया
(५) डायबिटीज
(६) ऐन्कैफेलाइटिस
तथा ए० लिथार्जिका
(७) फास्फोरस पौइजनिंग
(८) सोडियम फ्लोराइड
(९) एपीडैमिक जौण्डिस
(१०) मशरूम पौइजनिंग
यह विषाक्त फुई
के खाने से होता है।
(११) स्पाइरोकीटोसिस इक्टैरो हीमोरेजिका
(१२) एपीलैप्सी
(१३) हैडक
(१४) यूरीमिया
(१५) नार्कोलैप्सी
(१६) रीनल इन्फेंटिलिज्म
(१७) ट्रिपैनोसोमियासिस

कहना नहीं होगा कि तन्द्रा का उल्लेख प्राचीन एवं नवीन आचार्यों ने अपने काल एवं निरीक्षण के आधार पर किया है। अपस्मार या ऐपीलैप्सी में चरक ने तन्द्रा को महत्त्व न देकर "मोहस्तमसो दर्शनं मूर्च्छाभ्रमश्चाभीक्ष्णं स्वप्ने च" में मोह एवं मूर्च्छा का उल्लेख किया है। आधुनिकों ने जहाँ विषाक्त शरीर की विविध अवस्थाओं में तन्द्रा का उल्लेख किया है वहाँ प्राचीनों ने सम्यक्तया प्राप्त होने वाली निद्रा के मध्य में उत्पन्न वातजन्य विघ्नों एवं कफजन्य प्रकोप के कारण जागृत अवस्था में प्राप्त विघ्नों को लक्ष्य कर इसका विचार किया है। दोनों के तथ्य प्रत्यक्ष निरीक्षण (*Direct observation*) पर आधारित हैं। कहीं भी कपोल-कल्पित

नहीं हैं। दोनों ही ने प्रायशः गम्भीर अवस्थाओं में तन्द्रा के दर्शन किये हैं।

७—तन्द्रा की चिकित्सा का विचार करने पर प्रमुख रोगों की तरह इसका वर्णन नहीं के बराबर मिलता है। स्वतन्त्र तन्द्रा रोग का नामोल्लेख मात्र कफज विकारों में किया जाने पर भी उसकी चिकित्सा की विशिष्ट पद्धति का निर्देश ज्वर, रक्तपित्त, श्वास, प्रमेह, अतीसार की तरह नहीं मिलता। इसका कारण प्राचीनों को अपने क्षेत्र में तन्द्रा मात्र रोग के दर्शन इतने विशाल पैमाने पर नहीं हो सके होंगे जो इसका विधिवत् विचार कर पाते। आज भी जो ट्रिपैनोसोमियासिस, स्लीपिंग सिकनैस एवं तन्द्रिकज्वर के रोगी इस क्षेत्र के बाहर ही बहुधा मिलते हैं। अतः इस विषय पर पुष्ट साहित्य का अभाव है। जो मिलता है वह तन्द्रा नामक लक्षण के प्रतीकार की दृष्टि से है अथवा तन्द्रा जिस कारण उत्पन्न हुई है उस कारण की चिकित्सा से ही तन्द्रा का नाश हो जाता है यह माना गया है। यही कारण है कि विविध योगों के अन्यगुणों के निर्देश के साथ जहाँ बन पड़ा या देखा गया है वहाँ उसके तन्द्रानाशक गुण का भी उल्लेख कर दिया गया है।

८—हेतु का विचार करने से तन्द्रा की चिकित्सा अधोलिखित आधार पर की जा सकती है—

(क) प्रकुपित कफ के प्रकोप को दूर किया जावे;

(ख) तमोगुण के स्थान पर सतोगुण की वृद्धि की जावे; तथा—

(ग) वायु को शान्त किया जावे।

परन्तु तन्द्रा के दो रूप प्रायः देखने को मिलते हैं एक जब रोगी सोना चाहता है पर वात के प्रकोप से सोने में बाधा पड़ती है और रोगी तन्द्रित मात्र रहता है। ऐसी अवस्था में केवल वातशमन से तन्द्रा प्राकृतिक निद्रा में परिणत हो जावेगी। दूसरे जब निद्रा अनावश्यक हो और तमोगुणी कफ के कारण वात की सहायता से तन्द्रा की उपलब्धि प्रतिक्षण हो रही हो जो मूत्रविषमयता अथवा अन्य किसी भी प्रकार के विष के रक्त में या मस्तिष्क में उपस्थित रहने से देखी जाती है। ऐसी अवस्था में कफघ्न, वातघ्न एवं सतोगुणवर्धक चिकित्सा की आवश्यकता पड़ती है जो उसे तन्द्रा या निद्रा से हटा कर जागृत कर सके।

अस्तु, हर अवस्था में तन्द्रा की चिकित्सा में वात का शमन तो करना ही पड़ेगा। वात शान्त होने पर निद्रा आने देना या नहीं यह रोगी की परिस्थिति पर ही निर्भर करता है। इसी को दृष्टि में रख कर चिकित्सा की जानी चाहिए। अपस्मार या हिस्टीरिया के दौरे की वृद्धि में मार्फिया के इन्जेक्शन का उपयोग इसी आधार पर देखा जाता है। जब तन्द्रा-मोह या मूर्च्छा को निद्रा में परिणत करके इनसे मुक्ति दिलाई जाती है। हर अवस्था में तन्द्रा को निद्रा में परिणत कर देना सरल उपाय है। क्योंकि वहाँ केवल वात की शान्ति करनी होती है। जो तन्द्रा से प्राकृत जागृत अवस्था लाने के पक्षपाती हैं उन्हें वातप्रकोप, श्लेष्म वृद्धि एवं तमोगुण तीनों से लड़ना होगा तथा इसके लिए प्रयत्न भी अपेक्षाकृत बड़ा करना होगा और परिणाम की सुकरता में एवं प्राप्ति में कई प्रकार की बाधाएँ आ सकती हैं।

९—**वात शान्ति** करने से तन्द्रा निन्द्रा में परिणत की जा सकती है। वात की शान्ति करने के पहले हमें यह देखना होगा कि किस कारण से वात प्रकोप हुआ है; तथा वात प्रकोप का कौन रूप रोगी में पाया जाता है। साधारणतया वात रूक्ष, शीत, लघु, सूक्ष्म, चल, विशद, खर, दारुण, शीघ्रगामी, परुष, तिर्यग्गामी, शब्दवान्, स्पर्शवान्, रजोबहुल, मुहुश्चारी होती है। अतः तन्द्रा से पीड़ित रोगी में वात के किस रूप का प्रकोप हुआ है इसे समझना होगा।

रोगी में रौक्ष्य, शैत्य, लाघव, सौक्ष्म्य, चलत्व, वैशद्य, खरत्व, दारुणत्व, शीघ्रगामित्व, पारुष्य, तिर्यग्गमन, शब्द विकृति, स्पर्श विकृति, रजोबाहुल्य, मुहुश्चरण में से किस की स्थिति पाई जाती है। अथवा उसकी क्रियाशक्ति विषम या प्रवृद्ध हुई है, उच्छ्वास में वृद्धि हुई है, मलप्रवृत्ति की स्वाभाविकता में बाधा आई है, मन के व्यापार में विप्रतिपत्ति हुई है, इन्द्रिय उद्योग में बाधा हुई है, धातु व्यूहन में विकृति है, अग्नि विषम बनी है, स्रोतों में अवरोध हुई है आदि वातदोष प्रकोपजन्य शारीरिक परिणाम की ओर भी लक्ष्य करना होगा।

सामान्य वात का विचार करके वात की विकृति का पूरा-पूरा विचार करके फिर वात के पाँचों भेदों की दृष्टि से भी विचार कर लेना होगा। यथा प्राणवायु के प्रकोप में प्राणावलम्बन—बुद्धिधारण—इन्द्रियधारण, मनोधारण, धमनीधारण-व्यापार में विप्रतिपत्ति आ सकती है। ष्ठीवन, क्षवक, श्वासोच्छ्वास एवं अन्नप्रवेश क्रिया में विकार मिल सकता है। उदान के उपद्रव में वाक्प्रवृत्ति-

प्रयत्न - ऊर्जा - बल-वर्ण-स्रोतःप्रीणन, धी-धृति-स्मृति-मनोविबोधन——व्यापार में गड़बड़ी मिल सकती है ; समान वायु के प्रकोप में अग्नि कर्म, पाचन-रसमल विवेचन-स्रोतोऽवलम्बन-अन्नधारण-किट्टाधोनयन कार्यों में बाधाएँ मिल सकती हैं, व्यानवायु के प्रकोप में मांसपेशियों की क्रिया-शक्ति (आक्षेपण प्रसारण, निमेषोन्मेषादि) रससंवहन, स्वेदस्रावण, रक्तस्रावण, जृम्भण, स्रोतो शोधन, शुक्र प्रतिपादन, किट्टसार विभजन, अपतर्पण क्रिया में बाधा पड़ सकती है ; तथा अपान वात के प्रकोप में शुक्र-आर्तव-मूत्र-पुरीष-गर्भ इनके धारण एवं उत्सर्ग कर्म में विकृति हो सकती है।

वात के प्रकोप के विधि कारणों पर भी विचार कर लेना पड़ेगा। जैसे——अति शक्ति व्यय, रात्रि जागरण, कटु-तिक्त-कषाय रस सेवन, शीत-रूक्ष आहार-विहार, अनशन-अध्यशन-विषमाशन, वात-मूत्र-पुरीष-वमन-शुक्र - क्षवथु - उद्गार-वाष्पवेगरोध, दोषातिस्रवण, रक्तातिस्रवण, धातु-क्षय, चिन्ता-शोक-भय-क्रोध, रोगकर्षण, क्रियातियोग आदि में से किसने वात की वृद्धि की है।

फिर वात का किस धातु-विशेष या अंग-विशेष पर प्रमुखता है उसे समझना होगा, कभी-कभी किसी दोष से वात आवृत हो कर कुछ उपद्रव कर देती है उसका भी पृथक्करण करना होगा । फिर प्रवृद्ध वात के विशिष्ट लक्षणों जैसे——वाक्पारुष्य-कार्श्य-कार्ष्ण्य-गात्रस्फुरण-निद्रानाश-गाढवर्चस्त्व - गात्रकम्प-संज्ञानाश-इन्द्रियोपघात-शूल-आध्मान-प्रलापादि की ओर दृष्टिपात करना होगा।

इस प्रकार इन सबका वात दृष्ट्या विचार करके फिर स्नेहन-स्वेदन-अभ्यंग-उपनाह-परिषेचन-संवाहन-बस्ति- प्रयोग तथा ओषधियोग प्रयोग का विचार करना होगा। तब जा कर कहीं वात का शमन होगा। वात-शान्ति के बाद शेष कफ और तमोगुण रोगी की तन्द्रा का नाश कर उसे निद्राभिभूत कर सकते हैं।

९——ऊपर जो वात-शान्ति के सम्बन्ध में विचार किया गया है उससे एक भ्रम यह उत्पन्न हो जाता है कि क्या तन्द्रा वातजन्य विकार है और वात-शान्ति तन्द्रा की पूर्ण चिकित्सा है? इसका उत्तर है—ऐसा नहीं है। तन्द्रा तो श्लैष्मिक रोग है। "तमोवातकफात् तन्द्रा" इस सूत्र के आधार पर तथा "निद्रा श्लेष्मतमोभवा" की तुलना करने पर तन्द्रा और निद्रा में भेद वात-दोष की तन्द्रा में अधिकता से करने के कारण वात का प्रसंग उपस्थित हुआ है। वात-शान्ति मात्र से निद्रा में तन्द्रा की परिणति ही लक्ष्य बनता है। पर यह चिकित्सा रोग के मूलोच्छेद में समर्थ न हो कर केवल लक्षणोपशम ही करेगी। पुनः निद्रा की समाप्ति पर तन्द्रा के कारणभूत दोषों की उपस्थिति पुनः वही प्रकरण उपस्थित हो सकता है। ऐसी अवस्था में तन्द्रानाश का वास्तविक उपचार है चरकोक्त कफावजय की सर्वसामान्य चिकित्सा का उपयोग करना। यथा—

स कटुतिक्तकषायतीक्ष्णोष्णरूक्षैरुपक्रमै - रुपक्रमेत स्वेदनवमनविरेचनव्यायामादिभिः श्लैष्महरैर्मात्रां कालं च प्रमाणीकृत्य ; वमनं तु सर्वोपक्रमेभ्यः श्लेष्मणि प्रधानतमं मन्यन्ते भिषजः, तद्ध्यादित एवामाशयमनुप्रविश्य केवलं वैकारिकं श्लेष्ममूलमपकर्षति तत्रावजिते श्लेष्मण्यपि शरीरान्तर्गताः श्लेष्मविकाराः प्रशान्तिमापद्यन्ते, यथा—भिन्ने केदारसेतौ शालियवषष्टिकादीन्यनभिष्यन्दमानान्यम्भसा प्रशोषमापद्यन्ते तद्वदिति। —च० सू० अ० २०

अतः कटु-तिक्त-कषायादि द्रव्यों से स्वेदन-वमनादि कर्मों से तथा कफघ्न उपायों से कफ का हरण करना होता है। श्लेष्मावजय में वमन कर्म की प्रधानता आयुर्वेद ने विशेषतया स्वीकार की है। तन्द्रा दूर करने के लिए भी कफघ्न इन उपचारों की शरण ली जा सकती है। कफ के अपकर्षण से तथा तमोगुण का ह्रास होने से तन्द्रा का मूल से विनाश हो जाता है। वात का उपद्रव फिर भी रह जाने पर वात-शान्ति की अलग से व्यवस्था करनी पड़ सकती है। एक यह बात भी ध्यान में रखनी होगी कि कफावजय करते समय उन उपचारों को जहाँ तक बने प्रयुक्त न करने चाहिए जो कफघ्न के साथ वातकारक हों। जैसे—रूक्ष औषधाहार-विहार का प्रयोग न करना चाहिए।

१०——नीचे हम उन रस योगों का उल्लेख करते हैं जिन्हें तन्द्रा में वैद्यगण प्रयोग में लाते रहे हैं।

(१) **अग्निसन्निभा वटी**——यह शु० कुचेलक, विडंग, हिंगु, हरड़, त्रिकटु, यमानी, अजमोद, पारसीक यमानी, शु० पारद, शु० गन्धक से बनती है। इसके सम्बन्ध में टोडरानन्द में लिखा है—

सा सेविता हन्ति कफप्रसेकं
तन्द्राग्निसादस्वरभेदमाशु।
आध्मानशूलोदरकासहिध्मा
वमिक्रमीन्नाशयति प्रसह्य।

यह योग वात एवं कफ दोनों पर विजय प्राप्त करने का सामर्थ्य रखने से तन्द्रा पर अच्छा कार्य करता है।

(२) **धनुर्वातभञ्जन रस**—यह योग शु० तुत्थ, शु० गन्धक, शु० हरताल, शु० मनःशिला, शु० स्वर्णमाक्षिक, शु० पारद, शु० जायपाल, शु० वत्सनाभ, शु० टंकण, नारियल समभाग लेकर कृष्णसर्प एवं रोहूमत्स्य के पित्तों की ७-७ भावना दे कर बनाने पर ताम्र की कूपी में रखते हैं। इसका प्रयोग सिरके बालों के नीचे त्वचा में सूची प्रवेश द्वारा करते हैं। यह एक आयुर्वेदीय इंजेक्शन है। यह संन्यास (coma), दन्तबन्ध (lock jaw), सर्वांगशैत्य, उन्माद, शृंखलावात, स्मृतिनाश, त्रिकग्रह, मोह के साथ तन्द्रा को दूर करता है।

(३) **नृपतिवल्लभ रस**—यह "भैषज्यरत्नावली" का नुस्खा है। यह तन्द्रा, आलस्य, भ्रम, क्लम सभी को दूर करता है। ग्रहणी या अतिसार के साथ होनेवाले उपद्रवों में तन्द्रा होने पर उपयोगी है।

(४) **पीयूषसिन्धु रस**—यह अर्श-प्रकरण का रस है इसमें पारद, गन्धक, मोती, तुत्थ, कान्तलोह, ताम्र, कांस्य, रजत, नीलम, स्वर्ण, हीरक, माक्षिक, माणिक्य, राजावर्त, रीति, वंग, नाग तथा अनेक वनस्पतियों (भल्लातक, बेर, स्नुही, पाठा, पिप्पलीमूल, सूरण, दन्ती, मुण्डी, मकोय, कलिहारी, भांगरा, अर्क, चित्रक, त्रिकटु, राई) की भावनाओं से बनाते हैं। यह अर्श, प्रमेह, शूल, पाण्डु, क्षय, प्लीहा, हिक्का, रक्तपित्त, कुष्ठ, कामला तथा सब प्रकार की तन्द्रा पर अद्भुत कार्य करता है। यह योग प्रयोगार्ह है।

(५) **भास्करामृताभ्र रस**—यह 'भैषज्यरत्नावली" के अम्लपित्ताधिकार का योग है। यह विविध ओषधियों की भावनाओं से बना सहस्रपुटी अभ्रक है। यह अम्लपित्त, वमन, हृद्ग्रह, कामला, दाह, विस्फोट, भ्रम, कुष्ठ, शोथ, श्वास, के साथ तन्द्रा को दूर करता है।

(६) **मदनसंजीवन रस**—यह "रसरत्नसमुच्चय" का योग है, जो तन्द्रा की अपेक्षा मोह को दूर करने में प्रयुक्त होता है। यह पित्तशामक योग है।

(७) **रोगमुरदलन रस**—यह वातव्यधि एवं कफ-जनित रोगों के नष्ट करने में बहुत काम करता है। इसमें स्वर्ण, रजत, ताम्र, गन्धक, पारद, चित्रकमूल-स्वरस, पंचपित्तों का उपयोग होता है। यह सन्निपातों में उत्पन्न होनेवाली तन्द्रा पर प्रयुक्त होता है।

(८) **बृहत्विद्याधराभ्र**—यह "रसेन्द्रसारसंग्रह" का योग है। इसमें गन्धक, पारद, अभ्रक, लोह भस्म, त्रिफला, त्रिकटु, त्रिमद, दन्ती, त्रिवृत्, आखुपर्णी, पिप्पलीमूल का उपयोग होता है। यह वातनाशक है। शूलाधिकार में प्रयुक्त हुआ है। इसे "कार्श्यं वैवर्ण्यमालस्यं तन्द्राऽरुचिविनाशनम्" कहा गया है।

(९) **विषनाशन रस**—यह विष के कारण उत्पन्न तन्द्रा में बहुत उपकारकसिद्ध होता है। इसे पारद, गन्धक, रसांजन, तुत्थ, सोमल, हरताल, नवसादर, त्रिकटु, शुद्ध गुंजा, जातीफल को स्नुही एवं अर्क दुग्ध के साथ भावना दे कर बनाया जाता है। यह पागल कुत्ते के काटने से उत्पन्न उपद्रवों पर काम करता है, वातव्याधि, कुब्जता, पाण्डु, उन्माद में भी कार्य करता है।

(१०) **शंकर लोह**—यह "भावप्रकाश" का योग है। अर्श-प्रकरण में इसका वर्णन किया गया है। इसके बारे में लिखा है—

हन्ति वातं तथा पित्तं कुष्ठानि विषमज्वरान्।
गुल्माक्षिपाण्डुरोगांश्च **तन्द्राऽऽलस्य**मरोचकम् ॥

(११) **सन्निपातभैरव रस**—"रसयोगसागर" का नवम योग सन्निपातों में उत्पन्न तन्द्रा को दूर करने के लिए प्रयुक्त किया जाता है। यह हिंगुल, पारद, स्वर्ण, लोह, ताम्र, अभ्रक, वंग, नाग, मुक्ता, प्रवाल, माक्षिक, कंकुष्ठ, मनःशिला, वत्सनाभ, गन्धकादि से निर्मित सुन्दर प्रयोग है।

(१२) **सर्वतोभद्र रस**—"रसयोगसागर" का द्वितीय योग—पारद, गन्धक, मनःशिला, अभ्रक, ताम्र, लोह, तुत्थ, हरताल, नाग, हिंगुल, वत्सनाभादि से निर्मित योग है। इसके निर्माण में जयपाल, भाँग, भृंगराज, पित्तादिकों की भावनाएँ देनी पड़ती हैं।

यह योग तन्द्रा-मोह-विसंज्ञता, धनुर्वात, वातव्याधि, दन्तबन्ध, अपस्मार को दूर करता तथा नेत्रों में आँजने से विसूची को भी दूर करता है। यह बड़ा चमत्कारी योग है।

(१३) **सिद्धदरदामृत**—यह "रसयोगसागर" में वर्णित हिंगुल का प्रयोग है। यह बाजीकरण है, उरुस्तम्भ आमवात, अतिसार, पक्षबध, शीतांगता, तन्द्रा, प्लीहा-विद्रधि, यकृद्वृद्धि, षण्ढता को दूर करता है।

(१४) **स्वच्छन्दभैरवरस**—यह "रसेन्द्रसारसंग्रह" का योग है। इसमें शुद्ध पारद १, शुद्ध गन्धक २, सैन्धव २, ज्वालामुखी या निर्गुण्डी के स्वरस में ५ दिन घोंट मूषा में

रख मध्यम पुट दे कर एक रात्रि पीछे निकाल कर ३ रत्ती की मात्रा में प्रयोग करते हैं। यह योग ग्रहणी, कास, श्वास के अतिरिक्त मन्थर ज्वर की तन्द्रा में या तान्द्रिक ज्वर में एवं ज्वर की उन अवस्थाओं में जहाँ निद्रा ठीक-ठीक नहीं आती खूब कार्य करता है--लिखा है--"उग्रासु ज्वरतन्द्रासु स्वल्पनिद्रासु योजयेत् ।"

११--विविध रोगों में जहाँ तन्द्रा एक रोग लक्षण करके देखा जाता है वहाँ किस अवस्था में कौन ओषधि देनी चाहिए इसका उल्लेख किया जाता है। जिन योगों का उल्लेख किया जा रहा है वे "भैषज्यरत्नावली" के विभिन्न प्रकरणों में देखे जा सकते हैं--

क--ज्वर--

(१) सन्निपात या मन्थर ज्वर में तन्द्रा होने पर **असुरविडंजन** से आँजते हैं।

(२) सन्निपात में तन्द्रा, तृष्णा और दाह साथ में हों, तो **चक्रीरस** का प्रयोग करें।

(३) मन्थर ज्वर के साथ तन्द्रा में **दशमल क्वाथ** भी लाभ करता है।

(४) वातकफज्वर में अति तन्द्रा हटाने के लिये **दशमूली क्वाथ** देते हैं।

(५) सन्निपात ज्वरों में तन्द्रा साथ होने पर **भूनिम्बाद्यष्टादशांग क्वाथ** भी दिया जाता है।

(६) तन्द्रा दूर करने के लिए **मोहान्धसूर्यरस** की नस्य भी दी जा सकती है।

(७) पैत्तिक सन्निपात की तन्द्रा में शट्यादि वर्ग लाभप्रद सिद्ध होता है।

(८) अभिन्यास सन्निपात के साथ तन्द्रा होने पर **शृंग्यादि क्वाथ** काम करता है।

(९) सन्निपात ज्वरों की तन्द्रा के निवारणार्थ **षड्ग्रन्थ्यादि नस्य** अथवा **सैन्धवादि नस्य** विशेष लाभकारी देखी गई है।

ख--अतिसार-ग्रहणी--

(१) **महाभ्र वटी**--"सकले श्लेष्मले गदे" कहा गया है, अतः यह ग्रहणी के साथ तन्द्रा नामक श्लेष्म रोग होने पर प्रयोक्तव्य है।

(२) **श्रीनृपतिवल्लभ रस** का प्रयोग अनेक उपद्रवों के साथ "ज्वरंजीर्णं तथा तन्द्रामालस्यं च भ्रमं क्लमम्" के होने में भी किया जा सकता है।

प्रो० आयुर्वेद महाविद्यालय,
जामनगर

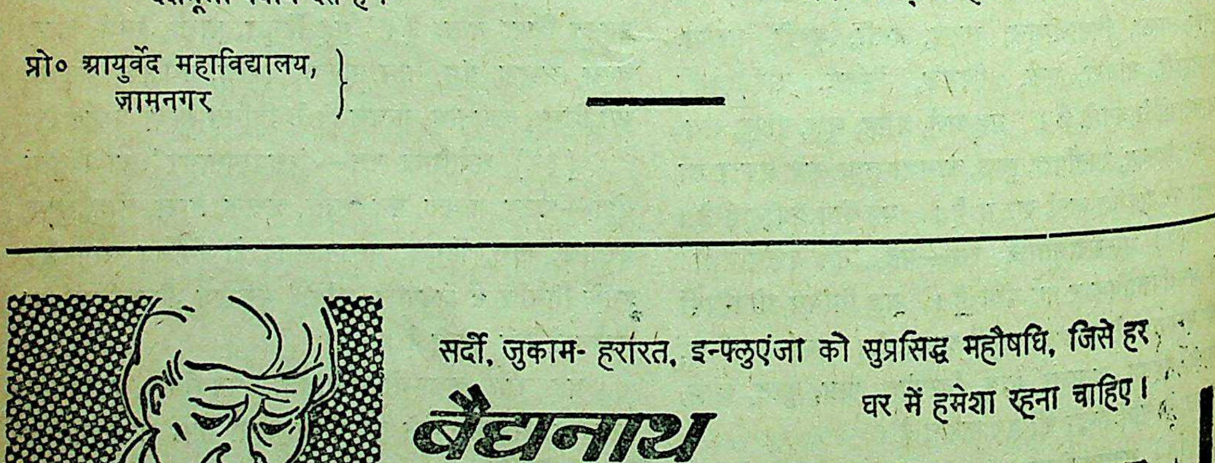
सर्दी, जुकाम- हरारत, इन्फ्लुएंजा को सुप्रसिद्ध महौषधि, जिसे हर घर में हमेशा रहना चाहिए!
बैद्यनाथ
लक्ष्मीविलास रस
(नारदीय)
SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD.
CALCUTTA

Research in Ayurveda

A DIVE INTO THE CAUSES OF PULMONARY TUBERCULOSIS

(A clinical study of 100 patients)

By

Dr. Vinayak Rao Bapat

It is established by the modern science that the cause of tuberculosis is the Tubercle bacilli. Ayurveda has gone further still and found certain other causes, which favour the growth and multiplication of the bacilli in the human body to such an extent as to cause tuberculosis. They are vega rodha (वेगरोध), over exertion (साहस), irregularity in food (विषमाशन) and wastage of Sukra and Ojas (क्षय). Modern Science does not refute this. On the contrary, it also accepts that low resistence due to several causes like the above assist the *growth* and development of the bacilli and thus of tuberculosis. It has been found out by tuberculin test, that a large number of the population are tuberculin positive, but still they do not exhibit any of the symptoms of tuberculosis, either radiological or otherwise. It has also been found out by repeated examinations that nurses, ward-boys and medical students who work in a tuberculosis sanatorium for a couple of months become tuberculin positive, though they were negative before. Tuberculin-positive, is no proof of the presence of the disease in the individual. It only indicates that the person under test carries in his tissues tubercle bacilli, which are latent and harmless. It may produce a sort of immunity in him towards tuberculosis, or the bacilli may multiply and cause the disease when it finds a fertile soil in the body of the person at any future date. Both Ayurveda and Allopathy agree at this point.

Ayurveda pays greater attention to the convertion of the soil in the human body as the main and important factor for the causation of the disease, or its cure. Though Allopathy accepts this principle in the causation of the disease, it lays greater stress on the bacilli, This slight difference is immaterial. It is like 'Beeja Vruksha Nyaya' (वीज-वृक्षन्याय) whether the tree was first born or the seed. The presence of one is impossible without the other and viceversa. Thus it is wise not to quarrel or go on discussing whether the soil is important or the seed (bacilli), when it is clear that even a selected and well grown seed cannot germinate if sown in a rocky or a fertile soil and that it requires fertile and favourable soil to germinate and grow well.

As a part of clinical research in tuberculosis in which the author is engaged from last 13 years, it was decided to collect some clinical data of atleast 100 patients and the work was completed recently and the findings are given below, which gives a clue to understand the Ayurvedic standpoint better, both by Ayurvedists and the Allopaths, especially by those who are interested in Tuberculosis. The author is aware that no conclusions could be arrived at by a study of 100 patients only, but he believes that the present study will give a clue in support of the Ayurvedic standpoint, and with an elaborate and extensive study of thousands of patients, some definite conclusion could be arrived at. This requires Expand patronage and team work by a number of scientists in different parts of the country and in different environments (Jangala, Anupa and Sadharana deshas).

We shall now discuss in brief the four factors which are the causes of tuberculosis according to Ayurveda.

साहसं वेगसंरोधः शुक्रौजः स्नेह संक्षयः ।
अन्नपान विधित्यागः चत्वारस्तस्य हेतवः ।।

—*Ashtanga Hridaya*

Sahasa or over-exertion includes excessive manual labour, wrestling, swimming, doing physical feats, singing, lecturing, jumping etc.,—all in excess in proportion to one's physical ability : Defaecation, micturition, flatus, cough, hunger, thrist, sleep, sneezing, yawning. Erectation, deep breathing, sexual urge, tear, these 13 are called Vegas, or the natural sensations produced by the body tissues, either to expell the waste products or to receive their requirements. By curbing these vegas the waste products are forced to remain in contact with the mucous membrane for unduly long periods and are therefore reabsorbed and recirculated through the blood and lymph. By curbing hunger, thrist, sleep etc., the natural requirements are not fulfilled. Excessive sexual intercourse, un-natural methods of sexual enjoyment and the mental states like excessive grief, worry sorrow etc., cause wastage of Sukra and Ojas. In Ayurvedic texts tuberculosis is termed as '*Jayanya*' roga meaning a disease caused by excessive sexual enjoyment. जायान्यं निरन्तरम् । जाया स्त्री सम्भोगेन जायमानं क्षयरोगम् ।। The last but not the least is irregularity in food or Vishamashana. Several rules are laid down with regard to our daily food. The violation of these rules come under Vishamashana. A few examples may be cited. Partaking food at irregular intervals, mixing incompatible articles in our food, eating foods to which one is not accustomed eating in excess or in too small a quantity, drinking liquids when one is hungry, eating food when one is thirsty, lack of proper nourishing articles in our food etc. are all included in this category. All the above causes, disturb the equilibrium of the three doshas in the body, which now begin to flow in abnormal directions, gradually vitiate the gastric fire and the tissue fires, inturn and obstruct the srotas as a result of which the tissues are ill nourished. Thereby is created a fertile and favourable soil for the multiplication and growth of the tubercle bacilli, resulting in Tuberculosis.

Thus the above four factors act as the cause of tuberculosis. For further detailed explanation of each of the above four factors, the reade are requested to refer the 'Tuberculosis Numb of 'Ayurveda' Karkala 1955. by the sa author.

The persistent presence of the above cau should give a clue in our diagnosis. Th Ayurvedists of the past have by their keen a minute observation found out that certa special symptoms present themselves just befo the onset of the disease or in the early sta which is termed as Poorva Roopa. The pre sence or otherwise of these symptoms also ass in our diagnosis. An extract of the clinic findings of the above factors, along with so other necessary details is given below.

Causes :	50 *Pts.* *Male*	50 *Pts.* *Female*	*Tot*
1. *Vega Rodha*	19	13	32
2. *Sahasa*	19	10	29
3. *Vishamashana*	19	6	25
4. *Kshya of Sukra Ojas*	24	19	43
a) Grief only	5	11	16
b) Disease started during confinement	0	16	16
c) *Madhu Meha*	0	2	2
Causes not traceable	9	20	29
Premonitory Symptoms :			
Pratishaya (coryza)	28	25	53
Excessive growth of nails and hair	19	27	46
Dreams	6	28	34
Exhaustion at food time	11	28	29
Irritability	2	18	20
Other factors :			
Positive sputum	37	34	71
Negative sputum	13	16	29
Unilateral	20	21	41
Bilateral	30	29	59
Contact or Heredity	3	3	6

Remarks :

Several minor details and other points of interest could not be collected due to some practical difficulties and circumstances. So also an important factor under the cause-Kshaya, namely the number of sexual intercourses in a month and other relevant details before the onset of the disease, in female patients could not be collected. During the practice of 20 years it has come to the knowledge of the author that many ladies are more strained due to excessive sexual intercourse, either for the compulsion of the partner, or of their rustic nature (in some) or both. The mental conditions like excessive grief, worry, sorrow, etc., act as causes of *Oja Kshaya*. These are more in the female patients than in males (11 and 5). In 16 patients the disease started during confinment when there is much loss of blood nervous strain and general weakness which also could be included under 'Kshya' cause. Out of these 16, only 6 gave history of *Oja Kshaya* like grief and sorrow. Ten cases who did not give any history of grief or sorrow, and in whom the disease actually started during confinement are not included in the number 19 of *Kshaya* though it could be done so, in which case the number goes up to 43+10=53 out of 100, which is a great number even without the figure of excessive sexual indulgence in the female patients. Three patients have given a history tracing the onset of the disease, after the death of near relatives (grief) and this is included under kshaya. In the original text it is stated that the tuberculous patient develops an increased sexual desire as a premonitory symptoms. But in the series of 50 male patients none gave this symptom and this could not be collected in the female group.

Due to the civilised habits and social discipline, every person will have to curb the calls of nature to some extent. While collecting this data a clean margin has been allowed to this and only such persons who are habituated to such curbing for years together has been recorded. So also in *vishamashana* (irregularity of food), persistent and routined irregularity in the time of taking food, fasting due to financial situation, have only been recorded in this category. Other details of *visaamashana* are not entered into. Under *sahasa* (over exertion), it is not possible to fix up a limit for the physical exertion which could be taken as a normal limit in general, as the patients came from all walks of life with different constitutions. A simple rule was followed, depending mainly upon the version of the patient. The patients who reported that they were feeling exhausted after the day's labour are included in this category. Some patients who were working as coolies, doing heavy manual labour, but who did not report any exhaustion after the day's labour, are excluded from the list.

Premonitory systems :

An earnest attempt is made to collect all the details carefully. But due to the difficulty of the language and other unavoidable reasons minor details could not be collected in several patients.

Pratisyaya (frequent attack of cold) :

Patients who used to have frequent or regular attacks of *pratisyaya* (coryza) once in a month or fortnight or earlier are included in the list. Those who get an attack once in a way or during seasonal changes are not included. *Pratisyaya* appears to be a prominent premonitory symptom (53 out of 100). It is the opinion of some of the doctors at Bangalore, supported by personal experience of the author, that in this climate repeated attacks of cold is common. The high figure may be due to the above fact also; but it needs further clarification with a study of the statistics collected from other areas. 'A history of Influenza in the recent past may, in fact, mark the beginning of a tuberculous lesion' says Dr. Walter Pagel in his book 'Pulmonary Tuberculosis'. This clearly tallies with the Ayúrvedic vision.

Nakha Vriddhi (extra growth of the nails) :

Next in order, comes *Nakha Vriddhi*, which ia as high as 46 in 100. This is also seen in Meha Roga (urinary diseases) which can be differentiated easily. Some intelligent patients have observed this symptom a couple of months prior to the onset of tuberculosis, but are not sure of the date of observation. All the patients have this symptom even to the present day.

Swapna (dreams) :

It is a point to be considered whether this symptom could be relied upon, as it is seen in various other conditions which is difficult to differentiate. Ayurvedic texts have said that several types of dreams are seen by the patients, the prominent ones being, seeing water reservoirs dried up, forests burning, cities emptied, flying about in the sky seated on various birds etc. 34 patients have reported that they are seeing similar dreams but not actually the ones pointed above. All of them see water reservoirs filled up but not dried up. They see huge burning fire but do not remember whether it is the forest burning or anything else. They fly about in the sky in their dreams but not seated on birds but on aeroplanes. The remaining dreams are not seen by any body. It is of interest to note that it is usually the female patients who see such dreams (28*f*; 6*m*).

Only a negligible number of patients have Mukha Madhurya (sweetness in Tongue).

Annakale Ayasaha (exhaustion at meals time) :

Almost all the patients noted under this category report they have a sensation of palpitation of the heart along with exhaustion and a sort of anxiety at the time of food.

Kopa (irritation) :

This has become a prominent symptom in the patients of this group. In some patients it is increased and in the remaining it has started afresh. All the patients have the knowledge that they have become irritable after the onset of the disease. This is more in female patients than in males. (18*f*; 2*m*).

All the above symptoms are noticed by the patients, not before the onset of the disease but only as a symptom of the present disease.

Other factors need no explanation as they are self-explanatory.

Symptoms :

Since the symptoms are almost common in all the patients and since it was not possible to collect minor details on this point, only general information is recorded. Pain, low fever, cough, dyspnoea, weakness, emaciation and loss of weight, are the common symptoms, with haemoptysis in some patients. Pain and burning in the shoulder region as mentioned in some Ayurvedic works were not seen even in a single patient. Burning of the hands and feet was also rare, except when there was a rise in temperature. It needs further study and investigation to understand the correct significance of 'अंसपार्श्वाभितापश्च सन्ताप: करपादयो:' The interpretation and explanation from scholars on the above quotation will be gratefully received.

Suggestive inferences :

An extensive study of a large number of tuberculous patients and collection of statistics regarding the above four causes and premonitory symptoms etc., are likely to throw more light so as to arrive at a conclusion on the following points as may be tentatively inferred from the above study of 100 patients.

The four factors (*Vega Rodha, etc.*, mentioned above) are the basic causes which create a suitable soil in the human body both for the vitiation of the three *doshas*, and also for the multiplication and development of the Tubercle bacilli so as to cause Tuberculosis in the individual. **If this fact is proved and established by extensive study and collection of statistics in thousands of patients, it will be helpful in chalking out a suitable programme for treating the disease and preventing it.** The main drawback in our present method is that the above factors are completely neglected and our aim is, at killing the Tubercle bacilli in the human body. For this purpose stronger and stronger poisons are being invented and it has been found by experience that the bacilli are developing resistance to our stronger antibiotics. At the same time we are completely neglecting the importance of educating our patients and the public on the scientific (and simple) method of living, by following the principles laid down in Ayurveda and thereby help to improve their general health and natural resistive power towards all diseases and invasions of bacilli. Our further study on these points is likely to open the eyes of the scientists towards the sound theory of Ayurveda and the necessity of strict adherence to the hygienic principles laid down by it, as specially suitable to the Indian climatic and social conditions. It may, here, be noted that in western countries, the general health and natural resistive power of the whole population is increased and maintained at a high level through education and organised social welfare institutions. This factor is completely neglected in our country. We are allowing the causative factors (as said before) to increase and thus undermining our health and are only trying to plaster the patches superficially as they occur. This needs sympathetic consideration by our scientists.

Observations by Dr. Walter Pagel in his book "Pulmonary Tuberculosis" closely resembles the Ayurvedic standpoint of the causative factors and predisposing symptoms.

Ayurveda considers Sahasa or over exertion as a cause of Tuberculosis. It also says that it may result in injury of the chest (उर:क्षत) which, in turn develops into Tuberculosis. Pagel writes, 'Injury may be a factor in awakening a latent tuberculous leison of the lungs, this is particularly true if the injury affects the chest. Investigation has shown that trauma can cause an haemorrhagic destruction of quiest foci with possible liberation of Tubercle bacilli. 'He also says that strenuous occupations lower the resistive power and favour the development of Tuberculosis.

'Defective nutrition may be a factor which provokes the onset of Tuberculous disease some individuals'. This may be compared with Vishamashana or irregularity in food.

'Wittkower has further explored the more difficult question of the psychology of the patient as a causative factor in the onset of Tuberculosis. It would appear that persons of certain mental type are more likely to develop tuberculosis. This may be compared with excessive grief, sorrow, worry etc. as explained under 'क्षय' as a cause.

Allopathic doctors have not yet paid their attention towards sexual enjoyment in excess and *Bega Rodha* as causes which lower the general resistive power and thus creat a favourable soil for the growth of the Tubercle bacilli. A sympathetic and impartial study of Ayurveda will surely show them light for further work, as Ayurveda is a great mine of medical knowledge which is yet to be explored.*

Dr. Vinayak Rao Bapat
North End Hotel
8th cross Makeshwaram
Benglore-3.

---

* The author is indebted to Dr. V. B. Naidu M.B.B.S., T.D.D. (Wales) for his sympathy and kind suggestions.

बैद्यनाथ च्यवनप्राश
सदा, सबके लिए सेवनीय पौष्टिक रसायन

SURGERY IN AYURVEDA

By

Netracharjya—SHRI JADU GOPAL GOSWAMI.

Now-a-days, common people will generally be found to remark that operations and treatment of surgical cases (General surgery as well as Eye-Ear-Nose+Throat surgery) are not possible by Ayurvedists through Ayurvedic principles.

This shows their ignorance in the subject no doubt, but they are not alone to be blamed for this. This is mainly because Ayurvedists have given up their culture and practice in surgery and also E.N.T. Surgery (शल्य एवं शालाक्य) and purely have centralised their practice only on Kaya-chikitsa (काय-चिकित्सा).

As a lover of Ayurveda, I am trying my level best for the last twenty six years, to revive this neglected part of Ayurveda i.e. Surgery and E.N.T. Surgery. Having some practical experience in the subject I can humbly say that the brilliant students of Ayurveda with greater interest and proper practical training in hospitals, if sincerely and boldly proceed even in this long neglected subject, they will surely be able to revive the lost glory of Ayurveda within a few years. I have been able to make this statement on the basis of my strong practical experience.

At present, state-favoured and therefore to say fortunate Doctors (Allopaths) are enjoying greater advantages and privileges, depriving us of our proper share, only by throwing false blame upon us that we have no surgery, midwifery and other surgical treatment.

In case we succeed in showing our skill in surgery, midwifery, eye-surgery etc., we will surely be able to give new things to our present world & surely, we shall be able to regain our lost prestige in the medical field.

We have better medicines and successful methods in our treasury but the only thing that we need is sound knowledge with practical experience.

To encourage our Ayurvedic students I am briefly mentioning here a case of operation performed by me even with some risk.

Discription—It was a case of Amputation (अंगच्छेदन).

Patient's name—Manghylal; age 6 years.
Father's n ame—Dhiraj.
Address—Sitarambazar, Delhi.

Case—Spreading sinus (with caries bone) in the fore-finger (left hand).

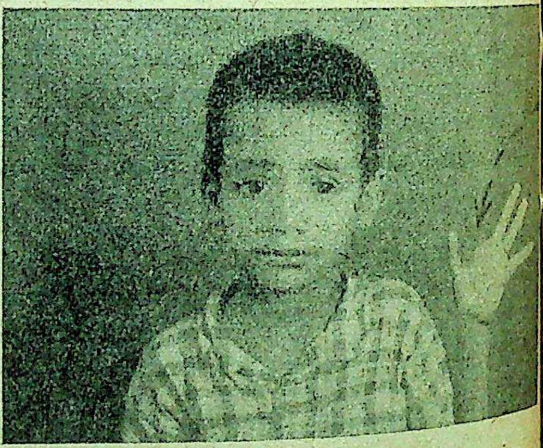

बायें हाथ की तर्जनी आयुर्वेदीय रीति से शल्य-क्रिया द्वारा काटी गयी है।

The patient once came to our hospital about a year back, before the date of operation. After careful examination, I advised the patients' father to have his son's fore-finger amputated. I also advised them that if it is not done earlier the harm may be greater and the whole fore finger may be amputated.

After that he was taken to many other hospitals at Delhi for consultation and got the same advice of amputation.

In this way they delayed about a year and the sinus in its own way affected a greater part and now the whole fore-finger was to be amputated.

The father of the patient out of great faith requested me to operate the case and to do the other needful.

Having no indoor bed at that time, I was put in great difficulty for such a major operation. Though it was more risky to do the operation in the outdoor department, yet I was not disheartend and arranged for operation.

A light purgative was given one day before the operation. A small quantity of light and soothing diet of rice and milk was given in the morning of the very day fixed for operation.

After the outdoor period the patient was placed over the operation table.

According to our Western colleagues amputation, is a major operation and is generally done under chloroform. Operation under chloroform is more risky for an Ayurvedic practitioner at present. Moreover, I had no expert assistant to help me, so I had to give up that way. I began to proceed in my own way following the Ayurvedic principles.

Patient's father was allowed to stay near his head, to talk with him and to encourage him all the time under my direction, so long the operation was not completed.

A big sterile towel was hanged across his chest so that he may not see anything about the operation.

Three dishes full of sweetmeats of various colours and sizes were kept on a small table just in front of the patient to encourage and divert the child's mind.

A tight ligature was given just above the place chosen for incision. A strong solution of spirit and opium was applied over the part for about 15 minutes.

An incision was given over the skin around the metacarpo-phalangial junction of the fore-finger (left) safely with a sharp scalpel (वृद्धिपत्र शस्त्र) by diverting the patient's mind uttering some encouraging words such as "give Manghylal three big sweetmeats."

In this way having conversation with his father and giving sweetmeats one after another and uttering some interesting and encouraging words the amputation of his fore-finger was smoothly done within fifteen minutes. (The whole fore-finger with all its phalangs was separated at the metacarpo-phalangial junction.)

Bleedings from arteries and veins were stopped with artery forceps (सनिग्रह सन्दंश यन्त्र). After the separation of the fore finger, the bleeding arteries and veins were ligatured with catgut. The two margins of the skin over the wound were stitched together with the sterile silk thread (क्षौम सूत्र).

A piece of sterile cloth (Bikesika) soaked in the solution of ghee and honey was placed over the wound and usual bandage was applied with bikesika (gauze) and kabalika (pad) following all Ayurvedic principles. His left hand was kept at rest by hanging his fore-arm to his neck with a triangular piece of cloth.

As there was no indoor bed at that time so the patient was kept under observation for about six hours and afterwards was allowed to go home with his father, under necessary instructions.

The bandage was opened on the 3rd day and the wound was found in good condition. The wound was cleansed and a piece of sterile cloth (Bikesika) soaked in Nirgunditail and Sauvagya churna was placed over the wound and usual bandage was applied, on the 5th day the bandage was again changed as before. On the 7th day stitches were removed and usual bandage was applied with Nirgunditail and Sauvagya churna.

Such bandage was continued for another four days and the patient was perfectly cured within eleven days.

(शेषांश १३५ पृष्ठ पर)

रक्तपुनर्नवा

वैद्याचार्य उदयलाल महात्मा

नैसर्गिक वर्ग—

(पुनर्नवादि वर्ग)

नाम—

हिन्दी–लाल सांठ, लाल पुनर्नवा, गदह पुरना। संस्कृत–रक्त पुनर्नवा, शोफघ्नी। राज०–सूरसाठी। बं०–गादापुण्या। म०–घेठुली। गु०–राती साटोडी। कच्छी–रफेडी। ता०–मुकरत्ति-किरेरी। तेलगू–पुनर्नवा। अ०–हन्दकूकी। फा०–इस्पिस्त सहराई। ले०–बोर्हेविया डिफ्यूज़ा (Boerhavia diffusa)।

उत्पत्ति स्थान—समस्त भारतवर्ष।

वानस्पतिक वर्णन

यह बहुवर्षायु प्रसारिणी लता जाति की वनस्पति है।

बोर्हेविया वानस्पतिक कौटुम्ब में ८३ प्रकार है और ५ जातियाँ हैं।

(१) Boerhavia verticillata—क्षुप के चारों ओर गोल गुच्छ बना हुआ। इसके पात १।। से २।। इंच लम्बे (चौड़ाई से अधिक), पत्रवृन्त छोटा (१/८ से १/२ इंच लम्बा), पुष्प गुच्छों से सज्जित, लम्बी कलंगी के छत्र में २ से ३ फूल, पुंकेसर ३, सामान्यतः सफेद। यह वर्टिसिलेट जाति राजस्थान में अधिक होती है।

(२) Boerhavia diffusa (रक्त पुष्पा पुनर्नवा) डिफ्युज़ा जाति लगभग भारत के सब प्रान्तों में मिलती है। यह कंकरीली, सख्त जमीन में अधिक पाई जाती है। पुष्प लाल, अति छोटे लगभग छत्राकार। पुंकेसर २ से ३। पात १/२ से १/२ इन्च लम्बे। प्रत्येक जोड़ी के पात अति असमान; पुष्प लगभग प्याली के सदृश गुलाबी या लाल होते हैं। इसके क्षुप लाल रंग के होते हैं। डंडी और शाखाएँ बारीक सूतली जैसी पतली और लाल होती है। पत्ते चौलाई के समान लम्बे, छोटे, अणीवाले और बिना अणी के गोलाई लिए हुए ऊपर हरे, कहीं गहरे हरे, कहीं लाल वर्ण के और नीचे हल्के सफेद या ललाई लिये हुए रंग के, चिकने और रसयुक्त १/२ से १ इंच के। कहीं-कहीं उससे कुछ विशेष लम्बाई में होते हैं। पात के किनारे कहीं-कहीं कोणात्मक होते है। पत्र के कोने से पुष्पदण्ड निकलते हैं और उस पर गेंद या छाते की मानिन्द हल्के गहरे गुलाबी या लाल रंग के छोटे-छोटे फूल पास-पास होते हैं। पुष्प प्रातः काल खिलते हैं। फल—सूक्ष्म-गोल-कृष्णाभ। मूल सफेद होता है। मूल गाजर के समान आसानी से बीच से टूट जाता है। इस जाति के मूल में से दूध जैसा गाढ़ा रस निकलता है। वास मन्द और कड़वी-सी, स्वाद पहले मधुर-सा फिर फीका; इसके चबाने से जिह्वा कांटेदार बनती है और गला चीरता-सा मालूम होता है। यूनानीमतानुसार यह पुनर्नवा की जंगली जाति है।

(३) Boerhavia repanda रेपण्डा जाति के पात प्रत्येक जोड़ी में लगभग समान, १ से ३ इंच लम्बे, त्रिकोणाकार अण्डाकार, लगभग गहरे तरंगदार किनारेयुक्त, पत्रवृन्त आधा से १।। इंच लम्बा। पुष्प छत्राकार रचना में, गुलाबी लम्बी सलाका पर। छत्र में ३ से ८ फूल होते हैं। यह जाति गंगाज़ी के तट पर बलूचिस्तान और पश्चिम घाट में मिलती है।

(४) Boerhavia rapens क्षुप की शाखें लाल होती हैं।

उपरोक्त चिकित्सा में काम आनेवाली चार जातियों का वर्णन किया है। बोर्हेविया समूह में बाह्य और अन्तर का आवरण (वाह्यान्तरकोष—Periantl) समान आकार और सम मुलायम होते हैं।

आयुर्वेद मतानुसार वर्णन

अपरा क्षुद्र वर्षाभू रक्तपुष्पा शिवाटिका।
कठिल्लको वर्षकेतुः क्रूरको रक्तवृन्तकः ।।
(कै० नि० श्लोक ६६१)

पर्याय—क्षुद्र वर्षाभू (श्वेत की अपेक्षा क्षुद्र), रक्तपुष्पा (लाल फलोंवाली), शिवाटिका (कल्याण कारक),

क्रूरक (कटु, तीक्ष्ण), रक्तवृन्तक (लाल डण्ठल वा डण्डी वाला)।

रक्ता पुनर्नवाऽप्युक्ता शोथघ्नी रक्तपत्रिका।
रक्तकाण्डा वर्षकेतुर्वर्षाभूः प्रावृषायणी ।।
(शा० नि०)

विद्वानों की सम्मति

डाक्टर देसाई एवं मद्रास और बंगाल के कविराजों ने बोर्हेविया जाति को सच्ची पुनर्नवा माना है। डॉ० घोष ने मेटेरिया मेडिका में रक्त पुनर्नवा (बोर्हेविया डिफ्यूज़ा) को सबल मूत्रल मान कर जलोदर, शोथ, यकृद्दाली और काला आजार में हितकारक लिखा है।

निजीमत—अनुभव में आया है कि शोथादि रोगों को नष्ट करने में अद्वितीय रक्त पुनर्नवा ही है जिसका कि ऊपर वर्णन और साथ में चित्र है। पुनर्नवाष्टक, पुनर्नवादि चूर्ण, पुनर्नवासवादि में इसी रक्त पुनर्नवा का उपयोग करना चाहिए। श्वेत पुनर्नवा (Trianthema Porteelacastrum Linn) ही वास्तव में विष खपरा है इसका प्रयोग विषनाशक और नेत्र विकारों पर करना चाहिए। जैसी कि शास्त्र की आज्ञा है। इन रोगों में प्रथम वर्णित रक्त-पुनर्नवा खास कार्यकारी नहीं है।

भेद—रक्त पुनर्नवा के अलावा शास्त्र में (२) श्वेत-पुनर्नवा और (३) नील पुनर्नवा का भी वर्णन है, परन्तु नील पुनर्नवा वर्त्तमान में नहीं देखा गया।

(२) **श्वेत पुनर्नवा—नैसर्गिक वर्ग**—Ficoideac (फिकोइडिई) **क्षारसादि वर्ग।**

नाम—हिं०—विषखपरा, सफेद पुनर्नवा ; सं०—श्वेत पुनर्नवा, दीर्घ पत्रिका ; बो०, पं०, राजस्थानी—विषखपरा ; बं०—श्वेत पुण्या ; म०—नर्मा, खापरा ; गु०—सफेद साटोडी ; फा०—दब्बअस्पत ; अ०—जिन्दकूका, गन्दकोका ; ता०—शारुननाई ; ते०—गलीजेरु ; क०—मुचो हुगोनी; अं०—Spreading hogweed, लें०—Trianthema Porteelacastreem Linn

उत्पत्ति स्थान—समग्र भारतवर्ष।

वानस्पतिक वर्णन—बहुवर्षायु लता जाति की वनस्पति है।

ट्रायेन्थेमा वनस्पति कुटुम्ब में ५५ प्रकार है और ६ जातियाँ हैं।

पुष्प एकाकी गुलाबी, वृन्तरहित, पुंकेसर १० से २०। पात आधा से १।। इंच लम्बे होते हैं।

श्वेत पुनर्नवा रक्त की अपेक्षा कम मिलती है। इसका क्षुप भूमि पर फैला रहता है ; यदि यह बढ़ जाय, तो एक क्षुप ३-४ हाथ स्थान घेर लेता है। पत्र—प्रायः गोल, मांसल और रसमय (gucy) ; शाखा और मूल श्वेत और दृढ़। इसका मूल तोड़ने से रक्त पुनर्नवा के समान गाजरवत नहीं टूटता और चूसने से गले में चरपरापन भी ज्यादा देता है। पुष्प ५ दली गुलाबी होता है। बीज चिरचिरे के समान होते हैं। ट्रायेन्थेमा समूह में पुष्प बहिर्कोष (पुष्प पर रहा हुआ बाहर का आच्छादन-(Calyr) कप (कटोरी) आकार का होता है। इसमें बाहर और भीतर के २ आच्छादन नहीं होते। जब कि बोर्हेविया समूह में बाह्य और अन्तर का आवरण (बाह्यान्तर कोष) समान आकार और सम मुलायम होते हैं। यही इन दोनों (रक्त और श्वेत) में महत्त्व का अन्तर है।

उक्त वर्णित जाति के सिवाय चिकित्सा में प्रयोजित होनेवाली तीन जातियाँ ये हैं। (२) Trianthema Pentandra Linn, (३) Trianthema crystallina Linn, (४) Trianthema decandra Linn.

नोट—श्वेत पुनर्नवा पर सचित्र स्वतन्त्र लेख में ही पूरा प्रकाश शीघ्र डाला जायगा।

रक्त पुनर्नवा का रासायनिक संगठन—जड़ में एक प्रकार का क्षारोदीय गंधेत (पुनर्नवीन) ०.०१ %, शोरक ६०४१% एक तैलीय समूह, सल्फेट्स, क्लोराइड्स और भस्म में अंशतः नाइट्रेट्स और क्लोयरेट्स होते हैं।

उपयुक्त अङ्ग—मूल और पत्र। पत्र की अपेक्षा मूल में औषधीय वीर्य अधिक होता है।

प्रकृति—दूसरे दर्जे में गरम और खुश्क। वैद्य रक्त पुनर्नवा को सर्द मानते हैं।

रक्त पुनर्नवा के गुण-कर्म

रक्ता पुनर्नवा तिक्ता, सारिणी शोफनाशिनी।
रक्तप्रदर दोषघ्नी, पाण्डुपित्तप्रमर्द्दनी ।।
(ध० नि०)

पुनर्नवाऽरुणा तिक्ता, कटु पाका हिमा लघुः।
वातला ग्राहिणी श्लेष्म, पित्त रक्त विनाशिनी ।।
(भा० नि०)

रक्त पुनर्नवा रस में मधुर, तिक्त, कषाय। गुण—सारक, शोथहर, दोषघ्न और पित्तनाशक है। वीर्य में—शीत। विपाक में—कटु। प्रभाव—वृक्कपर। यह रक्त प्रदर, पाण्डु रोग, त्वचा-शोथ, हृद् रोग, शोथ, जलोदर गुल्म, प्रमेह, उदर और वात-कफज कासनाशक है।

डाक्टर देसाई ने लिखा है, कि "रक्त पुनर्नवा (बोर्हेविया डिफ्युझा) में दीपन, विरेचन, मूत्र विरेचन, स्वेदजनन, कफघ्न, वामक और शोथ हर गुण हैं। इसमें मूत्रजनन धर्म उत्तम है। कारण, मूत्रपिण्डों को त्रास न होते हुए मूत्र की मात्रा लगभग दुगुनी हो जाती है। है। मूत्रपिण्डों में रक्त-दबाव बढ़ जाता है और उसी हेतु से जल-स्राव अधिक होता है। अलावा मूत्र पिण्डों में मूत्रजनन परमाणुओं पर उत्तेजक क्रिया हो कर मूत्र में क्षार की मात्रा बढ़ जाती है। इन दोनों हेतुओं में मूत्र-परिमाण में वृद्धि होती है। यह मूत्रजनन धर्म आनुलोमिक (पूर्ण) मात्रा देने पर ही प्रतीत होता है।

"यथार्थ में पुनर्नवा (बोर्हेविया) में आनुलोमिक धर्म बहुत कम है। कफघ्न गुण सूक्ष्म मात्रा वार वार देने पर दृष्टिगोचर होता है। वमन कराने के लिए थोड़े ही समय में एक या दो आनुलोमिक मात्रा देनी चाहिए। परिणाम में वमन के साथ कोष्ठ-शुद्धि हो कर श्लेष्मा (कफ और आम) मुख और गुदा से बाहर निकल जाता है।"

"पुनर्नवा में स्वेदजनन धर्म भी अति कम है।"

"पुनर्नवा की हृदय पर क्रिया अल्प परिमाण में सावकाश किन्तु स्पष्ट होती है। इसके सेवन से हृदय की संकोच क्रिया बढ़ जाती है। रक्त बलपूर्वक धमनी में प्रवेश करता है; रक्त-दबाव बढ़ जाता है और शिराओं के द्वारा हृदय में रक्त-ग्रहण अधिक मात्रा में होता है। यह क्रिया डिजीटेलिस के समान होती है। रक्तन्दबाव बढ़ने से मूत्र के परिणाम की वृद्धि हो जाती है। परिणाम में देह में से संचित जल कम हो जाता है। इसी हेतु पुनर्नवा को शोथघ्न कहा है।"

पुनर्नवा से मूत्र-वृद्धि और कोष्ठ शुद्धि होने से शोथ का ह्रास होता है। मूत्रल और विस्वेक औषधि सर्वदा शोथ कम करती है।

सामान्यतः डॉक्टरी मतानुसार रक्त पुनर्नवा के मूल द्रव्य में मुख्य मूत्रल गुण हैं। उसकी मुख्य क्रिया वृक्क स्थान की शिराओं के गुच्छों पर होती है। यकृत् पर इसका प्रभाव गौण होता है। इसका उपयोग वृक्क स्राव बढ़ाने के लिए होता है। जब शोथ या जलोदर रोग में वृक्क स्राव अधिक कराना इष्ट हो, तब पुनर्नवा का सेवन कराया जाता है।

हृदय की निर्बलता से उत्पन्न शोथ और जलोदर में पुनर्नवा का सेवन कराने पर वह हृदय को बल देता है। हृदय का आकुंचन बलपूर्वक होता है तथा मूत्रल असर पहुँच कर शोथ और जलोदर में लाभ पहुँचता है। हृदय के समान यकृद्दाली अथवा वृक्क की विकृति से उत्पन्न शोथ और जलोदर में भी पुनर्नवा के उपयोग से तुरन्त लाभ प्रतीत होता है। यह काकमाची (मकोय) के समान सर्व प्रकार की शोथ का सत्वर शामक है।

सुजाक, अन्तर अवयवों में प्रदाह और उरस्तोय (Pleurisy) अथवा अन्य गुहाओं में जल संग्रह, इन सब पर पुनर्नवा हितावह है।

स्वर्गीय पं० गंगाधरजी गुणे शास्त्री लिखते हैं कि पुनर्नवा के वीर्य से रक्त प्रसादन और शोथघ्न कार्य होता है। बाह्य शोथ में पुनर्नवा मूल को घिस कर लेप करने पर शोथ दूर हो जाता है एवं अन्तर शोथ और विद्रधि में भी इसका उपयोग होता है। सन्निपातज फुफ्फुस की विकृति में पुनर्नवा का अच्छा उपयोग होता है। यकृद् की विकृति में पुनर्नवा उत्कृष्ट कार्य करता है। यकृद् विद्रधि में भी पुनर्नवा इसी गुण के हेतु से उपयुक्त होता है। यकृद् विद्रधि में ऊपर लगाने और उदर सेवन कराने में पुनर्नवा के मूल का उपयोग होता है। यकृद् वृद्धि में विशेषतः बालकों के विकार में पुनर्नवा उत्कृष्ट औषध है। विल्कुल प्रारम्भावस्था में देने पर अत्युत्तम कार्य करती है। इस औषध के साथ सरफोंका का मूल देने से अति ही उत्कृष्ट कार्य होता है।

पुनर्नवा शोथघ्नी है। शोफ और जलोदर में पुनर्नवा के प्रभाव जनित विशिष्ट कार्य होते हैं। प्रभावज कार्य के कार्यकरण का सम्बन्ध कहा नहीं जाता। पुनर्नवा वृक्कों पर कार्य करती है, जिससे मूत्र संजनन होता है; तथापि उसके बाद जल संचय न होने देने का कार्य जो पुनर्नवा से होता है, वह प्रभावज है।

संक्षेप में पुनर्नवा जलोदर, फुफ्फुसावरण का जलोदर (उरस्तोय याने प्लुरिसी), अन्तर शोथ, स्थानिक बाह्य शोथ और सर्वाङ्ग शोथादि जल-संग्रह मय रोगों पर उत्तम

लाभदायक है। उरस्तोय, शोथ और जलोदर, इन तीनों पर पुनर्नवा विशिष्ट लाभ पहुँचता है।

मात्रा—पत्र ७ से १० माशा। मूल चूर्ण ३ माशा से ६ माशा तक। स्वरस आधा से १ तोला। बीज २ से ३ माशे तक।

अनुपान—मधु या शर्करा।

उपयोग—रक्त पुनर्नवा का उपयोग आयुर्वेद में अति प्राचीन काल से हो रहा है, चरक संहिता के भीतर स्वेदोपग, अनुवासनोपग, कासहर और वयःस्थापन दशेमानियों में पुनर्नवा का उल्लेख है। शाक वर्ग में पुनर्नवा नाम दिया है एवं अनेक रोगों के प्रयोगों में पुनर्नवा का उपयोग किया जाता है।

सुश्रुत संहिता के भीतर विदारीगन्धादि गण और शाक वर्ग में उल्लेख है। सुश्रुताचार्य शाक वर्ग में लिखते हैं कि "तेषु पौनर्नवंशाकं विशेषाच्छोफ नाशनम्" अर्थात् इनमें पुनर्नवा शाक विशेषतः शोफनाशक है।

(१) हृद्रोग से उत्पन्न कास, श्वास, जलोदर और पैरों की शोथ में—इन उपद्रवों को कम कराने के लिए पुनर्नवा दी जाती है। पुनर्नवा के साथ कुटकी, चिरायता और सोंठ मिलाना चाहिए। इन द्रव्यों का क्वाथ उत्तम गुणकारी है। रोग बढ़ा हो तो रोगी को केवल दूध पर रखें या भोजन में दूध-भात देते रहें। नमक बिल्कुल छुड़ा देना चाहिए।

(२) **शोथ पर**—इस रोग में पुनर्नवा के साथ काली मिर्च के चूर्ण का प्रक्षेप मिलाना चाहिए। सर्वाङ्ग शोथ और पाण्डु रोग में पुनर्नवा अमूल्य औषध है। हृदय विकार और सर्वाङ्ग शोथ सह चाहे जितना पाण्डु रोग बढ़ गया हो, उसे निःसन्देह निवृत्त करता है। चिरायता, कुटकी और सोंठ मिला क्वाथ कर दिन में २ बार देते रहना चाहिए।

(३) **हृदय-विकृति से उत्पन्न सर्वाङ्गशोथ पर**—पुनर्नवाष्टक क्वाथ (सिद्धयोग संग्रह)

रक्त पुनर्नवा मूल, हरड़, नीम के वृक्ष की अन्तर छाल, दारुहल्दी, कुटकी, पटोल, गिलोय और सोंठ सबको सम भाग ले कर और जौकूट-दरदरा करके रख लें। इसमें से १ तोला ले कर उसको १६ तोले पानी में पकावें। जब ४ तोला जल बाकी रहे तब उसे कपड़े से छान कर उसमें १-२ तोला गोमूत्र मिला कर पिलावें। ऐसी २-३ मात्रा दिन में २-३ बार यथावश्यक दें।

गुण—यकृत् और प्लीहा की वृद्धि—शोथ, उदर रोग, सर्वाङ्ग शोथ और सन्धिवात में इसका प्रयोग करें। इससे दस्त और पेशाब साफ हो कर शोथ उतर जाता है। इस क्वाथ में कुटकी और पुनर्नवा दो-दो भाग लें और रोहितक छाल तथा शरपुंखा के मूल १-१ भाग मिला देने से अधिक गुण होता है। इस क्वाथ का केवल या आरोग्यवर्द्धिनी और पुनर्नवादि मण्डूर के अनुपान रूप में प्रयोग करना चाहिए। सन्धिवात और आमवात में इस क्वाथ में चोपचीनी, उशबा, सुरंजान कडुआ, एरण्ड मूल और रास्ना एक-एक भाग और मिला कर श्रृंग भस्म (१-२ माशा) के साथ इसका प्रयोग करें।

(४) **अश्मरी**—(गां० औ० र० व०) वृक्कों में पथरी के कण सिकता (रेती) होजाने पर पत्थरबेर की पिष्टी और संग सरमाही की पिष्टी के साथ रक्त पुनर्नवा का प्रयोग करने से तुरन्त लाभ पहुँच जाता है।

(५) **वातबलासकज्वर**—वृक्क-विकृति जनित शोथ से आनेवाले ज्वर में रक्त पुनर्नवा का अर्कविशेष क्वाथ दिन में २ बार पिलाते रहने से अच्छा लाभ पहुँचता है।

(६) **शोथे**—पुनर्नवा क्वाथ कल्क सिद्धं शोथ हरं घृतम्। —(चक्रदत्त)

(७) **दमा-खाँसी**—रक्त पुनर्नवा के मूल का चूर्ण १ माशा पान के साथ खाने से दमा और खाँसी में फौरन लाभ करता है।

पुनर्नवा का प्रयोग—

(८) **अर्क पुनर्नवा**—रक्त पुनर्नवा मूल, अजवायन, चित्रक प्रत्येक पाव भर यवकुट करके १० सेर गोमूत्र में २४ घण्टे भिगो कर वाष्पयन्त्र कलईदार या मटकी से नलिका (डमरू) यन्त्र बना कर ५ सेर अर्क निकाल लें और १० तोला सुबह और १० तोला शाम को पिलावें; परन्तु खुराक में केवल गाय का दूध दें, और कुछ नहीं है।

दूध इस तरह पिलावें कि उसमें समान पानी मिला कर औटावें और पानी जल कर केवल दूध शेष रहने पर पिला देवें।

(९) पुनर्नवा-स्वरस (गां० औ० र० तृ०) ताजे पुनर्नवा मूल या पचांग को कूट कर रस निचोड़ लेवें।

फिर उसमें चतुर्थांश ब्राण्डी मिला डाट बन्द कर एक सप्ताह रहने देवें। पश्चात् कपड़े से छान कर उपयोग में लेवें। मात्रा——१० से ३० बूँद तक।

(१०) पुनर्नवा क्वाथ——सूखे रक्त पुनर्नवा मूल का चूर्ण २।। तोले को जल २० औंस में मिलाकर मन्दाग्नि पर पर उबालें। चतुर्थांश शेष रहने पर उतार कर छान लेवें। मात्रा १ से २ औंस। ४-४ घण्टे पर दिन में ३-४ बार देवें।

(११) पुनर्नवासार——रक्त पुनर्नवा के ताजे मूल, जो अच्छे हों, सड़े न हों, वैसे निकाल, उनको उबलते हुए जल से अच्छी तरह धो, पोंछ कर छाया में सुखायें। फिर कूट कर चूर्ण करें। १ तोला चूर्ण के साथ १ औंस मद्यार्क (Rectified spirit) मिला, कांच के डाट वाली स्वच्छ बोतल में भर कर ८ दिन तक बन्द रखें। दिन में ३-४ बार चला लेवें और ३-४ घण्टे सूर्य के ताप में रक्खें। फिर फिल्टर पेपर से छान कर काँच के डाट या रबर की टोपी वाली स्वच्छ बोतल में भर लेवें। बाद में ३ गुना वाष्प जल मिला कर अन्तः क्षेपण रूप से प्रयोग में लावें। वाष्प जल मिश्रित अर्क की मात्रा ३ वर्ष के बच्चे को १० बूँद, १० वर्ष तक २० बूँद और बड़े मनुष्य को ४० बून्द (२ सी० सी०) देवें। यह अन्तःक्षेपण कुछ दिनों तक प्रति दिन दे सकते हैं।

वाष्पजल मिश्रित छाने हुए अर्क को स्प्रिट लेम्प पर उबाल कर पिचकारी में भरें। फिर यथाविधि मांस पेशी में अन्तःक्षेपण करें। पहले मांस पेशी को स्प्रिट से अच्छी तरह धो, पोंछ कर स्वच्छ कर लेनी चाहिए। श्वास, यकृद् वृद्धि, कामला, सर्वाङ्ग शोथ और जलोदर पर यह व्यवहृत होता है।

शास्त्रीययोग——

(१२) पुनर्नवादि क्वाथः (१) (भा० भै० र० सं० ३८४५)

रक्त पुनर्नवा, देवदारु, सोंठ, दशमूल और हर्र के क्वाथ में गूगल या अरण्डी का तेल मिला कर पीने से वातज विद्रधि नष्ट होती है।

(१३) पुनर्नवादि क्वाथः (२) (सं० ३८४७)

रक्त पुनर्नवा, गिलोय, देवदारु, हर्र और सोंठ के क्वाथ में गोमूत्र और गूगल मिला कर सेवन करने से शोथोदर नष्ट होता है।

(१४) पुनर्नवादि काढ़ा (३) (शार्ङ्ग० शोथे)

रक्त पुनर्नवा, दारुहल्दी, हल्दी, सोंठ, हरड़, गिलोय, चित्रक, भारंगी और देवदारु इनका काढ़ा पीने से हाथ, पैर, पेट और मुख की सूजन नष्ट होती है।

(१५) पुनर्नवादि चूर्ण १ (भा० भै० र० सं० ३९७७)

रक्त पुनर्नवा, गिलोय, पाठा, देवदारु, बिल्व मूल त्वक्, बड़ा गोखरू, दोनों कटेली, हल्दी, दारुहल्दी, पीपलामूल और चित्रकमूल त्वक् समान भाग ले कर चूर्ण बनावें।

गुण——इसको ३ माशे से ६ माशा की मात्रा में गोमूत्र के साथ सेवन करने से समस्त शरीर पर फैला हुआ अनेक प्रकार का शोथ, आठों प्रकार के उदर रोग और भयंकर व्रण (घाव) शीघ्र ही नष्ट हो जाते हैं। परीक्षित है।

(१६) पुनर्नवादि गुग्गुलुः (भै० र० शोथा०)

रक्त पुनर्नवा, देवदारु, हर्र और गिलोय का चूर्ण १-१ भाग तथा शुद्ध गूगल सब के बराबर ले कर सब को (थोड़ा-सा अरण्ड का तेल डाल कर) कूटें।

इसे गोमूत्र के साथ सेवन करने से त्वग्दोष, शोथोदर, पाण्डु, स्थौल्य, कफ प्रसेक तथा ऊर्ध्वजत्रुगत कफज रोग नष्ट होते हैं। मात्रा——३ माशा।

(१७) पुनर्नवादि लेह : (भा० भै० र० सं० ४०३५)

रक्त पुनर्नवा, गिलोय, देवदारु और दशमूल का क्वाथ ८ सेर (सब चीजें समान भाग मिश्रित ४ सेर ले कर ३२ सेर पानी में पका कर ८ सेर शेष रक्खें), अदरक रस २ सेर, गुड़ ६। सेर ले कर सब को एकत्र पका कर लेह बनावें और फिर उसमें सोंठ, मिर्च, पीपल, चव्य, इलायची, दालचीनी और तेजपात का चूर्ण १।-१। तोला मिलावें। जब शीतल हो जाय तो उसमें ४० तोले शहद मिलावें। यह लेह कफज शोथ, श्वास, खाँसी और अरुचिनाशक तथा बल पुष्टि और अग्निवर्धक हैं। मात्रा——६ माशा।

(१८) पुनर्नवादि घृतम् (भा० भै० र० सं० ४०६८)

रक्त पुनर्नवा, चित्रकमूल त्वक्, देवदारु, पीपल, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल त्वक्, सोंठ, यवक्षार और हर्र। समान भाग मिश्रित १३ तोले ४ माशे ले कर पानी के साथ पीस लें।

क्वाथ—४ सेर दशमूल को ३२ सेर पानी में पकावें। जब ८ सेर पानी शेष रहे तो छान लें।

विधि—२ सेर घी, कल्क और क्वाथ को एकत्र मिला कर पकावें। जब घृतमात्र शेष रह जाय तो छान लें। यह घृत शोथ को नष्ट करता है। मात्रा—१ तोला।

(१९) पुनर्नवादि तैलम् (भा० भै० र० सं० ४१२९)

क्वाथ—६। सेर रक्त पुनर्नवा को ३२ सेर पानी में पकावें। जब ८ सेर पानी शेष रहे तो छान लें।

कल्क—सोंठ, मिर्च, पीपल, हर्र, बहेड़ा, आमला, काकड़ासिंगी, धनियां, कायफल, कचूर, दारुहल्दी, फूल प्रियंगु, पद्माख, रेणुका-बीज, कूठ, रक्त पुनर्नवा, अजवायन, काला जीरा, इलायची, दालचीनी, लोध, तेजपात, नागकेसर, वच, पीपलामूल, चव्य, चित्रकमूल त्वक्, सोया, सुगन्धवाला, मजीठ, रास्ना, और धमासा। प्रत्येक औषधि १।-१। तोला ले कर पानी के साथ पीस लें।

विधि—२ सेर तिल का तैल तथा उपरोक्त क्वाथ और कल्क एकत्र मिला कर पकावें। क्वाथ जल कर तैल मात्र शेष रहने पर उतार ठंडा कर छान लें।

यह तैल कामला, पाण्डु, हलीमक, अरुचि, रक्तपित्त, महाशोथ, खाँसी, श्वास, भगन्दर, तिल्ली, उदर रोग और जीर्ण ज्वर को नष्ट कर अग्नि को दीप्त करता तथा कान्ति बढ़ाता है।

(२०) पुनर्नवासव (भा० भै० र० सं० ४१५९)

लाल और सफेद पुनर्नवा, दोनों पाठा, दन्तीमूल, गिलोय और चीतामूल त्वक् १०-१० तोले तथा कटेली १५ तोले ले कर सब को कूट कर १२८ सेर पानी में पकावें। जब ३२ सेर पानी शेष रह जाय तो छान लें। तदनन्तर उसमें १२॥ सेर गुड़ और २ सेर शहद मिलावें। फिर इसे चीनी की बरनी में भर दें और उसका मुख बन्द करके अनाज के ढेर में दबा दें एवं एक मास पश्चात् निकाल कर उसमें २॥-२॥ तोले नागकेसर, दालचीनी, इलायची, काली मिर्च, सुगन्धवाला और तेजपात का चूर्ण मिला दें। इसे पुराना हो जाने पर छान कर सेवन करने से हृद्रोग, पाण्डु, प्रवृद्ध शोथ, प्लीहा, भ्रम, अरुचि, प्रमेह, गुल्म, भगन्दर, अर्श, उदर रोग, खाँसी, श्वास, संग्रहणी, कोढ़, खुजली, शाखागत वायु, मलबन्ध, हिचकी, किलास कुष्ठ और हलीमक नष्ट होता है।

(२१) पुनर्नवादि लेप (भा० भै० र० सं० ४१९९)

रक्त पुनर्नवा, देवदारु, सोंठ, सफेद सरसों और सहिजन की छाल। सब समान भाग ले कर सब को मकोय के रस में पीस कर लेप करने से समस्त प्रकार के शोथ नष्ट होते हैं।

(२२) पुनर्नवादि मण्डूरम् (भा० भै० र० सं० ४४२१)

पुनर्नवा, निसोत, सोंठ, मिर्च, पीपल, वायविडंग, देवदारु, चित्रकमूल त्वक्, पोरहकमूल, हल्दी, दारुहल्दी, दन्तीमूल, हर्र, बहेड़ा, आमला, चव्य, इन्द्रजौ, कुटकी, पीपलामूल और नागरमोथा १-१ भाग तथा शुद्ध मण्डूर सब से दुगुना ले कर सब को कूट छान कर १६ गुने गोमूत्र में पकावें और जब गाढ़ा हो जाय तो उसे खरल में पीस-सुखा कर रखें या ४-४ रत्ती की टिकिया बना लें।

इसके सेवन से पाण्डु, शोथ, उदर रोग, आनाह, शूल, अर्श और कृमि रोग का नाश होता है। मात्रा—१ माशा अनुपान—तक्र।

(२३) **पुनर्नवाक्षार**

रक्त पुनर्नवा पञ्चाङ्ग ले कर जला कर राख कर लें फिर राख को अष्टगुने पानी में एनामिल के बरतन में अच्छी तरह हिला कर भिगो देवें। १ प्रहर बाद ऊपर का नियरा जल अलग कर लें। बाद में उस जल को एक मटकी जिसके पेंदे में सब से छोटी अंगुली की नोक के समान छेद कर उसमें सूत की बत्ती लगा देवें और मटकी को तिपाई पर रख उसमें उक्त स्वच्छ निथरा पुनर्नवा का क्षार जल भर कर टपका लें। जल के टपक जाने के बाद स्वच्छ कड़ाही में में डाल उसको चूल्हे पर रख जल को सुखा लें और क्षारमात्र रहने पर खुर्च कर पीस के रख लें।

मात्रा—५ से १५ रत्ती। उचित अनुपान के साथ।

एलोपैथिक बनावट

एक्स ट्रैक्ट पुनर्नवा लि०।

अहितकर—वक्ष के लिए।

निवारण—कद्दू, कतीरा और शहद।

प्रतिनिधि—मकोय।

सर्पविष-चिकित्सा

वैद्य भैरवदत्त शर्मा, आयुर्वेदाचार्य

"यदिहास्ति तदन्यत्र यन्नेहास्ति न तत्क्वचित्"—आयुर्वेद के चरकाचार्य की यह उक्ति पूर्णतया सत्य है। जिस किसी भी चिकित्सा की ओर परीक्षण रूप से ध्यान देते हैं उधर ही सत्य का अनुभव होता है और यह उक्ति आँखों के सामने आ जाती है। इसी आधार पर स्वानुभूत सर्प-विष की चिकित्सा वैद्यबन्धुओं के लाभार्थ तथा रोगियों के रोग प्रशमनार्थ यहां प्रस्तुत की जा रही है।

सर्वप्रथम रोगी का हृदयावरण करें।..."कुर्यात् हृदयावरणं भिषक्"। हृदयावरणार्थ शुद्ध गौ घृत अथवा शुद्ध घृत ५ तोला, शिरीष-स्वरस भावित अथवा केवल काली मिर्च का चूर्ण २ माशा उष्ण करके तत्काल पिला दें। साथ में "तिस्रश्च सर्प दंष्टे स्यात्" इस आवृत्तिमान से तीन गोलियाँ सञ्जीवनी वटी की दें।

पुनः दंश स्थान को काट कर रक्तस्रवण करें। अधिकतर देखा गया है कि कुछ विलम्ब हो जाने पर दंष्ट स्थान को १/२ इंच गहरा काट देने पर भी रक्त नहीं निकल पाता; क्योंकि सर्प-विष के प्रभाव से शरीर का प्रत्येक जलीयांश गाढ़ा होने लग जाता है; ऐसी परिस्थिति में दंष्ट स्थान को गहरा काट कर कुछ लसीकादि दिखलाई देने पर सुलभ हो तो १ रत्ती "पोटेशियम परमेंग्नेट" भर दें।

पुनः पेय उष्णोदक में राई के चूर्ण का प्रक्षेप डालकर "आकण्ठं पाययेद् भिषक्" पिलावें, प्रथम वमनवेग में पूरा पीत द्रव्य नहीं निकलेगा; तथापि बिना ही प्रतीक्षा किये पुनः घृत ३ तोला, मरिच चूर्ण १ माशा अनुपान से ३ संजीवनी वटी दें।

पुनश्च कण्ठ पर्यन्त (जब तक कि वमन का वेग न आ जाये) पूर्ववत् राई का चूर्ण डाला हुआ गर्म पानी निरन्ध्र रूप से पिलायें। वमन हो जाने पर, पुनः उसी प्रकार घृत-मरिच्यानुपान से ३ संजीवनी को गोलियां दें। ज्यों-ज्यों विष का वेग कम होता जाये; त्यों-त्यों वमन शीघ्र एवं विशेष मात्रा में होने लगेगा।

इस प्रकार जब तक बिना रुकावट के पूरा आमाशय नहीं धुल जाये तब तक रोगी को घृत मरिचानुपान से संजीवनी बटी देते रहें और वमन कराते रहें। अभिप्राय यह है कि एक बार वमन होनेके अनन्तर घृतमरिचानुपान से सञ्जीवनी बटी दें और पुनः वामक द्रव्य पिलायें। यदि राई का चूर्ण सुलभ नहीं हो तो मैनफल और तम्बाकू का चूर्ण भी काम में ले सकते हैं। कई चिकित्सक सोचेंगे कि इतना पानी पिलाने से गड़बड़ तो नहीं होगा किन्तु उन्हें निःसंकोच कण्ठ पर्यन्त द्रवद्रव्य पिला देना चाहिए। जल १० सेर में राई ५ तोला होना चाहिए।

यदि अल्पप्राण रोगी को बीच में बेचैनी विशेष मालूम पड़े तो कुछ देर ठहरकर पुनः क्रम चालू कर देना चाहिए।

सम्यग्वान्त हो जाने पर रोगी की चेष्टा ठीक हो जायेगी। आँखों से तन्द्रा चली जायेगी। सिर का हल्कापन तथा शरीर में लघुता का अनुभव होगा।

सर्प-विष की विशेषता से यदि रोगी को बीच में ही वेग आ जाये तो "शिरीषपुष्पस्वरसे भावितं मरिचासितं भावितं सर्पदष्टानां नस्यपानाञ्जनेहितम्।" इस आधार पर शिरीष पुष्प अथवा पत्र-स्वरस भावित अथवा केवल काली मिरच का वस्त्रपूत चूर्ण आँख में डालें।

यदि सर्प को काटे विशेष समय हो गया हो तो वमनानन्तर तीक्ष्ण विरेचन हेतु केवल एक गोली इच्छाभेदी की दे दें। कोष्ठ की स्निग्धता से यह एक ही गोली पूरा कार्य कर देगी। इस से पक्वाशयादि में गया हुआ विष भी बाहर निकल जायेगा।

सर्प काटने पर चिकित्सा में विलम्ब होने से मुँह से लार गिरना, नाड़ी की गति रुक जाना, गले से घर-घर शब्द होना, आँखों का बन्द हो जाना इत्यादि लक्षण हो जाने पर रोगी के औषधोपचार में बाधा पड़ जाती है किन्तु चिकित्सक को चाहिये कि किसी भी प्रकार आमाशय धोने के यन्त्रादि से औषधादि आमाशय में पहुँचाये और जलादि बाहर निकाले। थोड़ा-थोड़ा भी द्रव द्रव्य भीतर जाने और बाहर आने से विष की मात्रा कम होगी और धीरे-धीरे गला साफ होगा।

इस प्रकार उपचार करने के अनन्तर रोगी के उपस्थाता को निम्न आदेश दे देना चाहिए—

(१) एक रात और एक दिन (२४ घंटे) तक आँखों में निद्रा न आने दें। निद्रा आने पर पूर्ववत् कालीमिरच का चूर्ण आँख में डालें।

(२) एक-एक प्रहर के अन्तर से संजीवनी की तीन-तीन गोलियाँ घृत मरिचानुपान से देते रहें।

(३) बहुधा २४ घण्टे तक प्यास नहीं लगा करती है किन्तु यदि प्यास लगे तो शिरीष की छाल से श्रृतशीत जल पीने को दें।

(४) व्रण को शिरीषत्वक् एवं निम्बपत्र क्वाथ से धोकर व्रणबन्ध विधान करें।

२४ घंटे के पीछे जब रोगी को भूख लगे और स्वयं भोजन के लिए आग्रह करे तो बकरी के दूध की एक छटांक चाय देनी चाहिए। यदि उससे वमनादि न हो—यथा "अजा दुग्धं यदा कोष्ठे स्थिरी भवति देहिनः। विषवेगं तदोत्तीर्णं जानीयात् कुशलो भिषक्" ।। तो पुनः शुद्ध अजादुग्ध मिश्री मिला हुआ एक पाव दें; एवं एक दिन केवल इसी आहार पर रखें, पुनः यथा देश-काल पथ्यान्न का सेवन करायें।

नींद थोड़ी-थोड़ी देर लेने पर पुनः जगाते रहें। तीन दिन पीछे यथेष्ट सोने दें। एक पक्ष तक आहारादि पर नियन्त्रण रखें। भोजन में घृत का विशेष प्रयोग करवायें।

कई सर्पों के विष से तथा पूर्व दिशा की वायु से रोगी के एक साल पीछे भी शिरोभ्रम, दंश स्थान पर शोथ कण्ड्वादि हो जाते हैं। ऐसे समय शिरीष के क्वाथादि का प्रयोग करने से रोगी ठीक हो जाता है। "विष शुक्तं"...वाली वाग्भट की उक्ति बड़ी लाभप्रद है।

अन्य भी कई प्रकार की चिकित्सा सर्प-विष की महर्षियों ने लिखी है किन्तु कई बार मेरे अनुभव में जो आई है, वही आयुर्वेद-जगत के सामने रखी है।

राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय, मु० पो० रेनवाल
(किशनगढ़), जयपुर (राजस्थान)

शेषांश]

आयुर्वेद में शल्य-शालाक्य

[१२७ पृष्ठ का

External medicines used—Spirit, opium, Ghrita, Honey, Nirgunditail and Sauvagya churna.

Internal medicines given—

In the morning—Navayas 1 rati+Manikyarasa 1/6 rati with honey.

In the evening—Saptanga gugul 4 rati with hot milk.

Diet—For the first three days—

In the morning—Milk and Sabudana, at noon—Milk+bread; Evening—Milk+bread. Juices of sweet fruits were also given in necessary quantity.

From the 4th day—Milk, bread, rice, selected vegetables and sweet fruits were given in necessary quantity.

Instruments used—

(1) Sharp scalpel
(2) Scissors
(3) Toothed forceps
(4) Artery forceps
(5) Needle
(6) Fine saw
(7) Catgut
(8) Silk thread
(9) Gauze
(10) Kabalika (pad)
(11) Bandage

Thus a major operation was done following the Ayurvedic principles.

If opportunity comes I shall try to publish the records of other operations later on.

स्वास्थ्य और मनोभाव

श्री लीलाधर त्रिवेदी

साधारणतः यह बात तो हम सब जानते हैं कि हमारे स्वास्थ्य ग्रौर मनोभावों का बहुत गहरा सम्बन्ध है। इस पर कुछ विस्तार से ग्रध्ययन बहुत दिलचस्प है। चिकित्सा-शास्त्रियों के ग्रनुसार हमारी सभी बीमारियों में, चाहे मामूली सर्दी-जुकाम हो या ग्राज के युग का महाभयानक रोग कैंसर; भावात्मक क्रियायें महत्वपूर्ण हिस्सा ग्रदा करती हैं। हमारा भावात्मक स्वास्थ्य उतना ही महत्वपूर्ण है जितना कि शारीरिक स्वास्थ्य, क्योंकि हमारी भावनाग्रों में जीवित रहने की हमारी इच्छा गहरी जड़ें जमा रखती है। एक मानसशास्त्री का कहना है:--"मस्तिष्क का शरीर पर शासन है, यह एक ग्राधारभूत सचाई है। हमारी सभी भावनाग्रों की शरीर पर प्रतिक्रिया होती है। भय होने पर हृदय का स्पन्दन बढ़ता है ग्रौर क्रोध होने की स्थिति में भी ऐसा होता है तथा रक्तचाप बढ़ता है ग्रौर भोजन पचाने की प्रक्रिया में भी ग्रंतर ग्राता है।"

चिन्ता का ग्रभिशाप

ग्राज के युग का एक ग्रभिशाप है--ग्राम लोगों की निरन्तर बढ़ती हुई चिन्ता। पर ग्राखिर चिन्ता है क्या? फ्रायड का कहना है कि चिन्ता ग्रादमी के भीतर जमा हुग्रा "भय" है। वे यह भी कहते हैं कि सभी प्रकार के भय नुकसानदेह नहीं होते। जब तक खतरा वास्तविक होता है, उस सम्बन्ध में भय स्वस्थ होता है क्योंकि वह हमें खतरे का सामना करने के लिए तैयार होने को प्रेरित करता है। पर यदि खतरा या भय के कारण का ग्रन्त हो जाने के बाद भी हमारी कल्पना में भय बना रहा तो उसे स्वस्थ भय नहीं कहा जा सकता। तब वह सांघातिक ग्रौर विनाशकारी होता है जिसे चिन्ता कहा जाता है ग्रौर जो हमारे भीतर परेशानी, दबाव ग्रौर तनाव की भावनायें पैदा करती है।

क्या हमने रोग की स्थिति खुद चुनी है?

यद्यपि यह बात सुनने में कुछ विचित्र-सी लगती है पर है बिल्कुल सच कि कभी-कभी हम इसलिए रोगी रहते हैं कि हम रोग की स्थिति खुद पसंद करते ग्रौर चुनते हैं। एक प्रसिद्ध डाक्टर इस सम्बन्ध में ग्रपना ग्रनुभव बतलाते हुए लिखते हैं कि उनके पास जब एक वयस्क रोगी, जो ३० वर्षों से पेप्टिक ग्रल्सर (पेट के घाव) से परेशान था, चिकित्सा के लिए ग्राया तो यह पूछे जाने पर कि रोग से मुक्ति के बाद वे जिन्दगी का किस प्रकार उपभोग करेगा, वह कोई निश्चित उत्तर न दे सका। दरग्रसल स्वस्थ होने की उसे तीव्र इच्छा न थी ग्रौर उसने ग्रपने रोग के इर्द-गिर्द ही ग्रपनी जिन्दगी बना रखी थी। ग्रपने रोग की वजह से उस पर जो विशेष ध्यान दिया जाता था वह उसे बहुत प्रिय था ग्रौर उसे वह किसी प्रकार छोड़ना नहीं चाहता था। इस प्रकार कभी-कभी जब हमें ग्रपेक्षित प्रेम नहीं मिलता तो उसकी पूर्ति हम ग्रपने रोग के प्रति दूसरों द्वारा दिये जाने वाले ध्यान से करते हैं।

इसी प्रकार चर्मरोग, जुड़पित्ति के ३० मामलों की जाँच के बाद यह परिणाम निकला कि उस रोग का सम्बन्ध एक खास तरह की भावात्मक गड़बड़ी से था।

ग्रात्म-स्वातंत्र्य का संघर्ष

कभी-कभी हमारे ग्रात्म-स्वातंत्र्य के संघर्ष का ग्रपने चरम बिन्दु पर पहुँच जाना भी बीमारी का कारण होता है। है। इसे भावात्मक स्वातंत्र्य के लिए संघर्ष भी कहा जा सकता है जो जीवन के शुरू में ही ग्रारम्भ होता है ग्रौर किन्हीं-किन्हीं लोगों में वयस्कावस्था तक जारी रहता है। बहुत कड़ाई से शासन करने वाले माता-पिता की सन्तानों का जीवन-स्वातंत्र्य के संघर्ष का ग्रच्छा उदाहरण होता है। एक २६ वर्षीय ग्राण्ड्री नामक युवती जो तीन बहनों में सबसे छोटी थी, डाक्टर के यहाँ पहुँची ग्रौर उसने ग्रपने स्वास्थ्य के बारे में यह शिकायत की कि वह सुबह सोकर उठ नहीं पाती, न ठीक समय पर कपड़े पहन कर बाजार जा पाती ग्रौर न वे सब काम ही कर पाती है जिनके किये जाने की एक सामान्य व्यक्ति से उम्मीद की जाती है उसके माता-पिता उस पर बहुत कड़ा शासन रखते थे जिसकी उसे तथा उसकी ग्रन्य दो बहनों को शिकायत भी थी। विशेषतः ग्रपनी माँ के प्रति ग्राण्ड्री की कटुता

का कोई अन्त न था और उसका कारण यह था कि आण्ड्री जिस व्यक्ति से विवाह करना चाहती थी, माँ उसे दामाद के रूप में स्वीकार करने को तैयार न थी। और माँ के साथ इस प्रश्न पर संघर्ष ही आण्ड्री की शारीरिक अस्वस्थता का कारण था। बाद में, जब उसने अपने माता-पिता से विद्रोह करके अपने मनचाहे व्यक्ति से विवाह किया तो फिर कुछ समय बाद, न केवल उसकी शारीरिक अस्वस्थता समाप्त हो गई बल्कि वह एक बहुत स्वस्थ और सुन्दर युवती के रूप में विकसित हुई।

कभी-कभी ऐसा होता है कि हम अपने ऊपर आवश्यकता से अधिक जिम्मेदारियाँ ले लेते हैं। बाद में हमारा मन उन भारी जिम्मेदारियों को संभालना नहीं चाहता और विद्रोह कर उठता है, पर हम किसी-न-किसी प्रकार उन जिम्मेदारियों को ढोते रहने की कोशिश करते हैं। ऐसी स्थिति में भीतर चलने वाले इस द्वन्द्व के कारण हम बीमारी के शिकार होतें हैं

डा० आर्नल्ड हत्सनेकर अपनी पुस्तक "दि विल टु लिव" (जीवित रहने की इच्छा) में लिखते हैं कि "एक सिरे पर तो ऐसे रोगी हैं जिनकी चिकित्सा के लिए डाक्टर द्वारा तुरंत कदम उठाया जाना जरूरी होता है और दूसरे सिरे पर ऐसे रोगी होते हैं जिनके रोग की समुचित चिकित्सा के लिए मनोविज्ञान-शास्त्रियों की मदद लेना भी जरूरी होता है। इन दोनों सिरों के बीच ऐसे रोगी होते हैं जो साधारण चिकित्सकों की कार्य-परिधि में अच्छी तरह आते हैं। ये रोगी ऐसे व्यक्ति होते हैं जो अपने जीवन की सामान्य समस्याओं को लेकर संघर्षरत रहते हैं और जिनके रोगग्रस्त होने का मतलब है कि वे अपने जीवन में ऐसे बिन्दु पर पहुँच गए हैं कि अपने भावात्मक एवं शारीरिक गठन में दुर्बलता के कारण रोगग्रस्त हो गये हैं।

जीने की इच्छा बढाइए

इसलिए जिन बातों से भावात्मक गड़बड़ी पैदा होती है उनके उपस्थित होने पर गड़बड़ी पैदा होने देने की कोशिश की जानी चाहिए। एक व्यक्ति ने, जिन्हें ऐसी कोशिश करने का अनुभव है, बतलाया कि वे ऐसी गड़बड़ी इसलिए पैदा नहीं होने देतें क्योंकि वे जानते हैं कि भावात्मक गड़बड़ी होते ही शारीरिक गड़बड़ी भी पैदा हो जायेगी।

इसके लिये जरूरी यह है कि हम जीवित रहने की अपनी इच्छा को शक्तिशाली बनायें। मनोविज्ञान-शास्त्रियों का कहना है कि जीवित रहने की इच्छा एक ऐसी शक्ति है जो अपना ख्याल खुद कर सकती है। यह इच्छा, जो अधिकांशतः अचेतन-सी रहती है, अनेक शारीरिक एवं मनोवैज्ञानिक कारणों का परिणाम है। हम इसको शक्तिशाली बनाने का काम पूरी चेतना से कर सकते हैं।

हम में से हर आदमी कुछ परिस्थितियों की उपज है। ये परिस्थितियाँ हैं—वंश एवं माता-पिता का प्रभाव, परिपार्श्विक परिस्थितियाँ, सांस्कृतिक पृष्ठभूमि, स्कूल का प्रभाव, धर्म का प्रभाव, समाज की प्रथायें और नैतिक मान। जिन परिस्थितियों की हम उपज हैं उनमें से कुछ अब हमारे नियंत्रण के बाहर हैं। हमें यह बात स्वीकार करनी चाहिए क्योंकि इस पर अफसोस करने से कोई लाभ नहीं, पर इसके साथ ही हमारा यह प्रयत्न भी हो कि हमारे व्यक्तित्व पर जिन परिस्थितियों ने अवांछित प्रभाव डाला है; उनका वह प्रभाव अब और अधिक जारी न रह सके। हम अतीत को अपने मन के अनुसार नहीं बना सकते; पर वर्तमान को अपने मनोनुकूल बनाने और भविष्य को नये सिरेसे गढ़ने की चेष्टा तो अवश्य कर सकते हैं।

हम ऊपर देख चुके हैं कि अनेक मामलों में लोग रोगग्रस्त इसलिये हुआ करते हैं कि उन्हें प्रेम की अपेक्षा रहती है पर वह उन्हें मिलता नहीं। यदि हम पायें कि हमें भी प्रेम की अपेक्षा है तो हमें इसके लिये कुण्ठा में रहने के बजाय प्रेम पाने की सचमुच चेष्टा करनी चाहिये। प्रेम पाने का सबसे समुचित रास्ता है कि हम पहले प्रेम दें। यदि हम पत्नी का उदाहरण, लें तो पायेंगे कि उसने हमें प्रेम के मामले में इसलिये निराश किया है कि उसे हम भी इस सम्बन्ध में निराश कर चुके हैं। हमने अपनी पत्नी की खुशी और सन्तोष के विषय में सोचने पर कितना समय दिया है? उसकी सफलताओं में हम कितनी दिलचस्पी लेते हैं? हमने उसके समक्ष किस प्रकार सिद्ध किया है कि हम उसका सचमुच ध्यान रखते हैं?

मनोविज्ञानशास्त्रियों का कहना है कि जिस क्षण हम अपनी प्रेम पाने की इच्छा को मान्यता देते और उसे स्वीकार करते हैं हम आत्म-स्वांतंत्र्य और आत्मिक स्वास्थ्य के मार्ग पर बिश्चित रूप से बढ़ जाते हैं।

स्वास्थ्य के लक्षण

शारीरिक और आत्मिक रूप से स्वस्थ रहने के लक्षण क्या है। प्रसन्नता, दया तथा आस-पास के जीवन और

व्यक्तियों में दिलचस्पी। एक स्वस्थ व्यक्ति एक स्वस्थ बच्चे के समान होता है जिसे आसपास की बातों में सच्ची उत्सुकता और दिलचस्पी होती है। काम और खेल-कूद दोनों में दिलचस्पी इस बात का प्रमाण है कि जीवित रहने की हमारी इच्छा बलवती है।

जीविकोपार्जन शुरू करने के बाद हम में से अधिकांश लोग उन बहुत-से कामों को छोड़ देते हैं जिनमें युवावस्था में उन्हें बहुत दिलचस्पी रही थी, चाहे उन कामों को जारी रखने में उन्हें आनन्द और लाभ दोनों ही क्यों न मिलता हो। अपनी दिलचस्पी के उन कामों से विरक्ति का परिणाम यह होता है कि हमारी माँसपेशियों में चर्बी बढ़ने लगती है। दरअसल, आनन्ददायक शारीरिक श्रम करके हम अपने शरीर को जवान बनाये रख सकते हैं। इस प्रकार हमारी पेशियों पर उम्र का प्रभाव पड़ता है। ठीक इसी प्रकार जिस मस्तिष्क से बराबर काम लिया जाता है उस पर भी उम्र का प्रभाव नहीं पड़ता। जब हम सीखना बन्द कर देते हैं, बूढ़े होने लगते हैं और इसी प्रकार जब आस-पास के कामों में हमारी दिलचस्पी नहीं रह जाती तो उसका भी मतलब यह होता है कि हम बूढ़े होने लगे हैं। ऐसी कोई उम्र नहीं जब हमें काम बन्द कर देना चाहिए, इसलिए यह कहा जा सकता है कि ऐसी उम्र नहीं जब हमें निश्चित रूप से बूढ़ा हो ही जाना चाहिए। यदि हम लम्बी उम्र चाहते हैं ऐसी उम्र जिसमें हम पूरी तरह जीवन का उपभोग कर सकें तो हमें सच्चे अर्थ में अपना विकास करने की चेष्टा करनी चाहिए, यानी बचपन से अब तक हम में जो अपरिपक्वताएं रह गई हैं उनको दूर करने और पूरी सचेतनता से अपने में परिपक्वता लाने की कोशिश करनी चाहिए।

प्रसन्नता की अपेक्षा

स्वास्थ्य और मनोभावों का अटूट सम्बन्ध इस बात से भी स्पष्ट है कि प्रसन्नता हमारे स्वास्थ्य को बढ़ाती और हमें दीर्घायु बनाती है। हर प्रकार की स्थिति में प्रसन्न रह कर हम केवल दूसरों बल्कि अपने प्रति भी बहुत बड़ा अकर्तव्य करते हैं। स्थायी उदासी एक प्रकार से आत्महत्या है, क्योंकि बराबर उदास या गमगीन रहने पर हम रोग के शिकार आसानी से हो जाते हैं। इसलिए चिकित्सा-शास्त्रियों का कहना है कि यदि हम सचमुच अपना स्वास्थ्य अच्छा रखना चाहते हैं तो हमें हर हालत में प्रसन्न और सन्तुष्ट रहने का अभ्यास डालना चाहिए।

शेषांश]

वर्षाऋतु और स्वास्थ्य

[१४० पृ० का

घर भी साफ-सुथरा रखें

इसके अतिरिक्त रहने के स्थान के विषयमें भी इस ऋतु में कुछ बातें ध्यान देने योग्य हैं। वर्षा के पानी के साथ मकान के छप्परों और छतों का कूड़ा-करकट आता है और मकान की नालियों में इकट्ठा होकर सड़ता है,इसलिए घर की नाली को इन दिनों बराबर साफ रखने की ओर ध्यान देना चाहिए। छतों पर रखे पुराने बर्त्तनों या गमलों में वर्षा का जल इकट्ठा हो, तो उसको खाली करते रहना चाहिए, क्योंकि ऐसे पानी में मच्छर आदि कीटाणु पैदा होते हैं। मकान में सील बढ़ने से भी मच्छर बढ़ते हैं, जो मलेरिया जैसे भयंकर रोग का कारण बनते हैं। इसलिए मकान की सफाई के अतिरिक्त उसको सूखा रखनेका प्रयत्न तो करना ही चाहिए। यदा-कदा धूप, गूगल, गंधक आदि का धुआँ करके मकान के वायुमण्डल को शुद्ध करते रहना चाहिए।

मक्खियों से बचिये

• बरसात में अनेक प्रकार के कीड़े-मकोड़े उत्पन्न हो जाते हैं, उन सब से बचाव करना चाहिए। इन दिनों सबसे अधिक बढ़ने और सबसे अधिक हानि पहुँचानेवाली मक्खियाँ होती हैं। मक्खी का यह स्वभाव होता है कि वह पहले गंदी चीजों पर बैठेगी, फिर खाने-पीने की चीजों पर बैठेगी। यह आश्चर्यजनक, किन्तु, सत्य है कि मक्खी गंदी चीजों पर बैठकर अपने पैरों में हजारों रोगकारक कीटाणु एक साथ उठा लेती है। वही मक्खी जब हमारे खाने-पीने की वस्तुओं पर बैठती है, तो उस पर वे कीटाणु छूट जाते हैं, जो कभी-कभी हमारे लिए प्राणघातक सिद्ध होते हैं। इसलिए विशेष कर वर्षाऋतु में मक्खियों से अत्यधिक बचाव करना चाहिए। खुली रही हुई बाजारू चीजें तो खानी ही नहीं चाहिए। घर में भी खाने-पीने की वस्तुओं को इस प्रकार ढक कर रखना चाहिए, जिससे उस पर मक्खी न बैठ पावे। वर्षाऋतु में बच्चों के खान-पान के विषय में विशेष सावधानी रखने की आवश्यकता होती है।

वर्षाऋतु में अक्सर हैजा फैल जाया करता है। यह संक्रामक रोग होता है और एक दूसरे को शीघ्र लग जाया करता है। यदि हैजा आरम्भ हो जाय, तो उससे बचाव के सभी उपायों का पालन मुस्तैदी के साथ करना चाहिए।

वर्षाऋतु और स्वास्थ्य

गर्मी के मौसम में खून को खौला देनेवाले तपन से अंग-अंग झुलस जाता है और प्रत्येक प्राणी कुछ ठंडक पाने के लिए व्याकुल हो उठता है। इसलिए जब आकाश में आषाढ के पहले बादल घुमड़ते हैं, तो प्राणीमात्र प्रसन्नता का अनुभव करने लगते हैं और आशाभरी दृष्टि से काले-काले मेघों की ओर टकटकी लगाकर देखने लगते हैं। विशेष कर अपने देश में गर्मी अत्यधिक पड़ने के कारण, इस अप्रिय ऋतु के बाद लोग वर्षा की बड़ी उत्कण्ठा से प्रतीक्षा करते हैं।

वर्षाऋतु का हमारे जीवन में बड़ा महत्व है, क्योंकि अच्छी वर्षा पर ही इस देश का अन्नोत्पादन निर्भर करता है। ग्रीष्मऋतु में जो पृथ्वी आग से तपकर, झुलस कर रूखी-सूखी हो जाती है, वही वर्षा में हरी-भरी और आनन्दमय बन जाती है।

परन्तु शारीरिक स्वास्थ्य की दृष्टि से वर्षाऋतु बहुत अच्छी नहीं होती। वर्षाऋतु में स्वास्थ्य-साधन और मौसमी रोगों से बचने के लिए बहुत सावधान रहने की आवश्यकता है। यदि इस ऋतु में खान-पान, रहन-सहन और ऋतु-उपचार पर ध्यान न दिया गया, तो स्वास्थ्य को हानि पहुंचनेकी काफी संभावना रहती है।

सामान्यतः उत्तरायण और दक्षिणायन संज्ञा से वर्ष को दो भागों में बाँटा जा सकता है। जब सूर्य की तीखी किरणें पृथ्वी पर सीधी पड़ती हैं तब उत्तरायण काल होता है। इसमें पृथ्वी सूर्यके उत्तर मार्ग से घूमती है और सूर्य पृथ्वी के जलीय भाग को ग्रहण करता है, इसलिए इसे आदान काल कहते हैं। मुख्यतः शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म——इन तीन ऋतुओं का समावेश आदान काल में होता है। इस काल में सूर्य की किरणों का सीधा संपर्क होनेके कारण गर्मी अधिक पड़ती है। रात छोटी और दिन बड़े होते हैं। ग्रीष्मऋतु आदान कालका अंतिम समय है और वर्षा ऋतु आरम्भ होते ही यद्यपि आदान काल समाप्त हो जाता है, परन्तु गर्मी का एकदम अन्त नहीं होता।

जिन दिनों वर्षा का आगमन होता है, उन दिनों गर्मी का तीव्रतम रूप होता है। आकाश में बादलों के घिर जाने और पहले-पहल पानी बरसने पर वैसी ही दशा हो जाती है, जैसे जलते तवे पर पानी के छींटे देने से होती है। गर्मी से जली हुई पृथ्वीपर जब वर्षा की पहली बुँद गिरती है, तो तपी हुई पृथ्वी यकायक सर्दी पहुँचने के कारण भभक-सी उठती है। पृथ्वी से निकलने वाली भाप के कारण वर्षा के ये प्रारम्भिक दिन बड़े दुस्सह मालूम पड़ते हैं।

गर्मी में अधिक पानी पीनेसे मनुष्य की भीतरी अग्नि मन्द हो जाती है और पूरा काम करने योग्य नहीं रहती। प्रारंभिक वर्षाके दोष से वह अग्नि और भी अधिक मन्द हो जाती है। इसी कारण इन दिनों अजीर्ण, मन्दाग्नि, आफरा, अपच या कब्जियत आदि पेट के रोग बहुत उभरते हैं। आकाश बादलोंसे घिरा रहता है और कभी-कभी पानी बरसता है, इस कारण वायु भारी और दूषित हो जाती है। पानी भी मैला, गँदला और भारी हो जाता है। वर्षा के उसी पानी के उपयोग के कारण अम्लविपाक और पित्त दूषित हो जाता है। भारी पानी और मन्दाग्नि से कफ भी दूषित होता है। इस प्रकार वर्षाऋतु में वात-पित्त-कफ——तीनों ही दूषित होने से रस-रक्तादि धातुओं में भी खराबियाँ उत्पन्न होती हैं।

वर्षाऋतु में होनेवाले रोग

पाचन-अग्नि की क्षीणता और जल के दोषों से इन दिनों अपच, कै, दस्त, हैजा, आँव, अतिसार आदि पेट के रोग तो होते ही हैं, साथ ही ग्रीष्मऋतुमें खौले हुए खून की गर्मी वर्षा के कारण यकायक भड़कती है और फलतः रक्तदोषकी बीमारियाँ वर्षा के आरम्भ-काल में अधिक होती हैं। शरीर भर में करोरी या अँधौरी (छोटी-छोटी फुंसियाँ) और कुछ बड़ी-बड़ी फुंसियाँ, जिन्हें लोग गर्मीला भी कहते हैं, इन्हीं दिनों होते हैं। तालाबों, नदियों आदि में वर्षा का जो पानी इकट्ठा होता है, वह अपने साथ धूल-मिट्टी के अलावा कई प्रकार के मैल और सड़ी-गली चीजें बहाकर लाता है, इस कारण पानी में कई तरह के कीटाणु उत्पन्न हो जाते हैं और पानी गँदला हो जाता है। वर्षाऋतु में नदी या तालाब का पानी पीने से पेट में रोग बढ़ते हैं तथा उसमें नहाने-धोने से त्वचा अर्थात् चमड़ी के रोग, जैसे

दाद, खाज, फोड़ा-फुंसी आदि उत्पन्न होते हैं। इस ऋतु में वायु का प्रकोप अधिक होने से शरीर के विभिन्न भागों में दर्द, चमक आदि वायु-रोग भी उभरते हैं।

इनसे कैसे बचें ?

वर्षाऋतु के उपरोक्त दोषों और रोगोत्पत्ति के कारणों से बचने के लिए आयुर्वेद में अनेक साधन बताये गये हैं। वर्षाऋतुचर्या के प्रसंग में आयुर्वेद में कहा गया है कि वर्षाऋतु में वमन-विरेचन आदि से शरीर को शुद्ध करके निरुह बस्ति लें। आस्थापन बस्ति से वायु का प्रकोप शान्त होता है। मल की सफाई हो जाने पर शरीर स्वतः शुद्ध हो जाता है, परन्तु शरीर-शुद्धि केलिए बस्ति और वमन-विरेचन आदि की क्रियाएँ सर्वसुलभ नहीं हैं और वे सुयोग्य चिकित्सक के निर्देशन में ही सम्पन्न होनी चाहिए। ऐसी स्थिति में वर्षा के दोषों से बचने के लिए सामान्य उपचार एवं सावधानियों पर ही अधिक ध्यान देना चाहिए।

पीने का पानी

वर्षाऋतु में सबसे अधिक सावधानी पीने के पानी की होनी चाहिए। इन दिनों सबसे अच्छा और पीने योग्य पानी तो वर्षा-जल ही होता है, परन्तु वह ऐसा होना चाहिए, जिसे ऊपर ही ऊपर इकट्ठा कर लिया गया हो और जिसमें किसी प्रकार की गंदगी, धूल, मिट्टी आदि न मिली हो। आकाश से गिरनेवाला पानी, भूमि पर या किसी छत या छप्पर पर न गिरकर सीधा किसी पात्रमें एकत्र किया जाये, तो पीने केलिए उत्तम होता है, लेकिन ऐसा जल इकट्ठा कर लेना सबके लिए सहज नहीं है। ऐसी स्थिति में इन दिनों पीने के काम में कुएँ का पानी ही उपयोग में लाना चाहिए, वह भी उथले, कम गहरे, बिना ढँके कुएँ का पानी नहीं होना चाहिए। वर्षा के दिनों में नदी या तालाब का पानी तो कदापि नहीं पीना चाहिए। जहाँ सर्वथा स्वच्छ जल मिलने की सुविधा न हो, वहाँ पानी को निर्मली या फिटकरी से शुद्धकर लेना चाहिए, या उबाल कर ठंडा करके पीना चाहिए। पानी को चार तहों वाले मोटे कपड़े से छानकर पीने के काम में लाना ठीक होता है। यों तो पीने के पानी में गंदगी या कीटाणु रहने से वह सदा ही हानिकारक है, तथापि वर्षा के दिनों में पीने के पानी के विषय में सावधानी बहुत जरूरी है। इसी प्रकार नहाने के लिए भी इन दिनों विशेष कर नदी-तालावों के पानी का प्रयोग कम ही करना चाहिए। क्योंकि वर्षा में नदी-तालावों का पानी अधिक गन्दा और कीटाणुयुक्त हो जाता है और उसमें नहानेसे दाद-खाज, फोड़ा-फुंसी आदि चर्मरोग उत्पन्न होते और फैलते हैं।

भोजन कैसा हो ?

वर्षा के दिनोंमें भोजन के विषय में विशेष सावधानी रखनी चाहिए, क्योंकि इन दिनों पाचकाग्नि अधिक कमजोर हो जाती है। इसलिए विशेष रूप से हल्का और सुपाच्य, ताजा, गर्म और अग्नि प्रदीप्त करनेवाला भोजन ही इन दिनों ग्रहण करना चाहिए। वायुशामक, सूखे, गर्म घी, तेल की अधिकतावाले नमकीन और खट्टे पदार्थों का सेवन इस ऋतु में विशेष हितकर होता है। पत्तियोंवाले हरे शाक इस मौसम में नहीं खाने चाहिए। परवल, कैथा, अनार, पोई, प्याज इत्यादि हितकर हैं। इस मौसम में आम और दूध का सेवन करना विशेष उत्तम है। यह मन्दाग्नि और संग्रहणीवालों को भी पच जाता है तथा इसके प्रयोगसे कब्जियत और संग्रहणी रोग दूर होती हैं। शरीर पुष्ट होता है। इस प्रयोग में गूदावाला कलमी आम न लेकर पतले रसवाले चूसा या बीजू आम लेना उत्तम होता है। रसदार आम चूसकर ऊपर से दूध पीना चाहिए।

वर्षाऋतु में पुराना द्राक्षासव का सेवन विशेष हितकर होता है। दही के तोड़ में पीपल, पीपरामूल, चव्य, चित्रक और सोंठ का समानभाग चूर्ण यदा-कदा लेना हितकर होता है। हर्रे के चूर्ण में सेंधा नमक मिलाकर खाना भी लाभदायक रहता है। वर्षाऋतु में गुड़ और गुड़ से बने पदार्थ खाना उचित होता है।

रहन-सहन

वर्षा के दिनों में पानी बरसने से भूमि पर कीचड़ और हानिकर साँप आदि रहते हैं, इसलिए नंगे पैर कभी नहीं चलना चाहिए। पहनने के कपड़ों को सुखाते रहना चाहिए और गीले या सीले कपड़े नहीं पहनना चाहिए, इससे दाद-खाज होने का भय रहता है। ओढ़ने-बिछाने के कपड़ों को भी धूप दिखाते रहना चाहिए। शरीर का धूप से बचाव रखना चाहिए। अधिकतर मकान के ऊपरी भाग में खुली हवावाले ऐसे सायादार स्थान पर बैठना-उठना या सोना चाहिए, जहाँ भूमि से निकलनेवाली जहरीली भाप न पहुँचती हो और बरसात के छींटे भी शरीर पर न पड़ें। वर्षाऋतु में दिन में सोना और पानी मिला हुआ पतला सत्तू खाना अहितकर होता है।

(शेषांश १३८ पृष्ठ पर)

अष्टांगहृदयम्—शारीरस्थानम्

डॉ० शंकरलाल भेड़ा, आयुर्वेदाचार्य

(गत जून अंक से आगे)

धूपयेद् गर्भसङ्गे तु योनिं कृष्णाहिकञ्चुकैः ।
हिरण्यपुष्पीमूलञ्च पाणिपादेन धारयेत् ।।८३।।
सुवर्चलां विशल्यां वा जराय्वपतनेऽपि च ।
कार्यमेतत्तथोत्क्षिप्य बाह्वोरेनां विकम्पयेत् ।।८४।।
कटीमाकोटयेत् पार्ष्ण्या स्फिचौगाढ़ौ निपीडयेत् ।
तालुकण्ठं स्पृशेद्वेण्या मूर्ध्निदद्यात् स्नुहीपयः ।।८५।।
भूर्जलाङ्गलिकीतुम्बीसर्पत्वक्कुष्ठसर्षपैः ।
पृथक् द्वाभ्यां समस्तैर्वा योनिलेपनधूपनम् ।।८६।।
कुष्ठतालीशकल्कं वा सुरामण्डेन पाययेत् ।
यूषेण वा कुलत्थानां वाल्वजेनासवेन वा ।।८७।।

गर्भ की रुकावट हो जाने पर योनि का धूपन करे। इसके लिये काले सर्प की कंचुकी का धुआँ दे । सुवर्ण पुष्पी मूल, सुवर्चला अथवा कलिहारी को हाथ-पैरों पर बांधे। यही चिकित्सा अपरा के पातन में भी करे। जब गर्भ का प्रसव हो जाय तब परिचारिका स्त्रियों में से कोई ध्यान से निश्चय करे कि अपरा बाहर आ गई है या नहीं। यदि अपरा बाहर नहीं आ गई हो तो उनमें से कोई भी स्त्री अपने दाहिने हाथ से प्रसूता की नाभि के ऊपर बल से दबाकर तथा बायें हाथ से पीठ पकड़ कर अच्छी तरह कंपा दे। उस प्रसूता स्त्री की कमर पर एक स्त्री अपने पैरों की एड़ी से दबावे या हलकी चोट लगावे। उसके नितम्बों को हाथों से बलपूर्वक दबावे। बालों के गुच्छे से कण्ठ और तालु का स्पर्श करे। अंगुली पर बाल लपेट कर भी यह कार्य किया जा सकता है। इन कार्यों के करने से गर्भाशय के आकुञ्चनों के होने में सहायता मिलती है। शिर पर थूहर का दूध लगावे। भूर्जपत्र, कलिहारी, कटुतुम्बी, सर्पकञ्चुकी, कुष्ठ, सर्षप इनसे अलग-अलग या दो-दो मिलाकर या समस्त से योनि में लेप करे या योनि में धूप दे। अथवा कुष्ठ और तालीश के कल्क को सुरामण्ड के साथ अथवा कुलत्थ-यूष से या वाल्वज आसव के साथ पिलावे।

वक्तव्य—यह तृतीयावस्था की कर्त्तव्यावस्था है। गर्भसङ्ग—गर्भ का बाहर नहीं निकलना। प्रथमावस्था में प्रसव की वेदना प्रारम्भ होने पर द्वितीयावस्था में भी गर्भ का बाहर नहीं निकलना। सुश्रुत ने गर्भसङ्ग का एक भेद प्रतिलोम निर्दिष्ट किया है। गर्भ के प्रतिलोम या विषम स्थिति में आना। अकाल प्रवाहण तथा प्राप्त काल में अप्रवाहण से भी गर्भसङ्ग हो जाता है। तीसरा-मल-मूत्र की पूर्ण शुद्धि न होने से भी यह सङ्ग होता है। यह चिकित्सा सभी अवस्थाओं में लाभप्रद है। सबाध प्रसवावस्था में आचार्य वाग्भट ने "गर्भसंग" नामक अवस्था विशेष का वर्णन किया है। यद्यपि इस शब्द का वास्तविक अर्थ "गर्भ का रुकावट होना" इतना ही पर्याप्त है। तथापि इसके भीतर अनेक कारणों का समावेश है। जिसका वर्णन प्रायः हो चुका है। कृष्णाहिकञ्चुक-कृष्णसर्पनिर्मोक—इसका प्रयोग घृतयुक्त करना चाहिये। "भूर्जपत्रकाचमणिसर्पनिर्मोकैश्चास्यायोनिं धूपयेत्", "सर्पनिर्मोकाणि घृतयुक्तानि" (च. शा. ८), "गर्भसङ्गे तु योनिं धूपयेत् कृष्णसर्पनिर्मोकेण वा" (सुश्रुत शा. १०), तत्र प्रतिलोममनुलोमयेत्। हिरण्यपुष्पी—लांगली।' 'बध्नीयाद्धिरण्यपुष्पीमूलं हस्तपादयोः" (सुश्रुत शा. १०), "लाङ्गली कटुका चोष्णा कफवातापहा सरा। अपरापातनी चैव सद्यः प्रसव कारिका।" (हाराणचन्द्र) हिरण्यपुष्पी कलिकारिकेति–डल्हनः। सुवर्चला-सूर्यभक्ता। अन्ये तु मारिषसदृशनालमार्तगलसदृशपत्रं लंफलकमाहुरिति–शिवदासः। सूर्यावर्त भेद इत्येके। ब्राह्मीति केचित्। सूर्यमुखीति–हाराणचन्द्रः। "गर्भसङ्गे तु धारयेत् सुवर्चलां-विशल्यां वा"–शाङ्गंधरः। विशल्या—विगतं शल्यं तत्-प्रहार वेदना यस्याः। लांगली—इन्द्रपुष्पीति सुश्रुतपाठः। कण्टकीकृष्णपुष्पकरंज इति डल्हनः। लाङ्गलिकेति

१—गर्भसङ्गे—सुवर्चलाया विशल्याया वा मणिवच्छरीरे धारणम् (इन्दु)

भाष्यकारः । सुवर्चलां विशल्यांवेतीत्यत्र पाटलेति डह्लनः। गुडूचीति हाराणचन्द्रः। उन्मादप्रतिषेधाध्याये "रास्नां विशल्यां लशुन" मित्यत्र गुडूचीति डल्हणचन्द्रौ। लाङ्गलीत्यरुणदत्तः। गर्भपातनीन्द्रुः। विशल्या लाङ्गली दन्ती गुडूची त्रिपुटासु च। शल्येन रहितायां प्रियायां लक्ष्मणस्यच। इति हेमचन्द्रः। जरायु-अपरा Foetal membrane, गर्भ का कोष जिसमें गर्भ गर्भाशय में रहता है। गर्भवेष्टनचर्मपुटकं जरायुः (उदयन), अपरा गर्भस्य नाभिनाड़ी-प्रतिबद्धा "अमरा" इति लोके ख्याता। (चक्रपाणि) जरायुः-उल्वाकारो येन वेष्टितःप्राणिनो जायन्ते इति डह्लनः "या तु चर्माकृतिः सूक्ष्मा जरायुः सा निगद्यते" ति तंत्रान्तरम्। तस्य स्थानम् "गुदमूत्राशयान्तःस्थो जरायुर्गर्भमन्दिरम्। जरायुपार्श्वे नाड्यौके डिंबनाड्यौ-प्रकीर्तिते।" इति अत्रि संहिता। स्नुहीपयः—स्नुह्यति क्षीरं-स्नुक् स्नुही च। "स्नुही च स्नुहा स्नुग्भीस्नुङ" इत्यमरः। "द्विविधः स मतो यश्च बहुभिश्चैव कण्टकः। सुतीक्ष्णैः कंटकैरल्पैः प्रवरो बहुकंटकः। स नाम्ना स्नुग्गुडानन्दा सुधा निस्त्रिंशपत्रकः।" (च. क. १०)। भूर्ज—भृणातिभूर्जः, भूरुर्जोऽस्य इति वा। हिमालयादि पर्वतोपरिस्थः स्वनामख्यात वृक्ष विशेषः। भोजपत्र। लाङ्गलिकी—'अग्निज्वाला लाङ्गलिकी' इति वाचस्पतिः। गर्भपातिनी—कलिहारी। "तीक्ष्णोष्णा कृमिहृल्लध्वी पित्तला गर्भपातिनी (भा. प्र.)। सुधौतं लाङ्गली मूलं वारिणा परिपेषितम्। नाभौ योनौ प्रलिप्तं बा सद्यः प्रसवकृन्मतम्। लाङ्गली वारिणा पिष्ट्वा करपाद प्रलेपिता। अपरां पातयत्याशु न सन्देहोऽथ कश्चन। (वा. उ. ३०)। वाल्वजेनासवेनवा—वाल्वजं वारिणा आसुत्य रात्रौ धारितं तच्छीतकषायो वाल्वज आसव उच्यते। (अ. द.)

शताह्वासर्षपाजाजी शिग्रुतीक्ष्णकचित्रकैः।
सहिंगुकुष्ठमदनैर्मूत्रे क्षीरे च सार्षपम् ।।८८।।
तैलं सिद्धं हितं पायौ योन्यां वाऽप्यनुवासनम्।
शतपुष्पावचाकुष्ठकणासर्षपकल्कितः ।।८९।।
निरूहः पातयत्याशु सस्नेहलवणोऽपराम्।
तत्सङ्गेह्यनिलो हेतुः सानिर्यात्याशु तज्जयात् ।।९०।।
कुशला पाणिनाक्तेन हरेत् क्लृप्तनखेन वा।
मुक्तगर्भापरां योनिं तैलेनाङ्गञ्च मर्दयेत् ।।९१।।

सौंफ, सरसों, जीरा, पीपल, चित्रक, हींग, कुष्ठ, मदनफल—इनके कल्क से गोमूत्र और दुग्ध में सिद्ध किये सर्षप के तैल की अनुवासनवस्ति गुदा और योनि में दे। शतपुष्पा, वचा, कुष्ठ, पीपल तथा सरसों का कल्क स्नेह और लवण के साथ दिया हुआ निरूह अपरा को शीघ्र बाहर निकाल देता है। अपरा के रोकने में वायु कारण है। वायु का प्रशमन होने से अपरा शीघ्र निकल जाती है। कुशल स्त्री घृत-तैल आदि से हाथ को सचिक्कण करके नखों को कटवाकर अपरा को बाहर निकाल दे। गर्भ और अपरा के निकल जाने पर शरीर और योनि में तैल का अभ्यङ्ग करे।

वक्तव्य—बालक उत्पन्न होने के बाद अपरा का निष्कासन करना प्रसव की तृतीयावस्था होती है। उसके निकालने के लिये ऊपर उपाय बताये गए हैं। प्रसव के तृतीयावस्था की यही प्रधान घटना होती है। चरक-सुश्रुतादि सभी आचार्यों का यह मत है कि अपरा के न निकलने से आनाह और आध्मान हो जाते हैं[1]। अतः अपरा-पातन के लिये निर्दिष्ट उपायों को करना चाहिये। यद्यपि स्वभावानुसार अपरा का पातन भी स्वभाव के ऊपर ही छोड़ा गया है। अगर उससे काम नहीं चले तो स्वभाव को सहायता करने वाले बाह्य चिकित्सा का प्रयोग

१—अथापराऽपतन्त्यानाहाध्मानौ कुरुते, तस्मात् कण्ठमस्याः केशवेष्टितया अंगुल्या प्रमृजेत्, कटुकालाबुकृतवेधन-सर्षपसर्पनिर्मोकैर्वा कटुतैलविमिश्रैर्योनिमुखं धूपयेत्। लाङ्गलीमूलकल्केन वास्याः पाणिपादतलमालिम्पेत्... स्निग्धेन वा क्लृप्तनखेन हस्तेनापहरेत्—इति (सु॰ शा॰ १०)

तस्याश्चेदपरा न प्रपन्नास्यात्, अथैनामन्यतमा स्त्री दक्षिणेनपाणिना नाभेरुपरिष्टाद् बलवान्निष्पीड्य सव्येन पृष्ठतउपसंगृह्य सुनिर्धूतं निर्धूनुयात्... इत्यादि। (च॰ शा॰ ८)।

अथापतन्तीमपरां पातयेत् पूर्ववद्भिषक्।
हस्तेनापहरेद् वापि पार्श्वाभ्यां परिपीड्य वा ।।१।।
धुनुयाच्च मृदुर्नारीं पीडयेद्वांसपिण्डिकाम्।
तैलाक्तयोनेरेवं तां पातयेन्मतिमान् भिषक् ।।२।।
(सु चि. १५ अ.)

सूतायाश्चापि तत्र स्यादपरा चेन्न निर्गता। प्रसूताऽपि न सूता स्त्री भवत्येवं गते सति। प्रजातमात्रामाश्वास्य सुतां शुक्ला विजा (प्रसा) विका। न्युब्जांशयानां संवाह्य पृष्ठे सश्लीष्यकुक्षिणा। पीडयेद् घट्टमुदरंगर्भदोषप्रवृत्तये। महाताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत्। तेनोदरं स्व-संस्थानं याति वायुश्च शाम्यति। (सूतिकोपक्रमणीये कश्यपः)

करना चाहिये। इन उपायों से लाभ नहीं होने पर ही आखिरी में हाथों से निकालना चाहिये। चरकसंहिता में बाहर का उपाय ही अधिक लिखा है। हस्तापहरण की विधि नहीं लिखी है। हस्तापहरण की विधि बहुत शुद्धता के साथ करनी चाहिये। अत्यन्त आवश्यकता होने पर ही आधुनिक काल में करते हैं तथा इन्हीं स्थितियों में करना भी चाहिये, क्योंकि थोड़ी-सी भी अशुद्धि हो जाने से संक्रामक रोगों का तथा जरायु के भाग भीतर रहने का एवं रक्तस्रावादि उपद्रवों का भी भय रहता है। इसलिये यहां पर भी यह क्रिया अन्त में निर्दिष्ट की है।

मक्कलाख्ये शिरोवस्ति कोष्ठशूलेतु पाययेत् ।।
सुचूर्णितं यवक्षारं घृतेनोष्ण जलेन वा ।।९२।।
धान्याम्बु वा गुडव्योषत्रिजातकं रजोऽन्वितम् ।

शिर,वस्ति,कोष्ठ में शूल उत्पन्न करने वाले मक्कल्ल नामक रोग में घृत के साथ अथवा गरम जल के साथ यवक्षार का सूक्ष्म चूर्ण दें।

वक्तव्य–गर्भाशय से मूढगर्भ निकालने के लिये किये हुए प्रबल आकुञ्चन कर्म से उत्थित भयङ्कर शूल को मक्कल कहते हैं।

यह रोग प्रजाता स्त्रियों को होता है, उस समय गर्भ के वहिर्निष्कासन के लिये अत्यन्त पीड़ा होती है, इसलिये कभी प्रक्षोभ के कारण, कभी अपरा (जरायु) शेष रह जाने से, कभी भीतर रक्त जम जाने से, कभी कोई निश्चित कारण न मालूम होने पर भी प्रसवोत्तर काल में गर्भाशय में सङ्कोच होते हैं, उनसे मक्कल शूल उत्पन्न होता है।

सुश्रुत में लिखा है कि प्रजाता स्त्रियों में यदि उनका शरीर रूक्ष हो, तथा तीक्ष्ण औषधियों के द्वारा उनके रक्त का विशोधन न किया गया हो तो वायु के द्वारा अवरुद्ध हुआ रक्त नाभि के नीचे पार्श्व, वस्ति और वस्ति-शीर्ष के ऊपर एक ग्रन्थिवत् उभार पैदा करता है। इसमें नाभि, वस्ति और उदर में शूल होने लगता हैं। प्रारम्भ में यह पीड़ा सूई चुभने जैसी होती है, अनन्तर बढ़कर भेदन और दारण (चीर रहा हो या फाड़ रहा हो) के समान वेदना होने लगती है। सम्पूर्ण उदर आध्मान युक्त हो जाता है। मूत्रस्राव भी वन्द हो जाता है। इस शूल को "मक्कल" शूल कहते हैं।

संग्रह में "मक्कल" का उल्लेख "मर्कल" नाम से किया है[1]। चरक संहिता में इसका वर्णन नहीं है। इस श्लोक में यह विशेषता है कि इसमें प्रधान तीन लक्षणों के साथ संक्षिप्त में इसका लक्षण तथा चिकित्सा वता दी गयी है। माधव निदान में इसी रूप से इसके लक्षण लिखे हैं[2]। प्रसूतावस्था में स्त्री को वेदना देनेवाले दो रोगों का वर्णन है—१ आवी और २ मक्कल्ल। सिद्धान्ततः कार्य की दृष्टि से आवी और मक्कल्ल में कोई भेद नहीं है। आवी गर्भजन्म के पूर्व होती है तथा गर्भ को वाहर निकालना उसका प्रधान कार्य है। मक्कल्ल गर्भजन्मोत्तर में होता है तथा गर्भ दोषों को निकालने के लिये। उस समय रक्त गर्भाशय के भीतर जमने लगता है तथा उसकी ग्रन्थियाँ बनने लगती हैं, इनको निकालने के लिये उस समय उत्पन्न गर्भाशय-संकोच कर्म से यह शूल (प्रसवोत्तर वेदना) उत्पन्न होती है। इसलिये काल और कारण को ध्यान में रखकर यह निश्चय कर सकते हैं कि 'आवी' प्रसव पूर्व गर्भ-निःसारण वेदना तथा मक्कल्ल प्रसवोत्तरकालीन गर्भ-दोष-निःसारक वेदना होती है। गर्भाशय से गर्भ निकल जाने के बाद उदर में शून्यता तथा रिक्तता हो जाने से एवं योनिद्वार के समीपस्थ भाग में प्रसवकालीन आघातादि के कारण मलद्वार एवं मूत्रद्वार के सुषिरस्नायु Sphincters संकुचित हो जाते हैं। इसलिये मल और मूत्र का अवरोध होता है तथा आध्मान और आनाह हो जाते हैं (का. सं.[3])

ऊपर निर्दिष्ट सुश्रुत के वचन से स्पष्ट ज्ञात होता है कि मूढगर्भ के निकालने के लिये गर्भाशय के प्रबल आकुञ्चनों

१-प्रजातायाश्च नार्या रूक्षशरीरायास्तीक्ष्णैरविशोधितं-रक्तं वायुना तदद्देशगतेनातिसंरुद्धं [illegible] बस्ति शिरसि वा ग्रन्थिं करोति, ततश्च नाभि वस्त्युदर शूलानि भवन्ति, सूचिभिरिवनिस्तुद्यते भिद्यते दीर्यत इव च पक्वाशयः। समन्तादाध्मानमुदरे मूत्रसङ्गश्च भवतीति मक्कललक्षणम्। (सु. शा. १०)।
प्रजातायाः प्रजनन शोणितसंजननशूलं मक्कल्लः। (डल्हन)

प्रजाताया वायुरसृगारोध्य बस्तिशिरः प्रभृतिषु शूलं करोति स मक्कल्लः (न्यायचन्द्रिका)।

१–प्रजातायां चेद्बस्तिमूर्धोदरेषु शूलं मर्कलाख्यं स्यात्तत्र यवक्षारचूर्णं सर्पिषा सुखोष्णोदकेन वा (अ. सं.)।

२–वायुः प्रकुपितः कुर्यात् संरुध्य रुधिरं स्नुतम्।
सूतिकाया हृच्छिरोबस्ति शूलं मक्कल्ल संज्ञकम्। (मा. नि.)

३–[illegible]पि। (का. सं.)

से उत्पन्न हुआ दारुण शूल Tonic or tetanicc contraction of the uterus अथवा पश्चात् कालीन शूल (After pain को मक्कल्ल कहते हैं। डल्हन[1] ने मक्कल्ल के विषय में लिखा है कि "यह अप्रजाताओं[2] में भी मिल सकता है, अतः मक्कल्ल जो प्रजाताओं में ही मिलता है, उसके लिये एक दूसरा पर्याय "गर्भकोष परासङ्ग" Uterine inertia" नाम दिया है, अन्यथा दोनों एक ही है। इसमें गर्भकोष गर्भाशय का अत्यन्त निरोध हो जाता है तथा माता की मृत्यु भी हो जाती है। यह अवस्था Retraction ring या Uterine inertia में होती है।

चक्रपाणि ने भी डल्हणानुसार ही लिखा है। शार्ङ्गधर में आठ गर्भज रोगों में मक्कल्ल भी है—वहां दीपिका[3] में लिखा है कि "मक्कल्ल-वातज शूल विशेष है" यह दो तरह का होता है–१-गर्भावस्था में और २-सूतिकावस्था में। चक्रपाणि तथा दीपिकाकार ने तंत्रान्तर में इसको "योनि संवरण" नाम दिया है।

सुश्रुत ने असाध्य मूढ़गर्भ की विकृति के लक्षणों में ही योनिसंवृति (योनिसंवरण) लिखा है। अर्थात् गर्भाशय का अधिक काल तक संकोचस्थिति में अवस्थान Sicnosis and atresia of the cervix or Vagina मक्कल्ल की एक मक्कल्ल विद्रधि भी होती है, इसका वर्णन सुश्रुत तथा सूतिका काल में होने वाले चौसठ रोगों में (सूतिकोपक्रमीयाध्याय में) मक्कल्ल विद्रधि "Putrid endometritis" का निर्देश हुआ है।[1]

अथ बालोपचारेण बालं योषिदुपाचरेत् ॥६३॥
सूतिका क्षुद्वती तैलाद् घृताद् वा महतीं पिबेत्।
पञ्चकोलकिनीमात्रामनुचोष्णं गुड़ोदकम् ॥६४॥
वातघ्नौषधतोयं वा, तथा वायुर्न कुप्यति।
विशुद्धयति च दुष्टास्रं द्वित्रिरात्रमयं क्रमः ॥६५॥
स्नेहयोग्या तु निःस्नेहममुमेवविधिं भजेत्।
पीतवत्याश्च जठरं यमकाक्तं विवेष्टयेत् ॥६६॥

इसके बाद प्रसूता स्त्री बालोपचरणीय अध्याय में वर्णित विधि के अनुसार बालक की परिचर्या करे। प्रसूता स्त्री क्षुधा लगने पर सूक्ष्म पञ्चकोलचूर्ण युक्त घृत या तैल बड़ी मात्रा में पीवे। ऊपर से गुड़ का गरम जल पीवे। अथवा वातघ्न औषधियों का क्वाथ पीवे। ऐसा करने से वायु कुपित नहीं होता है, दूषित रक्त भी शुद्ध हो जाता है। यह विधि दो-तीन दिन तक करे। जिस प्रसूता को स्नेह अनुकूल नहीं हो उसे स्नेह रहित इसी विधि को करना चाहिए। पीने के बाद इसके जठर को घृत या तैल से अभ्यङ्ग करे तथा वस्त्र से लपेट दे।

वक्तव्य—इन श्लोकों में सूतिकोपक्रमकर्म के लिये विशेषतः, स्नेहादिपान तथा उदरवेष्टन के लिये निर्देश किया है। अर्थात् सूतिका को बलातैल से अभ्यङ्ग कराकर पञ्चकोलचूर्ण युक्त स्नेह पान करावे। अनुपान में उष्णगुड़ोदक का उपयोग करे तथा वातघ्नौषध (यवानी, उपकुञ्चिका, चित्रकादि)—क्वाथ स्नेहद्वेषिणी स्त्रियों को पिलावे। पीने पर वस्त्र का उदर पर परिवेष्टन करे। महर्षि चरक ने "सूतिकांतु खलु बुभुक्षितां विदित्वा स्नेहं पाययेद् परमया शक्त्या सर्पिस्तैलं वसां मज्जानं वा सात्मीभावमभिसमीक्ष्य पिप्पलीपिप्पलीमूलचव्यचित्रकशृङ्गवेर चूर्ण सहितम्। स्नेहपीतवत्याश्च सर्पिस्तैलाभ्यामभ्यज्य

---

[1] १–गर्भकोषपरासंज्ञो मक्कल्लो योनि संवृतिः। हन्यात्-स्त्रियं मूढगर्भे—तथा प्रजातायाश्चेति-चकारान्नकेवलं प्रजातायाः, अप्रजाताया अपि मक्कल्लो भवति, गर्भाशयाच्च्युत गर्भाया योनिद्वारासक्त गर्भायाश्च रक्तं स्तुतमन्तः स्थितं पच्यमानं मक्कल्ल संज्ञं भवतीति ज्ञेयम् (डल्हण-सु. नि.)

[2] २–प्रजातायाश्चेति चकारेण अप्रजाताया अपि गर्भाशयाच्च्युतंशोणितं मक्कल्लं करोतीति मक्कल्लोपद्रव पाठादेव कारकेयम् (भानुमती सु. नि.)

[3] ३–मक्कल्लो मारुतज शूल विशेषः। स द्विविधोभवति। एको गर्भावस्थायां, अपरः सूतिकावस्थायाम्। इति। तद्यथा-मानसागन्तुभिरुपतापैः प्रपीडितो यो गर्भः कुक्षौ वेदनां जनयति स गर्भमक्कल्लः। यत्र प्रकुपितो वायुः सूताया अत्यन्तं रुधिरं संरुध्य हृदच्छरोबस्तिशूलं करोति स प्रसूति–मक्कल्ल इति। मातरिश्वा प्रकुपितो योनिद्वारस्य संवृतिम्। कुरुते रुद्धमार्गत्वात् पुनरन्तर्गतोऽनिलः। निरुणद्ध्याशयद्वारं गर्भसंस्थितिम्। निरुद्ध वदनोच्छवासो गर्भश्चाशु विपद्यते। विपन्नः शूनसर्वाङ्गः सर्वाण्येवापराण्यपि। बध्वा संरुद्ध हृदयां नाशयत्यपि गर्भिणीम्। योनिसंवरणं त्वेनं व्याधिं विद्यात् सुदारुणम्। अन्तक प्रतिमं घोरं नारभेत चिकित्सितुम्। (भानुमत्यांदीपिकायाञ्च तंत्रान्तर वचनानि)

[1] १–स्त्रीणामप्रजातानां प्रजातानां तथाऽहितैः।
दाहज्वरकरोघोरो जायते रक्तविद्रधिः।
अपि सम्यक् प्रजातानामसृक् कायादनिःसृतम्।
रक्तजं विद्रधिं कुर्यात् कुक्षौ मक्कल्ल संहितम्। (सु. नि.)
सप्ताहाद्वोपशान्तश्चेत्ततोऽसौ संप्रमुच्यते।

वेष्टयेदुदरं महता वाससा तथा तस्या न वायुरुदरे विकृतिमुत्पादयत्यनवकाशत्वात् ।" (च. शा. ८) ।

काश्यप संहिता में भी—

प्रजातमात्रामाश्वास्य सूतां शक्ला विजातिका ।
न्युब्जां शयानां संवाह्य पृष्ठे संलिष्य कुक्षिणा ।
पीडयेद् घट्टमुदरं गर्भदोषप्रवृत्तये ।
महताऽदुष्टपट्टेन कुक्षिपार्श्वे च वेष्टयेत् ।
तेनोदरं स्वसंस्थानं याति वायुश्च शाम्यति ।

दुष्टास्र—एवं द्विरात्रं त्रिरात्रं वा कुर्यादादुष्ट शोणितात् । (सुश्रुत) । इसकी अवधि तीन दिन की होती है । तैलाद् घृताद्वा—सुश्रुत ने भी "घृततैलयोरन्यतरस्य मात्रां पाययेत्" लिखा है, किन्तु काश्यप ने "कुमार प्रसवे तैलं कुमारी प्रसवे घृतम्." से पुत्र प्रजाता के लिये तैल तथा कन्या प्रजाता के लिये घृत निर्दिष्ट किया है । इस संहिता में प्रसूता की परिचर्या तथा स्वस्थवृत्त एवं अपरा निकल जाने के बाद प्रसूता की परिचर्या का विस्तृत वर्णन किया है—

ततोऽग्निबलवद् वीक्ष्य त्र्यहं पञ्चाहमेव वा ।
मण्डानुपानमन्वक्षं पिबेत् स्नेहं हिताशिनी ।
स्नेहःयुपरमेऽश्नीयाद् अल्पस्नेहामसैन्धवाम् ।
यवागूं त्र्यहमेवात्र पिप्पलीनागराश्रिताम् ।
स्याद् व्यपेतौषधी पश्चात् सस्नेह लवणोत्तरा ।
कुलत्थयूषः सस्नेहलवणाम्लस्ततः परम् ।
तथैवजाङ्गलरसः शाकानीमानि चाप्यतः ।
घृतभृष्टानि कुष्माण्डमूलकैर्वासिकानि च ।
उष्णोदकोपचारञ्च स्वस्थवृत्तमतःपरम् । (का. सं.)

वेष्टयेत्—स्नेहपीतासूतिका के उदर पर घृत या तैल लगाकर एक चौड़ा कपड़ा बांधने से अवकाश के न रहने के कारण वायु विकार को उत्पन्न नहीं करता है । इस बन्धन से परिश्रान्त बस्तिगह्वरसन्धियों एवं मांसपेशियों को पूर्ण सहायता मिलती है । यह बन्धन कौड़ी प्रदेश से उरू मध्य तक लगानी चाहिये क्योंकि गर्भाशय से गर्भ बाहर आने के बाद उदरगुहा में शून्यता-रिक्तता आदि उत्पन्न होने से तथा उदरप्राचीर की पेशियाँ गर्भवृद्धि के तनाव के कारण दुर्बल एवं शिथिल हो जाती हैं, इसलिये यह बन्धन आवश्यक है । अष्टांग संग्रह तथा चरक में यवागू पान करने से पूर्व दिन में दो बार उष्ण जल से परिषिञ्चन करने की आज्ञा है । "उभयतःकालं चोष्णो[illegible] च परिषेचयेत् [illegible] स्नेहयवागूभ्याम् "इति । काश्यप संहिता में 'त्रिविध देशों में स्त्री की परिचर्या' इस तरह संक्षिप्त सूत्रों में लिखी है—

त्रिविधं देशमाश्रित्य वक्ष्यामि त्रिविधं विधिम् ।
आनूपदेशे भूयिष्ठं वातश्लेष्मात्मका गदाः ।
तत्राभिस्यन्द भूयिष्ठत्वादादौ स्नेहो विगर्हितः ।
मण्डादिरत्र कर्त्तव्यः संसर्गोऽग्निबलावहः ।
स्वेदो निवातशयनं सर्वमुष्णं च शस्यते ।
नियतं जाङ्गले देशे वातपित्तात्मिका गदाः ।
तदत्र स्नेहसात्म्यत्वात् स्नेहादिः स्यादुपक्रमः ।
कार्यं प्रजातमात्रायां विशेषश्चात्र बुध्यते ।
कुमार प्रसवे तैलं कुमारी प्रसवे घृतम् ।
पिबेद् जीर्णे यवागूञ्च दीपनीयोपसंस्कृताम् ।
पञ्चाहं सप्तरात्रं वा ततो मण्डाद्युपक्रमः ।
देशेसाधारणे चास्या हितः साधारणो विधिः ।
(सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)

जीर्णे स्नाता पिबेत् पेयां पूर्वोक्तौषधसाधिताम् ।
त्र्यहादूर्ध्वं विदार्यादिवर्गक्वाथेन साधिता ॥९७॥
हिता यवागूः स्नेहाढ्या सात्म्यतः पयसाऽथवा ।
सप्तरात्रात्परं चास्यै क्रमशो बृंहणं हितम् ॥९८॥
द्वादशाहेऽनतिक्रान्ते पिशितं नोपयोजयेत् ।

स्नेह की मात्रा जीर्ण होने पर स्नान करे । पूर्वोक्त औषधियों से साधित पेया का सेवन करे । तीन दिन के बाद विदार्यादिगण के क्वाथ से सिद्ध अधिकस्नेह युक्त यवागू हितप्रद है । अथवा सात्म्य होने पर दूध से सिद्ध की हुई यवागू दे । सात दिन के बाद इस स्त्री का क्रमशः बृंहण उपचार करे ।

वक्तव्य—पूर्वोक्तौषध—कदुष्णगुड़ोदक अथवा वातहर द्रव्यों का क्वाथ । या पञ्चकोल साधित विदार्यादि वर्ग—"विदारि पञ्चांगुल वृश्चिकाली वृश्चीव देवाह्वय शूर्पपर्ण्यः । कण्डूकरी जीवन ह्रस्वसंज्ञे, द्वेपञ्चके गोपसुता त्रिपादि । विदार्यादिरयंहृद्यो बृंहणो वातपित्तहा ।" (अ. हृ. सू. १५) । बृंहण—जीवनीय बृंहणीय मधुरवर्गों से सिद्ध अभ्यङ्ग उद्वर्तन, परिषेक, अवगाहन तथा हृद्य अन्नपानों का प्रयोग करना चाहिये । "जीवनीय-बृंहणीय-मधुर-वातहर सिद्धैरन्नपानैश्च हृद्यैरुपाचरेत् । एवं पुनर्नवी भवति" । (अ. सं. शा. ३) । सात्म्यतः—इसका प्रयोग देश तथा [illegible] करना चाहिये—जैसे-

वैदेश्याश्च प्रयच्छन्ति विविधा म्लेच्छजातयः ।
रक्तमांसस्य निर्यूहं कन्दमूलफलानि च ।
कुलसात्म्यं च बुध्येत यस्मिन् यस्मिन् यथा यथा ।
औचित्यात् कुलसात्म्यस्य तत्तथैवानुवर्तते ।
अतो नैकान्तिकत्वाच्च सूतिकोपक्रमस्य च ।
देशं च जातिसात्म्यश्च संप्रधार्य प्रयोजयेत् । (काश्यप-संहिता) ।

द्वादशाहे––द्वादशरात्रात्परं जाङ्गलरसादिभिश्च क्रमादाप्याययेदग्निबलादीन्यपेक्ष्य । क्वथितं शीतञ्च तोयं पाययेत् (अ. सं.) ।

प्रसूति–सुश्रूषा

यत्नेनोपचरेत् सूतां, दुःसाध्यो हि तदामयः ।।९९।
गर्भवृद्धिः प्रसवरुक् क्लेदास्रस्रुतिपीडनैः ।

प्रसूता स्त्री की चिकित्सा प्रयत्नपूर्वक करे, क्योंकि उसके रोग दुःसाध्य होते हैं । गर्भ की वृद्धि, प्रसव की वेदना, क्लेद, रक्तस्रुति तथा पीडन (दवाव) आदि के कारण इनके रोग दुःसाध्य होते हैं ।

वक्तव्य––पूर्वोक्त उपचारों के करने से प्रसव कर्म से दुःखित स्त्री पुनः नवीभूत हो जाती है । पूर्वनिर्दिष्ट सूतिकोपक्रम तथा दुःसाध्य के कारणों का गम्भीरता से अध्ययन करने से स्पष्ट विदित होता है कि सूतिका के रोगों का कारण ये दो ही हैं । १-मिथ्यापचार और २-अत्यपतर्पण । गर्भावस्था में गर्भवृद्धि के निमित्त सगर्भा के शरीर के अधिक धातु क्षयित हो जाते हैं, इसमें उनका शरीर शिथिल हो जाता है, एवं इसके अतिरिक्त प्रसवावस्था में प्रवाहण आदि कारणों से प्रजायिनी स्त्री का शरीर रिक्त हो जाता है. . . तस्यास्तु खलु यो व्याधिरुत्पद्यते स कृच्छ्रसाध्योभवत्यसाध्यो वा गर्भवृद्धिक्षयितशिथिल सर्वधातुत्वात्, प्रवाहण वेदना क्लेदन रक्तनिःस्रुति विशेषशून्यशरीरत्वाच्च" इति ।

तथा––
मिथ्याचारात् सूतिकाया यो व्याधिरुपजायते ।
सकृच्छ्रसाध्योऽसाध्यो वा भवत्यपतर्पणात् ।
तस्मात्तां देशकालौ च व्याधिसात्म्येन कर्मणा ।
परीक्ष्योपचरेन्नित्यमेवं नात्ययमाप्नुपात् ।। (सु.शा. १०)

आयुर्वेद में चिकित्साक्रम सन्तर्पण एवं अपतर्पण भेद से दो प्रकार का माना गया है । जिस का वर्णन इसी ग्रन्थ के सूत्रस्थान अ. १४ में "एकः सन्तर्पणस्तत्रद्वितीयश्चापतर्पणः" बृंहयेद्व्याधिभैषज्यमद्यस्त्रीशोककर्शितान् । गर्भिणी सूतिका बाला बृद्धान् ग्रीष्मे परानपि" आदि है इस अवस्था में बृंहण की आवश्यकता है । इसीलिये प्रसूता स्त्री क्षीण मांस युक्त होने से उस की सभी रोगों में सन्तर्पण-चिकित्सा परम उपयुक्त होती है । आचार्य ने अतिसंक्षेप में गर्भाशय की स्थिति, देश-काल आदि को ध्यान में रखकर आहार, विहार, मल-मूत्र विसर्जन, मानसिक स्वास्थ्य, मैथुन, अपत्य-पथ दौर्वल्य, गर्भाधानजन्य विकृतियाँ, अभ्यङ्ग, स्नान, अवगाहन, आवश्यक परिचर्या, आगन्तुक जीवाणुजन्य विकृतियों के परिहारों का वर्णन कर दिया है ।

प्रसूताहितमाहारं विहारश्च समाचरेत् ।
व्यायामं मैथुनं क्रोधं शीतसेवां विवर्जयेत् ।
सर्वतः परिशुद्धा स्यात् स्निग्धपथ्याल्प भोजना ।
स्वेदाभ्यङ्गपरा नित्यं भवेन्मासमतन्द्रिता ।
व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय बलवर्णिनाम् ।
ऊर्ध्वं चतुर्भ्यो मासेभ्यो नियमं परिहारयेत् ।
(भावप्रकाश)

यही वर्णन सुश्रुत की मूढ़गर्भचिकित्सा में भी हुआ है । इन दोनों में १ स्थानिक विकृतियाँ, २ समीपवर्ती विकृतियां, और ३ सार्वदैहिक दूरवर्ती विकृतियाँ आदि से सम्बन्ध रखने वाले रोगों में काश्यपसंहितोक्त––चतुःषष्ठिरोगों का समावेश हो जाता है ।

योनिभ्रष्टाक्षताचैव विभिन्ना मूत्रसङ्गिनी ।
सशोफस्राविणी चैव प्रसुप्ता वेदनावती ।
पार्श्वपृष्ठकटीशूलं हृदिशूलं विसूचिका ।
प्लीहामहोदरत्वं च शाखावातोऽङ्गमर्दकः ।
भ्रूक्षेपको हनुस्तम्भो मन्यास्तम्भोऽपतानकः ।
मक्कल्लो विद्रधिः शोफः प्रलापोन्मादकामलाः ।
दौर्बल्यं भ्रमलीकार्श्यं भक्तद्वेषोऽविपाचकः ।
ज्वरातिसारौ वैसर्पश्छर्दिस्तृष्णा प्रवाहिका ।
हिक्काश्वासश्च कासश्च पाण्डुर्गुल्मश्च रक्तजः ।
अनाहाध्मापने चोभे वर्चोमूत्रग्रहावपि ।
मुखरोगोऽक्षिरोगश्च प्रतिश्यायगलग्रहौ ।
राजयक्ष्मार्दितं कम्पः कर्णस्रावः प्रजागरः ।
उष्णवातोग्रहाबाधःस्तनरोगोऽथ रोहिणी ।
वाताष्ठीला वातगुल्म रक्तपित्त विचर्चिकाः ।
इत्येते सूतिका रोगाश्चतुःषष्ठिरुदाहृताः ।
(सूतिकोपक्रमणीयाध्याय)

इस सूची से स्पष्ट होता है कि पाश्चात्य ग्रन्थों में निर्दिष्ट प्रायः उन समस्त रोगों का भी समावेश हो जाता है जो सूतिकोपसर्ग के लक्षण, स्वरूप एवं उपद्रवरूपों में देखने में आते हैं। इनके साथ ही सूतिकोपसर्ग के अतिरिक्त सूतिकाकाल में होनेवाले रोगों का भी वर्णन आ जाता है। यह अवश्य है कि—इनका वर्णन अति सूक्ष्म है परन्तु वर्णन आवश्यक एवं परम उपादेय है।

एवं च मासादध्यर्धान् मुक्ताहारादियंत्रणा।
गतसूताभिधानास्यात्पुनरार्तवदर्शनात् ।।१००

इस तरह अध्यर्धमास (डेढ मास) तक प्रसूता के नियमों का पालन करते हुए क्रमशः आहार-विहारादि के नियमों को शिथिल करते हुए सूतिका नाम से होती है। अन्य आचार्यों की मान्यता है कि जब तक पुनः आर्तव दर्शन न हो तब तक स्त्री को सूतिका के नियमों का ध्यान रखना चाहिये।

वक्तव्य—प्राय; तृतीय, चतुर्थ मास के भीतर ही रजोदर्शन हो जाता है। ऐसी स्त्रियाँ जो कुमारों को स्तन्यपान नहीं कराती हैं, उन्हें पैंतालीस दिन में ही रजःस्राव होने लगता है। इस प्रकार पुनः आर्तव दर्शन पर्यन्त सूतिकाकाल की मर्यादा का ज्ञान करना चाहिए। "अध्यर्धमासम्—त्रीणि पक्षाणि" यह प्रसूता की अवस्था की अवधि का निर्देश है।

"व्युपद्रवां विशुद्धां च विज्ञाय वरवर्णिनीम्। ऊर्ध्वं चतुर्भ्यों मासेभ्यो नियमं परिहारयेत्" आदि वचनों के आधार पर प्राचीन प्रथा के अनुसार सूतिका की अवधि तीन मास की मानी जाती है। चतुर्थ मास से गत सूतिकाभिधाना तथा मुक्ताहारादि यंत्रणा हो जाती है। "अनेन विधिनाऽध्यर्धमासमुपसंस्कृता विमुक्ताहाराचारा विगतसूतिकाभिधानास्यात्, पुनरार्तवदर्शनादित्येके" (सुश्रुत)। अर्थात् सूतिकावस्था कम-से-कम डेढ मास की तथा अधिक-से-अधिक तीन मास की अवधि मानना उचित है।

इति श्री वैद्यपतिसिंह गुप्त सूनू श्रीमद्वाग्भट विरचितायामष्टाङ्गहृदयसहितायां द्वितीये शारीरस्थाने गर्भावक्रान्तिर्नाम प्रथमोध्यायः।

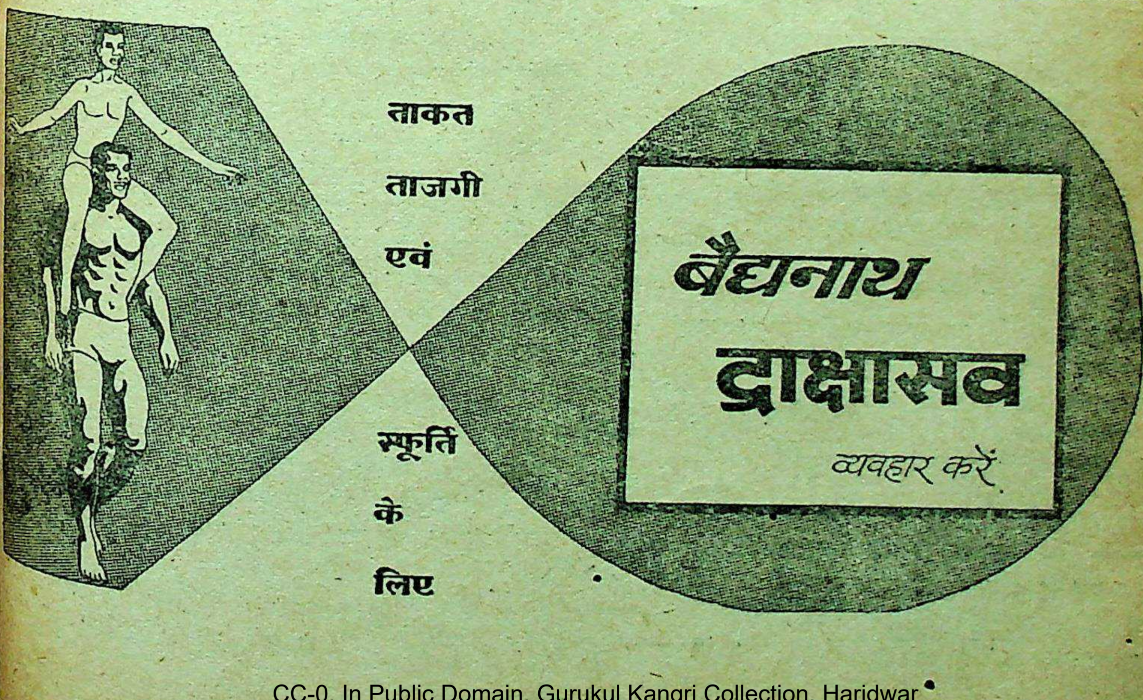

पाठकों के विचार

मयूर शिखा

'सचित्र आयुर्वेद' (मई १९६०) के अंक में "मयूर शिखा" शीर्षक एक लेख ठाकुर बलवन्त सिंह, एम. एस-सी का प्रकाशित हुआ है। ठाकुर साहब आयुर्वेदिक कालेज (हिन्दू विश्वविद्यालय) वाराणसी में वनस्पतिशास्त्र (बोटानी) के प्रोफेसर हैं और उन्होंने कई प्रान्तों के पर्वतों-जंगलों में भ्रमण कर अनेक नवीनतम और सन्दिग्ध वनस्पतियों का अनुशीलन-अध्ययन किया है। वनौषधि अन्वेषणार्थ आप प्रायः भ्रमण करते ही रहते हैं। अपने भ्रमण काल में वहाँ के वनवासियों से भी तत्तत्स्थानीय जड़ी-बूटियों के नाम-गुण-धर्म आदि के विषय में आप जिज्ञासा करते हैं और यदि कोई नवीन नाम की जड़ी-बूटी मिल गई तो आयुर्वेदीय संदिग्ध या असन्दिग्ध वनस्पतियों के साथ उस पर विचार भी व्यक्त कर देते हैं। ऐसे विद्वानों का मन्तव्य सर्वदा विचारणीय होता है। आपका मन्तव्य है कि—"लोकप्रचलित नाम तथा उसका उपयोग हमारे मन्तव्य का मुख्य आधार है।" परन्तु किसी भी लोकप्रचलित नाम के आधार पर शास्त्रोक्त वनस्पति के निर्णय में बहुत त्रुटि रहना सम्भव है। क्योंकि लोकप्रचलित अथवा वनवासियों द्वारा प्रदत्त नाम तर्क की अपेक्षा रखता है, यद्यपि कभी-कभी इनके द्वारा प्रदत्त नाम हमें नया मार्ग-दर्शन भी कराते हैं।

जिसको गुजराती भाषा में "गलजीभी" या "मोंच पाथरी" कहते हैं—उस प्रसिद्ध वनस्पति को विद्वान् लेखक ने "मयूर शिखा" सिद्ध करने का प्रयास इस लेख में किया है। कारण, इसे सिंहभूमि जिले की "हो" नामक आदिवासी जाति में "माराचूड़ा," रांची के सन्थालों में "मयूरजूरी" पलामू के लाट नामक जंगली प्रदेश की खरवार नामक आदिवासी जाति में "मयूर चुरिया" कहा जाता है। आपका कहना है कि इन सब शब्दों का अर्थ "मयूर शिखा" है। लेखक का इन आदिवासी आरण्यक जातियों में प्रचलित नामों के प्रति विशेष पक्षपात है इसलिए वे मानते हैं कि शास्त्रोक्त "मयूर-शिखा" "गलजीभी" ही होनी चाहिए।

हम स्व० यादवजी त्रिकमजी आन्वार्य के मन्तव्य से सहमत हैं। आचायजी के अनुसार गोजिह्वा का अर्थ है—यूनानी हकीमों की "गावज़वान"। अर्थात् जहाँ औषध के रूप में "गोजिह्वा" का निर्देश हो वहाँ "गावज़वान" का उपयोग करना चाहिये और शाक के रूप में गोजिह्वा शब्द का व्यवहार हो वहाँ गलजीभी-गोभी-अर्थ अभीष्ट है—यही हमारा भी मत है। गलजीभी का शाक रक्त-विकारों में आज भी बहुत लोग खाते हैं। गावज़वान अत्यन्त औषधोपयुक्त वनस्पति है। यूनानी औषध और शाक दोनों के लिए प्रयुक्त द्रव्य है। अतः औषध के रूप में गावज़वान और शाक के रूप में गलजीभी अर्थ करना चाहिए।

प्रो० बलवन्त सिंहजी की पद्धति के अनुसार विचार करें तो महाराष्ट्र आबू और डांग के जंगली लोग एक क्षुप को "मयूरशिखा" के नाम से पहचानते हैं और उसे ही "मयूरशिखा" मानना योग्य है। इसका स्वरूप मयूर के पक्ष या पद जैसा नहीं, परन्तु मयूर की कलगी जैसा होता है। यह हंसराज की जाति की है अतः यह शीत-वीर्य भी है। जंगली नाम, स्वरूप और उपयोग को देखते हुए मयूर शिखा क्यों न माना जाय? इसका शास्त्रोक्त नाम "एस्प्लेनियम रेडीएटम" (Asplenium Radiatum) है।

स्व० जयकृष्ण भाई भी इसे ही मयूरशिखा मानते थे। (देखें निघण्टु आदर्श-उत्तरार्द्ध—पृ० २९४)। निघण्टु आदर्श में मैंने राजगरा से मिलते-जुलते-बागों में शोभा के लिए बोये जाने वाले "लालमुरघा" नामक क्षुप को "मयूर-शिखा" लिखा है। कारण, इस सुन्दर क्षुप के पुष्प सचमुच मुरगे के शिर पर की कलगी के सदृश ही होते हैं। प्रो० बलवन्त सिंहजी का कहना है कि—यह मुर्गे से ठीक मिलती-जुलती है, किन्तु मयूर के साथ इसका साम्य नहीं है अतः यह मयूरशिखा नहीं है। कई सिरिखालिका को भी मयूरशिखा कहना ठीक समझते हैं, कारण, इसके विविध वर्ण के सुन्दर, मृदु पुष्प भी मयूरशिखा का स्मरण कराते हैं।

जैसे उत्तरापथ के वनवासी गलजीभी को "मयूरशिखा" मानते हैं वैसे दक्षिण भारत के जंगली एक अन्य क्षुप को "मयूरशिखा" मानते हैं। कहने का तात्पर्य यह है कि जंगली लोगों के नामों में भी ऐसा घोटाला देखा जाता है। अतः उसके आधार पर कोई निर्णय करना ठीक नहीं।

श्री बापालाल भाई
आचार्य आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत

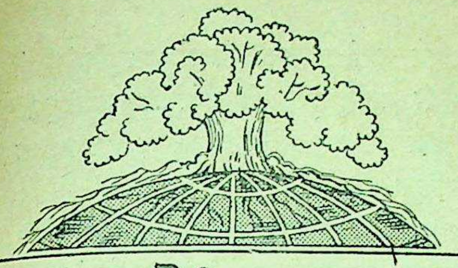

आयुर्वेद-जगत्

आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालयस्थ आतुरालय का उद्घाटन

गत २१-७-६०, गुरुवार को प्रातःकाल आयुर्वेद विद्यापीठ के इतिसाह में एक नवीन अध्याय का समावेश माना जायेगा कि उस दिन आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय के अन्तर्गत एक आतुरालय का उद्घाटन हुआ।

विगत ५० वर्षों से विद्यापीठ का अपना कोई विद्यालय नहीं था। गत वर्ष दिल्ली के कतिपय प्रमुख वैद्यों के कठिन परिश्रम के परिणामस्वरूप दिल्ली में ही एक महाविद्यालय की स्थापना की गई। इन प्रयत्नकर्ताओं में कविराज श्री वैद्यनाथ सरकार, कविराज श्री उपेन्द्रनाथ दास तथा वैद्य श्री ओंकार प्रसादजी के नाम उल्लेखनीय हैं।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० इस विद्यालय को प्रतिमास ५०० की सहायता प्रदान करता है। इसके अतिरिक्त अब तक लगभग सवा अठाईस सौ रुपयों की औषधियाँ भी विद्यालयान्तर्गत बहिरंग किचित्सालय के संचालन के लिए भवन ने मुफ्त प्रदान की हैं।

इस नवोद्घाटित आतुरालय में भी श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन की ओर से एक शय्या का समस्त व्यय वहन किया जा रहा है। इसके लिए प्राथमिक व्यय स्वरूप ११०० भेंट किए जा चुके हैं तथा १०० मासिक व्यय निरन्तर दिया जाता रहेगा।

आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय, दिल्ली
AYURVED VIDYAPEETH MAHAVIDYALAYA, DELHI

GURUKULA KANGRI LIBRARY

दिल्ली (शक्तिनगर) स्थित नि० भा० आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय एवं आतुरालय का एक दृश्य

इस आतुरालय का उद्घाटन दिल्ली नगर निगम के महापौर श्री श्यामनाथजी द्वारा सम्पन्न किया गया। समारोह की अध्यक्षता, प्रख्यात उद्योगपति तथा संसद-सदस्य श्री जी० डी० सोमानी ने की।

समारोह में दिल्ली के वैद्य महानुभाव तथा गण्य-मान्य व्यक्तियों के अतिरिक्त विभिन्न प्रदेशों के कतिपय प्रमुख वैद्य गण एवं संसद सदस्य भी उपस्थित थे।

मंगलाचरण के पश्चात विद्यापीठ के मंत्री महोदय ने समुपस्थित अभ्यागतों का स्वागत किया। तत्पश्चात विद्यालय प्रबन्धक समिति के अध्यक्ष कविराज श्री उपेन्द्रनाथदासजी ने विद्यालय एवं आतुरालय की अभिवृद्धि के लिए सहयोग की अपील की। विद्यालय के अवैतनिक प्रधानाचार्य तथा आतुरालय-संचालक कविराज श्री बैद्यनाथ सरकार ने विभिन्न महानुभावों से प्राप्त शुभकामना के संदेशों का पठन कर अपना प्रतिवेदन एवं विगत वर्षों का संक्षिप्त कार्य-विवरण प्रस्तुत किया।

आतुरालय के विधिवत उद्घाटन के पश्चात् श्री महापौर महोदय ने अपने भाषण में आयुर्वेद की उपादेयता पर आस्था व्यक्त की। समारोह के अध्यक्ष श्री सोमानीजी ने तो, अपने भाषण में यहाँ तक कहा कि "अब वह दिन दूर नहीं जब कि हम आयुर्वेद को भारतीय राष्ट्रीय चिकित्सा-पद्धति के पद पर सुशोभित देखेंगे"। राज्य सभा के सदस्य डा० बारलिंगे ने तो स्पष्ट रूप में कहा कि आयुर्वेद की अपेक्षा अन्य कोई चिकित्सा-पद्धति पूर्ण वैज्ञानिक नहीं है।

उक्त महानुभावों के अतिरिक्त पं० मनोहर लालजी, पं० घनानन्दजी पन्त, पं० राम गोपालजी शास्त्री, देहली, श्री वाई० पार्थ नारायण पण्डित, बंगलोर, पं० शिवशर्मा बम्बई, पं० बद्री विशाल त्रिपाठी कानपुर, आदि महानुभावों ने भी अपने विचार व्यक्त किए।

महासम्मेलनाध्यक्ष कविराज श्री अनन्त त्रिपाठी शर्मा ने समागत महानुभावों के प्रति धन्यवाद प्रदर्शित किया और राष्ट्र गान के पश्चात् समारोह उत्साहमय वातावरण में समाप्त हुआ।

कविराज वैद्यनाथ सरकार का भाषण

अखिल भारतीय आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय के अवैतंनिक प्रधानाचार्य एवं संचालक कविराज श्री वैद्यनाथ सरकार ने महाविद्यालय के अन्तर्गत आतुरालय के उद्घाटनावसर पर समवेत उदघाटनकर्त्ता, आयुर्वेद-सेवियों एवं आयुर्वेद-प्रेमी महानुभावों को सम्बोधित करते हुए निम्न-लिखित शब्दों में आत्म-निवेदन प्रस्तुत किया, जो यहाँ प्रकाशित किया जा रहा है—

"विद्यापीठ की समुपलब्धियों से प्रोत्साहित होकर किन्तु विश्वविद्यालय स्थापनार्थ पर्याप्त सुविधाओं के अभाव में आयुर्वेद महासम्मेलन एवं विद्यापीठ के अधिकारीगण तथा दिल्ली एवं भारत के अन्य नगरों के आयुर्वेद-व्यवसायियों तथा दानी श्रेष्ठि महानुभावों ने यह अनुभव किया कि कम-से-कम इसका एक विद्यालय तो अवश्य ही होना चाहिये। और उस सद्इच्छा एवं सद्प्रयत्न का ही यह परिणाम है कि विगत डेढ़ वर्ष से यह महाविद्यालय भारत की राजधानी में स्थापित होकर कार्य कर रहा है।

जैसा कि विद्यापीठ के पाठ्यक्रम में निर्धारित है तदनुसार इस विद्यालय में छात्रों की शिक्षा में आयुर्वेद का ही प्राधान्य है किन्तु चिकित्सा-जगत में प्रवेश कर यहाँ का उपाधि प्राप्त छात्र किसी भी चिकित्सक के समक्ष स्वयं को किसी प्रकार हीन न समझे इसके लिए पाश्चात्य चिकित्सा का भी यहाँ पर उनको सैद्धान्तिक ज्ञान कराया जाता है। यह ज्ञान केवल पाश्चात्य चिकित्सा से परिचय प्राप्त करने के रूप में ही होता है उसके साथ तादात्म्य स्थापित करने के लिये नहीं।

प्रारम्भिक वर्ष में जब कि इस विद्यालय की स्थापना हुई थी उस समय परीक्षाओं के लिये केवल ढाई मास शेष रह गये थे। इस पर भी २८ परीक्षार्थियों ने विद्यालय में प्रवेश पाया और उनमें से २५ विद्यार्थियों ने विद्यापीठ की विभिन्न परीक्षायें दी। जिनमें से १९ छात्र उतीर्ण हुए, २ को परिशिष्ट की परीक्षा देनी पड़ी और ४ अनुत्तीर्ण रहे। इस प्रकार इस वर्ष का परीक्षा-परिणाम पर्याप्त संतोषजनक एवं उत्साहवर्द्धक रहा। गत वर्ष कुल ६० छात्रों ने प्रवेश ग्रहण किया और उनमें से २५८ परीक्षा में बैठे। जिनमें से ३१ उत्तीर्ण, ५ परिशिष्ट और २२ अनुत्तीर्ण रहे। विद्यार्थियों के स्तर को देखते हुए तथा अन्य विद्यालयों की अपेक्षा इस वर्ष भी परिणाम सन्तोषजनक ही रहा।

विद्यार्थियों को आयुर्वेद का क्रियात्मक ज्ञान कराने के लिए विद्यालय में द्रव्यों का संग्रह तो किया ही गया किन्तु इसके अतिरिक्त अनेक बार विभिन्न वनस्पति उद्यानों में विद्यार्थियों को ले जा कर उन्हें वनस्पतियों का ज्ञान कराया

जाता रहा है। साथ ही फार्मेसी के कार्य में भी दक्षता प्राप्त करने के लिए विद्यार्थियों को शिक्षित किया जाता रहा है। विद्यालय में शवच्छेदन की अभी तक कोई व्यवस्था नहीं हो सकी थी उसके लिए उनको "जामिया तिबिया कालेज" में ले जाया गया और वहाँ भली प्रकार शवच्छेदन द्वारा कोष्ठ आशय, मर्म, शिरा, धमनी, नाड़ी, मांसपेशियां, तथा विभिन्न अंगों एवं उपाँगों का प्रत्यक्ष ज्ञान मैंने स्वयं एवं अपने सहयोगियों द्वारा कराया।

क्रियात्मक रूप से रोगी-परीक्षा, रोग-निर्णय तथा औषध-व्यवस्था के ज्ञान के लिए विद्यालय भवन में, जो कि इससे पूर्व रोहतक रोड पर स्थित था, अक्टूबर १९५९ से एक बहिरंग चिकित्सालय आरम्भ किया गया। इसके चिकित्सक-पद पर विद्यालय के ही एक प्राध्यापक को नियुक्त किया गया तथा उपवैद्य के रूप में विद्यालय के दो छात्र काम करते रहे। मई १९६० तक, जब कि विद्यालय में ग्रीष्मावकाश हो गया, रोगियों की संख्या ढाई हज़ार के लगभग हो गई थी। बहिरंग चिकित्सालय से औषध प्राप्त करने वाले रोगियों से केवल नाममात्र के लिय शुल्क रूप में एक आना प्रति रोगी लिया जाता था। इस प्रकार मई १९६० तक लगभग सवासौ रुपए का चिकित्सालय को रोगियों से आय हुई।

मुझे यह बताते हुए अतीव प्रसन्नता होती है कि हमारी प्रार्थना पर विद्यालय के बहिरंग चिकित्सालय के लिए श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन के संचालक वैद्य श्री रामनारायण जी शर्मा ने सवा अठाईस सौ रुपयों की औषधियां प्रदान कीं। इतना ही नहीं, प्रत्युत इसके अतिरिक्त भी विद्यालय के संचालन के लिए वे प्रति मास ५००) देते हैं। उनके इस पुनीत कार्य के लिए हम उनकी सराहना करते हुए हृदय से आभार प्रकट करते हैं और आशा करते हैं कि उनका यह सहयोग हमें निरन्तर प्राप्त होता रहेगा।

रोगियों की चिकित्सा-सम्बन्धी क्रियात्मक शिक्षा देने के लिये अंतरंग चिकित्सालय की कमी नितांत रूपेण अनुभव की जा रही थी। विद्यालय प्रबन्धक समिति के अध्यक्ष कविराज श्री उपेन्द्रनाथ दासजी तथा महासम्मेलनाध्यक्ष कविराज श्री अनन्त त्रिपाठीजी शर्मा के विशेष आग्रह पर इस विषय में मैंने विशेषरूपेण प्रयास आरम्भ किया। इस कमी को पूर्ण करने के लिये दो बातें मुख्य थीं। एक तो रोहतक रोड पर स्थित विद्यालय भवन में आतुरालय के लिये पर्याप्त स्थान नहीं था तथा दूसरे आतुरालय के सम्यक संचालन के लिये धन की व्यवस्था करना परमावश्यक था।

प्रबन्धक समिति के निश्चयानुसार यह बृहत भवन ८०० रुपया मासिक किराये पर लिया गया है। अभी स्वल्प रूप में ही इस आतुरालय का संचालन किया जा रहा है। प्रारम्भ में केवल ५ शय्यायें ही रखने का विचार है। क्योंकि इससे अधिक के लिये अभी साधन उपलब्ध नहीं हो सके।

मेरी प्रार्थना पर आतुरालय-संचालन के लिये कुछ दानियों की सम्मति प्राप्त हो गई है। आतुरालय की एक शय्या के लिये १०००रुपया एक कालिक तथा १०० प्रतिमास रोगोपचार के लिये देने के लिये निम्न महानुभावों ने स्वीकृति दे दी है:–

१. वैद्य श्री रामनारायण शर्मा, संचालक श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, झाँसी। २. लाला रामचन्द्र नरेला वाले। ३. लाला जगन्नाथ ज्योति प्रसाद, कानोडिया मिल वाले। ४. लाला चन्द्रभान गोपीनाथ, कटड़ा ईश्वर भवन वालों ने इसके लिए वचन दे दिया है।

एक आयुर्वेद सेवक के नाते जिस प्रकार मैं अब तक विद्यालय को प्रतिमास ५००) की तुच्छ भेंट अर्पित करता था उसी प्रकार पांचवीं शय्या का व्यय भार मैंने स्वयं वहन करने का निश्चय किया है। इसके अतिरिक्त बहिरंग चिकित्सालय (आउटडोर हास्पिटल) का व्यय भार श्री रघुनाथ प्रसादजी—इ. एस. प्यारे लाल एण्ड संस वालों ने वहन करने का वचन दिया है। लाला रामपत जी दिल्ली क्लाथ मिल वालों ने वचन दिया है कि आतुरालय में टेलीफोन लगवाने के लिये प्रारम्भिक व्यय स्वरूप २०००) वे भेंट करेंगे। इसके लिए उनकी ओर से १०००) प्राप्त हो चुका है तथा अवशिष्ट १०००) शीघ्र ही प्राप्त हो जावेगा। आयुर्वेदोन्नति एवं मानव सेवा के लिए किए गये सभी दानी महानुभावों के इस दान की हम सराहना करते हैं और इसके लिये हम हृदय से कृतज्ञता व्यक्त करते हैं।

आयुर्वेद भारतवर्ष की अमूल्य पैतृक सम्पत्ति है। इसकी रक्षा एवं उन्नति करना सभी भारतवासियों का पुनीत कर्त्तव्य है। आयुर्वेद के द्वारा ही देश का स्वास्थ्य-सुधार सम्भव है। आयुर्वेद समय की परीक्षा में पूरा उतरा है। अपने देशवासियों के अतिरिक्त विदेशी विशेषज्ञ भी मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा करते हैं।

सन १९२१ से १९५० तक विभिन्न प्रान्तीय एवं केन्द्रीय जांच समितियों ने इसे वास्तविक रूप में वैज्ञानिक चिकित्सा-प्रणाली घोषित किया है। उनका कथन है कि जनता का एक बहुत बड़ा भाग इसकी मांग करता है। अयुर्वेद न केवल एक चिकित्सा-पद्धति ही है प्रत्युत यह चिकित्सा विज्ञान के सिद्धान्तों और क्रियाओं का महत्वपूर्ण भण्डार भी है। जो सामान्य रूप से आधुनिक विज्ञान के लिए और विशष रूप से चिकित्सा के लिये बहुत मूल्यवान सिद्ध हो सकता है।

आयुर्वेद की सहायता लिये बिना देश के जनसाधारण का स्वास्थ्य-सुधार सम्भव नहीं। मैं तो यह कहने में अतिशयोक्ति का अनुभव नहीं करता कि केवल आयुर्वेद ही एक ऐसी चिकित्सा-पद्धति है जो भारत की राष्ट्रीय चिकित्सा पद्धति का सम्माननीय पद ग्रहण करने योग्य है। सरकार द्वारा गठित और सरकार द्वारा ही अस्वीकृत "भोर कमेटी" की रिपोर्ट से यह निर्विवाद रूपेण सिद्ध हो गया है कि अन्य कोई भी चिकित्सा-पद्धति ऐसी नहीं है जो आयुर्वेद के इस दावे का विरोध कर सके। सृष्टि के मूल तत्व पंच-महाभूत और त्रिदोष सिद्धांत एवं परमाणु विज्ञान त्रिकाल सत्य है। इसलिये आयुर्वेद के सिद्धान्त भी जो कि इन्हीं सिद्धांतों पर आधारित हैं स्थिर एवं सत्य हैं।

हमारी एक सहस्र वर्ष की दीर्घकालीन दासता के कारण आयुर्वेद पृष्ठभूमि में चला गया था और राज्याश्रय के अभाव में इसकी हानि भी हुई है परन्तु इन दुस्सह आघातों की विद्यमानता में भी यह जीवित रहा है और आज भी ९० प्रतिशत जनता इसीसे लाभान्वित हो रही है। अब हम स्वतन्त्र देश के स्वतन्त्र नागरिक हैं। चिरकाल तक घोर दासता का संकट भोगने के पश्चात अब हम शान्ति, प्रगति और सम्पन्नता की ओर अग्रसर हो रहे हैं। सम्पूर्ण भारत इस समय सजग एवं सचेष्ट है तथा विकास योजनाओं पर बड़े वेग से कार्य ही रहा है।

पुनर्निर्माण के इस युग में हमारी सरकार को चिकित्सा तथा सार्वजनिक-स्वास्थ्य सदृश महत्वपूर्ण विषयों पर अपनी नीति निर्धारित करनी है। अब तक सरकार ने केवल ऐलापैथी को ही आश्रय दिया है। किन्तु वह अपने निश्चित लक्ष्य-प्राप्ति में सर्वथा असफल रही है। इसके होते हुए रोग और रोगियों की संख्या निरन्तर घटने की अपेक्षा वृद्धिगत होती रही है। इसलिये मेरा विश्वास है कि हमारे नेता अब अधिक समय तक पश्चिमी सभ्यता के साथ-साथ पाश्चात्य प्रणाली की चकाचौंध में भी भटके नहीं रह सकेंगे।

अब समय आ गया है कि जनसाधारण की स्वास्थ्य-रक्षा के लिये आयुर्वेद को पुनः उसके गौरवपूर्ण स्थान पर अधिष्ठित किया जाय। इसके निहित तत्वों के अन्वेषणार्थ अनुसन्धान-केन्द्र खोले जाँय।

इसी कार्य की सिद्धि के लिए वैद्य-समाज द्वारा अन्य मानव-हितैषियों एवं आयुर्वेद-प्रेमियों की सहायता तथा सहयोग से इस आयुर्वेद विद्यालय की स्थापना की गई है। हमें आशा ही नहीं अपितु पूर्ण विश्वास है कि इस प्रकार का साहाय्य एवं सहयोग हमें निरन्तर प्राप्त होता रहा तो इस विद्यालय को हम एक सर्वसाधन सम्पन्न आयुर्वेद विश्वविद्यालय के रूप में भी परिणत करने में समर्थ हो सकेंगे।

आयुर्वेद जनसाधारण का भी उतना ही अपना है जितना कि किसी वैद्य का। हमारे महर्षियों ने प्राणिमात्र के हितार्थ इसका प्रतिपादन किया था। अतएव भारत के प्रत्येक नर-नारी का यह पुनीत कर्तव्य है कि इसे गौरवपूर्ण पद पर अधिष्ठित करने का यत्न करें। हमारा यह विद्यालय भारत में आयुर्वेदीय पुनरुत्थान का मुख्य स्तम्भ एवं प्रतीक होना चाहिये।

आइये, हम आपको आह्वान करते हैं, अपनी शक्ति एवं स्थिति के अनुसार तन-मन एवं धन से इस राष्ट्रीय योजना को सफल बनाइये। दानी महानुभावों के शुद्ध सात्विक दान के लिये यह एक बड़ा उपयुक्त अवसर है। इससे जनता-जनार्दन की अद्वितीय सेवा होगी और हमारे राष्ट्र का मस्तक भी उन्नत होगा। विश्व-कल्याण के लिये भारत की यह अनुपम देन होगी।

आज मेरा हृदय उन सबका धन्यवाद करते हुए गद्-गद् हो रहा है जिन-जिन महानुभावों ने हमें भावी विश्वविद्यालय महाबृक्ष के इस अंकुररूपी विद्यालय के आरोपण में सहायता प्रदान की है और भविष्य में भी उन्नति एवं प्रगति के लिये हमें सहयोग देते रहेंगे।

आतुरालय में चिकित्सकादि विभिन्न पदों पर कार्य करने के लिये भी कुछ महानुभावों ने अपनी अवैतनिक सेवायें अर्पित करने का वचन दिया है। मैं हृदय से उन [illegible] का आभार प्रकट करता हूँ। विद्यालय में अब तक जो

महानुभाव अवैतनिक शिक्षा देते रहे हैं और भविष्य में भी कार्य करते रहेंगे उनका चिरऋणी रहूँगा।

अपनी कृतज्ञता अभिव्यक्ति-स्वरूप कुछ शब्द मैं दिल्ली नगर निगम के प्रति भी कहना नितान्त उपयुक्त समझता हूँ। पूर्व में दिल्ली नगर पालिका, जो कि अब नगर निगम के रूप में परिवर्तित हो गई है, ने दिल्ली में आयुर्वेद और यूनानी के हितों की रक्षा ही नहीं की प्रत्युत उसने इसको पर्याप्त प्रोत्साहन भी दिया है। मेरी दृष्टि में भारत भर में यही प्रथम एक नगर निगम होगा जिसके अन्तर्गत इतनी प्रभूत संख्या में आयुर्वेद और यूनानी के औषधालय हैं। इस संख्या की निरन्तर अभिवृद्धि ही हो रही है। इस वर्ष भी अनेक अन्य स्थानों पर नये औषधालय नगर निगम की ओर से स्थापित किये गये हैं।

इस आतुरालय के उद्घाटनकर्त्ता महोदय लाला श्यामनाथ जी जो, कि इस समय दिल्ली नगर निगम के महापौर पद को सुशोभित कर रहे हैं, विगत वर्षों में इसी दिल्ली नगर पालिका के अध्यक्ष का पद सुशोभित कर चुके हैं। आपके संरक्षण में दिल्ली नगर पालिका एवं नगर निगम के अन्तर्गत आयुर्वेद एवं यूनानी चिकित्सालयों ने पर्याप्त उन्नति की है। लाला जी किस प्रकार के सामाजिक कार्यकर्त्ता, जन सेवक एवं परोपकारी महानुभाव हैं, इस विषय में किसी को कुछ समझाने की मैं आवश्यकता नहीं समझता। आपकी समाज सेवा, लोकप्रियता, कर्मठता एवं स्याति का ही परिणाम है कि आप पुनः महापौर के पद पर अधिष्ठित हुए हैं।

आयुर्वेद, आयुर्वेद-जीवियों एवं आयुर्वेद-सेवियों के प्रति लाला जी का सदा अपनत्व का व्यवहार रहा है। मैं तो इनका सदैव से ही कृतज्ञ हूँ कि इन्होंने मेरे किसी प्रकार के भी अनुरोध को कभी टाला नहीं है। आज के इस उद्घाटन के लिए भी जब मैं इनसे निवेदन करने के लिए गया तो तुरन्त ही इन्होंने स्वीकृति प्रदान कर दी थी। इसके लिए मैं लालाजी का अतीव कृतज्ञ हुँ।

इसी प्रकरण में मैं लालाजी से प्रार्थना भी करूँगा कि आयुर्वेद के प्रति उनकी श्रद्धा एवं आस्था के प्रकटीकरण के रूप में नगर निगम द्वारा आयुर्वेद की जो सेवा वे करते हैं उसी प्रकार यदि इस विद्यालय एवं आतुरालय को भी उपकृत कर सकें तो हम अपने उस चरम लक्ष्य को अनतिविलम्ब प्राप्त कर लेंगे। इसमें किंचित भी संदेह के लिए स्थान अवशिष्ट नहीं। लालाजी का वरद हस्त जब तक हमारे मस्तक पर है हम निरन्तर प्रगति के पथ पर अग्रसर होते जावेंगे।" अंत में श्री सरकार महोदय ने समागत सज्जनों के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए अपना वक्तव्य समाप्त किया।

योजना आयोग के आयर्वेदखण्ड की बैठक

योजना आयोग के आयुर्वेद खण्ड की द्विदिवसीय बैठक में खंड ने आयुर्वेदिक चिकित्सा और शिक्षा के नियंत्रण के लिए केन्द्रीय आयुर्वेद परिषद की स्थापना का सुझाव दिया है। देश के स्वास्थ्य कार्यक्रमों में देशी चिकित्सा-पद्धतियों को उचित स्थान और मान्यता देने की आयुर्वेद खंड ने सिफारिश की है। खंड ने सुझाव दिया है कि इस काम के लिए अनुभवी और योग्य वैद्यों और हकीमों को वही स्थान और अधिकार मिलना चाहिए, जो कि डाक्टरों का है।

खंड ने आयुर्वेद कालेजों का स्तर ऊँचा उठाने, चार साल के डिप्लोमा कोर्स और कालेजों में भर्ती के लिए न्यूनतम योग्यता निर्धारित करने के भी सुझाव दिए हैं। जो विद्यार्थी सरकारी नौकरी करना चाहें, उन्हें दो साल के और अध्ययन के बाद डिग्री दी जानी चाहिए।

खंड ने स्नातकोत्तर अध्ययन और अनुसंधान के केन्द्र खोलने और आयुर्वेद की आवश्यक पाठ्य पुस्तकें तैयार करने का भी सुझाव दिया है।

गांवों में स्वास्थ्य-शिक्षा देने के लिए आरोग्य-केन्द्र खोलने को भी खंड ने कहा है। साधारण बीमारियों के निदान और चिकित्सा की जानकारी देने के लिए क्षेत्रीय भाषाओं में पुस्तिका छापने का भी सुझाव दिया गया है।

केन्द्रीय योजना मंत्री और आयुर्वेद खंड के अध्यक्ष श्री गुलजारीलाल नन्दा ने आशा प्रकट की कि जिस सद्भाव से सब बातों पर बैठक में विचार किया गया वह बना रहेगा। श्री नन्दा ने कहा कि आयुर्वेद एक प्राचीन विज्ञान है और इसे फिर से प्रतिष्ठित करने के लिए निःस्वार्थ सेवाभाव की आवश्यकता है। उन्होंने वैद्यों से अपील की कि वे अपनी चिकित्सा-पद्धति को एक पवित्र धरोहर समझें और इसे केवल व्यवसाय का साधन न बनाएँ।

खंड ने आयुर्वेदिक औषधियों का प्रामाणिक निघण्टु तैयार करने, साधारण बीमारियों के इलाज में काम आने वाली औषधियों की पड़ताल, केन्द्रीय तथा क्षेत्रीय जड़ी-

बूटी उद्यान और संग्रहालय खोलने की भी सिफारिश की है। खंड ने एक अलग केन्द्रीय औषध नियंत्रण संगठन और केन्द्रीय प्रयोगशाला खोलने का भी सुझाव दिया है।

उड़ीसा में आयुर्वेदिक औषधि विधेयक

राष्ट्रपति ने उड़ीसा आयुर्वेदिक औषधि विधेयक, १९६० पर स्वीकृति दे दी है। विधेयक में आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति के विकास और पढ़ाई तथा प्रेक्टिस-सम्बंधी नियम की व्यवस्था की गयी है।

विधेयक के अन्तर्गत एक परिषद और विभाग का संगठन किया जायगा, जिसे प्रशिक्षण का पाठ्यक्रम बनाने, योग्यता निर्धारित करने आदि का अधिकार होगा। विभाग चिकित्सा-पद्धति का उच्च स्तर बनाये रखने का कार्य भी करेगा। विधेयक में आयुर्वेदिक चिकित्सकों के रजिस्ट्रेशन के बारे में नियम बताए गए हैं।

स्व० लक्ष्मीरामजी का स्मृति-दिवस

श्री स्वामी लक्ष्मीरामोद्यान में आयुर्वेद-मार्तण्ड स्व० स्वामी लक्ष्मीरामजी का २१ वां स्मृति-दिवस मनाया गया। इस अवसर पर महामहोपाध्याय पं० गिरधर शर्मा, स्वामी जयराम दास, प्रोफेसर सुखदेव, वैद्य रामदयालजी, श्री हरिशास्त्री, देवीशंकर तिवारी व वैद्य गोपालदत्त आदि ने स्वामी श्री लक्ष्मीरामजी के प्रति अपनी श्रद्धांजलियां अर्पित की। इस अवसर पर भाषण देते हुए वक्ताओं ने आयुर्वेद-चिकित्सा-पद्धति के महत्त्व पर प्रकाश डाला तथा उसको विकसित करने के लिए सतत प्रयत्न करने पर बल दिया। वक्ताओं ने कहा कि आयुर्वेदिक चिकित्सा-पद्धति पूर्णरूपेण वैज्ञानिक है और वह देश के सार्वजनिक स्वास्थ्य की समस्याओं का सम्पूर्ण समाधान देने में सक्षम है। स्वर्गीय लक्ष्मीरामजी स्वामी का प्रकाण्ड पाण्डित्य, उनकी सेवाएँ, तपस्या एवं साहित्य व सामाजिक क्षेत्र में उनकी महान परम्पराओं को सभी ने अनुकरणीय बताया।

नगर के अनेक प्रतिष्ठित वैद्य व नागरिक इस अवसर पर काफी संख्या में उपस्थित थे। सभा में स्वामी लक्ष्मीरामजी द्वारा बनाए गए ट्रस्ट का सालाना व अबतक के आय-व्यय का ब्यौरा भी प्रस्तुत किया गया। स्मरण रहे कि स्वर्गीय स्वामीजी ने एक लाख रुपए का दान देकर, आयुर्वेद ग्रन्थों के प्रकाशन, धन्वन्तरि औषधालय, आतुरालय, वैद्यक-शिक्षा, दादूपन्थी साहित्य के प्रकाशन व छात्रवृत्तियों के लिए यह ट्रस्ट बनाया था, जो बहुत प्रशंसनीय काम कर रहा है।

केन्द्रीय आयुर्वेद परिषद-गठन के लिए श्री वारियर का सुझाव

केरल के आयुर्वेदिक शिक्षा सलाहकार बोर्ड के सचिव तथा योजना आयोग द्वारा गठित आयुर्वेद मण्डल के सदस्य श्री वारियर ने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि आयुर्वेद-चिकित्सा प्रणाली के सम्बन्ध में एक वैधानिक केन्द्रीय परिषद को देश भर में आयुर्वेदिक शिक्षा के स्तरों को नियन्त्रित करने के अधिकार प्राप्त होने चाहिये।

श्री वारियर ने एक वक्तव्य में बताया कि परिषद् को ऐसा अधिकार प्राप्त होना चाहिये जिससे वह पाठ्यक्रम, छात्रों के प्रवेश के लिये निर्धारित की जाने वाली योग्यताओं और शिक्षकों की नियुक्ति आदि के सम्बन्ध में राज्यों को निर्देश दे सके। आपने कहा कि देश में एकरूपता स्थापित करने के लिये ऐसी कार्रवाई आवश्यक है।

आपने इस आवश्यकता पर जोर दिया कि केन्द्रीय तथा राज्य-स्तर पर विभिन्न अनुसन्धान-योजनाओं को नियन्त्रित करने तथा उन में समन्वय स्थापित करने के लिये एक केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धान-परिषद की स्थापना की जानी चाहिये। आपने देशी चिकित्सा-प्रणाली संबंधी हजारों पाण्डुलिपियों का संग्रह तथा उनके प्रकाशन आदि की आवश्यकता पर भी जोर दिया। आपने कहा कि देश के विभिन्न भागों मं दवाएँ तैयार करनेवाले कारखानों का सर्वेक्षण किया जाय।

आपने समन्वित चिकित्सा-प्रणाली पाठ्यक्रम को प्रचलित किए जाने का विरोध किया। इस सिलसिले में आपने यह सुझाव प्रस्तुत किया कि ५ वर्षीय शुद्ध आयुर्वेदिक पाठ्यक्रम प्रचलित करना चाहिये, जैसा कि १९५७ में केरल में आयोजित आयुर्वेदिक चिकित्सक सम्मेलन द्वारा सिफारिश की गई।

श्री वारियर ने यह इच्छा भी प्रकट की कि एक देशी चिकित्सक कानून का निर्माण किया जाना चाहिये। आपने इस अपने विचार मण्डल के समक्ष प्रस्तुत कर दिये हैं। इस मास में दिल्ली में मण्डल की जो बैठक होगी उसमें इनके सम्बन्ध में निर्णय किया जायगा।

विश्व स्वास्थ्य सम्मेलन दिल्ली में

विश्वस्त सूत्र से ज्ञात हुआ है कि विश्व स्वास्थ्य-संगठन ने अपना आगामी वार्षिक अधिवेशन भारत की राजधानी में करने का निर्णय कर लिया है।

ऐसा समझा जाता है कि यह अधिवेशन यहाँ आगामी फरवरी में होगा। यह उल्लेखनीय है कि दुनिया के इस भाग में इस संगठन का यह पहला अधिवेशन होगा।

यह भी ज्ञात हुआ है कि भारत सरकार ने जब इस अधिवेशन के भारत में करने के लिए आमन्त्रण दिया था तब अनुमान लगाया गया था कि इस संगठन के वार्षिक सम्मेलन बुलाने में लगभग दस लाख रुपए व्यय होंगे; लेकिन इसमें भाग लेने के लिए आने वाले प्रतिनिधियों से काफी विदेशी मुद्रा प्राप्त होने की सम्भावना है।

ऐसा अनुमान है कि इसमें भाग लेने के लिए लगभग ६०० विदेशी प्रतिनिधि आयेंगे।

आयुर्वेद के प्रति दृढ़ विश्वास की आवश्यकता

गुजरात के स्वास्थ्य तथा उद्योग मन्त्री श्रीमाणेक लाल साह ने आयुर्वेदिक चिकित्सकों से यह अपील की कि वे आयुर्वेद में लोगों के विश्वास को सुदृढ़ बनावें। आपने बताया कि इस क्षेत्र में आयुर्वेद-प्रणाली हजारों वर्षों तक प्रचलित रही है। यह प्रणाली इस गरीब देश में निर्धन व्यक्तियों के लिये प्रभावकारी तथा सस्ती दवाओं की व्यवस्था करने में समर्थ है। आपने छात्रों को यह परामर्श दिया कि वे इस देश के लोगों तथा विश्व के समक्ष आयुर्वेद को प्रस्तुत करने के लिये अपने विश्वास को सुदृढ़ बनावें तथा आत्म-त्याग की भावना का विकास करें।

आपने बताया कि आयुर्वेद को सरकारी सहायता प्राप्त होती रही है। इसका विकास करने की मुख्य कसौटी इसकी यह क्षमता होगी कि वह आधुनिक जगत को ऐसी दवाएँ सुलभ करे, जो किसी भी वैज्ञानिक परीक्षण का मुकाबला कर सकें।

श्री प्रेमशंकर शर्मा

रा. वै. सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित

राजस्थान प्रदेश वैद्य सम्मेलन के अध्यक्ष के पद पर राजस्थान आयुर्वेद विभाग के संचालक श्री प्रेमशंकर शर्मा, आयुर्वेदाचार्य निर्विरोध निर्वाचित किए गए हैं। इस पद के लिए कुल ५ उम्मीदवार थे जिनमें से ४ ने अपना नाम वापस ले लिया। प्रदेश सम्मेलन का अधिवेशन शीघ्र ही अलवर में होने जा रहा है।

आसाम का चेचक उन्मूलन अभियान

सरकारी तौर पर पता चला है कि केन्द्रीय सरकार के निर्देश के अनुसार आसाम सरकार ने राज्य में चेचक उन्मूलन अभियान शुरू करने का निश्चय किया है। यह कार्यक्रम स्वास्थ्य सेवा निर्देशालय के एक विशिष्ट अफसर के मातहत होगा, जिनका सदर दफ्तर शिलांग में ही रहेगा।

कार्यक्रम के अन्तर्गत एक केन्द्र कामरूप जिले में खोला जायगा, जिसका सदर दफ्तर गौहाटी में रहेगा। इस केन्द्र की परिधि में लगभग १० लाख लोग रहेंगे, जिनके लिए टीका लगाने वालों और अन्य स्टाफ समेत दो सुपरवाईजिंग मेडिकल अफसर रहेंगे। जिले में अलग-अलग इलाके बना दिये जायेंगे, जहां जरूरी स्टाफ मौजूद रहेंगे।

कार्यक्रम में सबसे पहला कार्य यह होगा कि जनता को चेचक के टीके का महत्व समझाया जायगा और पुरानी रूढ़ियों तथा अन्धविश्वास के कारण उनके मन में जो गलतफहमियां कायम हो गयी हैं, जिनसे वे चेचक के मामलों को छिपाने तक की कोशिश करते हैं, दूर की जायेंगी।

शरीर की आभ्यन्तरिक क्रियाओं का अध्ययन

मानव शरीर के भीतर की सूक्ष्म प्रतिक्रियाओं को यदि स्पष्ट देखा जा सके तो चिकित्सा-क्षेत्र में एक क्रांति हो सकती है। चिकित्सक सदैव यह स्वप्न देखते रहे हैं कि वह घड़ी उपस्थित हो कि वे रक्त-संचार और भोजन के पचने तथा पचकर रक्त, तंतु आदि बननेकी क्रिया को देखने का सुयोग प्राप्त करें। इन्हीं पर शरीर का स्वास्थ्य और मानव का सुख निर्भर करता है। एक आठ प्रणालियों वाला रेडियोग्राफ यह सम्भव कर देगा कि मानव शरीर के भीतर होनेवाली सबसे अधिक गुप्त क्रियाओं को देखा जा सके।

कोई आदमी बहुत मामूली और सर्वथा अहानिकर मात्रा में गामा किरणों का विकिरण करने वाले रेडियो आइसोटोपों से युक्त चूर्ण खा लेता है। अनुसन्धानकारी तत्व सारे शरीर में फैल जाते हैं। शरीर के जिस अंग का निरीक्षण करना होता है, उसमें रेडियोग्राफ यंत्र के आठ नियंत्रक लगा दिए जाते हैं। वे डाक्टर को बतलाते हैं कि रक्त-संचार में कितनी तीव्रता और गति है? भोजन किस

तरह पचता है? इस प्रकार किसी भी प्रकार का व्यतिक्रम तुरन्त दर्ज हो जाता है।

इसके साथ ही यह भी उल्लेखनीय है कि वैज्ञानिक एक विशेष प्रकार के इलेक्ट्रानिक गुणक तैयार करने की खोज में लगे हैं जो बीमारियों का ठीक-ठीक निदान कर देंगे।

हृदय के आश्चर्यपूर्ण कार्य

यद्यपि हमारे हृदय का कद हमारी मुट्ठी के बराबर है, परन्तु २४ घण्टे में वह इतनी शक्ति का उपयोग करता हैं कि उसकी सहायता से लगभग १५० पौण्ड वजन के मनुष्य को जमीन से ऊपर हवा में १२५० फुट उठाया जा सकता है। हमारे हृदय का स्पन्दन अहर्निश चलता रहता है। १० से १२ पौंड रक्त को इतना लघुकाय हृदय एक वर्ष में ३,६७,९२,००० गज खींचता है। यदि मानव ७० वर्ष की आयु तक जीवित रहे तो इस विशाल कालान्तर में हृदय ८,१६,०९२५५ गैलन रक्त का हेर-फेर करता है, दौड़ाता है। १२५ तोले के इस स्नायविक संगठन को यह व्यायाम कम नहीं।

यह आश्चर्जजनक यन्त्र हमारे रक्त को ६२ हजार मील की यात्रा हमारे शरीर के अन्दर-ही-अन्दर कराता है। वैज्ञानिकों की कृपा से अब इस युग में इस महत्त्वपूर्ण यन्त्र की मरम्मत और सुधार का कार्य संभव बन गया है और यह सुधार करनेवाले हैं हृदय-रोग की चिकित्सा के विशेषज्ञ।

हमारा हृदय नाजुक होने पर भी बहुत टिकाऊ है। भयंकर से भयंकर आपदाएँ आने पर भी अपने कर्तव्य-पालन की उसकी शक्ति अक्षुण्ण रहती है।

हृदय की यह अदम्य शक्ति हृदय की स्थिति के विशेषज्ञों—जो आज हृदय की शस्त्र-चिकित्सा (आपरेशन) करने के लिये छुरों का उपयोग करते हैं—को भी कठिनाई में डाल देती है। हृदय की त्रुटियों को दूर करने के लिए वे टांके मारते हैं और काट-पीट भी करते हैं। वे एक व्यक्ति के अंग को लेकर दूसरे व्यक्ति के हृदय में व्यवस्थित रूप से जमा देते हैं। हृदय के कृत्रिम उपांग लगा देना भी आज सम्भव हो गया है।

सहायक वैद्य प्रवेशार्थ सुविधा

आयुर्वेदिक कालेज देहरादून ने इंडियन मेडिसिन बोर्ड उत्तर प्रदेश की सहायक वैद्य परीक्षार्थ हिमाचल, देहरादून, टिहरी, गढ़वाल, अलमोड़ा तथा नैनीताल के निर्धन पर्वतीय आयुर्वेद शिक्षार्थियों को केवल सन् १९६० प्रवेश और परीक्षा के लिये हाई स्कूल के स्थान पर जूनियर हाईस्कूल एवं ८वीं

क्लास, २ वर्ष शिक्षा कोर्स के स्थान पर १॥ वर्ष शिक्षा स्वीकार कर ली है। किन्तु ५ वर्षीय आयुर्वेदाचार्य डिग्री कोर्स के लिये इण्टर एवं मध्यमा ही प्रवेश योग्यता हो गई।

आयुर्वेद सेवा-सदन, देहरादून

आयुर्वेद सेवासदन, देहरादून के मंत्री ने निम्नलिखित सूचना प्रकाशनार्थ भेजी है—(१) हाई स्कूल से २ वर्ष स्वास्थ्य विशारदा, सहायक वैद्य, इण्टर से ५ वर्ष ए. एम. बी. एस. एवं आयुर्वेदाचार्य डिग्री शिक्षा कालेज (२) प्रथम श्रेणी की फार्मेसी (३) २५ रोगियों का अंतरंग (इण्डोर) चिकित्सालय (४) आयुर्वेदिक कालेज, कर्णपुर (५) श्री पृथ्वीनाथ मन्दिर आढ़त बाजार के २ निःशुल्क धर्मार्थ औषधालय (६) मल-मूत्र-रक्त-थूक परीक्षण, पैथालोजी लैवोरटरी (७) अनुसंधान प्रतिष्ठान (८) श्री मंगला देवी जूनियर हाई स्कल प्रभृति कार्य निरंतर गत वर्ष से वास्तविक जनसेवार्थ रचनात्मक रूप से किये जा रहे हैं।

आयुर्वेद विद्यापीठ महाविद्यालय, दिल्ली

आयुर्वेद विद्यापीठ के आचार्य श्री बैद्यनाथ सरकार यह सूचित करते हैं कि—आयुर्वेद-जगत को यह जानकर अत्यन्त प्रसन्नता होगी कि आयुर्वेद विद्यापीठ धीरे-धीरे उन्नति के पथ पर अग्रसर हो रहा है। विद्यालय के लिये शक्तिनगर सब्जीमण्डी में एक बड़ा भवन ले लिया गया है जिसमें शीघ्र ही अन्तरंग आतुरालय के उद्घाटन की दिल्ली नगर निगम के महापौर द्वारा व्यवस्था हो रही है। विद्यापीठ के पाठ्यक्रमानुसार नियमित रूप से आयुर्वेद की शिक्षा के अतिरिक्त शवच्छेदन, द्रव्य-परिचय एवं औषध-निर्माण कार्य की क्रियात्मक रूप में शिक्षा देने की सुव्यवस्था की गई है।

विद्यालय में प्रवेश आरम्भ है, योग्य विद्यार्थी अतिशीघ्र आवेदन भेजें ताकि स्थानाभाव से उन्हें निराश न होना पड़े।

चुरू में राज० आ० औषधालय का उद्घाटन

राजकीय आयुर्वेदिक औषधालय साहवा-चुरु जिले के भवन का निर्माणकार्य चल रहा था, पूर्ण हो गया है

इसका उद्‌घाटन राजस्थान के मुख्य मंत्री, माननीय श्री मोहनलाल सुखाड़िया ने २ जुलाई को किया। उक्त अवसर पर राजस्थान कृषि विभाग के उपमंत्री श्री दौलतराम सारंण, चौधरी हंसराज आर्य तथा उच्चकोटि के अन्य नेतागण भी उपस्थित थे।

मुख्यमंत्री का इस ग्राम में शानदार स्वागत किया गया। स्थान-स्थान पर विशाल द्वार बनाए गए व फूल मालाएँ पहनाई गईं। एक विशाल जुलूस के साथ ग्राम में मुख्य मंत्री ने प्रवेश किया। लगभग सात हजार जनसमूह ने स्वागतार्थ नारे लगाए। मुख्यमंत्रीजी ने स्थानीय कई आयुर्वेदीय संस्थाओं का निरीक्षण किया और प्रसन्नता प्रकट की।

जनपद वैद्य सभा, जौनपुर

जनपद वैद्यसभा, जौनपुर की कार्य-समिति की बैठक में निम्नलिखित प्रस्ताव सर्वसम्मति से स्वीकृत किए गए—

यह सभा जिला, प्रान्तीय एवं अखिल देशीय स्तर पर वैद्यों की शैक्षणिकी एक पता होने तथा आपस में खींचातानी के कारण वैद्य समाज में उत्पन्न शैथिल्य एवं गतिरोध की अवस्था पर खेद प्रकट करती है। साथ ही ऐसा महसूस करती है कि अखिल भारतीय स्तर पर कोई प्रयत्न यदि न किया गया तो आयुर्वेद का भविष्य निश्चय ही अन्धकारपूर्ण हो जावेगा।

यह सभा स्वीकृत प्रस्ताव संख्या ३ के अनुसार मंत्री, वैद्य सभा जौनपुर को आदेश देती है कि वे एतदर्थ आयुर्वेदिक प्रतिष्ठानों से सम्पर्क स्थापित कर उनके सुझाव एवं सहयोग प्राप्त करें और सभा की बैठक बुला कर शीघ्र ही इसकी सूचना दें।

यह सभा काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में आयुर्वेद कालेज को मेडिकल कालेज में परिवर्तित करने का घोर विरोध करते हुए अधिकारियों से अनुरोध करती है कि यदि विश्वविद्यालय के अधिकारी मेडिकल कालेज चलाना उचित समझते हैं तो सहर्ष चलायें किन्तु आयुर्वेद का पृथक् अस्तित्व कायम रक्खें और आयुर्वेदिक कालेज को न हटाएँ।

श्री वैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, झांसी

श्री वैद्यनाथ आ० भ० प्रा० लि० झाँसी द्वारा संचालित श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्यरक्षा केन्द्र में मास मई १९६० में कुल २१८६ रोगियों की निशुल्क चिकित्सा की गई। जिनमें नये रोगी ४८४ आये; प्रत्येक रोगानुसार नये रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है।

ज्वरातिसार ८, आमशोथ ५, कृमि ४, ककरकास १३, अतिसार ३२, वातश्लैष्मिकज्वर १६, आमाशयिकशूल २, ज्वर ४४, गृध्रसी ४, अजीर्ण ११, श्लेष्मिक ज्वर १८, वातव्याधि ९, गर्भरोग २, दन्तरोग ३, वातरक्त २, कास ५५, प्रसूत १२, शिरःशूल ९, मम्स ७, प्रमेह ७, विषम ज्वर ५, जीर्णज्वर १६, दौर्बल्य ६, दन्तोवाम ६, शीतपित्त ६, प्रदर १५, श्वास १२, प्रतिश्याय ४०, आमवात ६, पित्तज्वर २२, व्रण ८, सन्निपातज्वर १, उदरशूल १२, प्रवाहिका १३, वमन ३, रक्तपित्त ८, कण्डू ११, ग्रहणी ४, पार्श्वशूल २, रक्तातिसार ४, शोथ ६, मुखपाक १३, यकृतोदर ३, अर्श ३, आंत्रिकज्वर ८, विसर्प १, रजःकृच्छ्र १२, क्षय ३, रक्तचाप ४, अम्लपित्त ११, कर्णरोग ३, अंशुघात २, कण्ठशालूक २, कटिशूल १, गुल्म १, गुदभ्रंश १, मृगी १, मूत्रकृच्छ्र १।

श्री वैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, पटना

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन द्वारा संचालित वैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय में गत् जून मास में कुल ११३४ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई। इसमें ६०० नये और ५३४ पुराने रोगी थे। इसमें पुरुष रोगियों की संख्या १९०, स्त्री रोगियों की संख्या २११, तथा बालक रोगियों की संख्या १९९ थी। इस मास की दैनिक उपस्थित का औसत ३७-८ रहा। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार नीचे लिखे मताबिक है।

ज्वर ६४, अतिसार ४८, ग्रहणी ४४, अजीर्ण ५६, कृमि ८६, पाण्डु ३४, श्लीपद १८, शोथ ३, बालशोथ ३५, प्रदर २९, रक्त ४३ नेत्ररोग २९, नासा ३२, कर्ण ४०, मुखरोग ३९।

श्री वैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, नागपुर

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राईवेट लिमीटेड, नागपुर द्वारा संचालित श्री वैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्यरक्षाकेन्द्र में गत मई, मास में १४ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई जिनमें ३४० रोगी नये आये तथा नये रोगियों का रोगानुसार विवरण निम्न प्रकार है—पामा १, ज्वरातिसार ६, दौर्बल्य १०, आमातिसार ३, पित्त विकार ९, अतिसार १४, वातव्याधि १९ मलेरिया २, श्वास १८, जीर्णज्वर ३, ज्वर ५२, अग्नि-

मान्द्य ८, प्रतिश्याय २४, दन्तशूल २, गलग्रन्थि ५, एग्जीमा २, नेत्र रोग ७, इन्फ्लुएन्जा ४, अर्धांगवात २, कृमिविकार ३, कर्ण रोग १२, रक्त विकार ६, अजीर्ण ३, पाण्डु २, प्रमेह ३, वृषण वृद्धि ४, कास २०, व्रण ११, उदरशूल ९, शीतपित्त २, अनिद्रा २, मुख पाक ८, बालज्वर ३, अर्श २, श्वेत प्रदर ३, श्लेष्मकास ४, आघात २, कटिशूल २, वमन ३, पार्श्वशूल ४, शिरः शूल ५, यकृत् विकार ४, हृदय दौर्बल्य ३, शिरो भ्रम ४, श्लेष्म ज्वर ४, धातु विकार ४, बद्धकोष्ठ ३, पिड़िका ४, अम्लपित्त ३ कण्डू ४।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा संचालित धर्मार्थ औषधालय तथा स्वास्थ्यरक्षाकेन्द्र नागपुर में जून सन् १९६० में २०८१ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई, जिनमें ४२४ रोगी नये आये। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार निम्न प्रकार है——श्वास १४, कास ३६, दंत रोग ३, व्रण १९, अतिसार १९, अर्श ३, दौर्बल्यता २२, वातव्याधि २९, शिरोभ्रम ३, प्रतिश्याय २०, चर्मरोग २, ज्वर ५७, पित्त विकार ७, कर्ण रोग १७, एग्जीमा ३, मलबद्धता ७, उदर शूल २१, कफज रोग ३, शिरः शूल ९, पिडिका ९, मूत्रकृच्छ्र ४, नेत्र रोग ८, आघात ४, धातुदौर्बल्य ३, पाण्डु २, रजावरोध ३, रक्तालपता ४, कुष्ठ ३, शोथ ३, प्रवाहिका ३, अम्लपित्त ७, कृमि रोग ७, अरुची २, श्वेतप्रदर ९, ग्रहणी २, कण्डू ७, पार्श्वशूल १, रक्तप्रदर ४, बालातिसार २, विद्रधि ३ मूत्रावरोध १, अजीर्ण ४, रक्तपित्त २, उन्माद १२, गृध्रसी ३, प्रसूत रोग ३, कर्ण शूल ३, गर्भज रोग २,

श्री बैद्यनाथ आ० औषधालय, एम० पी० क्लब, दिल्ली

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा संचालित आयुर्वेदिक औषधालय, एम० पी० क्लब, नार्थ एवेन्यू, नई दिल्ली में गत फरवरी, मार्च, अप्रेल, और मई, माह में निम्नलिखित रोगियों की चिकित्सा की गयी——

फरवरी

ज्वर——३३१, अतिसार प्रवाहिका २०३, कास १४१, उदर शूल——४२, अर्श——१०, रक्तविकार——२५, व्रण,नेत्र, कर्ण——४७; वातव्याधि——७३, प्रतिश्याय—१९१, हृद रोग——५, श्वास——९, मूत्रविकार——१२, प्रमेह—२१, प्रदर——७५, यकृत्——१३३।

मार्च

प्रतिश्याय——३८१, ज्वर——३७२, कास—१६२, यकृत्——२५२, रक्तविकार——१११, दंत, नेत्र, कर्ण, व्रण—१९२, प्रमेह——२९३, प्रदर——१११, मासिक-विकार—४५, अम्लपित्त——३०, वातव्याधि——१०६, अर्श—६।

अप्रेल

अतिसार-प्रवाहिका—— ८११, प्रतिश्याय—२२२, ज्वर——३९३ कास——२३५, श्वास——१३, पाण्डु—१, यकृत्——९३, प्रमेह——१७२, प्रदर——२०८, हृदरोग,—३ वातव्याधि——२०६, अर्श——३५, अण्डवृद्धि——३, व्रण, कर्ण, नेत्र-दन्त——४१।

मई

मूत्र-विकार——१८, दुर्बलता——२०, ज्वर—५४१, अतिसार-प्रवाहिका——३७३, कास——१७३, रक्तविकार—१५५, रक्तपित्त——५, अर्श——४२, वातव्याधि—१९३, प्रतिश्याय——६५, श्वास——७, अम्लपित्त——११, यकृत—८७, हृदय——३ प्रमेह——५५, प्रदर——११७, व्रण—नेत्र-कर्ण-दन्त——२७६, शूल——११२, मासिक विकार—१०, अण्ड वृद्धि——४, छर्दि——४३, श्वेतकुष्ठ——१।

भूल-सुधार

“सचित्र आयुर्वेद” के जून, १९६० के अंक में ‘रजोरोध’ शीर्षक से जो लेख प्रकाशित हुआ है, उसमें भूल से पृष्ठ १०९७ पर तेजाब शोरा के बजाय केवल शोरा ही छप गया है——अतः पाठकों से निवेदन है कि वे शोरा, ४ माशा के स्थान पर तेजाब शोरा (अर्थात् शोरे का तेजाब) ४ माशा समझें।

—संपादक

आचार्यजी के ५० वर्षों का चिकित्सानुभव

२५००० प्रतियाँ अब तक बिक चुकी हैं

सिद्धयोग-संग्रह

अर्थात्

(आयुर्वेद के योग-समुद्र में से चुने हुए चिकित्सोपयोगी प्रयोग-रत्न)

लेखक——**आयुर्वेदमार्त्तण्ड-वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य**

अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त और लब्धप्रतिष्ठ स्व० आचार्य जी केवल आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं बल्कि एक पीयूषपाणि–सिद्धहस्त चिकित्सक भी थे और इनकी चिकित्सा की लोकप्रियता इसलिए अधिक थी कि इनके नुस्खे कम खर्च में तैयार होते तथा आशुफलप्रद होते थे।

इस पुस्तक में आचार्य जी ने अपने चिकित्सा-काल के ५० वर्षों के अनुभव का दोहन कर——आयुर्वेदीय-यूनानी अथवा आनुभविक जिन योगों द्वारा चिकित्सा में सफलता प्राप्त की, उन्हीं योगों को जन-कल्याणार्थ वैद्यों से लेकर सर्वसाधारण जनता के लिए निश्छलभाव से लिख दिया है। आचार्य भाव मिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ज्वराधिकार से लेकर रसायन-वाजीकरणाधिकार पर्यन्त विभिन्न २९ प्रकरणों में औषध-चिकित्सा बहुत समझा कर लिखा है। पुस्तक के परिशिष्ट में स्वर्णादि धातुओं की शोधन-विधियाँ भी ऐसे सरल तरीके से लिखी गई हैं जिन्हें वैद्य सुविधानुसार व्यवहार में ला सकते हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि रोगों की अनेकविध चिकित्सा न बताते हुए सम्मान्य लेखक ने अपने आनुभविक चिकित्सा-प्रयोगों का ही उल्लेख किया है। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ नये-पुराने वैद्यों तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों के अन्तिम वर्ष की पढ़ाई में विद्यार्थियों के लिए भी अत्युपयोगी है।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा निर्मित अधिकतर दवाएँ इसी ग्रन्थ के आधार पर तैयार होकर वैद्यनाथ के ५ निर्माण-केन्द्रों, ३५० बिक्री-केन्द्रों तथा २५००० से अधिक एजेण्टों द्वारा एक ही मूल्य में सर्वत्र प्राप्त होती हैं।

ऐसी उपयोगी पुस्तक डबल डिमाई १६ पेजी, २०० पृष्ठ का मूल्य——२·७५ नये पैसे हैं।

श्री **वैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि॰
कलकत्ता · पटना · झांसी · नागपुर

ताजे गुणकारी आवलों
से तैयार

यह शरीर को क्षीण होने से रोकता है तथा रस-रक्तादि धातुओं की कमी को पूरा कर खून को बढ़ाता है तथा मांस-पेशियों को दृढ़ और हड्डियों को मजबूत बनाता है।

फेफड़ों के विकार, कफ, खाँसी, श्वास, दमा, शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, रक्तहीनता, कैल्शियम आदि शारीरिक धातुओं की कमी तथा मन्दाग्नि, अम्ल-पित्त और कब्जियत आदि रोगों को दूर करता है।

बैद्यनाथ
च्यवनप्राश
अष्टवर्गयुक्त

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

SB/6

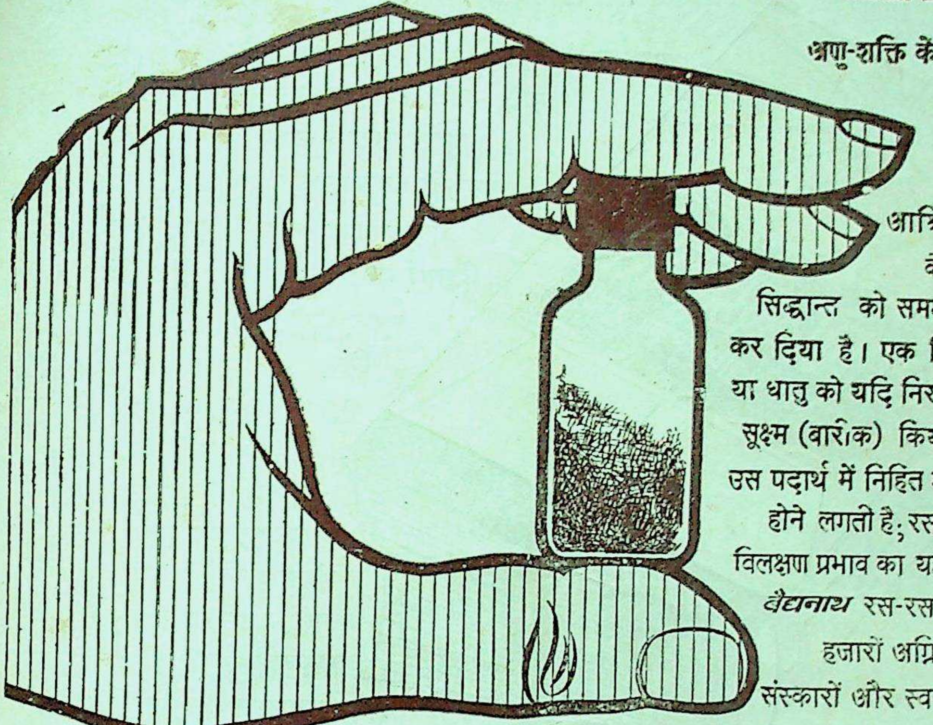

'गागर में सागर'

अणु-शक्ति के आविष्कार ने आज भौतिक-स्तर पर भी ज्ञान-योग आश्रित रस-रसायनों के सूक्ष्मीकरण सिद्धान्त को समझना आसान कर दिया है। एक विशिष्ट द्रव्य या धातु को यदि निरन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्म (बारीक) किया जाय तो उस पदार्थ में निहित शक्ति प्रकट होने लगती है; रस-रसायनों के विलक्षण प्रभाव का यही रहस्य है। *बैद्यनाथ* रस-रसायन सैकड़ों-हजारों अग्निपुटों, औषध-संस्कारों और स्वरसभावनाओं के द्वारा सूक्ष्मीकरण की शास्त्र-सम्मत प्रक्रिया से तैयार होते हैं।

बैद्यनाथ
रस-रसायन

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और
विश्वासी
कारखाना

बैद्यनाथ सिद्ध मकरध्वज, **बैद्यनाथ** बसन्तकुसुमाकर रस, **बैद्यनाथ** पूर्णचन्द्र रस वृहत्, **बैद्यनाथ** श्वास चिन्तामणि रस वृहत्, **बैद्यनाथ** योगेन्द्र रस आदि आदि **बैद्यनाथ** रस-रसायन स्वयं स्फूर्त शक्तिपुंज होते हैं।

बैद्यनाथ

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५,००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

स्वत्वाधिकारी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० की ओर से पं० सभाकान्त झा द्वारा जनवाणी प्रिन्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०, ३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता में मुद्रित तथा उनके ही द्वारा १, गुप्ता लेन, कलकत्ता से प्रकाशित।

१,२८,००० से अधिक....

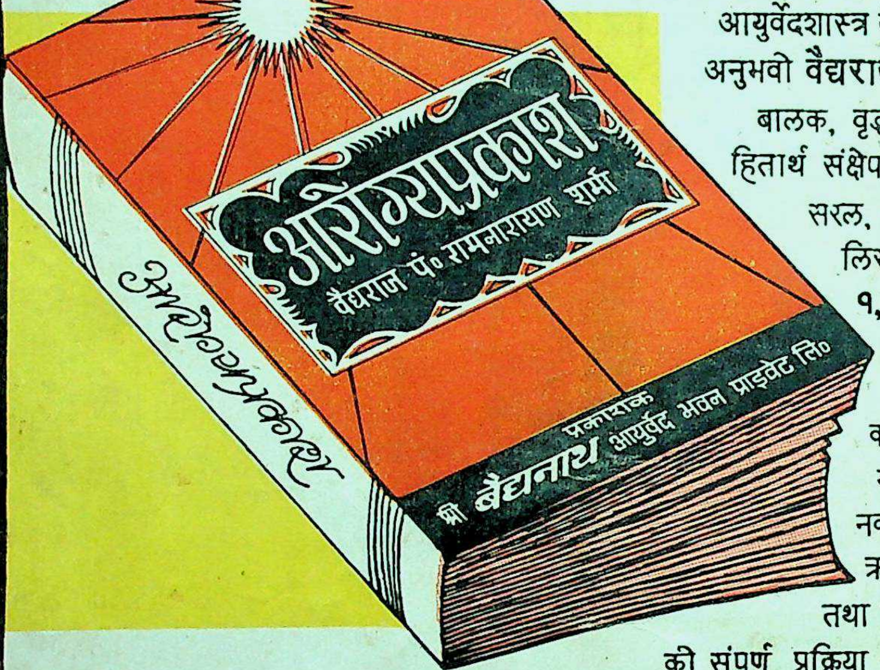
आरोग्यप्रकाश
वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा
प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
आरोग्यप्रकाश

'आरोग्य-प्रकाश' दवाओं के नुस्खों की एक किताब मात्र नहीं है, यह भारतीय जीवन-दर्शन है : आरोग्य, सुख, समृद्धि एवं उच्च-जीवन की उपलब्धि के उपायों को, आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ और जीवन-जगत् के अनुभवी **वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा** ने बालक, वृद्ध, युवा--स्त्री, पुरुष सभी के हितार्थ संक्षेप व विस्तार के समन्वय से सरल, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखा है। बारह संस्करणों में **१,२८,०००** से अधिक प्रतियों का बिक जाना इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है ; रेखाचित्रों, भोज्य-वस्तुओं के गुण-परिमाण-नक्शों, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, ऋतुचर्या आदि विषयों से युक्त तथा स्वानुभूत औषधियों के निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया के साथ-साथ रोगों के कारण, निदान, लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि का सहज विवेचन किया गया है। ४६० से अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य भारतीय जीवन-दर्शन और आयुर्वेदीय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के हेतु मात्र २·२५ न·पै· रखा गया है।

बैद्यनाथ ने जहाँ आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण के लिये ५ बड़ी-बड़ी रसायनशालाएँ स्थापित की हैं, तदनुरूप ही आयुर्वेदीय वाङ्मय की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा के लिये प्राचीन और अर्वाचीन विविध आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है तथा 'सचित्र आयुर्वेद' पत्रिका के द्वारा प्रतिमास उच्चकोटि के मौलिक साहित्य के सृजन का कार्य भी अबाधगति से होता आ रहा है।

बैद्यनाथ के कतिपय विशिष्ट प्रकाशन

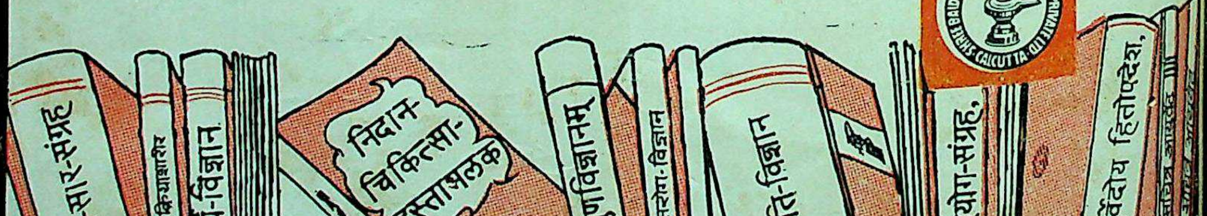
आयुर्वेद-सार-संग्रह
आयुर्वेदक्रियाशारीर
पदार्थ-विज्ञान
निदान-चिकित्सा-हस्तामलक
द्रव्यगुणविज्ञानम्
मानसरोग-विज्ञान
विकृति-विज्ञान
सिद्धयोग-संग्रह
आयुर्वेदीय हितोपदेश
सचित्र आयुर्वेद

देशी दवाओं का सब से बड़ा
और विश्वासी कारखाना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

सचित्र आयुर्वेद

गुरुकुल पत्रिका

वर्ष १३] कलकत्ता, सितम्बर, १९६० [अंक ३

GURUKULA KANGRI LIBRARY HARDWAR

आयुर्वेद का संरक्षण अत्यावश्यक

निश्चय ही यह अत्यन्त शोचनीय स्थिति है कि हम, भारत में, जान-बूझ कर इस देश की प्राचीनतम चिकित्सा-पद्धति-आयुर्वेद की उपेक्षा कर रहे हैं। चीन में स्थापित वर्तमान कम्युनिस्ट शासन चीनी चिकित्सा-पद्धति को पुनरुज्जीवित करने की दिशा में अधिकाधिक प्रयत्नशील दिखायी देता है। दुर्भाग्यवश, प्राचीन को सर्वथा अवैज्ञानिक तथा नवीन को वैज्ञानिक मानने की धारणा के हम कायल होते जा रहे हैं--यही कारण है कि हम आयुर्वेद के प्रति न्याय नहीं कर पाते। आयुवद को जिस प्रकार का संरक्षण दिया जा रहा है, उससे वस्तुतः उसकी हत्या ही हो रही है। आयुर्वेदज्ञों को यह भली-भाँति विदित है कि आयुर्वेद का मूल तत्व इसके त्रिदोष-सिद्धान्त में निहित है, इसके निघण्टु में नहीं। वैद्यों द्वारा अबतक प्रयुक्त होनेवाली औषधियों के ब्रिटिश निघण्टु में सभाविष्ट कर लेने से एलोपैथी को आयुवद नहीं बनाया जा सकता। यह दुर्भाग्य का विषय है कि स्वयं वैद्यों का एक बहुत बड़ा भाग उन शास्त्रोक्त शब्द-सूत्रों के अर्थों को नहीं जानता, जिनका वह प्रयोग करता है।

डॉ० सम्पूर्णानन्द,
मुख्य मंत्री, उत्तरप्रदेश।

प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि.

१,२८,००० से अधिक....

आरोग्यप्रकाश
वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा
आरोग्यप्रकाश
प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

'आरोग्य-प्रकाश' दवाओं के नुस्खों की एक किताब मात्र नहीं है, यह भारतीय जीवन-दर्शन है: आरोग्य, सुख, समृद्धि एवं उच्च-जीवन की उपलब्धि के उपायों को, आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ और जीवन-जगत् के अनुभवी **वैद्यराज पं० रामनारायण शर्मा** ने बालक, वृद्ध, युवा--स्त्री, पुरुष सभी के हितार्थ संक्षेप व विस्तार के समन्वय से सरल, सुबोध एवं प्रवाहपूर्ण भाषा में लिखा है। बारह संस्करणों में १,२८,००० से अधिक प्रतियों का बिक जाना इसकी लोकप्रियता और उपयोगिता का स्पष्ट प्रमाण है; रेखाचित्रों, भोज्य-वस्तुओं के गुण-परिमाण-नक्शों, व्यायाम, ब्रह्मचर्य, भोजन, ऋतुचर्या आदि विषयों से युक्त तथा स्वानुभूत औषधियों के निर्माण की संपूर्ण प्रक्रिया के साथ-साथ रोगों के कारण, निदान, लक्षण, चिकित्सा, पथ्यापथ्य आदि का सहज विवेचन किया गया है। ४६० से अधिक पृष्ठों की इस पुस्तक का मूल्य भारतीय जीवन-दर्शन और आयुर्वेदीय ज्ञान-विज्ञान के प्रचार एवं प्रसार के हेतु मात्र २·२५ न·पै· रखा गया है।

बैद्यनाथ ने जहाँ आयुर्वेदीय औषधियों के निर्माण के लिये ५ बड़ी-बड़ी रसायनशालाएँ स्थापित की हैं, तदनुरूप ही आयुर्वेदीय वाङ्मय की पुनः प्राण-प्रतिष्ठा के लिये प्राचीन और अर्वाचीन विविध आयुर्वेदीय ग्रन्थों का प्रकाशन भी किया है तथा 'सचित्र आयुर्वेद' पत्रिका के द्वारा प्रतिमास उच्चकोटि के मौलिक साहित्य के सृजन का कार्य भी अबाधगति से होता आ रहा है।

बैद्यनाथ के कतिपय विशिष्ट प्रकाशन

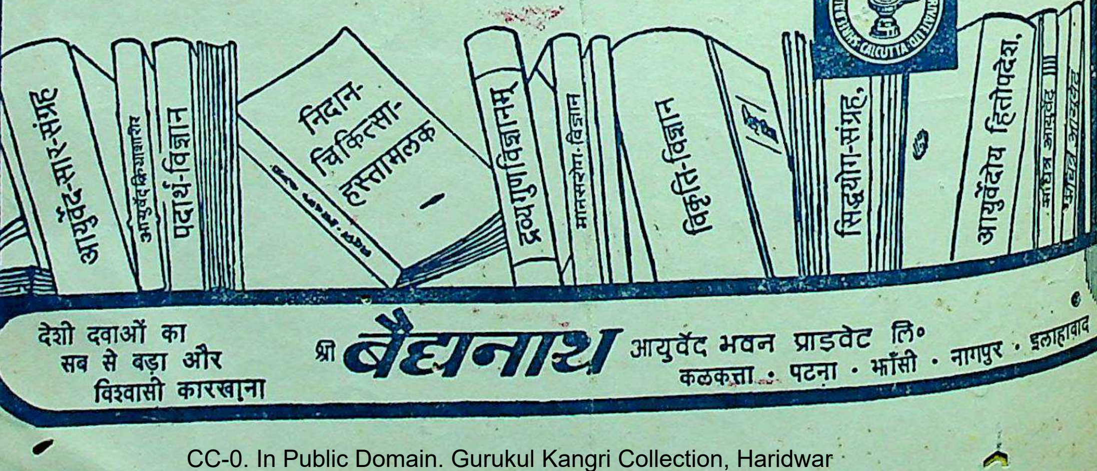
आयुर्वेद-सार-संग्रह
आयुर्वेद क्रियाशारीर
पदार्थ-विज्ञान
निदान-चिकित्सा-हस्तामलक
द्रव्यगुणविज्ञानम्
मानसरोग-विज्ञान
विकृति-विज्ञान
सिद्धयोग-संग्रह,
आयुर्वेदीय हितोपदेश,
सचित्र आयुर्वेद

देशी दवाओं का
सब से बड़ा और
विश्वासी कारखाना

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

गागर में सागर

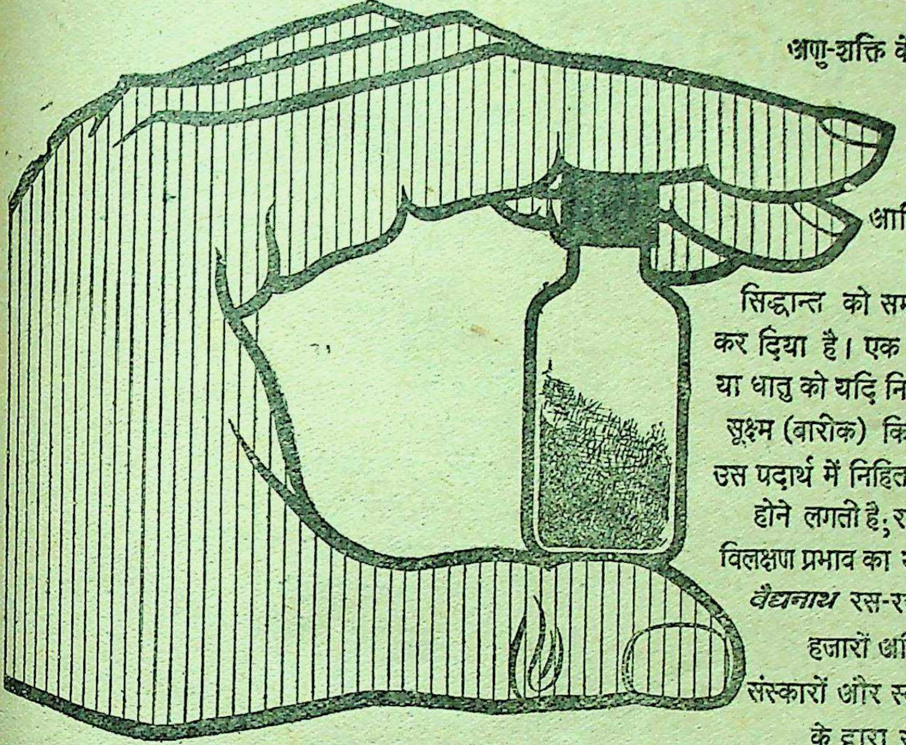

अणु-शक्ति के आविष्कार ने आज भौतिक-स्तर पर भी ज्ञान-योग आश्रित रस-रसायनों के सूक्ष्मीकरण सिद्धान्त को समझना आसान कर दिया है। एक विशिष्ट द्रव्य या धातु को यदि निरन्तर सूक्ष्म से सूक्ष्म (बारीक) किया जाय तो उस पदार्थ में निहित शक्ति प्रकट होने लगती है; रस-रसायनों के विलक्षण प्रभाव का यही रहस्य है। *बैद्यनाथ* रस-रसायन सैकड़ों-हजारों अग्निपुटों, औषध-संस्कारों और स्वरसभावनाओं के द्वारा सूक्ष्मीकरण की शास्त्र-सम्मत प्रक्रिया से तैयार होते हैं।

बैद्यनाथ रस-रसायन

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

बैद्यनाथ सिद्ध मकरध्वज, *बैद्यनाथ* बसन्तकुसुमाकर रस, *बैद्यनाथ* पूर्णचन्द्र रस वृहत्, *बैद्यनाथ* श्वास चिन्तामणि रस वृहत्, *बैद्यनाथ* योगेन्द्र रस आदि आदि *बैद्यनाथ* रस-रसायन स्वयं स्फूर्त शक्तिपुंज होते हैं।

श्री **बैद्यनाथ** आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी : नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

सम्पादक—कामेश्वर शर्मा 'कमल'

विषय-सूची

विषय	लेखक	पृष्ठ
'सचित्र आयुर्वेद' के १२वें वर्ष के पुरस्कार विजेता		१६५
सम्पादकीय		१६६
बीती ताहि विसार दें	श्री द्वारिकेश मिश्र	१७०
काश्यपसंहिता : : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ—६	वैद्य रणजितराय	१७३
त्रिधातु के स्वरूप की शैली	वैद्य निरंजनदेव, आयुर्वेदालंकार	१८१
स्रोतो विचार—३	वैद्य प्रभाशंकर नरोत्तम रावल	१८७
अस्थि-सन्धान	डॉ० अनन्तराम शर्मा शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य	१९२
पिडका तथा स्फोट विचार	वैद्य श्री रघुवीर प्रसाद त्रिवेदी	१९५
वनस्पति-विनिश्चय : : एक योजना	प्रो० बलवन्त सिंह, एम. एस-सी०	२०२
आयुर्वेद में शोध (अंग्रेजी)	कविराज एस० एन० बोस	२०८
दन्तशल्य चिकित्सा (अंग्रेजी)	डॉ० पी० बी० जायदे	२११
जलधनियाँ	वैद्य उदयलाल महात्मा	२१५
कुटज	वैद्य ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, आयुर्वेदरत्न	२१९
आयुर्वेदीय हितोपदेश-संग्रह	वैद्य बिन्दुमाधव पण्डित	२२५
चीनी बाल-चिकित्सा का संक्षिप्त इतिहास	श्री बनारसीदास गुप्त, बी० ए०	२३०
आयुर्वेद-जगत		२३८

'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित सभी रचनाओं के सर्वाधिकार सुरक्षित हैं। हमारी पूर्व अनुमति के बिना इसमें प्रकाशित किसी रचना का कोई अंश किसी पत्र-पत्रिका में उद्धृत नहीं किया जाना चाहिए। —सम्पादक।

वार्षिक मूल्य ५) एक प्रति ५० नये पैसे

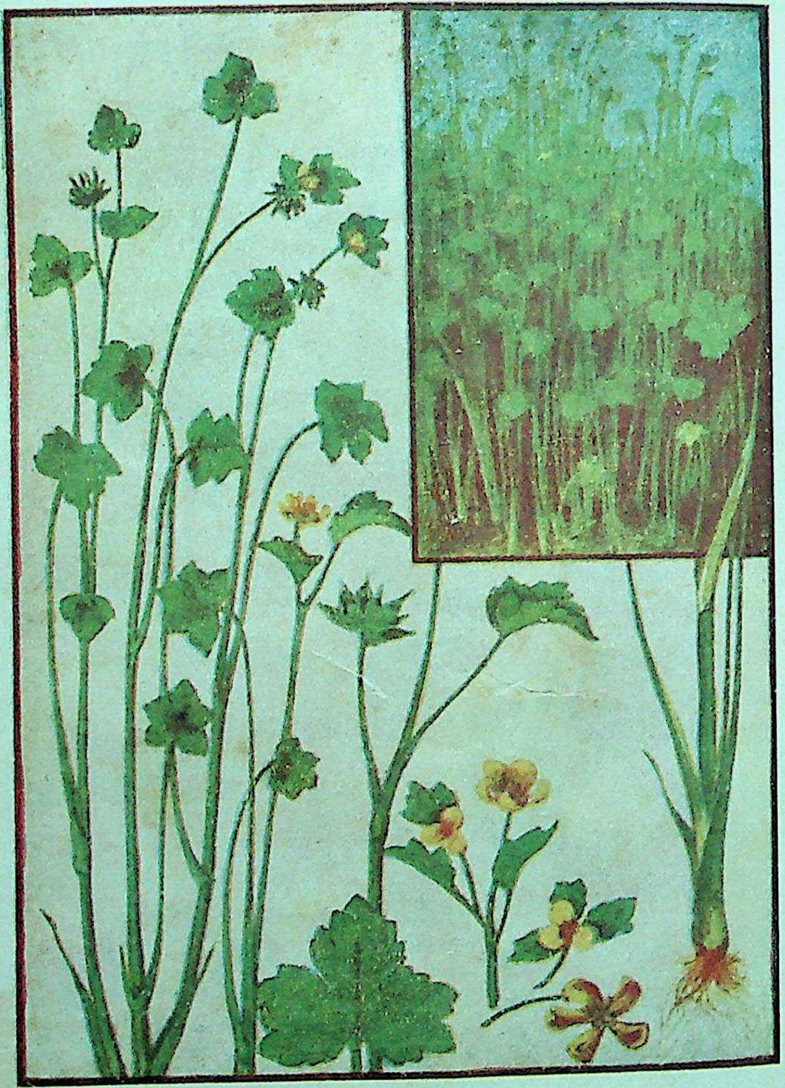

जलधनियाँ——पत्र-पुष्प-फल युक्त

आयुर्वेद-जगत में सर्वजन-समादृत और सर्वाधिक बिक्री होनेवाला आयुर्वेदविज्ञान का प्रमुख मासिक पत्र

श्री धन्वन्तरये नमः

सचित्र आयुर्वेद

आयुःकामयमानेन धर्मार्थसुखसाधनम् । आयुर्वेदोपदेशेषु विधेयः परमादरः ॥

र्ष १३ | कलकत्ता, सितम्बर, १९६० | अंक ३

'सचित्र आयुर्वेद' के १२ वें वर्ष के बैद्यनाथ पुरस्कार-विजेता

वाचकों को यह भली-भाँति विदित है कि 'सचित्र आयुर्वेद' में प्रकाशित पूरे वर्ष भर के लेखों में सर्वोत्कृष्ट लेख के लेखक को 'सचित्र आयुर्वेद' के संचालकों (श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि०) द्वारा २५०) रु० का बैद्यनाथ पुरस्कार प्रतिवर्ष दिया जाता है। सर्वोत्कृष्ट लेखों पर पुरस्कार देने की परम्परा का प्रारम्भ इस उद्देश्य से किया गया है कि आयुर्वेद के विद्वान लेखकों में गंभीर अध्ययन-अनुशीलन की सुरुचि का अधिकाधिक उदय हो तथा आयुर्वेदीय लेखकों का यत्किंचित उत्साह-वर्द्धन भी हो सके। अबतक आयुर्वेद-जगत के दर्जनों लब्ध-प्रतिष्ठ विद्वान बैद्यनाथ पुरस्कार द्वारा पुरस्कृत हो चुके हैं। पुरस्कृत होने वाले विद्वानों में प्रमुख हैं—श्री बापालाल भाई, आचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत, श्री रणजित राय देसाई, उपाचार्य, आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत, श्री विश्वनाथ द्विवेदी, प्राध्यापक, स्नातकोत्तर शिक्षण-केन्द्र, जामनगर, कविराज एस० एन० बोस, प्रिंसपल आयुर्वेद-कालेज, जालंधर (पंजाब) तथा डॉ० अनन्तानन्द, प्राध्यापक, आयुर्वेद-विभाग, गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार।

हमें यह घोषित करते अपार हर्ष हो रहा है कि 'सचित्र आयुर्वेद' के १२ वें वर्ष के प्रकाशित लेखों में, गुजरात-प्रान्त के आयुर्वेद-विभाग के निर्देशक आचार्य श्री वासुदेव मूलशंकर द्विवेदी द्वारा लिखित "कूपीपक्व विज्ञाने अग्नि मात्रा विनिर्णयः" विषयक लेख को ही पुरस्कार-निर्णायक समिति ने सर्वोत्कृष्ट मान कर २५०) रु० का पुरस्कार उक्त लेख के विद्वान लेखक को प्रदान करने का निर्णय इस वर्ष किया है। इस सफलता के लिए हम विद्वान लेखक के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करते हुए यह आशा रखते हैं कि वह भविष्य में आयुर्वेद-शास्त्र के तात्विक ऊहापोह में अधिकाधिक संलग्न रहेंगे और अपनी मौलिक उद्भावना-शक्ति का परिचय आयुर्वेद-जगत को देंगे।

आगामी अंक में आपका एक सचित्र परिचय भी प्रकाशित करने की हम आशा रखते हैं। —सम्पादक

आयुर्वेद-यूनानी पर नया संकट

कुछ दिनों पहिले राजस्थान में यह प्रसंग उपस्थित हुआ था कि वैद्यों पर ड्रग्स एक्ट लागू कर दिया जाय। उसका प्रभाव वैद्यों की जीविका पर पड़ने वाला था। राजस्थान के वैद्यों ने संगठित विरोध किया तो, वहाँ की सरकार को उक्त प्रकार का कानून लागू करने का विचार फिलहाल त्यागना पड़ा। परन्तु अब वैसा ही और उससे भी दस-बीस कदम आगे का विचार केन्द्रीय सरकार क्षेत्र में चल रहा है कि आयुर्वेदीय यूनानी औषधों पर भी ड्रग्स एक्ट, १९४० लागू कर दिया जावे। कहा जाता है कि संसदीय प्राक्कलन-समिति ने अपने छत्तीसवें प्रतिवेदन में इस बात पर प्रकाश डाला है कि आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर कोई भी नियन्त्रण न होना विचारणीय है और बहुकाल से यह आवश्यकता अनुभव की जा रही है कि देश में निर्मित आयुर्वेद-यूनानी औषधों की 'क्वालिटी' पर नियन्त्रण किया जावे। इसी समिति ने यह सुझाव दिया है कि आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर भी ड्रग्स एक्ट और रूल्स के प्रोवीज़न बढ़ाने की संभावनाओं और उपयोगिताओं का परीक्षण करके देखा जाना चाहिये। ड्रग्स एक्ट के अन्तर्गत गठित परिनियत निकाय—'ड्रग्स कन्सलटेटिव कमेटी—ने यह संस्तुति प्रस्तुत की है कि ड्रग्स एक्ट १९४० की धारा ३ (ब) के अंतर्गत 'ड्रग' की परिभाषा में आयुर्वेद-यूनानी औषधों को जो छूट दी गई हैं, उसको हटा दिया जावे। वर्तमान स्थिति यह है कि ड्रग्स एक्ट जिन दवाओं के लिए बना है और जिन पर लागू होता है, उनकी परिभाषा धारा ३ (ब) में दी गई है और लिखा गया है कि 'केवल आयुर्वेद-यूनानी पद्धति के अनुसार प्रयुक्त अथवा प्रयोगार्थ निर्मित को छोड़ कर' इस परिभाषा के रहते आयुर्वेद-यूनानी औषधों को उस एक्ट के अन्तर्गत 'ड्रग' नहीं माना जाता और इसीलिए उन पर ड्रग्स एक्ट की धाराएँ लागू नहीं हो सकती। सरकारी औषध परामर्श-समिति का यह सुझाव है कि इस परिभाषा में से आयुर्वेद-यूनानी का उल्लेख हटा दिया जाय तो स्वयंमेव ही सम्पूर्ण ड्रग्स एक्ट आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर भी लागू हो जायगा।

आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर नियन्त्रण स्थापित करने और उन पर ड्रग्स एक्ट लागू करने का विचार जिन कारणों से उठा है, उनमें यह प्रमुख हैं: एक तो सरकारी प्रेक्षकों की दृष्टि में आयुर्वेद-यनानी औषधि उद्योग अब उन्नत और विकसित हो गया है, देश में आयुर्वेद-यूनानी औषधों की खपत लगभग ६ करोड़ रुपया अनुमान की गई है। दूसरे यह कि कुछ निर्माता देशी और पाश्चात्य द्रव्यों को मिलाकर औषध बनाते हैं और उनका नाम आयुर्वेद-यूनानी औषधों से मिलता-जुलता रख लेते हैं। ड्रग्स स्टेन्डर्ड कन्ट्रोल अधिकारियों द्वारा हाल में की गई खोजों से यह पता चला है कि ऐसी मिश्रित दवायें बाजार में बिकती हैं। और आयुर्वेदीय नाम पर चलने के कारण उन पर कोई नियन्त्रण नहीं हो पाता। तीसरे यह कि हर स्थिति में आयुर्वेद-यूनानी औषधों का निर्माण भी साफ-सुथरी स्थिति में और सुयोग्य जानकारों के निरीक्षण में होना चाहिये। चौथे यह कि आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर ड्रग्स एक्ट का प्रभाव न होने के कारण, जनहित में उन बातों का पालन नहीं हो पाता जिनका पाश्चात्य दवाओं के लिए हो जाता है। इन सब खामियों के निवारण हेतु यह विचार किया जा रहा है कि ड्रग्स एक्ट में आयुर्वेद-यूनानी के लिए जो छूट दी गई है, उसको समाप्त कर दिया जाय। अनुमान किया जाता है कि निकट भविष्य में ही संसद में एक संशोधन लाकर इस विचार को कार्यान्वित किया जाने वाला है। केन्द्रीय सरकार ने इस प्रसंग पर प्रादेशिक सरकारों से सम्मति मांगी है।

परस्थिति यह है कि अभी, जब कि ड्रग्स एक्ट नाम को भी वैद्य-हकीम और आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर लागू नहीं है—फिर भी ड्रग्स कन्ट्रोल विभाग के इन्स्पेक्टरों द्वारा छोटे-मोटे औषध-निर्माता और वैद्य-हकीम परेशान किये जाते हैं। कहीं चालान होते हैं, कहीं मुकदमे चलते हैं। आयु इन्स्पेक्टरों की डाँट-फटकार तो मामूली बात है। आयुर्वेद-यूनानी के बहुत-से उपयोगी द्रव्योंको, पाश्चात्य औषधि-संहिता में ले लिया गया है, इस कारण—वे तो सहज ही

ड्रग्स एक्ट के अधिकार-क्षेत्र में बता दिये जाते हैं और उनके आधार पर ही राजकीय इन्स्पेक्टर वैद्य-हकीम को तंग करने का अवसर पाते रहते हैं। अभिप्राय यह है कि ड्रग्स एक्ट लागू न होने पर ही जब वैद्य-हकीम उसके प्रहारों से नहीं बचते, फिर पूरा एक्ट लागू कर दिये जाने पर कितनी कठिन स्थिति उत्पन्न हो जायगी——यह बात गंभीरतापूर्वक विचारणीय है।

हम देख रहे हैं कि वैद्य-हकीमों में सुदढ़ और सक्रिय संगठन न होने के कारण, राज्य धीरे-धीरे उन पर प्रहार कर रहा है। परिणामस्वरूप क्रमशः आयुर्वेद-यूनानी व्यवसाय कुंठित होता जा रहा है और भारत के प्राचीन औषध विज्ञान का अंग भंग हो रहा है। जब कोई कठिनाई सिर पर आकर तलवार की तरह झूलने लगती है, तब वैद्य-हकीमों में थोड़ी-सी गति दिखाई देती है। जब प्रहार हो चुकता है, तब वे विरोध करना आरम्भ करते हैं, जो कि व्यर्थ जाता है। फलतः वैद्य-हकीम निरुपाय होकर रह जाते हैं। एक-बार ,दो-बार, दस बार ऐसा हो चुका है, परन्तु आश्चर्य है वैद्य-हकीमों में चेतना न आ सकी। वे बार-बार हानि उठाकर भी सबक नहीं ले सके। सबसे अधिक दुःखद और आश्चर्यजनक बात तो यह है कि अवसर पर किसी के चेताने का भी वैद्य-हकीमों की कुम्भकर्णी निद्रा पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। इस विडम्बना के लिए क्या कहा जाय?

इस प्रसंग में एक प्रकरण हमें याद आता है। बहुत पुरानी बात नहीं। जिन दिनों आयुर्वेदीय आसवारिष्टों को शराब की श्रेणी में गिनकर उन पर मद्यकर कानून लगाने की चर्चा उठी थी——तब ही हमने इन पंक्तियों में वैद्य-समाज से निवेदन किया था कि वह सचेष्ट होकर अपनी शक्ति का परिचय दे और आसवारिष्ट जैसे आयुर्वेद चिकित्सा के अभिन्न अंग को बचावे। परन्तु आरम्भिक अवस्था में उस पर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया गया। यद्यपि हमारे कार्यालय में हजारों पत्र आये, जिनमें आसवारिष्टों पर मद्यकर का प्रवल विरोध करने के सुझाव लिखे गये। परन्तु हमारे भोले-भाले वैद्य-हकीम बन्धुओं को यह कैसे समझाया जाय कि हमारे आपस में पत्राचार कर लेने से कुछ नहीं होता। प्रभाव तो तब पड़ सकता है जबकि वैद्य-हकीमों की संगठित शक्ति से उनका विरोध सरकार पर असर हो। परन्तु ऐसा कोई प्रभावक कदम न उठाया जा सका। दिल्ली में स्थित आ० भा० देशी औषध निर्माता संघ ने आयुर्वेद-यूनानी के सभी औषध-निर्माताओं को बार-बार प्रेरित किया। उन्हें संगठित करने का उपक्रम किया और निरन्तर यह चेष्टा की कि सभी औषध-निर्माता एक मंच पर एकत्र होकर अपनी कठिनाइयों का निराकरण सोचें और विशेष कर आसवारिष्टों पर होने वाले इस प्रहार से अपनी रक्षा करने का सत्वर उपक्रम करें। जहाँ तक हमें पता है, वह संगठन भी उस रूप में दृढ़ और कारगर नहीं हो सका, जितना होना चाहिए था। न तो औषध-निर्माताओं ने कोई स्पष्ट रुचि ली और न संघ को आर्थिक सहयोग दिया। कदाचित् प्रत्येक औषध-निर्माता इसी उधेड़बुन में पड़ा रहा कि हमें क्या पड़ी है, जिस प्रदेश वालों पर संकट है, वे तो बचाव का कुछ उपाय करेंगे ही। समय आने पर उनका उपाय हमारे भी काम आ जायगा, इसलिए हम संगठन के झंझट में क्यों पड़ें? क्यों चन्दा दें? क्यों समय खराब करें? अपनी-अपनी की इस प्रवृत्ति ने कितनी बड़ी हानि की है, इसका अनुभव करने का अवसर अभी भी बहुत लोगों को आया नहीं है। क्योंकि जहाँ तक सुना जाता है अभी सरकार के पास पूरे आदमी नहीं, इसलिए आसवारिष्टों पर मद्यकर कानून का पूरा प्रभाव सब जगह व्याप्त नहीं हो सका। जो लोग बचे हैं, वे भी बचे नहीं रह सकेंगे। जब भी उन पर दृष्टि जायगी तब पिछले सालों तक का कर उनसे वसूल किया जायगा——तब कहीं उन्हें ज्ञान होगा कि वास्तव में यह कितना बड़ा प्रहार आयुर्वेद पर हुआ है। आसवारिष्टों पर मद्यकर कानून वाले मामले में सबसे अधिक दुःखद बात यह है कि उसका कठिन प्रभाव छोटे-छोटे औषध-निर्माताओं और सामान्य वद्यों पर अधिक पड़ेगा। बड़े-बड़े निर्माता, जो समर्थ हैं, वे तो पर्याप्त धन्य व्यय करके बांडेड लेबोरेटरी बना लेंगे, लायसेंस ले लेंगे, अपने यहां मंहगे एक्साइज अफसरों को नियुक्त कर लेंगे। परन्तु यह सब व्ययसाध्य कार्य छोटे-छोटे निर्माता सहज नहीं कर सकेंगे, परिणाम यह होगा देश के सैकड़ों गृह उद्योग रूप में आयुर्वेद् औषधि-निर्माण करने वाले छोटे-छोटे व्यवसायी धीरे-धीरे कठिनाई में पड़ जावेंगे। इसी प्रकार सामान्य वैद्य भी आसवारिष्ट बनाने के लिए उन जटिलताओं का यथावत् निर्वाह नहीं कर सकता जिनका कानून के अन्तर्गत उसको करना चाहिये, फलतः उसको विवश होकर अपनी चिकित्सा में आसवारिष्टों का

प्रयोग त्यागना ही पड़ेगा। जब तक उस कानून का पूरा प्रभाव सर्वत्र व्याप्त नहीं हुआ है, तभी तक उसकी कठिनाइयों का आभास सबको समान रूप से नहीं हो रहा है। जहाँ यह कानून अधिकतर प्रभाव में हैं, वहाँ के वैद्य-हकीमों और छोटे-मोटे औषध-निर्माताओं पर क्या बीत रहा है, यह वे ही जानते हैं। समय रहते यदि सचेष्ट होकर संगठित शक्ति से यथावत् विरोध किया जाता, और वस्तुस्थिति से सरकार को परिचित कराया जाता तो आसवारिष्टों पर मद्यकर कानून की जो विभीषिका आज उपउपस्थित है, इस रूप में निश्चित रूप से न होती।

हमारा कहना है कि ठीक वही स्थिति आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर ड्रग्स लगाये जाने के विषय में है। अभी इस पर सरकार ने विचार ही किया है। प्रादेशिक अधिकारियों की राय मांगी गई है। ठीक यही अवसर है जब कि वैद्य-हकीमों को सत्वर ही संगठित और सचेष्ट होकर इस अहितकर कार्यवाही का प्रवल विरोध करना चाहिए। सरकार जब कोई कानून बनाती है तो जिस विषय से उसका सम्बन्ध होता है, उसके जानकारों की राय लेती है। ड्रग्स एक्ट का सम्बन्ध दवाओं से है, इसलिए सरकार के पास दवाओं के जो जानकार हैं उनकी सम्मति लेकर वह कार्यवाही करेगी, यह स्वाभाविक है। सरकार की ड्रग्स कन्सलटेटिव कमेटी में जो लोग हैं, वे आयुर्वेद-यूनानी से रत्ती भर परिचय नहीं रखते। केवल इतना जानते हैं कि इन औषधों पर भी नियंत्रण होना चाहिए। नियंत्रण का तरीका उनकी जानकारी में ड्रग्स एक्ट मात्र है, इसलिए उन्होंने उसको भी आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर ठोक देने की राय दे दी। दूसरी ओर आयुर्वेद-यूनानी क्षेत्र के जो जानकार सरकार के सम्पर्क में हैं, उन्हे इन बातों से कोई मतलब नहीं। वे सरकारी पद और सुविधाएँ पाकर सरकार की हाँ-में-हाँ मिलाने के अतिरिक्त अपना कोई कर्त्तव्य अनुभव नहीं करते। यदि ऐसा न होता तो आसवारिष्टों पर मद्यकर न लगाया जाता। स्थिति स्पष्ट है, सरकारी कमेटियों के डाक्टरगण अपरिचित होने और आयुर्वेद-यूनानी के विरोधी होने के कारण अपनी राय आयुर्वेद विरोधी ही देते हैं और आयुर्वेद के विशेषज्ञ, पदों के मोह में लिप्त रहकर उदासीन रहते हैं—फिर सरकार को वस्तुस्थिति का ज्ञान भी कैसे हो? सरकार को यह पता ही न चले कि आयुर्वेद-यूनानी पर ड्रग्स एक्ट लगाना ठीक है या नहीं—तो वह अपने विचार को कार्यान्वित करने सिवा कर ही क्या सकती है। ऐसी दशा में एक ही रह जाता है कि वैद्य-हकीम ही अपना स्वर उठाकर सरकार को वस्तुस्थिति समझावें।

स्पष्ट ही हम इस बात को पसन्द नहीं करते कि आयुर्वेद-यूनानी औषधों को सदा-सर्वदा नितान्त अनियन्त्रित अवस्था में रक्खा जाय और इस क्षेत्र में कुछ लोग जो असावधानी कर रहे हैं, उन पर कोई अंकुश न लगाया जाय। अवश्य अंकुश लगाया जाय। अवश्य ऐसा नियंत्रण किया जाय कि आयुर्वेद-यूनानी औषधों में मिलावट या स्तरहीनता समाप्त हो। अवश्य ऐसे कदम उठाये जावें कि आयुर्वेद-यूनानी औषधें सर्वत्र सर्वथा विशुद्ध बनें। ऐसे प्रबन्ध में हम आयुर्वेद-यूनानी का कल्याण ही मानते हैं। हमने स्वास्थ्य मंत्री सम्मेलन और अन्य अवसरों पर अपनी ओर से मंत्रियों को दिये गए अपने स्मृतिपत्रों में यह मांग की है कि आयुर्वेद-यूनानी औषधों की उच्चस्तरता-निर्माण हेतु कदम उठावें। अनुकूल नये कानून बनावे। ऐसा होने से हमारा व्यवसाय उचित दिशा में प्रगति करेगा। उचित व्यवस्था में हमारी औषधें उत्तम कोटि की बनेंगी, जनता को लाभान्वित करेंगी तो आयुर्वेद-यूनानी की प्रतिष्ठा बढ़ेगी। अन्धाधुंधी समाप्त होगी तो हमारा स्तर उठेगा और हम पहले से अधिक शक्तिशाली बनेंगे। परन्तु हम यह मानने को तैयार नहीं कि इन सब का एकमात्र उपाय आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर सम्पूर्ण ड्रग्स एक्ट ज्यों-का-त्यों थोप देना ठीक है। इस पर विचार किया जाना चाहिए कि ड्रग्स एक्ट एलोपैथी औषधों के लिए बना है। उसमें पाश्चात्य औषध, उसकी निर्माण-प्रक्रिया, उसकी स्थिति और एलोपैथी भावना का ध्यान रक्खा गया है। वैसी ही व्यवस्था की गई है। वह सब-का-सब आयुर्वेद की परिस्थिति से कदापि मेल नहीं खा सकता। आयुर्वेद की प्रगति के मार्ग में एक बहुत बड़ी बाधा अवश्य बन सकता है। आये दिन वैद्य-हकीमों को परेशान करने और उनकी जीविका नष्ट करने का साधन अवश्य बन सकता है।

सरकार का ध्यान आयुर्वेद-यूनानी औषधों का स्तर उठाने की ओर जावे, यह कदापि चिन्तनीय नहीं, प्रत्युत उत्साहवर्द्धक है। परन्तु स्तर उठाने के नाम पर आयुर्वेद-यूनानी पर जो प्रहार किये जाते हैं, उनको विफल करने, और नष्ट करने के जो प्रपंच सरकारी पक्ष करता है

वह असह्य है। आयुर्वेद का अनुसन्धान करने का जो छद्म अबतक सरकार ने किया उसका परिणाम हमारे सामने है। हमारा अनुसन्धान किया गया और हमारे औषध-द्रव्यों में जो अच्छी चीज़े मिलीं, उनसे पाश्चात्य औषध विज्ञान का शृंगार किया गया––आयुर्वेद की उससे कोई श्रीवृद्धि नहीं हुई। इस छद्म को हम कबतक बर्दास्त करें। आयुर्वेद-यूनानी औषधों का स्तर उठाने और सुधार करने का विचार यदि ऐसा ही छद्म है तो वह वस्तुतः आयुर्वेद-यूनानी के विनाश का श्रीगणेश होगा। इसके अतिरिक्त और कुछ नहीं। निश्चय ही यदि दृढ़पूर्वक आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर पूर्वापर ड्रग्स एक्ट थोप दिया गया तो वह इस व्यवसाय पर भयंकर आघात होगा। अंग्रेज विदेशी थे, भारतीय कला विज्ञान से नफरत करते थे, फिर भी इतने मूर्ख नहीं थे कि विभिन्न परिस्थितियों वाली पद्धतियों पर एक ही कानून थोप देते। उन्होंने ड्रग्स एक्ट बनाया, उस समय ही, आखिर कुछ विचार कर ही उसको आयुर्वेद-यूनानी पर नहीं लगाया। वह विचार-विवेक आज के अपने कहलाने वाले भारतीय शासकों की वृद्धि में न आवे, यह आश्चर्यजनक है।

हमारी सरकार यदि वास्तव में हित भावना रखकर आयुर्वेद-यूनानी औषधों का स्तर उठाने के विचार से उन पर नियंत्रण करना चाहती है, तो हम उसके इस विचार का हार्दिक स्वागत करते हैं। परन्तु उसके आचरण और कार्यपद्धति इसके विपरीत जा रही हैं। ड्रग्स एक्ट लगाने का विचार ही यह सिद्ध करता है कि सरकार का मंशा भला नहीं है।

सरकार चाहती है तो उसका सही मार्ग यह है कि वह आयुर्वेद-यूनानी के औषध-निर्माताओं और विद्वानों का सम्मेलन बुलाकर विचार-विनिमय करे और आयुर्वेद-यूनानी की स्थितियों को ध्यान में रखकर उन पर नियंत्रण हेतु एक पृथक कानून बनाया जावे। ड्रग्स एक्ट के अन्तर्गत एलोपैथी दवाओं के लिए जिस प्रकार सलाहकार परिषद्, रसायनशाला, आदि की व्यवस्था है, उसी प्रकार आयुर्वेदीय औषधशास्त्र के विद्वानों की परिषद् बनायी जावे, आयुर्वेदीय रसायनशाला स्थापित की जावे। एक पृथक विभाग खोला जावे जिसमें मुख्याधिकारी से लेकर निरीक्षक तक सब-के-सब आयुर्वेद-यूनानी के जानकार वैद्य-हकीम ही केवल नियुक्त किये जावें। और इस सबसे पहले सरकार कानून बनाने के पूर्व आयुर्वेद-यूनानी औषधों का एक फार्माकोपिया तो निश्चित करा ले, जो वस्तुतः उस कानून का आधार होगा। औषधों के परीक्षण के लिए जबतक कोई सर्वमान्य और यथार्थ मापदण्ड निर्धारित नहीं हो जाता, तबतक इस बात का पता कैसे चलेगा कि प्रमुख औषध स्तरयुक्त है या नहीं। उसमें उचित मात्रा में योगानुसार द्रव्य डाले गये हैं या नहीं? इन प्रश्नों का हल किये बिना आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर नियंत्रण करने का कानून बनाना सफल नहीं हो सकता। और ड्रग्स एक्ट लागू करना तो घोर अवृद्धि का कार्य है ही।

हम चाहते हैं कि सरकार अज्ञानतावश आयुर्वेद-यूनानी औषधों पर १९४० वाला ड्रग्स एक्ट लागू करने के विचार को कार्यान्वित करे, इसके पहले ही वैद्य-हकीम सचेष्ट होकर उसका प्रबल विरोध करें और सरकार को वस्तुस्थिति से परिचित करावें। यदि समय रहते वैद्य-हकीम और आयुर्वेद-यूनानी के औषध-निर्माता न चेते तो परिणाम हानिकर होंगे।

बीती ताहि बिसारि दें

श्री द्वारिकेश मिश्र

वैद्य-समाज ने यह समाचार हर्ष के साथ पढ़ा होगा कि आयुर्वेद महा-सम्मेलन का चिर-प्रतीक्षित दिल्ली अधिवेशन दिसम्बर के अन्तिम सप्ताह में सम्पन्न होने जा रहा है। वर्तमान परिस्थितियों को देखते हुए इस अधिवेशन का महत्त्व पहले से बहुत बढ़ गया है। इस बात को ध्यान में रखकर यह आवश्यक प्रतीत होता है कि प्रत्येक महासम्मेलन-सदस्य आगामी दिल्ली अधिवेशन के प्रति अधिक-से-अधिक व्यापक और गंभीर दृष्टिकोण अपनावे। इस अधिवेशन को पिछले अधिवेशनों की भाँति दो-तीन दिन का साधारण वैद्य-समागम ही नहीं समझना चाहिए। जैसा अब-तक हमलोग करते आये हैं कि सूचना पाकर कुछ सम्बन्धित लोग पहुँच गये। दो-तीन दिन लोग रहे। ढेर-के-ढेर प्रस्ताव स्वीकार कर लिये और फिर उनको वहीं भूल कर घर चले आये। इस प्रकार की प्रवृत्तियों को बदला जाना चाहिये और हमारे हर प्रयास में पहले से अधिक गंभीरता, अधिक यथार्थता और अधिक सक्रियता का समावेश होना चाहिये। आगामी दिल्ली अधिवेशन आयुर्वेद-समाज के समक्ष प्रस्तुत संगठन-सम्बन्धी, व्यवसाय-सम्बन्धी, आयुर्वेद के स्वरूप, शिक्षा, परीक्षा, अनुसंधान-दिशा और राज्य के दृष्टिकोण सम्बन्धी अनेक प्रश्नों का निर्णायक सिद्ध होना चाहिये। और यह तभी हो सकता है जब कि संस्था के पदाधिकारी, कार्यालय और सदस्यगण सब-के-सब आगामी अधिवेशन के सम्बन्ध में पूर्वापर वास्तविक सुरुचि से काम लें।

पिछली कुछ अप्रिय घटनाओं के कारण संभवत: बल्कि निश्चित-सा है कि वैद्य-समाज में अधिवेशन के निर्धारित तिथियों पर सम्पन्न हो सकने में ही आशंका का उदय हो। ऐसी आशंका के रहते वैद्यों का संस्था और अधिवेशन के प्रति रुचिपूर्ण होना संभव नहीं है। वैसे ही वैद्य-समाज महासम्मेलन के प्रति उदासीन था। पिछली कुछ घटनाओं ने उस उदासीनता को और भी बढ़ा दिया है। इस वातावरण का परिमार्जन यथाशीघ्र होना चाहिये ताकि [illegible] में जागरूकता आवे। इसके लिये महासम्मेलनाधिकारियों और कार्यालय को व्यापक प्रयत्न करना चाहिये।

जहाँ तक हम समझते हैं महासम्मेलन सदस्यों को अब यह विश्वास करना चाहिये कि आगामी दिल्ली अधिवेशन निर्धारित तिथियों में सम्पन्न होगा ही। और सब प्रकार की शंकाओं को मन से निकाल कर अभी अपने ऐतिहासिक अधिवेशन के लिये तत्परतापूर्वक लोगों को तैयारी करनी चाहिये। शंकास्पद रहेंगे तो तत्पर होना तो दूर की बात है, आने की इच्छा रखने वाले भी अन्त समय तक यही सोचते रहेंगे कि जावें या न जावें। परन्तु अब वातावरण स्पष्ट है और इस प्रकार की कोई बात नहीं है जिससे अधिवेशन में अड़ंगा पड़ने की गुन्जायश हो। इसलिये हमारा सम्मेलन-सदस्यों से निवेदन है कि वे पूर्ण आश्वस्त होकर अधिक-से-अधिक संख्या में अधिवेशन में उपस्थित होने के लिये तैयार हों। अपने प्रस्ताव पहिले से ही कार्यालय को भिजवा दें। और नई उमंग के साथ अधिवेशन में आकर अपनी समस्याओं को नये दृष्टिकोण के साथ विचारें।

पिछले दिनों वैद्य-समाज में व्यक्तिगत आधार पर जो पारस्परिक विवाद चले हैं, संस्था के क्षेत्र में उनको भुला कर हमें आगे बढ़ना चाहिये। व्यक्तियों के आपसी मनोमालिन्य यदि हैं तो किसी भी दशा में उन्हें सामूहिक क्षेत्र में नहीं लाया जाना चाहिये। आयुर्वेद की स्थिति वर्तमान समय में इतनी डांवाडोल और संकटपूर्ण है कि संस्था और संगठन की शक्ति का अल्पांश भी व्यक्तिगत मान्यताओं और विवादों पर निछावर नहीं किया जा सकता। इस तथ्य पर महासम्मेलन के प्रत्येक सदस्य को दृढ़ता से विचार करना चाहिये। जहाँ तक हम समझते हैं वैद्य-समाज में जिन कुछ लोगों में मनोमालिन्य की स्थिति है उनके विवाद व्यक्तिगत अवश्य हैं, परन्तु उनका आधार व्यक्तिगत नहीं हैं। आधार केवल संस्था की कार्यपद्धति के विषय में, मत-भिन्नता है। उसमें सामञ्जस्य स्थापित किया जाना चाहिये। दो ही दृष्टिकोण हैं, एक संस्था को केवल प्रचारात्मक रखना, उसके साधनों को कुछ विशिष्ट

व्यक्तियों के प्रोत्साहन में उपयोग करना और दूसरा यह कि संस्था को सर्वथा रचनात्मक एवं यथार्थ कार्यविधि में सक्रिय बनाना तथा उसके साधनों का उपयोग निरपेक्ष रूप से सामूहिक ही करना। इन दोनों के अन्तर को बिना किसी दुराग्रह के समझ लेना चाहिये और समन्वयात्मक दृष्टिकोण अपना लेना चाहिये। यह काम महासम्मेलन सदस्यों का है, जो उन्हें आगामी अधिवेशन में बिना लाग-लपेट के कर लेना है। इस अधिवेशन में सम्मेलन सदस्यों को चाहिये कि संस्था की गतिविधि और उसके साधनों के उपयोग के विषय में कुछ ऐसी स्पष्ट सीमाएँ निर्धारित कर दें कि भविष्य में कोई दुरुपयोग की स्थिति ही उत्पन्न न हो सके।

जहाँ तक विवादों का प्रश्न है आज की स्थिति में सिवा इसके उनका कोई हल है ही नहीं कि उन्हें जहाँ के तहां भुला दिया जाय। हमारा सभी संबन्धित सज्जनों से आग्रह है कि वे आयुर्वेद की सुरक्षा और सुविशाल वद्य-समाज के हितों के नाम पर कम-से-कम अधिवेशन के प्रसंग में... बीती ताहि विसार दे...के मंगल मंत्र का अनुसरण करें। जो हो चुका वह तो हो चुका। किसने कितना बुरा किया ? कौन क्या न करता तो यह न होता ? ऐसे प्रश्नों पर विचार करने की भी गुंजाइश अब नहीं है। आपस में लड़कर जितना मूल्यवान समय गँवाया जा चुका है वही बहुत है। आगे समय गंवाना अत्यधिक आत्मघाती होगा। इसलिये केवल मात्र यही उचित है कि पिछला सब कुछ भूल कर नये सिरे से स्वस्थ वातावरण का निर्माण किया जावे। विशेषकर विवादों से किसी भी प्रकार का सम्बन्ध रखने वाले हर भाई से हमारा आग्रहपूर्ण निवेदन है कि वे अधिकतर उदार, व्यापक और सामञ्जस्यपूर्ण दृष्टिकोण अपनावें। सब कुछ भूल कर केवल यह सोचें कि हमारा महासम्मेलन हमारे विशाल सम्प्रदाय का एकमात्र आशा-केन्द्र है। उसको अधिक-से-अधिक सशक्त, सक्रिय एवं सार्थक बनाना हमारा पावन कर्तव्य है। हमें उसको इस लायक बनाना है कि वह आयुर्वेद पर आये संकट के बादलों को छिन्न-भिन्न कर सके। तिमिराच्छन्न भविष्य को प्रकाशित बना सके। व्यक्तियों की प्रतिष्ठा व्यक्तियों की समृद्धि, कर्तव्यों की मान्यताएँ—इनको महत्त्व न देकर हमें वह प्रशस्त मार्ग अपनाना है जिसमें समूह की प्रतिष्ठा हो, समूह की समृद्धि हो, समूह का हित हो।

इतना किया जा सका तो निश्चय ही हमारा आगामी दिल्ली अधिवेशन ऐतिहासिक रूप से सफल होगा और वैद्य-समाज में नया जीवन लाया जा सकेगा।

किसी उपालम्भ या समालोचना की भावना से नहीं, प्रत्युत अपने होने के नाते-अपनों से अपनी कुछ कहने के अपने अधिकार के नाते——हम महासम्मेलन के पदाधिकारियों से भी यहाँ साग्रह निवेदन करना चाहेंगे कि सबसे पहले वे ही अपने को और अपने कार्यालय को दृढ़तापूर्वक निष्पक्ष बनाने की कृपा करें। कहना न होगा कि उनकी गति-विधियां वैद्य-समाज में कैसा भी वातावरण निर्माण करने के लिये निश्चित रूप से उत्तरदायी हैं। उनकी नीति का व्यापक प्रभाव पड़ता है और समाज के विभिन्न वर्ग उससे प्रभावित होते हैं। यदि वे निष्पक्ष रहें तो निश्चय है कि समाज में दलबन्दी को प्रोत्साहन न मिले और विवादों की समस्या का जन्म ही न हो। यहाँ भी हम इतना उचित समझते हैं कि अब तक जो कुछ हुआ या होता रहा, उस पर धूल डालिये। पिछला भूल कर सम्मेलनाधिकारी भी आगे यह सिद्ध करें कि वे समान रूप से सब के हैं। सबके लिये एक-से हैं और उनका काम किसी भी व्यक्तिगत मान्यताओं को बढ़ावा देना नहीं; किसी एक के कार्यालय का प्रचार करना नहीं बल्कि उनका काम है सामूहिक रूप से समस्त वैद्य-समाज की सेवा करना। आयुर्वेद के हितों की रक्षा करना। और अपने इस समय के काम को वे मुस्तैदी के साथ पूरा करें।

आगामी अधिवेशन के लिये सर्वप्रकार के अनुकूल, उत्साह और जागरुकतापूर्ण वातावरण निर्माण करने के लिये सम्मेलनाधिकारियों और कार्यालय को अभी से सक्रियता दिखानी चाहिये। ऐसा प्रचार और प्रयास उन्हें करना चाहिये कि अधिवेशन तक काफी संख्या में नये सदस्य बनें। नये और पुराने सभी सदस्यों में दिल्ली अधिवेशन में आने की प्रेरणा जाग्रत करना नितान्त वांछनीय है, यह काम कार्यालय ही कर सकता है।

क्या ही अच्छा हो यदि इस अवसर पर विवादग्रस्त सभी महानुभाव अपने-अपने उदारतापूर्ण वक्तव्य प्रसारित करके उस निराशाजनक वातावरण को समाप्त करने का उद्योग करें जो वैद्य-समाज में व्याप्त है। समाज उनसे उदारता और दूरदर्शिता का तकाजा कर रहा है। आयुर्वेद के प्रति-स्पर्धियों की सफलताएँ उन्हें चुनौती दे रही हैं। सामान्य वैद्य-हकीम समुदाय की निरन्तर गिरती हुई स्थिति उनके कर्तव्य की परीक्षा के लिए कसौटी बनी हुई है। और हम बार-बार उनसे निवेदन कर रहे हैं।

बीती ताहि बिसार दे, आगे की सुधि लेहु।

ताजे गुणकारी आवलों से तैयार

यह शरीर को क्षीण होने से रोकता है तथा रस-रक्तादि धातुओं की कमी को पूरा कर खून को बढ़ाता है तथा मांस-पेशियों को दृढ़ और हड्डियों को मजबूत बनाता है।

फेफड़ों के विकार, कफ, खाँसी, श्वास, दमा, शारीरिक एवं मानसिक दुर्बलता, रक्तहीनता, कैल्शियम आदि शारीरिक धातुओं की कमी तथा मन्दाग्नि, अम्ल-पित्त और कब्जियत आदि रोगों को दूर करता है।

बैद्यनाथ च्यवनप्राश

अष्टवर्गयुक्त

देशी दवाओं का सब से बड़ा और विश्वासी कारखाना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

बैद्यनाथ औषधियाँ ताजी जड़ी-बूटियों द्वारा पूर्ण शास्त्रोक्त विधि से ५ वृहत् निर्माणशालाओं में तैयार होती हैं और ३५० विशिष्ट एजेंसियों तथा २५००० एजेंसियों द्वारा देश भर में एक ही कीमत पर मिलती हैं।

काश्यपसंहिता : : एक अनुशीलनीय ग्रन्थ—६

वैद्य रणजितराय

संतत ज्वरों की विषम ज्वरता : एक प्रश्न

विशाल अध्ययन की आवश्यकता—प्राचीन संहिताओं तथा टीकाकारों में एक मधुकोपकार को छोड़ किसी ने संतत ज्वर को विषम ज्वर नहीं माना है। तथापि सहस्राधिक वर्ष से **आयुर्वेदीय अध्ययनाध्यापनक्रम मधुकोष के आसपास ही मर्यादित** रहा होने से अन्य त्रुटियों के साथ यह भी त्रुटि चिरकाल से चली आ रही है कि, संतत ज्वर को विषम ज्वर ही मान कर अध्यापन होता है। हम इतना भी कष्ट नहीं करते कि चरकादि प्राचीन संहिता या उनकी टीकाओं की बात छोड़िए, माधव निदान की मधुकोष टीका के साथ मुद्रित आतङ्क दर्पण टीका पर ही दृष्टिपात करते। उसमें प्राचीन वचन उद्धृत कर स्पष्ट कहा है कि, संतत ज्वर विषम ज्वर नहीं है। परन्तु अब तो काश्यप-संहिता उपलब्ध होने से यह बात प्रदीपवत् प्रकाशित हो चुकी है कि क्यों प्राचीन संहिताओं में संतत ज्वर का उल्लेख विषम ज्वरों के साथ किया गया है, अथ च, क्यों मधुकोपकार ने क्लिष्ट कल्पना करके भी संतत ज्वर को विषम सिद्ध करने का प्रयास किया है।

अध्यापकों का कर्तव्य—विशेषतया, अध्यापक तथा लेखक महानुभावों से आरम्भ में **करबद्ध विनति** करता हूँ कि हम आयुर्वेद के इस संकट काल में तो अवश्य ही **प्राचीन आयुर्वेदीय वाङ्मय का गहन एवं ऊहापोहपूर्वक अनुशीलन** करें। साथ ही यह भी निवेदन करता हूँ कि हम **आयुर्वेद की व्याख्या आयुर्वेद और अनुभव के आधार पर ही** करें, न कि आयुर्वेदीय वचनों के अर्थ का उल्लेख कर शेष की पूर्ति आधुनिक मत के उपन्यास (स्थापना) से कर इतने में ही अपनी इतिकर्तव्यता मान लें। प्रासंगिक इतने निवेदन के अनन्तर ऊपर 'संतत ज्वर की विषम ज्वरता' के संबन्ध में संक्षेप में कहे वक्तव्य का कुछ विस्तार से निरूपण किया जाता है।

'विषम' का अर्थ वाग्भट के मत से—विषम ज्वरों को विषम क्यों कहा जाता है इस विषय में अष्टाङ्ग संग्रह (नि० अ० २) तथा अष्टाङ्ग-हृदय (नि० २।६९) का निम्न सुविदित वचन सभी टीकाकार प्रमाणतया प्रस्तुत करते हैं—

विषमो विषमारम्भ क्रियाकालोऽनुषङ्गवान्।

तात्पर्य : ज्वरों के अमुक वर्ग को विषम इसलिए कहा जाता है कि, इनका आरम्भ (वेग), क्रिया (लक्षण) एवं काल विषम होता है तथा ये चिकित्सा करने पर भी चिरकालानुबन्धी होते हैं।

टीकाएँ देखने से विदित होगा कि इस वचन में आए विषम शब्द का अर्थ है परस्पर भिन्न। टीकाकार **अरुणदत्त** कहते हैं—आरम्भ आदि की विषमता का अर्थ यह है। कोई ज्वर पहले शिर में लक्षणों को (वेदना आदि को) उत्पन्न करता है, कोई पृष्ठ में, कोई जङ्घाओं में। यह आरम्भ-विषयक विषमता है। क्रिया या लक्षण की विषमता का अर्थ यह है कि, किसी का वेग शीत (ठंड लगना तथा कम्प)-पूर्वक होता है तो किसी का दाहपूर्वक। काल के विषम होने का तात्पर्य है—कोई ज्वर पूर्वाह्ण में आता है, कोई मध्याह्ण में, कोई अपराह्ण में और कोई रात को।

हेमाद्रि ने क्रिया का अर्थ चिकित्सा कर क्रिया की विषमता का अर्थ बताया है कभी ज्वर लङ्घन-साध्य होता है, कभी बृंहण-साध्य। हेमाद्रि ने वेगारम्भ आदि की विषमता बताते हुए 'कश्चित्' (कोई भेद) के स्थान पर 'कदाचित्' (कभी) शब्द का प्रयोग किया है। वह कहता है कि विषम ज्वरों में विषमता का स्वरूप यह हुआ करता है कि ज्वर कभी शीतपूर्वक होता है, कभी दाहपूर्वक; कभी शिर से आरम्भ होता है, कभी पाद से। ज्वर कभी लङ्घन-साध्य होता है, कभी बृंहण-साध्य। कभी पूर्वाह्ण में उसके वेग का उदय होता है, कभी अपराह्ण में।

वाग्भटानुयायी भालुकि-मत : इसी अर्थ का वाहक भालुकि का एक वचन माधव ने ज्वर निदान के ३१ वें पद्य की टीका में दिया है। यह वचन निम्नलिखित है :

विषमज्वरसामान्यलक्षणं च भालुकिना पठितम्—

यः स्यादनियतात् कालाच्छीतोष्णाभ्यां तथैव च ।
वेगतश्चापि विषमो ज्वरः स विषमः स्मृतः ॥

विषम ज्वरों का सामान्य लक्षण यह है––जिस ज्वर में वेगोदय के काल का कोई नियम न हो, आरम्भ में शीत (तथा कम्प) या उष्ण (तथा दाह) इनमें से कौन-सा लक्षण होगा इसका कोई नियम न हो तथा वेग का (वेग कालिक लक्षण किस अवयव में प्रथम होंगे इस वस्तु का) कोई नियम न हो उस ज्वर को विषम कहते हैं ।

वाग्भटोक्त लक्षण में विसंगति––विषम ज्वरों में यह वैषम्य (नियम का अभाव, अनियमितता) होती है, यह निश्चित है। परन्तु अरुणदत्त की व्याख्या को दृष्टि में रखें तो विषम ज्वरों का यह वैषम्य पारस्परिक है। इस प्रकार नियमों का अभाव तो किन्ही दो या अधिक रोगों में परस्पर देखा जा सकता है। यथा, ज्वर, अतिसार, तथा कुष्ठ में अवश्य ही परस्पर कुछ-न-कुछ भेद होता है। परन्तु उनको विषम ज्वर इस एक वर्ग में स्थापित न कर सततादि को ही क्यों इस वर्ग में स्थापित किया गया? यह प्रश्न है। हेमाद्रि की व्याख्या में भी इसी प्रकार शङ्का की उद्भावना की जा सकती है।

मधुकोषोक्त विषम शब्द का अर्थ : मधुकोष व्याख्या (ज्वर निदान, श्लोक ३६) में विषम ज्वर का अन्य लक्षण दिया है और वह संतत (अविसर्गी) ज्वरों को विषम सिद्ध करने के प्रयास के प्रसंग से दिया है। प्रकरण का आरम्भ प्रश्न के रूप में किया गया है। संतत ज्वर उतरे बिना अमुक काल तक निरन्तर रहता है और विषम ज्वरों की विशेषता यह है कि इनमें ज्वर का विसर्ग या मोक्ष होता है। ऐसी स्थिति में संतत ज्वर की विषम ज्वरों में गणना किस आधार पर की गयी?––**मुक्तानुबन्धित्वं विषमत्वम्**––अनुबन्ध अर्थात् ज्वर की निरन्तरता का अभाव (मुक्ति) यह विषमता का अर्थ है। और इस अर्थ में ज्वर की विषमता संतत-संनिपात ज्वरों में होती नहीं।

संतत ज्वर की विषमता––इसका उत्तर देते मधुकोषकार कहते हैं––यह सत्य नहीं है कि संतत ज्वरों में ज्वर का मोक्ष नहीं होता। चरक ने इसके लक्षणों के प्रकरण में कहा है––

विसर्गं द्वादशे कृत्वा दिवसेऽव्यक्तलक्षणम्।
दुर्लभ[illegible]शमः कालं दीर्घमप्यनुवर्तते ॥

च० चि० ३।६०

अर्थात्––संतत ज्वर का वेग सामान्यतया बारह दिवसों में (किंवा इसी प्रकरण में निर्दिष्ट अन्य काल मर्यादाएँ समाप्त होने के अनन्तर) शान्त हो जाता है। तथापि, **कभी-कभी** ऐसा भी होता है कि, बारहवें दिन ज्वर का मोक्ष तो हो जाता है, परन्तु ज्वर लीन अवस्था में रहता ही है। धातुओं में लीन होने के कारण उसके लक्षण व्यक्त नहीं होते––अस्पष्ट-से रहते हैं। इस स्थिति में उसकी शान्ति दुष्कर हो जाती है और तेरहवें दिन से आगे दीर्घकाल पर्यन्त उसका अनुबन्ध (नैरन्तर्य, सातत्य) रहता है।

इसका तात्पर्य यह है कि, संतत ज्वर में भी **कभी-कभी** ज्वर का मोक्ष (विसर्ग) हो कर पुनः वेग होता है। इसलिए विषम की परिभाषा उस पर भी घटित होती ही है और वह भी विषम पदवाच्य है।

संतत को विषम मानने में दोष––इस तर्क के मूल में रही विलक्षणता स्पष्ट देखी जा सकती है। किसी वस्तु का परिचय, लक्षण या परिभाषा उसके निश्चित सार्वकालिक चिह्नों अथवा विशेषताओं के आधार पर दिया जाता है न कि कभी-कभी लक्षित होनेवाले चिह्नों के आधार पर। यह सीधी-सी बात है, जिसकी सिद्धि के लिए अधिक युक्ति करने की आवश्यकता नहीं। प्रस्तुत प्रकरण की बात करें। संतत ज्वर को विषम मानना हो तो उससे पीड़ित सभी रुग्णों में ज्वर उतर कर पुनः चढ़ना चाहिए। किन्हीं रुग्णों में ज्वर के विसर्ग और पुनः आविर्भाव को लक्ष्य में रख कर उसे विषम नहीं कहा जा सकता। अथ च, 'मुक्तानुबन्धित्व' के आधार पर तो अतिसार, कुष्ठ, गुल्म आदि किसी भी रोग की शान्ति हो कर उसका पुनरुदय हो तो उसे भी विषम ही कहना प्राप्त होगा।

इतनी सीधी-सादी बात पर हम अध्यापक लोग ध्यान न दे कर मधुकोषकार के शब्दों पर अन्ध विश्वास कर इसी प्रकार चिरकाल से पढ़ाते आ रहे हैं। विवेक के इस युग में इस परिपाटी को छोड़ना उचित है।

खरनाद की स्पष्टोक्ति––स्वयं मधुकोषकारों को भी अपनी बात पर पुनः विचार करना योग्य प्रतीत हुआ। चक्रपाणि ने भी **खरनाद** का वचन उद्धृत किया है, जिसमें **संतत विषम ज्वर नहीं है ऐसा स्पष्ट प्रतिपादन** है। वही वचन मधुकोषकार भी उद्धृत करते हैं और कहते हैं कि इस स्पष्ट वचन के होते हुए भी संतत ज्वर की गणना विषम ज्वरों में करने का कारण क्या है? प्रश्न उपस्थित कर

अनेक प्रकार से उत्तर देने का प्रयास टीकाकारों ने किया है। सारा प्रकरण नीचे दिया जाता है।

यत्तूक्तं खरनादेन,––'ज्वराः पञ्च मयोक्ता ये पञ्च संततकादयः। चत्वारः संततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः'

अर्थात्––खरनादाचार्य कहते हैं कि, संतत, सतत, अन्येद्युष्क, तृतीयक और चतुर्थक इन पाँच ज्वरों में संतत को छोड़ कर शेष-चार ज्वरों को विषम ज्वर समझना चाहिए।

मधुकोषकार के मत से खरनाद के वचन का तात्पर्य–– इसका उत्तर देते हुए मधुकोषकार कहते हैं कि यहाँ संतत की गणना विषम ज्वरों में न करने का जो विधान किया है उसका तात्पर्य यह है कि संतत ज्वर एक ही बार उतरता और चढ़ता है। उसके कारण इसमें जो वैषम्य आता है उसे नहिवत् मान कर खरनादाचार्य ने संतत को विषम ज्वरों के वर्ग से बाह्य समझने का विधान किया है। मधुकोष के मूल वचन ये हैं : **तत् संतते मुक्तानुबन्धित्वस्यैकदाभावित्वेनाल्पत्वान्न तद्व्यपदेशः, एकतण्डुलाभ्यवहारेऽनशनशब्दस्य व्यपदेशवत्। न हि तृतीयकादिवदावृत्त्या मुक्तानुबन्धित्वमस्येत्यभिप्रायेण द्रष्टव्यम्––**अर्थात् संतत ज्वर में अनुबन्ध (सातत्य ; निरन्तरता) का अभाव किंवा ज्वर-मुक्ति एक ही बार होती है। इस अल्पता के कारण उसे खरनादाचार्य ने नहिवत् माना है। जैसे कोई केवल एक दाना चावल का खाए तो वह भोजन करता है ऐसा कोई नहीं कहता। उसे अनशन ही कहा जाता है। यही स्थिति सन्तत ज्वर में है। तृतीयक आदि ज्वरों में जैसे पुनः-पुनः ज्वर-वेग की मुक्ति और पुनः प्रादुर्भाव होता रहता है वैसा संतत ज्वर में नहीं होता।

यह **बचाव लूला-सा** ही है तथा खरनाद के स्पष्ट वचन में प्रतिपादित सिद्धान्त को उड़ा देने का विसंगत प्रयास-मात्र है। मधुकोषकार इस प्रकार के प्रयास में क्यों पड़े इसका समाधान हम आगे करेंगे।

मधुकोषकार को भी मन में अपने बचाव से पूर्ण संतोष तो नहीं ही हुआ होगा। अतः आगे वे समाधान प्रस्तुत करते हैं।––**अथवा या विषमज्वरोल्लेखेनोक्ता चिकित्सा सा संततवर्जं सततादिषु कार्येति प्रतिपादनार्थम्। हरिचन्द्रेणापि "कर्म साधारणं जह्यात्तृतीयकचतुर्थकौ"** (च० चि० ३।२९२)। **इति चरकवचनाद्विषमज्वरोक्त चिकित्सा तृतीयकचतुर्थकयोरेव। अन्येषु दोष प्रत्यनीक चिकित्सा कार्येति व्याख्यातम्। अस्यां हरिचन्द्र व्याख्यायां कर्म साधारणं सर्वत्रैव विषमज्वरे कार्यं, विशेषेण तृतीयकचतुर्थकयोरिति द्रष्टव्यम्, अन्यथोक्ततन्त्रान्तरविरोधः––**अर्थात् विषम ज्वरों में संतत ज्वर की गणना का जो निषेध खरनाद ने किया है उसमें तात्पर्य यह भी संभव है कि, विषम ज्वर इस शीर्षक के अन्तर्गत जो चिकित्सा तन्त्रकारों ने लिखी है वह चिकित्सा केवल सततादि ज्वरों के लिए समझनी चाहिए, उनमें भी विशेषतया तृतीयक और चतुर्थक की ही वह चिकित्सा है। संतत ज्वर की चिकित्सा वह नहीं है। इस सत्य के निरूपण के लिए खरनाद का यह वचन है। इस विषय में टीकाकार चरक का वचन उद्धृत करते हुए कहते हैं कि : विषमज्वरोक्त चिकित्सा केवल तृतीयक और चतुर्थक के लिए है। शेष ज्वरों में दोष प्रत्यनीक ही चिकित्सा का आश्रय लेना चाहिए।

गम्भीर विचार करें तो वैषम्य के जो लक्षण वाग्भट ने दिए हैं, उनसे भिन्न लक्षण वैषम्य का दे कर भी उसका संतोषप्रद समर्थन मधुकोषकार कर नहीं सके हैं यही प्रतीत होगा।

चक्रपाणि की विचारधारा––मधुकोषकार के वचन चक्रपाणिदत्त की चरक टीका के प्रायः अक्षरशः उद्धरण हैं। च० चि० ३।७४ की टीका में चक्रपाणि कहते हैं–– **एते पञ्चापि ज्वराः केषांचिद्विषमज्वरत्वेन संमताः। तथाहि–विषमत्वं विषम (वेग) कालत्वेन भवति। यदुक्तमन्यत्र––'विषमो विषमारम्भक्रियाकालोऽनुषङ्गवान्** (अ० हृ० नि० २।) **इति संतते तु द्वादशाहविसर्गेण त्रयोदशाहे पुनरनुबन्धात् कालवैषम्यमस्ति। तेन सोऽपि विषम इति।** अर्थात् संततादि पाँचों ज्वरों को कई आचार्य विषम ज्वर मानते हैं। इस विषय में आधार भी है––विषमो विषमारम्भ......। विषम ज्वरों में विषमता का स्वरूप काल के वैषम्य के रूप में हुआ करता है। संतत ज्वर में (कभी-कभी) बारह दिनों के अनन्तर ज्वर का विसर्ग हो कर तेरहवें दिन पुनः अनुबन्ध हो जाता है अतः उसमें भी काल का वैषम्य तो है ही। सो, वह भी विषमपदवाच्य है।

इस तर्क के विषय में ऊपर अपना वक्तव्य दे आया हूँ। अब चक्रपाणि की टीका आगे देखें।––**अन्ये तु संततं परित्यज्य सततकादींश्चतुरो विषमज्वरानिच्छन्ति। यतः संतते कालवैषम्यं तादृशं नास्ति। उक्तं च खरनादेन––'ज्वराः पञ्चमयोक्ता ये पूर्वं संततकादयः। चत्वारः संततं हित्वा ज्ञेयास्ते विषमज्वराः' इति।**––तात्पर्य : अन्य आचार्यों के मत में संतत को छोड़ कर शेष चार ज्वर ही विषम ज्वर हैं। कारण, संतत में काल-संबन्धी विषमता वैसी नहीं है (जैसी सततादि चार में)। इस पक्ष की पुष्टि में आगे चक्रपाणि ने खरनाद का वचन उद्धृत किया है।

इस वचन को दृष्टि में रखें तो समझा जा सकता है कि : जिस काल-वैषम्य को दृष्टि में रख कर कोई आचार्य संतत को विषम ज्वरों में समाविष्ट करने के पक्ष में थे, उस काल-वैषम्य को वास्तविक अर्थों में विषमता न माननेवाले भी आचार्य विद्यमान थे। खरनादाचार्य ने उनका मत स्पष्ट शब्दों में निरूपित किया है।

विषम ज्वरों की संख्या और भी मर्यादित करनेवाले एक अन्य पक्ष की स्थापना करते आचार्य चक्रपाणि आगे कहते हैं––**अन्ये तु––तृतीयकचतुर्थकावेव विषमौ, विषमाणां चिरेणोत्पादात्––**अर्थात् अन्य आचार्यों के मत में तृतीयक-चतुर्थक ही विषमपदवाच्य हैं। कारण, चिरकाल के अन्तर के पश्चात् ज्वर के वेग का उदय विषम ज्वर का नियत स्वभाव होता है। इस स्थापना के पश्चात् दर्कवाह

का वचन उद्धृत कर चक्रपाणि ने इस बात की स्पष्टता की है कि क्यों कोई ज्वर शीघ्र होता है, कोई धीमे और कोई देर से। उसका यहाँ प्रसंग न होने से उसे उद्धृत नहीं किया जाता।

इस अन्तिम मत में चिरोत्पत्ति विषम ज्वर का विशिष्ट लक्षण कहा गया है।

चरक में संतत की विषमता का प्रतिपादन नहीं—अब तक जो विवेचन किया गया है उससे स्पष्ट होगा कि, 'विषम' का कोई निश्चित लक्षण प्राचीनों ने दिया नहीं है। वाग्भट ने जो लक्षण दिया है वह गले उतरे ऐसा नहीं है। इस विषय की स्पष्टता भी ऊपर कर दी है। चरक और सुश्रुत दोनों ने संतत-संनिपात और विषम ज्वरों का निदान, लक्षण और चिकित्सा पृथक्-पृथक् तथा पृथक् प्रकरणों में दी है। इससे सिद्ध है कि, उनके मत में **संतत ज्वर विषम ज्वरों में परिगणनीय रोग नहीं** है। इस विषय में सुश्रुत तथा उसके टीकाकार डल्हन का मत अधिक स्पष्ट तथा संतत ज्वर को विषम ज्वर न मानने के पक्ष में है। यह वाचकों के विचारार्थ उद्धृत किया जाता है।

सुश्रुत के मत से संतत की विषम-भिन्नता—प्रकरण ज्वर में पथ्य-विशेष का है। इसमें कहा है कि ज्वर संतत हो, किंवा विषम, पीडित रुग्ण क्षीण हो, ज्वर सुचिरकाल से चला आया हो तो रोगी को लघु, पथ्य भोजन यथेष्ट मात्रा में देना चाहिए। मूल सुश्रुत-वचन यह है—

संततं विषमं वाऽपि क्षीणस्य सुचिरोत्थितम्।
ज्वरं संभोजनैः पथ्यैर्लघुभिः समुपाचरेत्॥
सु० उ० ३९।१४९

यहाँ आचार्य ने **संतत और विषम दोनों का पृथक्-पृथक् उल्लेख** किया है, जिससे सूचित होता है कि आचार्य को दोनों का पृथक् होना अभिप्रेत है। तात्पर्य, सुश्रुताचार्य के मत में संतत विषम ज्वरों की गणना में नहीं आता।

डल्हन का अति स्पष्ट मन्तव्य:—अब टीकाकार डल्हन का मन्तव्य देखिए। अग्निवेश-प्रभृति 'काय-चिकित्सकों' के मत से विषम ज्वर की संप्राप्ति का प्रकरण है। उसमें प्रथम यह कह कर कि तत्-तत् धातु में दोष का स्थान-संश्रय होने से विषम ज्वर के तत्-तत् भेद की उत्पत्ति होती है, चर्चास्पद पद्य में आचार्य यह बताते हैं कि दोष किस धातु में संश्रित हो तो विषम ज्वर के कौन-से भेद का वेग होता है। इस पद्य का प्रथम चरण है—**सततं रसरक्तस्थः** (सु० उ० ३९।६७)। इसका सीधा अर्थ है—**रसरक्तस्थो दोषः सततं ज्वरं करोति** (डल्हन)—अर्थात् दोष रसरक्तगत हो तो सतत ज्वर का वेग होता है। इसमें पाठान्तरों का उल्लेख करते डल्हनाचार्य कहते हैं—, **अन्ये तु सततमित्यत्रैव संततमिति पठन्ति। तत्र संततमित्येतस्याग्रे सततमिति शब्दो लुप्तो ज्ञेयः। तेन, रसस्थः संततं, रक्तस्थः सततमिति व्याख्यानयन्ति**—अर्थात्, कई टीकाकार 'सततं' के स्थान पर 'संततं' यह पाठ अपनी प्रतियों में रखते हैं। वे 'संततम्' शब्द के आगे 'सतत' शब्द का प्रयोग लुप्त रूप में निर्दिष्ट हुआ मानते हैं। साथ ही, व्याख्या करते हैं कि, दोष रसगत हो तो संतत ज्वर होता है तथा रक्तस्थ हो तो सतत।

संतत को विषम कहने में गर्भित प्रयोजन—आगे डल्हन कहते हैं—**केचित्तु सतत पर्यायं संततं मन्यन्ते**—कई आचार्य संतत को सतत का पर्याय ही मानते हैं। इस प्रसंग की पूर्णता करते डल्हनाचार्य अत्यन्त स्पष्ट पदों में कहते हैं कि, यों संतत ज्वर विषम ज्वर नहीं है। तथापि पाठान्तर द्वारा संतत ज्वर को विषम ज्वरों के समीप रखने के द्वारा किंवा अन्य व्याख्या करने के द्वारा जो विषम ज्वरों के साथ संतत ज्वर को भी स्थापित करने का प्रयास अन्य टीकाकारों ने किया है उसमें **प्रयोजन इतना ही** है कि, सततादि ज्वरों में विषमता का स्वरूप कैसा होता है इसकी स्पष्टता तभी हो सकती है जब विषम ज्वरों एवं अविषम संतत ज्वर को साथ-साथ रखा जाए और दोनों की परस्पर तुलना की जाए। अन्यथा विषस ज्वरों का वैषम्य कैसे स्पष्ट हो सकता है। संतत ज्वर विषम नहीं है इस बात का प्रतिपादक खरनाद का जैसा स्पष्ट वचन है, वैसा ही स्पष्ट वचन डल्हनाचार्य का भी है। मूल वाक्य यह है।—**संततज्वरस्य विषमज्वरत्वं नास्ति। तत्संनिधौ पाठान्तरेण व्याख्यानान्तरेण च यद्ग्रहणं तत् संततापेक्षया सततादीनां विषमत्वाद् विषमत्व प्रतिपादनार्थम्। अन्यथा किमपेक्षया विषमत्वं भवेत्**—(सु० उ० ३९।६७ पर)।

अब तक के विवेचन का सार—अब तक के विवेचन का आशय यह है कि, **प्राचीन लेखकों में** संतत ज्वर की विषमता का **विषय चर्चास्पद** रहा है। चरक, सुश्रुत, वाग्भट किसी भी आचार्य ने विषम ज्वरों में संतत की गणना की नहीं है। सुश्रुत ने तो एक ही पद्य में संतत और विषम दोनों ज्वरों का निर्देश करते हुए दोनों के पृथक् होने के विषय में अपना मन्तव्य स्पष्ट दे दिया है। टीकाकारों में डल्हन ने संतत ज्वर की विषम ज्वरों में गणना नहीं होती यह अपना मत सुस्पष्ट शब्दों में दे दिया है। खरनाद-नामक प्राचीन आचार्य का उद्धृत पद्य भी संतत ज्वर को विषम ज्वरों में परिगणित करने का कण्ठरव से निषेध करता है। इस चर्चा में विषम ज्वरों में वैषम्य का क्या अर्थ है यह वाग्भट के वचन को उद्धृत करते हुए हमने बताया है। साथ ही यह भी कहा है कि, विषम की यह परिभाषा समाधान-कारक नहीं है। अतः स्पष्ट ही वैषम्य की अन्य किसी परिभाषा की अपेक्षा रहती है। मधुकोषकारों ने संतत को विषम ज्वर मानने में विषमता की एक परिभाषा दी है, परन्तु उसका आधार उन्होंने दिया नहीं है। यह परिभाषा स्वीकार करके भी संतत ज्वर को विषम मानने का उनका प्रयास चिन्त्य कोटि में पहुँचा प्रतीत होता है।

मधुकोषकार के प्रयास का संभावित मूल—इस समस्त ऊहापोह किंवा संतत ज्वर की विषम ज्वरों में गणना के

प्रयास का अर्थ मेरी नम्र बुद्धि में यह है कि, मधुकोषकार आदि को गुरु-परम्परा से यह सिद्धान्त उपलब्ध हुआ होगा कि संतत ज्वर भी विषम ज्वर है। परन्तु इसकी विषमता से क्या अभिप्रेत है, यह उनको परम्परा से प्राप्त नहीं हुआ। काश्यप-संहिता उपलब्ध होने पर हम उस परम्परा को प्राप्त करने में समर्थ हो सके हैं। इससे हम जान सकते हैं कि संतत ज्वर को विषम ज्वर मानने में मूलतः क्या दृष्टि रही थी। कालवश यह दृष्टि विलुप्त हो गयी। केवल यह ध्यान रहा कि, सततादि ज्वर विषम हैं, संतत भी विषम है। इन्हें विषम कहने का **प्रयोजन अविदित होने से कल्पना का प्रसार** हुआ। इस क्रम में वाग्भट ने 'विषमो विषमारम्भ......' इत्यादि रूप में विषमता का अर्थ सूचित किया। मधुकोषकार ने 'मुक्तानुबन्धित्व' को विषम कहा। एवं संतत को विषम क्यों कहा गया इस विषय में भी पक्ष-विपक्ष में चर्चा प्रस्तुत हुई तथा तत्-तत् कारण प्रस्तुत किए गए।

सूचित भावी मार्ग--काश्यप-संहिता एक प्राचीन संहिता है। इसके अनुशीलन से यदि विषम ज्वरों और संतत ज्वर के वैषम्य के स्वरूप की विशदता होती है तो उसी को अध्ययनाध्यापन में स्थान देना चाहिए। शेष चर्चा को टिप्पणी या स्नातकोत्तर शिक्षण में स्थान देना उपयुक्त-सा प्रतीत होता है।

अनुभवी चिकित्सकों की परम्परानुसार विषम शब्द का अर्थ--इसके पूर्व कि काश्यप-संहिता के वे वचन प्रस्तुत किए जाएँ जिनसे सततादि ज्वरों तथा संतत ज्वर के वैषम्य के अर्थ की विशदता होती है, यह लिखना आवश्यक है कि जो अध्यापक सततादि ज्वरों के वैषम्य की सिद्धि 'विषमारम्भ ...' इत्यादि कारणों या 'मुक्तानुबन्धित्व' के आधार पर करना पसन्द नहीं करते वे विषम की क्या व्याख्या करते हैं। यह सुविदित है कि सततादि ज्वर विसर्गी होते हैं। इनमें जब वेगोदय होता है तो **शरीरोष्मा अति उच्च** होता है। इसे लक्ष्य में रख कर यह व्याख्या की जाती है कि, इन ज्वरों में **शरीर के सम ऊष्मा और ज्वरोष्मा में अत्यधिक वैषम्य या अन्तर** होता है और इसी के आधार पर व्यवसाय में इनकी परीक्षा और विनिश्चय भी किया जाता है, अतएव, इन ज्वरों को विषम कहा जाता है। यह व्याख्या बुद्धिगम्य है। इसका उल्लेख कर अब विषम-पद की काश्यपोक्त व्याख्या प्रस्तुत की जाती है।

काश्यप की व्याख्या का मूल श्लेष

संक्षेप में, काश्यप ने अपनी स्थापना में विषम शब्द के दो अर्थ अपने सामने रखे हैं। सततादि ज्वर एक अर्थ की दृष्टि से विषम है और संतत ज्वर द्वितीय अर्थ की दृष्टि से विषम है। दोनों अर्थों का वाचक शब्द एक ही होने से इस शब्द के एकत्व के कारण उनके अर्थों को—सततादि तथा संतत दोनों ज्वरों को—आचार्यों ने अपने काल की परंपरा के अनुसार एक ही माना है। दोनों को उन्होंने विषम ही स्वीकृत किया है।

प्राचीन वाङ्मय में श्लेष का विस्तार----प्राचीन संस्कृत वाङ्मय का स्वल्प भी परिचय जिन्हें है वे जानते हैं, इस प्रकार एक ही शब्द द्व्यर्थक (दो अर्थों का वाचक) हो तो दोनों के अभिधेय को एक या अभिन्न मान कर रचना का प्रचुर विस्तार संस्कृत कवियों ने किया है। इस प्रकार की रचना को 'श्लेष' नाम दिया गया है। विस्मय की बात यह है कि शास्त्रीय विषयों में भी इस श्लेष ने पदार्पण किया है। स्वयं ज्वर शब्द इसका उत्तम निदर्शन है। कुछ रुक कर इस पर दृष्टिपात करें।

ज्वर शब्द में विद्यमान श्लेष--वाचक जानते हैं, ज्वर शब्द **संताप अर्थ की 'ज्वर' धातु से** व्युत्पन्न हुआ है। यह संताप **शारीर** भी होता है और **मानस** भी। तन्त्रकारों ने अमुक स्थानों पर दोनों ज्वरों का पृथक् रूप से निर्देश किया है। यथा, **वैचित्त्यमरतिर्ग्लानिर्मनसस्तापलक्षणम्**—च० चि० ३।३६। इस वचन में मानस संताप के विशिष्ट लक्षण पृथक् बताए हैं। टीकाकार ने भी कहा है-- **ननु शारीरस्य ज्वरस्य संतापलक्षणं व्यक्तम्, मानसस्य तु ज्वरस्य कथं संतापः? यत् तस्य लक्षणं भवतीत्याह—वैचित्त्यमित्यादि।** अर्थात् शारीर ज्वर के लक्षणभूत संताप का अर्थ तो स्पष्ट है, शरीरोष्मा की वृद्धि। मानस ज्वर में संताप का स्वरूप कैसा होता है, जिसके आधार पर उसे ज्वर कहा जाता है? इसका उत्तर चरकाचार्य ने 'वैचित्त्यम्' इत्यादि वचन के रूप में दिया है। वाचक इस दृष्टि से ही ज्वर के प्रकरण को पढ़ें।

शारीर और मानस दोनों ज्वर पृथक्--शारीर ज्वर में संताप शरीरोष्मा की वृद्धि के रूप में होता है, मानस ज्वर में संताप वैचित्त्य आदि के रूप में हुआ करता है। दोनों ज्वर पृथक् हैं--**शारीर शारीर है, मानस मानस।** यह सत्य है कि शारीर ज्वर होने के पश्चात् अरति आदि के रूप में मानस ज्वर भी होता है, एवं मानस ज्वर के अनन्तर शारीर ज्वर का होना भी संभव है। तथापि **दोनों संताप या दोनों ज्वर एक साथ होने ही चाहिए यह नियत नहीं।** प्रायः दोनों की एक कालावस्थिति मान कर ज्वर के इस प्रकरण का अध्ययनाध्यापन होता है। अतः यह स्पष्टता करना आवश्यक समझा गया।

मानस ज्वर का स्पष्ट लक्षण ऊपर दिया है। च० चि० ३।१२९-१३२ में ज्वर की जो संप्राप्ति दी है उसमें शारीर ज्वर का ही निरूपण हुआ समझना चाहिए। तीन पद्यों में कोई चार बार शारीर ऊष्मा की वृद्धि का उल्लेख हुआ है। मानसी किसी व्यथा का उसमें निर्देश उपलब्ध नहीं है। ज्वर के अन्य प्रकरणों में भी इसी प्रकार शारीर-मानस ज्वर का पार्थक्य स्पष्ट देखा जा सकता है। यही स्थिति सुश्रुत तथा वाग्भट के ज्वर-संबन्धी प्रकरणों की है।

शारीर-मानस दोनों ज्वरों का युगपत् उल्लेख

यह होते हुए भी सामान्य संस्कृत वाङ्मय की छाया आयुर्वेद पर भी पड़ी है। संताप या ज्वर दोनों शब्द शरीरोष्मा और मानसी पीडा दोनों के वाचक होने से इस एक ही शब्द से दोनों ही लक्षणों का ग्रहण प्राचीनों ने किया है। अथ च, ज्वर इस एक ही अध्याय-वाचक शीर्षक के अन्तर्गत, अनेक वाक्यों में दोनों ज्वरों को एक मानते हुए ही वर्णन किया गया है। यथा, जन्म के आदि और अन्त में ज्वर की उत्पत्ति बताई गई है। निश्चित ही इस ज्वर से शारीर ज्वर के रूप में शरीरोष्मा की वृद्धि प्रत्यक्ष विरुद्ध होने से अभिप्रेत नहीं है। यहाँ दोनों कालों में होने वाली मानसिक व्यथा ही 'ज्वर' शब्द से ग्राह्य है। मृत्युकाल में होनेवाली मनोव्यथा तो सुविदित ही है। जन्मकाल में होनेवाली मानसी पीडा भी आप्तोपदेश सिद्ध है। **गर्भोपनिषद** में विस्तार से बताया है कि किस प्रकार गर्भाशय में आने पर जीव नाना योनियों में संचार आदि के क्लेश की स्मृति से आकुल हो उठता है और प्रसव के पश्चात् ऐसे ही उपायों के अवलम्बन की प्रतिज्ञा करता है जो उसे संसार से मुक्त कर सकें। यह और बात है कि प्रसव के पश्चात् माया के बन्धन उसे फिर उसी चक्कर में डाल देते हैं, जिनसे छूटने की उसने शपथ ली थी। (यह प्रकरण अनध्ययनशील विद्यार्थियों की स्मृति कराता है, जो परीक्षा निकट आने पर भविष्य में वर्ष के आरम्भ से ही प्रयत्न करने की प्रतिज्ञा करते हैं, पर सत्र आरम्भ होते ही, प्रतिज्ञा भुला देते हैं।)

किंबहुना, ज्वर के प्रकरण में अध्ययनाध्यापन-क्रम में एतद्विध स्पष्टता आवश्यक प्रतीत होती है। इसे क्रिया में लाया जाए यह सर्वथा अभीष्ट और प्रार्थित है।

शिष्य का प्रश्न

इतने निवेदन के पश्चात् अब हम आचार्य काश्यप के पदों में 'विषम' शब्द का अर्थ देखेंगे तथा जानेंगे कि सततादि चार तथा संतत दोनों ही ज्वरों को विषम मानने में आचार्यों की दृष्टि मूलतः क्या रही होगी।

मुद्रित मूल काश्यप-संहिता के १९२ पृष्ठ पर यह प्रकरण आया है। शिष्य का प्रश्न है :

प्रोक्तं ज्वरचिकित्सायां विषमज्वरभेषजम्।
न निर्दिष्टं भगवता विषमत्वस्य कारणम्॥

भगवन्, ज्वर चिकित्साधिकार में आपने विषम ज्वर का उपचार बताया है। परन्तु विषम ज्वर की विषमता का कारण आपने बताया नहीं।

अपने प्रश्न के स्वरूप को विशद करते शिष्य आगे कहते हैं :

युक्तं सततकादीनां वैषम्यं विषमागतेः।
अविसर्गी ज्वरः कस्मात् संततो विषमः स्मृतः॥
प्रेतज्वरो ग्रहोत्थश्च विषमः केन हेतुना।
तदिदानीं यथाकालं वक्तव्योऽव्ययवाद्यथा॥

इन पद्यों में सततादि चार, संतत, प्रेतज्वर तथा ग्रहोत्थ ज्वर इन की विषमता के स्वरूप की चर्चा की गई है। पद्यार्थ देने के पूर्व प्रेत ज्वर तथा ग्रह ज्वर इन विषम ज्वर-भेदों का कुछ विचार करना उपयुक्त रहेगा।

चरक-सुश्रुत में भूतों तथा ग्रहों से ज्वरोत्पत्ति

ज्वर के सामान्य निदान में आगन्तु कारणों में अभिषंग भी एक है। अभिषङ्ग का अर्थ भूताभिषङ्ग है। आगन्तु ज्वरों में भी कालक्रम से शारीर दोषों का अनुबन्ध हो जाता है। इनमें भूताभिषङ्गज ज्वर में यद्यपि तीनों दोषों का प्रकोप होता है, तथापि प्रधान कोप वात और पित्त का होता है। (देखिए : च० नि० १।३० ; च० चि० ३।११२, ११५-१६ तथा इन स्थलों पर चक्रपाणि की टीका)। भूताभिषङ्गज ज्वर के लक्षण का निर्देश करते हुए इन स्थलों में कहा गया है कि, भूतोन्माद के प्रकरण में देव आदि के आवेश के जो लक्षण पृथक्-पृथक् कहे गए हैं वे ही लक्षण जिस भूत के आवेश से ज्वर हुआ है उसमें भी देखे जाते हैं **(भूतसामान्यलक्षणाः)**। इसके अतिरिक्त दोषों के पृथक् लक्षण तो होते ही हैं।

सुश्रुत ने ज्वर-सामान्य के निदान में **भूताभिशङ्का** एक कारण दिया है, जिसका अर्थ टीकाकार ने देव आदि ग्रहों का आवेश दिया है। एक अन्य निदान आचार्य ने **नक्षत्रपीडा** दिया है। इसकी व्याख्या में डल्हन कहता है : **नक्षत्रं जन्मनक्षत्रं, तस्य पीडा तथा क्रूरग्रहाणां बाधा।** अर्थात्—**जन्म का नक्षत्र** एवं **क्रूरग्रह** भी ज्वर के निदान हो सकते हैं।

आगे विषम ज्वर के विषय में सुश्रुत ने दो स्थानों पर भूतों का कारणत्वेन उल्लेख किया है। देखिए :

परो हेतुः, स्वभावो वा विषमेकैश्चिदीरितः।
आगन्तुश्चानुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे॥
सु० उ० ३९।५६

सुश्रुत ने ज्वर-प्रकरण में विषम ज्वर की संप्राप्ति कायचिकित्सकों तथा शल्यचिकित्सकों के मत से भिन्न-भिन्न बताई है। दोनों में भूमिका यद्यपि समान है तथापि आगे संप्राप्ति में ही तात्त्विक भेद है। प्रसंगभङ्गभयात् इस विषय का विशेष निरूपण न कर मूल प्रकरण पर आते हैं। शल्यविदों के मत से विषम ज्वर की संप्राप्ति का निर्देश कर, विषम ज्वर का वेग नियत काल पर क्यों आता है इसका उत्तर एकीय मत से उद्धृत पद्य में आचार्य ने दिया है। पद्य में दो कारणों का निर्देश आचार्य ने किया है— इनमें एक कारण 'पर' है ; जिसका अर्थ डल्हन ने दिया है— **भूतादि**। तृतीय-चतुर्थ चरण में इसी का समर्थन करते आचार्य कहते हैं कि, भूतादि आगन्तु कारण भी प्रायः (बाहुल्येन) विषम ज्वर में अनुबन्ध (कारण) होते हैं।

इसी अध्याय में आगे विषम ज्वर की संप्राप्ति काय-चिकित्सकों के मत से बता एकीय मत से भूतों का हेतु होना निम्न वचन द्वारा सुश्रुताचार्य ने कहा है :

केचिद् भूताभिषङ्गोत्थं ब्रुवते विषमज्वरम् ।।
सु० उ० ३९।६८

भूताभिषङ्ग का अर्थ टीकाकार ने **ग्रहावेश** दिया है और कहा है कि विषम ज्वर शारीर दोषों से तो होते ही हैं, भूतादि कारणों से भी वे उत्पन्न होते हैं तथा तब वे आगन्तु वर्ग में समाविष्ट होते हैं ।

आगे आगन्तु कारणों से हुए ज्वरों के विशिष्ट लक्षणों के प्रसंग में भूताभिषङ्ग से हुए ज्वर के लक्षण सुश्रुत ने बताए हैं । वहाँ भूत का अर्थ देवादि ग्रह कहा गया है ।

माधव निदान में भूतों की कारणता––माधव निदान में भी यह पद्य उद्धृत किया गया है । इसकी टीका में मधुकोषकार कहते हैं कि—परतन्त्र के वचन का निषेध न किया जाए तो वह तन्त्रकार को अभिमत होता है यह साहित्यशास्त्र का नियम है **(परवचनमप्रतिषिद्धमनुमतम्)** । अतएव, विषम ज्वर के उपचारों में कषायपान प्रभृति दोष-प्रत्यनीक **युक्तिव्यपाश्रय** उपचार बताए हैं तो साथ ही बलि होमादि भूतबाधाहर **दैवव्यपाश्रय** चिकित्सा का भी निर्देश किया है । इसके समर्थन में चरक का अधोलिखित वचन टीकाकारों ने उद्धृत किया हैं ।

कर्म साधारणं जह्यात् तृतीयकचतुर्थकौ ।
आगन्तुरनुबन्धो हि प्रायशो विषमज्वरे ।।
च० चि० ३।२९२

अर्थात्––तृतीयक, चतुर्थक तथा चतुर्थक विपर्यय में बलि आदि रूप दैवव्यपाश्रय और कषायपानादि रूप दोषानुरूप अर्थात् युक्तिव्यपाश्रय उभयविध चिकित्सा संमिलित रूप से करनी चाहिए । कारण, विषम ज्वर में प्रायः आगन्तु भूतादि कारण भी हुआ करता है । प्रसंगवश इस पद्य पर चक्रपाणि की टीका में आया एक वचन उद्धृत करना आवश्यक है । वह कहता है—**विषमज्वरशब्देन तृतीयकचतुर्थकावेवानुमतौ**––अर्थात् विषम ज्वर यह संज्ञा तृतीयक और चतुर्थक का ही ग्रहण कराती है । ऐसी स्थिति में विषम ज्वरों में संतत ज्वर की गणना के विषय में चक्रपाणि का अपना आग्रह कितना है यह सरलता से समझा जा सकता है ।

सुश्रुत ने भी चिकित्सा के प्रकरण में भूताभिषङ्गोत्थ ज्वर की पृथक् चिकित्सा बताते कहा है—

भूतविद्यासमुद्दिष्टैर्बन्धावेशनपूजनैः ।
जयेद् भूताभिषङ्गोत्थम्. . . . . ।।
सु० उ० ३९।२६५

अर्थात्––मन्त्रपूत रज्जु आदि से बन्धन, मन्त्रपूत सर्षप आदि से ताडन ; बलि, उपहार, स्तुति आदि से पूजन इत्यादि जो उपचार भूतविद्या में कहे गए हैं उनका उपयोग कर भूताभिषङ्गोत्थ ज्वर को शान्त करे ।

कुछ ही आगे **ग्रह** (सूर्य आदि) की बाधा से हुए विषम ज्वर का उपचार भी पृथक् बताते सुश्रुतजी कहते हैं––

दानस्वस्त्ययनातिथ्यैरुत्पातःग्रहपीडितम् ।।
सु० उ० ३९।२६७

भूतविद्या मानस-शास्त्र नहीं––जो भूतविद्या का अर्थ मानसिक कारणों से हुए रोगों के निदान आदि का प्रतिपादक शास्त्र करते हैं उनके उत्तर के रूप में इस प्रकरण में आया यह वचन प्रस्तुत किया जा सकता है कि मानस-कारणोत्थ ज्वर की पृथक् चिकित्सा आचार्य ने बताई है । अतः भूतावेश मानस-कारण से भिन्न कारण होना चाहिए, यह निश्चित है ।

भूताभिषङ्गज ज्वर का विचार उपेक्षित––किंबहुना, चरक और सुश्रुत के ये वचन हमने इस प्रयोजन से उद्धृत किए हैं कि पूर्वाचार्यों ने विषम ज्वर के कारणों में देव आदि ग्रहों एवं सूर्य आदि ग्रहों को भी पृथक्-पृथक् कारण माना है । देव आदि को भूत भी कहा जाता है । विषम ज्वर के जिन भेदों की चर्चा के लिए काश्यप ने स्वीकृत किया है उनमें **प्रेतोत्थ** तथा **ग्रहोत्थ ज्वर** भी हैं । इनमें प्रेत का अर्थ देवादि भूत योनियाँ तथा ग्रह का अर्थ सूर्य आदि ग्रह हैं । विषम ज्वर के निदान-लक्षण-चिकित्सा के प्रकरण में भूतों तथा नक्षत्रों का परिगणन इतना स्पष्ट होते हुए भी नव्यमताभिभूत होने के कारण हम संप्रति अध्ययनाध्यापन में इनको स्थान नहीं दे रहे हैं । इस प्रकरण के प्रति संकेत करते हुए इस त्रुटि के प्रति लक्ष्य आकृष्ट कराना भी हमारा प्रयोजन है ही । अब आगे चलें ।

चरक-सुश्रुत के वचनों को दृष्टिगत रखें तो काश्यप के––संहिता में आए शिष्य के प्रश्न को समझना सुकर हो सकता है । इन पद्यों में एक शब्द 'आगति' है । इसका अर्थ संप्राप्ति की परिभाषा में संप्राप्ति बताया गया है । यह बहुत दृष्टिगोचर नहीं होता । अथवा आगति का अर्थ आगमन या आविर्भाव (वेगोदय) लिया जा सकता है ।

शिष्य के प्रश्न का आशय यह है : सततादि ज्वरों में आगति विषम होती है—संप्राप्ति में वैषम्य देखा जाता है । परन्तु संतत ज्वर जो अ-विसर्गी होता है वह कैसे विषम कहा जा सकता है ? एवं प्रेत ज्वर (भूतावेशजनित विषम ज्वर) तथा ग्रहोत्थ ज्वर (ग्रहों की विपरीत गति से होनेवाला विषम ज्वर) ये किस कारण विषमपदवाच्य हैं ?

शिष्य की शङ्का में 'विषम' शब्द का अर्थ—शिष्य के इस प्रश्न में कुछ विचारोत्तेजक सामग्री है । वह कहता है संतत ज्वर तो उतरता नहीं, सो उसे विषम क्यों कहा जाए ? इसका फलितार्थ यही हो सकता है कि ज्वरोष्मा की मन्दता होना ही विषमता का मूल अर्थ शिष्य के मन में है ।

इस वाक्य में मैंने 'ज्वरोष्मा की मन्दता' शब्द का प्रयोग किया है और वह ज्ञानतः है। आयुर्वेद के प्रत्येक तन्त्र में, इस काश्यप-संहिता में भी, कहा गया है कि विषम ज्वर में जब यह समझा जाता है कि, ज्वर उतर गया है, उस काल भी वह अन्दर तो लीन रहता ही है। केवल लक्षणों की मन्दता के कारण वह **'गतोऽयम् इति लक्ष्यते'**। सो, विषम के जो भिन्न-भिन्न अर्थ ऊपर दिए हैं उनमें एक यह भी जोड़ा जा सकता है कि : विषम ज्वर में संप्राप्ति विषम होती है, ज्वर शरीर में रहता है तो भी बीच-बीच में वह लीन हो जाता है और यही प्रतीत होता है कि ज्वर का वेग शान्त हो गया है।

विचार करें तो 'मधुकोषकार' ने 'मुक्तानुबन्धित्व' यह विषम का जो अर्थ बताया है वही शिष्य के प्रश्न में निगदित है। संभव है, विषम का यही अर्थ काश्यप के काल में प्रचलित रहा हो।

शिष्य के प्रश्न का गुरुदत्त उत्तर प्रस्तुत करने के पूर्व बात स्मृति में आई है तो उसे भी उपस्थित कर देना कर्तव्य समझता हूँ।

सततादि केवल मलेरिया नहीं

प्रायः समझा जाता है कि, आयुर्वेदोक्त सततादि ज्वर आधुनिकों के मलेरिया हैं। इस विषय में जो सत्य है वह मेरी नम्र बुद्धि में यह है कि : **सततादि ज्वर सततादि ज्वर हैं। वे और कुछ नहीं हैं।** इनके जो लक्षण शास्त्र में कहे गए हैं उनको देखते मलेरिया भी सततादि के अन्तर्गत अवश्य हैं। परन्तु इनमें अन्य भी रोगों का समावेश किया जा सकता है। यथा, **श्लीपद** में 'कभी-कभी' मलेरिया के सदृश ही वेग होते हैं। उनका पृथक् उल्लेख तन्त्रकारों ने किया नहीं है। उन्हें भी सततादि मान कर ही उपचार करना चाहिए। ऊपर श्लीपद के लिए 'कभी-कभी' ज्वर वेग का उल्लेख मैंने किया है। वह सार्थक है। आधुनिकों ने कहा है कि श्लीपद या फायलेरिया शीत और कम्पपूर्वक तीव्र ज्वर के वेगों के साथ होता है। परन्तु यह सार्वत्रिक नियम नहीं है। श्लीपद आनूप देश का रोग है। सूरत ऐसा ही एक देश है। यहाँ के अनुभव ने बताया है कि, **ज्वर के बिना भी श्लीपद** होता है। लोक में प्रसिद्ध है कि, इसके दो प्रकार हैं : **ठंढा**-या ज्वर के वेग के बिना होनेवाला; तथा **गरम** या ज्वर के वेग के साथ होने वाला। शीत तथा कम्पयुक्त ज्वर के वेग के बिना श्लीपद हुआ हो, देश आनूप हो, विशेषतया रोगी के मातृकुल या पितृकुल में श्लीपद होने की उपलब्धि हो तो श्लीपद का निदान किया जा सकता है। प्रयोगशाला-परीक्षा में इस रोग के जन्तु प्रायः मिल जाते हैं।

ज्वर के तीक्ष्ण वेग के साथ श्लीपद आया हो तो 'पेनिसिलिन' जैसा आशुकारी द्रव्य वैद्यों में प्रसिद्ध नहीं है। किन्ही को विदित हो और वे प्रकाशित करेंगे तो महत् उपकार आयुर्वेद और वैद्य-समाज का होगा।

यह सत्य है कि, प्रसिद्धि और अनुभव के अनुसार रोगी का कोष्ठ शुद्ध हो तो श्लीपद नहीं होता। परम्परागत वैद्य जीर्ण श्लीपद में भी उत्तम विरेचन कराते हैं। इससे विषम ज्वर की चिकित्सा के प्रकरण में कहे उस सुश्रुत-वचन की स्मृति हो आती है, जिसमें कहा है—विषम ज्वर कफ प्रधान हो तो वमन और वात-पित्त प्रधान हो तो विरेचन कराना चाहिए। **ज्वरे तु विषमे कार्यम् ऊर्ध्वं चाधश्च शोधनम्।**

मैंने विचार के लिए मार्ग ही दिखाया है। अभी इस विषय में बहुत चिन्तन तथा आचरण शेष है।

इस पत्रिका में मैं अपने मित्र श्री **रामशिरोमणिजी द्विवेदी**, प्रधान चिकित्सक, पोद्दार आयुर्वेदिक हॉस्पिटल, मुंबई का अनुभव दे चुका हूँ। उन्होंने शीत और कम्पपूर्वक तीक्ष्ण ज्वर वेग पीडित एक व्यक्ति को प्रथम वमन और पश्चात् विरेचन करा ज्वरमुक्त किया था। प्रयोगशाला-परीक्षा की रिपोर्ट आने पर पीछे से विदित हुआ कि, रोगी **पायलायरिस** का था।

किंबहुना, आयुर्वेद के शब्दों की नव्यमत से व्याख्या का प्रयास करना चाहिए, परन्तु यह आग्रह न रखना चाहिए कि यह वस्तु आधुनिक मत से यही है। पाँच महाभूत, तीन दोष, सात धातु, गुरु-लघु आदि गुण इत्यादि के विषय में चिन्तक वैद्य इस मार्ग को अपनाने भी लगे हैं। रोगों के विषय में भी यही मार्ग श्रेयस्कर प्रतीत होता है।

प्रसंगवश इतना कह कर मूल विषय पर आएँ।

इति पृष्टः स शिष्येण प्रश्नं प्रोवाच कश्यपः।

(शिष्य के इस प्रश्न का उत्तर देते हुए आचार्य कश्यप बोले।)

आचार्य का उत्तर हम आगामी अङ्क में देंगे।

(सावशेष)

त्रिधातु के स्वरूप की शैली

वैद्य निरञ्जनदेव, आयुर्वेदालंकार

(अयोध्या शिवकुमारी आयुर्वेद महाविद्यालय, बेगूसराय तथा आयुर्वेद विज्ञान परिषद् हरद्वार, में त्रिदोष विषय पर दिये गये व्याख्यानों के आधार पर प्रस्तुत लेख)

(२)

भारत की उन प्राचीन और असाधारण महादेशों में गणना है, जिन्हें अपने पूर्वजों से नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान उपलब्ध हुए हैं। इस विशेषता के कारण हमारा सांस्कृतिक दृष्टि से विश्व में गौरवपूर्ण स्थान है। गणित, ज्योतिष, काव्य, संगीत, दर्शन, वैद्यक, कानून और अध्यात्म आदि ऐसे अनेक विषय हैं जिनके लिए भारत को अपने पूर्वजों पर अभिमान है।

परन्तु इधर लगभग सौ वर्षों से, पश्चिम द्वारा आनेवाली विधि विचारधाराओं ने, यहाँ के प्राचीन और परम्परागत ज्ञान-विज्ञान को बड़े वेग से अपदस्थ करना आरम्भ किया है। यद्यपि, अपदस्थ कर देना या किसी को उसके उचित स्थान से हटा देना—एक सामयिक परिवर्तन मात्र है; और उस अपदस्थ को —श्रेष्ठ एवं योग्य सिद्ध करके—हम पुनः उचित आसन पर प्रतिष्ठित कर सकते हैं; परन्तु कठिनाई यह हुई है कि पश्चिम के भौतिक विज्ञान की प्रत्यक्षमूलक प्रणाली ने हमारी अनेक प्रमाणित मान्यताओं को भ्रान्तिपूर्ण सिद्ध करना चाहा है; और वह भी बिना पढ़े—बिना समझे—और बिना चिन्तन किए हुए!! ऐसी दशा में इस देश का एक समुदाय, अपने तीन सहस्र वर्ष पुराने—बल्कि इससे भी अधिक प्राचीन—चिकित्साशास्त्र को आयत्त करने में आज कठिनाई अनुभव करने लगे, या इसके आधारभूत सिद्धान्तों को पुनर्विचार के योग्य समझने लगे, तो यह आश्चर्यजनक नहीं है; और इससे हमें विशेष चिन्तित न होना चाहिए। विज्ञान तो वस्तुतः वह खरा सोना है, जो बारम्बार तपाने से विशुद्ध रूप में निखरता जाता है।

आज वैद्यक शास्त्र के 'त्रिदोष सिद्धान्त' के सम्बन्ध में यही स्थिति है। डाक्टरों की बातों की तो अवहेलना की जा सकती है; क्योंकि आयुर्वेद की निश्चित पद्धति पर उक्त विषय का अध्ययन न होने के कारण, उनके अज्ञानता सूचक और विरोधी उद्गार प्रकट होते रहना, एक सहज और स्वाभाविक बात है; परन्तु पढ़े-लिखे वैद्यों में भी कभी-कभी सन्देह-बुद्धि पाई गई है। बल्कि कुछ लोगों को जिन्होंने आस्थापूर्वक वैद्यक का अध्ययन नहीं किया—यही आश्चर्यजनक जान पड़ता है कि चिकित्साशास्त्र में 'त्रिदोष' जैसे आधारभूत विषय को, प्रयोगशालाओं में बिना परीक्षा किए, एक निर्णीत तथ्य के रूप में कैसे स्थान दे दिया गया? इसके विपरीत अनेक अभिनव चिकित्सक, त्रिदोष की, अपने-अपने ढंग पर तर्कसंगत व्याख्याएँ भी प्रस्तुत करते हैं। अभिप्राय यह कि "त्रिदोष" को ले कर आस्था और अनास्था मूलक दोनों ही प्रकार के विचार समय-समय पर प्रकट होते रहते हैं।

यदि इन सब बातों को छोड़ दें, तो भी, एक बात बहुत स्पष्ट और गम्भीर है—कि आजकल के वैज्ञानिक युग में वैद्यक पढ़नेवाला छात्र, त्रिदोष विषयक पुरानी शब्दावली को दुहराते हुए किंकर्तव्यविमूढ़ और शंकाकुल अवश्य हो उठता है। बहुत बार तो वह, अपने अध्ययन काल के अन्त तक भी, त्रिदोष विषय को समझ-समझा नहीं पाता। इसके अनेक कारण हैं। आज गुरु के निकट या आयुर्वेद विद्यालयों में वैद्यक शास्त्र को सीखने के विचार से जो छात्र आते हैं, उनमें अधिकांश ऐसे हैं, जो संस्कृत की पाठशालाओं से नहीं—बल्कि उन अंग्रेजी स्कूल-कालेजों से आने लगे हैं, जिनमें शिक्षा देने की पद्धति 'प्रत्यक्ष दर्शनमूलक' है। इस पद्धति द्वारा छात्र, अपने आँख-कान से हर बात को देख-सुनकर, ज्ञानोपर्जन करने का अभ्यासी बन जाता है। अतएव, सूक्ष्म और अनुमेय द्रव्यों के प्रति उसमें दिलचस्पी और आस्था उत्पन्न होना कठिन होता है। जो छात्र रसायन-भौतिकी-वनस्पतिशास्त्र-प्राणिज्ञान आदि की शिक्षा लेकर, या साथ-साथ लेते हुए, त्रिदोष विषय पढ़ना चाहते हैं, उन्हें यह अनुमेय और दार्शनिक विषय क्लिष्ट-नीरस एवं

दुरूह-अनुभव होता है। इसके अतिरिक्त, केवल प्राचीन संस्कृत शब्दावली के बल पर, इस विषय को हृदयंगम कर लेना, उनके वश में नहीं रह जाता। आधुनिक समय में तो शिक्षण की शैली भी प्रपञ्चात्मक या विस्तारमूलक हो चुकी है। प्रत्येक विषय को विशद व्याख्या के साथ सुनने की आदत छात्र को आरम्भ से ही पड़ी होती है। इसके विपरीत आयुर्वेद-शास्त्र का त्रिदोष सिद्धान्त जिन प्रामाणिक ग्रन्थों में है, उनकी शैली "सूत्रात्मक" रही है। इन सूत्रों को समझने-समझाने में अनेक रूपता के साथ-साथ अस्पष्टता का रह जाना तो सर्वथा स्वाभाविक ही है। इधर, त्रिदोष विषय पर, क्रमबद्ध और प्रामाणिक पाठ्यग्रन्थ भी पर्याप्त संख्या में उपलब्ध नहीं हैं। अध्ययन के समय इस विषय को एक निश्चित क्रम से प्रस्तुत करने की, और उसकी परिमार्जित-सरल-सुबोध-आयुर्वेद सम्मत व्याख्या प्रस्तुत करने की कोई परम्परागत पद्धति भी आज विद्यमान नहीं है। एक कठिनाई और उपस्थित होती है—आधुनिक युग में मनुष्य की प्रवृत्ति अधिकाधिक विश्लेषण की ओर झुकी हुई है; वह प्रत्येक वस्तु को खण्ड-खण्ड करके उसके सूक्ष्मतम घटकों को, जान लेना चाहता है। यद्यपि अणुविच्छेद के इस युग में यह बात बहुत कुछ स्वाभाविक है; पर इस प्रवृत्ति के कारण किसी समष्टि पर या वर्ग द्रव्य पर ठहर कर स्थिरतापूर्वक विचार कर सकने की वृत्ति नहीं बन पाती। बात को अधिक स्पष्ट रूप से समझने के लिए एक सामान्य-सा उदाहरण दिया जा सकता है—कल्पना कीजिए कि हम वायु तत्त्व के विषय में विचार करने बैठते हैं; हममें से जो रसायन शास्त्री होगा, उसका ध्यान तुरन्त ही ओषजन-नत्रजन-ओज़ोन-अमोनिया-कार्बन डायोक्साइड-जलवाष्प आदि उन पदार्थों की ओर जा पहुँचेगा, जो इस वायु के घटक हैं। यदि श्वास-प्रश्वास पर विचार करने लगें तो हमारे सम्मुख 'आक्सिजन' आ खड़ा होता है। समष्टि रूप वायु के प्रति हमारी प्रायः उपेक्षा ही रहती है। यही बात शरीर के सम्बन्ध में देखी जाती है। शरीर कहते ही आधुनिक शारीर-शास्त्र के अभ्यासी का ध्यान त्वचा-पेशी-स्नायु-धमनी-अस्थि-नाड़ी आदि की ओर जाता है। समष्टिरूप शरीर से पृथक् किसी शव-शरीर की विश्लेषणात्मक दुनिया में ही, वह विचरण किया करता है। "दोष धातु मल मूलक" शरीर और "सूक्ष्म" शरीर तो उसके लिए एक विकट समस्या ही है! ऐसी दशा में मन-बुद्धि-अहंकार, या सत्त्व-रज-तम, पञ्चभूत-महाभूत और त्रिदोष तक वह किस राह से पहुँचे? कहने का अभिप्राय यह है कि चिकित्सा-शास्त्र से सम्बद्ध इन विषयों को प्रस्तुत करने और उन्हें समझने-समझाने की प्राचीन एवं अर्वाचीन शैली में आज बहुत अन्तर पड़ गया है; पढ़नेवालों की मनोवृत्तियाँ बदल रही हैं; इसके साथ ही आयुर्वेदशास्त्र की परम्परागत व्याख्याएं हमारे हाथ से जाती रही हैं। इसी प्रकार के अनेकानेक कारण हैं जो त्रिदोष सिद्धान्त को समझने-समझाने में बाधक बन कर खड़े हुए हैं।

आज यह बात विशेष रूप से ध्यान में रखने योग्य है कि अपने सजीव शरीर के भीतर त्रिदोष की सत्ता का स्वयं हमें अनुभव होना, और दूसरे को इस सत्ता का ज्ञान कराना, ये दोनों ही बातें वस्तुतः एक विशेष प्रकार की विचार शैली के परिणाम हैं। यदि उस विशिष्ट शैली से इस विषय पर चिन्तन न किया जाय तो त्रिदोष की परिकल्पना ही नहीं होती।

यह बात हम नित्य प्रति सुनते हैं और वैद्यक का समस्त प्राचीन वाङ्मय इसका प्रमाण है, कि आयुर्वेद का त्रिदोष सिद्धान्त "पञ्चभूतात्मक" विचारधारा पर आश्रित है। पञ्चभूत का विचार भी एक विशेष पद्धति से चिन्तन करने का ही परिणाम है।

इन पद्धतियों को समझने की दिशा में हम बढ़ें, इससे पूर्व एक बात और भी ध्यान में रखनी चाहिए। वर्तमान युग में यह आवाज़ बड़ी प्रबलता के साथ उठाई गई है कि हमें प्रत्येक बात, "विज्ञान सम्मत" होने पर ही, माननी चाहिए। इससे प्रभावित हो कर आज के छात्रों की ही नहीं—अध्यापकवर्ग की भी मनोदशा यह है, कि वर्तमान भौतिकी-रसायन-आदि के द्वारा निर्धारित तथ्यों को ही एकमात्र चरम और अकाट्य सत्य मान कर सब चल रहे हैं। इनके क्षेत्र के बाहर भी कुछ सत्य हो सकते हैं—यह मानना और ऐसे विषयों पर चिन्तन करना हमने प्रायः छोड़-सा दिया है। परिणाम यह है कि इस प्रत्यक्षमूलक भौतिक विज्ञान की परिधि से बाहर की किसी वस्तु में हम आस्था नहीं बना पाते। किन्तु आयुर्वेद-शास्त्र के प्राचीन विचारकों का ऐसा निश्चित मत मालूम पड़ता है कि भौतिक विज्ञान की परिधि के बाहर भी अनेकानेक सत्य, हैं। उनकी बात को समझने के उपरान्त तो ऐसा ही

स्वीकार भी करना पड़ता है; और यह विचार बनता है कि वर्तमान भौतिकी-रसायन-प्राणिविज्ञान आदि की परिधि में ही घूमते रह कर जीव, अव्यक्त, त्रिगुण, मन आदि को, और उनके साथ अनेक अंशों में सम्बद्ध त्रिदोष को, ठीक प्रकार से आयत्त नहीं किया जा सकता। अस्तु,

अब देखें कि त्रिदोष के आधारस्वरूप "पञ्चमहाभूत" की कल्पना को जन्म देने वाली वह शैली क्या है?

भारत के प्राचीन दार्शनिकों ने इस सृष्टि की रचना के आदि कारणों पर विचार करते हुए एक "लोक पुरुष" की कल्पना की है। "लोक पुरुष" और "शारीर पुरुष" में उन्होंने भेद नहीं माना है। फिर, जब उन्होंने चिकित्सा की बात सोची और सजीव शरीर के मूल घटकों पर विचार किया, तो बीच का एक ऐसा आधार ग्रहण किया जो सूक्ष्म होते हुए भी स्थूल जगत् के नितान्त निकट है। दर्शनों की गहराई से ऊपर उठ कर "चिकित्स्य पुरुष" और "चिकित्सा द्रव्य"—दोनों के मूल घटकों को, उन्होंने पञ्चमहाभूतात्मक कहा[1]। पञ्चमहाभूतों के भी सूक्ष्म रूप हैं—"भूत"; जिनकी स्थिति की ओर "तन्मात्रा" शब्द सुस्पष्ट संकेत करता है। तन्मात्रा—अर्थात् इन्द्रियार्थ का वह सूक्ष्मातिसूक्ष्म अंश जो पुर्नविभजन की सीमा से बाहर हो चुका हो; इन तन्मात्राओं को "विषयाणु" नाम दे देना भी शायद असंगत न होगा। यह तो हुई इन्द्रिय विषयों की सूक्ष्म स्थिति की बात। इन्द्रियाँ और मन भी सजीव शरीर के सूक्ष्म भाव हैं। इनको व्यावहारिक दृष्टि से यद्यपि भौतिक कह दिया जाता है, पर इनके "मूल-जनक" तो भूतों की अपेक्षा भी सूक्ष्मतर भाव हैं।

इन्द्रियों के उपरान्त देहपिण्ड आता है। देहपिण्ड में और ब्रह्माण्ड में इस दृष्टि से सादृश्य है कि ये दोनों ही भौतिक हैं। इन दोनों के ही मूल में वे पाँच प्रकार के परमाणु हैं जिन्हें "पञ्चभूत" कहा गया है। भूतों के चरम सूक्ष्म, अविभाज्य, अविच्छेद्य होने के कारण, उनसे, सहसा स्थूल कार्यद्रव्य का निर्माण हो सके, यह कल्पनातीत है। सृष्टि के आरम्भ ये भूत, अपने राजस अंश के कारण सक्रिय होते हैं; और अपनी अपेक्षा अनति-सूक्ष्म ऐसे द्रव्य की रचना करते हैं, जिससे, आगे की स्थूल सृष्टि का आरम्भ हो सकता है। अर्थात् भूतों से कार्यरूप "महाभूत" उत्पन्न होते हैं। भूत और महाभूत, अर्थात् कारण और कार्यरूप, दोनों को ही, पृथिवी-अप्-तेज-वायु-आकाश नाम दिया गया है[1]। भूतों के अपने गुण हैं—गन्ध-रस-रूप-स्पर्श और शब्द। कारण रूप पाँचों भूतों की नित्य सत्ता है। पर कार्यरूप महाभूत तब सत्तात्मक स्थिति में आते हैं, जब, सृष्टि के आरम्भ में नित्य परमाणु, इस स्थूल जगत् के तरु-कीट-पाषाण आदि की रचना करने से पूर्व एक दूसरे में अनुप्रविष्ट होते हैं[2]। "चिकित्स्य पुरुष" हो या "चिकित्साद्रव्य"—दोनों के घटक यही "पञ्चमहाभूत" हैं। यों तो सभी पदार्थ पाँचों के विशिष्ट मिश्रण, न्यूनाधिक अनुपात, और विभिन्न रासायनिक सम्मूर्च्छनाओं के परिणाम हैं; पर जिन पदार्थों में कठोरता-घनता-स्थूलता-गुरुता एवं गन्ध-गुण विशेषरूप से हो वे पृथिवी महाभूत की प्रधानता से **पार्थिव**, जिनमें तरलता-स्निग्धता-द्रवता-संसक्ति एवं आस्वाद विशेष हो वे **आप्य**, जिनमें उष्णता-प्रकाश-कान्ति एवं रूप विशेष हो **तैजस**, जिनमें रूक्षता-खरता-गति-चेष्टा एवं स्पर्श गुण विशेष हो वे **वायव्य** और जिनमें लघुता-सच्छिद्रता-अवकाश-अवाधकता एवं शब्द गुण विशेष हों वे **आकाशीय** कहलाते हैं। प्रत्येक पदार्थ में भूतों की सत्ता या भूतविशेष का प्राधान्य, भूतों के इन गुणों के द्वारा, जाना जाता है। परन्तु किसी पदार्थ की विशेषता को जानना या पहिचान लेना—यह कार्य हमारे सजीव शरीर में स्थित, पाँच ज्ञानेन्द्रियों से ही सम्पन्न होता है। ज्ञानेन्द्रियाँ, एक-एक भूत के मुख्य उपादान से निर्मित हुई हैं। इसीसे नासिका को पार्थिव, रसना को आप्य, नेत्र को आग्नेय, त्वचा को वायव्य, श्रोत को आकाशीय इन्द्रिय माना गया है; और प्रत्येक की अपनी-अपनी इस विशेषता के कारण, इनके द्वारा, क्रमशः—पार्थिव गुण गन्ध, आप्य गुण रस, आग्नेय गुण रूप, वायव्य गुण स्पर्श, और आकाशीय गुण शब्द का ग्रहण हो पाता है। इन गन्ध-रस-रूप-स्पर्श-शब्द को, क्रमशः, नासिका-रसना-नेत्र-त्वक् और श्रोत्रेन्द्रिय का विषय कहा गया है। यह बहुत संक्षेप में भूतों और महाभूतों की

---

[1] 'पञ्चमहाभूतशरीरिसमवायः पुरुषः' —(सूश्रुत)
'इदं हि द्रव्यं पञ्चमहाभूतात्मकम्' —(च० सं०)

---

[1] 'पृथिव्यप्तेजोवायुराकाशमिति भूतानि'—(न्याय)

[2] 'अन्योन्यानुप्रविष्टानि सर्वाण्येतानिर्निर्दिशेत्'
—(सुश्रुत)

चर्चा की गई। इस प्रसंग में विशेष ध्यान देने योग्य बात आगे आती है।

यदि हम इस सृष्टि के नानारूप पदार्थों पर, पार्थिव-आप्य-आग्नेय आदि की दृष्टि से, विचार करें, तो हमें अगणित ऐसे द्रव्य मिलेंगे जिनके अन्दर उक्त महाभूतों में से अन्यान्य महाभूतों का प्राधान्य होगा। उदाहरणार्थ––जिस प्रकार "पाषाण" पार्थिव है, उसी प्रकार "कोयला" भी पार्थिव है; और इस पृथिवी वर्ग में, पार्थिव गुण विशिष्ट असंख्य वस्तुओं का समावेश किया जा सकता है। इसी प्रकार आप्य, आग्नेय, वायव्य और आकाशीय द्रव्य भी कोटि-कोटि होंगे। परिणामतः संसार के सभी द्रव्य पाँच श्रेणियों या वर्गों में बँट जायेंगे; और वस्तुतः सृष्टि के अनन्त असंख्य पदार्थों को समेटने और समझने की दृष्टि से, यह एक सरल और बुद्धिगम्य व्यवस्था बनाई गई है––कि कोयला हो या पाषाण, ––जिन-जिन द्रव्यों के अणुओं में काठिन्य-गुरुत्व-घनत्व आदि पाये जावेंगे, उनका "पार्थिव वर्ग" में समावेश होगा; इसी प्रकार आप्य-आग्नेय-वायव्य और आकाशीय गुणों के आधार पर इन वर्गों में भी लाखों-करोड़ों पदार्थों का परिगणन हो जायगा। इस व्यवस्था से स्पष्ट है कि संसार के कोटि-कोटि पदार्थों के, उनके त्रसरेणुओं के गुणविशेष की दृष्टि से, हमने पाँचवर्ग बना दिये हैं। कोई भी पदार्थ कोमल या कठोर, द्रव या ठोस, गरम या ठंडा, सघन या विरल, सच्छिद्र या सान्द्र, भारी या हलका, काला या चमकीला, कैसा भी क्यों न हो––वह जीर्ण हो या नवीनोत्पन्न––हम उसे इन्हीं पाँच वर्गों के अन्तर्गत स्थान देंगे। यही वह वर्गात्मक शैली है जिस पर "पञ्चमहाभूत" कल्पना आधारित है।

आधुनिक विज्ञान ने एक अन्य शैली को अपनाया है। उसे विश्लेषणात्मक शैली कहा जा सकता है। आधुनिक युग की आकस्मिक साधन-सम्पन्नता के कारण, उन्होंने, बहुसंख्यक पदार्थों का सूक्ष्म विश्लेषण करते हुए, लगभग एक सौ की संख्या में ऐसे मूल द्रव्य खोज निकाले, जो अमिश्रित और अभेद्य कहे जा सकते थे। उनके विचार में, इन्हीं के पारस्परिक मिश्रण या रासायनिक सम्मूर्च्छन से, सृष्टि के समस्त पदार्थ निर्मित हुए। परन्तु वैज्ञानिकों द्वारा किए गये––इससे आगे के अनुसन्धानों ने बताया, कि उक्त सूक्ष्म द्रव्यों के त्रसरेणु का भी विच्छेद हो सकता है। उक्त विच्छेद के परिणामस्वरूप भी, कई द्रव्य प्राप्त होते हैं। अस्तु,

इस प्रसंग में प्रतिपाद्य इतना ही है कि "पञ्चमहाभूत" वस्तुतः अनन्त-असंख्य त्रसरेणुओं की कतिपय भिन्न-भिन्न विशेषताओं के आधार पर बनाये गये पाँच "महावर्ग" हैं। यदि इस वर्गात्मक शैली से विचार न करें तो इन पाँचों की कल्पना नहीं होती।

इस वर्गीकरण की शैली को चिकित्साशास्त्र में भी उपयोगी अनुभव किया गया। प्राचीन चिकित्सकगण, इन वर्गीय द्रव्यों में से मानवोपयोगी द्रव्यों के शारीर प्रभाव का, सम्भवतः चिरकाल तक अवलोकन करते रहे। परिणाम रूप में उन्होंने यह विचार प्रकट किया, कि आहारौषधोपयोगी पार्थिव आप्य आदि द्रव्य, देह के भीतर, अपने-अपने विशिष्ट देहभावों के पोषक होते हैं। उन्होंने इस प्रभाव का कारण––"दोनों का समवर्गीय होना"–बतलाया। इन प्राचीन चिकित्सकों ने देह को भी इसी दृष्टि से पाँच वर्गों में विभक्त किया; और इसके पार्थिव-आप्य आदि अंगावयवों की पृथक्-पृथक् गणना भी उन्होंने की है[1]।

परन्तु सजीव शरीर में इन महाभूतों का एक और भी विशिष्ट तथा अनोखा-सा कार्य देखने में आता है। यह बात सभी आयुर्वेदज्ञ जानते हैं कि आहार द्रव्यों के रूप में "पञ्चमहाभूत" नित्य प्रति हमारी देह में पहुँचते हैं; साथ ही जल-वायु-प्रकाश के माध्यम से, एवं अन्य प्रकार से भी, महाभूतों के असंख्य त्रसरेणु हमारी देह में संक्रान्त होते रहते हैं। सजीव शरीर की यह विशेषता है कि कोई भी बाह्य पदार्थ उसके भीतर पहुँचे या पहुँचाया जाय, उसे यह इस योग्य बना लेने का यत्न करता है कि उक्त पदार्थ शरीर का भाग या अंश बन सके। इसी निमित्त, शरीर के भीतर पहुँचे हुए सभी पदार्थ, शरीरांग बनने के पूर्व, अपना-अपना रूप परिवर्तन करते हैं; और शारीर रूप (फ़िज़ियोलोजिकल् फ़ॉर्म) ग्रहण करते हैं।

पाञ्चभौतिक पदार्थों को इस प्रकार "शारीर रूप" कौन प्रदान करता है? क्या यह स्वयं आपसे-आप हो जाता है? प्राचीन आर्य चिकित्सकों ने इस विषय को ले कर सम्भवतः बहुत-सी बातों का निरीक्षण किया, और वे चिरकाल तक मनन एवं चिन्तन करते रहे; अन्ततोगत्वा इस परिणाम पर पहुँचे कि जिस प्रकार पञ्चमहाभूतों से निर्मित जगत्

१–देखिए––सुश्रुत संहिता का शारीर तथा काश्यप संहिता का गर्भावक्रान्ति शरीराध्याय।

में पाञ्चभौतिक वायु-सूर्य और चन्द्रमा विशेष प्रभावशाली द्रव्य हैं और इनकी विशिष्ट शक्तियाँ इस भौतिक जगत का संचालन कर रही हैं, उसी प्रकार हमारी शारीर सृष्टि में भी, पञ्चमहाभूतों के रूपान्तरात्मक, तीन शक्तिशाली द्रव्य हैं ; और वे इस शारीर जगत् का संचालन करने की क्षमता रखते हैं। शरीरान्तर्वर्ती इन तीन पाञ्चभौतिक द्रव्यों को उन्होंने **वात, पित्त, श्लेष्मा** नाम दिया। ये वात-पित्त-श्लेष्मा भी, जैसी कि इनके मूलजनक पञ्चमहाभूतों की स्थिति है—स्वभावतः वर्गीय द्रव्य ही होने चाहिए ; फिर भी हम इन्हें सजीव देह का मौलिकतत्त्व मानने के लिए विवश होते हैं ; क्योंकि सभी खाद्य-पेय आदि आहार द्रव्यों का रूप परिवर्तन हो कर, उनसे, देह में सर्वप्रथम कफ-पित्त-वात के उपादान द्रव्य प्रस्तुत हुआ करते हैं ; अन्य धातु, मल, आदि बाद में ही बन पाते हैं। ये तीन यदि आरम्भ में न बनें तो आगे, अन्य शारीर भावों का, निर्माण असम्भव है। इस प्रकार हम सृष्टि के मूल उपादान द्रव्यों से—पञ्चमहाभूतों से—आरम्भ करके, सजीव शरीर के मूल उपादान द्रव्यों तक अर्थात् त्रिदोष तक आ पहुँचे हैं।

हमारे चेतन शरीर के अर्थात् "पुरुष" के, और सृष्टि-शरीर अर्थात् लोक के, सादृश्य की बातें ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर पढ़ने को मिलती हैं। पर इन दोनों का विभेद भी असाधारण है। प्राणिपिण्ड की, विशेषतः मानव शरीर की, आन्तरिक रचना एकदम निराली है। यह अपने भीतर आये हुए पदार्थ का स्वरूप परिवर्तन कर देता है। किसी वस्तु के (इसके भीतर पहुँच चुकने के उपरान्त) इस परिवर्तित रूप को, बाद में पहिचान सकना सरल नहीं रह जाता है। दैनिक आहार द्वारा महास्रोतस् में पहुँचने वाले फल-दुग्ध-शाक-मेवा-मिष्टान्न आदि पदार्थ परिवर्तित हो कर क्या-से-क्या रूप ले लेते हैं,—यह कहने की आवश्यकता नहीं। इन पाञ्चभौतिक पदार्थों से शरीर रूपी महायन्त्र, अपने लिए, न्यूनाधिक उपयोगी नाना प्रकार के द्रव्यों की रचना करता रहता है। बाहर से देखने पर ऐसा प्रतीत होता है कि खाद्य-पेय आदि वस्तुएँ, देह रूपी मन्दिर के मूर्त आकार की रचना के लिए उपयोगी, रक्त-मांस-अस्थि आदि का, अथवा स्वेद-मूत्र-पुरीष आदि किट्ट द्रव्यों का ही निर्माण किया करती हैं ; पर केवल इतना ही नहीं है ; जैसा कि प्रथम कहा जा चुका है—वास्तव में सब से पहिले तो—खाद्य-पेय आदि के रूप में भीतर पहुँचे हुए पञ्चमहाभूत, इस देह के लिए अनिवार्य रूपेण आवश्यक, उन तीन मौलिक या आधारभूत द्रव्यों का आकार ग्रहण करते हैं ; जिनकी उदक कर्म-अग्नि कर्म और गति कर्म नाम की क्रियाओं के परिणाम रूप में रक्त-मांस आदि स्थूल उपादान, इस देह-प्रतिमा की आकृति ग्रहण कर पाते हैं। यह चर्चा एक पृथक् लेख का विषय है ; और वह अन्यत्र लिखा गया है। इस प्रसंग में यही कहना विशेष रूप से अभीष्ट है कि शरीर के आधारभूत[1] उक्त तीनों द्रव्यों का निर्माण, हमारा यह सजीव देह ही करता है, निर्जीव देह नहीं करता ;—और वह भी, जीवन-व्यापार जारी रहने तक की अवस्था के लिए किया करता है। इसीसे, जीवन-व्यापार की समाप्ति के साथ-साथ ये मौलिक द्रव्य भी, विलीन हो जाते हैं।

यह प्रथम कहा जा चुका है कि खाद्य-पेय आदि द्रव्यों के रूप में, चराचर सृष्टि के उपादान स्वरूप, पञ्चमहाभूत ही, हमारी देह के भीतर रूपान्तरित हो कर उक्त वात-पित्त-श्लेष्मा का नाम ग्रहण करते हैं। पर सुगमता की दृष्टि से महाभूतों में भी अन्तर है। पृथिवी-जल-अग्नि-वायु-आकाश जिस प्रकार सूक्ष्मतर होते गये हैं उसी प्रकार इनके रूपान्तर कफ-पित्त-वात भी क्रमशः सूक्ष्मतर हैं। इस क्रमिक सूक्ष्मता के कारण इनका आयत्त होना भी कठिनतर होता जाता है।

यदि हम इनमें से पृथिवी और जल के रूपान्तर-अतएव, स्थूलतम द्रव्य श्लेष्मा को लें, और इसके बोधक-क्लेदक-श्लेषक-अवलम्बक-तर्पक भेदों पर विचार करें तो यह कहा जा सकता है कि इनके स्थूल स्राव सहज ग्राह्य हैं ; पर जो श्लेष्मा "ओजःस्वरूप" है, वह सूक्ष्म कोटि के द्रव्यों के अन्तर्गत ही है, और सहज ग्राह्य नहीं है। फिर भी, इस दुर्ग्राह्यता या दुर्लभता के कारण, इन मूल तत्त्वों की, सजीव शरीर में होती रहनेवाली क्रियाओं में, कोई व्याघात नहीं आता ; और वे सर्वत्र ज्ञेय रहती हैं।

आधुनिक युग के ज्ञान-पिपासु व्यक्ति की जिस अति-विश्लेषणात्मक प्रवृत्ति की आरम्भ में चर्चा की गई थी, वह त्रिदोष को समझने में कभी-कभी बाधक होती है। प्राचीन वैद्यों ने जिन बोधक-क्लेदक-अवलम्बक-तर्पक और

---

[1] १—चरक, सूश्रुत, काश्यप आदि प्राचीन चिकित्सकों ने, इस "आधार रूप" को लक्ष्य में रख कर ही देह को 'त्रिस्तम्भ' 'त्रिस्थूण' आदि नाम दिया है।

श्लेषक कफों का कार्य क्रमश:—रसज्ञान-आहार क्लेदन-फुफ्फुसहृदयाबलम्बन-ज्ञानेन्द्रिय और सन्धिसंश्लेषण बतलाया, उन्हें, समष्टि रूप में "श्लेष्मा" शब्द से सम्बोधित किया है। यदि आधुनिक दृष्टि से देखें तो उक्त श्लेष्म-भेदों की सूक्ष्म रचना में अन्तर है, और ये पृथक्-पृथक् कार्य करने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के स्राव हैं; परन्तु प्राचीनों ने, इनके विशिष्ट साम्य के आधार पर, इन्हें एक ही श्रेणी या वर्ग के अन्तर्गत समाविष्ट किया; और सभी को "श्लेष्मा" नाम दिया। **श्लेष्म-पित्त और वात ये नाम विशेष प्रकार के वर्गीय द्रव्यों के लिए** प्रयुक्त **किए जाते हैं,** इस बात को प्राचीन लोग भले **प्रयुक्त** समझते थे[1]। आधुनिक समय में भी, इन सूक्ष्म-स्थूल-तात्त्विक द्रव्यों का स्वरूप समझते समय, यदि इस बात को ध्यान में रखा जाय, तो अनेक संशय स्वत: निवृत्त हो सकते हैं। अस्तु,

सूक्ष्म और प्रसाद रूप वात-पित्त-श्लेष्मा की पूर्वकथित दुर्ग्राह्यता की समस्या प्राचीनों के सम्मुख भी रही। इस सूक्ष्मता के अतिरिक्त एक मुख्य समस्या और भी आती है, अस्वस्थ शरीर में तो क्षीण और वृद्ध लक्षणों को देख-समझ कर, दोषों की क्षय-वृद्धि की ओर हमारा ध्यान जाता भी है; परन्तु स्वस्थ शरीर में जब ये प्राकृत अवस्था में हैं—इन्हें कैसे पहिचाना जाय?

इन्हीं समस्याओं का हल करने के निमित्त प्राचीन चिकित्सकों ने, धात्वीय स्थिति में विद्यमान वात-पित्त-श्लेष्मा के सम्यक् परिज्ञान के कुछ विशेष उपाय स्थिर किए। इन उपायों का संहिता ग्रन्थों के विविध प्रसंगों में, उल्लेख मिलता है। देहाणुव्यापी इन सूक्ष्म द्रव्यों को सहजगम्य बनाने के लिए उन्होंने यथाशक्य, इनके भौतिक स्वरूप को तो स्थिर किया ही; किन्तु विशेष रूप से इनके गुणों की ओर ध्यान दिया। सजीव मानव शरीरों का, जीवनपर्यन्त सूक्ष्म अवलोकन करते रहने के उपरान्त, उन्होंने यह स्थिर किया कि उपर्युक्त तीनों मौलिक द्रव्यों के गुण, शरीर की स्वस्थ या रुग्ण दोनों अवस्थाओं में, एक समान ही रहते हैं; इन गुणों में प्रबलता या हीनता भले ही आ जाती हो, पर ये गुण परिवर्तित नहीं होते। प्रत्येक मौलिक द्रव्य के इन गुणों का नामकरण तथा इनकी लगभग संख्या भी, निर्धारित कर दी गई।

गुणों के अतिरिक्त इनके दृश्य-अदृश्य नानाविध कर्मों और विशेषताओं को भी विस्तार से जान लेने का यत्न किया गया; और वे लोग इस परिणाम पर पहुँचे कि तीनों के ही कर्म, स्वस्थ एवं रुग्ण शरीरों में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं।

गुण वैशिष्टय एवं कर्म वैशिष्टय के अतिरिक्त षड्-रस-प्रभाव की दृष्टि से भी वात-पित्त-श्लेष्मा के स्वरूप पर विचार हुआ। भिन्न-भिन्न रसों से युक्त द्रव्यों के सेवन का इन पर क्या प्रभाव पड़ता है—इसका सूक्ष्मता से निरीक्षण किया गया; और विविध रसों के प्रभाव भिन्न-भिन्न दोषों की वृद्धि या क्षीणता के आधार पर भी, सजीव देह में इन तीन महत्त्वपूर्ण द्रव्यों की सत्ता को अनुमानत: सिद्ध होता हुआ पाया गया[2]।

उक्त तीनों पद्धतियों के द्वारा वात-पित्त-श्लेष्मा के स्वरूप विवेचन को हम क्रमश: गुणात्मक पद्धति, कार्यवर्णनात्मक या वैशिष्टयमूलक पद्धति और रसात्मक पद्धति, कह सकते हैं। संहिताकाल में तथा परवर्ती ग्रन्थों में भी, इन्हीं पद्धतियों से, वात-पित्त-श्लेष्मा का उनके सूक्ष्म-स्थूल स्वरूपों का विवेचन हुआ है।

लेखक का विचार है कि प्राकृत या वैकृत वात-पित्त-श्लेष्मा को ठीक रूप से समझने की आर्ष या शास्त्रीय पद्धति उपर्युक्त ही है। प्रत्येक व्यक्ति को, यदि वह प्राचीन युग के महान् चिकित्सकों के इस विषयक दृष्टिकोण को सही रूप में समझना चाहता है, तो, इसी पद्धति से विचार करना होगा। इस पद्धति पर, स्वयं अपने-आप, वात-पित्त-श्लेष्मा को सम्यक् समझने के पूर्व ही इनकी व्याख्यायें करने लगना, प्राय: भ्रामक ही होता है। त्रिदोष की-विशेषत: प्राकृत दोषों का स्वरूप, उक्त पद्धतियों के आधार पर, किस प्रकार सुगम और बुद्धिगम्य बन जाता है—यही अगली चर्चा का विषय है।

अध्यक्ष
आयुर्वेद महाविद्यालय,
गुरुकुलकांगड़ी हरद्वार

---

[1] १–'कफवर्गे भवेच्छुक्लं पित्तवर्गे च शोणितम्'—हरिवंश-पुराण।

[2] २–'कपिलबलस्त्वेषां स्वलक्षणानि रसतो निर्दिदेश:'
—(अ० सं० सू०)

स्रोतो विचार-३

वैद्य प्रभाशंकर नरोत्तम रावल, आयुर्वेदाचार्य

रसवह स्रोत––यह स्रोतों का मूल हृदय है। प्रसाद स्वरूप रस, रसवाही स्रोतों में बहता है––ये स्रोतें कहाँ तक फैले हुए हैं, वह समझने के लिए रसवाही स्रोतों की दुष्टि के लक्षणों को देखें––"अश्रद्धा...च अरसज्ञता अंगमर्दो ज्वरः तन्द्रा हृल्लासो गौरवं तमः पाण्डु च......।"

इन लक्षणों का अधिक विचार करने से अरसज्ञता के परिणामस्वरूप रसना की ज्ञानेन्द्रिय, षड़रसों का पूरा ज्ञान नहीं कर सकती। आस्य वैरस्यता में मुख स्वादरहित होता है। हृल्लास और अरुचि हो तो लाला-स्रावी ग्रंथियाँ विकृत हुई हैं, ऐसा मानना चाहिए। ज्वर आये तो आमाशय में और समग्र शरीर में आम उत्पन्न हुआ है, और जठर की अग्नि का नाश हुआ है–ऐसा समझना चाहिए, साथ ही साथ, स्रोतों का रोध (अर्थात् Portal system का रोध) हुआ है––ये स्रोत बन्द हो गए हैं, ऐसा मानें।

रस, सारे शरीर में पहुँचता है, इसलिए उपरोक्त अवयवों के उपरान्त समग्र शरीर के साथ रसवाही स्रोत सखे हुए हैं––ऐसा मानना चाहिए। उन स्रोतों की दुष्टि से क्लैव्य होता है––यह कथन ऊपरी तौर पर जरा विचित्र-सा लग सकता है, लेकिन सचाई यह है कि शुक्रवह स्रोतों को एक ही दिन के लिए यदि रस न मिले तो तात्कालिक क्लैव्य उत्पन्न होता है, इसलिए शुक्रवह स्रोतों को रस के पोषण की निरन्तर आवश्यकता होती रहती है। एक दिन भी उपवास करने अथवा निराहार रहने से समग्र शरीर में संचरित रस का सतत प्रवाह बँध जाता है––परिणामतः ऊपर लिखे अनुसार क्लैव्य आ जाता है। फिर आहार लेने के साथ ही रस का प्रवाह शुरू हो जाता है और क्लैव्य दूर होता है। उपवास कामेच्छा को कम करता है। उपवास का अभ्यास काम वासना को कम करने में जो सहायक बनता है उसका कारण सहज ही समझा जा सकता है।

रसवाही स्रोतों की दुष्टि सिर्फ लंघन से ही मिटती है। इससे अनुमान होता है कि रसवाही स्रोत आमाशय के साथ बँधे हुए हैं और वे मुख में जीभ के साथ, लालास्रावी ग्रंथियों एवं चमड़ी तथा शुक्रवाही स्रोत के साथ भी सम्बन्धित हैं।

अन्नवह स्रोत––स्व० कविराज गणनाथ सेन आदि ने अन्नवह स्रोत का एलीमेन्टरी केनल (Alimentary canal) से मिलता-जुलता अर्थ किया है। आधुनिक अनेक विद्वान वैद्य स्व० सेन महाशय द्वारा किए गए अर्थ को ही मान रहे हैं, किन्तु वह अर्थ ठीक नहीं है। अन्नवह स्रोत का मूल आमाशय तथा वाम पार्श्व को माना गया है––"अन्नवहानां स्रोतसां आमाशयं मूलं वामं च पार्श्वं" ऐसा चरक ने कहा है। यह ध्यान रखना चाहिए कि महास्रोत को भी अन्नवह स्रोत नहीं कहा है, क्योंकि गुदा का भाग, महास्रोत और क्षुद्रांत्रों का पक्वाशय माना हुआ भाग पुरीषवह स्रोत की गिनती में आता है। वदन की गणना भी वाह्य स्रोतों में––छिद्र में की है। मुख, ओष्ठ, तालु और कण्ठ––इन चारों की गिनती उदकवह स्रोत में हो गयी है। कण्ठ, गला, फेरिन्क्स (Pharynx) और उर में रहा हुआ महास्रोत का भाग Oesophagus (इसोफेगस) प्राणवह स्रोत में आ जाता है, क्योंकि प्राण वायु को संचारी कहा है और उसका कार्य "अन्नं प्रवेशयत्यन्तः" अर्थात् अन्न को मुख की ओर से आमाशय की ओर ले जाने का है। इससे अन्नवह स्रोत का अर्थ सिर्फ आमाशय और ग्रहणी का भाग ही माना जाता है। मुख से प्रारंभ कर गुदा तक की Alimentary canal (एलीमेन्टरी केनल) को अन्नवह स्रोत नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वदन और गुदा–– ये दोनों ही बहिःस्रोत माने गये हैं। बृहत् अंत्र और पक्वाशय को पुरीषवह स्रोत में माना है और अन्न नल का भाग प्राणवह स्रोत के अधिकार में आ जाता है। परिणामतः इन सभी भागों को बाद करके केनल का जो भाग बाकी रहता है, वह अन्नवह स्रोत माना जा सकता है। अन्नवह स्रोत की दुष्टि के कारण इस तरह हैं––"अतिमात्रस्य च अकाले अहितस्य च भोजनात् अन्नवाहीनि दुष्यन्ति चित्यानां च अतिचिन्तनात्"। और उसकी दुष्टि के लक्षणों में खास तौर से वमी, अविपाक और अन्न की अनिच्छा

को बताया है। पक्वाशय में पहुँचा हुआ अन्न पककर रस-रूप बनता है और वहां से रसवह स्रोत में पहुँचता है। विष्ठारूप बना हुआ पुरीष गुदा की ओर जाता है, इसलिए अन्नवह स्रोत की दुष्टि आमाशय की दुष्टि ही है, और उसके परिणाम से ज्वर, अतिसार, परिकर्तिका ग्रहणी, आमाजीर्ण, अम्लपित्त आदि होता है। इन सब की चिकित्सा-आम की चिकित्सा जैसी ही करनी होती है। इस दृष्टि से भी विचार करने से अन्नवह स्रोत के स्वरूप का निर्णय सहज और सरल बनता है।

रुधिरवह स्रोत--देह में रस और रुधिर--ये दोनों धातुएँ रसरूप में विद्यमान रहती हैं। शेष पांच धातुओं में मांस, मेद, अस्थि आदि घन रूप में रहती हैं। रुधिर से रस पतला और लघु होता है और इससे वह सारे शरीर में त्वरा से गति कर सकता है और सूक्ष्म होने से शरीर के सूक्ष्म से सूक्ष्म छिद्रों में प्रवेश कर सकता है। रुधिर रस की अपेक्षा गाढा होता है, और गुरु होने से रुधिर की गति मन्द भी होती है--फलतः वह बारीक नाड़ियों और सूक्ष्म छिद्रों में गति नहीं कर सकता, लेकिन वहां रुक जाता है। इसलिए उसको रुधिर (जिसका रोध करने में आए, वह) कहा है। विपक्ष में रस शब्द से ही गति अभिप्रेत है। रस और रुधिर शब्द की व्युत्पत्ति समझने से उसके कार्य समझने का काम आसान बनेगा।

रुधिरवह स्रोतों का मूल यकृत् और प्लीहा तथा रक्तवह धमनियों को भी बतलाया है। मांस में रही हुई रक्तधरा कला में रक्त ज्यादा परिमाण में रहता है। इस स्रोत का मूल यकृत और प्लीहा को इसलिए माना है कि उन दोनों का मुख्य कार्य रस का रंग चढ़ा कर लाल (रक्त) बनाने का है। आयुर्वेदीय सिद्धांतों के अनुसार यकृत व प्लीहा में तेज रहता है और वह तेज रस को पकाता है। इसी प्रकार यकृत में रहा हुआ रंजक पित्त भी रस को पकाता है। अनेक विद्वान रंजक पित्त का अर्थ गॉल ब्लाडर का बाइल (Bile) से लगाते हैं। किन्तु वह अर्थ गलत है। क्योंकि बाइल खुद ही नीले-पीले रंग का होता है। इस कारण उसका रंग लाल नहीं हो सकता, और गॉल ब्लॉडर में सारा रस जाता नहीं है—तीसरी बात यह है कि छोटी आँत में नाड़ी द्वारा बाइल का स्राव होता है। यह स्राव अर्धपाचित अन्न से मिश्रित होने पर भी—रस का रंग पीला न होने पर श्वेत रहता है। इन तीन [illegible] कारणों से बाइल को रंजक पित्त कहना उचित नहीं है। इसलिए आयुर्वेद में लिखा है कि प्लीहा और यकृत में रहा हुआ तेज रस को रंग देता है, और उस तेज को ही रंजक पित्त कहते हैं। परिणामतः रस में से रक्त बनता है, प्लीहा रस को रंग देने का कार्य करने के उपरांत रक्त को गति देने का और रस को पकाने का भी कार्य करती है। आहार के पाचन काल में प्लीहा अपने स्रावों को धमन करके उसको आमाशय में पहुँचाती है--प्लीहा शब्द का ही एक अर्थ है गति करना।

रुधिरवह स्रोत की शाखा रुधिरधरा कला और मांसधरा कला में फैलती है। यह जानने लायक बात है कि आयुर्वेदीय सिद्धांतों के अनुसार यकृत और प्लीहा—इन दोनों की उत्पत्ति शोणित से होती है और इस आधार पर ही ये दोनों रुधिरवह स्रोत के मूल बन सकते हैं।

रक्तवह स्रोतों की दुष्टि के कारण इस प्रकार बताए गए हैं—"विदाहिन्यन्नपानानि स्निग्धोष्णानि द्रवाणि च रक्तवाहीनि दुष्यन्ति भजतां चातपानलौ" यहाँ अति विदाहि अन्न में तीक्ष्णसुरा, सिरका, काँजी, राई, कुलत्थ, लहसुन, सरसों, मत्स्य, शिम्बी धान्यादि आते हैं। इसलिए प्रश्न होता है कि विदाही अन्नपान से प्रथम धातु रूप से रस पैदा होता है तो फिर दुष्टि खुद रस की जब न हुई, तब यकृत और प्लीहा की दुष्टि किस प्रकार हुई।

उपर्युक्त शंका का उत्तर यह है कि रस में जल प्रधान है और कफ उसका मल है, इस कारण उष्ण और विदाही अन्न उसमें विकृति उत्पन्न नहीं कर सकता। परन्तु रक्त तो खुद ही उष्ण है, उसके मूल रूप यकृत और प्लीहा में भी तेज है, और रक्त का मल अर्थात् पित्त भी अति उष्ण और तीक्ष्ण है। इसलिए इन तीनों का संयोग होने से ही रक्त में उष्णता आती है और स्रोतों की दुष्टि होती है। इस दुष्टि के परिणामस्वरूप यकृत में और प्लीहा में किंवा सम्पूर्ण शरीर के रक्त में विविध रोग उत्पन्न होते हैं—इसी प्रकार धूप और हवा ये दोनों भी रक्तवाही स्रोतों की दुष्टि करतें हैं। रक्तवह स्रोतों का मूल समग्र देह की शिराओं में भी है और उन शिराओं में प्रवाहित होने वाले दूषित रक्त का ही नाम स्रोतो रक्तपित्त है। रक्त प्रदर [illegible] इसी तरह समझना चाहिए। दूषित रक्त चूंकि त्वचा के भीतर प्रवाहित होता है, इसलिए वह त्वचा (चमड़ी) को विवर्ण कर देता है और परिणामस्वरूप विविध प्रकार के कुष्ठ, व्यंग, नीलिका, कामला आदि रोग होते हैं। अगर

दूषित रक्त चमड़ी (त्वचा) को भेदकर बाहर निकले तो पामा, दद्रु और चर्मदल उत्पन्न होते हैं। इन सभी रोगों की चिकित्सा प्रधानतः एक ही शिरा का वेध करके दुष्ट रक्त को बाहर निकालना ही है।

मांसवह स्रोत--मांस कोई द्रवधातु नहीं है कि उसका वहन (स्थानान्तर) हो सके। मांस, अस्थि को लपेट कर स्थिर रहता है, इसलिए मांसधर स्रोत का अर्थ मांसधराकला करना चाहिए—क्योंकि मांस के वहन का अर्थ स्थानान्तर नहीं है, किन्तु धारण अवश्य है। मांसवह स्रोत का मूल स्नायु, त्वचा, रक्तवहा धमनियों, अस्थियों एवं संधियों पर रही हुई कण्डराएँ (tendons) हैं। इनकी दुष्टि के कारण इस प्रकार हैं--"अभिष्यन्दीनि भोज्यानि. . . .।" अति अभिष्यन्दी आहार मांस के (मांसवह स्रोतों में) बारीक छिद्रों में बँध जाता है। इसी तरह गुरु और स्थूल अन्न-पानादि से आहार में जो रस व रक्त बनता है, वह भी अधिक स्थूल और अधिक गुरु गुण वाले होते हैं। रस और रक्त दोनों द्रवधातु होने से स्थूलांश और गुरु अंश उसके वहन में अधिकतर बाधा नहीं कर सकते। लेकिन आहार के स्थूल व गुरु अंश जब मांस में पहुँचते हैं, तब मांस स्थिर होने से गुरु और स्थूल गुण वाला रस और भी स्तंभित हो जाता है और उसकी गति आगे नहीं हो सकती। परिणामतः मांस के सूक्ष्म छिद्र बन्द हो जाते हैं। नित्य बनते हुए मांस के मलों, छिद्रों के बन्द होने से बाहर नहीं निकल सकने के कारण सड़ाँद पैदा हो जाती है—इस सड़ाँद को पूतिमांस कहा जाता है। मांस का अतिसंचय होने से गलशालूक, शुण्डिका, अलजी, गण्डमाला, गलगण्ड, उपजिह्विका आदि मांस के रोग होते हैं--और विकृति बढ़ जाने पर मांस का अर्बुद होता है। गुदा में होनेवाला अर्श भी प्रायः मांसवह स्रोत की दुष्टि के परिणामस्वरूप होता है। इन रोगों की चिकित्सा क्षार से या अग्नि से दहन की अथवा शस्त्र से छेदन-भेदन की है। इस तरह मांसवह स्रोतों में मांस और उसके अन्दर तथा ऊपर रही हुई छोटी-बड़ी कलाएँ दृष्टि-गोचर होती हैं।

मेदोवह स्रोत--मेदधातु द्रव नहीं है, सान्द्र है। मेद [illegible] है—मानो मांस का सान्द्ररूप बना हुआ स्नेह है—इसलिए मेदवाही स्रोतों का मूल मांस को माना है। मेद चमड़ी के नीचे समग्र शरीर में है। इसलिए मेदोवह स्रोत शरीर में सभी स्थान पर है। इसके अलावा वपावहन, वृक्क आदि अवयवों में मेद ज्यादा परिमाण में है। इसलिए, वृक्क को भी मेदोवह स्रोत के मूल में गिना है। मेद-मांस से पैदा होता है। शरीर की सब धातुओं में धात्वग्नि रहती है और उसके परिणामस्वरूप सब धातुओं में पूरे परिमाण में ऊष्मा विद्यमान रहती है। त्वचा की गर्मी को बाहर से मापने पर थर्मामीटर में ९०·४ आता है, इसलिए नाड़ियों में फिरता हुआ रक्त का उष्ण तापमान १००° के लगभग होने की संभावना रहती है। इस अनुमान से मांस तथा मेद का ९९·५ होना चाहिए। मांस की इस उष्णतामान के फलस्वरूप जैसे गरम किया हुआ दूध पड़े रहने से उसमें का स्नेह (घी) ऊपर आ जाता है और दूध के ठंडा होने पर वह जम जाता है, उसी तरह मांस की ऊष्मा से पककर बाहर आए हुए मेद और वसा जम जाते हैं। इस तरह विचारने से वृक्क भी मांस-पिण्ड ही है। उसकी उत्पत्ति मांस से ही है। वास्तव में वृक्क का मांस इतर मांस से अति स्वादिष्ट होता है और उसमें चर्बी तथा माधुर्य विशेष परिमाण में रहता है। वृक्क की गर्मी से इसका मेद बाहर स्रवता है। मेदस्वी शरीर वाले लोगों में वृक्क के आसपास मेद का जमाव अधिक होता है, इसलिए वृक्क को मेदोवह स्रोत का मूल गिनाया है—यह यथार्थ ही है। वृक्क, रक्त से मांस और मांस से मेद बनाता है।

मेदोवह स्रोत का दूसरा मूल वपावहन को भी माना है। वपा अर्थात् आंत्र का बाह्यपट। समग्र शरीर में, आंत्र में ज्यादा-से-ज्यादा रक्त रह सकता है। पाचन-क्रिया के दरम्यान आंत्र में और उसकी दीवारों में ज्यादा रक्त आता है, जिससे वहाँ गर्मी बढ़ती है। गर्मी बढ़ने से आहार में रहा हुआ स्निग्ध पदार्थ और चरबी वाले पदार्थ पिघलते हैं और स्थूल के पार्श्ववर्त्ती आंत्र के ऊपर की तह में जमा होते हैं—इन सब को **वपावहन** कहते हैं।

संस्कृत भाषा में वसा, वपा और मेद—ये तीनों शब्द एकार्थवाची हैं, इसलिए जिन-जिन भागों में वपा यानी मेद जमकर रहता है, उसको वपावहन कहा जाता है। वपा शब्द का दूसरा अर्थ खाली भाग भी होता है। इसलिए, जिन खाली भागों में वपा-मेद जमा होता है, उसको वपावहन कहा जाता है। इसी तरह वपावहन और वृक्क मेदःस्रोत के मूल माने जाते हैं। यह सार्थक है और उन मूलों की शाखा-प्रशाखाएँ, जहाँ-जहाँ मेद होता है और जहाँ-जहाँ

मेद रह सके, (जैसे सुषिर Aeriolar tissue) वहाँ-वहाँ फैली हुई है--ऐसा समझना चाहिए।

मेदोवह स्रोत की दुष्टि के लक्षण में प्रमेह के पूर्व रूपों और मेदोविकार से होने वाले रोग हैं। केश, त्वचा आदि विकृत हो जाते हैं।

अस्थिवह स्रोत

मांस और मेद सान्द्र धातुएँ हैं और अस्थि कठिन धातु है और वह नियत स्वरूपवाली है। अस्थि को पोषण मिलना जरूरी है, अस्थि में रही हुई उसकी अग्नि प्रतिक्षण उसके पुराने परमाणुओं अर्थात् सेल (Cell) का अविरल तरीके से नाश करती रहती है और वही अग्निमेद के परमाणुओं में से नयी अस्थि का सर्जन और अस्थि के मल को बाहर निकालने की क्रिया के रूप में विसर्जन--इन दोनों को ही चालू रखने के लिए अस्थि को पोषण देने वाला और मलों को बाहर ले जाने वाला स्रोत अस्थि में स्थूल रूप में और समग्र शरीर में सूक्ष्म रूप में होता है।

अस्थिवह स्रोत का मूल उसको पोषण देने वाली पूर्व धातु मेद में और जधन में है। स्रोत के मूल का अर्थ भी जितना अस्थिवह स्रोतों में स्पष्ट होता है, उतना अन्य स्रोतों में नहीं होता। रसवह, रक्तवह, और मांसवह स्रोत के मूल कम अंश में भी दृश्य हैं। मेद तो मांस से ही उत्पन्न होता है और मांस को लपेट कर रहता है--इस कारण उसका मूल मांस में है, ऐसी धारणा हो सकती है--किन्तु अस्थि और मेद में कोई सम्बन्ध नहीं दीखता। इसके अतिरिक्त दोनों एक दूसरे से विसदृश (अर्थात् काठिन्य, आकृति, गुण आदि में विपरीत) दीखते हैं। इसलिए मेद में अस्थि का मूल कहा है, यदि यह कथन अप्रीतिकर, अर्थात् श्रद्धाजनक नहीं लगे, तो यह कोई अस्वाभाविक बात नहीं है।

मेद कुछ अपवाद के साथ समग्र शरीर में व्याप्त है। मेद उदर की त्वचा के नीचे आंत्रों का आवरण करती हुई कलाओं में, स्तन और जांघों में अधिक परिमाण में पाया जाता है। यों, मेद शरीर के सर्वाङ्ग में पाया जाता है। जघन यानी मोटा भाग, सब विभागों में अस्थिवह स्रोत से सम्बन्धित कोई नाड़ी या अवकाश नहीं है, इसलिए मूल शब्द यहाँ क्रियावाची है--अवयववाची या अंगवाची नहीं है। मेद अस्थि का पोषण करनेवाला होने से, मूल [illegible] करने का कार्य करता है, इसलिए मेद अस्थिवह स्रोतों का मूलरूप है, ऐसा रूपक दिया है।

फिर द्रवधातुओं के स्रोतों का विचार करने पर ऐसी मान्यता होती है कि जिसमें द्रव बहता हो वही स्रोत है—जैसे रक्तवह स्रोत। यह द्रव देह में संचार करता है, ऐसा देखा जा सकता है, इसलिए उन स्रोतों की बात सहज में समझ में आती है, लेकिन अस्थिवह स्रोत की कल्पना को पचाना कठिन है; शरीर में अस्थि का वहन नहीं होता जैसे कि रस का या रक्त का होता है। और अस्थि तो स्वयं ही दृश्य है, इसलिए यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अस्थिवह स्रोत अस्थि ही है या वह स्रोत अस्थि से भिन्न है। डॉक्टर घाणेकर ने पेरीओस्टीयम (Periosteum) को अस्थिवह स्रोत माना है, लेकिन यह अर्थ अपूर्ण और एकाङ्गी है। इस अर्थ के पीछे डॉक्टर घाणेकर जी की संभावित मान्यता यह है कि स्रोत दृश्य होना ही चाहिए। परिणाम से स्रोत का मुख्य अर्थ याद नहीं रहता। अस्थिवह स्रोत को समझने में स्रोत का मूल-स्वरूप समझा जा सके, ऐसा है और स्रोत कला से किस तरह भिन्न है, यह भी यहाँ समझा जा सकेगा।

स्रोत और कलाएँ

शास्त्रकारों ने सात कलाएँ मानी हैं और तेरह स्रोत माना है। स्रोतों और कलाओं के स्वरूप और कर्मों में इतना बड़ा साम्य है कि दोनों के बीच का भेद स्पष्ट रूप से समझ लेना चाहिए।

कलाओं में रसधराकला नहीं है, लेकिन स्रोतों में रसवह स्रोत है। कलाओं का कार्य एक धातु को दूसरी धातु से अलग रखने का है जबकि स्रोतों का कार्य स्राव करने का, धातु को वहन करने का और धातुओं को धारण करने का है। जैसे रक्तधरा, मांसधरा, मेदोधरा और शुक्रधरा कलाएँ हैं, वैसे ही स्रोतें भी चार हैं। कलाओं में अस्थिधरा मज्जाधरा या स्वेद-मूत्र-पुरीषधरा कलाएँ किसी ग्रंथकार ने लिखी नहीं है। लेकिन मज्जावह, अस्थिवह और स्वेद मूत्र-पुरीषवह स्रोते हैं। कलाओं की दुष्टि, लक्षण, कारण और उसकी चिकित्सा लिखने का प्रसंग ही उपस्थित नहीं होता।

स्रोत दूषित होते हैं और उसके अनुसंधान में होनेवाले रोगों के कारण, लक्षण और उसकी चिकित्सा, शास्त्र में लिखी है। इतना विवेचन से स्पष्ट होगा कि कलाओं की

झिल्लियाँ भिन्न-भिन्न होती हैं; और स्रोत की कलाओं के बीच का अवकाश एक Enclosed space है। इन अवकाशों में मेद, मांस, रस, अस्थि आदि रहते हैं।

अस्थिवह स्रोतों के द्वारा अस्थि को पोषण मिलता है। अस्थि को बाहर से पोषण देनेवाली कला Periosteum पेरीओस्टियम और अस्थि के अंतस्थ परमाणु तक पहुँचनेवाली सूक्ष्मकला को अस्थिवह स्रोत माना जा सकता है। अस्थिवह स्रोत अस्थियों को पोषण देता है। लीम्फ (Lymph) को आयुर्वेदोक्त रस धातु की एक जाति माना गया है, क्योंकि यह रस के गुण को धारण करता है। अर्वाचीन शारीर-शास्त्र में मज्जा को लिम्फेटिक सिस्टम (Lymphatic system) के अंतर्गत मानते हैं। यह लिम्फ मज्जा और अस्थि दोनों का पोषण करता है। इस तरह से देखने से अस्थि में जो अवकाश पाए जाते हैं; जिनको अंग्रेजी भाषा में Harusion canal canaliculli आदि कहते हैं, वे सभी अस्थिवह हैं। ये स्रोत विभाजित होते-होते अति सूक्ष्म बन जाते हैं और उन स्रोतों में अस्थि का पोषक रस-रक्त लीम्फ (Lymph) बहता है। आयुर्वेद का मत है कि रस सब धातुओं का पोषण करता है। ऊपर के वाक्य में सिर्फ अर्वाचीन दृष्टि से समझने के लिए ही रक्त-लीम्फ इस शब्द का उपयोग किया है। वास्तव में रक्त धातुपोषक नहीं है, किन्तु रस धातु पोषक है और उसकी चर्चा पृथक् की गयी है।

'वह' धातु का प्रयोग वहन करना और धारण करना—इन दोनों अर्थों में होता है। इसलिए अस्थि में किसी भी भाव का अर्थात् वायु, पित्त या कफ का अथवा अस्थि का, मलों का, अथवा संज्ञा वा वेदना का वहन जिससे हो, वह सब अस्थिवह स्रोत कहा जायगा।

केवल अस्थि में ही ऐसे अवकाश, स्रोत जब अस्थि शुष्क हो जाते हैं, तब दृश्य बनते हैं। अन्य धातुओं में, स्रोतों के अवकाश दृश्य नहीं बनते, अस्थि की बाह्य कला यानी पेरीओस्टीयम के उतने ही अंशों को, जितने भागों में संज्ञा, वेदना, वायु-पित्त-कफ-रस-रक्त आदि का वहन होता है, उतने ही अंशों में सिर्फ स्रोत कहा जायेगा। Periostenum के बाकी कठिन भागों को अस्थिधातु कहा जाता है। प्रत्येक मांसपेशी को, प्रत्येक मांस तन्तु का अपना स्वतंत्र आवरण (Oeptum) होता है—इस आवरण को कला कहा जाता है। इस दृष्टि से विचार करने पर पांच-सात मांस-तंतुओं का आवरण करती हुई Membrane भी कला ही है। कलाओं के बीच का अवकाश यह स्रोत है—और इन स्रोतों में ही रक्त समान गतिमान या मेद-मांस और अस्थि के समान स्थिर धातुएँ रहती हैं और बहती हैं। देहस्थ अस्थियों में कलाएँ दृश्य नहीं होतीं किन्तु जहाँ तक स्रोतों का सम्बन्ध है, वे दृश्य होते हैं—और इन स्रोतों का अवकाशत्व, मार्गत्व, अयनत्व अच्छी तरह से समझा जा सकता है।

—क्रमशः

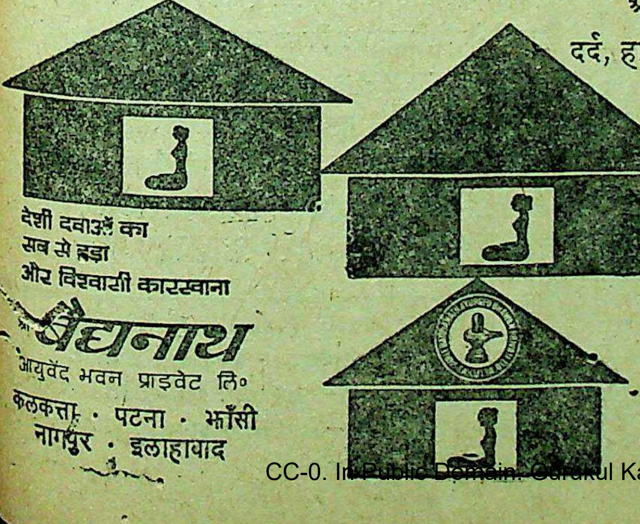

घर-घर में आवश्यक

आज घर-घर में स्त्रियाँ रक्तहीन, दुर्बल और निस्तेज दिखाई पड़ती हैं। पेड़ू-पेट के दर्द, हाथ-तलुवों की जलन आदि कष्टों से वे दुःखी रहती हैं – चुपचाप झेलती हैं, पर मुँह से कुछ नहीं कहतीं।

स्त्रियों के स्वास्थ्य और सौन्दर्य की रक्षा के लिए हमेशा व्यवहार करायें—

बैद्यनाथ
अशोकारिष्ट

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और विश्वासी कारखाना
बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी
नागपुर · इलाहाबाद

अस्थि-सन्धान[1]

डा० अनन्तराम शर्मा, शास्त्री, आयुर्वेदाचार्य

ओष्ठस्याप्येष संधाने यथोद्दिष्टो विधिः स्मृतः।
बुद्ध्योत्प्रेक्ष्याभियुक्तेन तथा चास्थिषु जानता।।
सु० सू० १८-४१

वैद्येन बुद्ध्या अभ्यूह्य **अस्थिस्वपि संधानाय** यथोद्दिष्टो विधिः कर्तव्य इति—डल्हणः।

इस श्लोक में यह बताया गया है कि नासा-संधान; ओष्ठ-संधान आदि की तरह अस्थि-संधान भी आवश्यकतानुसार किया जाता है। नासा-संधान की जो अन्तर राष्ट्रीय ख्याति प्राप्त सौश्रुतीय विधि है, उसी विधि के अनुसार ओष्ठ और अस्थि का भी संधान किया जाता है। अन्तर केवल इतना है कि अस्थि-संधान में अस्थि का विविध रूपों में प्रयोग होता है और नासादि में त्वक् का (सामान्यं वृद्धिकारणम्—चरक)।

अस्थि-संधान एक प्रकार का शल्य कर्म है, जो बहुत-से भग्नों की अरोहणावस्था[2] में, विशेषकर जहाँ अस्थितन्तुओं का अत्यधिक नाश हो चुका हो, किया जाता है। जब कभी अस्थि का कोई बड़ा भाग पृथक् कर दिया गया हो, जैसे—अर्बुद, कोष्ठार्बुद[3] आदि के कारण, तो भी रोहण के उद्देश्य से इस कर्म की आवश्यकता होती है। संधियों के स्थिरीकरण के लिये भी इसका प्रयोग किया जाता है।

अस्थि-संधान तीन प्रकार का होता है

(क) **आत्मजन्य**[4]—इसमें रोगी की ही अस्थि को प्रयोग में लाया जाता है।

(ख) **जातिजन्य**[5]—इसमें किसी भी मनुष्य की अस्थि का प्रयोग किया जा सकता है।

(ग) **जन्तुजन्य**[6]—इसमें किसी भी प्राणि की अस्थि का प्रयोग किया जा सकता है। इसमें अस्थिखण्ड को विसंक्रमणार्थ उबालना अनिवार्य है।

यह देखा गया है कि जीवित अस्थि का आत्मजन्य अस्थि-संधान मृत अस्थि की अपेक्षा अधिक उपयोगी होती है। यह कहना कठिन है कि **जीवित संधेय पदार्थ**[1] रोगी के तन्तुओं में उपस्थित तरल में कितने समय तक जीवित रहता है। प्रायः इसका अधिकांश रोगी के **कोषाणुओं**[2] द्वारा लीन कर लिया जाता है। यदि यह सत्य है तो **आवरणीय संधेय**[3] पदार्थ का अधिकांश भाग केवल "आकार-मात्र" (Frame) बना पाता है जिसके ऊपर रोगी के कोषाणु निर्माण करते हैं।

जालक-अस्थि[4] द्वारा किया गया संधान अधिक समय तक जीवित रहता है। यह **अस्थि**[5] **गुहाओं** को भरने और भग्न के चारों ओर लगाने के लिये उपयोगी होता है। जब कठोर स्थिरता की आवश्यकता होती है तो **आवरणीय**[6] **अस्थि** का प्रयोग करना चाहिये। कभी-कभी सफल प्रतीत होनेवाले शल्य कर्म के बाद भी सम्पूर्ण संधेय पदार्थ का शोषण हो जाने से भग्न का रोहण नहीं हो पाता। अस्थि-संधान में सफलता और असफलता किस बात पर निर्भर करती है, यह पूर्णतया ज्ञात नहीं है।

अस्थि-संधान की कई प्रकार की विधियाँ प्रचलित हैं और प्रचलित होती रहती हैं तथा शल्यकों[7] की भी अपनी-अपनी विशेष विधियाँ होती हैं। इनमें से कुछ प्रमुख विधियों का वर्णन इस प्रकार है:—

(क) जीवित अस्थि के छोटे-छोटे खण्डों को दृढ़ता से अन्तः प्रवेश के लिये अथवा इसके चूर्ण को अस्थि गुहा में भरने के लिये प्रयुक्त किया जाता है। ये खण्ड पुरोर्ध्व-कूट[9] (जालकास्थि–Cancellous bone)या जंघास्थि के उप-अस्थ्यावरणीय[10] पृष्ठ (आवरणीय अस्थि–Cortical bone) से आसानी से लिये जा सकते हैं। सम्पूर्ण गुहा को दृढ़ता से भर देना संभवतः सर्वोत्तम विधि है; गुहा में स्रवित होनेवाले रुधिर-वारि[11] से संधेय[12] अस्थि जीवित

१–BONE-GRAFTING. २–Non-union. ३–Cyst. ४–Autogenous. ५–Homogeneous. ६–Heterogeneous,

१–Living graft. २–Cells. ३–Cortical ४–Cancellous bone. ५–Bone cavit. ६–Cortical bone. ७–Surgeon. ८–Bone cavity. ९–Iliac crest. १०–Sub periosteal surface. ११–Blood plasma. १२–Graft.

रहती है और अन्त में यह सम्पूर्ण संघात वाहिनीयुक्त[१] हो कर एकरूप हो जाता है। अरोहित[२] भग्न की चिकित्सा में अस्थि-प्रान्तों को इस प्रकार काट दिया जाता है जिससे स्वस्थ अस्थितन्तु उपलब्ध हो सकें। तदनन्तर भग्न को प्लेट से स्थिर कर बीच के रिक्त भाग को अस्थिकणों[३] से दृढ़तापूर्वक भर देते हैं। किन्तु, अन्य विधियों का प्रयुक्त करना संभव हो तो यह विधि प्रशंसनीय नहीं मानी जाती।

(ख) किन्हीं अवस्थाओं में अस्थि की पतलीपर्त[४] की आवश्यकता होती है; जैसे—शिरःसंधान[५] या अधोहन्वस्थि के भग्नों की अरोहरणावस्था में। जंघास्थि के सामने से, पुरोर्ध्वकूट (जघन कपाल के) से अथवा किसी अस्थि के बाह्य भाग से लिया गया उपयुक्त आकार का आवरणयुक्त[६] स्तर प्रयोज्य स्थल पर लगा दिया जाता है। हनु के कुछ भागों में ऊपर बताए गये तरीके से लिये गये अस्थिस्तर को सिगरेट की तरह लपेट कर अस्थिप्रान्तों के मध्य में दृढ़ता से प्रविष्ट कर देते हैं।

(ग) अन्य अवस्थाओं में अधिक संधेय अस्थि की आवश्यकता होती है। एतदर्थ पादांगुलीमूल शलाका[७] या अनुजंघास्थि[८] के पूर्ण भाग को प्रयोग में लाना होता है। ये अधिक लाभकर होने पर भी सभी रोगियों में उपयुक्त नहीं होते। अधोहन्वस्थि के पुनर्निर्माण के लिये पर्शुकाओं का प्रयोग भी किया जाता है।

एल्बी (albee) के द्वि-गोल-करपत्र[९] के आविष्कार से अस्थिखण्ड पृथक् करने में आसानी हो गई है। इससे इच्छानुसार शीघ्रता से विशेषकर जंघास्थि के सामने से अस्थि के अंश लिये जा सकते हैं।

शल्यकों के इस सम्बन्ध में कई तरह के विचार हैं कि संधान के लिये प्रयुक्त अस्थिखण्ड अस्थ्यावरणयुक्त और गहरा होना चाहिये या नहीं। किन्तु, यह निश्चित है कि संधेयखण्ड का जीवित रहना इस बात पर निर्भर करता है कि इसमें कितनी शीघ्रता से रक्तसंचार स्थापित होता है, इसके अभाव में यह मृत हो जाता है और या तो इसका आचूषण हो जाता है अथवा यह शरीर से पृथक् हो जाता है।

एतदर्थ **वाहिनियों की निरन्तरता**[१] स्थापित करने के लिये, जहाँ तक हो सके, संधेयखण्ड का बहिर्भाग अस्थ्यावरण से युक्त और अधोभाग **वाहिनीयुक्त मज्जा गुहा के तन्तुओं**[२] सहित होना चाहिये। साधारणतः संधेयखण्ड जितना छोटा होता है उतने उसके कोषाणु[३] कम नष्ट होते हैं।

अस्थि-संधान में निम्न बातें उपयोगी होती हैं

(क) पूर्णविसंक्रमण[४]—सव्रण भग्नों में व्रणरोहण होने के बाद ही अस्थि-संधान करना चाहिये।

(ख) रक्तावरोधता[५]—पार्श्वस्थ तन्तुओं से संयुक्त होने के लिये यह आवश्यक है कि संधेय खण्ड में वाहिनी-संचार[६] उपस्थित हो। एतदर्थ रक्तावरोधता आवश्यक है। रक्तार्बुद[७] की उपस्थिति में संधेयखण्ड की सजीवता[८] नष्ट हो जाती है।

(ग) प्रभावशाली स्थिरता[९] भी नितान्त आवश्यक है, किन्तु इसके लिये कील, पेंच या आयससूत्र[१०] का प्रयोग जहाँ तक हो सके नहीं करना चाहिये। इनके प्रयोग से संधेयखण्ड की सक्रियता में बाधा उत्पन्न होती है। अत्यजन्य अस्थिकीलक[११] बहुत उपयोगी होते हैं।

(घ) पूर्णविश्राम भी उपयुक्त रोहण के लिये आवश्यक होता है। अधिक गतिशीलता के कारण परस्पर रोहित भाग पृथक् हो जाते हैं।

(ङ) अंग चालन—रोहण होने के शीघ्र बाद ही अंग में गतियाँ आरम्भ कर देने से क्षतिग्रस्त भाग को उत्तेजना मिलती है और इस प्रकार इसमें दृढ़ता आती है।

कई प्रकार के शल्य कर्मों में से जो अस्थिसंधान के लिये प्रयुक्त होते हैं, कुछ एक का वर्णन निम्न है। ये लम्बी अस्थियों में अधिक प्रयुक्त होते हैं:—

(१) **शलाका स्थापन**[१२]—यह विधि उन भग्नों में सर्वाधिक उपयोगी होती है जिनमें भग्न भागों को परस्पर स्थिर रखना कठिन होता है। किसी-किसी अरोहित भग्न में भी यह लाभकर होता है। इस विधि में दोनों भग्न भागों में से एक शलाकाकार किन्तु कम चौड़ा अस्थि-भाग इस प्रकार पृथक् किया जाता है कि एक भग्न भाग से अलग किए

१–Vascularized. २–Un. United F. ३–Bone chips. ४–Lamella. ५–Cranio-plasty. ६–Periosteum. ७–Metatarsal bone. ८–Fibula. ९–Double circular saw.

१–Vascular continuiy. २–Vascular medulary tissue. ३–Cells. ४–Absolute asepsis. ५–Haemostasis. ६–Vascular supply. ७–Haematoma, ८–Vitality. ९–Effective fixation. १०–Steal wire. ११–Autogenous bone nails. १२–Seiding inlay.

जानेवालें अंश दूसरे भग्न भाग से अलग किये जानेवाले अंश से ठीक दुगुना होता है। ये अंश मज्जा तन्तुओं तक गहरे होने चाहिये। तदनन्तर लम्बे अंश को छोटे अंश के और छोटे अंश को लम्बे अंश के स्थान पर स्थिर करने से लम्बे अंश द्वारा भग्न भाग परस्पर जुड़ जाते हैं तथा छोटा अंश रिक्त स्थान की पूर्ति के लिये होता है। स्थिर करने के लिये कील, मेच या आयससूत्र की आवश्यकता नहीं होती। इन अंशों को पृथक् करते समय अस्थ्यावरण को पीछे हटा दिया जाता है और अंशों की स्थापना के बाद उसे पुनः यथा-स्थान ले आते हैं।

(२) पार्श्वोपरिस्थापन[1]—अस्थि की क्षति-पूर्ति के लिये इस विधि का बहुत उपयोग होता है। जंघास्थि के निकाले गये अंश को नग्न किये गये भग्न-प्रान्तों पर लगा देते हैं और स्थिरीकरण के लिये आयससूत्र, अस्थिकीलक या पेचों का प्रयोग होता है। अस्थि-क्षति न होने पर भी यदि अरोहण हो तो भी यह विधि अपनाई जाती है।

(३) मज्जागुहीयशंकु[2]—इसके प्रयोग से पर्याप्त स्थिरता आती है, किन्तु यह विधि अधिक उपयोगी नहीं है। दबाव आदि से इसके पुनर्भग्न होने का भय भी रहता है।

प्राध्यापक—ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज
हरद्वार।

---

[1] Laterl onlay graft [2] Intramedullary peg

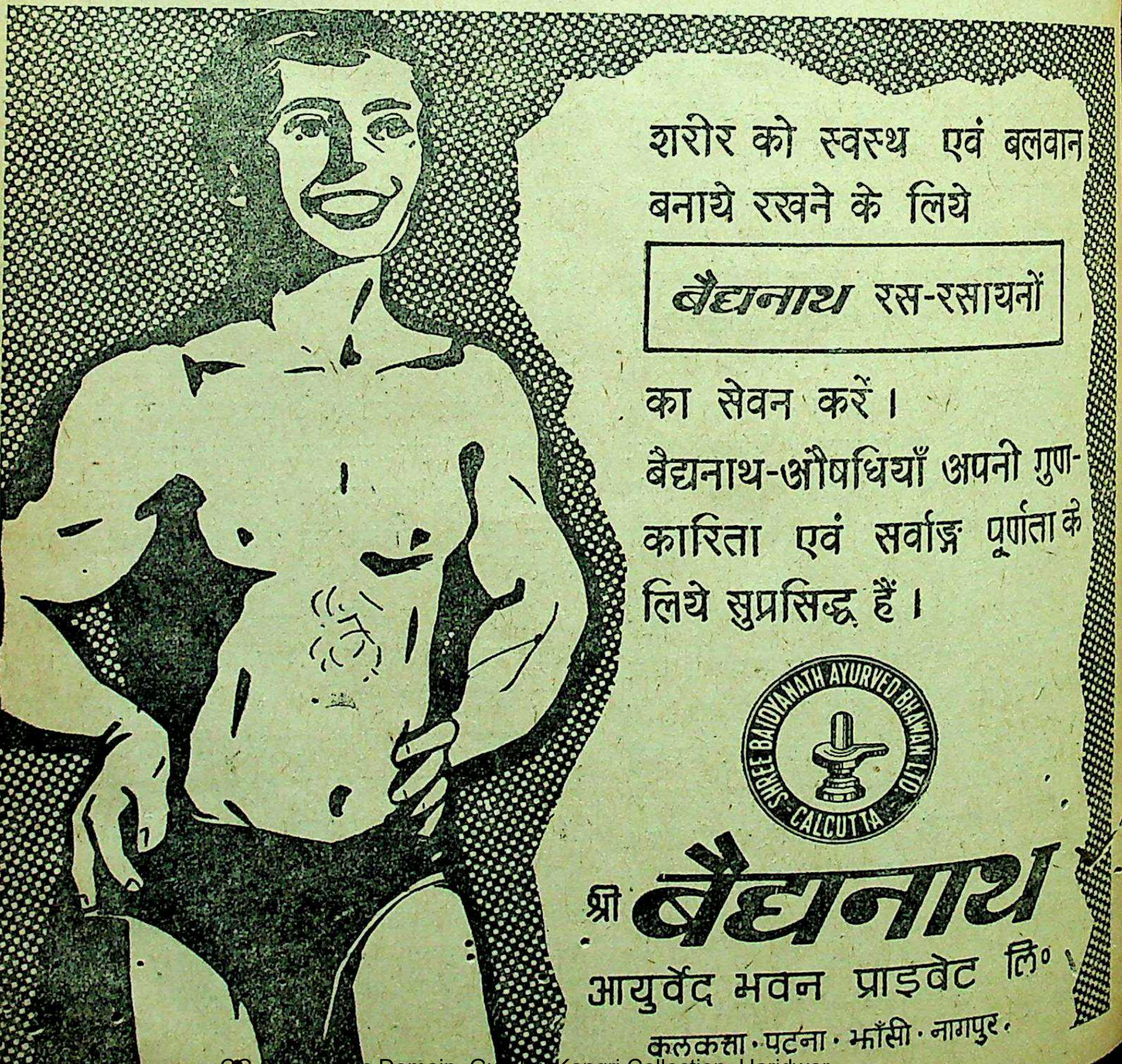

शरीर को स्वस्थ एवं बलवान बनाये रखने के लिये

बैद्यनाथ रस-रसायनों

का सेवन करें।

बैद्यनाथ-औषधियाँ अपनी गुण-कारिता एवं सर्वाङ्ग पूर्णता के लिये सुप्रसिद्ध हैं।

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN LTD. CALCUTTA

श्री बैद्यनाथ
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर ·

पिडका तथा स्फोट-विचार

वैद्य श्री रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी, बी० ए०, आयुर्वेदाचार्य

१—आयुर्वेद के विविध ग्रन्थों में पिडकाओं तथा स्फोटों का उल्लेख पाया जाता है। कितने ऐसे रोग हैं जिनमें पिडकाओं या स्फोटों की उपस्थिति देखी जाती है। ये पिडिकायें अथवा स्फोट विविध रंग-रूप के–शरीर में सर्वत्र अथवा किसी एक भाग में विशेष करके पाए जाते हैं। पिडकाओं में कुछ कण्डूयुक्त, कुछ स्रावयुक्त और कुछ वेदनायुक्त होती हैं। कहना नहीं होगा कि पिडकाओं या स्फोटों का गहरा अध्ययन करने से रोग का निदान सम्यक्तया किया जा सकता है। व्याधि में किस दोष का प्राधान्य है उसका भी पता चल जाता है एवं इन सबके आधार पर चिकित्सार्थ योग्य पथ-प्रदर्शन भी हो जाता है जो वैद्यमात्र को अभीष्ट होता है।

पिडकाओं के विविध रूप

२—अनेक प्रकार की पिडकाएँ प्रायः रोगियों में देखने में आती हैं। इनमें से कुछ के सम्बन्ध में विचार नीचे किया जा रहा है।

(१) **अभ्यन्तरमुखी पिडका**—यह उत्सङ्गिनी नामक नेत्र रोग में मिलती है। इसका मुख ऊपर की ओर होता है। इस नाम से विपरीत बहिर्मुखी पिडकाएँ बहुधा पाई जाती हैं।

(२) **अलजीतुल्या पिडका**—आयुर्वेद ने प्रमेह पिडका सम्बन्धी वर्णन करते समय अलजी का वर्णन किया है। उसके समान स्वरूप वाली पिडका यह होती है जो एक प्रकार के मूत्रदोष में मिलती है।

(३) **अल्पसंरम्भा पिडका**—अनुशयी[1] नामक क्षुद्र रोग में अल्पशोथ वाली पिडका अल्पसंरम्भा कही जाती है।

(४) **अल्पाचिता पिडका**—यह पुत्रिणी नामक प्रमेह पिडका में पायी जाती है। इसमें पिडका अल्पपुष्ट होती है।

(५) **अवक्त्रा पिडका**—यह अन्त्रालजी या अन्धालजी नामक क्षुद्र रोग में होती है। इसका मुख स्पष्टतया परिलक्षित नहीं होता है।

(६) **अश्रुसमाकुला पिडका**—यह अलजी नामक नेत्र रोग में पिडका के साथ अश्रुस्रावाधिक्य को प्रकट करती है। यह **अंकुरोपमा**, ताम्रा, सदाह, सचोष, उष्ण और पीतक वर्णवाली विदेह ने बतलाई है।

(७) **विविधाकार पिडका**—लूतादंश के कारण अनेक आकार वाली पिडकाएँ देखी जाती हैं।

(८) **उन्नता पिडका**—कुछ पिडकाएँ उठी हुई होती हैं। अन्त्रालजी नामक क्षुद्र रोग की पिडका में यह विशेषतया देखी जाती है। मज्जोत्थ मसूरिका की पिडका अधिक उन्नत नहीं होती। उसे—

(९) **किञ्चिदुन्नता पिडका**—कह सकते हैं। मेदोज मसूरिका जन्य पिडका भी इसी वर्ग में आती है।

(१०) **अन्तोन्नता निम्नमध्या पिडका**—शराविका नामक प्रमेह पिडका का यह स्वरूप देखा जाता है।

(११) **सोत्संग पिडका**—उन्नता पिडका का ही पर्याय है और उत्संगिनी नामक नेत्ररोग का लक्षण है।

(१२) **सोपद्रवा पिडका**—किसी भी उपद्रव के साथ उपस्थित प्रमेह पिडका की यह संज्ञा है।

(१३) **एका कक्षासदृशी पिडका**—यह गण्डमाला में मिलती है।

(१४) **एर्वारुबीजप्रतिमा पिडका**[1]—यह ककड़ी के बीजों के तुल्य छोटी-छोटी पिडकाएँ अर्शोवर्त्म नामक नेत्ररोग में देखी जाती हैं।

(१५) **कठिना पिडका**—कई रोगों में देखी जाती हैं। जैसे यवप्रख्या नामक क्षुद्र रोग में, अष्ठीलिका नामक शूकदोष में, अर्शोवर्त्म नामक नेत्ररोग में तथा मांसस्था मसूरिका में कठिना पिडकाएँ देखी जाती हैं।

---

[1] गम्भीरामल्पसंरम्भां सवर्णा मुपरिस्थिताम्।
पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तः प्रपाकिनीं ॥ सुश्रुत

[1] एर्वारुबीजप्रतिमाः पिडका मन्दवेदनाः।
श्लक्ष्णाः खराश्च वर्त्मस्थास्तदर्शोवर्त्म कीर्त्यते ॥
—सु० उत्तरतन्त्र

(१६) कूर्मोन्नत अथवा कूर्मसंस्थान पिडका—कछुए की पीठ की तरह कड़ी, खुरदरी रेखाङ्कित पिडकाएँ कच्छप नामक तालु रोग में तथा कच्छपिका नाम्नी प्रमेह-पिडका एवं क्षुद्र रोग में पायी जाती है।

१७) कोलोपमा पिडका—बेर के बराबर बड़ी पिडकाएँ श्लैष्मिक तालुपुप्पुट रोग में देखी जाती हैं। कभी-कभी मसूरिका भी कोलोपमा होती है।

मसूरमुद्गमाषाणां तुल्याः कोलोपमा अपि।
मसूरिकास्तु ताः ज्ञेयाः पित्तरक्ताधिका बुधैः॥
—मधुकोश–५४

(१८) क्षुद्रा पिडका—कई रोगों में मिलती हैं। मज्जोत्था मसूरिका, आन्त्रिक ज्वर और रोमान्तिका इसके उदाहरण हैं।

(१९) खरा पिडका—हाथ से सहलाने पर खर या खुरदरी पिडकाएँ अर्शोवर्त्म में मिलती हैं। वर्त्मशर्करा, शुष्कार्श इन नेत्ररोगों में भी पिडकाओं में खरता देखी जाती है।

(२०) खर्जूरफलवर्ण पिडका—यह रक्तज ओष्ठ रोग में मिलती है।

(२१) गम्भीरा पिडका—ऐसी पिडका जिसका मूल दूर तक गया हो। यह अनुशयी नामक क्षुद्र रोग में मिलती है।

(२२) गात्रसमाः पिडका—मज्जोत्था मसूरिका में पिडकाएँ शरीर के वर्ण की मिलती हैं।

(२३) गुर्वी पिडका—पोथकी नामक नेत्ररोग में गुर्वी पिड़काएँ मिल सकती है।

(२४) गोस्तनाकृति पिडका—इस अलजी नामक पिड़का के बारे में नेत्ररोग में विदेहराज ने बतलाया है:—

शुक्लकृष्णान्तसन्धौ तु जनयेद्गोस्तनाकृतिम्।
पिडकामलजीं तां तु विद्धि तोदाश्रुसंकुलाम्॥

सन्निपातज शम्बूकावर्त सन्निपात में भी गोस्तनाकृतिक पिडका मिलती है—

बहुवर्ण रुजा स्रावा पिडका **गोस्तनोपमा**।
शम्बूकावर्तवन्नाडी शम्बूकावर्तको मतः॥

(२५) गौरसर्षप पिडका—यह पीली सरसों जैसी सर्षपिका नाम्नी पिडका शूकदोषों में मिलती है। सर्षपिका नामक प्रमेह पिडका भी गौरसर्षप संस्थानीय होती है।

(२६) ग्रथिता पिडका—यवप्रख्या नामक क्षुद्र रोग में गठीली पिडका पायी जाती है। कच्छपिका, अजगल्लिका में भी ग्रथित पिडकाएँ देखी जाती हैं।

(२७) घनत्वचः पिडका—जिनके ऊपर चमड़ी मोटी होती है। ये मांसस्थ मसूरिका में मिलती हैं।

(२८) घना पिडका—अन्त्रालजी की विशेषता है। यह पिडका ठोस होती है।

(२९) चिपिटा पिडका—जब पिडकाएँ उठती नहीं। शीतला बैठ गई यह वाक्य लोक में चिपटी पिडकाओं वाली मसूरिका के लिए प्रयुक्त होता है।

(३०) चिरपाका पिडका—जो देर में पकती है। मांसस्था मसूरिका में पिडका देर में पकती हैं। चर्मस्थ मसूरिका में भी पाक देर में होता है।

(३१) जाम्बवास्थिनिभ पिडका—जामुन की गुठली के समान कठिन होती है और यह पिडका कुम्भीका नामक शूकदोष में वर्णित है। यह अशुभा अर्थात् काली होती है—

कुम्भीका रक्तपित्तोत्था जाम्बवास्थिनिभाऽशुभा।

(३२) तन्वी पिडका—जिसकी काया बहुत पतली हो। यह पर्वणी नामक नेत्ररोग में पाई जाती है।

(३३) ताम्रा पिडका—अंजन नामिका, उत्संगिनी तथा अलजी नामक नेत्ररोगों में ताम्रवर्ण की पिडकाएं मिलती हैं।

(३४) त्वक्समानवर्ण पिडका—बहुलवर्त्म नामक नेत्र रोग की विशेषता है।

(३५) दाडिमबीज प्रतिम पिडका—अथवा **कुम्भीका बीज प्रतिमा पिडका**—कुम्भीका की व्याख्या में श्रीकण्ठ लिखते हैं—"कुम्भीका कृच्छ्रदेशोद्भवा दाडिमफलाकार फला लता, तद्बीजेनप्रतिमा यासां ता इत्यर्थः।" कुम्भीका नामक नेत्ररोग में कुम्भीक बीज जैसी पिडकाएँ निकलती हैं।

(३६) दारुण पिडका—शुष्कार्श एवं कच्छपिका में मिलती हैं।

(३७) दीर्घा बह्व्यश्च पिडका—फैली हुई एवं बहुत पिडकाएँ अधिमन्थ नामक शूकदोष में देखी जाती हैं।

(३८) ध्माता पिडका—यह भी कुम्भीका नामक नेत्ररोग की पिडका की विशेषता है। यह फूली हुई होती है।

(३९) नीला पिडका—चर्म मसूरिका में नीलवर्ण को देखा जाता है। तथा "महती पिटका नीला विनता

नाम सा मता"—में विनता नामक प्रमेहपिडका भी नीले रंग की होती है।

(४०) **पक्वाभा पिडका**—शुक्रजा मसूरिका में परिपक्व पिडकाएँ होती हैं। ऐसा उल्लेख है।

(४१) **पक्वोदुम्बरसंनिभा पिडका**—यह सुश्रुत निदान स्थानोक्त विवृता नामक क्षुद्र रोगमें पायी जाती है।

(४२) **पद्मकर्णिकवन्मध्ये पिडकाभिः समाचिताम्**—इस वाक्य में **पद्मबीजकोश** जैसी मध्य में पिडकाओं की स्थिति बतलाई है। यह इन्द्रविद्धा नामक क्षुद्र रोग में तथा दुष्कारिका नामक शूक दोष में मिलती है।

(४३) **पाण्डुर पिडका**—कर्दमविसर्प में बहुधा मिलती है। इसी रोग में पीत, लोहित और पाण्डुर इन तीन वर्णों की पिडकाएँ भी मिल सकती हैं।

(४४) **पीता पिडका**—अलजी नामक, नेत्ररोग में तथा कर्दमविसर्प में देखी जाती हैं।

(४५) **प्रभूताः पिडकाः**—संख्या में बहुत-सी पिडकाएँ चर्म मसूरिका में देखी जाती है।

(४६) **मण्डलाकाराः पिडकाः**—मेदोज मसूरिका में प्रायः मिलती है।

(४७) **मध्ये निम्ना पिडका**—आगे चलकर मसूरिका में विशेष कर चर्म मसूरिका में मिलती है।

(४८) **मसूराकृतिसंस्थानाः पिडकाः**—मसूर जैसी पिडकाओं के कारण ही शीतला मसूरिका कहलाती है।

(४९) **महती पिडका**—विनता नामक प्रमेह पिडका की विशेषता है। पुत्रिणी में भी यह लक्षण मिलता है।

(५०) **माषतुल्या पिडका**—साबित उड़द के समान पिडकाएँ भी मसूरिका में पायी जाती है।

(५१) **मांसजालसमावृता पिडका**—जालवत् मांस इसमें पूरा रहता है। जालिनी नाम्नी प्रमेह पिडका का यह विशेष लक्षण है।

(५२) **मुद्गनिभा पिडका**—उत्तमा नामक शूकदोष में मुद्गमाषोपमा तथा मुद्गोपम अव्रणशुक्र नामक नेत्र रोग में मिलती है। मुद्ग तुल्य पिडका मसूरिका में भी मिलती है। अजगल्लिका[1] में भी मुद्गसंनिभा पिडका मिलती है।

(५३) **संमूढ़ा पिडका**—यह शूकदोष इसी नाम का है।

(५४) **मृदवः पिडकाः**—मेदोज मसूरिका में पिडकाएँ बड़ी मृदु भी होती हैं।

यवाकारा पिडका—यवप्रख्या[2] नामक क्षुद्र रोग की पिडिकाएँ जौ के आकार की होती हैं।

(५५) **यवाकारा पिडका**—यह जौ के आकार की पिडका यवप्रख्या नामक क्षुद्र रोग में कही गई है।

(५६) **रक्तसर्षपसंनिभा पिडका**—गौरसर्षप की तरह रक्तसर्षप के आकार की पिडकाएँ पोथकी नामक नेत्ररोग में देखी जाती हैं।

(५७) **रागिण्यः पिडकाः**—रोमान्तिका (meosles) की लाल पिडकाओं के लिए रागिणी पिडका एक शास्त्रीय नाम उपलब्ध होता है।

(५८) **रक्ता पिडका**—लाल वर्ण की पिडकाएँ कई अन्य रोगों में भी मिलती हैं। उदाहरणार्थ पैत्तिक उष्ट्रग्रीव भगन्दर में गुदाश्रित पिडकाएँ लाल ही होती हैं। विदारिका (क्षुद्ररोग) में भी रक्ता पिडकाएँ देखी जाती हैं। पर्वणी नामक नेत्ररोग में भी पिडकाओं का वर्ण लाल देखा जाता है।

(५९) **कर्दमविसर्प में अतिलोहित पिडका** देखी जाती है। (पीछे ताम्रा पिडका भी देखें)

(६०) **रूक्षा पिडका**—तथा (६१) **स्निग्धा पिडका**—रूक्षता और स्निग्धता के आधार पर भी पिडकाओं का वर्गीकरण किया गया है। मज्जोत्था मसूरिका में पिडकाएँ रूक्ष होती हैं। अजगल्लिका, मांसस्था मसूरिका, मेदोज मसूरिका, शुक्लजा मसूरिका में पिडकाएँ स्निग्ध देखी जाती हैं।

(६२) **रोमकूपोन्नतिसमा पिडका**—रोमकूपों की ऊँचाई के बराबर ऊँची पिडका रोमान्तिका में देखी जाती है।

(६३) **वृत्तशोथा पिडका तथा वृत्ता पिडका**—गोल फूली हुई पिडका पर्वणी नामक नेत्र रोग में तथा इरिवेल्लिका में पाई जाती है। विदारिका में भी पिडका वृत्ता होती है।

(६४) **विवृतास्या पिडका**—वे पिडकाएँ जिनका मुख खुला हुआ हो। विवृता नामक क्षुद्र रोग में पिडका विवृतास्या ही होती है।

---

[1] स्निग्धाः सवर्णा ग्रथिता नीरुजो मुद्गसंनिभा ।
कफवातोत्थिता ज्ञेया बालानामजगल्लिका ।।
—सुश्रुत निदान १३

[2] यवाकारा सुकठिना ग्रथिता मांससंश्रिता ।
पिडका कफवाताभ्यां यवप्रयेति सोच्यते ।। सु० नि०

(६५) **विसर्पिणः पिडका**—फैलती हुई पिडकाएँ परिलेही नामक पाली के रोग में देखी जाती हैं।

(६६) **शाल्मलीकण्टकप्रख्याः पिडकाः**—सेमर के काँटों के सदृश पिडकाएँ मुखदूषिका या युवान पिडका नामक रोग में देखी जाती है।

(६७) **श्यावा पिडका**—विचर्चिका में पिडकाएँ श्याव वर्ण की मिलती हैं। मक्षिकादंशज पिडकाएँ भी श्याव होती हैं।

(६८) **श्लक्ष्ण पिडका**—अर्शोवर्त्म नामक नेत्ररोग में पिडकाओं में श्लक्षणता पाई जाती है।

(६९) **सर्षपाभा पिडका**—परिलेहन नामक कर्ण रोग में पिडकाएँ विसर्पी तो होती ही हैं सर्षपाभ भी मिलती हैं।

(७०) **सवर्णा पिडका**—(गात्रसमा पिडका भी देखें) यह अजगल्लिका एवं अनुशयी रोगों में शरीर के समान वर्ण वाली पिडकाएँ उठती हैं।

(७१) **सूक्ष्मा पिडका**—वर्त्मशर्करा नामक नेत्र रोग और शुक्लजा मसूरिका में पिडकाएँ बहुत सूक्ष्म होती हैं।

(७२) **स्तब्धा पिडका**—शुष्कार्श नामक नेत्ररोग में पिडकाओं में स्तब्धता या शूलाभाव या सुन्नता मिलती है।

(७३-७४) **स्थिरा पिडका** तथा **स्थूला पिडका**—स्थिरा एवं स्थूलता दोनों में कुछ फर्क है। एक में दृढ़ता या कड़ाई अधिक होती है दूसरे में दल बहुत होता है। स्थिर पिडकाओं के उदाहरण नेत्ररोगों में बहुलवर्त्म और पनसिका नामक क्षुद्र रोग आते हैं तथा स्थूला पिडकाएँ वर्त्मशर्करा एवं उत्संगिनी नामक नेत्ररोगों में तथा मेदोज मसूरिका में मिलती हैं।

पिडकाओं से सम्बद्ध लक्षण

३—ऊपर रंग और रूप के अनुसार पिडकाओं का वर्गीकरण तथा विचार किया गया है। नीचे इन पिडकाओं के साथ और कौन रोग लक्षण या चिह्न मिलता है उसके अनुसार इनका वर्गीकरण किया जाता है :—

(१) **उष्ण पिडका** तथा **शीत पिडका**—स्पर्श से अलजी नामक नेत्र रोग में पिडकाएँ उष्ण तथा कफज्वर में शीत स्पर्शी पिड़काएँ मिलती हैं। मेदोजा मसूरिका में।

(२) **घोरज्वरपरीता पिडका** पाई जाती है। रोमान्तिका में **ज्वर पूर्विका** पिडका मिलती है।

(३) **कण्डूमत्यः पिडकाः**—कितने ही रोगों में पिडकाएँ खुजली करने वाली मिलती हैं। उदाहरणार्थ पामा, विचर्चिका और परिलेहन में।

(४) **सचोष पिडका**—जिसमें चसक पड़ती हो। नेत्र रोगोक्त अलजी इसका उदाहरण है।

(५) **तोदवती पिडका**—अंजननामिका नेत्ररोग में तोदबहुल पिडकाएँ मिलती हैं।

(६) **दाह युक्त पिडका**—निम्नांकित रोगों में दाहयुक्त पिडकाएँ मिलती हैं :—

कच्छूकुष्ठ, कच्छपिका, परिलेहन, अलजी (नेत्ररोग), जालिनी, अंजननामिका (नेत्ररोग) एवं (पित्तज ओष्ठ)।

(७) **नीरुजा या निर्रति पिडका**—कुछ पिडकाओं में किसी प्रकार की वेदना-पीड़ा या शूल नहीं मिलता। ये निम्नांकित रोगों में मिलती है :—

विदारिका, अर्शोवर्त्म, अजगल्लिका (कफज ओष्ठ)।

(८) **सपाक पिडका**—कई पिडकाएँ आगे चल कर पकती हैं। पित्तज ओष्ठ और मसूरिका में सपाक पिडका देखी जाती हैं।

(९) **सभेद पिडका**—कुम्भीका नामक नेत्र रोग में भेदनवत् पीडा के साथ पिडका पाई जाती है।

(१०) **सशूला या सरूज पिडका**—किन्हीं पिडकाओं में उग्रशूल होता है किन्हीं में मन्द। शूलयुक्त पिडकाओं के रोग-निर्णय में यह तथ्य बहुत उपयोगी सिद्ध होता है। नीचे लिखी व्याधियों में पिडकाएँ शूलयुक्त पाई जाती हैं :—

अर्शोवर्त्म (नेत्ररोग)—पिडकाओं में मन्द वेदना होती है।

पर्वणी (नेत्र रोग)—इनमें साधारण वेदना होती है।

परिलेहित (कर्ण रोग), पोथकी, पैत्तिक ओष्ठ रोग। शुक्रजा मसूरिका, पनसिका (क्षुद्र रोग), चर्म मसूरिका इरिवेल्लिका (क्षुद्र रोग), बिनता (प्रमेह पिडका)—इनमें अत्यन्त शूल या उग्ररूजा वाली पिडकाएँ मिलती हैं।

(११) **स्राविण्यः पिडका**—कुछ पिडकाओं से स्राव निकलता रहता है। इनके उदाहरण नीचे दिये जाते हैं—

सामान्य स्राव—पोथकी (नेत्र रोग) में।
गाढ़ क्लेद—विनता (प्रमेह पिडका) में।
बहुस्राव—विचर्चिका (क्षुद्रकुष्ठ) में।
स्राववती—पामा में।
सद्यःप्रस्राविणी—मक्षिका दंशजन्य पिडका में।

४--पिडिका एवं विविध अंग

अंग-विशेष में स्थित पिडका का नाम विशेष होता है। सापेक्ष निदान की दृष्टि से यह लक्षण महत्त्वपूर्ण है। जैसे **इरिवेल्लिका** उत्तमांगस्थ या जत्रूर्ध्वस्थ पिडका है--

पिडकामुत्तमाङ्गस्थां वृत्तामुग्ररुजा ज्वराम्।
सर्वात्मिकां सर्वलिङ्गां जानीयादिरिवेल्लिकाम्॥

इसी प्रकार बाहु-पार्श्व-अंस एवं कक्षा में **कक्षा** नाम की पिडकाएँ उत्पन्न होती हैं।

भेल संहिता में हृदय, श्रोत्र, कक्षाधः, कण्ठस्थ, पाणितल, पादतल एवं ऊरुमूल स्थित पिडकाएँ **वातालिका** में कही गई हैं। ओष्ठ रोग की सान्निपातिक अवस्था में अनेक पिडकाएँ मिलती हैं। कक्षासन्धि में तथा वंक्षणसन्धि में होनेवाली कन्दवत् पिडकाएँ **विदारिका** नामक क्षुद्र रोग में पाई जाती हैं।

विदारिका कन्दवद्वृत्ता कक्षावङ्क्षणसन्धिषु।
विदारिका भवेद्रक्ता सर्वजा सर्वलक्षणा॥

गन्धमाला में पिडका त्वग्गता होती है--

एकामेतादृशीं दृष्ट्वा पिडकां स्फोटसंनिभाम्।
त्वग्गतां पित्तकोपेन गन्धमालां प्रचक्षते॥

अनुशयी की पिडका पैर के ऊपर होती है--

पादस्यानुशयीं तां तु विद्यादन्तः प्रपाकिनीम्।

यवप्रख्या पिडका मांस में होती है। बहुलवर्त्म की पिडकाएँ वर्त्म में होती हैं। अंजननामिका, अर्शोवर्त्म, कुम्भीका की पिडकाएँ भी वर्त्म में होती है। उत्संगिनी की पिडका वर्त्म में बाहर सभी दिखती है। नेत्ररोगों में सिराज पिडका कृष्णमण्डल के समीप श्वेतपटल में होती है। कच्छूकुष्ठ में पिडका स्फिक् प्रदेश में होती हैं।

५--विविध व्याधियाँ एवं पिडकाएँ

यद्यपि पीछे के परिच्छेदों में पिडका के रंग-रूप-लक्षणादि के साथ व्यधि-निर्देश कर दिया गया है फिर भी किस व्याधि में पिडकाओं की विशेष उत्पत्ति देखी जाती है इसे स्मरण रखना आवश्यक है। जैसे **बाह्यक्रमियों के उपद्रव** से कहीं पिडकाएँ देखी जाती हैं कहीं **कफज्वर, पित्तज्वर** एवं **रक्तस्थ** ज्वरों में वे मिलती हैं। **प्रमेहों** में प्रमेह पिडकाओं की उत्पत्ति सर्वविदित है ही। कुष्ठ रोग में पिडकाएँ मिला करती हैं। **रक्तगत कुष्ठ** में, **वातरक्त के पूर्वरूप** के रूप में, **सशल्य व्रणों** में भी पिडिकोत्पत्ति देखी जाती है। अन्य अनेक रोगों में जहाँ पिडकाएँ मिलती हैं उन्हें सन्दर्भानुसार ज्ञात करें।

६--आधुनिक आचार्यों के मत से पिडका-विचार

(१) पिडकाओं की उत्पत्ति त्वग्विकार के रूप में डरमेटाइटिस (dermatitis) कहलाती है तथा किसी रोग में लक्षण स्वरूप रैश (rash) कही जाती है। पिडकाएँ रस से भरी होने पर वैजाइकिल (vesicle), खाली मैक्यूल (macule) तथा सपूय पुश्चूल (pustule) कहलाती हैं। केवल उभार ऐरीथीमा (erythema) कही जाती हैं।

(२) आलपीन के सिर की बराबर सूक्ष्म से ले कर छोटी मटर तक आकार वाले त्वचा के उभारों की संज्ञा पिडका की दी जाती है तथा छोटी मटर से बड़े उभार **स्फ़ोट** या बुल्ली (bullae) कहलाते हैं।

(३) आकृति (shape) दृष्टया पिडकाएँ (vesicles) गोल, त्रिकोणीय या नोकदार होती हैं। कभी-कभी वे चौकोर (oblong) हो जाती हैं। कोई-कोई विषमाकृतिक या चिपटी होती हैं। पामा में चौकोर तथा हर्पेटीफ़ार्म डर्मेटाइटिस में वे विषमाकार में मिलती हैं। क्षुद्र मसूरिका (vricella) में पिडकाएँ छितरी हुई और थोड़ी होती हैं। हर्पीज (कक्षा) तथा क्षुद्रकुष्ठ (एग्ज़ेमा) में झुण्ड की झुण्ड पिडकाएँ पाई जाती हैं। कभी-कभी पिडकाओं में रस के स्थान पर पूय भर जाता है और वे नाभि के समान उठी हुई (umbrilciated) देखी जाती हैं। यह मसूरिका में मिलता है।

(४) जिन पिडकाओं की उत्पत्ति व्रणशोथात्मक (inflammatory) अवस्था में होती है अतः उनमें दाह (burning), शूल (pain) तथा कण्डू (itching) बहुधा मिला करता है। कहीं-कहीं ये लक्षण नहीं भी मिलते।

(५) हर्पीज या कक्षा के २ भेद किये जाते हैं एक सामान्य और दूसरी विशेष। इसमें पिडकाएँ ४ अवस्थाओं से गुजरती हुई देखी जाती हैं--पहले लाल स्थान बनता है (कंजैस्टिव फ़ेज) फिर उसमें स्वच्छ रस भरता है (वैजीकेटिंग स्टेज), तत्पश्चात् उनमें पूय बनता और वे अपारदर्शक हो जाती हैं। (डैसीकेटिंग स्टेज) अन्त में वे सूख जाती हैं ([illegible] स्टेज) फिर पपड़ी उतर कर गिर जाती

है और पिडका का निशान मात्र शेष रह जाता है पर व्रण वस्तु (स्कार) नहीं बनता है। यह स्थिति त्वचा पर देखी जाती है।

(६) श्लैष्मिककला पर पिडका के ऊपर एक श्वेत पपड़ी जम जाती है। उसके चले जाने पर नीचे कई गोल-सूक्ष्म विद्रधियाँ पाई जाती हैं। जिस रोग को हर्पीज जैनीटैलिस कहते हैं उसमें गुप्तांगों में यही सब होता है। उसके कारण दाह और वेदना एवं कण्डू खूब मिलता है। उनके कारण समीपस्थ वंक्षणलसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। कभी-कभी इन स्थानों की पिडकाएँ विशेषकर स्त्रियों में एक दूसरे से मिल जाती हैं। गुप्तांगों का कक्षा रोग कभी-कभी इतना उग्र हो जाता है कि उससे उपदंश के मृदुक्षत (सौफ्ट शेंकर) का बोध होने लगता है। उपदंश की पिडकाएँ काठिन्ययुक्त, अधिक संख्या, विषमाकृति, उग्रदाह एवं तीव्र कण्डूयुक्त होती हैं। हर्पीज में पर्याप्त विद्रधीभवन, पिडकाओं की अधिक संख्या, गहरी घुसी हुई, दुर्गन्धयुक्त और विलम्ब से सुधरनेवाली होती हैं।

(७) हर्पीज जोस्टर की पिडकाएँ वातनाडियों के मार्ग का अनुसरण करती हैं ये बहुधा एक ही ओर होती हैं साथ में वेदनाधिक्य और लसीका ग्रन्थि की वृद्धि देखी जाती है।

(८) छाजन, चर्मदल या एग्जीमा में पहले लाल चमड़ी बन कर फिर उसमें खुजली होती है, खुजाने पर दाह होता है और असंख्य छोटी-छोटी पिडकाएँ बन जाती हैं। ये बढ़ती जाती हैं तथा बाद में एक दूसरे से अभिलग्न हो जाती हैं। खुजाने के बाद उनसे जलीय स्राव होने लगता है और तब वह वीपिंग एग्जेमा कहलाता है। इस रोग में चर्म स्थूल होता जाता है।

(९) तीव्र दाहयुक्त पिडकाएँ विशेष प्रकार के वृक्षों, साबुन, चीनी, रासायनिक द्रव्यों, लकड़ी के बुरादे, चूना, फर के रंग, ऊनी रंग, क्षोभक पदार्थ जैसे कैथैराइड्स–जयपाल तैल, मरिच, तेजाब, कास्टिक सोडा, आयोडीन, तारपीन आदि से उत्पन्न हुआ करती हैं।

(१०) कभी-कभी कुछ व्यवसाय भी पिडिकाओं की उत्पत्ति करते हैं। धोबी, माली, बारूद और बमों के कारखानों में काम करनेवाले मजदूर, भल्लातक शुद्ध करने वाले मजदूर, नाई, ब्लीच करनेवाले, बढ़ई, रसायनज्ञ, चिमनी साफ करने वाले, हलवाई (चीनी से), रंगरेज, मछेरे, मुर्गी पालनेवाले, काँच की पोली नलकी बनानेवाले, चमार जो चमड़ा रँगते हैं, पेण्टर (तारपीन से), फोटोग्राफर, प्रेस कम्पोजीटर्स, रबर के कारखानों में काम करनेवाले, सुनार, तारकोल बिछानेवाले–इन सभी को समय-समय पर विविध रंगरूप की पिडकाएँ देखी जा सकती हैं।

(११) कुछ दवाओं के लेप से भी पिडिकोत्पत्ति सम्भव है। इनकी सूची फ्रेंच के अनुसार नीचे दी जाती है–

वत्सनाभ
आर्निका
एट्रोपीन
बेलाडोना
लालमिर्च
क्रिस्रोबीन
हाइड्रोजनपरऑक्साइड
आइडोफार्म
मीजोटन
ओलियम कैडीनी
आर्थीफार्म
पाइरोगैलिक एसिड
फीनोलहाइड्राजीन हाइड्रोक्लोराइड
गन्धक
तारपीन

अंजन
मल्ल
बालासम ऑफ पेरू
कैन्थराइड्स
क्लोरीन
फार्मेलीन
आयोडीन
पारद
राजिका, सर्षप
जयपालतैल
पैराफिनाइलीन डायामीन
कार्बोलिक एसिड (फीनोल)
सैनीसिलिक एसिड
सल्फोनैमाइड्स
तारकोल

(१२) प्रस्वेदजन्य पिडका (Sweat rash) जिसे मिलिएरिया रूब्रा या मरहोरी कहते हैं उसमें पिडका अलग-अलग होती हैं उनमें सुई की-सी चुभन होती है वे कभी एक दूसरे से छाजन की तरह अभिलग्न नहीं होतीं।

स्केबीज (पामा), लाइकैन प्लैनस, लाइकैन अर्टीकेटस, त्वङ्मसूरिका, सिफिलिस की द्वितीयावस्था, शीतला तथा टीका लगाने से उत्पन्न रोग में भी विशिष्ट प्रकार की पिडिकाएँ उत्पन्न होती हैं।

ब्रोमाइड्स, आयोडाइड्स, कीटदंश, मच्छर दंश, अग्निदग्ध, तुषारदग्ध अवस्थाओं में भी विशेष पिडकाएँ देखी जाती हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ रोगों और ज्वरों में पिडिकाएं (eruptions) निकलती हैं जो सर्वविदित है।

७—स्फोट-विचार

स्फोट में पिडिकाओं का आकार छोटी मटर से ऊपर कभी-कभी बताशे जितना बड़ा तक मिलता है। पिडकाओं के सम्बन्ध में जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है उससे कम साहित्य स्फोट पर नहीं है। नीचे हम स्फोटों का निर्देश मात्र उनके स्वरूप, लक्षण, अंग और रोगानुसार कर रहे हैं; आशा है पाठक उसे देख कर प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान की थाह लने म समर्थ हो सकेंगे।

(१) स्वरूपानुसार स्फोट विचार

अग्निदग्ध इव स्फोट—अग्निविसर्प-विस्फोट।

अचिरपाकाः स्फोटाः—पित्तजा मसूरिका।

अरुणस्फोट—वातज मसूरिका।

अरुणाभासी स्फोट—विस्फोट।

कठिनस्फोट—वातजा मसूरिका।

कृष्णस्फोट—रक्तोपदंश। वातोपदंश।

कृष्णस्फोटावृत——रक्तजवृद्धि।

कुलत्थ सदृशैः स्फोटैश्चितम्—क्षत विसर्प।

गुञ्जासंनिभ स्फोट—रक्तज विस्फोट।

चिरपाक स्फोटाः—कफजा मसूरिका, वातजा मसूरिका

दीप्तपावक सनिभ स्फोट—अग्निरोहिणी।

पिशितावभास स्फोट—रक्तोपदंश।

पीतस्फोट—पित्तोपदंश, मसूरिका।

पीतसित स्फोट—पित्तजा मसूरिका।

प्रभूताः स्फोटाः—चर्म मसूरिका-त्रिदोषजा।

रक्तसमुत्थान स्फोट—रक्तज विस्फोट।

रक्त स्फोट—पित्तजा मसूरिका।

रुधिरं स्रवन्तं स्फोट—रक्तोपदंश।

रूक्षाः स्फोटाः—वातजा मसूरिका।

लोहिताकार स्फोट—रक्तस्था मसूरिका।

विद्रुमसंनिभ स्फोट—रक्तज विस्फोट।

शुक्लस्फोट—कफोपदंश, कफजा मसूरिका।

श्यावस्फोट—विस्फोट, वातजा मसूरिका।

स्निग्ध स्फोट—कफजा मसूरिका।

भृशस्थूलाः स्फोटाः—कफजा मसूरिका।

(२) लक्षणानुसार स्फोटोल्लेख

कण्डुर स्फोट—कफोपदंश, कफजा मसूरिका।

ज्वरकारी स्फोट—अग्निरोहिणी।

तोदयुक्त स्फोट—वातोपदंश।

दाहयुक्त स्फोट—पित्तजा मसूरिका. पित्तोपदंश।

अन्तर्दाहकर स्फोट—अग्निरोहिणी।

सभेद स्फोट—वातोपदंश।

रुजावन्तः स्फोटाः—मसूरिका।

तीव्रवेदनाः स्फोटाः—वातजा मसूरिका। मसूरिका।

मन्दवेदनाःस्फोटाः—पित्तजा मसूरिका, कफजा मसूरिका।

सशोथ स्फोटाः—कफोपदंश।

स्रावयुक्त स्फोट

घनस्राव—कफोपदंश।

पूतिस्राव—चर्म मसूरिका, त्रिदोषजा मसूरिका।

बहुस्राव—पित्तोपदंश।

(३) अंगानुसार स्फोट-निर्देश

अंगुलि स्फोटयति—विषदाता।

अंसक्षेत्रे स्फोटाः सवेदना—कक्षा।

कक्षभागेषु मांसदारणाः स्फोटाः—अग्निरोहिणी।

गात्रं स्फोटैश्चितम्—रेवतीजुष्ट बाल—मसूरिका।

सदाहपाक—शकुनीग्रहजुष्ट बाल।

गुदे स्फोटः सकण्डू सस्राव—अहिपूतना।

जिह्वा स्फुटिता—वातिक जिह्वाकण्टक।

पार्श्वक्षेत्रे स्फोटाः सवेदनाः—कक्षा।

बाहुक्षेत्रे स्फोटाः सवेदनाः—कक्षा।

वदनेषु स्फोटाः—मसूरिका।

सतोद—वातक सर्वसर।

वृषणस्थः स्फोटः—सकण्डू सस्राव—वृषण कच्छू।

(४) रोगानुसार स्फोट-स्मरण

निम्नांकित रोगों में स्फोट की उपस्थिति और बतलाई गई है :—

(१) उपदंश वातिक

(२) **कुष्ठ**—चर्मदल-मांसगत

(३) रोहिणी रक्तज

(४) वातरक्तोपद्रव

अन्यत्र स्फोटों का जो विचार किया गया है वहाँ तत्तद्रोग का नामोल्लेख कर दिया गया है।

इस प्रकार पिडका एवं स्फोट-सम्बन्धी यह लेख समाप्त हुआ। इसके चित्र और विशदीकरण से पूरा एक ग्रन्थ ही बन सकता है।

गो० आयुर्वेद महाविद्यालय , जामनगर। }

है और पिडका का निशान मात्र शेष रह जाता है पर व्रण वस्तु (स्कार) नहीं बनता है। यह स्थिति त्वचा पर देखी जाती है।

(६) श्लैष्मिककला पर पिडका के ऊपर एक श्वेत पपड़ी जम जाती है। उसके चले जाने पर नीचे कई गोल-सूक्ष्म विद्रधियाँ पाई जाती हैं। जिस रोग को हर्पीज जैनीटैलिस कहते हैं उसमें गुप्तांगों में यही सब होता है। उसके कारण दाह और वेदना एवं कण्डू खूब मिलता है। उनके कारण समीपस्थ वंक्षणलसीका ग्रन्थियाँ सूज जाती हैं। कभी-कभी इन स्थानों की पिडकाएँ विशेषकर स्त्रियों में एक दूसरे से मिल जाती हैं। गुप्तांगों का कक्षा रोग कभी-कभी इतना उग्र हो जाता है कि उससे उपदंश के मृदुक्षत (सौफ्ट शेंकर) का बोध होने लगता है। उपदंश की पिडकाएँ काठिन्ययुक्त, अधिक संख्या, विषमाकृति, उग्रदाह एवं तीव्र कण्डूयुक्त होती हैं। हर्पीज में पर्याप्त विद्रधीभवन, पिडकाओं की अधिक संख्या, गहरी घुसी हुई, दुर्गन्धयुक्त और विलम्ब से सुधरनेवाली होती हैं।

(७) हर्पीज जोस्टर की पिडकाएँ वातनाडियों के मार्ग का अनुसरण करती हैं ये बहुधा एक ही ओर होती हैं साथ में वेदनाधिक्य और लसीका ग्रन्थि की वृद्धि देखी जाती है।

(८) छाजन, चर्मदल या एग्जीमा में पहले लाल चमड़ी बन कर फिर उसमें खुजली होती है, खुजाने पर दाह होता है और असंख्य छोटी-छोटी पिडकाएँ बन जाती हैं। ये बढ़ती जाती हैं तथा बाद में एक दूसरे से अभिलग्न हो जाती हैं। खुजाने के बाद उनसे जलीय स्राव होने लगता है और तब वह वीपिंग एग्जेमा कहलाता है। इस रोग में चर्म स्थूल होता जाता है।

(९) तीव्र दाहयुक्त पिडकाएँ विशेष प्रकार के वृक्षों, साबुन, चीनी, रासायनिक द्रव्यों, लकड़ी के बुरादे, चूना, फर के रंग, ऊनी रंग, क्षोभक पदार्थ जैसे कैथैराइड्स—जयपाल तैल, मरिच, तेजाब, कास्टिक सोडा, आयोडीन, तारपीन आदि से उत्पन्न हुआ करती हैं।

(१०) कभी-कभी कुछ व्यवसाय भी पिडिकाओं की उत्पत्ति करते हैं। धोबी, माली, बारूद और बमों के कारखानों में काम करनेवाले मजदूर, भल्लातक शुद्ध करने वाले मजदूर, नाई, ब्लीच करनेवाले, बढ़ई, रसायनज्ञ, चिमनी साफ करने वाले, हलवाई (चीनी से), रंगरेज, मछेरे, मुर्गी पालनेवाले, काँच की पोली नलकी बनानेवाले, चमार जो चमड़ा रँगते हैं, पेण्टर (तारपीन से), फोटोग्राफर, प्रेस कम्पोजीटर्स, रबर के कारखानों में काम करनेवाले, सुनार, तारकोल बिछानेवाले—इन सभी को समय-समय पर विविध रंगरूप की पिडकाएँ देखी जा सकती हैं।

(११) कुछ दवाओं के लेप से भी पिडिकोत्पत्ति सम्भव है। इनकी सूची फ्रेंच के अनुसार नीचे दी जाती है—

वत्सनाभ
आर्निका
एट्रोपीन
बेलाडोना
लालमिर्च
क्रिस्रोबीन
हाइड्रोजनपरऑक्साइड
आइडोफार्म
मीजोटन
औलियम कैडीनी
आर्थीफार्म
पाइरोगैलिक एसिड
फीनोलहाइड्राजीन हाइड्रोक्लोराइड
गन्धक
तारपीन

अंजन
मल्ल
बालासम ऑफ पेरू
कैन्थराइड्स
क्लोरीन
फार्मेलीन
आयोडीन
पारद
राजिका, सर्षप
जयपालतैल
पैराफिनाइलीन डायामीन
कार्बोलिक एसिड (फीनोल)
सैनीसिलिक एसिड
सल्फोनैमाइड्स
तारकोल

(१२) प्रस्वेदजन्य पिडका (Sweat rash) जिसे मिलिएरिया रूब्रा या मरहोरी कहते हैं उसमें पिडका अलग-अलग होती हैं उनमें सुई की-सी चुभन होती है वे कभी एक दूसरे से छाजन की तरह अभिलग्न नहीं होतीं।

स्केबीज (पामा), लाइकैन प्लैनस, लाइकैन अर्टीकेटस, त्वङ्मसूरिका, सिफिलिस की द्वितीयावस्था, शीतला तथा टीका लगाने से उत्पन्न रोग में भी विशिष्ट प्रकार की पिडिकाएं उत्पन्न होती हैं।

ब्रोमाइड्स, आयोडाइड्स, कीटदंश, मच्छर दंश, अग्निदग्ध, तुषारदग्ध अवस्थाओं में भी विशेष पिडकाएँ देखी जाती हैं।

इनके अतिरिक्त कुछ रोगों और ज्वरों में पिडिकाएं (eruption) निकलती हैं जो सर्वविदित है।

७—स्फोट-विचार

स्फोट में पिडिकाओं का आकार छोटी मटर से ऊपर कभी-कभी बताशे जितना बड़ा तक मिलता है। पिडकाओं के सम्बन्ध में जितना साहित्य उपलब्ध हुआ है उससे कम साहित्य स्फोट पर नहीं है। नीचे हम स्फोटों का निर्देश मात्र उनके स्वरूप, लक्षण, अंग और रोगानुसार कर रहे हैं; आशा है पाठक उसे देख कर प्राचीन आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट सूक्ष्मातिसूक्ष्म ज्ञान की थाह लने म समर्थ हो सकेंगे।

(१) स्वरूपानुसार स्फोट विचार

अग्निदग्ध इव स्फोट—अग्निविसर्प-विस्फोट।

अचिरपाकाः स्फोटाः—पित्तजा मसूरिका।

अरुणस्फोट—वातज मसूरिका।

अरुणाभासी स्फोट—विस्फोट।

कठिनस्फोट—वातजा मसूरिका।

कृष्णस्फोट—रक्तोपदंश। वातोपदंश।

कृष्णस्फोटावृत——रक्तजवृद्धि।

कुलत्थ सदृशैः स्फोटैश्चितम्—क्षत विसर्प।

गुञ्जासंनिभ स्फोट—रक्तज विस्फोट।

चिरपाक स्फोटाः—कफजा मसूरिका, वातजा मसूरिका

दीप्तपावक सनिभ स्फोट—अग्निरोहिणी।

पिशितावभास स्फोट—रक्तोपदंश।

पीतस्फोट—पित्तोपदंश, मसूरिका।

पीतसित स्फोट—पित्तजा मसूरिका।

प्रभूताः स्फोटाः—चर्म मसूरिका-त्रिदोषजा।

रक्तसमुत्थान स्फोट—रक्तज विस्फोट।

रक्त स्फोट—पित्तजा मसूरिका।

रुधिरं स्रवन्तं स्फोट—रक्तोपदंश।

रूक्षाः स्फोटाः—वातजा मसूरिका।

लोहिताकार स्फोट—रक्तस्था मसूरिका।

विद्रुमसंनिभ स्फोट—रक्तज विस्फोट।

शुक्लस्फोट—कफोपदंश, कफजा मसूरिका।

श्यावस्फोट—विस्फोट, वातजा मसूरिका।

स्निग्धै स्फोट—कफजा मसूरिका।

भृशस्थूलाः स्फोटाः—कफजा मसूरिका।

(२) लक्षणानुसार स्फोटोल्लेख

कण्डुर स्फोट—कफोपदंश, कफजा मसूरिका।

ज्वरकारी स्फोट—अग्निरोहिणी।

तोदयुक्त स्फोट—वातोपदंश।

दाहयुक्त स्फोट—पित्तजा मसूरिका. पित्तोपदंश।

अन्तर्दाहकर स्फोट—अग्निरोहिणी।

सभेद स्फोट—वातोपदंश।

रुजावन्तः स्फोटाः—मसूरिका।

तीव्रवेदनाः स्फोटाः—वातजा मसूरिका। मसूरिका।

मन्दवेदनाःस्फोटाः—पित्तजा मसूरिका, कफजा मसूरिका।

सशोथ स्फोटाः—कफोपदंश।

स्रावयुक्त स्फोट

घनस्राव—कफोपदंश।

पूतिस्राव—चर्म मसूरिका, त्रिदोषजा मसूरिका।

बहुस्राव—पित्तोपदंश।

(३) अंगानुसार स्फोट-निर्देश

अंगुलि स्फोटयति—विषदाता।

अंसक्षेत्रे स्फोटाः सवेदना—कक्षा।

कक्षभागेषु मांसदारणाः स्फोटाः—अग्निरोहिणी।

गात्रं स्फोटैश्चितम्—रेवतीजुष्ट बाल—मसूरिका।

सदाहपाक—शकुनीग्रहजुष्ट बाल।

गुदे स्फोटः सकण्डू सस्राव—अहिपूतना।

जिह्वा स्फुटिता—वातिक जिह्वाकण्टक।

पार्श्वक्षेत्रे स्फोटाः सवेदनाः—कक्षा।

बाहुक्षेत्रे स्फोटाः सवेदनाः—कक्षा।

वदनेषु स्फोटाः—मसूरिका।

सतोद—वातक सर्वसर।

वृषणस्थः स्फोटः—सकण्डू सस्राव—वृषण कच्छू।

(४) रोगानुसार स्फोट-स्मरण

निम्नांकित रोगों में स्फोट की उपस्थिति और बतलाई गई है :—

(१) उपदंश वातिक

(२) **कुष्ठ**—चर्मदल-मांसगत

(३) रोहिणी रक्तज

(४) वातरक्तोपद्रव

अन्यत्र स्फोटों का जो विचार किया गया है वहाँ तत्तद्रोग का नामोल्लेख कर दिया गया है।

इस प्रकार पिडका एवं स्फोट-सम्बन्धी यह लेख समाप्त हुआ। इसके चित्र और विशदीकरण से पूरा एक ग्रन्थ ही बन सकता है।

श्री० आयुर्वेद महाविद्यालय, जामनगर।]

वनस्पति-विनिश्चय : : एक योजना

प्रो० बलवन्त सिंह, एम० एस-सी०

प्रस्तुत लेख के लेखक प्रो० बलवन्त सिंह, एम० एस० सी० वनस्पति-शास्त्र के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान और 'सचित्र आयुर्वेद' के सुपरिचित लेखक हैं। भारतीय वनस्पतियों के अन्वेषण में उनकी नैसर्गिक रुचि होने के नाते वह सदैव वनौषधियों के अन्वेषण में संलग्न रहते और अन्वेषित वनस्पतियों के बारे में सुधीजनों का ज्ञानवर्द्धन करते रहते हैं। यह लेख उनके द्वारा लिखित भावप्रकाश-निघण्टु की भूमिका का एक अंश है, जिसे संकलित कर यहाँ दिए जाने का मुख्य अभिप्राय यह है कि निकट भविष्य में ही श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० के तत्वावधान में—नैनी (इलाहाबाद) में आयोजित होने वाली आयुर्वेद शास्त्र-चर्चा परिषद् (जिसका विवेच्य विषय वनस्पति ही है) के अवसर पर समवेत आयुर्वेदीय विद्वानों के समक्ष तद्विषयक चर्चा के लिए प्रस्तुत लेख पृष्ठभूमि बन सके। आशा है, 'सचित्र आयुर्वेद' के वाचक गण लेख को ध्यानपूर्वक पढ़ेंगे और विद्वान लेखक द्वारा व्यक्त गंभीर एवं मननीय विचारों पर मनन भी करेंगे।

——सम्पादक

योगविन्नामरूपज्ञस्तासां तत्त्वविदुच्यते
किंपुनर्योविजनीयादोषधीः सर्वथाभिषक् ॥

——चरक

योगविन्नामरूपज्ञ को चरकाचार्य ने भेषज द्रव्यों का तत्त्वज्ञ कहा है। द्रव्यों के कर्म एवं गुण के अनुसार उनके परस्पर संयोग अथवा प्रयोग को जाननेवाले विद्वान् को "योगविद्" कहा जाता है। अतः भेषज द्रव्यों के नाम, रूप, गुण और कर्म——द्रव्यतत्त्व के विषय हैं। इन्हीं विषयों को ले कर आयुर्वेद में द्रव्यगुणशास्त्र का निर्माण किया गया है। इसीलिए आयुर्वेदीय द्रव्यगुणशास्त्र के **नामरूपात्मक** और **गुणकर्मात्मक** दो पक्ष हैं, परन्तु प्रथम पक्ष द्वितीय पक्ष की अपेक्षा, अत्यधिक उपेक्षा बुद्धि से देखा जाता है। इसका कारण क्या है? प्राचीनों को प्रथम पक्ष का अध्ययन सरल और सुसाध्य था, क्योंकि——'**ओषधीर्नामरूपाभ्यां जानतेह्यजपावने। अविपाश्चैव गोपाश्च ये चान्ये वनवासिनः**——ऋषि आश्रमों में हमारे शिक्षा-केन्द्र थे जो जंगलों एवं पर्वत-शिखरों पर होते थे। गुरु और शिष्य दोनों का जंगलों एवं पर्वतों की जड़ी-बूटियों से प्रत्यक्ष सम्पर्क होता था। देशाटन और तीर्थ-भ्रमण के बहाने देश-देश की जड़ी-बूटियों का प्रत्यक्ष ज्ञान भी सुप्राप्य रहा ही होगा। सम्भवतः इन्हीं कारणों से आर्षग्रन्थों में भेषज द्रव्यों के नामरूपात्मक विवेचन को स्थान नहीं मिला है—वहाँ गुणकर्मात्मक पक्ष के सूक्ष्म और व्यापक अध्ययन के फलस्वरूप उनके रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव पर आधारित एक अत्यन्त व्यापक और प्रगतिशील सिद्धान्त की स्थापना अवश्य मिलती है। आश्रमीय शिक्षण-व्यवस्था के युग में जिस सरल और सामान्य व्यावहारिक ज्ञान के विषय को लेखबद्ध किये जाने की योग्यता प्राप्त न थी वह आज की परिवर्तित परिस्थितियों में इतने गाढ़ अन्धकार में उपेक्षित दशा में पड़ा है कि उसको प्रकाश में ला कर उसका उद्धार करना एक कठिन काम हो गया है।

जब हमारी आश्रमीय शिक्षण-व्यवस्था नगरों के कृत्रिम वातावरण में उठकर चली आई और जड़ी-बूटियों से हमारा साक्षात् सम्बन्ध टूट गया तब हमें इस विषय को लेखबद्ध करने की आवश्यकता अवश्य हुई होगी, परन्तु तब तो इसका ज्ञान प्राप्त करना अत्यन्त व्यय और श्रमसाध्य होने के कारण एक कठिन समस्या का रूप हो चुका होगा। यही कारण है कि नाम और रूप के द्वारा सम्यक् परिचय कराने वाला प्राचीन साहित्य हमारे पास नहीं के समान हैं और बाद में तैयार किया हुआ ऐसा साहित्य अधूरा, भ्रमात्मक और दोषपूर्ण प्रतीत होता है। द्रव्य-गुण-विज्ञान में द्रव्य-परिचय के विषय का समावेश कर देना द्रव्य-परिचय विषयक हमारी उपेक्षा और उदासीनता का पर्याप्त द्योतक तो है ही, साथ ही दुरूह और कष्टसाध्य होने के कारण दिन-पर-दिन इसका अन्धकार में पड़ते जाना स्वाभाविक भी हो गया। ऐसी परिस्थिति में आयुर्वेद के द्रव्य-परिचय सम्बन्धी साहित्य के निर्माणका जो भी समय-समय पर प्रयत्न होता रहा, उसका एक संक्षिप्त ऐतिहासिक दिग्दर्शन यहाँ असंगत नहीं होगा।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट आदि प्राचीन आचार्यों ने भेषज द्रव्यों के नामरूपात्मक विवेचन को आवश्य-ही नहीं समझा।

उन्होंने तो उद्भिज्ज प्रधान भेषज द्रव्यों के विषय को गोपादि वनवासियों के हवाले कर दिया था। इसके बाद जब आश्रमीय शिक्षण-व्यवस्था समाप्त हो गई, गुरु-शिष्य परम्परा तथा सम्भाषा-परिषदों का काल क्रमशः निकल गया, अव्यवस्था तथा राजविप्लव आदि कारणों से ज्ञान परम्परा की कड़ी टूट गयी तब क्रमशः मौलिक प्रतिभा भी लुप्त सी हो गई और केवल टीका तथा संग्रहकारों का युग आ गया जिसे हम मध्यकालीन आचार्यों का युग कह सकते हैं। इनमें हम अर्थ ग्रन्थों के **टीकाकार चक्रपाणिदत्त, डल्हन, हेमाद्रि,** तथा **अरुणदत्त** आदि की और **कैय्यदेव, धन्वन्तरि, मदनपाल, राजनिघण्टुकर्ता श्रीनरहरि, राजवल्लभ** तथा **श्रीभावमिश्र** आदि निघण्टुकारों एवं संग्रहकारों की कृतियों को पाते हैं। टीकाकारों में केवल महामति डल्हन एक ऐसे हैं जिन्होंने भेषज द्रव्यों पर देशभेदादि से नाम तथा मतान्तर दे कर अधिक प्रकाश डाला है। इन्होंने अपनी टीका में अपना मत दे कर "इत्येके" "अथवा", "इत्यन्ये" कह कर अन्य आचार्यों का मत भी प्रदर्शित किया है। इससे स्थिति अधिक बिगड़ने नहीं पाई थी। उस समय तक भेषज द्रव्यों के नाम-रूप के सम्बन्ध में जो सन्दिग्धता आ चुकी थी उससे वे अनभिज्ञ नहीं थे। एक शास्त्रीय द्रव्य के स्थान में प्रयुक्त होने वाले देश-देशान्तरों के भिन्न-भिन्न द्रव्यों को जानते और पहचानते थे। इससे यह मालूम होता है कि श्री चरकाचार्य आदि के बतलाये हुए मार्ग को अपना कर और जंगल-निवासियों के सम्पर्क में जा कर वनौषधियों के नाम एवं रूप के प्रत्यक्ष ज्ञान की प्रवृत्ति उस समय भी कुछ-न-कुछ बनी हुई थी।

अब पृथक् निघण्टुओं की रचना का समय आता है। **श्री चक्रपाणिदत्त** (११ वीं शताब्दी) ने **औषधगुणधर्मशास्त्र** और **मुक्तावली** नामक दो निघण्टुओं की रचना की। इसी समय एक-दो शताब्दी पूर्व से निघण्टु ग्रन्थों की पृथक्-पृथक् रचना का प्रारम्भ माना जा सकता है। इस समय तो अन्धकार का पूर्ण प्राबल्य दिखाई देता है। वनचरों से सम्पर्क स्थापित करके वनौषधियों के नाम और रूप का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करना पूर्णतः समाप्त हो चुका है और अपनी कृतियों में स्वरूप-परिचय-सम्बन्धी पूर्वाचार्यों एवं समकालीन लेखकों के वचनों का संग्रह कर देना ही पर्याप्त समझ लिया गया है। यह संग्रह भी पर्यायवाची संज्ञाओं का है, अतः किसी एक शास्त्रीय द्रव्य के वर्णन में अनेक पर्यायवाची नामों का जमघट हो गया है। ऐसे वर्णनों में देश-देशान्तरों के विभिन्न मतान्तर होते हैं, पर देखने से ऐसा प्रतीत होता है कि किसी एक ही भेषज-द्रव्य का अनेक पर्याय नामों के द्वारा वर्णन किया गया है। इस बात को हम **मूर्वा-वर्णन** के उदाहरण द्वारा वाचकों के सामने रखना चाहते हैं।

मूर्वा नामक शास्त्रीय द्रव्य श्री डल्हन के समय में ही सन्दिग्ध हो चुका था। डल्हन की टीकाओं से विदित होता है कि इस सम्बन्ध में उन्होंने तीन मतों का उल्लेख किया है—(१) **मूर्वा चोरस्नायुः यया पूर्वदेशे गुणान् कुर्वन्ति धनुषाम्**; (२) **अन्ये कोविदारयुग्मपत्रां लताविशेषां मूर्वामाचक्षते**; (३) **मूर्वा धनुर्गुणोपयोग्या "दुधऊ" इति लोके**। पहले मत को उन्होंने फिर अन्यत्र '**मूर्वा कुमारी सदृशः स्वल्पविटपः' "हगौड़" इति लेके** कह कर व्यक्त किया है। इन तीनों मतों में प्रथम और तृतीय मतों पर उनकी समान आस्था प्रतीत होती है—द्वितीय मत उन्हें सम्भवतः स्वीकार्य नहीं था और साथ ही शेष दो मतों पर अपना कोई स्वीकारात्मक निर्णय भी वे न दे सके थे। कहीं एक को और कहीं दूसरे को उन्होंने प्रधानता दी है। इस बात को कुछ आधुनिक विद्वान् लिपिकारों का प्रमाद या बुद्धि-वैभव बता कर यह कहते हैं कि वास्तव में उन्होंने अपनी मूर्वा विषयक टीकाओं में केवल दो मतों का उल्लेख किया है। मेरा मत है कि यद्यपि अज्ञानवश आजकल लगभग ५-६ विभिन्न वनस्पतियों को मूर्वा कह कर प्रसिद्ध किया गया है, परन्तु आज भी उसमें तीन ऐसी हैं जिन्हें मूर्वा मानना युक्तिसंगत हो सकता है। इनमें एक **मालझन** या **मालुआवेल** नामक लता है जिसे डल्हन ने "कोविदार युग्मपत्रा" कहा है। दूसरी **मरूआवेल** नामक क्षीर लता है जिसे उन्होंने "दुधऊ" कहा है और तीसरा डल्हन का कुमारी सदृश स्वल्पविटप "हगौड़" इति लोके और **चोरस्नायु** है जिसे आजकल बंगीय वैद्य मूर्वा के स्थान में ग्रहण करते हैं। चरक चतुरानन चक्रपाणिदत्त और वाग्भट के टीकाकार अरुणदत्त तथा हेमाद्रि—तीनों की मूर्वा-स्वरूप-ज्ञान-सम्बन्धी स्थिति एक-सी प्रतीत होती है। उन्हें मूर्वा का या तो पूर्ण निश्चय था या वे इससे बिल्कुल अनभिज्ञ थे। मूर्वा-सम्बन्धी परिचय निघण्टुओं में कैसा है अब उसे देखिए और तुलना कीजिए।

पृथक्-पृथक् निघण्टुओं के मूर्वा-वर्णन पर अलग-अलग विचार करने से व्यर्थ लेखका विस्तार होगा अतः ऐसा न करके समष्टि रूप से उनके स्वरूप को हम बतलाते हैं। कुछ निघण्टुकारों ने मूर्वा का और मूर्वाविशेष कह कर एक दूसरे द्रव्य मोरट का वर्णन किया है। इन्होंने भी मूर्वा के पर्यायों में "मोरटा" शब्द दे दिया है। अन्य निघण्टुकारों ने मूर्वा और मोरटा को भी पृथक् नहीं किया बल्कि मोरटा का समावेश पर्याय रूप में मूर्वा में ही किया है। इनके वर्णनों से पाठकों को इस बात का तनिक भी आभास नहीं मिलने पाता कि मूर्वा के जितने पर्याय दिए गए हैं वे किसी एक वनस्पति के लिए नहीं वरन् कई वनस्पतियों के लिए पृथक्-पृथक् उपयुक्त हैं। वस्तुस्थिति यह है कि निघण्टुकारों ने अधिकतर बिना प्रत्यक्ष ज्ञान के शास्त्रीय द्रव्यों के लिए विभिन्न आचार्यों द्वारा प्रयुक्त नामों का एक साथ संग्रह कर दिया है और वर्णित द्रव्य को प्रत्यक्ष देख कर यह जानने का प्रयत्न नहीं किया कि जिन पर्यायों द्वारा किसी वनस्पति का परिचय लिखा जा रहा है वे उस वनस्पति के लिए उपयुक्त हैं या नहीं। यदि ऐसा किया गया होता तो डल्हन के समय की स्थिति बनी रहती और हमें विभिन्न मतान्तरों पर विचार करने का तथा स्वयं किसी निर्णय पर पहुँचने का मार्ग खुला रहता। एक शास्त्रीय द्रव्य के कई प्रतिनिधि द्रव्य हमारे सामने रहते जिन पर परीक्षण और प्रयोग करने की अन्वेषणात्मक प्रवृत्ति हमारे अन्दर बनी रहती। निघण्टुकारों ने **पीलुपर्णी, पृथक्पर्णी** और **त्रिपर्णी**--ये तीनों पर्याय मूर्वा के लिए दिए हैं जो आर्षग्रन्थों में किसी एक ही वनस्पति का नाम है, परन्तु हमारा मत है कि पीलुपर्णी चित्रकूटस्थ "मोरहरी" अर्थात् Maeria arenaria के लिए (सम्भवतः डल्हन निर्णीत मोरट), पृथक्पर्णी, मालझन या मालुआवेल नामक लता के लिए (डल्हनोक्त कोविदार--युग्मपत्रा लता-विशेषा) और त्रिपर्णी बम्बई प्रान्त की "मोरवेल" या "रानजाई" के लिए (जिसे वहाँ आजकल के वैद्य मूर्वा मानते हैं) उपयुक्त है।

अब यदि निघण्टुकारों के वचनों का संग्रह करके मूर्वा का निर्णय करते समय हम ऐसी कोई वनस्पति ढूंढ़ निकालना चाहें जो पीलुपर्णी भी हो, पृथक्पर्णी और त्रिपर्णी भी हो तो शायद "विनायकं प्रकुर्वाणो रचयामास वानरम्" वाली लोकोक्ति चरितार्थ होगी। इसी प्रकार मूर्वा के वर्णन में दिए अन्य पर्यायों पर भी विचार करने से ऐसा प्रतीत होता है कि वे सब मिल कर कुछ वनस्पतियों की ओर संकेत करते हैं जो आज भी विभिन्न प्रान्तों में मूर्वा के स्थान में ग्राह्य मानी जा रही है। ये हैं--(१) मरोड़फली (मुरंगिका) जो वास्तविक आवर्तकी है, (२) कुमारी सदृश स्वल्प विटप (चोरस्नायु) जिसे अधिकतर वंगीय वैद्य मूर्वा मानते हैं। (३) मालझन या मालुआवेल (कोविदारयुग्मपत्रा), (४) चित्रकूट की मुरहरी (मधुरसा, पीलुपर्णी, तेजनी आदि), (५) बम्बई प्रान्त की मोरवेल (त्रिपर्णी) और (६) मरुआवेल या चिन्हार (अतिरसा, गोकर्णी, स्रुवा आदि) जिसे डल्हन ने सम्भवतः धनुर्गुणोपयोग्या "दुधकं" इति लोके कहा है। ऐसे पर्याय-संग्रहों द्वारा भ्रमात्मक वर्णन करने का दोष न्यूनाधिक मात्रा में सभी उपलब्ध निघण्टुओं में है, परन्तु श्री नरहरिकृत राजनिघण्टु और अर्वाचीन आचार्य श्री शालिग्रामकृत वृहन्निघण्टु रत्नाकर में तो यह दोष सीमा को पार कर गया है।

अब भेषज द्रव्यों के परिचयार्थ लिखे गए अर्वाचीन भाषा ग्रन्थों को देखिए। यही दोष उनमें हमें एक दूसरे रूप में मिलते हैं। सभी आधुनिक ग्रन्थकार चिकित्सोपयोगी द्रव्यों का वर्णन करते हुए विभिन्न प्रान्तों और प्रान्तीय भाषाओं में प्रचलित उनके नामों को देना आवश्यक समझते हैं और आवश्यक है भी। परन्तु उनका वह नाम-संग्रह वैसा ही भ्रमात्मक और दोषपूर्ण निकलता है जैसा कि निघण्टुओं का पर्याय-संग्रह। प्रत्यक्ष ज्ञान के अभाव में अप्रामाणिक ग्रन्थों का आश्रय ही ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है। उदाहरणों द्वारा इसे भी समझ लेना चाहिए।

ज्योतिष्मती के भाषा-नामों में हिन्दी नाम **मालकांगनी** और बंगाली नाम **लताफटकी** मिलता है। यद्यपि मालकांगनी और लताफटकी पृथक्-पृथक् वनस्पतियों के नाम हैं। इसी तरह **पाषाणभेद** का मराठी नाम **पानाचाओवा** और लेटिन नाम Saxifraga ligulata, **प्रियंगु** का मराठी नाम **गहुला,** लेटिन नाम Aglaia और वर्णन फूलप्रियंगु नामक Callicarpa macsophylla वाचक भिन्न द्रव्य का रहता है। **माचिका** का हिन्दी नाम **मोइया** दे कर वर्णन पटसन का किया जाता है। वर्णन किसी एक वनस्पति का और प्रान्तीय नाम विभिन्न वनस्पतियों का देना प्रान्तीय मतभेदों को अवश्य प्रदर्शित करता है। किन्तु ऐसे ग्रन्थ मतभेदों से अनभिज्ञ जिज्ञासुओं के लिए कितने भ्रममूलक सिद्ध होंगे इसका अनुमान सहज में लगाया

जा सकता है। ऐसे नामसंग्रह का कारण वही है जो निघण्टुओं के पर्यायसंग्रह का। आधुनिक ग्रन्थकार प्रान्तीय नामावली देते समय यह छान-बीन नहीं करते कि जिस वनस्पति का एक शास्त्रीय नाम से वे वर्णन करना चाहते हैं, प्रान्तीय नामावली में उसी वनस्पति के नाम दिए जाएँ न कि उस शास्त्रीय नाम पर प्रयुक्त विभिन्न प्रान्तों में विभिन्न वनस्पतियों के। यह पद्धति अज्ञानमूलक, भ्रमोत्पादक और अवैज्ञानिक है जिसका परित्याग भावी ग्रन्थकारों द्वारा अवश्य होना चाहिए। वर्तमान काल के परिचय ग्रन्थों में वैज्ञानिक (लैटिन) नामों का समावेश होने लगा है और यह निःसन्देह सुधार की स्थिति है। वैज्ञानिक नाम एकार्थवाची होते हैं। किसी भेषज-द्रव्य के लैटिन नाम का निश्चय हो जाने पर किसी प्रकार की सन्दिग्धता नहीं रह जाती। परन्तु इनके उपयोग में भी लेखक महोदय वनस्पति-शास्त्रियों से परीक्षा करवाये बिना ही ऐसे नाम लिख देते हैं जो अभीष्ट वनस्पति के शास्त्रसम्मत नाम नहीं होते। जैसे—कहीं-कहीं चिरायता के प्रसंग में उसके लैटिन नाम की जगह Swertia Enicostema और Exacum तीन विभिन्न जातियों की वनस्पतियों के नाम लिखे हुए मिलते हैं और साथ ही वर्णन इनमें से किसी एक का न हो कर कालमेघ (Androgrophis) का किया जाता है। इस प्रकार के नामों से तो द्रव्यों के स्वरूप का निर्णय नहीं हो पाता बल्कि वह और घपले में पड़ जाता है।

उपलब्ध द्रव्य-परिचय-सम्बन्धी साहित्य का जैसा स्वरूप ऊपर बतलाया गया है, उसे देख कर तो यही कहना पड़ता है कि जब तक द्रव्यगुणशास्त्र से द्रव्य-परिचय के विषय को पृथक् करके स्वतन्त्र रूप से उसमें अन्वेषण और अध्ययन की व्यवस्था न होगी तब तक इस उपयोगी अंग का उद्धार होना असम्भव है। इसी विचारधारा को सामने रख कर **अब हम आयुर्वेद-हितैषियों के समक्ष एक योजना रखना चाहते हैं जिसमें द्रव्य-परिचय-सम्बन्धी अन्वेषण, नवीन ग्रन्थ-निर्माण, तथा शिक्षण आदि की व्यवस्था पर प्रकाश डाला गया है।**

हमें आयुर्वेदोद्धारकों को सावधान कर देना है कि जब तक इस विषय की ओर हमारा उपर्युक्त दृष्टिकोण नहीं होगा तब तक स्थिति के निरन्तर बिगड़ते जाने का ही भय है। आयुर्वेद विद्यालयों के पाठ्यक्रमों में अभी द्रव्य-परिचय का विषय द्रव्यगुण के साथ जुड़ा हुआ है। हम यह मानते हैं कि भेषज द्रव्यों का स्वरूप-निर्णय अन्ततः उनके गुणों के ही आधार पर होगा, फिर भी जिस तरह द्रव्यगुण और चिकित्सा के विषय परस्पराश्रित होते हुए भी पाठ्यक्रमों में अपना-अपना स्वतन्त्र स्थान रखते हैं वैसे ही इन दोनों विषयों को पृथक् कर देना वाञ्छनीय प्रतीत होता है। एक साथ रहने के कारण भी यह विषय दिन-पर-दिन उपेक्षित होता गया है। द्रव्य-गुण-शास्त्र की आधुनिक क्रियात्मक परीक्षाओं में प्रायः यही देखा जाता है कि द्रव्यों के गुणों पर ही परीक्षक अधिकतर जोर देते हैं और उनके नामरूपात्मक परिचय पर बहुत कम। अध्यापक और विद्यार्थी दोनों ही इस विषय में बहुत कम दिलचस्पी रखते हैं; क्योंकि आज की परिस्थिति में इस विषय का अध्ययन-अध्यापन दोनों ही बहुत कष्ट और व्ययसाध्य होता है। आश्चर्य तो इस बात का है कि यद्यपि इस उपेक्षा-वृद्धि के कारण हमारी शास्त्र-मर्यादा की अपार क्षति हुई, अनेक प्रभूत गुणसम्पन्न दिव्य ओषधियों को हम खो बैठे और दिन-पर-दिन हमारी आर्ष सम्पत्ति क्षीण होती जा रही है फिर भी सामान्य वैद्यों की कौन कहे—देशी चिकित्सा-प्रणाली के पुनस्संगठनकर्ताओं का भी ध्यान इधर आकर्षित नहीं हुआ है। प्रस्तावित योजना का संकेत हम "वनौषधि-दर्शिका" नामक पुस्तिका की भूमिका में पहले कर चुके हैं और संयुक्त प्रान्तीय सरकार द्वारा नियुक्त आयुर्वेद-यूनानी चिकित्सा-प्रणाली-पुनस्संगठन समिति के समक्ष एक स्मृति-पत्र के रूप में इस योजना के अन्वेषणात्मक अंग पर अपना विचार मैंने उपस्थित कर दिया था, फिर भी इसे कार्यान्वित करने की बात कहीं से भी सामने नहीं आयी। भेषज द्रव्यों के सम्यक् स्वरूप ज्ञान की महत्ता को समझ कर इस योजना को एक बार पुनः उपस्थित किया जा रहा है, आशा है आयुर्वेदज्ञ इस पर अवश्य विचार करेंगे। प्रस्तुत योजना के तीन अंग होंगे। (१) अन्वेषण द्वारा सन्दिग्ध भेषज द्रव्यों का स्वरूप-निर्णय, (२) वैज्ञानिक पद्धति द्वारा निर्णीत एवं चिकित्सा में प्रयुक्त सभी द्रव्यों के स्वरूपों का वैयक्तिक अध्ययन तथा वर्गीकरण द्वारा उनका श्रेणीबद्ध ज्ञान तथा (३) भेषज-परिचयशास्त्र को स्वतन्त्र विषय मान कर उसके अध्ययन-अध्यापन के लिए पृथक् ग्रन्थों का निर्माण और स्वतन्त्र शिक्षण-संस्थाओं की स्थापना। इस योजना में पहले अन्वेषण कार्य का सर्वप्रथम स्थान होगा। अन्वेषण का क्षेत्र कितना विस्तृत होगा और इसकी पद्धति

क्या होगी इसकी जानकारी के लिए हमें **श्रद्धेय श्रीयुत वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य द्वारा लिखित "आयुर्वेद में अनुसन्धान और प्रतिसंस्कार" शीर्षक वह लेख देखना चाहिये जो "सचित्र आयुर्वेद" के अक्टूबर, १९४९ के अंक में प्रकाशित है।"**

उपर्युक्त योजना के केवल दो विषयों पर हम कुछ विशेष निवेदन करना चाहते हैं, वे हैं द्रव्य-परिचय-शास्त्र में वैज्ञानिक वर्गीकरण द्वारा द्रव्यों का श्रेणीबद्ध अध्ययन और इस विषय के लिए स्वतन्त्र शिक्षण की व्यवस्था। किसी विषय के अध्ययन को वैज्ञानिक रूप देने के लिए उसके श्रेणीबद्ध ज्ञान की आवश्यकता होती है। आयुर्वेदीय भेषज द्रव्यों में औद्भिद् द्रव्यों का प्राधान्य है। नवीन परिचय ग्रन्थों में किसी उपयुक्त वर्गीकरण का आश्रय ले कर चलने में भी हमारा अध्ययन वैज्ञानिक होगा। आयुर्वेद में वनौषधियों के वर्गीकरण का कोई एक निश्चित आधार नहीं रहा है। कहीं उनके गुण-कर्म के सादृश्य को, कहीं उनके प्रयुक्त अंग को और कहीं बिना किसी आधार के ही वर्गों का निर्माण किया हुआ मिलता है। पाश्चात्य प्रणाली में द्रव्यों के गुण-कर्म पर लिखी हुई पुस्तकों में प्रायः शरीर के विभिन्न अंगों एवं संस्थानों पर कार्य करने वाले द्रव्यों को भिन्न-भिन्न वर्गों में रखा जाता है और द्रव्य-परिचय के ग्रन्थों में प्रायः औषधीय मूल, काण्ड, पुष्प, फल, बीज, त्वक् एवं पञ्चांग आदि पृथक्-पृथक् बाँटे जाते हैं। द्रव्यों के स्वरूप अध्ययन में अन्तिम वर्गीकरण निस्सन्देह उपयोगी है, परन्तु अभी हमारे द्रव्य-परिचयशास्त्र की जैसी शैशवावस्था होगी उसमें यह वर्गीकरण अधिक उपयोगी न होगा। अभी तो हमें अपनी चिकित्सोपयोगी वनस्पतियों को जंगल में जा कर पहचानना है। उनके जिन अंगों का चिकित्सा में उपयोग होता है उनके स्वरूपादि का सूक्ष्म अध्ययन—जैसा पाश्चात्य करते हैं—कुछ दिनों के बाद होगा। अतः प्रकृति में उगी हुई वनस्पति को पहचानने और उनके स्वरूप ज्ञान के लिए क्रमिक औद्भिदीय वर्गीकरण (Natural systematic classification) ही सबसे उपयुक्त मालूम होता है। यह वर्गीकरण वनस्पतियों के क्रम-विकास पर आधारित है। अतः प्रत्येक वर्ग की वनस्पतियों में बन्धुत्व होता है। उस बन्धुत्व का निर्णय उनके अंग-प्रत्यंगों विशेषतः पुष्पों की रचना-साम्य पर होता है। प्रत्येक वर्ग के कुछ ऐसे प्राकृतिक लक्षण होते हैं जिनके द्वारा उस वर्ग की वनस्पतियों की पहचान होती है। इस प्रकार श्रेणीबद्ध होने पर वनस्पतियों का स्वरूप-ज्ञान प्राप्त करना और उन्हें पहचानना सुगम तो होता ही है इसके अतिरिक्त भेषज द्रव्यों के अध्ययन के लिए यह वर्गीकरण एक दूसरे प्रकार से भी उपयोगी सिद्ध होना चाहिये। जिस बन्धुत्व के कारण किसी वर्ग की वनस्पतियों में समान आकृति-लक्षणों का विकास होता है उसी के कारण उनमें समान औषधीय गुणों का होना असंगत नहीं मालूम होता। जिन पैत्रिक एवं आनुवंशिक उपादानों के कारण किसी वर्ग की वनस्पतियों में रचनासाम्य उत्पन्न होता है वे अथवा उसी प्रकार के अन्य उपादान उनके रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव पर अपनी छाप न छोड़ें यह एक असम्भव-सी बात मालूम होती है। इसलिए वर्गगत गुण-धर्म विषयक साम्य जैसी कोई बात होती है या नहीं, होती है तो किस वर्ग में किस मात्रा में होती है——यह अन्वेषकों के लिए अत्यन्त रोचक और गम्भीर अध्ययन का विषय होगा।

हमें तो आशा है कि जैसे हमारे प्राचीन आचार्यों द्वारा भेषज द्रव्यों का सूक्ष्म और विस्तृत अध्ययन होने के कारण तद्विषयक रसादि पर आधारित एक महाव्यापक सिद्धान्त हमें मिला है जिससे सर्वथा नवीन और अज्ञात द्रव्यों के गुण-धर्म का परीक्षण सम्भव बतलाया गया है; उसी प्रकार आधुनिक वैज्ञानिक वनस्पति वर्गों के गुणधर्मावलम्बित साम्य और वैषम्य के रहस्य को जान लेने पर संसार की कोई भी वनस्पति हमें सर्वथा अज्ञात न प्रतीत होगी। यदि हम अपनी वनौषधियों को प्राकृतिक वर्गों में अलग-अलग करके उनके गुण-धर्मों पर विचार करते हैं और रचना-सम्बन्धी लक्षणों की तरह वर्गगत औषधीय गुणों का पता लगाते हैं तो हमें अनेक वर्गों की वनस्पतियों में एक अलौकिक साम्य देखने को मिलता है। जैसे——**अर्ककुल** (Asclepiadaceae की समस्त वनस्पतियाँ (जिनमें सारिवा, अर्क, अर्कपुष्पी, उत्तमारणी, जीवन्ती, गुडमार, मेषशृंगी, तथा चिन्हार (मूर्वा) हैं) उष्णवीर्य, कफघ्न, बड़ी मात्रा में वामक तथा रेचक, दीपक, पाचक, मूत्रल, स्वेदजनक, यकृतोत्तेजक अतः पैत्तिक विकारों में उपयोगी, श्वास, कास आदि कफ रोगों में हितकारी, उत्तम रक्तशोधक और चर्म रोगनाशक सिद्ध होती हैं। इस प्रकार के परीक्षण से यद्यपि अभी कई वर्गों में साम्य की अपेक्षा वैषम्य ही अधिक मिलेगा परन्तु चूँकि अभी वर्गगत साम्य और वैषम्य को

जानने का स्वतन्त्र प्रयत्न नहीं हुआ है बल्कि केवल प्रयोग में आनेवाली थोड़ी-सी वनस्पतियों के ज्ञात गुण-कर्मों के ही ऊपर ऐसे निष्कर्ष निकाले गए हैं, अतः ऐसे निष्कर्षों को अधिक महत्त्व भी देना ठीक नहीं है। स्वतन्त्र परीक्षण और अन्वेषण के बाद ही वास्तविक स्थिति जानी जा सकती है। इतना तो कहा ही जा सकता है कि आधुनिक वर्गीकरण स्वरूप-ज्ञान के लिए सर्वोत्तम है, द्रव्य-गुण की दृष्टि से भी इसे उपयोगी होना चाहिये। इन्हीं कारणों से इसे अपनाना हमें वाञ्छनीय प्रतीत होता है। सन्तोष की बात है कि कुछ अर्वाचीन ग्रन्थों में इसी वर्गीकरण का अनुसरण भी किया गया है। जैसे——आचार्य यादवजी त्रिकमजी कृत "द्रव्यगुणविज्ञान", श्री वामन गणेश देशाई कृत "औषधिसंग्रह" तथा श्री बापालाल, ग० शाहजी कृत "आदर्श निघण्टु" में।

प्रस्तावित योजना को कार्यान्वित करके जिस सर्वांगपूर्ण आयुर्वेदीय द्रव्य परिचयशास्त्र के नवनिर्माण की कल्पना हम करते हैं उसका कितना व्यापक क्षेत्र होगा, इसका कुछ आभास यहाँ दिया जाता है।

इस विषय के अन्तर्गत हमें खनिज, जान्तव तथा औद्भिद सभी प्रकार के भेषज द्रव्यों का अध्ययन करना होगा। उद्भिज्ज द्रव्यों का पहले भौगोलिक विवरण देखना होगा। देश के प्रत्येक प्रान्त में उत्पन्न होनेवाली वनौषधियों की अलग-अलग सूचियाँ तैयार करनी होंगी। साथ ही उनकी परम्परा-प्रचलित नामों की और स्थानीय ग्रामीण चिकित्सा में उनके उपयोगों की जानकारी स्थानीय वैद्यों एवं ग्रामीण जनता से प्राप्त करनी होगी। इतना कार्य सम्पन्न हो जाने पर हम देखेंगे कि इस कार्य-प्रणाली से हमारी अनेक सन्दिग्ध वनौषधियों का निर्णय हो जायगा और नवीन वनौषधियों का बहुत बड़ा भण्डार हमारे हाथ लगेगा। इसके पश्चात् हमारे सामने दूसरा कार्य उपस्थित होगा, जब हमको मालूम होगा कि एक ही वनौषधि विभिन्न प्रान्तों और विभिन्न जल-वायु में उत्पन्न होती है तो हमें यह निर्णय करने की आवश्यकता प्रतीत होगी कि अमुक वनौषधि अमुक प्रान्त या जल-वायु की उत्तम होती है। उनके अनुकूल जल-वायु का ज्ञान होने पर दुर्लभ और कम मात्रा में उत्पन्न होनेवाली वनौषधियों को स्वयं उत्पन्न करने की भी व्यवस्था की जा सकेगी। इस तरह उनकी उपज ही नहीं बढ़ेगी बल्कि कृत्रिम परिस्थितियों में पैदा कर उनकी उपयोगिता भी बढ़ाई जा सकती है। द्रव्यों के गुण-धर्म के परीक्षण के लिए हमारे पास जो प्रयोगशालाएँ होंगी उनमें हमें यह भी पता लगाना होगा कि किन वनौषधियों का संग्रह किस ऋतु में होना चाहिये। उनके किन अंगों का उपयोग अधिक लाभप्रद होगा और उनका संचय एवं संरक्षण किस प्रकार होना चाहिए।

द्रव्य परिचय-सम्बन्धी विषय का क्षेत्र यहीं समाप्त नहीं होता। प्रामाणिक और विशुद्ध वनौषधियों के उपयोगी अंगों का निर्दिष्ट स्थानों से उपयुक्त ऋतुओं में संग्रह करके प्रामाणिक विधि से उन्हें सुखा कर संचित भी कर दिया जाय तब भी हम अर्थलोलुप व्यापारियों के धोखे और ठगदारी के शिकार हो सकते हैं। द्रव्यों का सम्यक् स्वरूप का ज्ञान न होने पर भूल से या जान-बूझ कर हमें दूसरी की दूसरी चीजें दी जा सकती हैं। हम हरी वनस्पतियों के बाह्य स्वरूप से भले ही परिचित हों परन्तु बाजार में मिलनेवाले उनके मूल, त्वक्, पत्रादि को शुष्कावस्था में पृथक्-पृथक् विश्वासपूर्वक पहचान सकना असम्भव होगा जब तक उनकी सूक्ष्म रचनाओं को हम अच्छी तरह न जान लें। इसके लिए हमें आधुनिक वैज्ञानिक विधियों को अपनाना होगा और सूक्ष्मदर्शकयन्त्र का उपयोग भी करना होगा। पाश्चात्य प्रणाली में इस पद्धति से भेषज तत्त्वज्ञ भेषज द्रव्यों के चूर्णों की भी पहचान कर लेते हैं और हम आटा मिला हुआ गुडूची सत्त्व तथा ईंटों का चूर्ण मिला हुआ कबीला स्वीकार करने को बाध्य होते हैं। लांगली को वत्सनाभ कह देना, मुसब्बर को एलबालुक मान लेना और विडंग को कबीला वृक्ष का फल कह देना तो हमारे लिए साधारण-सी बात हो गई है। यह ठीक है कि भेषज द्रव्यों के व्यापारियों पर राष्ट्र की सरकार की ओर से नियन्त्रण रहना आवश्यक है। परन्तु जब तक हम ग्राह्य-अग्राह्य द्रव्यों का स्वरूप-निर्णय नहीं कर लेते तब तक सरकारी नियन्त्रण से भी क्या लाभ होगा। भेषज-निर्माण के लिए प्रामाणिक द्रव्यों का निर्णय हो जाने पर और अभीष्ट प्रकार के द्रव्यों के मिल जाने पर भेषज निर्माण-विधियों में भी एकरूपता लाने का प्रयत्न करना होगा। इतना हो जाने पर ही हम प्रामाणिक औषधियाँ तैयार कर सकेंगे।

RESEARCH IN AYURVED

By

Kaviraj S. N. Bose

Since last few years this has become a problem not only to the Government but also to the Ayurvedic world. Whenever there is a talk about rejuvenization of this ancient system of medicine, the slogan of the necessity of research in Ayurved is raised, may it be from a politician-in-power or an Ayurvedist-in-position. Some steps have already been taken in this direction but it is difficult to assess whether any real progress has been achieved in this sphere. Government has established a central Institute of Research in Indigenous Systems of Medicine, although at a farthest corner of the country, and patronising some other institutions to carry out research work. Different state Governments, singularly minus the State of West Bengal, have also shown some enthusiasm in playing their parts. Some private institutions have also started "Research in Ayurved" in their own way, but I am afraid, even the Central Institute or the Central Government is not aware of exactly what is being done, where, how and with what success. There is no planning behind the work nor there is any co-ordination between the Central Institute and the different units working in different parts of the country. Under such haphazard way of activities, it is no wonder, the ray of success is still out of sight. It may not be out of place to mention here that the first report published from the Central Institute of Research after a lapse of more than three years has been rather discouraging.

A research council for Indigenous medicine had previously been functioning and a fresh research council has been nominated recently. But its function is not only to think of Research in Indigenous System of Medicine, it is also required to look after education, Ayurvedic profession, standardization of Ayurvedic Medicines and other allied spheres of activities which, in my humble opinion, is an utter impossibility. It is feared that no work will have full attention or proper direction. Recently, with the prevailing rumour that the Central Institute of Research, at Jamnagar might be under the control and direction of the Indian Council of Medical Research, it may be, if the rumour is true, legitimately hoped that the research work will be very systematic and productive, but at the same time, it is also feared that the research will be more alienated to the modern medicine than to the Indigenous Systems of Medicine. Naturally, the solution of the problem does not seem to be in sight even at the end of the 2nd five year plan. Then what is about the planning for the 3rd five year plan. Should it also be allowed to pass unobtrusively ?

Whenever the problem of "Research in Ayurved" comes in mind and the sourrounding picture flashes befere it, it seems to be too difficult to turn the trend without a magic wand, gifted by Dhanwantari, the creator of this ancient science. However, every Ayurvedist has his duty towards the science which serves his bread and comfort in this materialistic world and as such, I would like to put a few lines for the consideration of the authorities and the Ayurvedic world. I don't mind, whether it will bear any fruit, but as my duty, dictated by conscience, I undertake it, even at the cost of incurring their displeasure.

It is painful to see that always there is an attempt to achieve the result in shortest possible time, sometimes under most modernised ways and sometimes, through hippocratic means. Is it not better to plan out the whole scheme on a long term basis with the help of an integration between the ultra-modern and hippocratic ways and means. The first and foremost ideal for research in any system of medicines should be to rejuvenate that system, of course, without obstructing any other system being benefitted indirectly through it. The necessity of securing help and co-operation from other systems of medicine should be agreed on principle and the start should be made only from the base and not from the top with a well-thought out plan behind it. Under such an ideal circumstance only, success may be assured.

First of all, a research council should be initiated as a branch of the Council of Indian Medicine as parent body, to plan out the scheme, devise ways & means, co-ordinate and look after the work allotting a particular problem to the most suitable institution. For this purpose a team of Ayurvedic experts in different branches should be selected, supplemented by advisers from the experts in those branches of modern medicine. This type of combination is absolutely necessary under the present circumstances of the deterioated condition of the former full-fledged Ayurved and the far advanced progress made by the modern medicine in recent years. It is also not unknown that some Ayurvedists will vehemently oppose such an idea, but if they search their heart and be possessed with the necessary moral courage, they will definitely welcome the idea for the sake of Ayurved and their future generations.

For the actual procedure of "Research in Ayurved", it has been already suggested that it should start from the bottom and not from the top. Every where clinical research is being mostly undertaken, either to achieve quick success or to secure a substantial amount in the form of a grant from the Central Government, which could not be utilised for lack of proper planning in time. Is is not ridiculous to think of achievements through clinical research acceptable to the modern world when we lack proper knowledge in recognising medicinal ingredients different in their appearances and properties dueto different habits and sources, when we lack the proper knowledge of preparing standard medicines, when we differ in methods of diagnosis, selection of medicines and even on principles of treatment. Such confession might be outragious to some of us, but one should have courage to admit it if a lasting improvement is considered to be our goal. The world has changed immeasurably and no more we are isolated from the other parts of the world. Our achievement is of no use if it is not hailed by other nations, even by the most antagonists of our national systems of medicine. Our country is the greatest resource of medicinal ingredients, both organic and inorganic, which were studied by our ancient preceptors to a great extent. But still there is ample scope for unfolding the virtues in some still known or unknown materials and we should not be the slaves of destiny or hipocracy.

In my humble opinion, Pharmacognestic and Pharmaceutical research work should be the first steps to start with the actual research work. The undisputed materials from different parts of the country should be undertaken for study first followed by the disputed materials and establish their pharmacognosy and preparing them for eliciting their properties. The hurdle of pharmacological trial should be abondoned save and except in cases of harmful or poisonous drugs. Of course, clinical trial under ideal condition is the final stage, but it should be undertaken by different units in more than one institution only when the primary steps are completed. Simultaneously, the survey and collection of drugs from different parts of the country should be undertaken and state-wide trade in genuine drugs started, to help the manufacturers of Ayurvedic medicines to improve the quality of their productions, pending standardization in future. This type of work will be sufficient for a team of scientific workers to consume a period of 5 years, i.e. under the fast-approaching third five year plan. The research work should never be considered as the responsibility of the centre alone, but the actual co-operation from the States should be sought, in whatever way possible. Any non-co-operating State will be a missed link in the chain of the contemplated work and success will be eluding. In my article, "Ayurved in 2nd five year plan", published in "Ayurved", Calcutta in Nov., 55, and "Sachitra Ayurved" in February and April, 56, I tried to make a short study of the prospect of "Research in Ayurved", which may be elaborated in view of the more sympathetic attitude of the Central Government and the availability of more fund for the purpose.

Of course, literary research and research in fundamental principles of Ayurved, may be simultaneously undertaken with great benefit and some units should be entrusted with the work. For literary research it is the foremost necessity to collect the materials from available Ayurvedic literatures suitable for subjectwise study. It is a fact that the progress of Ayurved has been greatly handicapped owing to the loss of its vast literatures during foreign invasions and alien rules. Therefore, the necessity of fulfilling the vacuum thus created can notbe neglected, even if it is found imperative to secure help from other systems of medicine. But unless one knows what he owns, it is not possible to determine the amount of loan he is to borrow from others. So, only after collecting our own materials strewn in different available literatures in somewhat obscure language, it can be assessed how far we shall have to borrow from others for making our science most upto-date. In achieving that aspect of our goal we must not forget the changed circumstances and environments of the world, particularly of our country being so much influenced by the so-called modernised civilization and culture. It will neither be possible to upset the modern trend although we know it for certain that it is not at all beneficial to our country nor to cope with the demand of the present day through our old methods of approach. Naturally, we shall have to be very cautious about our approach towards the problems of the modern civilization and culture imposed upon us and modify our method in such a way that without changing our face, we can satisfy them to a great extent keeping in view the necessity of bringing our country-men by and by in the fold of the great metaphysical approach towards the life sponsored by our ancient sages.

As regards the fundamental research, it is mostly the question of convincing our colleagues of other systems of medicines and even the antagonists of Ayurved of the deep rooted truth embodied in those principles enunciated by our learned sages.

We shall have to understand ourselves the implications of those fundamental principles of Ayurved and explain them in the language understandable by the other parties. There are still a few personalities highly educated in Modern medicine who are really sympathetic towards the aspiration of Ayurved and their assistance may be secured for fulfilling this mission. But to estimate the strength of a person or persons only through the appearance of the bids of perspiration after certain act or exercise, will not difinitely be considered a plausible method for fundamental research in the face of so many mechanical inventions of modern science. We must not allow our ancient science to be triffled with so easily, and try our level best to uphold its honour to the best of our ability.

प्रिंसपल, दयानन्द आयुर्वेदिक
कालेज, जलन्धर (पंजाब)

बैद्यनाथ च्यवनप्राश

सदा, सबके लिए सेवनीय पौष्टिक रसायन

THE PAINLESS AMBIDEXTROUS EXTRACTION TECHNIQUE IN DENTAL SURGERY

BY

Dr. P. V. Jayade

Dental troubles were commonly known even in the prehistoric ages and expert human brains were trying their level best to get rid of them.

Dentistry was as old as medicine in "Ancient India". Sushruta, the famous Ayurvedic Surgeon explained in brief a mumber of major and minor surgical operations in general surgery, as well as in ophthalmology and Dentistry. In the "dark ages" of the past, when the famous Universities of Taxashila and Nalanda were destroyed by the foreigners, the famous Ayurvedic Works were destroyed and nothing is known in details about the methods of the old Surgeons. However, it is clear that they were masters of their arts and that in ancient India Dental Surgery had reached its zenith, in extracting unwanted and offending teeth. Even today we come across, in extracting Saints or Yogis who perform painless extractions of teeth. The Ambidextrous painless Extraction technique in a fully developed, well experienced and systematically arranged method, out of the old Yogic and Ayurvedic holy and wonderful traditions of the past.

"Necessity is the Mother of Inventions."

"Necessity is the mother of inventions." Our "Free Tooth Camps" were very popular and there was a good rush in the camps to take the advantage of the painless extractions. In the beginning the work was done by the right hand only. But day-by-day it was practically impossible to control the crowds and there was tremendous and unbearable strain on the right hand. So, the left hand was taught and alternately the work was carried on by the two hands. Further in order to save the time of both the doctor and the diseased the extractions were done simultaneously in one or two patients. The present painless ambidextrous technique, is the outcome of nearly 15 year's continuous efforts, experiments and research.

Preparation of the Patient.

A small platform of nearly 10" to 12" height is the required seat for the dental patient. The patient has to sit on the seat with all the limbs of the body quite relaxed. This relaxation hepls the further required process and the prescribed height (10") has got the maximum mechanical advantage.

Practitioner's Pose.

The practitioner should stand behind the patient with sterilised pairs of forceps in each hand. A suitable piece of cloth (Preferably a sterile towel) should be put on the head of the patient. (The gagling of any antiseptic solution may be advised if necessary.)

Yogic Process (जालंधरबंध) :

Then gently and steadily the patient should be asked to fix his chin in the Jugular notch of the sternum. This is a similar process (प्रक्रिया) as that of जालंधरबंध in Indian Yoga.

Significance of yoga methcd :

Revered Swami. Kuvalayanandji of Lonavala, explains Jalandhar Bandha as following :— "This जालंधरबंध exercises an upward pull upon the spine and most probably upon the spinal cord and thus works upon the brain. The Yogic tradition traces the name Jalandhara Bandha to this circumstance. The word Jala referring to the brain and to the nerves passngi through the neck and Dhara denoting the upward pull.

When the dental patient is brought under this Jalandhara Pose or the chinlock, there is a regular pull on the spinal cord from the backside, which helps in controlling the pain sensations going towards the receiving centres of the brain chinlock, head manipulation and gentle hand passes over the head and neck have a combined soothing effect on the Maxillary Nerve, Inferior Dental Nerve, The fifth and the VII oranial Nerves, the sp. column and the brains. And perhaps this is the probable reason why even the ambidextrous extractions also are free from pain.

Sunstroke and Unconsciousness :

Back of the neck is more sensitive. Exposure to the rays of the sun (even in the morning) results at times, in sunstroke, a fact which clearly proves that action of anaesthetization is very easy and quick if proper manipulation is done on the nerves and the Spinal cord going through the neck.

Hand manipulation and Relaxation :

Practitioner's right hand on the patients chin should gently move the chin on one side, whereas the left hand should do hand-manipulation and gentle hand passes over the head and neck which will add the relaxation of the muscles and nerves and promote easy action of the extraction feat. The combined effect of the whole process is soothing and when two teeth are simultaneously extracted the patient does not feel any pain totally, nor is he in a position to say whether he is deprived of this one tooth or two. The extractions are so painless that he will offer himself for further extractions quite willingly, which clearly proves that the extractions are absolutely painless.

Application of the Instruments :

After the expected relaxation and the manipulation, the patient should be asked to raise up his head and open the mouth. Immediately, forceps should be applied and extraction should be done in no time. Delay is really dangerous in this process. Because the effect of relaxation lasts only for a few seconds. So, the time factor is very important in this method.

Correct Diagnosis and Proper Judgement :

The doctor should examine the patient carefully, before hand and decide the teeth to be extracted. His memory should be sharp and he should never hesitate or kill time unnecessarily in applying the instruments. The swiftness and deftness of fingers is the real key to sucess.

Nature's Guidance :

Careful examination and observation of thousands of cases of various ages and living under different climatic zones will enable the dental Surgeon to find out the exact position of the teeth their length and the situation in the bonny socket. When the tooth naturally drops down it comes out in a peculiar way of its own. Nature takes it out very carefully. The practitioner should carefully watch the process by which the teeth come out in different persons. This will enable him to apply the forceps and takes out the teeth in the most natural process without causing the least damage to the vital tissues, in the mouth. Careful observation of nature is the best guide.

Force & Leverage :

Twisting or to and fro movement, in extraction, is not admissible in this method. Therefore the doctor should carefully apply the forceps and the force should be applied in such a direction that the tooth should immediately come out. The principle of **Leverage** gives the best mechanical advantage.

Action & Reaction :

Action and reaction is equal and opposite. When only one tooth is extracted the head moves in the opposite direction of the tooth extracted. So, when two teeth are to be extracted the force is to be applied in opposite directions and the result is that the head remains steady. There is neither jerk nor shock. If the forceps are applied intelligently in two opposite directions two teeth from any difficult angles in the upper or lower jaw, can be extracted simultaneously. The extractions are not only painless but this saves the precious time of the practitioner, as well as of the patient. Of course, it is bit difficult apparently. But practice makes a man perfect.

Two Are Treated At A Time

"The painless process applied at once to pair of patients begins with pressing certain spots on their heads, pushing the heads into chests. (After extractions) the patients stare in wonder. Western scientists generally do not know the details of how amazingly Yoga works. Think it may act from induced relaxation and strong mental suggestions."

(*Life Magazine, New York.*)

When the practitioner achieves the skill of extracting two teeth simultaneously in one patient, he can handle two cases at a time with both hands. The pair of patients should be asked to sit on the platform 12" high and the same technique as that of the ambidextrous extraction in one case, is to be observed in two cases also. Chinlock and head manipulation should be done simultaneously in both the cases with two hands. The instruments should be applied quickly and extractions should be done swiftly.

Root Extractions

Most of the roots-stumps can be extracted painlessly with the help of the fine root forceps or with the help of the elevators by the **Leverage method"**. Root extraction by Yoga method is also practically without pain or any post extraction complications.

Extraction of Milk Teeth

When in young children, extraction of unwanted, offending teeth is an absolute necessity, Yoga method is a boon. The practitioner should gain the confidence of the children and can operate upon one or two cases with utmost care, singaly or simultaneously. The teeth come out without the knowledge of the children. The children come to the doctor with frowns, fear and tears but after extractions run away with a smile and cheers.

Scientific Aspect

It is needless to say that this method is beyond scientific doubts. Some people are of opinion that this is not only scientific, but more scientific than any other method as it is based on the most natural principles or phenomenon of life. There is no twisting so the vital tissues are not damaged. No injections are given in the gum tissue so there is no prossibility of repsis. (Inflammation or septic tendency is dueto the artificial passage created in the gums by the injection needle. The practitioner can sterilize all his requirements but he can not sterilize the infected gums of the diseased. The impartial scientific mind will surely realise, that it is the injection needle that is, at times, responsible to carry the infection in the deeper vital tissues or in the general blood circulation by creating artificial passage. The natural immunity in every individual takes utmost care to arrest and localize the infections. But the dental surgeon who acts against nature, is likely to do more harm to the patient.) As the extractions are quick and painless there are no sparks or explosions produced in the mouth which create shock in weak and nervous patients. When teeth are extracted under anaesthetics sparks or explosions are produced. So there is no hesitation in saying that **'Yoga Method'** is more Scientific than any other method.

Foreigners Admit

"Dental patients having their teeth extracted under an anaesthetic run the risk of an explosion in their mouths according to two anaesthetics who claimed that they had produced visible sparks with teeth and dental forceps."

"Two eminent surgeons of London Hospital Dr. L. G. Bourns and Dr. H. V. Morton gave a warning in the issue of **'Lancet'** a leading British Journal."

"When sharp instruments or fine root forceps were applied the best display of sparks could be seen. Specially, when the instruments come in contact with the crowns of molars and when at the time of twisting the teeth, the enamel (The hardest substance in the body) is fractured, sparks are produced which give rise to explosion & ultimately shock."

Magic Or Magnetism

When ignorant people see that the teeth are extracted painlessly without the use of anaesthetics they think that it must be **magic, hypnosis** or **magnetism.** But there is no magic. It is neither hypnotism nor magnetism. It is a well developed scientific technique based on Yogic principels.

Research and Revolution

The art of Dental Surgery in ancient India reached a perfection of its own at the peak of its past glory. This branch of the science is alive today. It must be put to the service of the mankind. It should not be neglected only because it is oriental. This is an art which bids farwell to bring to the common man's door a 'Renaissance' in the current ideas and a practice in the treatment of the teeth both surgical and medical.

If a dental clinic, with a Research Laboratory attached to it on an all India basis, is started in view of the vital importance of the subject, institutions all over India may evol and progress under its inspiration.

This is not only cheapest but best also and at the same time most suited to the pockets of the 250 millions of the poor people in India.

Conclusion and Appeal

If proper research is instituted, this painles technique will throw more and more light o the working of the different sensory nerves which will enable the gynecologists and the general surgeons to bring about the deliveries and the various surgical operations, minor o major painlessly, without the use of the prese anaesthetics, which are generally harmful t the heart and nervous system.

Formerly, India was the seat of various ar and several branches of science. Plastic su gery, Rhinoplasty and various other operatio in general surgery and Ophthalmology is India glorious contribution to the world's Medic Science. India's painless Extraction techniq will also be a similar glorious contribution t the Dental Surgery. And hence in the intere of our Nation, in particular and in the intere of the Humanity in general, this unique wo derful technique should be encouraged who heartedly by both the public and our popul Government.

Physician & Dental Surgeon,
Hubli, Dharwar (Bombay)

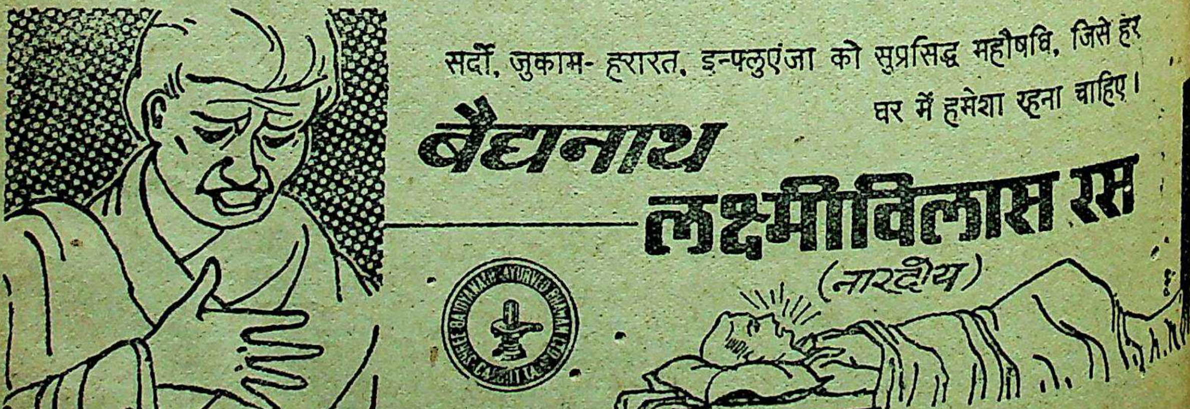
सर्दी, जुकाम- हरारत, इन्फ्लुएंजा को सुप्रसिद्ध महौषधि, जिसे हर
घर में हमेशा रहना चाहिए।
वैद्यनाथ
लक्ष्मीविलास रस
(नारदीय)

जलधनियाँ

वैद्य उदयलाल महात्मा

वर्ग—

(**वत्सनाभादि वर्ग**–N.O. Ranunculaceae.)

नाम—हिं०—जलधनियाँ, देवकाँडर, लटूकरी। बं०—जलपीपल। पं०—काबिकाज। राजस्थानी—अगियू। प्राकृत में—अगिया। तिरुहतमें—पलिका। कुमाऊ—शिम। कोकन—खाज, कोलटी। मराठी–कुलगी। फैजाबाद के पास—काँडर। बनारस के पास–देवकाँडर। अ०—कबीकजज, कफुस्सवअ। फा०—मूषक, करफ्सदस्ती। यूनानी—बटराखियून। अं०—वाटर सेलरी, ले०—रँनन्क्यूलस-स्कलीरेटस।

नामों की सार्थकता

रँनन्क्युलस—मेंढक का लेटिन नाम रेना है, रेना के निवासस्थान—दलदल में होनेवाला क्षुप। सिलेरेटस—दाहक छाला उठानेवाला। हिन्दी नाम—जलधनियाँ—इसके पत्ते धनिये के समान होते हैं और पानी के किनारे होने के कारण जलधनियाँ के पत्ते के नाम से प्रसिद्ध है। इसके फल-अत्यन्त छोटे, अण्डाकार, पिप्पली के समान होते हैं। अतः इसका—बंगला नाम जलपीपल भी सार्थक है। फा०-मूषक; इसका अभिप्राय यह है कि मूषक से फैलनेवाली प्लेग नामक व्याधि पर यह अकसीर है।

उत्पत्तिस्थान

उत्तरी भारतवर्ष और बंगाल में नदियों के किनारे, पेशावर के दलदली भागों और हिमालय की गरम घाटिया, राजस्थान में माउन्ट आबू, सिंध, श्याम, वजीरिस्तान, असम, बिहार विशेषकर पूर्वी पञ्जाब में कपूरथला क्षेत्र के आस-पास बहुत होता है।

वानस्पतिक परिचय

वर्षायु, जलके किनारे पर होने वाला, खड़ा क्षुद्र क्षुप। ऊचाई साधारणतः ७ से १२ इञ्च लम्बा, कभी-कभी एक से तीन फूट। काण्ड मांसल एवं अतिशय नरम। काण्ड और शाखा पोकल, गहरी नालीदार। मूलोद्भूत पौन से १।।। इञ्च व्यास के वृक्काकार ३ विभाग वाले, अग्रभाग कटे हुए, पत्रदण्ड लम्बा। पुष्प १/४ से १/३ इञ्च व्यास के, सफेद या पीली पंखडियाँ और पीले परागकोष युक्त, फल मृदुलोममय, अग्रभाग में लम्बा और गोलाकार। फल-काल—हेमन्त-शिशिर (मार्चतक)।

विशेष वर्णन

यह एक पीलापन लिये हुए पीले रङ्ग का क्षुप है जो साधारणतया नदियों के किनारे वसंत ऋतु में उत्पन्न होता है। इसका तना ½ से १ फीट और कहीं-कहीं एक से ३ फीट की ऊँचाई में, दलदार मोटा और अन्दर से खोखला होता है। इसके पत्तों की डंडियाँ लम्बी और पत्ते १/२ से १। इञ्च तक चौड़े अनुमानतः १/२ इञ्च से ज्यादा गहराई तक तीन हिस्सों में फटे हुए होते हैं। ये हिस्से भी छोटे-छोटे चीरों के जरिए अलग-अलग होते हैं। हर हिस्से पर छोटे-छोटे चीरे और बड़े-बड़े दाने होते हैं। इन हिस्सों की नोकें गोलाई लिए हुए होती हैं। फूल हल्के-हल्के जरद रङ्ग के छोटे-छोटे चौथाई इञ्च से १/३ इञ्चतक चौड़े सरसों के पुष्प के समान बहुत होते हैं। कुछ किस्मों के फूल बनफशी रङ्ग के होते हैं। फूलों में पांच हल्के रङ्ग की पत्तियाँ होती हैं। फूल के बीच में एक रूएँदार मसनद गुल के (चावलिए) उभरे हुए होते हैं। जब फूल झड़ जाता है तो लम्बाई मसनद गुल पर दाने मानीन्द बाल या भुट्टे के दानों के लगते हैं। जैसे-जैसे फल पकता जाता है मसनद गुल लम्बी होती जाती है। फल या दानों के अन्दर नोक की तरह छोटा-सा बीज होता है। इसके पत्ते धनिये के पत्तों से मिलते हुए होते हैं और इसी से इस को जलधनियाँ कहते हैं। पत्तों का स्वाद चरपराहट लिए हुए कड़वा और गन्ध नौसादर की तरह तेज होती है जिसके सूंघने पर आँख और नाक से पानी जारी हो जाता है। अगर इसका रस शरीर पर लग जावे तो खुजली होने लगती है और फुंसियाँ पैदा हो जाती हैं। इसको शरीर पर लगाने से वहाँ छालां पड़ जाता है। गर्मी के मौसम में तालाब तया नदियों के

किनारे यह उत्पन्न होता है। इसके पत्र और टहनियों में राई की-सी झाल होती है।

भेद—यह बूटी कई क़िस्म की होती हैं। मगर ४ जातियाँ प्रसिद्ध हैं।

(१) पत्ते धनिये के पत्तों के समान मगर इससे कुछ चौड़े, रङ्ग हरा-सफेदी मायल। इनमें चेपी भरी रहती है। फूल पीला और नीला दो तरह का होता है। जब सफेदी होती है, तो स्वाद कड़वा होता है। पौधा १ गज से २ गज तक ऊँचा होता है। यह किस्म बहते पानी के क़िनारे होती है।

(२) इसका पौधा छोटा होता है। पत्ते लम्बे और फटे हुए, स्वाद में बहुत चरपरे होते है। जड़ लम्बी होती है। इसके फूल बनफशी रङ्ग के होते हैं और यह किस्म सालतीन अगरियून कहलाती है।

(३) पौधा बहुत छोटा, फूल पीले-सुनहरे रङ्ग के, गंध बहुत खराब और स्वाद भी बुरा होता है।

(४) पौधा बहुत छोटा, फूल का रङ्ग हरापन लिए हुए सफेद होता है और यह किस्म फारिश में ज्यादा पायी जाती है।

रासायनिक संगठन

समग्र क्षुप में स्फटिक सदृश निद्राप्रद दाहक विष मिलता है। जिसे जलाने पर अद्भुत प्रकाश प्रतीत होता है। इसके अतिरिक्त उड्डयन शील तैल और राल आदि मिलते हैं।

उपयुक्त अंग—पात, फूल, मूल आदि समस्त अङ्ग।

प्रकृति—तीसरे दर्जे में गरम और खुश्क।

गुणकर्म—यह विस्फोट जनन दाहक विष है। साथ ही गरम, तेज, खुजली पैदा करनेवाला और जलाने वाला है। अन्दरूनी प्रयोग में बहुत कम और बाहरी उपचार में अक्सर काम में लाया जाता है।

मात्रा—चूर्ण २ से २॥ रत्ती। बच्चों के लिए आधी से १ रत्ती। प्लेग में स्वरस १ से २ तोला तक प्रति आधा या एक घण्टा पर।

उपयोग–(बाहरी तरीका)

अगर इसकी जड़ को बारीक पीसकर सूँघी जाय तो नकछींकनी के सूँघने से भी ज्यादा छींक आती है। इसके पत्तों को पीसकर तर खुजली, नाखूनों की सफेदी, मस्सों और लसिकाग्रन्थियों की शोथ, चिप्परोग, किलास (सफेद धब्बा), स्वाप (सुन्नबहरी) और आमवात एवं क्रोष्टुशीर्ष में इसका उपयोग करने से इन रोगों से छुटकारा मिल जाता है। इसके पत्तों के काढे से गंजा आदमी सिर धोये तो काफी लाभ होता है। यदि किसी के दांत में दर्द और टीस हो तो इसके पत्ते पीसकर मुंह के बाहर दांत के स्थान पर लगाने से दर्द आराम होता है। अगर इसके पत्तों को पीसकर शहद में मिलाकर गर्भाशय में रखा जाये तो बन्द ऋतु जारी होता है और छोड़ हो तो वह भी गिर जाता है। इसके पत्तों की टिकिया बनाकर शरीर के रुग्ण स्थान पर बांधने से किसी को आध घण्टे में, किसी को ६ घण्टे में, और किसी-किसी को १२ घण्टे में छाला पड़ता है और कुछ व्यक्तियों को छाला नहीं भी पड़ता, परन्तु दाह जरूर होता है। इसलिए इसको व्रण-शोथ, गांठ, दाग और हथरसी की इन्द्री पर लगाते हैं। इससे व्रण-शोथादि मिट जाता है या फूट जाता है। गांठों के स्थान में इसके लेप से रक्त का दौरा तेज हो जाता है। इसका प्रलेप कण्ठमाला को बैठा देता है। दाह पर पत्तों का लेप केवल १० घण्टे लगाने से छाला पड़कर तमाम दूषित मवाद या कीटाणु नष्ट हो जाते हैं। इन्द्री पर लेप करने से १ प्रहर में छाला पड़ जाता है; छाले को फोड़ने पर पानी निकल जाता है और व्रण बन जाता है। वह व्रण सफेदे का मरहम लगाने से आराम हो जाता है। साथ ही इन्द्री में ताकत आ जाती है। यदि किसी जख्म का मांस दूषित हो गया हो तो इसके पत्ते या जड़ को कूट कर लगाने से वह मांस गल जाता है, केवल लगाने मात्र से छाला पैदा करता है। लेकिन जब केवल दूषितता ही दूर करनी हो तब इसको मलकर आटा मिलावें या इस को किसी तैल के साथ मिलाकर लेप करने से छाला नहीं डालकर खून का दौरान ज्यादा करता है।

अन्दरूनी उपयोग

यह आभ्यंतरिक काम में कम लाया जाता है मगर जहरीले जानवरों के काटने पर और प्लेग में इसकी थोड़ी खुराक पिलाना लाभकारी सिद्ध हुआ है। इसके हरे पत्तों को यदि घी में भून लिया जाय तो इसकी तेजी का असर कम हो जाता है। इस प्रकार इसका सेवन आमाशय के लिए बलकारक है और पेशाब जारी करता है।

जहरीला असर और उसकी चिकित्सा

यह जहरीली दवा है, अगर अधिक परिमाण में सेवन किया जाय तो विषाक्त लक्षण उत्पन्न होते हैं। इसकी मात्रा ६ माशा—खाना घातक है। इसको जहरीली मात्रा में खा जाने से मुंह, गला, आमाशय और आंतों में सख्त जलन पैदा होती है, कय और दस्त आने लगते हैं, पेशाब ज्यादा आता है, जिह्वा सूज जाती है, कभी-कभी खून का वमन होता है। इस अवस्था में व्यक्ति को ताजा मक्खन या गाय का घी या तिल्ली का तैल पिलावें और इन्हीं की मालिश करावें।

फादे जहर और निर्विषी के चूर्ण को गाय के घी में या मक्खन या तिल्ली के तैल में भावित कर तक्र में पीसकर छाछ के साथ पिलावें। पथ्य में गरम दूध में घी मिलाकर पिलावें, मूँग का यूष घी डालकर या चावलों का मण्ड घी युक्त पिलावें। कुछ शान्त होने पर यवागू, बादाम का तैल या लुवाब बेदाना, दाह नाश करने के लिए पिलाया जाय। बनफशे का तैल या बादाम का तैल नाक में टपकावें। सिर पर गुलाब का तैल या स्त्री का दूध लगावें। सेवन के लिए—लुवाब इसबगोल अनार के रस के साथ प्रयोग करें।

जलधनियाँ से जहरीले जानवरों के दंश की चिकित्सा

यदि किसी व्यक्ति को कोई जहरीला जानवर काटले, तो जलधनियाँ नींबू के रस में पीसकर एक-एक सलाई दोनों आँखोंमें लगावें और इस बूटी को थोड़े-से पानी में औटाकर थोड़ी-सी पिलावें। आँखों से आंसू जारी होंगे और गले से गाढ़ा लार चालू होकर आराम होगा। यदि रोगी बेहोश हो जाय तो उसको चीरा लगाकर देखें, खून निकल आवे तो ललाट, कनपटियों, पिंडलियों, भुजाओं, कलाइयों (पोंहची) पर पछने लगाकर यह पीसी हुई दवा मल दें, थोड़ी देर में होश आ जायगा। ऐसे अवसर पर और प्लेग के समय इसकी तैयार सूची अधिक लाभप्रद सिद्ध होगी। निर्माता इस ओर प्रयत्न करें।

(१) जलधनियाँ से प्लेग की चिकित्सा

यह दवा ताऊन (प्लेग) के वास्ते अनुभूत है। जिन स्थानों पर प्लेग शुरू हो गया हो स्वस्थ व्यक्ति रक्षा के लिए इसके २ से ४ पत्ते तोड़कर खाये तो इसके हमले से बचा रहेगा। प्लेग के रोगी के लिए इस बूटी की ४-५ पत्तियाँ पीस कर रोगी की कलाई पर हलका लेप करें और उस पर कपड़ा लपेट दें, इस पर गरम जल से भरी हुई बोतल या गरम ईंट के टुकड़े का सेक करें। दिन में ३ वक्त इस प्रकार सेंक करें तो ६ घण्टे में ज्वर उतर जाता है। कलाई में लेप की जगह छाला पड़ जाता है इन छालों को २ दिन के बाद साफ कर व्रणवत् चिकित्सा करें। यदि ३ बार लेप करने से भी ज्वर नहीं उतरे तो इसके ४ पत्ते पानी में पीस कर पिलावें। ज्वर उतर जाने के बाद भोजन जल्दी नहीं दें। जब खूब अच्छी भूख लगे तब गाय का दूध भली प्रकार गरम-गरम पिलावें। बाद में साबूदाना की खीर, मूँग का यूष, मांस का शोरवा और फिर रोटी खिलावें।

"प्लेग में अनेक कल्पनाओं द्वारा इसके स्वरसादि का प्रयोग करना चाहिए। प्रतिदिन १ तोला से ६ तोला तक इसका प्रयोग कर सकते हैं। इसको शाक, अचार, चटनी के रूप में भी प्रयोग कर सकते हैं। प्लेग आरंभ होते ही जलधनियाँ का स्वरस १ तोला से २ तोला तक की मात्रा में प्रत्येक आध घण्टे या १ घण्टे के अन्तर से दें। पाँच-छ: घण्टों में लाभ प्रतीत होने लगता है, पाखाना-पेशाब खुलकर होता है और ज्वर भी कम होने लगता है।"

(संक्रामकरोग-विज्ञान)

(२) जलधनियाँ का अचार

इसकी शाखें काट कर पानी में उबालें जब नरम हो जाय तब उतार कर नमक मिलाकर धूप में रख दें। २-३ दिन के बाद इसमें खटाई आ जावेगी। वायु और कफ के रोगों में इसका सेवन हितकर है।

(३) टिंचर जलधनियाँ

जलधनियाँ का स्वरस १ भाग, रेक्टीफायड स्प्रिट १० भाग दोनों को मिलाकर शीशी में डाल मजबूती से

बन्द करें। तीसरे दिन फिल्टर पेपर से छानकर शीशी में रखें।

गुण—ताऊन (प्लेग) के ज्वर में यह टिंचर १५ बूंद २ तोले जल में घण्टे-घण्टे भर के बाद देते रहें तो ज्वर उतर कर आराम हो जायगा। आमाशय को बलवान बनाने के लिए इसको १० बूंद की मात्रा में सेवन करें।

(४) तेल-जलधनियाँ

जल धनियाँ का रस और तिलका तेल समान भाग लेकर विधिवत् तैल सिद्ध करें। गुण—यह तैल पक्षाघात और वायु की व्याधि में लाभप्रद है तथा शरीर के कमजोर हिस्सों पर मालिश करने से उनमें नयी शक्ति आ जाती है।

(५) रौप्य भस्म-विधि

शुद्ध चांदी के कंटकवेधी पत्रों को ११ बार इसके रस में बुझाकर इसके एक पाव नुगदे (कल्क) के बीच में रख के संपुट बना २५ सेर कण्डों में गजपुट दें।

गुण और सेवन-विधि

दिमाग को बल देने व स्मरण-शक्ति की वृद्धि के लिए तथा हमेशा बने रहने वाले प्रतिश्याय के वास्ते नीचे लिखी युक्ति से प्रयोग करें।

रौप्य भस्म ५ माशा, मग्ज मीठा बादाम, मग्ज कद्दू, धनिये की गिरी, सौंफ की गिरी, खस-खस सफेद-प्रत्येक ५ तोला, दाना छोटी इलायची २ तोला, मिश्री २५ तोला। सबका चूर्ण बना लें। मात्रा १ तोला। दूध के साथ सोते वक्त लें।

(६) रौप्यभस्म-विधि

चाँदी के वरकों को जलधनियाँ के रस में ३ दिन घोटकर संपुट में रख २ उपलों की आंच दें। ठण्डा होने पर निकाल लें। इस प्रकार फिर से आंच दिया करें। दूसरी तीसरी अग्नि के बाद बिना चमक की भस्म हो जायगी। मात्रा—१ रत्ती। उचित अनुपान के साथ लेने से वाजीकरणशक्ति पैदा होती है।

हानिप्रद—त्वचा में छाले डालता है। हानि-निवारक गाय का घी। **अभाव**—थूहर का दूध।

अनुभवी सज्जनों से विनय है कि अपनी की गई प्रयोग विधि और उससे होनेवाले परिणाम पर प्रकाश डालने की कृपा करें।

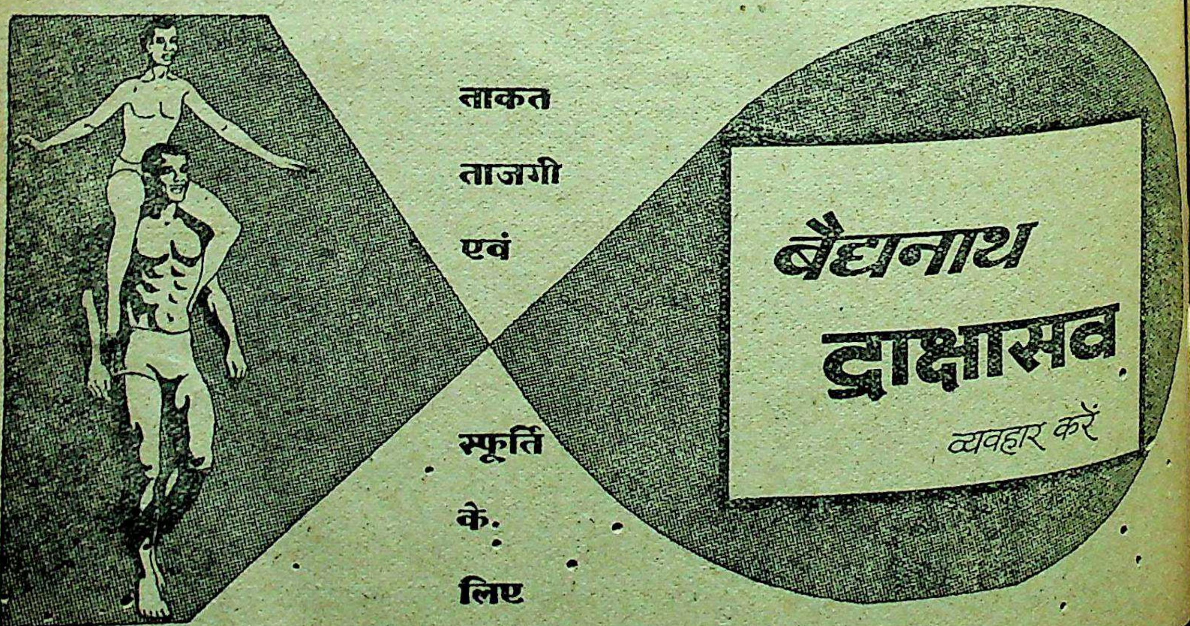

कुटज

वैद्य ज्ञानेन्द्र पाण्डेय, आयुर्वेदरत्न

वर्ग—चरक और सुश्रुत संहिता में कुटज को निम्नलिखित गणों में रखा गया है :—

चरक	सुश्रुत
अर्शोघ्न	आरग्वधादि
कण्डूघ्न	पिप्पल्यादि
स्तन्य शोधन	हरिद्रादि
आस्थापनोपग	बृहत्यादि
वमनद्रव्येषु	लाक्षादि
	ऊर्ध्वभागहर

भावप्रकाश ने गुडूच्यादि वर्ग में तथा **शालिग्राम निघण्टु** ने अष्टवर्ग में रख दिया है।

अब आधुनिक वर्गीकरण की ओर जरा दृष्टि डालिए, कुटज का वर्गीकरण तीन प्रकार से कर सकते हैं—

(अ) **प्रकृति सार्धम्यानुसार** (Natural similarity) कुटजादि वर्ग–(Apocynaceae, एपोसायनेसी)

(ब) **रचनात्मक**–(Morphological)-वृक्ष,स्थलज

(स) **कर्मानुसार**—(Pharmacological)–पचन-संस्थान प्रभावक वर्ग में रखा गया है।

नाम-पर्याय[1]—हिन्दी–कुड़ा, कुरैया, संस्कृत–कुटज (कूटे शृंगे जायते स्म-अमरकोष),शक्रपर्याय, वत्सक, गिरिमल्लिका, शक्र, वरतिक्त, पाण्डुर, कटुक, कुटक, शक्राशन, कौटज, तिक्तक, रक्तनाशक, वृक्षक, शक्राह्व, कूटज, काही, कालिङ्ग, मल्लिका पुष्प, प्रावृष्य, शक्रपादप, यवफल, संग्राही, पाण्डुरद्रुम, प्रावृषेण्य, महागन्ध, इन्द्रदु, कौट, शक्रशाखी, अंग्रेजी–Ovalleaved Resebay (ओवल्लिव्डरोज़बे), **लैटिन**–Holarrhena Antidysenterica (हौलेरीना-एण्टीडिसेण्टिरिका), बंगला–कुटराज, कुडचिगाछ, गुजराती–कड़ी-दुधेला, कर्नाटकी–कोडसिगेयमरतु, अरबी–तिवाज, मराठी–कालाकुड़ा।

उत्पत्तिस्थान—कुटज-दक्षिण भारत, महाराष्ट्र, हिमालय-प्रदेश, बंगाल, बिहार, आसाम, उड़ीसा में पाया जाता है। कुटज हिमालय के उष्णप्रदेशों में बहुतायत से पाया जाता है। चिनाव से पूर्व की ओर शुष्क वनों में ट्रावनकोर तक पाया जाता है।

वानस्पतिक स्वरूप—कुटज का वृक्ष बहुवर्षायु तथा मध्यमाकार होता है। काण्ड—श्वेताभ एवं मृदु होता है। कोमल शाखाओं को तोड़ने से क्षीर-स्राव होता है। काण्ड का आकार गोल और पृष्ठ कर्कश होता है। शाखाओं पर निकले लम्बे पत्र-दण्डों पर पत्र स्थित होते हैं। पत्र–६ से १२ इंच लम्बे एवं २ से ४ इंच चौड़े होते हैं। वर्ण में हरित, लगभग १८ शिराओं युक्त, शिराक्रम कुटज के पत्रों में समानान्तर प्रकार का होता है। कुटज का वास्तविक पर्ण पर्णवृन्त रहित अर्थात् Sessile प्रकार का, पत्रपृष्ठ मसृण एवं फलकमूल कुछ मोटा होता है, पत्राग्र लम्बाग्र प्रकार का, पत्रधारा-अखण्ड एवं सम्पूर्ण पत्र बादाम के पत्रों की तरह होता है। पर्णक्रम अभिमुख और पत्र उपपत्र रहित हुआ करते हैं।

पुष्प—शाखाग्रोद्भूत, बाह्यकोश के दल ५ एवं पुष्पाभ्यन्तरकोश के दल ५, और पुंकेशर ४-५ होते हैं। पुष्पों का वर्ण-श्वेत, चमेली के पुष्पों की तरह, ईषद्गन्धयुक्त होते हैं।

फली—सवृन्त, ६ से १८ इंच तक लम्बी, एक वृन्त पर दो स्थित पतली शिग्रु की शिम्बी के समान होती है। इसमें यव के समान बीज, लम्बे और धूसर होते हैं। बीजों के ऊपर कोमल रूई जैसी होती है। पुष्पकाल–वर्षा एवं फलकाल—शीत है।

जाति–चरक संहिता में कुटज की दो जातियाँ बतलायी गई हैं। इनके नाम स्त्रीकुटज और पुंकुटज हैं। ये कुटज के वृक्षों की जातियाँ, पुंजाति में एवं स्त्रीजाति में रखे जा सकते हैं। दोनों जातियों को श्वेत कुटज और कृष्ण कुटज भी कह सकते हैं।

---

[1] १–कुटजः कूटजः कौटो वत्सको गिरिमल्लिका।
कलिंग शक्रशाखी च मल्लिकापुष्प इत्यपि॥
(भा॰ प्र॰ नि॰)

श्वेत कुटज	**कृष्ण कुटज**
त्वक्–धूसर ।	**त्वक्**–कृष्ण
पत्र–शुष्कता पर पाण्डुर	**पत्र**–शुष्कता पर कृष्ण,
पुष्प–श्वेत, सूक्ष्म, ईषद्गन्ध	**पुष्प**–अरुणाभ, बृहत्, अति गन्धयुक्त,
शिम्बी–युग्म, दोनों सिरों पर पृथक् होती है ।	**शिम्बी**–युग्म, दोनों सिरों पर संसक्त होती है ।
बीज–तिक्त ।	**बीज**–मधुर ।

व्यवहारतः इन्द्रयव (इन्द्रजौ) तिक्त, मधुर––स्वाद-भेद से दो प्रकार के आते हैं ।

स्त्रीकुटज का त्वक्––कृष्ण, पुष्प––श्यावारुण, फल–क्षुद्र और पत्र–छोटे होते हैं ।

पुंकुटज का त्वक् श्वेत, पुष्प-श्वेत, फल–बृहत् और पत्र–मसृण एवं छोटे होते हैं ।

कुटज के संघटन को एक विशेष क्रम से रखूँगा

उत्तम	मध्यम	अवर
रस–तिक्त	कषाय	मधुर
गुण–रूक्ष	लघु	तीक्ष्ण
भूत–वायु, आकाश,	पृथ्वी	जल, अग्नि

कुटज में एक अति तिक्त सत्त्व होता है जो कि पिष्ट (Starch) जैसा और क्षार स्वभावी होता है । बीजों में कुर्चीन व कुर्चिसीन होते हैं ।

शास्त्रीय गुण[1]––कटु, रूक्ष, कषाय, दीपन, शीतल, अर्श, अतिसार, रक्तपित्त, कफ, तृषा, आम एवं कुष्ठ नाशक है । इसके पुष्प[2]––कषाय, दीपन, कटु, शीतल, वातल, लघु, कफ-पित्त, पित्तातिसार, रुधिरविकार, कुष्ठ, कृमिनाशक हैं । इसकी शिम्बी का शाक[3]––आम-वातनाशक, रोचन, कुष्ठ, कृमि एवं रक्तातिसार नाशक है ।

इसकी त्वचा[1]––कटु और सर्वातिसार नाशक है; इन्द्रयव––नाना प्रकार के चर्मरोगहर हैं ।

इसके अतिरिक्त इन्द्रजौ त्रिदोषघ्न, कटु, शीतल, संग्राही, ज्वरातिसार, रक्तार्श, कृमि, विसर्प, कुष्ठ, वात-श्लेष्म, और शूलहर है ।

रस––सामान्य रूप से देखने पर ज्ञात होता है कि इसमें तिक्त, कषाय, मधुर-रस विद्यमान हैं । संघटन के प्रकरण में ही लिख चुका हूँ कि कुटज में वायु और आकाश महाभूत उत्तम मात्रा में विद्यमान रहते हैं, जो कि संयोगतः मुख्य रस तिक्त को उत्पन्न करते हैं । पृथ्वी की, कुटज में मध्यम मात्रा के पूर्वोल्लेखानुसार कषाय रस मध्यम रूप में एवं जल की अवरता के कारण मधुर रस भी कुटज में विद्यमान रहता है । इस प्रकार सिद्ध हुआ कि कुटज में तीन रस होते हैं—तिक्त, कषाय और मधुर ।

वीर्य––रस-विवेचन में निश्चित हो चुका है कि कुटज तिक्त रसयुक्त है, जो कि वातवर्धक है, यह वातवर्धन द्विविध-वीर्य एवं अष्टविधवीर्य में कथित शीतवीर्य द्वारा सम्पन्न हो सकती है, उष्णवीर्य द्वारा नहीं, अतः कुटज शीतवीर्य होता है ।

विपाक––धन्वन्तरि सम्प्रदाय एवं आत्रेय सम्प्रदाय के मतों को ध्यान में रखते हुए विचार करने से कुटज का विपाक कटु होता है, क्योंकि इसका रस तिक्त और कषाय है । पराशरमुनि के मतानुसार विपाक मधुर-रस का होना चाहिए । सुश्रुत के अनुसार कुटज का विपाक तिक्त, कषाय-रस एवं वायु, आकाश प्रधान होने से लघु हो सकता है । प्रधानतः कुटज कटुविपाकी होता है ।

गुण––कुटज में विद्यमान गुण इस प्रकार हैं—

(१) कुटज में लघु गुण उपस्थित है क्योंकि:—

(अ) तिक्त-रस लाघव कर्म करनेवाला होता है । (ब) कुटज में नभ और वायु महाभूत की प्रधानता है जो कि लाघव गुण युक्त होते हैं । (स) कुटज का विपाक कटु है ही, जो कि लाघव करता है । (द) रसों का गुण तारतम्य देखने से ज्ञात होता है कि कुटज का प्रधान रस तिक्त उत्तम लघु है । (ध) कुटज शीत वीर्य वाला है, जो कि लघु होता है । अतः कुटज में लघु गुण युक्त है ।

(२) कुटज में रूक्ष गुण विद्यमान है क्योंकि:—

(अ) कुटज में वायु महाभूत की प्रधानता है । (ब) कटु,

१–कुटजः कटुको रूक्षो दीपनस्तुवरो हिमः ।
अर्शोऽतिसारपित्तास्त्रकफतृष्णामकुष्ठनुत् ।।
(भा० नि०)

२–पुष्पं तु वत्सकस्योक्तं तुवरं चाग्निदीपकम् ।
तिक्तं शीतं वातलं च लघु पित्तातिसारनुत् ।।
रक्तदोषं कफं हन्ति कुष्ठं चैवातिसारकम् ।
कृमींश्चैव हरेदेतदुक्तं पूर्वैश्च सूरिभिः ।।––(नि० र०)

३–तस्य शिम्बीभवं शाकं व्यंजनं चामवातजित् ।
रुच्यं कफघ्नं रक्तातीसारकुष्ठकृमीञ्जयेत् ।।

१–कुटज त्वक् श्लेष्मपित्तरक्तसांग्राहिकोपशोषणानाम् ।
(च० सू० २५)

विपाकी द्रव्य है। (स) तिक्त रस विद्यमान है। (द) कषाय रस भी वायु प्रधान है। अतः कुटज में रूक्ष गुण विद्यमान रहता है।

(३) कुटज में शीत गुण विद्यमान है क्योंकि :— (अ) वायु शीतल होती है। (ब) शीतवीर्य युक्त द्रव्य है। (स) तिक्त कषाय वाला द्रव्य है। अतः शीत गुणयुक्त होता है।

(४) उपरोक्त गुणों के अतिरिक्त कुटज में निम्न गुण भी अल्प मात्रा में पाये जाते हैं :--स्थिर, विशद, खर, सूक्ष्म।

दोब-प्रभाव--(१) कुटज वात की वृद्धि करता है, क्योंकि :--(अ) कुटज कटु एवं लघु विपाकी द्रव्य है, यह विपाक वात की वृद्धि करनेवाला है। (ब) गुणों के विवेचन में ही निश्चित हो चुका है कि कुटज लघु, रूक्ष, शीत गुणयुक्त है। (स) कुटज शीतवीर्य वाला द्रव्य है। (द) नभ, वायु की अधिकता से पूर्ण द्रव्य है।

(२) कुटज कफशामक है, क्योंकि :--(अ) कुटज लघुपाकी द्रव्य होता है। (ब) कुटज तिक्त, कषाय रसों से युक्त होता है। (स) कुटज में रूक्ष, लघु गुणों-युक्त है। (द) वायु महाभूत की प्रधानता वाला द्रव्य है।

(३) कुटज पित्तशामक है, क्योंकि :—(अ) कुटज तिक्त, कषाय रसयुक्त है। (ब) शीत गुणयुक्त द्रव्य है। (स) शीत वीर्य वाला द्रव्य होता है। अतः कुटज पित्तकफ-शामक एवं वातवर्धक है। परन्तु इन्द्रयव को शास्त्रों में त्रिदोषघ्न कहा है, अतः वात का भी शमन है। मधुर कुटज में वातशमन गुण–मधुरता के कारण आ सकता है। तात्पर्यतः कुटज के बीज वातनाशक भी हैं।

कुटज के कर्म--(पाचनसंस्थान) पर

(अ) आन्त्र में उत्पन्न द्रवांश को कुटज का प्रयोग करने से वह आन्त्र में वातवृद्धि करके उसका शोषण एवं कषाय रस के कारण तन्त्रस्थ धातुओं का संकोच कर आन्त्र पर स्तम्भक (Astringents) प्रभाव डालता है। कुटज के संघटन में वायु तत्त्व की प्रधानता है ही क्योंकि यह रूक्ष, शीत, तिक्त है। यूनानी में कुटज के इस कर्म को 'हाबिस' कहते हैं।

(ब) आन्त्र में स्थित कृमियों पर कुटज का प्रभाव पड़ता है। इस प्रकार कुटज कृमिनाशक (Anthelmintic) है।

(स) यकृत के विकार से प्रतिहारिणी शिरा गत, रक्त-संचरण में अवरोध और गुदस्थ शिराओं में रक्त-संचय होने से अंकुर उत्पन्न हो जाते हैं, तो कुटज का प्रयोग यकृत की क्रिया सुधार कर रक्त-वहन में सुविधा उत्पन्न करता है। इस प्रकार यकृत पर इसका प्रभाव 'अर्शोघ्न' है।

(द) आमाशय पर प्रभाव देखने से यह प्राणदा-नाड़ी को उत्तेजित करके क्षुधारस स्राव को बढ़ाता है, दीपन प्रभाव डालने के लिए कुटज वायुप्रधान होता है।

(ध) जिह्वा पर आवृत्त कफ पर भी कुटज की कफ-नाशक, कषाय, तिक्त होने से क्रिया होती है, स्वाद को ठीक करता है।

(न) मुख की श्लेष्मल ग्रन्थियों के निरन्तर कफभूत स्राव से मुखगत कला आर्द्र रहती है, पित्ताधिक्य से शुष्कता हो जाती है। यह सर्वत्र व्याप्त हो तृष्णा-निग्रहण भी प्रभाव करता है।

(ट) कुटज आमाशय एवं आन्त्र में स्थित द्रव पदार्थों का शोषण करता है, क्योंकि इसमें वायु महाभूत की अधिकता होती है। इस कारण कुटज को उपशोषण कहते हैं। यह कर्म विशेषतः कुटजत्वक् द्वारा सम्पन्न होता है।

(ठ) कुटज वायुप्रधान द्रव्य होने से उर्ध्वगामी है, अतः वमन कराता है। अपने साथ शारीर-दोषों का निष्कासन करता है। यह अपनी तीक्ष्णता से आमाशय-स्थित प्राणदा नाड़ी के संज्ञावह सूत्रों को उत्तेजित कर वमन करा सकता है। यूनानी में कुटज के इस कर्म को 'मुकई' कहते हैं।

(ड) कुटज आमाशयिक रस की भी वृद्धि करता है। मुख्य रूप से कुटज स्तम्भक है।

(२) **रक्तवह संस्थान** (Circulatory system):—

(अ) कुटज कषाय होने के कारण रक्त स्तम्भक भी है।

(ब) रक्त की शुद्धि भी करता है। हृद्रोगहर है।

(३) **ज्ञानेन्द्रियों पर प्रभाव**

(अ) श्लेष्मा के आधिक्य से कला या त्वचा में उत्पन्न कण्डू को—कफनाशक होने से शान्त करता है।

(ब) सभी चर्म रोगों यथा—कुष्ठ में–पित्त-कफ-नाशक होने से यह लाभ करता है। वातरक्त, विसर्प आदि नाशक है।

(४) प्रजननसंस्थान

जब दोष स्तन में अवस्थित हो कर स्तन्य को दूषित कर देते हैं, कुटज पित्त, कफनाशक एवं रक्तशोधक होने से 'स्तन्य शोधन' कर्म करता है।

(५) ज्वरहर कर्म—आमदोष के कारण ज्वर आरम्भ होता है, कुटज आमपाचन, तिक्त रस के होने से होता है और ज्वरघ्न कर्म करता है।

(६) सर्वधातुक कर्म

(अ) रक्त में विदग्ध पित्त के विदाह को दूर कर तज्जन्य रक्त के विदाह को भी शान्त कर कुटज रक्तशोधक कर्म सम्पादन करता है।

(ब) लेखन (धातुशोषण) भी है।

(७) स्थानिक प्रभाव

कुटज व्रणों का रोपण करता है। रक्त स्तम्भक है। इस प्रकार कुटज के कर्मों का विवेचन किया गया। मुख्य रूप से देखने से ज्ञात होता है कि कुटज का मुख्य प्रभाव आन्त्र पर पड़ता है।

आमयिक प्रयोग

(अ) कुटज के चिकित्सा में त्वक्, बीज, पत्र, मूल, शिम्बी, पुष्प—प्रयुक्त किये जाते हैं। मुख्यतः त्वक्, बीज (इन्द्रयव) का प्रयोग होता है।

(ब) मात्रा—बीजचूर्ण (४-८ रत्ती), त्वक् (१-२ तोला)।

(स) १. अतिसार व प्रवाहिका

इन रोगों में कुटज अत्युत्तम लाभकारी है। इनमें कुटज का विभिन्न रूपों में प्रयोग किया जाता है, योग बना कर भी प्रयोग होता है।

कुटज त्वक् का क्वाथ जीर्ण अतिसार एवं प्रवाहिका में लाभ करता है। इन अवस्थाओं में इन्द्रयव का क्वाथ प्रातःकाल सेवन कराने से लाभ होता है। यह अत्युत्तम हितकारक योग है। इसमें यदि मोचरस मिला दिया जाये तो आश्चर्यजनक लाभ होता है। रक्त प्रवाहिका में कुटज मूल त्वक् अतुल्य औषध मानी जाती है। नवीन मूल त्वक् को अम्ल तक्र में पीस कर दिन में तीन बार देने से प्रवाहिका में लाभ होता है। नवीन छाल की घन रसक्रिया करके भी उपयोग किया जाता है। बालातिसार में कुटज के घनक्वाथ में शहद मिला कर उपयोग करने से लाभ होता है। पित्तजातिसार में[1] इन्द्रयव का क्वाथ लाभ करता है। कुटज त्वक्, बीज, मुस्तक का क्वाथ सशर्करा मधु—अतिसार नाशक है[2]। इसी प्रकार वातपित्तातिसार में[3] इन्द्रयव, वचा, मुस्तक, देवदारु, अतीस कल्क, तण्डुल जल के साथ प्रयोग किया जाता है। कफपित्तातिसार में[4]—इन्द्रयव, पाठा, हरीतकी, शुण्ठी का चूर्ण अथवा क्वाथ उपयोगी है। पित्तकफातिसार में कुटजादि चूर्ण या क्वाथ[5]—कुटज त्वक्, अतीस, मुस्तक दोनों हरिद्रा एवं पर्णी, का क्वाथ या चूर्ण शहद, मिश्री मिला कर देने से लाभ होता है। कुटजादि क्वाथ[6] मधु मिला कर पीने से आमशूल, रक्त पिच्छिल-अतिसार एवं सर्व प्रकार के अतिसार नाशक है। कुटज त्वक् क्वाथ को घनीभूत एवं शीतल कर अतीस मिला कर चाटने से समस्त अतिसारों में लाभ होता है[7]। जीर्ण अतिसार की अवस्था में[8]—वत्सकादि कषाय को उपयोग करना चाहिए। कठिन रक्तातिसार में[9]—दाडिम त्वक् एवं कुटज त्वक् का क्वाथ

१—'पलं वत्सक बीजस्य श्रपयित्वा जलं पिबेत्।' (च० द०)

२—'कुटजत्वक्फलं मुस्तं क्वाथयित्वा जलं पिबेत्।
अतीसारं जयत्याशु शर्करा मधु योजितम्॥' (च० द०)

३—कलिंगं च वचा मुस्तं दारु सातिविषं समम्।
कल्कं तण्डुलतोयेन पिबेत्पित्तानिलामयी॥ (च० द०)

४—पाठावत्सकबीजानि हरीतक्यो महौषधम्।
एतदामसमुत्थानमतीसारं सवेदनम्॥
कफात्मकं सपित्तञ्च वर्चो बध्नाति च ध्रुवम्। (च० द०)

५—कुटजातिविषामुस्तं हरिद्रा पर्णिनी द्वयम्।
सक्षौद्रशर्करं शस्तं पित्तश्लेष्मातिसारिणाम्॥ (च० द०)

६—कुटजं दाडिमं मुस्तं धातकी बिल्व वालकम्।
लोध्र चन्दन पाठाश्च कषायं मधुना पिबेत्॥
सामे सशूले रक्तेऽपि पिच्छास्रावेषु शस्यते।
कुटजादिरिति ख्यातः सर्वातीसार नाशनः॥ (च० द०)

७—कुटजत्वक्कृतः क्वाथो घनीभूतः सुशीतलः।
लेहितोऽतिविषायुक्तः सर्वातीसारनुद्भवेत्॥
वदन्त्यत्राष्टमांशेन क्वाथादतिविषारजः।
प्रक्षेप्यत्वात्पादिकं तु लेहादिति च नो मतिः॥ (च० द०)

८—सवत्सकः सातिविषः सबिल्वः सोदीच्य मुस्तश्चकृतः कषायः। सामे सशूले सहशोणिते च चिरप्रवृत्तेऽपि हितोऽतिसारे॥ (च० द०)

९—कषायो मधुना पीतस्त्वचो दाडिमवत्सकात्।
सद्यो जयेदतीसारं सरक्तं दुर्निवारकम्॥ (च० द०)

मधु के साथ पीने से तत्काल लाभ होता है। कुटज छाल एक पल ले कर महीन पीस कर अष्टगुण जल में क्वथितकर सम मात्रा में दाडिम स्वरस मिला कर गाढ़े होने तक पकाना चाहिए; पुनः ६ माशा की मात्रासे तक्र के साथ पीने से रक्तातिसार में अत्युत्तम लाभ होता है[1]। इसके अतिरिक्त आयुर्वेद में कुटज पुटपाक[2] का भी विधान है। कुटजमूल मूल को विधिवत् सम्पुट आदि में रख कर के इसका स्वरस निकाल कर शहद के साथ ४ तोला की मात्रा में पीने से सभी प्रकार के अतिसार दूर होते हैं। चक्रदत्त ने अतिसार चिकित्सा में कुटज लेह,कुटजाष्टक,आदि में कुटज का प्रयोग किया है। इसके आयुर्वेद में कुटजारिष्ट, गंगाधर चूर्ण (बृहत् एवं लघु), प्रदरारि लौह में कुटज प्रयुक्त है[3]।

(२) **अर्श रोग**

अर्श रोग में इन्द्रयव अत्यधिक उपयोगी है। चक्रदत्त में लवणोत्तमाद्य चूर्ण एवं विजय चूर्ण में इन्द्रयव का उपयोग किया गया है। इन्द्रयव का क्वाथ शुण्ठी चूर्ण के साथ सेवन करना भी लाभ करता है। कुटजावलेह भी अर्श में अत्युपयोगी है। कुटजत्वक् को माहेन्द्र जल में डाल कर की हुई रसक्रिया विधिवत् पूर्ण कर देने से लाभ होता है (चक्रदत्त)। कुटज, इन्द्रयव, नागकेशर, नीलोत्पल लोध्र, धातकी का कल्क, चतुर्गुण घृत और इससे चतुर्गुण जल से सिद्ध कुटजाद्य घृत[4] रक्तार्श नाशक है। इनके अतिरिक्त इन्द्रयव को चांगेरी घृत में उपयोग किया जाता है। अर्श के रक्त का स्तम्भन करने के लिए क्वाथ का प्रातःकाल उपयोग करना लाभप्रद है। इस प्रकार से आयुर्वेद में अर्श रोग में यह खूब वर्णित है।

(३) **ज्वर रोगे**

कुटज ज्वर में भी प्रयक्त है। पित्त ज्वर में[1] इन्द्रयव पटोलपत्र का क्वाथ मधु मिला कर उपयोग करना चाहिए। मुस्तक, इन्द्रयव, त्रिफला, कुटकी, परूषक का क्वाथ कफज्वर नाशक है[2]। सन्तत ज्वर में[3] इन्द्रयव, कुटकी, पटोलपत्र का क्वाथ हितकर है। कुटजत्वक्, निम्ब, पटोल, त्रिफला, द्राक्षा, मुस्तक, अत्येद्युष्क ज्वर को[4] शमन करता है। ज्वर में वमन[5] कराने के लिए इन्द्रयव, मधुयष्टि चूर्ण उष्ण जल से सेवन कराइये। ज्वरातिसार में शुण्ठी, अतीस, मुस्तक, भूनिम्ब, गुर्च और कुटज-क्वाथ हितकर है[6]। ज्वर सहित आमातिसार[7] में कुटज, पाठा, इन्द्रयव, भूनिनिम्ब, मुस्तक, गुडूची, पर्पटक, शुण्ठी का क्वाथ हितकर है। सदाह ज्वरातिसार[8] में इन्द्रयव, देवदारु, कुटकी, गजपीपल का क्वाथ हितकारी है। इन योगों के अतिरिक्त कुछ इन योगों में भी कुटज अथवा इन्द्रयव का प्रयोग किया जाता है:—

किरातादि चूर्ण, व्योषादि चूर्ण, कलिंगादि गुटिका, मुस्तकादि क्वाथ, नागरादि क्वाथ, पंचमूल्यादि क्वाथ, गुडूच्यादि क्वाथ, पिप्पल्यादि क्वाथ। पित्त ज्वर में पाचनार्थ[9] कुटकी, मुस्तक, इन्द्रयव का क्वाथ मधु मिला

१–कुटजस्यपलं ग्राह्यमष्टभाग जले शृतम्।
तथैव विपचेद्भूयो दाडिमोदकसंयुतम्॥
यावच्चैवं लसीकाभं शृतं तमुपकल्पयेत्।
तस्यार्द्धकर्षं तक्रेण पिबेद्रक्तातिसारवान्॥ (च० द०)

२–स्निधं घनं कुटजवल्कमजन्तुदग्धमादायातत्क्षणमतीव च पोथियत्वा। जम्बू पलाश पुटतण्डुलतोयसिक्तं बद्धंकुशेन च बहिर्धनपंकलिप्तम्॥ सुस्विन्नमेतदवपीड्य रसं गृहीत्वा क्षौद्रेणयुक्तमतिसारवते प्रदद्यात्। कृष्णत्रिपुन्नमतपूजित एष योगः सर्वातिसार हरणे स्वयमेव राजा। स्वरसस्य गुरुत्वेन पुटपाकपलं पिबेत्। पुटपाकस्य पाकोऽयं बहिरारक्तवर्णता॥ (चक्रदत्त)

३–विस्तृत विवरण यथास्थान अवलोकन करियेगा।

४–कुटजफलत्वक् केशरनीलोत्पललोध्रधातकी कल्कैः।
सिद्धं घृतं विधेयं शूले रक्तार्शसां भिषजा॥
(चक्रदत्त)

१–पटोलेन्द्रयवक्वाथो मधुना मधुरीकृतः।
तीव्र पित्तज्वरामर्दी पानात्तृड्दाहनाशनः॥ (च० द०)

२–मुस्तं वत्सकबीजानि त्रिफला कटुरोहिणी।
परूषकाणि च क्वाथः कफज्वर विनाशनः॥ (च० द०)

३–कलिंगकाः पटोलस्य पत्रं कटुकरोहिणी॥

४–निम्बं पटोलं त्रिफला मृद्वीका मुस्तवत्सकौ।
कषायाः शमयन्त्याशु पंच पंचविधान्ज्वरान्॥ (च० द०)

५–.........कलिंगैर्मधुकेन वा। (च० द०)
युक्तमुष्णाम्बुना पीतं वमनं ज्वरशान्तये॥ (च० द०)

६–नागरातिविषामुस्तभूनिम्बामृतवत्सकैः।
सर्वज्वरहरः क्वाथः सर्वातीसार नाशनः॥ (च० द०)

७–पाठेन्द्रयवभूनिम्बमुस्तपर्पटकामृताः।
जयन्त्याममतीसारं सज्वरं समहौषधाः॥ (च० द०)

८–वत्सकस्य फलं दारु रोहणी गजपिप्पली।
ज्वरातिसार शमनौ विशेषाद्दाहनाशनौ॥ (च० द०)

९–सक्षौद्रं पाचनं पैत्ते तिक्ताब्देन्द्रयवैः कृतम्। (च० द०)

कर देते हैं। पित्त ज्वर में[1] इन्द्रयव, पाठा, मुस्तक, कुटकी, कट्फल क्वाथ सशर्करा हितकारी है। कटुकादि क्वाथ, कण्टकार्यादि क्वाथ, अमृताष्टक क्वाथ, अष्टादशांग क्वाथ, पिप्पल्यादि घृत में भी कुटज या इन्द्रयव प्रयुक्त है। सिनकोना की तरह कुटजत्वक् विषम ज्वर का नाश करती है। जीर्ण ज्वर में भी कुटज उपयोगी है।

(४) कृमि रोग

आन्त्र कृमियों में इन्द्रयव, मुस्तक क्वाथ बना कर मधु के साथ देना चाहिए। कृमिजन्य विकारों में इन्द्रयव के चूर्ण को मधु के साथ सेवन करना चाहिए। जब कृमियों के पूर्वरूप प्रतीत हों तो नित्य प्रातः-सायं कुटज के बीजों का चूर्ण सेवन करना आरम्भ कर देना चाहिए। इससे कृमि रोग में लाभ होने के साथ-साथ क्षुधा बढ़ती है।

(५) इन रोगों के अतिरिक्त कुटज हृद्रोग, वातरक्त, कुष्ठ, अग्निमांद्य, उदरशूल, तृष्णा में भी उपयोगी है।

(६) बाह्य प्रयोग

व्रण, विसर्प, चर्म रोगों में इसकी त्वचा के क्वाथ से प्रक्षालन करते हैं।

(६) कुटज का अतिसेवन करने से मूर्च्छा, भ्रम, मुखशोष, स्वरभेद, हृच्छूल, आध्मान, नपुंसकता, मलावरोध, ग्लानि, अर्दित, अपतानक, पक्षाघात, कार्श्य रोग उत्पन्न हो जाते हैं।

(७) कामला

कामला रोग में कुटज की कोमल पत्तियों का स्वरस लाभकारी होता है।

(८) दन्त रोगों में

उपरोक्त बाह्य प्रयोगों के अतिरिक्त दन्त रोगों में कुटज का चूर्ण मर्दन एवं क्वाथ से गण्डूस करना हितकारी होता है। दन्तशूल में पत्रों को चबाना लाभप्रद बताया गया है।

---

[1]—कलिङ्गं कट्फलं मुस्तं पाठा तिक्तक रोहिणीम्।
पक्वं सशर्करं पीतं पाचनं पैत्तिके ज्वरे॥ (च० द०)

गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार }

निदान-चिकित्सा हस्तामलक

(छात्रोपयोगी निदान-चिकित्सा)

का प्रथम खण्ड प्रकाशित हो गया। वर्षों से जिसकी प्रतीक्षा की जा रही थी—इस ग्रन्थरत्न के लेखक हैं—आयुर्वेद जगत् के सुविदित—

वैद्य रणजितराय देसाई
उपाचार्य : आयुर्वेद महाविद्यालय, सूरत ;
सदस्य : मुंबई राजकीय आयुर्वेदीय अनुसंधान-समिति।

नयनाभिराम कागज, छपाई तथा गेटअप। मूल्य आयुर्वेद के प्रचार-प्रसार को दृष्टि में रखकर केवल रु० ५·५० न. पै. रखा गया है। मार्गव्यय-पृथक्। धड़ाधड़ बिक रहा है। आप भी आज ही आर्डर भेजिए।

श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर

आयुर्वेदीय हितोपदेश-संग्रह

वैद्य विंदुमाधव पंडित

भारत में आयुर्वेद का प्रचार बढ़ाना हो तो आयुर्वेद का सिद्धांत अच्छी तरह समझ लेना चाहिए और उन सिद्धान्तों का व्यवहार-प्रचार बढ़ाना चाहिए। आज भारत में बहुत आयुर्वेदीय वैद्य हैं, आयुर्वेदाध्यापक हैं और आयुर्वेद महाविद्यालय भी हैं किन्तु आयुर्वेद के जो प्रमुख आरोग्यसंवर्धक और रोग प्रतिबन्धक सिद्धान्त हैं और उनके अनुसार व्यवहार करना अपना ही कर्तव्य है ऐसा वे नहीं मानते। अंग्रेजी वैद्यक के अनुयायी, जन्तु और जीवनसत्त्वों की कमी––को रोगकारण मानते हैं और उन को हटाने का प्रयत्न करके जीवन में सफल होते दीखते हैं। एक काल ऐसा था कि जो कुछ अंग्रेजी वैद्यक में हैं वे सब पहले से ही आयुर्वेद में हैं इसलिए आयुर्वेद श्रेष्ठ है, ऐसा आयुर्वेदज्ञ वैद्य अपने लेखों और व्याख्यानों में बताते थे। अंग्रेजी वैद्यक के सिद्धान्तों का प्रांतीय भाषा में अनुवाद करके विद्यार्थियों को सिखाना यही आयुर्वेद का विकास है, ऐसा माननेवाले आयुर्वेद पंडित थे और आज भी हैं।

आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का व्यवहार-प्रचार

व्यवहार और प्रचार करने लायक आयुर्वेद के खास सिद्धान्त कौन-से हैं; उनका संशोधन आयुर्वेदीय ग्रन्थों के आधार पर करना यह इस लेख का उद्देश्य है। एक बार ये सिद्धान्त ज्ञात हो गये और वे आज के समय में भी दुरुस्त हैं—योग्य हैं, ऐसा सिद्ध हुआ तो उनका व्यवहार-प्रचार करना सब के लिए सरल हो जायगा।

आयुर्वेद के प्रमाण ग्रन्थ

आयुर्वेद के मूल प्रमाण ग्रन्थ तीन हैं—(१) **चरक संहिता**, (२) **सुश्रुत संहिता** और (३) **अष्टांग संग्रह** (वृद्धवाग्भट)। अष्टांग हृदय (वाग्भट) ग्रंथका पठन-पाठन-व्यवहार विशेष है, किंतु वह आयुर्वेद का संक्षिप्त ग्रन्थ है। संक्षिप्त ग्रन्थों से विशाल शास्त्रीय सिद्धान्त समझने में कभी-कभी दिक्कत होती है। इन तीन मूल प्रमाण ग्रन्थों में आयुर्वेद के शास्त्रीय सिद्धान्त प्रकट और विशद करनेवाला ग्रंथ "चरकसंहिता" ही है। आयुर्वेद का यदि अच्छा प्रचार करना हो तो चरकसंहिता में कथित आरोग्यप्रद सिद्धान्त आचार और व्यवहार में लाना चाहिए। भारत में जितने आयुर्वेदज्ञ हैं और आयुर्वेदीय संस्थाएँ हैं वे यदि चरक-प्रणीत आयुर्वेदीय सिद्धान्त आचार में लाने की कोशिश करें तो जनता उसकी जरूर कदर करेगी। और फिर प्रांतीय या केंद्रीय सरकार उसका अपमान करने का साहस नहीं करेगी। आज आयुर्वेदज्ञ कहलाने वाले वैद्य ही आयुर्वेद के खास सिद्धान्त नहीं जानते यदि जानते हैं तो उनके अनुसार आचरण नहीं करते, इसी कारण भारत में आयुर्वेद की अवहेलना हो रही है। आयुर्वेद के मार्गदर्शक सिद्धान्त जानने के लिए हमें चरकसंहिता के सूत्रस्थान का परिशीलन करना होगा।

सूत्रस्थान का महत्त्व

वैद्यक ग्रन्थ में सूत्रस्थान का महत्त्व कितना है यह अष्टांगहृदय सूत्रस्थान के आखरी अध्याय के आखरी श्लोक में अच्छे शब्दों में बताया गया है। यह सूत्रस्थान ग्रंथ का रहस्य-बोध करनेवाला स्थान है। कहने योग्य सब पदार्थ (अर्थ) यहाँ पर सूक्ष्मरूपेण बताये गए हैं। और आगे ग्रंथ में उनका ही विस्तार किया गया है[1]। सूत्रस्थान में भी कुछ सिद्धान्तों का विस्तार मिलता है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान में कुल ३० अध्याय हैं। संहिता के टीकाकार श्री चक्रपाणिदत्तजी ने उनका विभाजन ७ चतुष्कों में किया है यथा––(१) **भेषजचतुष्क**, (२) **स्वस्थवृत्त चतुष्क**, (३) **निर्देश चतुष्क**, (४) **कल्पना चतुष्क**, (५) **रोग चतुष्क**, (६) **योजना-चतुष्क** और (७) **अन्नपान चतुष्का** चतुष्क के चार अध्यायों का एक साथ अभ्यास करने से विशेष लाभ अवश्य हो सकता है। इन सात चतुष्कों में से कौन-से चतुष्क में आयुर्वेद के विशेष सिद्धान्त ठीक ढंग से अभ्यासार्थी के सामने आते हैं ऐसा देखेंगे तो **स्वस्थवृत्तचतुष्क** और **अन्नपान चतुष्क**

---

[1] १–समाप्यते स्थानं इदं हृदयस्य (अष्टांगहृदयस्य)
रहस्यवत्।
अत्र अर्थाः सूत्रिताः सूक्ष्माः वितचन्ते हि सर्वतः ॥
––प्र० हृ० सू० अ० ३०

ये दो चतुष्क अपना ध्यान उनकी तरफ अधिक खींच लेते हैं। लौकिक व्यवहार में भी इन चतुष्कों में विहित सद्वृत्त-विचार और अन्नपान-विचार बहुत ही उपयुक्त लगते हैं। अन्य चतुष्कों में भी कुछ अध्याय खास लक्ष्य देने लायक हैं। किन्तु यह सब विवेचन इतना विस्तृत है कि उसमें आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का नवीन मंथन करके निकालना होगा। जैसे दूध या दही में मक्खन छिपा हुआ रहता है वैसे ही आयुर्वेद के आरोग्यप्रद सिद्धान्त चरक-संहिता के विस्तृत सूत्रस्थान में तथा पूरे चरक संहिता में भी छिपे हुए हैं।

चरकसंहिता की सुन्दर रचना

तो, अब अपने को चरक सूत्रस्थान में से आयुर्वेद के व्यापक सिद्धान्त ढूँढ निकालना है। इस दृष्टि से जब चरक-संहिता के सूत्रस्थान का, परिशीलन मैंने किया तब मुझे उसमें २३वां अध्याय आयुर्वेद के मूलगामी सिद्धान्तों पर संक्षेप में ठीक प्रकाश डालनेवाला ज्ञात हुआ। चरक संहिता की रचना कुछ विशेष ढंग की है। भगवान् आत्रेय ऋषि के पास आयुर्वेदाध्ययन करके उनके उपदेशानुसार अग्निवेशादि शिष्यों ने ग्रंथ लिखे। अग्निवेशकृत संहिता पर बाद में चरक महर्षि और दृढबल आदि आयुर्वेदज्ञों ने प्रतिसंस्कार किए। **संस्कर्ता कुरुते तन्त्रं पुराणं च पुनर्नवम्।** इन संस्कारों से चरक संहिता अधिक उपयुक्त हुई है। चरकसंहिता के सूत्रस्थान में आयुर्वेद सिद्धान्त प्रकट करनेवाली बहुत ही सुन्दर रचना जगह-जगह मिलती है। वह इकठ्ठी करनी चाहिए।

आयुर्वेद के केन्द्र कैसे होने चाहिए ?

चरकसंहिता सूत्रस्थान के प्रथम अध्याय में 'धातुसाम्य-क्रिया' यह ग्रंथ का प्रयोजन बताया है। और काल-बुद्धि-इन्द्रियार्थ इनका हीन-मिथ्या-अतियोग यह रोग का कारण दिया है। पंचम अध्याय में स्वास्थ्यानुवृत्ति के लिये और अजातविकारों[१] की अनुत्पत्ति के लिएं कैसे यत्न करने चाहिए इस विषय में मार्गदर्शन किया है। दिनचर्या (मात्राशीतीय) और ऋतुचर्या (तस्याशितीय) का उद्देश्य स्वस्थों का स्वास्थ्य-रक्षण ही है। उत्पन्न व्याधियों से मुक्त होने के लिये सरकारी तथा खानगी अस्पताल जगह-जगह होते हैं। किंतु व्याधिग्रस्त होने से बचाने के लिए आयुर्वेदीय अस्पतालों की आज खास जरूरत है। बालकों के बीमार होने की संभावना बहुत होती है अत: बच्चे बीमार न हों इसलिए मार्गदर्शन करनेवाले और ऐसे उपचार प्रत्यक्ष करनेवाले आयुर्वेदीय बाल-आरोग्यकेन्द्र चाहिए। जनता मानस (ग्रह) से दुष्ट न हो ऐसा मानसिक शिक्षण देनेवाले और मानस-स्वास्थ्य के लिए देह शुद्ध रखनेवाले मानस-आरोग्यकेन्द्र चाहिए। नेत्र, मुख, कर्ण, नासा इन इन्द्रियस्थानों का स्वास्थ्य-रक्षण करनेवाले शालाक्य स्वास्थ्य-केन्द्र मोहल्ले-मोहल्ले में होने चाहिए। गर्भिणी और सूतिका का मार्गदर्शन-केन्द्र आयुर्वेदीय होने चाहिए। वैसे ही अकाल में जरा (बुढ़ापा) न आवे इसलिए अभ्यंग, रसायनादि उपचार करनेवाले वृद्ध स्वास्थ्य-केन्द्र (सहकार से या) सरकार की ओर से होने चाहिए। तभी पंचम अध्याय में कथित सिद्धान्तों का ठीक व्यवहार-प्रचार होगा।

शोधन-चिकित्सा के सार्वजनिक केन्द्र

तस्याशितीय इस छठे अध्याय में विविध ऋतु में स्वास्थ्य-रक्षण के लिए करने योग्य आचार बताये हैं जो स्वास्थ्य-संरक्षण और रोग-प्रतिबंध की दृष्टि से वे बड़े महत्त्व के हैं। माध्यमिक शिक्षण की किताबों में तथा अध्यापन विद्यालयों की किताबों में इस विषय के पाठ रखकर जनता को आरोग्य के लिए आयुर्वेदीय सिद्धान्त पढाने चाहिए। आज केवल रोगजन्तु और जीवनसत्वों के पाठ ही पढ़ाये जाते हैं। यह ठीक नहीं है। ऋतुचर्या का व्यवहार, जनता सरलतया कर सके ऐसे वमन, विरेचन, बस्ति, रक्तमोक्ष, शिरोविरेचन आदि शोधन कर्मों का शास्त्रीय मार्ग दर्शन करनेवाले आरोग्य केन्द्र सरकार तथा ग्रामपंचायतों की ओर से ग्राम-ग्राम में निर्माण होने चाहिए। स्वस्थ व्यक्तियों के लिए भी पंचविध शोधन आवश्यक है ऐसा आयुर्वेदीय सिद्धान्त है। उसका वार्षिक व्यवहार करने के लिये सार्वजनिक आरोग्य-केन्द्र का निर्माण होना आवश्यक है।

'न वेगान् धारणीय' अध्याय में वेगरोध से होनेवाले व्याधि बताये हैं। मलों के वेग धारण करने की आवश्यकता न रहे इतने विपुल और अत्यन्त स्वच्छ मल-विसर्जन का स्थान जगह-जगह होने चाहिए और उन मलों से अच्छी खाद निर्माण करके भारत की अन्नधान्यस्थिति में परिवर्तन होना चाहिए। व्यायाम अर्धशक्ति के अनुसार करना चाहिए और गुरु आहार अर्धसौहित्यमात्रा में लेना चाहिए। इन

---

[१] अजातानां विकाराणां-अनुत्पत्तिकरं च यत ।
—च० सू० अ० ५-१३

आयुर्वेदीय सिद्धान्तों का शिक्षण रोग-प्रतिबन्ध की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्व का है। क्रमेण अहित आचार को छोड़कर हिताचार का स्वीकार यह भी एक महत्त्व का आरोग्य, सिद्धान्त है। सद्वृत्त का आचरण ज्ञानपूर्वक होना चाहिए। अज्ञानपूर्वक आचरण से लाभ के बजाय हानि होना संभव है।

हेतु वैषम्य से धातु वैषम्य होता है

वातकालीय (१२वें अध्याय में) व्यक्ति और समष्टि में वात-पित्त-कफों का निर्माण कैसा होता है इसका सुन्दर विवेचन है। सोलहवें अध्याय में देह-धातु-विषम होने का कारण हेतु वैषम्य है, ऐसा बताया है और हेतुसाम्य होने से धातु वैषम्य नष्ट हो सकता है। धातु वैषम्य दूर करने का यही सही रास्ता है। यही शुद्ध चिकित्सा है।

रोगकारणों का द्विविध वर्गीकरण

मनुष्य को रोग पैदा करनेवाले विविध कारण हैं और उन कारणों से निर्माण होनेवाले रोगों की संख्या भी विशाल है। उन सब कारणों को संतर्पणीय और अपतर्पणीय कारणों में वर्गीकृत करके दुनिया के सब रोगों का सुन्दर वर्गीकृत विचार चरकसूत्रस्थान के १३वें अध्याय में दिया है। इस अध्याय में कुल ४० श्लोक है। इनमें पहले २५ श्लोक में संतर्पण कारक रोग कारण, संतर्पण निमित्तज रोग और उन रोगों को हटाने के इलाज का वर्णन किया गया है। इन २५ श्लोकों का पठन समाज में नित्य होना चाहिये। सुबह पहले पचीस श्लोक और शाम को अपतर्पण जन्य व्याधि, उनको हटाने के उपाय बतानेवाले १५ श्लोक नित्य पढ़ने का नियम यदि रूढ किया जाय तो रोगमुक्त होने की कुंजी ही जनता के हाथ आ जायगी। अनेक घरों में भोजन के पहले त्रिसुपर्ण या भगवद्गीता का १५वां अध्याय पढ़ने की प्रथा है। उसकी जगह संस्कृत में या उन श्लोकों का हिंदी अनुवाद करके हिंदी में इस संतर्पणीय अध्याय का पठन किया जाय तो रोग-प्रतिबंध करने का स्वाधीन मार्ग जनता को ज्ञात हो जायगा।

रोगनिवारण के मूलगामी उपचार

आज-काल समाज में संतर्पणात्मक व्याधि ही अधिक परिमाण में दीखती हैं। मधुर पेयों और महिषी दुग्ध का प्रचार बढ़ रहा है और मधुमेह, उदर्द, कोठ, कंडू, पांड्वामय, मूत्रकृच्छ्र, तंद्रा, क्लैव्य, अतिस्थौल्य, आलस्य, गुरुगात्रता, बुद्धिमूढ़ता, शोफ आदि व्याधि वृद्ध तरुणों से लेकर बालकों तक फैल रही हैं। ये व्याधि नष्ट करने के लिये तथा वे पुनः न हों इसलिये इस अध्याय में जो उपाय बताये हैं वे बहुत ही सुन्दर और मूलगामी हैं।

शस्तं उल्लेखनं तत्र विरेको रक्तमोक्षणम्
व्यायामश्चोपवासश्च धूमाश्च स्वेदनानि च
सक्षौद्रं अभयाप्राशः प्रायो रूक्षान्न सेवनम्।
चूर्णप्रदेहाः ये चोक्ताः कण्डूकोठ विनाशनाः।

संतर्पणजन्य व्याधि पर वमन (उल्लेखन) यह प्रथमोपचार है। किसी को छर्दि होती हो तो लोग बहुत घबरा जाते हैं। सच पूछा जाय तो वह नैसर्गिक उपचार होता है। किसी को अतिसार (विरेक) होता हो तो भी ऐसा ही समझना चाहिए। शरीर के अन्य-अन्य मार्ग से रक्त निकलता हो तो समझना चाहिए कि रक्त में दोष पैदा हुए हैं और वे बाहर जाने की कोशिश कर रहे हैं। व्यायाम और उपवास, संतर्पणजन्य व्याधि हटाने के लिए अतिउपयुक्त है। और अपतर्पित व्यक्ति के लिए वे बेकार हैं।

प्रातःकालीन आयुर्वेदीय पेय

आजकल भारतवर्ष में सुबह दूध, चाय, कॉफी पीने का रिवाज बढ़ रहा है। संतर्पण निमित्तज व्याधिपीडित व्यक्ति को सुबह क्या पीना चाहिए, यह इस अध्याय में निम्न श्लोकों मेंबताया है——

मुस्तं आरग्वधः पाठा त्रिफला देवदारु च।
श्वदंष्ट्रा खदिरो निंबो हरिद्रे त्वक् च वत्सकात्।।
रसमेषां यथा दोषं प्रातः प्रातः पिबेन्नरः।।
संतर्पण कृतैः सर्वैः व्याधिभिः संप्रमुच्यते।

नागरमोथा, अमलतास, पाठामूल, त्रिफला, देवदारु, गोक्षुर, खदिरसार, निंबअंतर्साल, हल्दी, दारुहल्दी, कुटजत्वक्——इन १३ द्रव्यों का रस (उदक, फांट, चाय) रोज सुबह पीते रहना चाहिए। इससे कोष्ठगत व्याधि, शाखागत व्याधि या मध्यम रोग मार्गगत व्याधि सब दूर हो जायेगी। त्वचादोष पर इन्हीं द्रव्यों का उद्वर्तन, उद्धर्ष करें और मध्य रोग मार्गगत रोगों पर इन्हीं द्रव्यों से सिद्ध घृतों (जैसे तिक्तघृत) का प्रयोग करना होगा। इस योग में अधिकांश द्रव्य तिक्त हैं और कुछ द्रव्य कषाय रस के हैं। दैनिक आहार में इन रसों के द्रव्य खाने में आते नहीं या कम आते हैं। "नित्यं सर्वरसाभ्यासः" यह आयुर्वेद

का आरोग्य-सिद्धान्त है। सुबह का समय कफ दोषवर्धक होता है, इसलिये सुबह तिक्त-कषाय वनस्पतियों का सेवन अवश्य करना चाहिए। चाय की पत्ती का पानी भी तिक्त कषाय ही होता है। और वह भी कफनाशक हो सकता है। किंतु उसमें प्रचुरमात्रा में दूध और शक्कर मिलाते हैं इससे वह परिणामतः मधुर-अम्ल कफवर्धक होता है, और उससे समाज में अम्लपित्त, मधुमेह आदि व्याधि हो रही हैं। कफवृद्धि से किसी को बहुत तकलीफ होती हो तो इस मुस्तादिकषाय में मदनफलमज्जा मिला देने से अच्छा वमन हो सकता है और उससे भी प्रमेहादि व्याधि नष्ट हो सकती हैं[1]।

अग्नि स्वस्थ करने की योजना

इस समय समाज में मधुमेह, रक्तदाब, अर्बुद, श्वित्र, स्थौल्य, मूत्रकृच्छ्र (प्रोस्टेटग्रंथि की वृद्धि से), शोफ आदि व्याधियाँ बढ़ रही हैं और उनसे मुक्त होने के इलाज भी लोग ढूंढ रहे हैं। इस अध्याय में दिये हुए त्रिफलादि, मुस्तादि, कुष्ठादि कषाय, तक्र-अभया-प्रयोग, व्योषादि चूर्ण के साथ और तैल-घृत-मधु के साथ सक्तु का सेवन, ये इलाज उन दुर्धर व्याधियों को हटाने के लिये समर्थ है ऐसा प्रतिज्ञापूर्वक इस अध्याय में बताया है। इतना ही नहीं, इनसे अग्नि स्वस्थ होता है और स्मृति, बुद्धि ये आत्मगुण भी प्रकट होते हैं[2]।

नित्य व्यायाम, जीर्णाशन

संतर्पणजन्य रोगों से मुक्त होने के लिए और भी एक इलाज बताया है। व्यक्ति को नित्य व्यायाम करना चाहिए। पहला आहार अच्छी तरह से हजम होने के बाद दूसरी खुराक (पेय आदि भी) लेनी चाहिए (जीर्णाशी)। केवल गोधूम आहार न करके यव और गोधूम इन दोनों का सेवन करना चाहिए। यव के बदले में जूर्ण (जुनरी) ले सकते हैं। इस अध्याय में वर्णित उपचारों का व्यवहार हम समाज में ठीक ढंग से करें तो संतर्पणजन्य व्याधियों से समाज को मुक्त करना आसान है ऐसी मेरी भावना है। इसके लिए आचार और प्रचार बहुत करना होगा। लोगों को बहुत-सी बातें सिखानी होंगी। किंतु आयुर्वेद की दृष्टि से वह सब आरोग्य के लिए आवश्यक है।

संतर्पणजन्य रोगों के कारण

संतर्पणजन्य व्याधियों से मुक्त होने के लिये संतर्पक कारण कौन-से हैं यह ज्ञान होना आवश्यक है। डालडा आदि स्निग्ध मधुर, गुरु, पिच्छिल पदार्थ, पानी में भिगोकर अंकुरित किया हुआ धान्य या नव धान्य, मांस, मछलियाँ, भैंस का दूध, दही, शक्कर के पदार्थ, पिष्टमय पदार्थ खाना, दिन में सोना, व्यायाम न करना, बैठा कामधंधा करना, सुबह पानी से नहाना,—ये संतर्पक-कारण हैं। आहार पर या देह पर जल के संस्कार-संतर्पण रोगकारक होते हैं यह समझना आवश्यक है। वैसे ही आहारद्रव्य पर अग्नि का संस्कार और शरीर पर स्वेदन उपचार अपतर्पक होता है; यह संतर्पणजन्य दोष को हटाता है। चावल, गेहूँ आदि अनाज को अग्नि पर भूंजने से उसके सक्तु बनते हैं और सक्तु खाने से शक्ति बढ़ती है और संतर्पणजन्य व्याधियाँ नहीं होतीं। चावल, आलू, पानी में उबाल कर खाने से संतर्पणात्मक रोग होते हैं। किन्तु शालि से शालिसक्तु, यवसक्तु या गोधूम सक्तु बनाकर या लाजा (खीली) बनाकर उसका सेवन करने से संतर्पणजन्य व्याधि नहीं होती है। अंकुरित या कूकर में ठंडे पानी में रख कर पकाये अनाज से संतर्पणजन्य कफ व्याधि होती है। ऐसा अनुभव किया है और सक्तु बना कर खाने से संतर्पक व्याधियाँ नहीं होतीं—यह भी अनुभव की बात है।

सक्तु की उभयविधि उपयुक्तता

एक दल धान्य या द्विदल धान्य भूंज कर उसके सक्तु खाने का आदेश आयुर्वेद ने दिया है और वह संतर्पणजन्य और अपतर्पणजन्य व्याधियों में भी उपयुक्त है। अपतर्पित व्यक्ति को सक्तु खाने चाहिए—इस विषय में पांच प्रयोग इसी अध्याय में दिये हुए हैं।—

(१) शर्करा पिप्पली तैलघृतक्षौद्रैः समांशकैः।
सक्तुद्विगुणितो वृष्यः तेषां मन्थः प्रशस्यते ॥

---

[1] त्रिफला आरग्वधं पाठासप्तपर्णसवत्सकम्। मुस्तं समदनं निंबं जलेन क्वथितं पिबेत्। तेन मेहादयो यान्ति नाशमभ्यस्यतो ध्रुवम्। मात्राकाल प्रयुक्तेन संतर्पण समुत्थिताः ॥

[2] प्रयोगात् अस्य शाम्यंति रोगाः संतर्पणोत्थिताः।
प्रमेहाः मूढवाताश्च कुष्ठान्यर्शांसि कामलाः ॥
प्लीहा पाण्डवामयः शोफः मूत्रकृच्छ्रम् अरोचकः।
हृद्रोगो राजयक्ष्मा च कासः श्वासः गलग्रहः ॥
कृमयः ग्रहणीदोषाः श्वैत्र्यं स्थौल्यं अतीव च।
नराणां दीप्यते चाग्निः स्मृतिबुद्धिश्च वर्धते ॥

(२) सक्तवः मदिरा क्षौद्रं शर्करा चेति तर्पणम् ।
पिबेत् मारुतविण्मूत्रकफपित्तानुलोमनम् ।।
(३) फणितं सक्तवः सर्पिः दधिमंडोऽम्लकांजिकम् ।
तर्पणं मूत्रकृच्छ्रघ्नं उदावर्तहरं पिबेत् ।।
(४) मन्थः खर्जूरमृद्वीका वृक्षाम्लाम्लीकदाडिमैः ।
परूषकैः सामलकैः युक्तः मद्यविकारनुत् ।।
(५) स्वादुरम्लो जलकृतः सस्नेहो रुक्ष एव वा ।
सद्यः संतर्पणो मन्थः स्थैर्यवर्णबलप्रदः ।।

इन पांच योगों में सक्तु का प्रयोग है और उसे मूढवात तथा मलमूत्र-कफपित्त आदि का आनुलोमक बताया है। कौन से खट्टे-मीठे फल संतर्पण उद्देश्य से कैसे खाने चाहिए यह भी यहाँ दिया है। इसलिए आरोग्य के लिए एकदल और द्विदल धान्यों से सक्तु बनाकर खाने का आदेश वर्तमान समाज को देना यह भी आरोग्य की दृष्टि से आयुर्वेदियों का कर्तव्य है।

इस २३ वें अध्याय का जितना सूक्ष्म अभ्यास किया जायगा उतनी उससे अधिकाधिक बातें ध्यान में आतीं जायेंगी। संतर्पक कारणों से ज्वर, उन्माद, अरुचि, मूत्रकृच्छ्र, हृद्रोग, राजयक्ष्मा, कास, श्वास, पांड्वामय वातविण्मूत्रसंग्रह आदि व्याधि होती हैं। वैसे अपतर्पक कारणों से भी होती हैं। रोगकारक हेतु ध्यान में न लाकर केवल व्याधि प्रत्यनीक, उपचार करने से इन व्याधियों में पूरा लाभ प्राप्त नहीं हो सकता। किसी-किसी का संतर्पणजन्य राजयक्ष्मा दूर हो जाता है और अतिस्थौल्य व्याधिनिर्माण होता है ऐसा देखने में आता है। यह शुद्ध प्रयोग नहीं है।

व्याधि संतर्पककारणजन्य हो तो भी रोगी अपतर्पित दिखता है। तब कफकाल में अपतर्पक और वातकाल में संतर्पक ऐसी व्यत्यास-चिकित्सा करना आवश्यक होता है। संतर्पक द्रव्यों पर अपतर्पक संस्कार तथा अपतर्पक द्रव्यों पर संतर्पक संस्कार करके भी योजना की जा सकती है। पाण्डुरोग संतर्पक कारणों से हुआ हो तो वहाँ पर तिक्त द्रव्य लौह और कषाय द्रव्य सुधा कफपित्तात्मक दोष दूर कर पाण्डुरोग नष्ट करता है। दुग्ध मधुर है उस पर कटु द्रव्य-पिप्पली-विडंग और तिक्त,द्रव्य-हरिद्रा इनका संस्कार करने से उसका पाचन ठीक ढंग से होता है।

सद्यःक्षीण और चिरक्षीण

क्षीण व्यक्ति दो प्रकार के होते हैं। सद्यःक्षीण और चिरक्षीण। चिरक्षीण व्यक्ति के लिये संतर्पणाभ्यास करना आवश्यक रहता है। संतर्पण करने के विविध उपाय इस अध्याय में दिये हैं उनमें मांसरस, दूध, घृत, विविध प्रकार के स्नान, विविध प्रकार के बस्ति और अभ्यंग-प्रयोग हैं, उनका व्यवहार शास्त्रीय ढंग से होना चाहिए।

संतर्पक कारणों से वैद्यवर्ग पीड़ित

आयुर्वेद के सिद्धान्तों का व्यवहार विद्वान् वैद्य भी नहीं करते हैं और इसी कारण वे रोगपीड़ित होते हैं। मधुमेह रक्तदाब ये व्याधि अज्ञानपूर्वक संतर्पक आहार-विहार करने का ही फल है। ऋतुचर्या अध्याय में शिशिर ऋतु में सब प्रकृति के लोगों के लिए लंघन उपचार बताये हैं। (स्थूलांश्च लंघयेन्नित्यं शिशिरे तु अपरान् अपि। तथा-शिशिरे लंघनं शस्तं अपि वातविकारिणाम्।) किंतु लंघन उपचार व्यवहार में न होने से संतर्पणजन्य व्याधियां होती रहती हैं। विद्वान् आयुर्वेदीय वैद्यों से मेरी प्रार्थना है कि आयुर्वेद-शास्त्र में विहित आरोग्य सिद्धान्त अलग निकाल कर वे जनता के व्यवहार में लाने की कोशिश करें और अनुभव के आधार पर लोगों में उनका प्रचार करें। आयुर्वेद को व्यवहार में लाने का यही सही तरीका होगा।

लेख का नाम निर्देश

इस लेख का नाम आयुर्वेदीय हितोपदेश संग्रह रखा है। हित शब्द के अर्थ चिकित्सित, पथ्य, औषध आदि हैं। (चिकित्सितं हितं पथ्यं प्रायश्चित्तं भिषग्जितम्। भेषजं शमनं शस्तं पर्यायैः स्मृतं औषधम्।।) स्वस्थ और रुग्ण इन दोनों अवस्थाओंमें उपयुक्त वस्तु को 'हित' कहा है। आयुर्वेद के जो हितकारक उपदेश (सिद्धान्त) हैं उनका संग्रह (संक्षेपेण ग्रहणं) चरक संहिता सूत्रस्थान के २३ वें अध्याय में हुआ है ऐसा मेरा मत है। वह ठीक है या नहीं, इसका निर्णय वाचक करेंगे।

आरोग्य–विद्याकेंद्र
गांधी मार्ग, नासिक

चीनी बाल-चिकित्सा का संक्षिप्त इतिहास

श्री बनारसीदास गुप्त, बी०ए०

ईसा से दो शताब्दी पूर्व चिन राज्यकाल में राजा चाऊ के पितृव्य चे-टेज ने मानव समाज की ६ ईतियों में अकाल मृत्यु की गणना की है। बालकों की मृत्यु को चीन में इस समय शांग या याऊ कहा जाता था।

हुआंग-टो-नी-चिआंग के -सुवेन में जन्मज धनुर्वात के लक्षणों से मिलती-जुलती व्याधि का वर्णन मिलता है। नवजात शिशुओं में यह व्याधि नाभिगत उपसर्गों के कारण होती थी। सू-वेन में शिशुओं में होनेवाले उच्चज्वर की विभीषिकाओं का भी उल्लेख किया है। इसमें कहा गया है कि यदि ज्वरग्रस्त शिशु के हाथ गर्म हों तो रोगी का जीवन निरापद है, यदि ज्वरग्रस्त शिशु के हाथ-पैर ठण्डे हों तो मृत्यु अवश्यम्भावी है। ज्वरग्रस्त शिशु में छिन्नश्वास, श्वास कृच्छ्ता एवं स्कन्धाक्षेप आदि का होना अरिष्ट माना गया है।

हुआंग-टो-नी-चिआंग के द्वितीय भाग 'लिंग-शु' में बालातिसार को शिशुओं की प्रमुख व्याधि कहा गया है, यदि इस अवस्था में रोगी क्षीण और शाखाएँ शीतयुक्त हो जायें तो रोगमुक्ति कठिनता से होती है।

हान काल में शिशुओं के अविपाक को फु कहा जाता था। फु का अर्थ है स्तनपान। यदि स्तन-पान करते समय कोई शिशु शीतग्रस्त हो जाये तो वह अविपाक से व्याधित होगा एवं वह दुर्बल बना रहेगा। हान राज्य काल के एक अन्य चिकित्सक श्वांग-फु ने अतिपान को शिशुओं की प्रमुखतम व्याधियों में गिना है।

बाल-व्याधियों में प्रतिश्याय, अपस्मार, ज्वर, अतिसार, अविपाक आदि के अतिरिक्त अन्य विकृतियों का भी उल्लेख किया गया है यथा ओष्ठदारी (Harelip) जन्मज लिंग-नाश (Cataract) एवं दैत्याकृति।

ईसा से पूर्व ४थी शताब्दी में **पियब-चियाह** नाम का चिकित्सक शेन्सी में बाल-चिकित्सक के रूप में कार्य करता है, यह इस बात का प्रतीक है कि चीनी इतिहास के इस सुदूर अतीत में भी बाल-चिकित्सा को चिकित्साशास्त्र का एक विशिष्ट अंग माना जाता था और इसके विशेषज्ञ भी उस काल में थे। बाल चिकित्सोपयोगी औषधियों का क्रमिक विवरण सर्वप्रथम हये ली-चु-फु नामक एक राजकीय चिकित्सक के विवरण से उपलब्ध होता है। स्त्री रोगों में भी इस चिकित्सक की अभिरुचि थी। ईसा से २६ वर्ष पूर्व इस चिकित्सक ने १९ खण्डों में बाल एवं स्त्री चिकित्सोपयोगी योग-पत्रों का प्रकाशन किया। 'तीन राज्यों का इतिहास' नामक पुस्तक में हुअ-टुअ-नामक सर्जन का उल्लेख मिलता है। इसमें कहा गया है कि इस चिकित्सक ने चेन-शु-शान के द्विवर्षीय पुत्र के शु-बु-नी-वान-वान नाम की गोलियों को दस दिन दे कर उसके अतिसार को निवृत्त किया। प्लीन्टी का ऐसा कहना है कि संभवतः वह प्रवाहिका थी।

शैशवीय स्वस्थवृत्त की ओर भी लोग प्रारम्भ से जागरूक थे। हान राज्यकाल के उत्तरकालिक विद्वान वांग चुंग ने इस पर काफी जोर दिया है। पद्य प्रबन्ध के 'लियो-ओं' शीर्षक लेख में इस पर विचार किया गया है। ईसा से १०० वर्ष पूर्व लिखित ल्यु-हिसिंग की 'गर्भकालिक सुरक्षा' नामक पुस्तक में यह निर्देश किया गया है कि शिशु-पालन वास्तव में उसके उत्पन्न होने से पूर्व ही प्रारम्भ हो जाना चाहिये।

यह अत्यन्त महत्वपूर्ण है। समकालीन ग्रीक चिकित्सा साहित्य या हिप्पोक्रेट के समय में बाल-चिकित्सा पर कोई क्रमबद्ध साहित्य उपलब्ध नहीं होता। (काल–२६५-९०६)

शु-वेन के अनुसार १८ वर्ष से पूर्व तक को शा, (युवक) एवं ६ वर्ष तक को हिसियों, (बाल) कहा गया है; इसीलिये ७ वीं शताब्दी में बाल-चिकित्सा को शा-हिसियों (Shao-hsiao) कहा गया है। दशवीं शताब्दी में इसे बदल कर हिसियों-फांग-यु (बालकों की नाड़ी एवं योग पत्र) या यु-कु-(बाल-चिकित्सा) कहा गया। अपनी वेदनाओं को अभिव्यक्त करने में असमर्थ होने के कारण बालकों की चिकित्सा को सामान्य चिकित्सा कर्म से कठिन बतलाया गया है; अतएव, बाल-चिकित्सा में अपेक्षाकृत अधिक कुशल या कौशलयुक्त होना आवश्यक है। बाल-व्याधियों को 'मूक [illegible]' भी कहा गया है।

वांग-टो की (७५२ ईसा) ने 'चिकित्सा रहस्य' नामक एक प्रामाणिक कृति में बालरोग को ८६ वर्गों में विभक्त किया एवं योगोल्लेख के साथ चिकित्सा-सम्बन्धी निर्देश भी किया है।

इस काल के उपर्युक्त एवं अन्य चिकित्सकों के शैशवीय स्वस्थवृत्त के सम्बन्ध में विचार इस प्रकार है :—

सन-रि-सुमियो ने जिन्होंने क्षीर-पान-विधि के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश किये हैं, स्तनपानावधि के नियंत्रण पर विशेष बल दिया है। दिन में चार बार स्तनपान कराने का निर्देश इस विद्वान ने किया है। ज्वरग्रस्त बालक को स्तनपान न कराया जाये, इसका भी निर्देश बलपूर्वक इस विद्वान ने किया है। स्तनपान की विधि का उल्लेख करते हुए सन-स्‍ि-सुमियो ने कहा कि स्तनपान कराते समय बालक का शिर बाहुओं के सहारे से कुछ उठा हुआ रहना चाहिये, सोते बालक को स्तनपान नहीं कराना चाहिये अन्यथा श्वासावरोध होने का भय रहता है। स्तन्यपायिनी धात्री का निर्णय करते समय-कुष्ठ, अपस्मार, पामा एवं अन्य त्वचा के उपसर्गों से युक्त धात्री का निषेध करने का निर्देश किया गया है।

स्वस्थवृत्त की दृष्टि से स्नान, स्वच्छवायु एवं सूर्य रश्मियों को महत्वपूर्ण माना गया है। एक विद्वान ने लिखा है कि ऋतु उष्ण हो और हवा अधिक न चल रही हो तो बालक को बाहर धूप में खिलाना चाहिये, क्योंकि धूप और वायु के सेवन से मांस-पेशियाँ उपबृंहित होती हैं, रक्त समुत्तेजित होता है, जीवनीय शक्ति बढ़ती है और रोग निरोधक क्षमता की अभिवृद्धि होती है; इसके विपरीत जिन बच्चों को घर में परदे के भीतर रखा जाता है और उष्ण वस्त्रों से आच्छादित कर रखा जाता है वे छाया में परिवर्धित वृक्ष या घास के समान दुर्बल हो जाते हैं और उनमें निरोधक शक्ति का भी प्रादुर्भाव नहीं हो पाता।

भौतिक निरीक्षण मात्र से बाल-परीक्षा के सम्बन्ध में भी विस्तृत ज्ञान का संग्रह इस काल में किया गया। टिसित राज्यकाल (२६५-४१६ ईसा) में येन-चु- द्वारा निर्मित 'हिंसिग-हरह-चिंग' में इसका विस्तृत विवेचन पाया जाता है। यथा—मृदु-सुकुमार एवं अस्थिहीन-सा प्रतीत होने वाला बालक अल्पायु होगा। जिस बालक के हाथ-पैर व्याधि के कारण सदैव हिलते रहते हैं वह पूर्णायु न होगा।

६२४ ईसा में जब से चिकित्सा-शास्त्र में परीक्षा-विधि को अपनाया गया एवं चिकित्सकों को प्रशासकीय सेवाओं में नियुक्त किया गया तो चिकित्सा की विभिन्न शाखाओं में प्रशिक्षण भी आवश्यक समझा गया, एतदर्थ टी-ई-शु (चिकित्सा अकादमी) में बाल-चिकित्सा विभाग खोला गया और ५ वर्ष का स्नातकीय प्रशिक्षण रखा गया। इन्हीं प्रशिक्षित स्नातकों को ही सेवा-कार्य में नियुक्त किया जाता था।

प्रसिद्ध चिकित्सक चा-आ-यान-फंग एवं सन-ससन-मियों के अनुसार इस शाखा की स्थिर नींव टिसिन एवं टाँग के राज्य काल (२६५-९०६) में ही रखी जा सकी। 'दी क्लासिक्स आन दी केनियम एन्ड फान्टेल' नामक बु-फंग की कृति ही बाल-चिकित्सा की प्रथम क्रमबद्ध कृति है। इसकी प्रकाशन-तिथि अनिश्चित हैं। चांग-चुंग-चिंग द्वारा अभिलिखित योगपत्र-संग्रह की भूमिका में उपरोक्त कृति का उल्लेख आता है पर वहाँ लेखक का नाम वी-शेन दिया गया है। यह वी-शेन-चांग-चुंग-चिंग का शिष्य था एवं उपर्युक्त दोनों कृतियाँ एक ही प्रतीत होती हैं। इस प्रकार ईसा की तृतीय शताब्दी तक यह पुस्तक ज्ञात थी। यद्यपि कृति सर्वांग में उपलब्ध नहीं होती पर इसका अधिकांश भाग चीनी चिकित्सा की अन्य कृतियों में मिल जाता है। यथा—चाओ-यान-फांग-के रोग-लक्षण एवं निदान-संग्रह (६१० ईसा) या युंग-लु के आधार पर प्रकाशित 'दी कलासिक आन केनियम एन्ड फान्टेलम' मिल जाता है। रोग-लक्षण एवं निदान-संग्रह (General treaties on the causes and symptoms of the diseases) ६ खण्डों में उपलब्ध होता है पर बाल-चिकित्सा के प्रकरण में कुछ ऐसे लक्षण भी कहे गये हैं जो समान रूप से वयस्कों में भी मिलते हैं। सन-स्सूमियों ने 'सहस्त्र स्वर्ण योग' (Thousand gold remedies) में केवल उन्हीं व्याधियों का समावेश किया है जो मुख्य रूप से शिशुओं में मिलती हैं। ताजी और स्थिर त्वचायुक्त बालक दीर्घायु होता है। जिस बालक का शिर प्रारम्भिक अवस्था में ही विकृत रचनायुक्त हो जाये वह युवा होने तक जीवित नहीं रहता।

बालक के संहनन और वृद्धि का विस्तार के साथ वर्णन मिलता है। एक अभिलेख के अनुसार १८० दिन में जब कि पृष्ठास्थियाँ मजबूत हो जाती हैं; बालक को बिना किसी आश्रय बैठ जाना चाहिये। २१० दिन में खिसकना

प्रारम्भ कर देना चाहिये। ३०० दिन में जानुसन्धि इतनी दृढ़ हो जानी चाहिये जिससे बालक खड़ा हो सके। ३६० दिन में बालक को चलना प्रारम्भ कर देना चाहिये।

नवजात शिशु की अनेक आकस्मिक व्याधियों का उल्लेख प्रारम्भिक चीनी चिकित्सकों ने किया है यथा——कामला, नाभिशोथ, नाभिपाक एवं नेत्राभिष्यन्द। यह भी कहा गया है कि जन्मोत्तर प्रथम रोगी का संहनन अवर होने के कारण शरीरगत तापक्रम अनियमित होता है, अतः ज्वर आसानी से हो सकता है। २ वर्ष से कम के बालक में सामान्य ज्वर का होना असामान्य नहीं माना जाता था। पर गत २ वर्ष से अधिक के या अल्प वर्धनशील 'शिशु' में ज्वर के वेग प्रायः अधिक आते हैं और एक वर्ष से कम के शिशु में आक्षेपों की भी बहुतायत रहती है तो इसका कारण, बालक का अपरिपक्व मस्तिष्क, सहज क्षुमनशीलता, नवजात जीव की परिवर्तित परिस्थिति या वातावरण को समझा जाता था।

पाचन-संस्थान के अनेक विकारों एवं अनियमित आहार से उत्पन्न प्रवाहिका, अतिसार, मलोपलिप्त जिह्वा आदि अनेक विकारों का भी उल्लेख पाया जाता है।

तीन प्रकार के आन्त्रगत क्रिमियों का उल्लेख यहाँ पाया जाता है यथा——(१) हुई-चुं-अंग (गण्डूपद क्रिमि), (२) जाओ-चुंग (सूत्रक्रमि), (३) टइयो-युंग (स्फीत-क्रिमि)——इन क्रिमियों के निर्हरण के लिये इन औषधियों का प्रयोग किया जाता है। यथा——एस्पीडियम फाल-केटम (आर-एन चोपड़ा के ग्लासरी आफ इन्डियन मेडिसिन, पृष्ठ ८८)। यहाँ,इसका सिरटो मियम फालकेटम के नाम से वर्णन मिलता है। महानिम्ब, (जी० आई० एम० पृष्ठ १६३) कारपेन्सियम एब्रोटनोइड्स (Carpensium-abrotamoides) अल्मस मैक्रो कार्पा (Ulmus macrocarpa) दाडिम मूल, माइलिटा लेपिडेसेन्स (जी० आई० एम० पृष्ठ १७२) एवं पारद आदि।

पोषणाभावज व्याधियों में फक्क (रिकेटस) रोग का वर्णन विस्तार के साथ मिलता है। विशेषतः फान्टेनेलस का देर से बन्द होना, शिरो विकृति एवं अन्य विकार यथा——विलम्बित देह-वृद्धि, विलम्बित पगचालन।

चेचक, रोहिणी (मीजल्स), स्कारलेट ज्वर, डिप्थीरिया टाइफस, मलेरिया, और उपसर्गज कामला आदि तीव्र [illegible] का एवं औपसर्गिक व्याधियों एवं राजयक्ष्मा और जीर्ण व्याधियों का विस्तार के साथ वर्णन किया गया है।

श्वसन-संस्थान की व्याधियों के सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि नवजात शिशु में निमोनिया से उत्पन्न होनेवाली असाध्यता के सम्बन्ध में भी चीनी चिकित्सक भली-भांति परिचित थे। ऐसा कहा गया है कि जन्मोत्तर प्रारम्भिक १०० दिनों में निमोनिया से ग्रस्त १० शिशुओं में से १ या [illegible] ही शिशु बच पाते हैं। 'सहस्र स्वर्ण योग' में निमोनिया के कुछ लक्षण इस प्रकार कहे गए हैं यथा——कृच्छ्रश्वसन, [illegible]पीन, पाण्डुर, उर्ध्वश्वसन, भुक्तस्य वमनम्'। यह भी कहा गया है कि गलोपलेप के कारण निगरण-काठिन्य भी हो जाता है——कभी-कभी गलशोथ भी हो जाता है और गल[illegible] भी हो जाता है। शोथ कभी-कभी हनुओं में विस्तृत हो ठुड्ढी तक आ जाता है और रोगी द्रव पदार्थ का भी सेवन नहीं कर पाता; संभवतः ये लक्षण लसग्रन्थि के शोथ से उपद्रुत तुण्डिकेरीशोथ या डिप्थीरिया के हैं।

बच्चों के विकारों में विसर्प, स्क्रोफुला, हर्पीज विचर्चिका, दद्रु और फटेन्किला का उल्लेख मिलता है।

टिसिन-रंग राज्यकाल की लिखी बाल-चिकित्सा सम्बन्धी सभी पुस्तकें अलभ्य हैं। कुछ प्रमुख लेखकों के नाम इस प्रकार हैं। हसू-शुहिसियांग वांग-फु-वांग-[illegible] ओ, या-हु-चांग-सन हुई, और हसू-चिह-टढई।

सन-चिंग और यान राज्यकाल (९६५-१३६७)

उत्तरी शुंग राज्यकाल के प्रारम्भिक दिनों में वां[illegible] **स्मशिह ने** जिन्हें एक प्रधान सुधारक कहा जाता है, चिकित्सा सम्बन्धी प्रशिक्षण का पुनर्गठन किया। उसने टै-यी-चु-[illegible] इम्पीरियल मेडिकल कालेज नाम से एक मेडिकल एकेडमी की स्थापना की, इसमें चिकित्सा-सम्बन्धी नौ विभाग [illegible] बालरोग-चिकित्सा विभाग में २० विद्यार्थियों का प्रवेश किया गया। १३ वीं शताब्दी में विभागों की संख्या १३ [illegible] गयी, इनमें बालरोग विभाग भी सम्मिलित था।

रोग-परीक्षण की दिशा में इस समय विशेष प्रगति हुई। रोगियों का विस्तृत परीक्षण कर उनको अभिलिखित किया जाता था। इस पद्धति ने रोगों की विशेषताओं को समझने में विशेष रूप से मदद की। स्मालपाक्स और मीजल्स में इन्हीं पद्धतियों के कारण विभेद किया जाना संभव हो सका। बाद में चिकिनपाक्स का भी वर्णन किया गया।

इस काल के सर्वप्रमुख बाल रोग चिकित्सक श्री **चियन-थीई** (१०२३-११०४) है। यह शन्टुंग प्रान्त एवं युनचाउ (स्थान विशेष) का निवासी है। ४० वर्ष के अनुभव के आधार पर इस विद्वान का यह कथन है कि **बाल रोग का निदान करने के लिये नाड़ी की विभिन्न गतियों का अध्ययन विशेष रूप से सहायक होता है।** आननगत वर्ण एवं नेत्रात्तवर्त्म की स्थिति को देख कर भी बाल रोगों का निदान करने की प्रथा का परिचालन इसने किया। इस प्रकार रोग-परीक्षा, लक्षणों या भिषग्दर्शन का महत्व उसने प्रतिपादित किया। स्मालपाक्स, चिकेनपाक्स, स्कार्लेट-फीवर और मीजेल्स के भी विभेदक लक्षणों का वर्णन कर इन्हें स्वतन्त्र रोगके रूपमें उसने प्रतिपादित किया। इस विद्वान चिकित्सक के कार्यों को संग्रहीत कर इनके योग्य शिष्य **येन-हिसिग्रो-चुग** ने सन् १११९ में 'बाल रोग का निदान एवं चिकित्सा' शीर्षक से सम्पादित कर प्रकाशित किया। इस कार्य के प्रकाशित होने के ३० वर्ष बाद 'नवीन बालरोग' शीर्षक ग्रन्थ का ४० खण्डों में प्रकाशन हुआ। इसके लेखक ल्यु-फांग, वांग-ली, और वांग-शी थे। १२ वीं शताब्दी की यह अत्यन्त महत्वपूर्ण कृति कही जाती है। इस कृति में तत्कालीन एवं परम्परा से प्राप्त बाल रोग-सम्बन्धी सभी योग-पत्रों का समावेश किया गया। हुनान का समावेश विशेष रूप से महत्वंपूर्ण है, क्योंकि इसमें लोकौषधियों का प्रचुर संग्रह पाया जाता है। पुस्तक का प्रारम्भ नवजात शिशु की रक्षा से होता है, तदनन्तर बाल-विकार, अप्राकृतिक वृद्धि आदि आक्षेपों का वर्णन चीन की महत्वपूर्ण कृति में विशेष विस्तार के साथ किया गया है। भारत से समागत श्वेत धुस्तूर का प्रयोग यहाँ सर्वप्रथम, तीव्र या जीर्ण मांसपेशी संकोचों को शमित करने के लिये प्रभावशाली जवैध के रूप में किया गया। धुस्तूर एवं इस वर्ग की अन्य औषधियों का इस प्रकरण में वर्णन इस बात का प्रतीक है कि चीनी चिकित्सकों को १२ वीं शताब्दी में आक्षेपों की चिकित्सा का पूर्णतया ज्ञान था।

१३ वीं शताब्दी का ख्यातिनामा बालरोग चिकित्सक **चेन-वेंन-चुंग** हुआ। उसने स्मालपाक्स पर एक महत्वपूर्ण ग्रन्थ की रचना की। इसका प्रकाशन १२४१ में हुआ। इसी विद्वान की एक अन्य कृति बालरोग विज्ञान का प्रकाशन १२५३ में हुआ।

१३वीं शताब्दी के अन्त में बाल रोग के अप्रतिम चिकित्सक **टसेंग-शिम-जंग** हुए। वह होनान प्रान्तान्तर्गत हेंग यांग के निवासी थे। उन्होंने दो महत्वपूर्ण कृतियों की रचना की; जिनके नाम क्रमशः ये हैं—'हुआ-यु-की-यी एवं हुआ-यु-हिसिम-शु। ५० वर्ष के अनुभवी इस योग्य चिकित्सक ने अत्यन्त प्रतिभा के साथ अपना कार्य सम्पादित किया। बाल-चिकित्सा के क्षेत्र में इस विद्वान चिकित्सक एवं लेखक का योगदान विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, क्योंकि एक ही रोग की विभिन्न प्रकृति एवं अवस्थाओं का पृथक्-पृथक् निरूपण कर निदान करने के लिये चिकित्सकों का मार्ग उसने प्रशस्त कर दिया। इसने देखा कि विभिन्न प्रकार के ज्वर एवं आक्षेप बहुधा एक ही व्याधि के लक्षण थे एवं ज्वर अनेक व्याधियों में सामान्य लक्षण के रूप में मिलता है और राजयक्ष्मा, आन्त्रज्वर एवं इरीसिपलस में अनिवार्य रूप से यह पाया जाता है। चिकित्सा में ज्वर निवारक साधनों को अपनाने के लिये इसने विशेष जोर दिया।

मिंग और चिंग राज्यकाल (१३६८-१९१२)

१५ वीं शताब्दी में बाल-रोग का प्रधान चिकित्सक **काउ-पिंग** हुआ। 'बाल रोग में चिकित्सा-सम्बन्धी निर्देश' शीर्षक कृति का इसने प्रणयन किया। इसका विचार है कि अविपाक या असात्म्याहार से ही बालकों में व्याधि का जन्म होता है। यदि बालक को क्षुभितावस्था में भोजन कराया जाये तो वह अवश्य बीमार पड़ता है। बाल रोग-सम्बन्धी अब तक प्राप्त ज्ञान की विशद समीक्षा इस चीनी ग्रन्थकार ने प्रस्तुत की। इसकी रचना अत्यन्त अलंकारिक भाषा में की गयी, अतः अनेक अंशों का स्पष्टीकरण संभव नहीं हो पाता।

१६ वीं शताब्दी में बाल रोग पर अनेक कृतियों का प्रकाशन हुआ। "बालरोग संहिता" इस शृंखला का प्रधान ग्रन्थ है, इसके रचयिता वांग-सुआन हैं। इसमें पूर्वजों के प्राप्त ज्ञान की विस्तार के साथ समीक्षा प्रस्तुत की गई है। साथ ही नाड़ी की गति, चिकित्सा, एवं प्रत्येक रोग के लक्षणों का विधान किया गया है। शिशु एवं बाल रोग-चिकित्सा सम्बन्धी १०० प्रश्न शीर्षक एक अन्य ग्रन्थ का प्रकाशन १६ वीं शताब्दी में हुआ। इसकी विशेषता यह है कि इसका वर्णन रोचक, क्रियात्मक एवं साधारण है, विषय की आवश्यक विशेषताओं को भी अक्षुण्ण रखा गया है।

इस काल का प्रशस्ततम बाल रोग-चिकित्सक **हुसेह-कई** हुआ। यह क्यांग्सु प्रान्तान्तर्गत शूचू नामक स्थान

का निवासी है। हुंग-चिह (१४८८-१५०५) के राज्यकाल में इस विद्वान ने इम्पीरियल एकेडेमी आफ मेडिसिन की सेवा की एवं 'शिशु रक्षा के आवश्यक तत्व' शीर्षक ग्रन्थ का भी प्रणयन किया जो कि सन् १५५६ में चिया-चिंग के राज्य काल में प्रकाशित हुआ। इस विद्वान के योग्य पुत्र हुसेह-ची ने इस पुस्तक की भूमिका में वयानुसार उचित मात्रा निर्धारण पर विशेष जोर दिया। मातृ-स्तन्य या धात्री स्तन्य के अतिरिक्त अन्य विधियों से न ले सकने योग्य लघु शिशुओं में भी सूक्ष्म मात्राओं को देने की विधि का निरूपण भी इस विद्वान ने किया। यथा— माता या धात्री औषधि का सेवन करे और जब औषधि के तत्व स्तन में प्रस्तुत होने लगते हैं उस समय यदि माता या धात्री बालक को स्तन्यपान कराये तो औषधि का प्रवेश बालक के शरीर में सुविधा से हो जाता है। इनके अतिरिक्त शैशवाक्षेप (Infantile fits) और सामुद्रिक ज्वर (Naval fever) जो कि प्रत्यक्ष रूप से धनुर्वात के ही उपद्रव हैं, इनको ज्ञात हुआ। यह उपसर्ग बालकों में प्रायः गर्भनालगत उपसर्गों से होते हैं। चीनी चिकित्सा के इतिहास में प्रथम बार मांसदाह (Cautery) से गर्भनाल का कर्तन यहीं उल्लिखित मिलता है। यह विधि इस प्रकार है कि मोक्सा नामक घास को मोड़ कर तैलाप्लुत किया जाता है और इसे उज्ज्वालित कर गर्भनाल पर रख दिया जाता है। यह तब तक रखा जाता है जब तक कि गर्भनाल सूख कर स्वयं गिर न जाये। इसके बाद मृदु एवं स्थूल कार्पास ऊर्णिका (Cotton wool) से इसको आवृत कर दिया जाता है। बीच-बीच में इसे देखते भी रहना चाहिये कि यह मूत्र से भींग न जाए। इस कृति की अन्य विशेषता यह है कि विद्वान लेखक के योग्य पुत्र हुसेह-ची ने प्रत्येक रोग की समीक्षा के साथ रोगियों का इतिवृत्त एवं एतदर्थ योगपत्रों का संकलन भी साथ में प्रस्तुत किया है।

मिंग राज्य काल में एक अन्य विश्रुत बाल चिकित्सक हुसेह प्रान्तान्तर्गत ल्युटियन हिसेन स्थान निवासी **वान-चुआन** हुए हैं। इनके नाम से सम्बन्धित तीन पुस्तकों का उल्लेख यहीं पाया जाता है। यथा—'मीजल्स और स्मालपाक्स में चिकित्सा-सम्बन्धी अनुभव' प्रकाशन काल .१५४९, "बालरोग विज्ञान" प्रकाशन काल १५७९, एवं "शिशु रक्षा में पारिवारिक रहस्य"। संभवतः वांन-चुआन का नाम इसलिये इन कृतियों के साथ संयुक्त हुआ प्रतीत होता है, कि वह उस वैभवशाली परिवार का उदीयमान सदस्य था, जिसने वंशानुगत परम्परा के सुपक्व अनुभवों को सामान्य जनता के लिये मुक्त कर दिया। इन पुस्तकों के योग सादे और पूर्णतः क्रियात्मक हैं और चीनी चिकित्सा के इतिहास में प्रथम बार बालकों के लिये मालिश (Massage) का विधान यही किया गया है। लेखक ने गर्भकालिक (यु-यांग), पूर्व प्रसव कालिक (टई-यांग) एवं प्रसवकालिक (जु-यांग) सुरक्षा या सावधानी पर भी विशेष जोर दिया है। शिशु-रक्षा (चु-यांग) के उपायों का उल्लेख करते हुए यही कहा गया है कि बालक को धूप और छाया में बहुधा रखना चाहिये। शीत सहन करवाने की आदत डालनी चाहिये, डराना नहीं चाहिये और अतिमात्रा में भोजन या औषधियों का भी सेवन नहीं कराना चाहिये।

इस काल में स्मालपाक्स से बचने के लिये एवं रोगकालिक उपचार का विस्तृत वर्णन मिलता है। इस दिशा में अध्ययन की एक नयी ही धारा प्रवाहित हो गयी। परिणामतः स्मालपाक्स के सम्बन्ध में अनेक पुस्तकों का प्रकाशन इस काल में हुआ। यहाँ पर यह भी उल्लेखनीय है कि १५ वीं शताब्दी में शीतला का भीषण प्रकोप इस समय चीन में फैला और धन-जन की पर्याप्त हानि भी इससे हुई। शीतला रोग का प्रवेश चीन में कब हुआ इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है, कुछ विद्वानों के अनुसार ईसा की प्रथम शताब्दी में हिन्द-चीन, जिसे चीन में 'चियो-चिर' कहते हैं, से चीन में इसका प्रवेश हुआ। टिसिन राज्य काल (२६५-६१७ ए० डी) में को-हुंग द्वारा उल्लिखित 'आत्यधिक चिकित्सा-योगपत्र' शीर्षक पुस्तकों में शीतला का वर्णन पाया जाता है, संभवतः यहीं इसका सर्वप्रथम वर्णन है, जो इस प्रकार है।

'इधर कुछ लोग मरकव्रणों से आक्रान्त हो रहे हैं, ये व्रण शिर, आनन और हाथ-पैरों को आक्रान्त करते हैं। यह शीघ्र ही समग्र शरीर में व्याप्त हो जाते हैं। ये व्रण दग्ध व्रण के समान उत्फुल्ल होते हैं और इनमें श्वेत द्रव्य भरा रहता है। जब यह सूख कर गिरने लगते हैं तो नये उत्पन्न हो जाते हैं। रोग से मुक्त होने के बाद भी रोगी के समग्र शरीर पर पूयाभ व्रण-वस्तु के चिह्न बन जाते हैं जो एक वर्ष बाद तक समाप्त नहीं होते। जनश्रुति इस प्रकार की, है कि चियन-वु के राज्यकाल में जब राजा नानयांग-ये हून-जाति के लोगों से संघर्ष कर रहा था, उस समय चीन में इसका

प्रवेश हुआ। इस रोग को 'हन-पाक्स' नाम उस समय दिया गया।

श्री ली-टो के अनुसार नवीं शताब्दी में कु-हुंग नामक चीनी चिकित्सक ने ही शीतला का सर्वांग विवरण उपस्थित किया। कुछ लोग यह श्रेय अरबी चिकित्सक टोजा को देते हैं, ली-टो को यह मान्य नहीं है।

प्रशासकीय आज्ञानुसार १७४६ ईसवी में ८० चिकित्सकों ने मिल कर 'चिकित्सा दर्पण' (Golden mirror of medicine) की रचना की, इसमें ऐसा उल्लेख पाया जाता है कि सुंग राज्य परम्परा (९९८-१०२२) में चेन-हुसुंग के राज्य काल में ओमई पर्वतवासी एक सज्जन ने तत्कालीन प्रधान मन्त्री के पुत्र को इसका अन्तर्भरण दिया था, इस प्रकार शीतला के प्रति अन्तर्भरण का ज्ञान १० वीं शताब्दी से ही चीन के चिकित्सकों को था। एतदर्थ व्रण या लस को नासा-मार्ग से प्रविष्ट कराया जाता था। कालान्तर में चीन से पश्चिम की ओर इसका प्रसार हुआ। टर्कीस्थ ब्रिटिश राजदूत की पत्नी श्रीमती मान्टेंगु ने सात शताब्दी बाद इंग्लैंड में इसका प्रवेश कराया। बालरोग के सम्बन्ध में प्रकाशित कालान्तरीय कृतियों में भी इसका विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। अन्तर्भरण (शीतला के प्रति) की नवीन विधियों का सर्वांगपूर्ण उल्लेख चिउ-हिसी द्वारा लिखित 'चिन-टाउ-हिसन-फी-चुआन-शु' शीर्षक कृति में मिलता है। इसका रचनाकाल १८१७ ईसवी कहा जाता है।

मिग राज्यकाल का अन्य महत्वपूर्ण बाल चिकित्सक **वांग-केन-टैंग** हुआ है, इसने 'बाल रोग-निदान एवं चिकित्सा' शीर्षक एक महत्वपूर्ण कृति का प्रणयन किया। लगभग सारी पुस्तक का तृतीयांश तो शीतला और मीजेल्स से ही आवृत्त है, पर इसमें इस समय तक के प्राप्त बालरोग-सम्बन्धी ज्ञान की भी संक्षिप्त समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। लक्षणों को विस्तार के साथ वर्णित करने की भी वृत्ति इस समय के लेखकों में पायी जाती है, इससे रोग एवं उसकी चिकित्सा समझने में काफी मदद मिलती है। विषय का सर्वांग पूर्ण विवेचन होने के कारण ही इसका पर्याप्त प्रचार हुआ। वांग-केन-टैंग्स की इस कृति ने बालरोग के नैदानिकीय विकास में पर्याप्त योगदान दिया।

चिंग-राज्य काल में राजकीय सेवा में आने के लिये कृत्रिम अष्टपदीय निबन्धों को माध्यम माना जाता था। इन निबन्धों ने चिकित्सा-जगत् को भी प्रभावित किया और परिणामतः इसी आधार पर बालरोग पर भी एक पुस्तक लिखी गयी, यथा—चाऊ-शिह-चेंग की 'पिंग-इर-लुन' इस शैली का प्रमुख उदाहरण है। इसमें विषय के बजाय शैली को विशेष प्रधानता दी गयी है। पद्यबद्ध रचनायें भी इस काल में मिलती हैं, यथा—युकु-चिह-नान, यु-कु-शिह-कु।

चिंग-राज्यकाल का सर्वाधिक प्रसिद्ध बालरोग चिकित्सक **हिसिह-टिंग**-हुआ है। अनहुई प्रान्तान्तर्गत कुईविह नामक स्थान उसका निवासस्थान है। इन्होंने 'यु-कु-टियह-चिंग' नामक ग्रन्थ की रचना की और इसका प्रकाशन १६६५ में हुआ। इसमें रोगी के अंग-प्रत्यंगों के आधार पर निदान-विधि का विस्तृत उल्लेख पाया जाता है। यथा—मुख, जिह्वा, नासाग्र, ओष्ठ, कर्ण, दन्त, मांस और नेत्र। इस चिकित्सक के अनुसार ७० वर्ष की परम्पराओं से पुष्ट इस विधि से हजारों बाल रोगी लाभान्वित हुए हैं। बालकों की अँगुलियों (हस्त-परीक्षा) के आधार पर की जानेवाली निदान-पद्धति, जो कि उत्तरीय शुंग राज्य से अवतरित हुई, की तीव्र भर्त्सना इस लेखक ने की। हिसिग-टिंग का कथन है कि हस्ततल की रेखायें जन्म से ही होती हैं, कास, यकृत-विकार तथा अन्य विकारों से इन रेखाओं में कोई परिवर्तन हो सकेगा यह कल्पना भी भ्रान्तिमूलक है।

१८वीं शताब्दी के मध्य में प्रकाशित अनेक कृतियों में 'यु-यु-चि-येंग' विशेष महत्वपूर्ण है। इसके लेखक चेन-फु-चेंग हैं। इस लु-ओं-फु पर्वतवासी पुजारी चिकित्सक ने मलेरिया के लिये चांग-शान का प्रयोग किया और आज भी मलेरिया की यह अचूक औषधि चीन में मानी जाती है। मलेरिया के रोगी में प्लीहा-अभिवृद्धि हो जाती है, इसका भी ज्ञान इस चिकित्सक को था और मलेरिया के अन्य लक्षणों में सज्वर अरक्तता, सकम्प, ज्वर और दिनान्तर (एकयाह्वि) पर होना, प्रधान लक्षण है। इसके लेखों से ऐसा ज्ञात होता है कि वृक्क एवं हृज्जन्य शोथ का भी पृथक्करण इस चिकित्सक ने कर लिया था। जन्मज फिरंग के एक रोगी का उल्लेख इस चिकित्सक ने किया, जन्मोत्तर फिरंग-युक्त दो रोगियों का भी वर्णन इस चिकित्सक ने किया, लक्षणों में फलकोष के पास कुछ चकत्ते प्रारम्भ हो कर समग्र शरीर में फैल जाते हैं ऐसा लिखा है। त्वचा व्रण

एवं वेदनायुक्त हो जाती है, किसी प्रकार की भी चिकित्सा से इसमें लाभ नहीं होता।

इस काल की एक उल्लेखनीय कृति 'हुई-शान्वी' है। इसे वांग-शिह-लुंग ने लिखा है। यह पद्य में लिखी गयी है और लेखक के ही अनुसार ५० वर्ष के गम्भीर अनुभव के पश्चात् इसका लेखन प्रारम्भ किया गया। धनुर्वात और इससे बचने के उपायों एवं स्फीत-कृमि के उपसर्ग का बड़े विस्तार से वर्णन किया गया है। जन्मज फिरंग के सम्बन्ध में लेखक का विचार है कि यह उपसर्ग के रूप में या गर्भ की विकृति के कारण उत्पन्न होती है।

१८१२ में एक अन्य महत्वपूर्ण कृति का प्रकाशन दो खण्डों में हुआ। इसका नाम 'या-चिंग-ची-चिहलु' है और **वु-निंग-लान** नामक विद्वान ने इसे लिखा है। प्रथम खण्ड में शिशु के उपायों को १६ अध्यायों में विभक्त कर दिया गया है, द्वितीय खण्ड में ६७ उप-विभाग हैं और गर्भ-कालिक विकृतियों का इसमें उल्लेख किया गया है।

विमर्श

चीनी चिकित्सा की भाँति भारतीय चिकित्सा-पद्धति में भी बालरोग या कौमारभृत्य आयुर्वेद के आठ अंगों में से एक कहा गया है। वृद्धत्रयी में बालरोग के सम्बन्ध में विस्तृत निर्देश पाये जाते हैं। गर्भाधान, गर्भकालिक चर्या, प्रसवकालिक चर्या, प्रसवोत्तर चर्या एवं नवजात शिशु के सम्बन्ध में सूक्ष्मतम विचार आयुर्वेद के आचार्यों ने किया है। पर यहाँ सामान्य वर्णन के साथ ही इनका उल्लेख पाया जाता है।

काश्यप-संहिता जो त्रटितांश में ही आज उपलब्ध है, बालरोग का एक प्रधान एवं मौलिक ग्रन्थ माना जाता है। बालक को क्षीरपान के लिये गाय के अभाव में बकरी का दूध या तद्गुण गाय का दूध देने का विधान तो सर्वविदित ही है। धात्री-चयन के सम्बन्ध में भी चरक-सुश्रुत आदि ने विस्तृत एवं सूक्ष्म विचार किया है। आयुर्वेदेतर साहित्य से भी स्पष्ट प्रतिभासित होता है कि भारतवर्ष के उच्च परिवारों में धात्री रखने की परम्परा प्राचीनतम काल से रही है। काश्यप ने धात्री चिकित्साध्याय नाम से एक स्वतन्त्र अध्याय दिया है जिसमें अननुकूल धात्री को अनुकूल बनाने की विधि का उल्लेख किया गया है। दुर्भाग्य से यह अध्याय भी अन्य अंशों की भाँति त्रुटित रूप में ही में उपलब्ध होता है। काश्यप संहिता के भैषज्योपक्रमणीय अध्याय में मात्रा आदि के सम्बन्ध में विस्तृत विचार किया गया है। वर्ज्य और अवर्ज्य मात्रा का वर्णन यहाँ इस प्रकार दिया गया है—

ग्राह्य मात्रा—

> यन्मातुबलं हन्ति व्याधिवीर्यं निहन्ति च।
> तदेवास्यावचार्यं स्यादाव्याध्युच्छेददर्शनात्॥
> का० सं० खि० ३।६३

वर्ज्य मात्रा—

> व्याधिदोषबलाग्निभ्यो हीनं तेभ्योऽधिकं चयत्।
> अजिज्ञासित पूर्वं च गुणैश्चोक्तैर्विवर्जितम्॥
> अरोगसात्म्यं दुर्युक्तमनिष्टं मनसश्च यत्।
> यस्य पीतस्य पाकान्ते दोषः सूक्ष्मोऽपिलक्ष्यते॥
> व्याधेश्च प्रशमो न स्यात्तच्च वर्ज्यं विजानता।
> का० सं० खि० ३।६१-६२

सौभाग्य से यह अध्याय अत्रुटित रूप में हमें उपलब्ध होता है, चरक, सुश्रुतादि में भी मात्रा निरूपण का आधार प्रायः यही रहा है। बालक के वय को यहाँ गर्भ, बाल और कुमार तीन भागों में विभक्त किया गया है, इसमें एक वर्ष तक या दूध पीने तक की अवस्था को **क्षीरप** और शेष को **अन्नाद** कहा गया है। चरक विमान स्थान अष्टमाध्याय में वयसानुसार विभाजन करते समय **बाल, मध्य** और जीर्ण तीन का ही उल्लेख किया गया है। बालावस्था की परिधि चरक और काश्यप दोनों के ही अनुसार १६ वर्ष मानी गयी है। बालावस्था का त्रिविध विभाजन बालरोग विशेषज्ञ भगवान काश्यप की अपनी विशेषता है।

फक्क रोग के लिये यहाँ स्वतन्त्र अध्याय दिया गया है। अनेक अंशों में यह त्रुटित है। फिर भी जितना अंश उपलब्ध है उसके आधार पर आधुनिक रिकेट्स (?) या पोलियो (?) से इसकी तुलना की जा सकती है। इसका वर्णन यहाँ इस प्रकार किया गया है—

> बालः संवत्सरापन्नः पादाभ्यां यो न गच्छति
> स फक्क इति विज्ञेयस्तस्य वक्ष्यामि लक्षणम्।
> धात्री श्लैष्मिकदुग्धा तु फक्कदुग्धेति संज्ञिता
> तत्क्षीरपो बहुव्याधिः काश्यात् फक्कत्वमाप्नुयात्,

× × × ×

> अनाथः विलक्ष्यते बालः क्षीण मांस बल द्युतिः
> संशुष्कास्फिग्बाहूरुर्महोदरशिरोमुखः

पीताक्षो हृषितांगश्च दृश्यमानास्थि पंजरः ।
प्रम्लानाधरकायश्च नित्यमूत्रपुरीषकृत् ।।
निश्चेष्टाधरकायो वा पाणिजानुगमोऽपि वा ।
दौर्बल्यान्मन्दचेष्टश्च मन्दत्वात् परिभूतकः ।।
मक्षिकाकृमिकीटानां गम्यश्चासन्नमृत्युरुक् ।
विशीर्णहृष्टरोमा च स्तब्धरोमा महानखः ।।
दुर्गन्धी मलिनः क्रोधी फक्कः श्वसिति ताम्यति ।
अतिविण्मूत्रदूपिकाशिंघाणकमलोद्भवः ।।
इत्येतैः कारणैर्विद्याद्व्याधिजां फक्कतां शिशोः ।

का० सं० फक्कचिकित्साध्याय

फक्क के चिकित्सा विधान में भी साधित घृत-क्षीर और तैलों का विधान भूरिशः किया गया है। त्रिचक्र फक्करथ की भी योजना यहाँ की गयी है। यथा—

त्रिचक्रं फक्क रथकं प्राज्ञः शिल्पिक निर्मितम्
विदध्यात्तेन शनकैर्गृहीतो गतिमभ्यसेत्

राजा नहुष, दिलीप, भरत और गय के पुत्र फक्क व्याधि से पीड़ित हुए और राजतैल नामक योग सेवन से उन्हें लाभ हुआ, इसका भी उल्लेख यहाँ मिलता है।

यहाँ बालरोग चिकित्सा का क्रमिक विकास कैसे हुआ इसका विस्तृत उल्लेख न तो संभव ही है और न अभीष्ट ही। चीनी चिकित्सा की भाँति आयुर्वेद में भी बालरोग चिकित्सा का विशिष्ट अंग माना जाता रहा है। इसकी लक्षण-चिकित्सा और पथ्य आदि का भी स्वतन्त्र वर्णन हमें अपने शास्त्रों में मिलता है। इसकी उपादेयता और उपयोगिता से भी प्राचीन आचार्य पूर्णतः परिचित थे। आधुनिक व्याधियों का भी निर्देश चीनी चिकित्सा की भाँति आयुर्वेद में मिलता है। इन पर स्वतन्त्र रूप से विचार भी इन्हीं स्तम्भों में आगे किया जायेगा।

आयुर्वेद के ही अनुसार दक्षिणस्थ सिद्ध चिकित्सा संप्रदाय के अनुसार भी बाल रोग को एक विशेष एवं महत्वपूर्ण शास्त्र माना गया है। इस विषय के अनेक ग्रन्थ पाण्डुलिपि के रूपमें दक्षिण के विद्वानों के पास व्यक्तिगत निधि के रूप में आज भी पाये जाते हैं। सिद्ध चिकित्सा में बालरोग को 'बाल-वागड्म' कहा जाता है। इस विषय के एक ग्रन्थ का प्रकाशन १९३३ में मद्रास सरकार ने "बालवागडम" नाम से प्रकाशित किया। इसे अगस्त्य, धन्वन्तरि, त्रिमूलक तैरियर, ब्रह्ममुनि, व्याघ्रपाद और बोहर का रचित माना जाता है, ये सभी सिद्ध संप्रदाय के प्रवर्तक ऋषि कहे जाते हैं। यहाँ बालकों की वय को ३ भागों में विभक्त किया गया है यथा—**जन्म से ५२ मास तक कुडवी, १ से ३ वर्ष तक पाटपर और ३ से १० वर्ष तक बालपरम्।** यह ग्रन्थ-रत्न लगभग ३०० पृष्ठ का है और सिद्ध चिकित्सा की दृष्टि से इसे महत्वपूर्ण कहा जाता है। इसकी भाषा और लिपि तमिल है।

केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था,
जामनगर

द्रव्यगुणविज्ञान [तृतीय संस्करण]

लेखक : आयुर्वेदमार्त्तण्ड, वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य —बम्बई।

आयुर्वेदीय संहिताओं के ग्रन्थों म सूत्ररूप में यत्र-तत्र बिखरे हुए द्रव्य-गुण विषय को आयुर्वेदतत्त्ववेत्ता पूज्य आचार्यजी ने बड़े परिश्रम से (द्रव्यों के रस-गुण-वीर्य-विपाक-प्रभाव आदि विषयों पर पृथक्-पृथक् पाँच अध्यायों में बहुत उत्तमता पूर्वक) संकलित कर सरल संस्कृत-हिन्दी भाषा में विवेचन किया है, जो आयुर्वेद-विज्ञान की प्रगति के लिए बहुत उपयोगी है। मूल्य रु०४·५०

प्रकाशक
श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
१, गुप्ता लेन, कलकत्ता -६

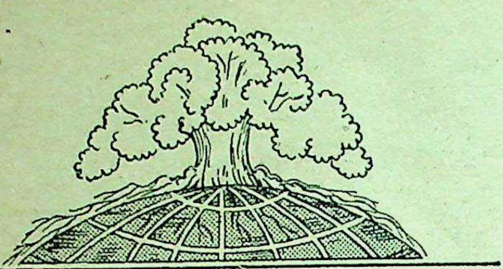

आयुर्वेद-जगत्

आयुर्वेदीय निघण्टु

केन्द्र द्वारा उपसमिति गठित

केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्रालय ने आयुर्वेदिक दवाइयों का निघण्टु बनाने के लिए एक उप-समिति नियुक्त की है। यह निघण्टु एक साल में बन कर तैयार हो जाएगा। यह सूचना केन्द्रीय स्वास्थ्य मंत्री श्री दत्तात्रय परशुराम करमरकर ने मंगलवार को संसद-सदस्यों की अनौपचारिक समिति की बैठक में दी।

उन्होंने कहा कि आयुर्वेद की स्टैण्डर्ड दवाइयाँ बनाने पर भी विचार हो रहा है। मद्रास, आन्ध्र प्रदेश, केरल और राजस्थान की सरकारों ने आयुर्वेदिक नुस्खों की सूची बनाई है और इन राज्यों में ये नुस्खे खूब प्रयोग में आ रहे हैं।

सदस्यों ने कहा कि वैद्यों को अधिक सुविधायें दी जानी चाहिए। उनका वेतन भी बढ़ना चाहिए। उन्होंने कहा कि भारतीय चिकित्सा-परिषद् के स्तर पर राष्ट्रीय आयुर्वेद परिषद् भी बनाई जानी चाहिए। सदस्यों ने इस बात पर जोर दिया कि अशिक्षित वैद्यों और हकीमों को चिकित्सा करने से रोका जाए।

मंत्री महोदय ने कहा कि सरकार आयुर्वेद और अन्य देशी प्रणालियों के गुणों से फायदा उठाना चाहती है। किन्तु यह विषय राज्य सरकारों का है और केन्द्रीय सरकार इस सम्बन्ध में कोई आदेश नहीं दे सकती। इस बारे में केन्द्र राज्यों पर केवल प्रभाव डाल सकता है।

इस बैठक में यह भी बताया गया कि किस प्रकार वैज्ञानिक ढंग पर आयुवद का विकास किया जा रहा है। आयुर्वेद की शिक्षा-प्रणाली में एकरूपता लाई जा रही है और आयुर्वेद के अध्यापकों के प्रशिक्षण की सुविधायें बढ़ाई जा रही हैं। इसके अलावा आयुर्वेदिक दवाइयों पर नियंत्रण रखने, ज्यादा-से-ज्यादा जड़ी-बूटियाँ लगाने और जड़ी-बूटियों का सर्वेक्षण करने के भी प्रयत्न किये जा रहे हैं। कानून द्वारा एक आयुर्वेद-अनुसन्धान मंडल स्थापित करने का भी प्रस्ताव है।

आयुर्वेदिक योजना समिति

आयुर्वेदिक तथा यूनानी पद्धति की पंचवर्षीय योजना में प्रोत्साहन देने के लिये तथा तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेद-यूनानी को प्रोत्साहन-सम्बन्धी सलाह देने के लिये केन्द्रीय श्रम मन्त्री श्री गुलजारीलाल नन्दा की अध्यक्षता में जो समिति बनाई गई है उसमें निम्नांकित महानुभाव सदस्य के रूप में लिये गये हैं।

१. डा० के० एन खोसला (सदस्य, प्लानिंग कमीशन), २. वैद्य प्रभाकर चटर्जी, कलकत्ता, ३. कविराज उपेन्द्रनाथ दास, देहली, ४. डा० सी० द्वारिकानाथ (केन्द्रीय आयुर्वेदिक सलाहकार), ५. श्री राधेलाल व्यास, नई देहली, ६. हकीम मोहिउद्दीन (प्रिंसपल, उस्मानिया तिब्बिया कालेज, हैदराबाद), ७. वैद्य हरिहरदत्त जोशी, भू० पू० प्रिंसपल, ऋषिकुल आयुर्वेदिक कालेज हरिद्वार, ८. वैद्य नारायणराव वेंकटेश, पूना, ९. आयुर्वेदाचार्य श्री डी० ए० कुलकर्णी, लखनऊ, १०. डा० बालकृष्ण लागू, डीन आफ दी फेकल्टी इन आयु० पूना विश्वविद्यालय, ११. डा० ए० लक्ष्मीपति (अध्यक्ष आयुर्वेदिक चिकित्सा बोर्ड आन्ध्र प्रदेश), १२. हकीम अब्दुल लतीफ साहब (प्रिंसिपल, यूनानी-तिब्बी कालेज, मुस्लिम यूनिवर्सिटी, अलीगढ़), १३. डा० प्राणजीवन दास, मेहता (भू० पू० डाइरेक्टर केन्द्रीय आयुवदिक रिसर्च इन्स्टीच्यूट, जामनगर), १४. आयुर्वेदवृहस्पति सीताराम मिश्र, जयपुर, १५. हकीम हाजिक अब्दुल हमीद, देहली, १६. वैद्य लक्ष्मीकान्त पाण्डेय, कलकत्ता, १७. वैद्य पार्थनारायण पण्डित (बंगलौर), १८. वैद्य रामरक्ष पाठक (डाइरेक्टर केन्द्रीय आयुर्वेदिक अनुसन्धानशाला जामनगर), १९. वैद्य कालादि परमेश्वरम् पिल्लई, त्रिवेन्द्रम्, २०. वैद्य गंगाधर विष्णु शास्त्री पुराणिक, (बम्बई), २१. वैद्य अनाथनाथ राय (उप-सभापति पश्चिमी बंगाल स्टेट कौंसिल आफ आयुर्वेद), २२. वैद्य अनन्त त्रिपाठी, अध्यक्ष अ० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन (बंगलौर), २३. वैद्य प्रियव्रत शर्मा, ए० एम० एस०, प्रिंसपल गवर्नमेंट आयुर्वेदिक कालेज, पटना, २४. वैद्य राजवैद्य रामप्रसाद शास्त्री, पटियाला, २५. वैद्यरत्न शिव शर्माजी बम्बई, २६. वैद्यरत्न हरिदत्त शास्त्री (निर्देशक आयुर्वेद, बम्बई),

२७. वैद्यरत्न आर० सेन सरकार, देहली, २८. वैद्यरत्न वि० सुब्रह्मण्यम् त्रिरुचिनापल्ली, २९. वैद्यरत्न बद्रीविशाल त्रिपाठी, अध्यक्ष उ० प्र० वैद्य सम्मेलन, कानपुर, ३०. डा० के० एन० उडुप्पा, प्रिंसपल, आयुर्वेदिक कालेज हिन्दू विश्वविद्यालय वाराणसी, ३१. वैद्य व्यंकट राघवन मद्रास, ३२. वैद्य पी० के० बारीयार (कोट्टाकल), ३३. वैद्य अच्युत बरीयार, मन्त्री आयुर्वेदिक एज्यूकेशन बोर्ड केरल), ३४. डा० शेषगिरि राव (मन्त्री प्लानिंग कमीशन एण्ड हेल्थ विभाग)।

यह समिति "आयुर्वेदिक पेनल" के नाम से सम्बोधित होगी। इसकी प्रथम बैठक अभी १९ व २० जुलाई को देहली में हुई थी।

औषधियों के निर्माण पर कानूनी नियंत्रण

केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री डी० पी० करमरकर ने राज्यसभा में यह रहस्योद्घाटन किया कि औषधियों के निर्माण पर नियंत्रण के लिए कानूनी व्यवस्था के उद्देश्य से सरकार एक बिल पेश करने का विचार कर रही है। इस प्रश्न पर राज्य सरकारों के साथ आवश्यक विचार-विमर्श करने के उपरान्त ही उक्त बिल सदन में प्रस्तुत किया जायगा। औषधि कानून १९४० में संशोधन के लिए प्रस्तुत बिल पर बहस के उत्तर में स्वास्थ्य मन्त्री ने बताया कि केन्द्र ने राज्य सरकारों से इस प्रश्न पर विचार-विनिमय किया है। आपने कहा कि राज्य सरकारों से यह पूछा गया है कि क्या सभी प्रकार की औषधियों को कानूनी नियंत्रण में निर्मित करने सम्बन्धी योजना को अमल करने का उपयुक्त अवसर उपस्थित हुआ है। श्री करमरकर ने पुनः बताया कि यह प्रस्ताव स्वास्थ्य मन्त्रियों की केन्द्रीय परिषद् के सम्मुख विचारार्थ उपस्थित किया जायगा। अगले दो महीनों के भीतर यह बैठक होगी।

राजकीय आयुर्वेद कालेज, जयपुर

नवीन भवन का उद्घाटन

राजकीय आयुर्वेद कालेज, जयपुर के नवीन भवन का उद्घाटन गत १ अगस्त १९६० को केन्द्रीय स्वास्थ्य मन्त्री श्री करमरकर के हाथों समारोहपूर्वक सम्पन्न हुआ। इस अवसर पर राजस्थान प्रदेश के स्वास्थ्य मन्त्री श्री गुप्ताजी, आयुर्वेद मन्त्री श्री भीखाभाई, आयुर्वेद विभाग के डाइरेक्टर वैद्य प्रेमशंकरजी, राजकीय कालेजों के प्रिन्सिपल, प्रोफेसर, लेकचरार, विभागीय इन्स्पेक्टर, प्रदेश सम्मेलन के सभापति तथा अन्य पदाधिकारी, भारतीय चिकित्सा पंजीयन बोर्ड के अध्यक्ष तथा नगर के अनेक गण्यमान्य वैद्य उपस्थित थे। पुष्पहारों से आपका स्वागत किया गया। आपने अनेक आयुर्वेदीय संस्थाओं का निरीक्षण किया। आपने वैद्यों से विचार-विमर्श किया।

वैद्यों से विचार-विमर्श-करने सम्बंधी कार्यक्रम का आरम्भ नि० भा० विद्यापीठ मन्त्री श्री सीतारामजी के प्रवचन से हुआ। आयुर्वेद विभाग के डाइरेक्टर वैद्य प्रेमशंकरजी ने राजस्थान में राजस्थान राज्य सरकार की ओर से क्या-क्या आयुर्वेदीय प्रवृत्तियाँ चल रही हैं, इसका संक्षेप में विवरण दिया। स्वामी मंगलदासजी ने आयुर्वेद विरोधी केन्द्रीय कानून जैसे आसव-अरिष्ट पर प्रतिबन्ध, ड्रग एक्ट, विज्ञापन, नियंत्रण एक्ट, अफीम आदि विषों की प्राप्ति की कठिनाइयाँ तथा उसके लाइसेन्स प्रणाली पर प्रकाश डाला। केन्द्र द्वारा व्यवहृत आर्थिक सहायता में माडर्न सिस्टम तथा देशी प्रणालियों में जो गहरा भेद-भाव रखा जाता है उन्होंने उसका भी दिग्दर्शन कराया।

तदनन्तर माननीय स्वास्थ्य मन्त्री महोदय ने अपने विचार व्यक्त किये। उन्होंने बताया कि स्वास्थ्य मन्त्री के नाते वे विभिन्न प्रणालियों की दृष्टि से नहीं सोचते। उनका लक्ष्य है रोगी की रोग-मुक्ति; चाहे वह किसी भी पद्धति से क्यों न हो। उन्होंने निर्देश किया कि वैद्य-समुदाय वर्गवाद में न उलझे। चरक-सुश्रुत आदि महर्षियों ने आयुर्वेद की रचना किसी धर्म-जाति या देश के व्यक्तियों के लिये नहीं की, उन्होंने आयुर्वेद का निर्माण मनुष्यमात्र के लिये किया था। वही भावना वैद्य-समाज की होनी चाहिए। अन्त में आयुर्वेद कालेज के अध्यक्ष स्वामी जयरामदासजी ने अपने संक्षिप्त वक्तव्य में शिक्षा-संस्थाओं की न्यूनता तथा उनकी ओर ध्यान न दिया जाना, केन्द्र द्वारा एक भी आयुर्वेद शिक्षण-संस्था का न खोला जाना एवं केवल वाचनिक सहानुभूति प्रकट कर वस्तुतः आयुर्वेद के उत्थान के लिए कोई कदम न उठाने को खेदजनक बताया। आपने आशा व्यक्त की कि वैद्यों को केवल अनुसन्धान करने, नवीन विज्ञान को अपनाने आदि के उपदेश ही न दिये जा कर आयुर्वेद की शिक्षा को वस्तुतः समुन्नत करने की दृष्टि से तृतीय पंचवर्षीय योजना में अवश्य उचित कदम उठाया जायगा।

राजकीय आयुर्वेद कालेज, के भवन का उद्घाटन मध्याह्न ३ बजे से आरम्भ हुआ। प्रारम्भ में स्वागत

गीत महाविद्यालय के छात्रों ने गाया। पश्चात् वैदिक मंत्रों से मंगलाचरण हुआ। तदनन्तर आयुर्वेद विभाग के अध्यक्ष प्रेमशंकरजी ने संक्षेप में उक्त कालेज तथा जयपुर राज्य के समय से अब तक वहाँ जिस तरह आयुर्वेद का उत्थान हुआ उस पर प्रकाश डाला। आपने कहा कि स्वतन्त्रता के पश्चात् एकीकृत राजस्थान प्रदेश बनने पर आयुर्वेद की प्रगति में पर्याप्त तीव्रता आई। पिछले दस वर्षों में राजस्थान सरकार ने आयुर्वेद को आगे बढ़ाने में उचित सहयोग दिया। इस समय राजस्थान में करीब बारह सौ औषधालय चल रहे हैं, दो सरकारी आयुर्वेदीय कालेज तथा पाँच सहायता प्राप्त आयर्वेद कालेज, शिक्षा का कार्य कर रहे हैं, पाँच राजकीय भेषज निर्माणशालायें हैं। राजस्थान में आरम्भ से ही आयुर्वेद विभाग स्वतन्त्र है, उसका संचालन डाइरेक्टर द्वारा होता है। पिछले वर्ष से स्वतन्त्र आयुर्वेद मन्त्री भी राजस्थान में बने हैं, उदयपुर तथा जोधपुर में दो अनुसन्धान-केन्द्र चल रहे हैं तथा शीघ्र ही जयपुर में भी एक अनुसन्धान-केन्द्र का आरम्भ होने वाला है। राज्य की ओर से इण्डियन मेडिसिन बोर्ड, स्टेंडिंग बोर्ड, आयुर्वेदीय परीक्षा बोर्ड इस तरह तीन बोर्ड हैं; अनुसन्धान बोर्ड की स्थापना का भी सिलसिला चल रहा है। यूनिवर्सिटी में आयुर्वेद फेकल्टी का प्रयास भी जारी है, उप-वैद्य तथा धात्री शिक्षा भी उदयपुर कालेज में दो वर्ष से चल रही है, प्रत्याभिस्मरण शिक्षा भी सरदार शहर में चल रही है। इस तरह राजस्थान में चहुँमुखी प्रवृत्तियाँ राजस्थान सरकार चला रही है। आशा है तृतीय पंचवर्षीय योजना में आयुर्वेद के लिए प्रस्तुत योजना का कोटा बिना अङ्ग-भङ्ग के केन्द्र द्वारा स्वीकृत किया गया तो राजस्थान आयुर्वेद-प्रगति का अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर सकेगा।

आपके पश्चात् राजस्थान प्रदेश सम्मेलन की ओर से प्रदेश सम्मेलन के सभापति वैद्य आचार्य नित्यानन्दजी ने अभिनन्दनपत्र पढ़ कर स्वास्थ्य मन्त्री महोदय को समर्पित किये। तदनन्तर आयुर्वेद-मन्त्री श्री भीखाभाई ने आयुर्वेद पद्धति के औचित्य पर अपने विचार व्यक्त करते हुए बल दिया और कहा कि आयुर्वेद केवल चिकित्सा-शास्त्र नहीं है, वह जीवन-शास्त्र है, वह मनुष्य को सिखाता है कि वह स्वस्थ रह कर कैसे दीर्घायुष्य भोग सकता है। आयुर्वेद में जन-स्वास्थ्य की रक्षा का बहुत ही संतुलित ज्ञान है। हमें इस ओर इस कार्य में आयुर्वेद को प्रमुखता देनी है, सरकार इसके लिए स्वास्थ्य-केन्द्रों की स्थापना के बारे में गम्भीरता से विचार कर रही है। राजस्थान सरकार आयुर्वेद को उचित प्रोत्साहन देने का दृढ़ निश्चय किए हुए है। इन शब्दों के साथ आयुर्वेद मन्त्री ने माननीय केन्द्रीय मन्त्री महोदय से आयुर्वेद कालेज के नवीन भवन का उद्घाटन करने के लिए निवेदन किया।

उद्घाटन से पहिले अपने भाषण में माननीय करमरकर महोदय ने आयुर्वेद की कुछ विशेषताओं पर प्रकाश डाला। उन्होंने सुश्रुत का, प्लास्टिक सर्जरी का उदाहरण दिया कि पहिले कटे हुए कान-नाक को अन्य स्थान से जीवित त्वचा ले कर पूर्ण करने की सर्जरी होती थी। सुश्रुत में उल्लिखित दिनचर्या आदि का भी आपने महत्व बतलाया। जन-स्वास्थ्य के लिए किस तरह के रहन-सहन, खान-पान की आवश्यकता, सहस्त्रों वर्ष पहिले आयुर्वेद ने बतलाई जो कि आज भी उतनी ही लाभप्रद है जितनी उस समय थी। आपने खेद प्रकट किया कि आज रोग के निराकरण या दबाने के लिए प्रबल औषधोपचार का प्रचार हो रहा है, जिसमें अत्यधिक व्यय तथा जन-साधारण की रोग-प्रतिरोधक शक्ति का ह्रास हो रहा है। रोग के निराकरण के लिए जितना जैसा प्रबल प्रयास चल रहा है रोग न हो, इसके लिए बहुत ही कम ध्यान दिया जाता है। अब इस ओर ध्यान देने की अत्यन्त आवश्यकता है और इसमें आयुर्वेद से अच्छी सहायता मिल सकती है।

पक्षाघात तथा नाहरू के रोगियों का उपचार

राजस्थान के राजकीय आयुर्वेद विभाग के अन्तर्गत उदयपुर में नाहरू तथा बाल-पक्षाघात व्याधियों पर चिकित्सा-सम्बन्धी अनुसन्धान किया जा रहा है। विभागीय संचालक वैद्य प्रेमशंकर शर्मा ने एक वक्तव्य में बताया कि इस कार्य में आशातीत प्रगति हुई और ठोस परिणाम सामने आए। बाल-पक्षाघात के रोगी अनुसन्धानशाला में पूर्ण स्वस्थ हुए। नाहरू मुख्यतः राजस्थान के आदिवासी क्षेत्रों में होनेवाला ऐसा रोग है, जिसमें पीड़ित व्यक्ति के शरीर के किसी भी अङ्ग में यहाँ तक कि आँख के ऊपर या पलक में डोरे जैसा पतला लम्बा कीड़ा निकलता है। यह पक कर घाव भी बन जा सकता है और इसमें अंग-बेकार भी हो जाता है। श्री शर्मा ने बताया कि डूँगरपुर, प्रतापगढ़ तथा अन्य ऐसे ही स्थानों पर छोटे-बड़े स्नायुविक चिकित्सा

शिविर लगाए गए और लगभग १०,१३९ रोगियों की सफलतापूर्वक चिकित्सा की गयी।

आयुर्वेद—जीवन का शास्त्र

श्री भीखाभाई

राजस्थान राज्य के आयुर्वेद मन्त्री श्री भीखाभाई ने इस जिले के अन्तर्गत बलारा ग्राम में नाहरू रोग चिकित्सा के लिए आयोजित १० दिवसीय शिविर का उद्घाटन करते हुए कहा कि राजस्थान में इस महाभयानक व्याधि का बहुत अधिक प्रचार है। साथ ही देश के अन्य भागों में भी इसके प्रसार की कमी नहीं है। इस रोग से आक्रान्त हो कर कई व्यक्ति तो अपना अंग तक खो बैठते हैं।

आयुर्वेद के सम्बन्ध में अपने विचार व्यक्त करते हुए श्री भीखाभाई ने कहा कि आयुर्वेद केवल अन्य पद्धतियों की तरह चिकित्सा-प्रणाली ही नहीं है, अपितु यह तो जीवन का एक बहुत बड़ा विज्ञान है, जिसमें मानव मात्र को निरोग रखने के अनेक उपाय बताये गये हैं।

उक्त शिविर में चन्द्रप्रभा, दातव्य औषधालय, सीकर के प्रधान चिकित्सक वैद्य श्री पूर्णचन्द जोशी द्वारा अनुसंधानित औषधि के द्वारा नाहरू रोग की चिकित्सा की जावेगी। इस शिविर में लगभग २५० रोगियों के लिए पथ्य, परिचर्या, औषधि की निःशुल्क व्यवस्था होगी।

मन्त्री महोदय ने राज्य सरकार की ओर से वैद्यजी के प्रति कृतज्ञता प्रकट करते हुए बताया कि नाहरू रोग के लिए अनुसंधानित औषधि का प्रयोगशाला में भी परीक्षण किया जावेगा तथा सरकार द्वारा अपेक्षित सहायता दी जायगी।

इस अवसर पर आयुर्वेद विभाग के संचालक श्री प्रेमशंकर शर्मा ने राज्य सरकार द्वारा आयुर्वेद के लिए किये जाने वाले कार्यों का ब्यौरा दिया और बताया कि प्रथम पंचवर्षीय योजना में यहाँ आयुर्वेद के लिए १५ लाख रुपये व्यय हुए थे, जो अब ५४ लाख रुपये हो गया है और औषधालयों की संख्या ११०० हो गयी है।

बीकानेर में आयुर्वेद-मन्त्री का भाषण

राजस्थान के आयुर्वेद-मन्त्री श्री भीखाभाई ने श्री सनातन धर्म आयुर्वेद महाविद्यालय के शिशु-महिला चल-चिकित्सालय को समाज-कल्याण विभाग से अनुदान प्राप्त नये मोबाइल वान का उद्घाटन करते हुए कहा कि आयुर्वेद जीवन को स्वस्थ बनाने का उत्तम चिकित्सा शास्त्र है। विद्यालय ने मोबाइल वान चालू कर एक सराहनीय कदम उठाया है। आशा है, इसके द्वारा जहाँ एक ओर आयुर्वेद का प्रचार होगा, वहाँ दूसरी ओर जनता को इससे लाभ भी पहुँचेगा। इस सम्बन्ध में तृतीय पंचवर्षीय योजना की हमने जो कल्पना की थी उसको मूर्त्त रूप मिल गया है।

इस अवसर पर महाविद्यालय के प्रिन्सिपल वैद्य श्री विद्याधरजी ने मन्त्री महोदय से दी जानेवाली सरकारी आर्थिक सहायता में वृद्धि करने का अनुरोध किया।

इस समारोह की अध्यक्षता बीकानेर के वैद्य एवं श्री मोहता रसायनशाला के अध्यक्ष श्री शंकरदत्तजी ने की थी।

आयुर्वेदीय औषधालय का शिलान्यास

राजस्थान के सिंचाई एवं आयुर्वेद मन्त्री, श्री भीखाभाई ने गत बुधवार को चित्तौड़गढ़ जिले की भैंसरोडगढ़, तहसील के बोराव गाँव में एक आयुर्वेदिक औषधालय का शिलान्यास किया। इस अवसर पर सिंचाई मन्त्री ने भाषण देते हुए कहा कि आदिवासी लोगों को बदलते हुए युग से लाभ उठाना चाहिए तथा कठोर श्रम करने के लिए तैयार रहना चाहिए ताकि वे भी अपना भविष्य सुधार सकें।

आयुर्वेदिक औषधालय की माँग

चौमू, आमेर तहसील का सदर मुकाम एवं प्रमुख कस्बा है, जिसकी आबादी करीब बीस हजार है और आवागमन एवं व्यापार का केन्द्रबिन्दु है। इस समय यहाँ पर एक राजकीय डिस्पेंसरी है जो प्रथम श्रेणी की है, जिसमें एक डाक्टर, दो कम्पाउण्डर, तथा एक नर्स रहते हैं जो इस कस्बे के लिए भी अपर्याप्त हैं तथा बहुत-से व्यक्ति देशी इलाज ही कराना पसन्द करते हैं। यहाँ राज्य सरकार अथवा अन्य की तरफ से देशी आयुर्वेदिक औषधालय नहीं है, जिससे जनता को काफी असुविधायें रहती हैं और लोग देशी चिकित्सा से वंचित रहते हैं।

राजस्थान सरकार से जो इस वर्ष अस्पतालों व औषधालयों की स्थापना पर २॥ करोड़ रुपया खर्च कर रही है तथा ३१८ आयुर्वेदिक औषधालय स्थापित करने जा रही है उसी योजना के अन्तर्गत निवेदन है कि चौमू में भी एक अच्छा आयुर्वेदिक औषधालय खोलने की कृपा करे ताकि तहसील की जनता को काफी लाभ हो और देशी चिकित्सा में जनता का विश्वास बढ़े।

अजमेर जि० आ० सम्मेलन का चुनाव

नवीन वर्ष के लिए डा० अम्बालालजी शर्मा, आयुर्वेद-शास्त्री सर्वसम्मति से अजमेर जिला आयुर्वेद सम्मेलन के अध्यक्ष निर्वाचित हुए। उन्होंने सम्मेलन के विधान के अनुसार वैद्य कल्याण सिंह जी को उपाध्यक्ष, वैद्य मुकुन्दलाल जी को उपाध्यक्ष, धर्म सिंह जी कोठारी को प्रधान मन्त्री, बालमुकुन्द जी शर्मा को संयुक्त मन्त्री, रमेशचन्द्र जी लाटा को उपमन्त्री, गिरधर शर्मा को कोषाध्यक्ष, प्रेमकिशोर मिश्र को प्रचार मन्त्री और लेखराज ठक्कर को आय-व्यय निरीक्षक नियुक्त किया है। इसके अलावा उन्होंने एक कार्यकारिणी भी गठित की।

गुरुकुल फार्माकोपिया

आयुर्वेद महाविद्यालय, गुरुकुल कांगड़ी के अध्यक्ष सूचित करते हैं कि गुरुकुल आयुर्वेद महाविद्यालय के उपाध्यायों तथा छात्रों की ओर से एक इस प्रकार का औषध-संग्रह संकलित किया जा रहा है, जिसके द्वारा प्रचलित रोगों की सुगमता से चिकित्सा की जा सके। इसमें शल्य-शालाक्य-सम्बन्धी योग भी संकलित रहेंगे। इसके लिए सभी चिकित्सकों का सहयोग वांछनीय है। योग अध्यक्ष, आयुर्वेद महाविद्यालय, कांगड़ी के पते पर भेजने चाहिए। परीक्षा हो चुकने पर ही किसी योग को उक्त संकलन में स्थान दिया जावेगा।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, पटना

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन पटना द्वारा संचालित बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय में गत मास कुल ११८२ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई। इसमें ६०५ नये और ५७७ पुराने रोगी थे। इनमें पुरुष रोगियों की संख्या २०२, स्त्री रोगियों की संख्या २४७, तथा बालक रोगियों की संख्या १५६ थी। इस मास की दैनिक उपस्थिति का औसत ३८.१२ रहा। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार नीचे लिखे मुताबिक है।

ज्वर १०२, अतिसार ३२, प्रवाहिका ४४, कृमि ५०, गुल्म १७, पाण्डु ४८, अर्श ७, कामला ३०, रक्तप्रदर २०, श्वेतप्रदर २२, उपदंश १६, प्रमेह १०, औपसर्गिक मेह १७, श्लीपद ५१, मुखरोग ११, नासा रोग ७, कर्ण रोग ३१, शिरो रोग १, बालरोग ३६, यकृत रोग ५, योनि रोग १९, नेत्र रोग ३७।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, झाँसी

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० झाँसी द्वारा संचालित श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा-केन्द्र में गत जून १९६० में २००४ रोगियों की निःशुल्क चिकित्सा की गई, जिनमें ४८१ नये रोगी आये और प्रत्येक रोगानुसार नये रोगियों की संख्या निम्न प्रकार है।

ज्वर ४०, आमातिसार २, प्रतिश्याय २७, कास ३ विसर्प २, कुकुरकास ६, अजीर्ण ३७, आमवात ३, नेत्ररोग वातश्लैष्मिक ज्वर ११, प्रसूति ६, अंशघात १८, रजःकृच्छ्र ५, दौर्बल्य ३, मन्थर ज्वर ९, राजयक्ष्मा ८, अतिसार ३ ज्वरातिसार ११, कृमिरोग २, अम्लपित्त १३, श्वास ग्रहणी ४, मुखपाक १२, वातव्याधि १३, हृद्दौर्बल्य बीजकोषशोथ २, रक्तपित्त ४, उदरशूल २१, पक्षाघात प्रदर १६, कटिशूल ४, पिडिका १३, गृध्रसी ४, दन्तरोग गुदभ्रंश १, फलकोषवृद्धि ३, यकृतोदर ३, जलोदय १, शोथ ३ शीतपित्त ५, रक्तातिसार १, प्रमेह १०, प्रवाहिका कर्णरोग ६, गर्भरोग ४, जीर्णज्वर ४, शिरःशूल ६, पामा स्तन्यशोथ १, कण्ठमाला १, मूत्रकृच्छ्र १, कण्ठशालूक विचर्चिका १, मृगी ३, गलशुण्डिका ३, श्वसनक ज्वर अर्श १, नासारोग २, विषमज्वर २, फक्करोग १, पार्श्वशूल रक्तचाप १, व्रण १ और वमन १।

श्री बैद्यनाथ धर्मार्थ औषधालय, नागपुर

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० नागपुर द्वारा संचालित श्री धर्मार्थ चिकित्सालय तथा स्वास्थ्य रक्षा-केन्द्र में गत जुलाई सन् १९६० में २२०५ रोगियों की मुफ्त चिकित्सा की गई जिनमें ४९८ नये रोगी आये। नये रोगियों की संख्या रोगानुसार निम्न प्रकार है—

धातुदौर्बल्य ७, शोथ ३, उदावर्त ३, कण्डू ८, प्रवाहिका ११, वक्षशूल १, मासार्बुद १, पित्तविकार ७, पिडिका १३, चर्मरोग ५, यकृतविकार १, रक्तपित्त ३, अजीर्ण ३, हृदय-दौर्बल्य ३, रजावरोध ३, श्वास ७, श्वेतप्रदर ५, मूत्रकृच्छ्र ३, ज्वर ५८, उदरशूल २०, शिरोभ्रम ७, रक्तातिसार १, वातव्याधि ३०, कुनखी १, एक्जीमा ३, रक्तजकास ३, ज्वरातिसार २१, रक्ताल्पता ५, कोष्ठबद्धता ४, कफजकास ३, व्रण १३, अभिष्यन्द ७, अर्श ३, रक्तविकार ३, शिरःशूल १५, दौर्बल्य २२, गलग्रन्थि १, आघात ५, कास शीतपित्त ३, गुल्म २, अतिसार ३९, दन्तशूल ३, प्रमेह १, प्रतिश्याय ४८, कर्णरोग १९, अग्निमांद्य ३, पार्श्वशूल १, कृमिदन्त ५, विद्रधि ३ और मुखपाक ४।

आचार्यजी के ५० वर्षों का चिकित्सानुभव

२५००० प्रतियाँ अब तक बिक चुका हैं

सिद्धयोग-संग्रह

अर्थात्

(आयुर्वेद के योग-समुद्र में से चुने हुए चिकित्सोपयोगी प्रयोग-रत्न)

लेखक——आयुदमार्त्तण्ड-वैद्यवाचस्पति वैद्य यादवजी त्रिकमजी आचार्य

अखिल भारतीय ख्यातिप्राप्त और लब्धप्रतिष्ठ स्व० आचार्य जी केवल आयुर्वेद के प्रकाण्ड विद्वान् ही नहीं बल्कि एक पीयूषपाणि—सिद्धहस्त चिकित्सक भी थे और इनकी चिकित्सा की लोकप्रियता इसलिए अधिक थी कि इनके नुस्खे कम खर्च में तैयार होते तथा आशुफलप्रद होते थे।

इस पुस्तक में आचार्य जी ने अपने चिकित्सा-काल के ५० वर्षों के अनुभव का दोहन कर——आयुर्वेदीय-यूनानी अथवा आनुभविक जिन योगों द्वारा चिकित्सा में सफलता प्राप्त की, उन्हीं योगों को जन-कल्याणार्थ वैद्यों से लेकर सर्वसाधारण जनता के लिए निश्छलभाव से लिख दिया है। आचार्य भाव मिश्र के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए ज्वराधिकार से लेकर रसायन-बाजीकरणाधिकार पर्यन्त विभिन्न २६ प्रकरणों में औषध-चिकित्सा बहुत समझा कर लिखा है। पुस्तक के परिशिष्ट में स्वर्णादि धातुओं की शोधन-विधियाँ भी ऐसे सरल तरीके से लिखी गई हैं जिन्हें वैद्य सुविधानुसार व्यवहार में ला सकते हैं। इस ग्रन्थ की यह विशेषता है कि रोगों की अनेकविध चिकित्सा न बताते हुए सम्मान्य लेखक ने अपने आनुभविक चिकित्सा-प्रयोगों का ही उल्लेख किया है। परिणामस्वरूप यह ग्रन्थ नये-पुराने वैद्यों तथा आयुर्वेद महाविद्यालयों के अन्तिम वर्ष की पढ़ाई में विद्यार्थियों के लिए भी अत्युपयोगी है।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० द्वारा निर्मित अधिकतर दवाएँ इसी ग्रन्थ के आधार पर तैयार होकर बैद्यनाथ के ५ निर्माणि-केन्द्रों, ३५० बिक्री-केन्द्रों तथा २५००० से अधिक एजेण्टों द्वारा एक ही मूल्य में सर्वत्र प्राप्त होती हैं।

ऐसी उपयोगी पुस्तक डबल डिमाई १६ पेजी, २०० पृष्ठ का मूल्य——२·७५ नये पैसे हैं।

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झांसी · नागपुर

113235

त्रिदोष-तत्त्व विमर्श

(संशोधित-परिवर्द्धित--द्वितीय संस्करण)

लेखक--आयुर्वेद-वृहस्पति वैद्य रामरक्ष पाठक, आयुर्वेदाचार्य

डायरेक्टर केन्द्रीय आयुर्वेदान्वेषण संस्था--जामनगर ।

इस ग्रन्थ में वात-पित्त और कफ जो मनुष्य शरीरस्थ अनेक द्रव्यों के तीन वर्ग हैं—को ध्यान में रखकर वात-पित्त कफ का सामान्य स्वरूप, इनके प्राचीन ग्रन्थोक्तभेद--प्रत्येक भेद का प्रधानस्थान और उनकी क्रियाओं का विस्तृत वर्णन किया गया है । पुस्तक की एक विशेषता यह भी है कि विषय को और भी स्पष्ट बनाने के लिए आधुनिक शरीर क्रिया-विज्ञान (फिजियॉलाजी) के साथ एक तुलनात्मक विवेचन भी प्रस्तुत किया गया है। वात-पित्त-कफ के प्राचीन ग्रन्थों में जो भेद वर्णित हैं वे उस युग के विशेष रूप से आविष्कृत भेद हैं । आधुनिक क्रिया शारीर में इनके अतिरिक्त दूसरे अनेक द्रव्यों का वर्णन पाया जाता है । प्राचीन ग्रंथोक्त भेदों में कुछ दोषों के भेद स्वतन्त्र नहीं हैं--अवान्तर भेदों के वर्ग हैं । दृष्टान्तस्वरूप पाचकपित्त दोषों के स्थान और कर्मों के विषय में संहिताग्रन्थों में जो वर्णन मिलता है, उसमें कहीं-कहीं भिन्नता पाई जाती है । इन सभी विषयों का समाहार विद्वान् लेखक ने इस ग्रन्थ में सरल ढंग से किया है ।

इस द्वितीय संस्करण में मूलग्रन्थ के कलेवर में पर्याप्त वृद्धि होने के अतिरिक्त वात-पित्त और कफ विषयक परिशिष्ट सम्मिलित कर देने से इस पुस्तक की उपयोगिता में चार चाँद लग गए हैं । आयुर्वेद के जिज्ञासुओं को इस परिशिष्ट से त्रिदोषसम्बन्धी सभी विषयों का ज्ञान सुविधानुसार हो सकेगा । परिशिष्ट में शास्त्रोपदिष्ट वात-पित्त-कफ के प्राकृतिक और वैकृतिक गुण-कर्मों एवं तज्जन्य विकारों का उल्लेख बहुत स्पष्ट रूप से किया गया है। छपाई-सफाई-गेट-अप आदि भी आकर्षक है । साइज डबलडिमाई १६ पेजी, पृष्ठ संख्या १८६, सजिल्द, मूल्य २, ६५ नये पैसे हैं, पोस्टेज पृथक् ।

प्रकाशक

श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०

१, गुप्ता लेन, कलकत्ता-६

आयुर्वेदवाङ्मय के [illegible] ग्रन्थों, लघु एवं बृहत् संहिताओं, अनुभव-विश्लेषण-समन्वय-जनित रस-धातु ज्ञान-विज्ञान, आविष्कार, अनुसंधान-संकलन, टीका परिभाषा आदि ग्रन्थों एवं स्वानुभूतयोगों से युक्त इस बहु-उपयोगी *आयुर्वेद सार संग्रह* का आयुर्वेदशास्त्र के मर्मज्ञ आचार्यों ने **बैद्यनाथ** प्रतिष्ठान के संचालकों की प्रेरणा से संपादन किया है।

कूपोपक्व रस, रस-रसायन, भस्म, पर्पटी, लौह-मण्डूर, घृत, गुग्गुलु, अवलेह-मोदक-पाक, आसव-अरिष्ट, औषध-तैल, कषाय-क्वाथ, प्रक्षेप-द्रव्य, पुटपाक, संधान, सुरासव, स्नेहपाक आदि समस्त औषध-निर्माण विधि एवं मागधीय, सुश्रुत, यूनानी – घन, द्रव मान-परिमाण तथा दीपन, पाचन, छेदन, लेखन, सूक्ष्म-व्यवायी द्रव्य, चातुर्भद्र, चातु-र्जात, धातु, उपधातु, सप्तधातु, विष, उपविष, रत्न, नवरत्न, रस, उपरस, महारस आदि की परिभाषाओं, संकेतों के साथ साथ औषध-निर्माण-यंत्रों, पात्रों, विभिन्न भट्ठियों, उपकरणों आदि आदि आयुर्वेदीय-प्राचीन अर्वाचीन एवं अनेकानुभूत औषधियों के निर्माण का यह सविवरण 'सार संग्रह' है। चिकित्सकों एवं छात्रों – सभी को हमेशा इसे अपने पास रखना चाहिये।

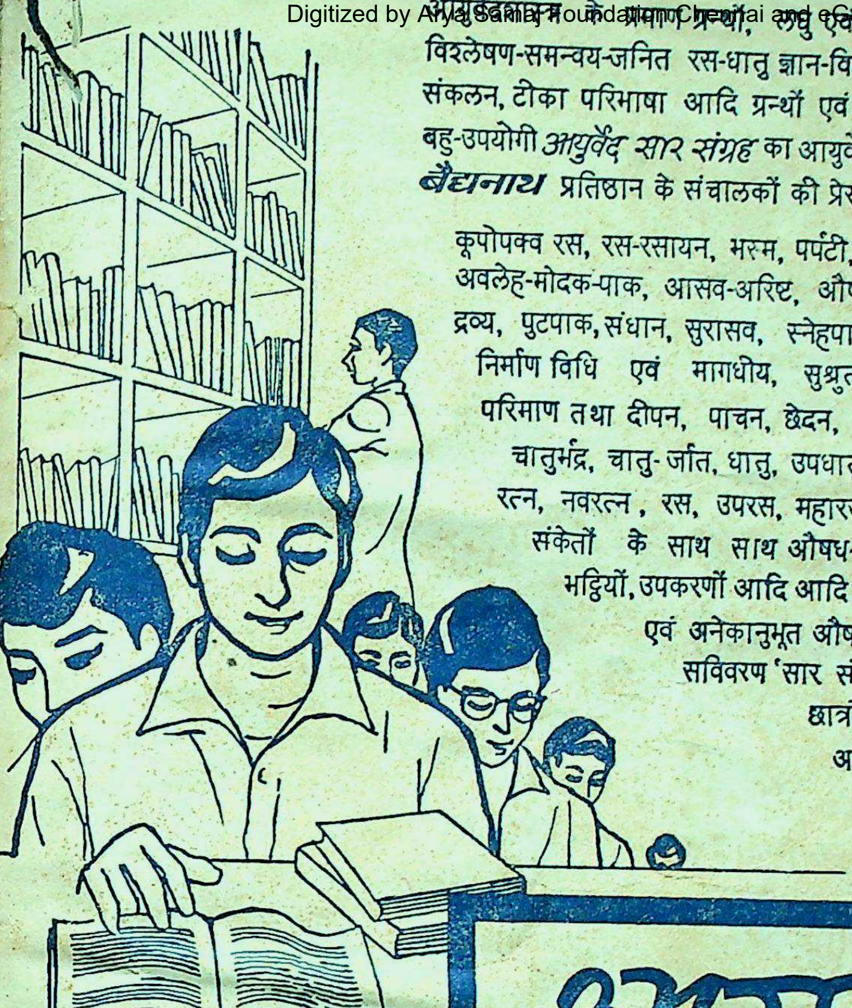

आयुर्वेद
सार संग्रह

देशी दवाओं का
सब से बड़ा
और विश्वासी कारखाना

SHREE BAIDYANATH AYURVED BHAWAN PRIVATE LTD. CALCUTTA

श्री **बैद्यनाथ**
आयुर्वेद भवन प्राइवेट लि०
कलकत्ता · पटना · झाँसी · नागपुर · इलाहाबाद

स्वत्वाधिकारी श्री बैद्यनाथ आयुर्वेद भवन प्रा० लि० की ओर से पं० रामकान्त झा द्वारा जनवाणी प्रिण्टर्स एण्ड पब्लिशर्स प्राइवेट लि०, ३६, वाराणसी घोष स्ट्रीट, कलकत्ता में मुद्रित तथा उनके ही द्वारा १, गुप्ता लेन, कलकत्ता से प्रकाशित।

Compiled
1999-2000